

राजस्थान वैदिकतत्त्वशास्त्रसंस्थान—मानवाश्रम क
 प्रधान—सरदार
 महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजन्ध्रप्रसादजी महाभाग
 क
 समर्थ करकमलों में
 संस्थान की ओर से सम्मान पूर्वक

समर्पित

महामहिम राष्ट्रपति महाभाग ।

अरुनी सहस्रसिद्धा मस्कुतिनिष्ठा क महप्र आकषय म 'राजस्थानवैदिक-
 तत्त्वशास्त्रसंस्थान' के 'प्रधानसरदार' बन जान की शिस्त अनुमति से संस्थान को
 आपन अनुगृहीत किया है, कर्तव्यता-वापनार्थ ही 'शुद्धियागपरीक्षा' (पूर्वखण्ड)
 नामक प्रस्तुत ग्रन्थ भीमान् के समर्थ करकमलों में अत्यन्त सम्मान, तथा विनयपूर्वक
 समर्पित किया जा रहा है ।

राजस्थानवैदिकतत्त्वशास्त्रसंस्थान
 मानवाम्म दुर्गापुरा (जयपुर)
 माधुर्यक-वसन्तपञ्चमी
 वि सं० २०१३

आत्मनिरूप से विनम्र—
 मोदी गण्डा
 आश्रित भास्वराज
 (अग्रज)



गीताविज्ञानभाष्यभूमिकवन्तर्गत—सर्वान्तरात्मपरीक्षात्मक—सृतीय खण्ड का

‘बुद्धियोगपरीक्षा’ (‘ग’ विभागात्मक)

पूर्वखण्ड

“बुद्धियोगसुपाश्रित्य मच्चित्तं सततं भव”

निबन्धा—

मोतीलालशर्मा—वेदनीयीपथिकः—

आश्रितस्यो मारुदाज

अस्यचमाभिज्ञमः

(पुन प्रकरानामाधिकार एकमात्र प्रत्यक्षता से ही सम्बन्धित)

‘रात्रस्थानपैदिकतस्वशोषसंस्थानत्रयपुर’ के द्वारा

प्रकाशित

एवं—भीमालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाभम दुर्गापुरा—अयपुर के द्वारा
मुद्रित

★ ★ ★

बुद्धियोगसंस्मरणम्—

आत्मानं रधिर्न विद्धि, शरीर रथमेव तु ॥

“बुद्धि” तु सारमि विद्धि, मन प्रग्रहमेव च ॥१॥

विज्ञानसारमियंस्तु मन-प्रग्रहमाभर ॥

सोऽप्यनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२॥ (ऋटोपनिषत् १।३।३,६) ।

यो वेदानां प्रमनोदूपवस्व विस्वाधिपो रुरो महर्षि ॥

द्विरप्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो ‘बुद्धया’ ह्यमया संपुनक्तु ॥३॥ (रवे० १।५१) ।

म्यप्रसात्पात्मिच्छा बुद्धिरेकेह हृदयन्दन ! ॥

पदुशाखा ह्यनन्तारथ बुद्धयोऽप्यवसायिनाम् ॥४॥ (गीता २।५।१) ।

दूरेष्व अक्षरं कम्म ‘बुद्धियोगात्’ मनञ्जय ! ॥

बुद्धौ शरयामन्विच्छ कृपया फलहृत्सुः ॥५॥ (गीता २।५।५) ।

यदा ते मोहकल्लिस्तं बुद्धिर्म्यत्किरिष्यति ॥

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य भ्रुतस्य च ॥६॥ (गीता २।५।२) ।

भ्रुतिविरतिपथा ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥

समाभावसत्ता बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥७॥ (गीता २।५।५) ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योप्रजायते ॥

प्रसन्नचेतसो वासु बुद्धिः पर्यावतिष्ठते ॥८॥ (गीता २।६।१) ।

तेषां सक्तपुच्छानां भक्त्यां प्रीतिपूर्वकम् ॥

एदामि ‘बुद्धियोगं’ त चेन मामुपयान्ति ते ॥९॥ (गीता १०।१ ।)

‘बुद्धियुक्तो’ वशातीह उमे सुकृतदुष्कृते ॥

तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगं कर्म्मसु कौशलम् ॥१०॥ (गीता २।५।०) ।

येतसां सर्वकर्म्मणि मयि संन्यस्य मत्परः ॥

‘बुद्धियोगं’ ह्युपाभिन्य मच्चितः सत्तर्षं भव ॥११॥ (गीता १।५।१०) ।



श्री

गीताविज्ञानमाध्यमूमिका-बुद्धियोगपरीक्षा
पूर्वखण्ड की
प्रस्तावना, परिचय तथा विषयसूची



गीताविज्ञानभाष्यमृमिकान्तर्गत—'सर्वान्तरतमपरीक्षा' त्मक- 'बुद्धियोगपरीक्षा' (पूर्वखण्ड ग विमला)

के सम्बन्ध में

किमपि प्रास्ताविकम्—

'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषत्' नामक गीताशास्त्र भारतीय ज्ञान-विज्ञानकोश का एक वैसा अमूल्य भण्डार है जिसे हम प्राज्ञाफस्तरास्त्र (वेदशास्त्र) के ज्ञानविज्ञानात्मक पारिभाषिक रहस्यपूर्ण विषयों का 'सूचीप्रश्न' कह सकते हैं। वेदशास्त्र की दार्ष्टिक परिभाषाएँ ब्रह्म, तथा यज्ञ भेद से दो स्वतन्त्र धाराओं में प्रयाहित हैं। ब्रह्मत्व का विरलेपण करने वाली परिभाषाएँ ज्ञानप्रधाना हैं एवं 'यज्ञत्व' का विरलेपण करने वाली परिभाषाएँ विज्ञानप्रधाना हैं। 'ज्ञान' का ब्रह्म से सम्बन्ध है, एवं विज्ञान का यज्ञ से सम्बन्ध है। एकत्वनिबन्धन ज्ञानैकधन ब्रह्म ही नानात्वनिबन्धन विज्ञानैकधन यज्ञ की प्रतिष्ठा माना गया है, अर्थात्—'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' (राठ भा० ६। १। १। ८) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। अनन्त-असंख्य-भाषात्मक यह सम्पूर्ण ब्राह्मण विषय ही 'द्विविध ज्ञानं विज्ञानम्' शब्द के अनुसार विज्ञान का मूर्त स्वरूप है, वही ईश्वरीय प्राकृतिक नित्य यज्ञ की स्वरूप-व्यवस्था है। निरचयेन नानामात्रात्मक यज्ञस्वरूप इस विषय का इसप्रकार अनेकरूप से उस ज्ञानैकधन एक ब्रह्म के आधार पर ही विधान हुआ है। यह सम्पूर्ण यज्ञवैभव उस एक ही ब्रह्म का मूर्त वैभव है, जिस वैभव का श्रुति ने पों असोगत किया है—

एक एवाभिर्षद्ब्रह्मा समिद्धं, एकः धर्मो विश्वमनु प्रभूत ।

एकैभोपाः सवमिदं विमाति, एक वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥

—ऋक्संहिता ८। १८। १

इसी दृष्टिकोण के आधार पर वेदविद्या को ब्रह्मविद्या, यज्ञविद्या, भेद से दो भगवों में विभक्त किया जा सकता है किन्तु गना है। मूलविद्या ब्रह्मविद्या है, तुल्यविद्या यज्ञविद्या है। केन्द्रविद्या मूलविद्या है, प्रत्यविद्या तुल्यविद्या है। ज्ञानप्रधाना एकत्वनिबन्धना ब्रह्मा ब्रह्मविद्या ही 'मन्त्रविद्या' है एवं विज्ञानप्रधाना नानात्वनिबन्धना प्रत्यया यज्ञविद्या ही 'शास्त्रविद्या' है।

मन्त्रविद्यात्मक वेदमार्ग ही मूलवेद है, सूत्रवेद है। एवं ब्राह्मणविद्यात्मक वेदमार्ग ही तूखवेद है, व्याख्यावेद है। ब्रह्म की व्यक्त्या ही ब्राह्मण्य है। और यों—‘मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदानामधेयम्’ इत्यादि आर्ष-आप्त-सिद्धान्तानुसार मन्त्रब्राह्मण्यत्मक, किंवा ब्राह्मण्यप्रणाल्यत्मक, किंवा ज्ञानविद्यानात्मक वेदशास्त्र ही भारतीय ‘विद्याशास्त्र’ का संक्षिप्त स्वरूप-परिचय बन रहा है। महाविद्यात्मिका ब्रह्म विद्या के आधार पर प्रतिष्ठिता, दूसरे शब्दों में एकत्ववाचनिबन्धना ज्ञानविद्या के आधार पर प्रतिष्ठिता सख्य-स्यवात्मिका पञ्चविद्या, किंवा मानात्त्वनिबन्धना विद्याविद्या ही सम्पूर्ण विद्याओं का पञ्चवर्ग है। दोनों के अतिरिक्त विद्या की और कोई स्वरूप-व्यक्त्या शेष नहीं रह जाती। दोनों के परिष्कारानन्तर अन्व-कुत्र भी ज्ञानम्य नहीं रह जाता। यही वेदशास्त्र की परिपूर्णा है, जिसका सर्वाङ्गना एकमात्र गीताशास्त्र ही प्राविनिम्ब कर रहा है। वैसे कि इसके निम्न क्षिप्रिय प्रविज्ञानसे प्रतिभन्ति है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यच्छात्वा नेह भूयोऽन्यच्छातव्यमवशिष्यते ॥

—गीता ६।१।

अधर्म-ज्ञान-वैराग्य-येश्वर्य-यश-धी, इन ६ प्रकार की ‘मग-सम्पत्तियों’ से सर्वात्मना समन्वित अतएव ‘मगबाल’ + नाम से प्रसिद्ध पूर्वोक्त पूर्णावतार वासुदेव श्रीकृष्ण के मुख्यरूप से गीतमार्ग-विरादीकृत-ब्रह्मब्रह्मण्यत्मक ज्ञानविद्या ही गीताशास्त्र का स्वरूप-निकल्प है। ज्ञानप्रधाना ब्रह्मविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित विद्याप्रधाना योगविद्या ही सम्पूर्ण गीताशास्त्र की स्वरूप-व्यक्त्या है वैसे कि गीताव्याप्यों के ‘इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां-योगशास्त्रे०’ इत्यादि अन्व-व्यक्त्या से स्पष्ट प्रमाणित है।

विद्यानात्मक विद्या ही ‘योग’ का स्वरूप-परिचय है, या कि यह विद्यात्मक योग पूर्वकथना-नुसार ब्रह्म पर ही प्रतिष्ठित है। इससे यह ब्रह्मण्य अथवा विभूतिभाव से क्रमशः-

अशेषवर्षस्य च समग्रस्य, धर्मस्य, यशसः, भियाः ।

ज्ञान-वैराग्ययोश्च पण्डितां ‘मग’ इतीरिखा ॥

—उत्पत्ति प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।

वेदि विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो मगवानिति ॥

अव्ययब्रह्म, अक्षरब्रह्म, आत्मक्षरब्रह्म, विश्वसृष्टब्रह्म, भेद से चार महिमाभावों में परिखत हो रहा है। इसी आधार पर—'चतुष्टय वा इदं सवम्' (श्रुति) मूलक चतुष्पादब्रह्म के स्वरूप का स्पष्ट इत्यं हुआ है वेदशास्त्र में। 'त्रिपादूर्ध्वं उदेत् पुरुष, पादोन्मेषोऽहमवत्पुन, (ऋग्वेद) के अनुसार अपने अव्यय, अक्षर आत्मक्षर, रूप तीन पाशों से अन्वयित रहता हुआ ब्रह्म शीघ्र विश्वसृष्ट नामक पाश से ही विज्ञानयोगात्मक विश्व का उपादान बना करता है। विश्व को स्वमहिमा से उन्नत कर चतुष्पादब्रह्म 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रादिशत्' के अनुसार विश्वगम में प्रविष्ट हो जाता है। प्रतिष्ठारूप से, अव्ययदृष्टि से वही ब्रह्म 'विश्वाधार' है, अक्षरदृष्टि से वही 'विश्वकर्षा' है, आत्मक्षरदृष्टि से वही 'विश्वसृष्टा' है, एवं विश्वसृष्ट दृष्टि से वही 'विश्वमूर्ति' है। ऐसे इस ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित विज्ञाननिष्पन्न विश्वयोग का निरूपण करना ही गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। यही 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' का फलितार्थ है।

'योग' के आधारभूत ब्रह्म के तथाकथित चार विषयों के कारण 'योग' भी चतुर्धा विभक्त हो रहा है। अव्ययब्रह्म से सम्बन्धित वही योग 'वैराग्ययोग' कहलाता है। अक्षरब्रह्म से सम्बन्धित वही योग 'ज्ञानयोग' माना गया है। आत्मक्षरब्रह्म से सम्बन्धित वही योग 'ऐश्वर्ययोग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं विश्वसृष्टब्रह्म से संयुक्त वही योग 'धर्मयोग' नाम से उल्लेखित हुआ है। इन चार योगों से सम्बन्धित ब्रह्मविद्या भी चार विद्याओं में परिखत हो रही है। जो चारों विद्यार्थ वेदशास्त्र की परिभाषा में जहाँ क्रमशः अव्ययविद्या, अक्षरविद्या, आत्मक्षरविद्या, विश्वसृष्टविद्या, इन नामों से उल्लेखित हैं वहाँ ये ही चारों विद्यार्थ गीताशास्त्र की परिभाषा में क्रमशः 'राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या, इन नामों से निरूपित हैं। अव्ययविद्यारिक्त वैराग्यविद्या ही राजर्षिविद्या है। इस प्रथमा ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित वैराग्ययोग ही गीतापरिभाषा में 'बुद्धियोग' कहलाता है। अक्षरविद्यारिक्त ज्ञानविद्या ही सिद्धविद्या है। इस द्वितीया ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित ज्ञानयोग ही गीतापरिभाषा में 'ज्ञानयोग' है। आत्मक्षरविद्यारिक्त ऐश्वर्यविद्या ही राजविद्या है। इस तृतीया ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित ऐश्वर्ययोग ही गीतापरिभाषा में 'भक्तियोग' है। विश्वसृष्टविद्यारिक्त धर्मविद्या ही आपविद्या है। इस चतुर्थी ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित धर्मयोग ही गीतापरिभाषा में 'कर्मयोग' है। आरम्भ के ६ अध्यायों में (१ से ६ पञ्चम) राजर्षिविद्यानुगत 'बुद्धियोग' का निरूपण हुआ है। तदुत्तर दो अध्यायों में (७-८) सिद्धविद्यानुगत 'ज्ञानयोग' का प्रतिपादन हुआ है। तदुत्तर ४ अध्यायों में (९ से १२

पर्यन्त) राजविद्यानुगत 'मक्तियोग' का उपरु ह्य इभा है। एवं तदुपर सर्वात् के ६ अक्षरों में (१३ से १८ पर्यन्त) आर्यविद्यानुगत 'कर्मयोग' का स्वरूप-विरलोक्य इभा है। यों 'ब्रह्मविद्यायां' के फलितार्यरूप—'अध्यय-अचर-आत्मचर-विश्वसृद्-ब्रह्मविद्यायां' को आपार बना कर गौतमशास्त्र न 'योगे' के फलितार्यरूप 'बुद्धि-ज्ञान-मक्ति-कर्म-योगे' रूप से चारों योगों का ही निरूपण किया है असाकि परिब्रह्म से स्पष्ट है।

१-अध्ययब्रह्म— तद्विद्या वैराग्यविद्या—राजर्षिविद्या वा—	तद्योग-वैराग्ययोग— बुद्धियोगो वा।
२-अचरब्रह्म— तद्विद्या ज्ञानविद्या—सिद्धविद्या वा—	तद्योग-ज्ञानयोग— ज्ञानयोगो वा।
३-आत्मचरब्रह्म— तद्विद्या ऐश्वर्यविद्या—राजविद्या वा—	तद्योग-ऐश्वर्ययोग— मक्तियोगो वा।
४-विरलसृद्ब्रह्म— तद्विद्या कर्मविद्या—आर्यविद्या वा—	तद्योग-कर्मयोग— कर्मयोगो वा।

सैवा चतुर्विधा ब्रह्मविद्या (४)	सोऽयं चतुर्विधो योग (४)
---------------------------------	-------------------------

सैवा ब्रह्मविद्यानुगता-योगप्रतिपादनपरा श्रीमद्भगवद्गीता
 अष्टाध्याय्यायी
 स एव-वैज्ञानिकविषयविभागः

वेदपुराणिक सत्ययुग में (जिसे कि पुराणशास्त्र ने 'देवयुग' भी कहा है) स्वयं अक्षयवेधर पुन्योत्तम मगधान् ने ही किसी अन्य शरीरविराजितचिह्न भोगमायामय मानवस्वरूप से सर्वप्रथम भारतीय मन्त्राद् विषयान् का दो ब्रह्मविद्यारमक योग का रूपदेश दिव्य था जो परम्परया राजर्षि सम्प्रदाय में सम्मन्वित। त्रेतायुग पर्यन्त निरवच्छिन्नरूप से प्रचलित रहा। आग ब्रह्म कर (संराज-त्मक द्वारयुग में) यह योगनिष्ठा कपिल की सांख्यनिष्ठा से तथा द्विराग्यगर्भ की कर्मनिष्ठा से अभिमूढ जाती हुई अपने अल्पपात्मनिबन्धन समस्वभाव से सर्वथैव पराह्मुल बन गई। इस पराह्मुलता का प्रथम कारण बना वेदवत्पश्चाद् की विस्मृति। यही कारण है कि द्वार के अन्त में तथा कलि क आरम्भ में आज स पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के महाभारतयुग में वेदमन्त्रजनकता

मगधाम् व्यास को अपने—'सुदुर्लभा वेदविद्वांस' (महाभारत) ये तद्गार अभिव्यक्त करने पड़े । वैदिक-तत्त्ववाद के अभिमत ने ही तथाकथित बुद्धियोगसिद्धान्त को महाभारतयुग के आते आते तो सधया ही विस्मृत ही करा दिया । फलस्वरूप बंदसिद्ध निष्ठापन के स्थान में साध्य-कर्म प्रतिद्वन्द्वितात्मक-कर्मविप्लव उपस्थित हो पड़ा तद्युग में जिसके उपराम के लिए पुनः वही गीतातत्त्वोपदेश पूर्ण पुरुष को मानुषावतार धारण करना पड़ा । वैद्ययुग में जहाँ गंत्ययोग के प्रथम शिष्य विवस्वाम् बने थे यहाँ महाभारत-युग में वही योग के प्रथम शिष्य बन नरावतार इन्द्रपुत्र अर्जुन । इसी ऐतिहासिक चिरन्तन तथ्य की दृष्टि से इस महाभारत-युगातुगत गीतोपदेश को गीता का पुनः संस्करण ही मान सकते हैं, माना जाना चाहिए ।

सम्भवतः २ सहस्र वर्ष पर्यन्त भारतराष्ट्र इस गीताय का अनुगामी बना रहा वस्तुतः, अबतक कि भारतीय प्रजा वैदिकशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक पारिभाषिक तात्त्विक अभ्युपनाम्नापन में प्रवृत्त रही । नियतिचक्र के निम्न से पुनः आगे बहा कर वेदनिष्ठा शिष्य हो पड़ी । एवं तत्स्थान में लोकमानुक्ताओं का प्रमुख स्थापित हो गया । परिणामस्वरूप पुनः गीता की बुद्धियोगनिष्ठा तो हो गई अभिमूढ, एवं कल्पित मतवालों की मानुक्तापरम्परा बन गई प्रथाना । मतवादाभिनिवेश-मूला इसी मानुक्ता के निम्नतात्मक अनुग्रह से गीताशास्त्र का वेदसम्मत दृष्टिकोण सधया ही विस्मृति के गर्भ में बिलीन हो गया, जो एकन्तवेदनिष्ठ आचार्यप्रवर स्व० श्रीमधुसूदनजी महाराज के अनुग्रह से पुनः नवीनरूप से व्यक्त होने आ रहा है ।

वैदिक तत्त्ववाद ही इस व्यक्तित्व की मूलप्रतिष्ठा है, जैसाकि प्रस्तुत गीतासाहित्य से सर्वात्मना विसृष्ट है । यह केवल मान्यता ही नहीं है, अपितु अज्ञानमन्विता पूर्ण आस्था है कि वैदिक तत्त्ववाद को आधार बनाए बिना गीता के एक अक्षर का भी समन्वय सम्भव नहीं है । यही कारण है कि, विगत शताब्दियों में गीता पर जो मान्य-टीका-टिप्पणियाँ हुई हैं, वैदिक-तत्त्ववाद से असंस्पष्ट रहने के कारण उन सभी का मान्यतानुषंगी मतवादात्मक वैयक्तिक दृष्टिकोणों पर ही पर्यवसान है । व्याख्याताओं ने अपनी मान्यताओं के अनुसार गीता के सम्बन्ध में अपना एक सिद्धान्त बना लिया है । एवं तदनन्तर अपने इस सिद्धान्त के समन्वय के लिए ही वे व्याख्याता गीतार्थ के समन्वय में प्रवृत्त हुए हैं । अतएव के लिए वाल्लुमी की दृष्टि में गीता यदि शुद्धवैतनाद की प्रतिपादिका है, तो रामानुजीय महादुमात्र इसे विशिष्टवैतनाद-परक हो प्रवृत्त कर रहे हैं । अतएव यदि इसके द्वारा वैतनाद स्थापित करने के लिए आतुर हैं तो वेदान्तनिष्ठ इसे विशुद्ध ज्ञानयोगग्रन्थ ही मान रहे हैं । किसी एक ही निरिपत तत्त्वार्थ का प्रतिपा-

एक भी गीतरास्त्र स्वप्रतिष्ठाभूत वेदरास्त्र के सैद्धान्तिक आधार से प्रथक् बनाया जाकर मात्र यों विभिन्न बाद्यों का अनुगामी बनता हुआ किया बनाया जाता हुआ 'यच्छ्रेय स्याभिरिचरं मूहितन्म' घोषणा से मन्वथा विरचित मंत्रपनिवृत्ति के स्थान में मंत्राद्यवृत्ति का ही उपोद्भवक बनता जा रहा है अथवा ता बन गया है।

और मात्र ता वही गीतरास्त्र एक बेमा शौकिक साधारण साहित्य ही प्रमाणित हो गया है, जिसके परिज्ञान के लिए वेदरास्त्र की खोज करे, संस्कृतभाषा का बोध भी आवश्यक नहीं समझा जा रहा। कबल अपनी कल्पनिक अनुभूति अपने मनकन्त्रालुवर्षी यथेच्छ मत्प्रयोग, एवं आस्था-मन्त्र-गुण्य रूप बुद्धिवाद ही गीताधर्ममन्त्र के लिए पर्याप्त साधन बनें हुए हैं। अपनी इन्हीं फल्पनिक मान्यताओं के कारण वर्तमान युग के उन अभिनव व्याख्यानकारों ने—(जिनका न तो भारतीय निगमागमपुराणसम्बन्धि शास्त्रों में ही कोई सम्बन्ध है न संस्कृतभाषा का ही सिद्धे मन्त्रक प्राण है) अनासक्तियोग, निष्कामकर्मयोग, साम्प्रवाद, भक्तकृतार्थमूदङ्गवाचसमा कृषित स्त्रीचनयाद, आदि आदि अनेक नये मतवादों का ही सञ्जन कर बहा है, जिनका गीतरास्त्र में यन्-किञ्चिन् भी तो सम्बन्ध नहीं है। ऐसे कल्पित बाद्यों से तो गीता के अन्वयार्थ का ही समन्वय सम्भव नहीं है। फिर उद्वेगपूर्ण पारिभाषिक वचनार्थ की ता कथा ही विदूर है। गीतरास्त्र के अनेक स्थल ता एव हैं जो बिलपृथक् से वेदवचनों के ही अनुवाद हैं।

अद्वैत का लिए- महर्षि-‘दीप्यता’ की सापेक्षबिधा से सम्बन्ध रखने वाले आत्मगति-विज्ञान का त्रिम ‘आतिपादिक-त्रिलोकी’ का रूप में स्वयं मूलसहिता में विस्तार हुआ है, इसका एक मन्त्र है—

इं स्रुती अगृथय पिठुषामहं दयानामुत मत्यानाम् ।
ताम्यामिन् विरबमेजन् ममेति यदन्तरा पितर मातरम् ॥

—श्वस्तुहिता १ ॥१११॥

अद्वैत मन्त्र का यही है कि—“इमने पितरों, देवताओं एवं मरणधर्मा मनुष्यों की जो ही धृतागणियों मुन रक्षी हैं। इम पार्षि-विरवर्षिता को छोड़ कर विकल्पित ज्ञान बाल प्राणी—मात्र इन्हीं दोनों गणियों में स किमी एक गति का (कर्मनुसार) अनुगमन करते रहते हैं जो कि प्राणी मत्ता पृथिवी तथा धृ पिता के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। अनियन् में इन्हीं दोनों मर्गों का प्रवेश आदिमाग, तथा धूममाग, मार्गों में विरनयण किया है। उत्तरायणधर्मक और-अधितिम्य माग आदिमाग है यही गीता के शास्त्रों में ‘शुक्लमार्ग’ है। अधिणायनयवात्मक

वाक्य तमोमय माग 'धूममार्ग' है, वही 'कृष्णमार्ग' है। मन्त्र-भुक्तिने-द्वे सृती अशृणवम् से इन्हीं दोनों का स्पष्टीकरण किया है, जिसका अनुवाद हुआ है गीता में इस रूप से—

शुक्ल-कृष्णे गती द्वेते जगत शारवती मते ॥

एकया यात्यनावृषिमन्ययाऽऽश्वत्तै पुन ॥१॥

नते सृती पार्य ! ज्ञानन्योगी भ्रमति करषन ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ॥२॥

—गाता का २६ २७)

एतमेव गीतारात्र का प्रत्येक सिद्धान्त सर्वात्मना वैदिक सिद्धांतों से ही अपररा अनुप्राणित है जिस इस आर्य-दृष्टिकोण की पुरातन-नूतन-ममी व्याख्याताओं ने आत्यन्तिक उपेक्षा कर मानविज्ञानकोशात्मक इस गीतारात्र को एक मा-प्रदायिक ग्रन्थ ही बना छोला है। भारतीय प्रथा मन्त्रशासत्र-निरपेक्ष विद्युत् सर्वमाद् क आधार पर गीतारात्र का समन्वय कर तन्मसा आचारनिष्ठा क द्वारा अपनी भवुक्ता का परित्याग कर पश्चिम-धामुष्मिक अशुभ-नि-त्रेयस-यम क अनुशीलनरत्मक (अनुकरणरत्मक नहीं) अनुसरण करे, एकमात्र इती कामना स राष्ट्रमापा हिन्दी में यह गीतामाहृत्य अनुमानतः ०० (दोस सहस्र) प्रष्ठा में अनिषद हुआ है जिसमें न अक्षरक फल २ तीन सहस्र प्रुष्ठरत्मक गीतासाहित्य ही प्रकाशित हो पाया है। दो शब्दों में गीतामाहृत्य का स्वरूपा से भा नैष्ठिक पाठकों को अवगत करा दिया जाता है।

गीताभूमिका, गीताचाव्यस्यरूपपरिषय, गीताविज्ञानमाप्य, इस रूप से गीतामाहृत्य हीन स्वतन्त्र महात्मणों में विभाजित हुआ है जिन इन सानों महात्मणों के प्रत्येक क क्रमरा १-११- २ य अघान्तर सख्य हुए हैं। सम्भूय ४२ अइतालीन अक्षान्तर सख्यों में, तथा तान महात्मणों में गीतानाहित्य सम्पन्न हुआ है। अक्षरक 'गीताभूमिका' नामक प्रथम महात्मण क अघान्तर १ भूमिका-व्यपका में ने केवल पाँच ही सख्य प्रकाशित हुए हैं, जिनमें पाँचवाँ यकी 'बुद्धिभोगपरीक्षात्मक पूर्वसख्य' माना जा सकता है। माना जा सकता है—यह इसलिए कहा गया कि वस्तुतः यह पूर्वसख्य क्रमगणना के अनुसार २ वाँ सख्य है। आरम्भ में आर स्वतः दो पुत्र वप पूय हमने क्रमराः ही प्रकाशित किए थे। तदनन्तर अपनी अक्षमयता के कारण सभी प्रकाशान प्रवृत्तियों विगत १-५-वर्षों से मधया अक्षरक ही हो गए थी। विगत वर्ष में पुन 'राजस्थान वैदिकसंस्थानयोषसस्थान' क अनुमद से प्रकाशान प्रवृत्ति प्रकान्त हुई। एय संस्थान क प्रपात सञ्चालक मन्त्री महामाग की इच्छा के कारण क्रमपथ की उपेक्षा कर हमें प्रस्तुत २ वें भूमिकसख्य का ही प्रकाशान करना पडा। 'अक्षरगान्मदकरण धय' स्वयं स पुत्र न होने से जो कुछ हो रहा है मस्थान क अनुमद से उस ही भेय पन्था मान लिया गया है। नीच सिन्धी वाकिक से तथाकथित गीतामाहृत्य की रूपरेखा से पाठक महाभक्ति परिचित हो सकेंग।

वृत्त भी गीतारात्र स्वप्रतिज्ञामृत वेदशास्त्र के सैदान्तिक आधार से दृश्य बनाना जाकर आज यों विभिन्न भावों का अनुगामी बनता हुआ किंवा बनाया जाता हुआ 'यच्छ्रेय' स्यादभिरिचरं ब्रूहि तन्म' घोषणा से मन्त्रया विरतौ मंत्रापनिवृत्ति के स्थान में मंत्रायवृत्ति का ही उपोद्वेलक बनता सा रहा है, अथवा सा बन गया है।

आज आज तो वही गीतारात्र एक बेमा शौकिक साधारण साहित्य ही प्रमाणित हो गया है, जिसके परिग्रहण के लिए वेदशास्त्र की खोज करो, संस्कृतभाषा का बोध भी आवश्यक नहीं समझा जा रहा। केवल अपनी कल्पनिक अनुभूति अपने मनस्त्रानुवर्त्ती शब्द सत्त्वप्रयोग एवं आस्था-भक्त-गुण रूप बुद्धिवाद् हो गीताधर्ममन्त्रय के लिए पर्याप्त साधन बन चुके हैं। अपनी इन्हीं कल्पनिक मान्यताओं के कारण वर्तमान युग के इन अमिनय व्याख्याताओं ने—(जिनका न तो भारतीय निगमनामपुराणस्मृत्यादि शास्त्रों से ही कोई सम्पर्क है न संस्कृतभाषा का ही जिनमें सम्पर्क प्राप्त है) अनासक्तियोग, निष्कामकर्मयोग, साम्यवाद, मन्त्रमन्त्रालम्बुद्वैतवापसमा कूलित क्षीरानया, आदि आदि अनक जैसे मन्त्रवाचों का ही सञ्चन कर बाला है, जिनका गीतारात्र स यन्-किञ्चिन् भी तो सम्पर्क नहीं है। ऐसे कल्पित वाचों से तो गीता के अन्तरार्थ का भी समन्वय सम्भव नहीं है। फिर रहस्यपूर्ण पारिभाषिक तर्कवाद की ता कथा ही विदूर है। गीतारात्र के अनेक स्थल ता एव हैं जो विस्पष्टरूप से बहवचनों का ही अनुवाद हैं।

अन्तरार्थ के लिए- 'दीर्घतमा' की सापेक्षविधि से सम्बन्ध रखने वाले आत्मगति विद्या का त्रिम 'आतिवाहिक-प्रियाकी' के रूप में स्वयं मूलसहिता में विस्तार हुआ है, उसका एक मन्त्र है—

इं स्रुती अमृषव पितृसामई दधानामृत मत्यानाम् ।
ताम्यामिन् विरवमेवत् समेति यदन्तरा पितर मातरम् ॥

—सृष्टिसहिता १। १२।

अन्तरार्थ मन्त्र का यही है कि— 'इमनें पितरों देवताओं एवं मरणधर्मा मनुष्यों की दो ही प्रतगतिर्षो मुम रक्षी है। इस पवित्र-विरवप्रतिष्ठा को छोड़ कर विकल्पित होने वाले प्राणी-मात्र इन्हीं दोनो गतियों में से किसी एक गति का (कर्मामुसार) अनुगमन करते रहते हैं जो कि प्राणी मत्ता पृथिवी तथा पृ. पिता के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं'। उपनिषत् ने इन्हीं दोनो मार्गों का क्रमशः अक्षिमाग, तथा धूममार्ग, नामों से विरलेयस किया है। उत्तरायणधर्मक मार-स्योदिस्यय माग अक्षिमाग है यही गीता के शब्दों में 'शुक्लमार्ग' है। अक्षिमायनधर्मक

वाक्य-समोमय मार्ग 'धूममार्ग' है, यही 'कृष्णमार्ग' है। मन्त्र-मुक्ति ने—'द्व सुती अश्रुणवम्' से इन्हीं दोनों का स्पष्टीकरण किया है, जिसका अनुवाद हुआ है गीता में इस रूप से—

शुक्ल-कृष्णे गती ब्रूते जगत् शारधती मते ॥

एकया यात्यनाष्टिभिन्ययाऽऽवर्षते पुनः ॥१॥

नैते सृती पार्य ! ज्ञानन्योगी मुञ्चति करचन ॥

तस्मात्सर्वेषु कलेषु योगयुक्तो भवाजुन ! ॥२॥

—गाता ८। २६ २५।

एवमेव गीताशास्त्र का प्रत्येक सिद्धान्त महात्मना वैदिक सिद्धार्था से ही अचररा अनुप्राणित है जिस इस ध्याप-दृष्टिकोण की पुरातन-नूतन-सभी व्याख्यावादा में आत्मनिक उपज्ञा कर ज्ञानविज्ञानकोशात्मक इस गीताशास्त्र का एक साम्प्रदायिक प्रत्ये ही बना जाता है। भारताय प्रज्ञा मन्त्रद्वारा—निरपेक्ष बिगुद्ध तत्त्ववाद के आधार पर गीताशास्त्र का समन्वय कर तन्ना आचरनिष्ठा के द्वारा अपनी भाषुकता का परिष्कार कर पंडित-आत्मिक अत्युच्च-निर्भयसमय कर अनुशीलनात्मक (अनुकरणात्मक नहीं) अनुसरण करे, एकमात्र इसी क्षमता से राष्ट्रभाषा हिन्दी में यह गीतासाहित्य अनुमानित २०० (बीस सहास्र) पृष्ठा में उपनिवेद्य हुआ है जिसमें से अथर्वक फल ० तीन सहास्र-पृष्ठात्मक गीतासाहित्य ही प्रकाशित हो पाया है। दो गद्यों में गीतासाहित्य की रूपरेखा से मा नैष्ठिक पाठकों को अवगत करा दिया जाता है।

गीताभूमिका, गीताचाण्यस्यरूपपरिचय, गीताविज्ञानभाष्य, इस रूप से गीतासाहित्य तीन स्वतन्त्र महाखण्डों में विभाजित हुआ है, जिन इन तानों महाखण्डों के प्रत्येक के क्रमशः ६-११- ८५ अक्षरान्तर खण्ड हुए हैं। सम्भूय ४८ अक्षरालीस अक्षरान्तर खण्डों में तथा तान महाखण्डों में गीतासाहित्य सम्पन्न हुआ है। अथर्वक 'गीताभूमिका' नामक प्रथम महाखण्ड के अक्षरान्तर ६ भूमिका-खण्डों में से केवल पाँच ही खण्ड प्रकाशित हुए हैं जिनमें पाँचवाँ यही 'वृद्धियोगपरीक्षात्मक पूर्वस्वरूप' माना जा सकता है। 'ज्ञाना जा सच्छा है—यह इसलिये कहा गया कि वस्तुतः यह पूर्वखण्ड क्रमगणना के अनुसार ८ वाँ खण्ड है। आरम्भ में चार खण्ड तो कुछ वर्ष पूर्व हमने क्रमशः ही प्रकाशित किए थे। तदनन्तर अपनी असमर्थता के कारण सभी प्रकारान्तर प्रवृत्तियों विगत २-४-वर्षों से सवया अथर्वक ही हा गइ थी। विगत वर्ष में पुन 'राजस्थान वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' के अनुग्रह से प्रकाशन-प्रवृत्ति प्रक्रमत हुए। एवं संस्थान के प्रधान सहायक मन्त्री महाभाग की इच्छा के कारण क्रमपथ की उपज्ञा कर हमें प्रस्तुत ८ वें भूमिका-खण्ड का ही प्रकाशन करना पड़ा। 'अक्षरान्तामदपरश श्रेयः' श्लोक से कुछ न ज्ञान से जो कुछ हा रहा है संस्थान के अनुग्रह से उसे ही भेज-सम्पा मान लिया गया है। नीचे लिखी वाकिका से तथाकथित गीतासाहित्य की रूपरेखा से पाठक मस्तीभाव विपरिचित हो सकेंगे।

(१) 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक प्रथम महाखण्ड
(तदन्तर्गत भवान्तर ६ भूमिका-खण्ड)

१-गीताभूमिका-बहिरङ्गपरीचात्मक-प्रथमखण्ड	"	(बहिरङ्गपरीचा)
२-गीताभूमिका-अन्तरङ्गपरीचात्मक-'द्वितीयखण्ड'	का	'क' विभाग (आत्मपरीचा)
३-गीताभूमिका	"	का 'ख' विभाग (प्रज्ञाकर्मपरीचा)
४-गीताभूमिका	"	का 'ग' विभाग (कर्मयोगपरीचा)
५-गीताभूमिका	"	का 'घ' विभाग (ज्ञानयोगपरीचा)
६-गीताभूमिका-अर्वाचरामपरीचात्मक तृतीयखण्ड	का	'क' विभाग (मक्तियोगपरीचा-पूर्वखण्ड)
७-गीताभूमिका	"	का 'ख' विभाग (मक्तियोगपरीचा-उपरखण्ड)
८-गीताभूमिका	"	का 'ग' विभाग (बुद्धियोगपरीचा-पूर्वखण्ड)
९-गीताभूमिका	"	का 'घ' विभाग (बुद्धियोगपरीचा-उपरखण्ड)

त्रिखण्डारिभका-गीताभूमिका-अधान्तर ६ खण्डारिभका

रूप-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक

प्रथम महाखण्ड

१

गीताभूमिका के उक्त ६ खण्डों की पृष्ठ-संख्या का अनुपात
निम्न लिखित है—

१—बहिरङ्गपरीक्षा	६००	(प्रकाशित)
२—आत्मपरीक्षा (क)	५००	(")
३—ब्रह्मकर्मपरीक्षा (ख)	६००	(")*
४—कर्मयोगपरीक्षा (ग)	६००	(")*
५—ज्ञानयोगपरीक्षा (घ)	५००	(अप्रकाशित)
६—भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड (क)	८००	(")
७—भक्तियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड (ख)	८००	(")
८—बुद्धियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड (ग)	७००	(प्रस्तुत प्रकाशन)
९—बुद्धियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड (घ)	८००	(अप्रकाशित)

५६ • पाँच हजार नौ सौ शृष्ठात्मक प्रथम महाखण्ड

१

२—‘गीताचार्य्यस्वरूपपरिचय’ नामक द्वितीय महाखण्ड
(उदन्तर्गत अन्तर् ११ आचार्य्यखण्ड)

१—गीताकृष्णरहस्य	४००	अप्रकाशित
२—परास्परकृष्णरहस्य	४००	"
३—पुरुषकृष्णरहस्य	४००	"
४—सत्यकृष्णरहस्य	४००	"
५—ईश्वरकृष्णरहस्य	४००	"
६—प्रतिष्ठाकृष्णरहस्य	४००	"
७—ज्योतिःकृष्णरहस्य	४००	"

* विहाहित ३-४ दोनों खण्ड अब अप्राप्त हैं। अतएव ये भी पुनः प्रकाशन-सापेक्ष हैं।

आध्यात्मिक आशोधन से भी भारतीय शास्त्रों का सम्बन्ध सम्भव बन सकता है। बहरास्त्र की संक्षिप्त सूची बन हुए गीतारास्त्र ने वास्तव में सङ्केतरूप से सभी वैदिक विषयों का संक्षेपन कर लिया है। एवं वही गीतारास्त्र की भारतीय अथर्वानादि शास्त्रों की तुलना में अपूर्वता है, जिसके आधार पर ही यह आभास्यक प्रसिद्ध हुआ है कि—

गीता सुगीता कर्षभ्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

या स्वयं पद्यनामस्य सुखपङ्क्तौ विनि सृता ॥

गीता न तो ज्ञानयोगशास्त्र है, न मक्तियोगशास्त्र है एवं न कर्मयोगशास्त्र ही है। अपितु गीता तो विद्युत् 'बुद्धियोगशास्त्र' है। बुद्धिवादात्मक वच मान युग में 'बुद्धि' शब्द बड़ा ही प्रामाण्य बना हुआ है। सभी तो आज के युग में अपने अथर्व का बुद्धिवादी मान रहे हैं। मग अपने अपने बुद्धिवाद के आधार पर ही तो भारतीय शास्त्रों की व्याख्या के लिए सखीभूत हैं। इसीलिए तो आज—'हम समझेंगे, तब मानेंगे' इस तर्क का अपयोगी बना कर बुद्धितुला के मापदण्ड से ही बुद्धिवादी शास्त्र की स्वरूप-व्याख्या में प्रवृत्त देखे हुए जा रहे हैं। और ऐसी दृष्टि-भुक्ति को ही आज नाम दिया जा रहा है—'तत्त्वशोध (रिसर्च)। १०-२ मन्त्रों को सामने बखेर कर इपर-अपर से कुछ संग्रह कर-करी श्री इ ट-करी का रोका-पकड़ा कर अपने बुद्धिवाद के बल पर, दूसरे शब्दों में कल्पना के द्वारा ओड़-ठीड़ बैठ कर अपने अथर्व को तत्त्वज्ञान (ट्रुथ-डिस्कवरी) मान बैठना ही वच मान युग के बुद्धिवाद का 'इतिभी' है, जिसका भारतीय तत्त्वदृष्टि से पक्किञ्चित्त भी सम्बन्ध नहीं है। सम्भव है—'बुद्धियोग' शब्द से भी कुछ ऐसी ही प्रामाण्य कल्पना कर ली जाय इस गीतासिद्धान्त के सम्बन्ध में भी। अतएव दो शब्दों में बहरास्त्र-सम्भवा बुद्धियोग-स्वरूप-व्याख्या का भी प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण अनिवार्य बन रहा है।

लोकदृष्टि से बुद्धियोग का कतिवार्थ निकलता है—'बुद्धिपूर्वक क्वाय्य करना'। शास्त्रीय दृष्टि में इस कतिवार्थ का प्रवेश भी निषेध है। अपितु इस विद्या में वा 'बुद्धियोग' का वही कतिवार्थ निकलेगा कि—'अपनी बुद्धि का स्वतन्त्ररूप से कोई उपयोग न कर शास्त्रप्रामाण्य के आधार पर शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुसार स्वकर्षभ्य-कर्मनिष्ठा में प्रवृत्त रहना ही गीता का एकमात्र निर्णीत सिद्धान्त है। एवं यही सिद्धान्त 'बुद्धियोग' कह लाया है"। 'बुद्धियोग' शब्द से ऐसा कतिवार्थ केश क्यों निकल आया? इस प्रश्न के समाधान के लिए अवरुध ही प्रकाशसमान अथर्वी बुद्धि का शास्त्रीय तत्त्वविषय के साथ योग कर सकत हैं। इस भाष्य बुद्धियोग (बुद्धिमानी) के द्वारा अवरुध ही आत्मा-भद्रा-परिपूर्णा विद्यासा के

द्वारा सिद्ध बुद्धियोग (बुद्धि से अतीत योग) के तटस्थरूप से दर्शन किए जा सकते हैं। कैसे?,
अथवा! बुद्ध्या पान्यवभाव्यताम्।।

सम्पूर्ण विश्व में ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति-अर्धशक्ति-इन तीन शक्तियों का ही साम्राज्य उप
बन्ध हो रहा है। बुद्धितन्त्र की चरम सीमा पर पहुँचे हुए निम्नान्त बुद्धिमान भी मानव अपनी बुद्धि
के द्वारा सुसूत्रम ईक्षण करते हुए इन तीन शक्तियों से अतिरिक्त चौथी शक्ति का समन्वय करने में
सर्बथा असमर्थ ही बने रहते हैं। मानव का बुद्धियोग ज्ञान-क्रिया-अर्ध-इन तीन शक्तियों पर ही
विभक्त है। तीनों शक्तियों क्रमशः अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत इन तीन तन्त्रों से अनुप्राणित हैं।
ज्ञानक्षेत्र अधिदैवत है, क्रियाक्षेत्र अध्यात्म है, एवं अर्धक्षेत्र अधिभूत है। इन तीन क्षेत्रों के आचार
पर ही लोकनिष्ठ बुद्धिमान मानवों ने अपने बुद्धिबल पर मानव की सुख-शान्ति के लिए क्रमशः
ज्ञान-मक्ति-कर्म-नामक तीन योग आर्जित कर लिए हैं, जो योग बुद्धिमान् विद्वत्समाज में सु-
प्रसिद्ध हैं।

जिस योग में साधन भी अधिभूत हों साधन भी (प्राप्त्य) भी अधिभूत हों वही का
नाम 'कर्मयोग' है। जिस योग में साधन तो भौतिक हों, किन्तु साध्य अधिदैवत हों, वही का
नाम 'भक्तियोग' है। एवं जिस योग में साधन भी आधिदैविक हों एवं साध्य भी आधिदैविक ही
हों वही नाम-'ज्ञानयोग' है। भौतिक-भौतिक-कर्मयोग का मानव के अर्धशक्ति (मूलशक्ति) प्रधान
पार्थिव शरीर से प्रधान सम्बन्ध माना गया है। दैविक-भौतिक-भक्तियोग का मानव के क्रियारहित
प्रधान आन्तरीय चान्द्र मनस्तन्त्र से प्रधान सम्बन्ध माना गया है। एवं दैविक-दैविक-ज्ञानयोग का
मानव के ज्ञानशक्तिप्रधान विषय और बुद्धितन्त्र से प्रधान सम्बन्ध माना गया है। और यों
तीनों योग मानव के बुद्धि-मन शरीर-तन्त्रों से समन्वित रहते हुए मानव के लोक-स्वरूप के
पररूप बने हुए हैं। ये ही तीनों तन्त्र क्रमशः मानव के उस सुप्रसिद्ध प्राकृतिक जीवभाव के
स्वरूपाधार बने हुए हैं, जिस पराप्रकृति (अदृष्ट) रूप जीवभाव की तीनों कक्षाएँ क्रमशः 'वैश्वान-
नर-सैत्रस-प्राण' नाम से प्रसिद्ध हैं।

अर्धशक्ति-प्रधान पार्थिव अग्नि से अनुप्राणित 'वैश्वानर'-कक्षा पार्थिव शरीर
से अमिन्न रहती हुई कर्मयोग से समन्वित है। क्रियारहित-प्रधान आन्तरीय वायु
से अनुप्राणित 'सैत्रस'-कक्षा आन्तरीय चान्द्र मनस्तन्त्र से अमिन्न रहती हुई भक्तियोग से
अमन्वित है। एवं ज्ञानशक्तिप्रधाना विद्या-सौरी-बुद्धि से अनुप्राणित 'प्राण'-कक्षा विषय और

बुद्धितन्त्र से अभिन्न रहती हुई ज्ञानयोग से समन्वित है। इसप्रकार जिस सीमापर्यन्त सौक-
निष्ठ मानव की बुद्धिमानी अनुपादन कर सकती है, उस सीमापर्यन्त इन तीन सांख्यिक योगों से
अतिरिक्त सबमुख किसी भी बुद्धि से अतीत अपूर्व बुद्धियोग की कल्पना भी कर लेना ज्ञान-क्रिया-
अर्थ-शक्ति-समन्वित प्राकृत बुद्धिमान् मानव के लिए सब वा असम्भव ही तो है। ऐसी स्थिति में
यदि बुद्धिमान् भारतीय व्याख्याताओं ने गीताराश्र के योग' राष्ट्र से 'ज्ञान-भक्ति-कर्म' इन तीनों
योगों का ही ग्रहण करते हुए गीताराश्र का 'ज्ञान-भक्ति-कर्म-योगप्रत्य' मान लिया है, तो इन
बुद्धिमानों का कोई अपराध नहीं माना जासकता। इसी लोकसंग्रह दृष्टि-से लोकभावुकता के
सरक्षण के अनुबन्ध से हम भी थोड़ी देर के लिए एक बुद्धिगम्य समन्वय के आधार पर गीता-
शास्त्र को इन सौक्यप्रपन्नित तीनों योगों का प्रतिपादक सौख्यिक प्रत्य ही मान लेते हैं जिस
त्रितन्त्रमक बुद्धिवाचपूर्ण समन्वय का नीचे लिखी तालिका से मलीमोति स्पष्टीकरण हो रहा है।

१—अधिभूतम्—(अद्यमयम्)—तदनुगता अर्थशक्तिः—पार्थिवी-आग्नेयी

२—अप्यस्मम्—(क्रियमयम्)—तदनुगता क्रियारक्तिः—वाय्वी-वायव्या

३—अधिद्वतम्—(ज्ञानमयम्)—तदनुगता ज्ञानरक्तिः—सौरी-येन्द्री



१—पार्थिव—शरीरतन्त्रम् (अग्निप्रधानम्)—तत्समन्विता—बैश्वानरकक्षा—आग्नेयी

२—वाय्वी—मनस्तन्त्रम् (वायुप्रधानम्)—तत्समन्विता—संबसकक्षा—वायव्या

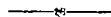
३—सौर—बुद्धितन्त्रम् (इन्द्रप्रधानम्)—तत्समन्विता—प्राज्ञकक्षा—येन्द्री



१—अपरशक्तियुता—बैश्वानरकक्षा—कर्मयोगेन समन्विता (सोऽयं कर्मबागः)

२—क्रियारक्तियुता—संबसकक्षा—भक्तियोगेन समन्विता (सोऽयं भक्तिबागः)

३—ज्ञानरक्तियुता—प्राज्ञकक्षा—ज्ञानयोगेन समन्विता (सोऽयं ज्ञानबागः)



इसप्रकार बुद्धिपूर्वक 'योग फ स्वल्पान्तेपरल में प्रकृत प्राटन मानव का प्राकृतिक बिन्दु में
तथापिन्न तीन ही ता बुद्धियोग (बुद्धिमत्ता-पूर्व योग) उपलब्ध है रह है। एसी स्थिति में 'बुद्धिबाग'

राज्य के द्वारा इन तीन बुद्धिव्याख्या-सम्मत योगों के अतिरिक्त चौथे अनुद्धियोगात्मक अमृत अष्ट-
पूर्ण बुद्धियोग की कल्पना भी कैसे कर सकते थे गीता के व्याख्याता थे लोकमानव । इसीलिए तो
वेद्युगात्मक सत्ययुग से आरम्भ कर आज पर्यन्त सुगुण्यतम 'बुद्धियोग' सिद्धान्त यदि व्याख्या-
ताओं के लिए परोक्ष ही बनता आ रहा हो तो इसमें बुद्धिमान् व्याख्याताओं का कोह भी तो
हाथ नहीं माना जा सकता ।

कैसे अनुद्धियोगात्मक बुद्धियोग का स्वरूप-बोध हो ? प्रश्न का एकमात्र समाधान है—
'पुरुषात् का अनुगमन । पुरुषार्थ से मानव अक्षरमेव परोक्ष तत्त्व का अनुग्रह प्राप्त करने में
समर्थ बन जाता है । मानव का अपना (जीवमात्र का) प्रयास-प्रयत्न-श्रेष्ठा-भावि का नाम क्या
पुरुषार्थ है ? नहीं कदापि नहीं । मानव 'पुरुष' है कहीं ? यह तो अपने वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ
रूप जीवमात्र से अक्षरप्रकृतिरूप ही बना हुआ है । ऐसे जीवमात्रात्मक प्राकृत मानव का प्रयास तो
'प्रकृत्यर्थ' ही माना जायगा जिसे आश्रित्य मानव 'पुरुषार्थ' कहता बसा आ रहा है प्राकृतिक
व्यामोहन के कारण । 'पुरुष नाम हे लोकतीति-विश्रतीति तस अच्ययत्समा का, लो गीता कं ही
शास्त्रों में— 'यो बुद्धे परतस्तु सा' के अनुसार मानवीय बुद्धि से सर्वाथा परे है, अतीत है ।
बुद्धि से अतीत अच्ययपुरुष ही वास्तविक पुरुष है । इस पुरुष से सम्बद्ध प्रयास ही 'पुरुषार्थ' है,
जो कि किया नहीं जाता, अपितु स्वतः हो रहा है । इस स्वतः प्रवृत्त पुरुषार्थ के साथ मानवीय
प्रकृत्यर्थरूप जीव के प्रयासों का सर्वात्मना समर्पण ही मानव की कृतकर्मता है, जिसका गीता ने
इन शास्त्रों में स्वरूप—विरलेपण किया है—

यत्करोषि, यदश्नासि, यज्जुहोसि, ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥१॥

मन्मना मध, मधुमक्तो, मघाञ्जी, मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्तैवमात्मानं मत्परायस्य ॥२॥

आरम्भ में पार्थिव शरीर, तदनन्तर इन्द्रिय, एवं इन्द्रियार्थ । तदुपरि चान्द्र मन । तदुपरि
सौरी बुद्धि । प्राकृत मानव क प्राकृत जीवमात्र से सम्बन्ध रखने वाली वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूपा
अग्नि-वायु-इन्द्र-ऋष्या अर्थ-क्रिया-ज्ञान-शक्तियों का पर्यवेक्षण इस सौरी बुद्धि पर पर्यवेक्षित
है । जबतक मानव इन तीनों तन्त्रों के व्यमोहन में आसक्त बना रहता है, जबतक इसे कदापि
बुद्धि से पर अक्षयित अच्ययपुरुष का अनुग्रह उसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता, जैसे कि त्रिलोक्य
के अधिपति अग्नि-वायु इन्द्र नामक तीनों देवता अपनी ज्ञान क्रिया अथ शक्तियों को ही इससे

राश्यों में इस शक्तिवाचसमन्विता बुद्धिमान्नी को ही सर्पत्य मानत हुए—‘अस्माकमेवेद खलु सुवनम्’ कहत हुए विष्णुविजय का अपनना ही विजय मान बैठत हुए इसी स्वस्वरूप—व्यामोहन से लोकाधीन अभ्ययपुत्र के स्वरूप—बोध से बञ्चित थ । आग बल कर ‘हैमवती उमा’ के अनुग्रह से इन थ यह पक्ष व्यामोहन वृ हाता है एवं इस महाशक्ति महामाया के अनुग्रह से ही इन्हें— ‘महागो वा विजय महीयस्वम्’ (केनोपनिषत्) रूप से व्यूबोधन प्राप्त होता ह । पीताम्बरा हैमवती उमा माहेश्वरी स अभिन्न मायी महेश्वरावतार पीताम्बरधारी पूर्वेश्वर अभ्ययकृष्ण ने इमी औपनिषद् मिश्रास्वविन्दु थ इन राश्यों में स्पष्टीकरण किया है कि—

दधी व पा गुणामयी मम माया दुरत्यया ।

मामव य प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

—गीता ७।१५

मापाशक्तिरूपिणी चिच्छक्ति के अनुग्रह स ही मानव का प्राकृत व्यामोहन—पाश टूटा है । एवं तमी—पाश—विमुक्त मानवपशु अभ्ययपुरुषानुग्रह से ‘पुरुष’ बनता हुआ लोकाधीन बुद्धियोगमिद्वान्त का अनुगामी बनने पाता है । अपन बुद्धितन्त्र को लोकाधीन अभ्ययपुरुष क प्रति मवान्मना ममपित कर देने वाला बुद्धिवादात्मक—व्यामोहनों स पूयक् बन जान वाला मानव ही अपन बुद्धितन्त्र को अभ्ययपुरुष क अनुग्रह स समन्वित कर सक्ता है । यही इसका अयुद्धियोगात्मक सिद्धावस्थापन सहज वह ‘बुद्धियोग’ है, जिसका लोकानुगत ज्ञान-भक्ति-कर्म-योगों स कोई सम्बन्ध नहीं है । ‘द्वामि बुद्धियाग तम्’ (गीता) क अनुसार स्वयं अभ्ययेश्वर के अनुग्रह से ही यह पुरुषावरूप बुद्धियोग प्राप्त हुआ करता है । इमी बुद्धियोगानुबन्ध से गीताशास्त्र तत्त्वतः ‘बुद्धियोग-शास्त्र’ ही बना हुआ है, जिसका आम्बाभद्राशून्य रूप बुद्धिवादों स, एवं तदनुप्राणित बुद्धिमानियों स कोई सम्पर्क नहीं है ।

अभ्ययपुरुषानुगत स्वतन्त्र सिद्ध बुद्धियाग का उदय केम हा ? गीताशास्त्र इमी प्रश्न का समाधान कर रहा है । तत्त्वतः—जिस बुद्धियाग क द्वारा सिद्ध बुद्धियाग स मानव अनुशीलन शक्ता है उस मापनमूत्र बुद्धियाग का स्वरूप-विरूपण करना ही इस ‘बुद्धियोगशास्त्र’ (गीताशास्त्र) का प्रथम प्रमुख उद्देश्य है । मानवीय बुद्धि क साथ अभ्ययपुरुष का घग का वृत्त सिद्ध है । हाथ केवल यही है कि मानव अमुक शक्तों क कारण कुछ एक शायद ही संस्कारों

(कुसुंस्कारों) के आवरण से अपनी बुद्धि को आपृत करता हुआ स्वतःसिद्ध भी इस अव्ययपुरुष विभूतिप्रयोग से अपने आपको (जीव-भाव को) शृणु कर लेता है। बुद्धि के उन असंख्य दोषों का शास्त्र ने 'अविद्या-अस्मिता-आसक्ति-अभिनिवेश' इन चार प्रधान दोषों में अन्तर्भाव मान लिया है। इन चारों दोषों की समष्टि दर्शनमाया में उहाँ 'जलेरा' छे कइलाई है वहाँ विज्ञानमाया में इन्हें 'कलिल' कहा गया है। बुद्धि जबतक इन चारों में से किसी एक भी कलिलदोष से मुक्त रहती है, तबतक इस का साक्षात् रूप से अव्ययपुरुष के साथ योग सम्भव नहीं। इन चारों कलिलों को हटाने के लिए चार प्रकार के 'भग' भावों का बुद्धि को अनियाय्यरूप से अनुगमन करना पड़ता है। 'अविद्या' नामक कलिल हटता है 'ज्ञान' नामक भग से। 'अस्मिता' कलिल का पलायन होता है 'परवर्त्य भग' से। 'आसक्ति' कलिल निवृत्त होता है 'वैराग्यभग' से। एवं 'अभिनिवेश' कलिल विनष्ट होता है 'धर्मभग' से। इन चारों भगों का जब बुद्धि में उदय हो जाता है, तो सहेय यश, और श्री, नामक दो भग और उदित हो जाते हैं। प्राकृतिक विश्व में इन ६ ब्यों भगों के कौन से प्रमुख स्थान हैं? इस प्रश्न का भी दो शास्त्रों में समन्वय कर लीजिए।

मत्स्यलोकधिष्ठाता अव्यय स्वयम्भू का 'वैराग्य' से प्रधान सम्बन्ध है। तपोलोक-धिष्ठाता सूत्रात्मा का 'ज्ञान' से प्रधान सम्बन्ध है। जनलोकधिष्ठाता परमेष्ठी का 'ऐश्वर्य्य' से प्रधान सम्बन्ध है। महः-एवं स्वर्लोकधिष्ठाता सूर्य्य का 'धम्म' से प्रधान सम्बन्ध है। सुभर्लोकधिष्ठाता चन्द्रमा का 'यशः' से प्रधान सम्बन्ध है। एवं मूलोधिष्ठात्री पृथिवी का 'श्रीः' से प्रधान सम्बन्ध है। इसप्रकार सप्तलोककालक विश्व में इस क्रम से ६ ब्यों भग प्रतिष्ठित हैं। इस महाविरच के केन्द्र में सूर्यनारायण प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि — 'नैबोदेता-नास्तमेता, मध्ये एकस्त एव स्याता' (दान्दो० ७५०) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। सूर्य्य ही आधिदैविक विरच की 'बुद्धि' है। केन्द्रभाव के कारण सम्पूर्ण विश्व-भगों का केन्द्रस्थ बुद्धिस्थानीय सूर्य्य में समन्वय हो रहा है। अतएव यह पञ्चविध भगसम्पत्ति बुद्धि से समन्वित मान ली गई है।

४-अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च जलेशाः ।

—पातञ्जलयोगसूत्र

— नैवास्तमनमर्कस्य नोदय सर्भेशा सतः ।

उदयास्तमनं चैव दर्शनददर्शनं रवेः ॥

—पुराण

का अपना मन्त्र है जोका अध्ययनद्वारागुण 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक योग' जिसे भगवान् ने गीताशास्त्र में पत्र पत्र 'योग' नाम से भी उल्लेखित किया है। यही गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य 'बुद्धियोग' है जिसके कारण गीताशास्त्र तत्त्वतः 'बुद्धियोगशास्त्र' ही प्रमाणित हो रहा है।

अमनस्सागात्मक संशोधित कर्मयोगात्मक 'धम्मबुद्धियोग' के स्वरूप-विरलेपण के लिए ही 'कर्मयोगपरीक्षा' नामक भूमिकाग्रन्थ उपनिबद्ध हुआ है। अमनस्सागात्मक संशोधित मक्ति-योगात्मक-पूर्वस्वरूपबुद्धियोग' के स्वरूपनिरूपण के लिए ही सरवद्वयारिणका 'मक्तियोगपरीक्षा' समन्वित हुई है। कर्मसंपादनक संशोधित ज्ञानयोगात्मक- 'ज्ञानबुद्धियोग' के समन्वय के लिए ही 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक भूमिकाग्रन्थ उपनिबद्ध हुआ है। शेष रह जाता है भगवत्सम्मत गीतासिद्धान्तक अध्ययनद्वारागुण 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक 'बुद्धियोग'। इसी के स्वरूप विरलेपण के लिए प्रस्तुत 'बुद्धियोगपरीक्षा'-पूर्वस्वरूप बुद्धियोगनिष्ठ मानवभेदों के अनुरक्षण के लिए प्रस्तुत हो रहा है जिसके प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन करते हुए प्रास्ताविक उपरत किया जा रहा है।

विश्वरूपारिणका 'गीताविज्ञानमाध्यमभूमिका' के एतद्वि-सर्वान्तरमपरीक्षा नामक तृतीय-स्तरक 'क-ख-ग-घ' इन चार अक्षरान्तर शब्दों में से पहल का 'बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वस्वरूप' नामक अमप्राप्त अक्षरों 'ग' विभागक अक्षरान्तर शब्द है जिसमें प्रचलनरूप से निम्न विहित तीन प्रकारक समाधिष्ट हैं—

- १—बुद्धियोगस्वरूपनिर्बचन—१ पृष्ठ से ३७६ पृष्ठपर्यन्त
- २—बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्बचन—३७७ पृष्ठ से ६४४ पृष्ठपर्यन्त
- ३—बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार—६४५ पृष्ठ से ६६२ पृष्ठ पर्यन्त

'बुद्धियोगस्वरूप-निबचनान्तर' प्रथम प्रकारक में चार अक्षरान्तर स्तम्भ हैं। इन चारों अक्षरान्तर स्तम्भों में प्रत्येक में क्रमशः १४-१४-१४-१४-अक्षरान्तर परिच्छेप हैं। चौदह (१४) अक्षरान्तर-परिच्छेदक 'सन्दर्भसङ्गति' नामक प्रथम स्तम्भ में पूरे सन्दर्भसङ्गतिपूर्वक भूमिका-ग्रन्थों के निरूपित तथा निरूपणीय विषयों की रूपरेखा का स्पष्टीकरण हुआ है।

पञ्चाक्षरान्तर (१४) अक्षरान्तर परिच्छेदक 'योगेश्वर का साधिक स्वरूप निरूपण' नामक द्वितीय स्तम्भ में बुद्धियागाधिष्ठाता अन्तर्-विज्ञान-मन प्राण-वायु-पद्मक अध्ययन

नामक सच्चिदानन्दब्रह्म की आनन्दकला-चित्कला-सत्ताकला का सुधिराद् वैज्ञानिक विरलेपण करते हुए सच्चयोगाभिप्लता-सर्वयोगप्रसक्तक योगेश्वर पोन्नरी विरवेश्वर प्रजापति का ही सपत्न्य रूप हुआ है।

अध्यात्म (५६) अध्यान्तर परिच्छेदात्मक तीसर-‘योगेश्वरानुगत योग का स्वरूप निरूपण’ नामक स्तम्भ में योगेश्वर के अख्यय-अक्षर आत्मदर-विरषसुट् (विकारघर) नामक चार पाशों से अनुप्राणिता सिद्ध योगचतुष्टयी का, तथा वैराम्यबुद्धियोग-ज्ञानबुद्धियोग-ऐश्वर्य्यबुद्धियोग-धर्मबुद्धियोग-इन चार साध्य बुद्धियोगों का क्रमशः स्वरूप-विरलेपण हुआ है।

विषयवत्तर (७५) अध्यान्तर परिच्छेदात्मक चौथे-‘बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन’ नामक स्तम्भ में प्रज्ञान मन की स्वरूप-रूपाक्या करते हुए प्रज्ञान मन पर प्रतिविम्बरूप से प्रतिष्ठित ‘विज्ञान’ नामक ‘बुद्धि’-तत्त्व का ही तात्त्विक नैगमिक स्वरूप-विरलेपण हुआ है। सर्वांत में इसी चतुर्थ स्तम्भ में १-बुद्धि, २-मनीषा, ३-धिपत्या, ४-धी, ५-प्रज्ञा, ६-श्रेष्ठुपी, ७-मति, ८-श्रेष्ठा, ९-उपलब्धि, १०-चित्, ११-सवित्, १२-प्रतिपत्, १३-ज्ञप्ति, १४-श्वेतना १५-विज्ञान बुद्धिस्वरूप समग्रक इन पन्द्रह शब्दों का वैज्ञानिक विभिन्न इतिहास बतलाते हुए बुद्धि-सम्बन्धी ‘योग’ शब्द के ही तात्त्विक स्वरूप का समन्वय हुआ है। यों इन चार स्तम्भों में प्रस्तुत सबक का प्रथम प्रकरण उपरत हुआ है।

(१)-‘बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन’ नामक प्रथम प्रकरण—

- १—सन्दर्भतत्कृति (१४ अध्यान्तरपरिच्छेदात्मक प्रथमस्तम्भ)।
- २—योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप निरूपण (१५१ परि० द्वितीयस्तम्भ)
- ३—योगेश्वरानुगत ‘योग’ का स्वरूपनिरूपण (५६ परि० तृतीयस्तम्भ)।
- ४—‘बुद्धि’तत्त्व स्वरूप दिग्दर्शन (७५ परि० चतुर्थस्तम्भ)।

१



‘बुद्धियोगानुगत विद्यास्वरूप निर्वचन’ नामक द्वितीय प्रकरण में भी चार ही अध्यान्तर स्तम्भ समाविष्ट हुए हैं, जिनमें प्रत्येक में क्रमशः १०१-४१-४४-४८-अध्यान्तर परिच्छेदों का समावेश हुआ है।

एकसौ इन्कीस (१२१) अक्षरपरिच्छेदरत्नक-‘धर्मबुद्धियोगानुगत आपविद्या-स्वरूपनिर्बचन’ नामक प्रथम स्तम्भ में ज्ञानानुगता शास्त्रविद्या, पौरुषानुगता शस्त्रविद्या, परिग्रहसंभारिमन्त्र वासिज्यविद्या, एव गुणमावाप्तिवा शिल्पविद्या, इन चार विद्याओं का विगृहणन कराया गया है। भागो चत्वारः भारतोय राष्ट्रकल्पना विधिष विद्यास्वरूप-परिचय धम्मानुगत स्वधम्म-परधम्म-मतवादादि का स्वरूपपरिचय, आदि आदि अक्षरपरिच्छेद अनेक विषयों का स्पष्टीकरण करते हुए निष्कामकर्म की वैज्ञानिक स्वरूप-व्याख्या हुई है। एवं तथापार पर ही धम्मबुद्धियोगानुगता ‘आपविद्या’ के स्वरूप-समन्वय की चण हुई है।

इकठ्ठासीस (४१) अक्षरपरिच्छेदरत्नक-‘प्रेम्बुद्धियोगानुगत-राजपि विद्यास्वरूप निबचन’ नामक द्वितीय स्तम्भ में ऐश्वर्य्य-मयसक ‘ईश्वर’ के अनेक विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है। अस्मिन् और अस्मिन् की स्वल्पव्ययका प्रस्तुत करते हुए मन और धर्क का अहमेबोमाव का चिरन्तन इतिहास व्यक्त हुआ है। भाग चत्वारः ईश्वर के ऐश्वर्य्य, जीव के ऐश्वर्य्य का स्वरूप परिचय करते हुए विभूति-महिमा-साहस्री-गुण-पद् विवर्त-आदि भावों का स्वरूप-समन्वय हुआ है। अस्मत्प्रमत्तत्र से मन्वथ रखने वाले चार प्रकार के मनस्तन्त्रों का विगृहणन करते हुए ऐश्वर्य्य की प्रतिबन्धि का ‘अस्मिता’ का स्वरूप-निरूपण हुआ है। सर्वांत में विद्वत्स के स्वाभाविक, तथा आगन्तुक स्वरूपों का विगृहणन करते हुए ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या की ही स्वरूपव्यख्या हुई है।

बौतीस (३४) अक्षरपरिच्छेदरत्नक-‘ज्ञानबुद्धियागानुगत-सिद्धविद्यास्वरूप-निबचन’ नामक तृतीय स्तम्भ में सर्वप्रथम ज्ञानावरक ‘आवरक’ का स्वरूप परिचय कराया गया है। हिरण्यगर्भ सूर्य के चार ‘पाप्मा’ विषयों का विगृहणन करते हुए भोगत्रयी के आधारमूल अस्त-विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है। गुण-स्वरूपपरिचय कसिद्ध-स्वरूपपरिचय मोह-स्वरूपपरिचय, त्रेगुण संघ, आदि आदि अक्षरपरिच्छेद विषयों का विगृहणन करते हुए सर्वांत में मोहकसिद्ध-निवर्त्ति का ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का ही स्वरूपोपहृ हय हुआ है।

अष्टठासीस (४८) अक्षरपरिच्छेदरत्नक-‘वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजपि विद्या-स्वरूप-निबचन’ नामक चतुर्थ स्तम्भ में सबप्रथम ‘वैराग्य’, और ‘आसक्ति’ (रत्नसक्ति एवं हेपा-सक्ति) शब्दों के आक्षेपसहित अर्थों का विगृहणन कराया गया है। अक्षरपरिच्छेद में पठित ‘त्याग’

शब्द की स्वरूपव्याख्या हुई है। आगे चलकर तपस्वी-योगी-ज्ञानी-कर्मठ आदि भेद विभिन्नताओं का तात्त्विक स्वरूपसमन्वय हुआ है। तदनन्तर राग-द्वेष-मोह-मायों का वैज्ञानिक स्वरूप-परिचय कराते हुए रागाक्षयसात्मक प्रेम के भद्रा-धातुसम्य-स्नेह-क्षम-रति-नामक पौंच भेदों की स्वरूप व्याख्या हुई है। रजोगुणानुबन्धी नस्व से सम्बन्ध रखने वाले रजोगुण के त्रिवृत्तार्था का स्वरूप परिचय कराते हुए वैराग्य के गीतासम्मत तात्त्विक स्वरूप का समन्वय हुआ है। सर्वास्त में आत्मस्थानत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले सम विषय-योगों का स्वरूप विग्वरान करता हुए वैराग्य-बुद्धियोगानुगत 'राजर्षिविद्या' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय हुआ है। और यों इन चार स्तम्भों में प्रस्तुत सबका द्वितीय प्रकरण सम्पन्न हुआ है।

(२)—'बुद्धियोगानुगत-विद्याम्बरूप-निर्वचन' नामक द्वितीय प्रकरण—

- १-धम्मबुद्धियोगानुगत—आर्षिविद्याम्बरूपनिर्वचन (१२१ परिच्छेदात्मक प्रथमस्तम्भ) ।
- २-एश्वर्यबुद्धियोगानुगत—राजविद्यास्वरूपनिर्वचन (४१ परिच्छेदात्मक द्वितीयस्तम्भ) ।
- ३-ज्ञानबुद्धियोगानुगत—सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन (३४ परिच्छेदात्मक तृतीयस्तम्भ) ।
- ४-वैराग्यबुद्धियोगानुगत—राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन (४८ परिच्छेदात्मक चतुर्थस्तम्भ) ।

२

तीसरा 'बुद्धियोगपरिषोपसंहार' नामक प्रकरण है, जिस में आशान्तर १० इस परिच्छेद समाहित हैं। वृषि-सृष्टि-पुष्टि-मुक्ति-नाम की गुणचतुष्टयी की स्वरूपव्याख्या तदनुगता बुद्धियोगचतुष्टयी पुरुषविद्यानुगता पुरुषयोगचतुष्टयी प्रकृत्यनुगता प्रकृतियोगचतुष्टयी, विकृति-विद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी आदि आदि परिशिष्ट विषयों का विग्वरान कराते हुए विविध ताक्षिण्यभेदों के माध्यम से सिंहावलोकनदृष्टया अद्वैततन्मात्मक एक होनेों प्रकरणों का स्वस्वोप-संहार ही हुआ है। और यों इन तीन प्रकरणों-आठ स्तम्भों-तथा ५४० (पान्सी पचास) आशान्तर परिच्छेदों से हृत्परायी प्रस्तुत बुद्धियोगपरिषोप-पूषज्जब बुद्धिनिष्ठों की सेवा में प्रणत-भाव से उपस्थित हो रहा है। विगप वैज्ञानिक विषयों के स्पष्टीकरण के लिए लगभग १० रेखाचित्र, तथा २ ७ के लगभग (ताक्षिण्यरूप से) परिच्छेद भी समाहित हुए हैं। शोषसंस्थान की आर्थिक सीमाओं के अनुबन्ध से तिरङ्गे चित्र प्रकरित नहीं किए जा सके जो कि विभक्त विषयों की दृष्टि से आवश्यक थे। एषमभ प्रेस-प्रतिकृति-संशोधन-आदि आदि में

सबका एकत्रीरूप से व्यक्त रहने के कारण प्रकाशन भी जमा व्यवस्थित-सुन्दर होना चाहिए था, नहीं हो सका है जिन इन अवसर्यमाहिनी बुन्दियों के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं ।

कृष्ण हैं हम इस 'राजस्थान-वर्द्धित-व्यगोचरस्थान' के प्रति जिसके अनुग्रह में अपने-क वर्षों से अचरक्या प्रकारानुवृत्त को पुनः प्रकाश करने में हम समर्थ बन सके हैं । कृष्ण हैं हम सम्मान के माध्यमस्त्री 'श्रीवासुदेवशरण' अथवा महायज्ञ के प्रति जिन की प्रेरणा से गुरुव 'वन्द्योपसंस्थान' स्थापित हुआ । एवं सर्वात्मना कृष्ण हैं हम उस बद्धिप्रवरत्रयी के प्रति जिससे आज से एक वर्ष पूर्व अपनी मुक्तहस्तता का परिचय प्रदान करते हुए इस संघोक्त संस्थान को अद्यावधि जीवित रखने का महत्सुपयार्जन किया है ।

जिस राजस्थान-प्रान्त के परम पावन क्षेत्र में यह साहित्यमाधना प्रकाश है उस 'राजस्थान-सुधा' के प्रति भी 'कृष्णता' आनन्दपूर्ण कर देना हमारा ही हम अपना नैतिक कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, अपने इस परम-नीतिवृत्त माध्यम प्राप्तीय सत्तान्त्र (राजस्थान सरकार) के द्वारा विगत तीन वर्षों से हमारी प्रस्तुत साहित्य-सभा के प्रति जा उद्बोधन सूत्र हमें उपलब्ध होते रहे हैं, (हो रहे हैं, एवं सम्भवतः भविष्य में भी हाँते ही रहेंगे) उन्हीं उद्बोधनसूत्रों के बल पर हमारी गुरानिहिता स्वाभ्यापनिष्ठा उत्तरोत्तर अन्तर्मुक्ता ही बनती जा रही है । साम्यमारुतिक, किंवा वातावरणिक आक्षेपों से सम्भव रहने वाली जिन बाध प्रवृत्तियों के अन्वेषण-पारात्मक वस्तु-वस्तुना स आबद्ध हो पड़ने वाला हमारा मनस्तान्त्र विगत तीन वर्षों से अपनी इतस्ततः वस्तुमयता अनुपादनवृत्ति में गुरानिहिता-स्वाभ्यापनिष्ठा से अधिर्धरा में बहिष्कृत ही बनता आ रहा था एकमात्र सत्तान्त्र के तयाधि सर्वाथा तदव्यवहारक महात् अनुग्रह में ही हम अनुपादन-वस्तुमय-अन्वेषण से मनस्तान्त्र का परिचाय हो सका है, जिस के अन्तर्ग में अपने इस उद्बोधनप्रवृत्ता राजस्थानसत्ता-तन्त्र के प्रति भी अत्यन्त सम्मानपूर्वक कृष्णता समर्पित कर देना आनन्दवृत्तिमन्त पक्ष तो मान ही लेंगे बुद्धियोगनिष्ठ मानवभेद ।

अब प्रस्तुत यह सभा है वन्द्योपसंस्थान के भविष्य का । वस्तुमय में हमलिये हम सधवा अनुग्रह है कि इस लोकानुगत संस्थान-सम्पत्तियों से इस प्राच्य अधिर्धरावृत्ति का कुछ भी बनना-विगतता नहीं । यह तो एक बसी सामयिक कल्पना है, जो थोड़ी भी असाधधानी से अन्तर्गत में आक्षेप्यव्यवहारक महात् अन्वेषण की अनन्त बन बाध करती है । जापि हम नाममात्र से वन्द्योपसंस्थान के हिताहित का ही कोई सम्भव । पुण्यसंज्ञानुपात से इस 'नाम' व्यञ्ज से यदि कुछ होता रहता है प्रचलित से तो स्वगत है तदव्यवहार से

इस प्रकार का भी। यदि उपरान्त हो जाती है यह प्रकारेण, तो भी भयपन्था ही है। क्योंकि इस आर्ष-संस्कृति के संरक्षण का उत्तरदायित्व तो स्वयं वेदक्षप्टा उस स्वयम्भू प्रजापति में अनुपाणित है, जिसके सम्बन्ध में ये श्लोकोप प्रसिद्ध हैं कि—

“अत्रान् ह वै पृष्णीन्-तपस्यमानान् प्रथमं स्वयम्भू अभ्यानर्षत्” ।

“कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याघातप्यतोऽर्षान् व्यदधात्-
शारवतीभ्य समाम्य” । (भृति)

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् मर्षय ।

लेभिर तपना पूर्णमनुष्ठाता स्वयम्भुवा ॥

—(प्राण)

आत्मा-वृद्धिसन्धता मूलनिष्ठाओं का अन्तस्सुख बन जाने से, माय ही मनशरीर-निवन्धना भाङ्गुत्वाओं का प्रधान बन जाने से अब जब भी इस पुरख-भूमि-भारतरष्ट्र में ज्ञानविज्ञानतत्त्व-लिङ्ग आपसम्पर्कित पददक्षित हुई परप्रत्ययनय-गतानुगतिक-भावुक मानवों के द्वारा तब तब ही इस राष्ट्र की अमुक अज्ञात-प्रज्ञाओं में स्वाभ्यायनिष्ठा-विरोधी यथावत् प्रलोभन-व्यमोहनो से आत्मत्राण करते हुए, साथ ही युगधम्मानुगत सभी कष्टपरम्पराओं, अपमानों, पर्य विरक्तियों का स्वागत करते हुए सर्वथा गुह्यनिहितरूप से अपनी पञ्चानिष्ठ स्वाभ्यायसाधना से राष्ट्र के इस मूल-सांस्कृतिक बीज को अपने रक्षण से आद्र-बनाए रखता । क्योंकि इसे अपने चिरन्तन-परम्परा से इस स्वाभ्यायनिष्ठा-संरक्षण-के लिए इसी प्रकार का आवेश उपलब्ध होते रहे हैं कि—

सत्रान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्ययस्य विरोधिनः ।

यथातथाभ्यापर्यस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥

—मनु

अर्थान्- 'स्वाभ्यायनिरता उस (प्रथमवचन) प्रज्ञा को जैसे यथावत् आर्थिक-सामाजिक-प्राप्तोभनों का परित्याग ही कर देना चाहिए, जो इसकी स्वाभ्यायनिष्ठा में विघ्न उत्पन्न कर बसे हैं । युगधम्मानुगत सम्पूर्ण प्रलोभनों से अपने आप को बचाते हुए बड़ा कठिनता से जीवनयात्रामात्र का निर्वाह करते हुए (संस्कृतिपीडसंरक्षक) स्वाभ्यायतप को अक्षुण्ण बनाए रचना ही इत्यंमूला प्रज्ञा की कृतकृत्यता है, जन्मसाकन्त्य है” ।

युगधम्मानुगत मानसिक प्रमाद से कुछ थप पूष हम भी इस लोकसमक-प्रचार-व्यमोहन पथ का पथिक बन जाने के लिए आतुर हो पड़े थे । पक्षस्वरूप इस प्रचार-वृष्ट्या से हमें भी तब

उक्त अनुपादन करते रहना पड़ा था, यत्र यत्र कपल अद्यमान तिरस्कर के और कुछ भी इफलाधिक की सम्भावना न पहिले थी न आज है। अपनी इसी भोग-सुकृत्यनुभूति के अनुभव से अन्तर्गत-गत्वा हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि "सबभूषण इमं भ्रान्तं यं सर्वथा सर्वविहीनं ही बन रूप यं वृत्तरे शम्भो में सबभारुकारिणी माहमयी लोकेपया के सदय बनन जाइय यं जिसके उपक्रम में ही परब्रह्मता मिथ्यापरमा-कल्पित आह्वानर प्रातिमासिक प्रवृत्तन-आदि आदि आसुरमात्र विराजमान रहा करते हैं। इसी उद्भव पनानुभव से आज हम इस इस सदय पर अरनालकृति से पृथगत पुनः आरम्भ है कि, "संस्कृति-संरक्षण का एकमात्र मूलमंत्र अनन्यनिष्ठा सेष्ठा न्यनिष्ठ बन कर स्वाध्यायनिरत बन रहना ही है"।

जिन भारतीय चिरन्तन आय-प्रदाओं को इस मूलसंस्कृति के संरक्षण की विष्ठा है, उन शान्त-प्रदाओं को अत्यन्त प्रयत्नमात्र से आह्वान कर रहे हैं हम अपने इस गृहनिहित ज्ञान-सत्त्वमय-मानशामय में जहाँ न किसी प्रकार का प्रवृत्तन है न बाध प्रचार है, न किसी प्रकार के लोकोपनिषत्की लोकेपया-बिलोपया-समुत्प्रेषक अत्यात्म सामाजिक प्रलोभन। है केवल सबमा परोक्षमावातुगता-स्वाध्यायतपोनिष्ठा। न्यूनतम एक शताब्दी पर्यन्त राष्ट्र की अमुक प्रदाओं को गृहनिहित बन कर सर्वप्रथम अपनी मूलसंस्कृति के इस ज्ञानविज्ञानमय विद्युत् तात्त्विकरूप को ही पुनः अभिव्यक्त करने में प्राणपण्य से जुट पड़ना चाहिये, जो मूलसंस्कृति विगत ३-४ हजार वर्षों से विभिन्न मतवालों के अन्तरस से आवृत्त होती हुई अपने विद्युत् मौलिकरूप से सर्वथा ही विरहित बनी हुई है।

यह सबमा सवात्मना सदा संस्मरणीय एवं अनिवाच्यरूपेण अविस्मरणीय है कि, केवल-संस्कृति-साहित्य-ज्ञानविज्ञान-आदर्श आदि आदि शक्तों की घोषणाओं से कदापि आज के इस भारतवर्ष का वास्तविक ज्वाबन स्वप्न में भी सम्भव नहीं है, जिस भारतवर्ष के आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-बारी ही मानवीय पर्व विगत २-३ सहस्र-वर्षों से सभ्यभारतमयक सम्प्रदायवातों से विभ्रंसक आलतापी वर्ग के द्वारा होती रहन वाली आक्रमणपरम्पराओं से सर्वोपरि विगत शताब्दी में होते रहन वाले बायावचतुर मतीच्य (पश्चिमी) राजनीतिकों के सर्वत्वमयक मूलवातों से सर्वथा परावृत्त प्रमादित हो चुके हैं। 'अपना' करने के लिए, अज्ञाने के लिए भारतवर्ष के क्षेत्र में प्रत्यक्ष में आज कुछ भी शेष नहीं रह गया है।

सबतन्त्रत्वतन्त्रता-प्राप्तिकल्प के उपक्रम से प्रकल्प 'भारतीयता' के महान् व्युत्पत्तियों में ध्य से इति पर्यन्त सर्वस्वना सबकुछ प्रतीच्य ही प्रतीच्य प्रमादित हो रहा है। मात्रमात्र

के लिए 'भारतीयता' का तुमुल उद्घोष किन्तु आचारदृष्टया सभी क्षेत्रों में अभारतीयता का साम्राज्य। यही शिक्षा, यही सम्प्रदाय, यही आचारा, यही आचार-व्यवहार, और सबस्वभावक अन्तर्राष्ट्रीय-व्यामोहन के माध्यम से सर्वप्रथम स्वस्वरूपवित्पुष्टिपूर्वक परस्वरूपों का अध्यानुकरण। ऐसी महाभयापना संघर्षकाल में मूलसंस्कृति-बीज के अङ्कुरित कर लेने की आशा सर्वथा दुरुभा ही मानी जायगी तब तक, जब तक ही यहाँ की अमुक प्रज्ञार्थ अपने आपको पश्यावत् सामयिक प्रलोभनों से अध्यायान पूर्वक बचाते हुए, दूसरे राज्यों में खेकीपणा-वित्तपणा-प्रवर्तक व्यामोहनों से जागरूकता पूर्वक अपने आपको असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए सर्वप्रथम अपनी मूलसंस्कृति के शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं कर लेती। इस स्वरूपबोध के अनन्तर ही (जिसमें अनमानव एक शताब्दी का समय अपरिचित है) भारतराष्ट्र स्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित हो सकेगा। और उस अवस्था में किसी भी बीसे प्रचार-विज्ञान की कोई भी आवश्यकता शेष नहीं रह जायगी, जिसके लिए आज कतिपय संस्कृतिमत् आकुल-व्याकुल बने हुए हैं।

प्रचारक्यह का आत्यन्तिक निरोध कदापि अभिप्रेत नहीं है। अमुक सुप्रसिद्ध न्याय के अनुसार गच्छतः स्वस्वरूप से जुद्ध करते रहने से भी शान् शान् जुद्ध तो सम्भव है ही। इसी आचार पर सम्भवतः--'अक्षरशान्मन्दकरणां श्रेयः' आभाषक प्रसिद्ध भी है। अभिप्रेत केवल यही है कि, प्रचार के मूल में सचचा तत्त्वस्थाध्यायनिष्ठा ही प्रतिष्ठित रहनी चाहिये। प्राथमिकता स्वाध्याय की एवं अपनी इस स्वाध्यायनिष्ठा का सरक्षण करत हुए, किसी भी प्रवाह में प्रवाहित न होते हुए सत्यधर्मपथ से अनुरूप क्षेत्रों में (आस्थाप्रज्ञासमन्वित क्षेत्रों में) शत्रुभाव से प्रचार-पथ का अनुगमन। इसी निर्खणित पथ को क्षय्य बनाते हुए अब बीसे लोकसमहात्मक प्रचारव्यामोहन को सर्वप्रथम श्लाघित समर्पित कर ही गई है, जहाँ आदि-मध्य-अपसान-तीनों भूमियों में केवल स्व-पर-प्रवर्तका के अविरत और कुल भी तो सम्भावित नहीं है। शत्रुभावात्मिका इसी आचारायी अज्ञानिन्दु का माध्यम से सत्यान का मन्त्री महोदय की पक्षपती प्रेरणा से हमें आस्था-अज्ञानसमन्वित 'राष्ट्रपति महामाग का सम्मुख इस संस्कृति के कतिपय सूत्र रच देने का गौरव प्राप्त हुआ, जिसे हम संस्कृति के मरिच्य के लिए प्रशस्त पथ मान सक्षत हैं। अतएव—

सर्वान्त में सर्वथा प्रकृतभाव से भारतराष्ट्र के सर्वोत्थ पद पर सदासीन महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेश्वरप्रसादजी महामाग के प्रति भी हृत्प्रवाञ्जलि समर्पित कर देना हम अपना आचर्यक

ॐ न हि कल्याणकृत् करिचद्-दुर्गतिं ततः । गच्छति ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य श्रापत महतो भयात् ॥

कर्त्तव्य मान रहा है, जिन्होंने अपनी महान्मिद्धा भारतीय प्राच्यसंस्कृति-साहित्यनिष्ठा के आकर्षण से एक विगत दिग्दर्शन मान में निरन्तर बौद्ध विषय पर्य्यम् सम्प्रदायवाद-निरपेक्ष बंधपुराखशास्त्रा-मुबन्धिनी ज्ञानविज्ञान-परिभाषाओं के बिरलपण-समय के दान से हमें कृतज्ञ बनाया है। साथ ही हमें ऐसा आश्वासन उपलब्ध हुआ है मान्य-राष्ट्रपति महाभाग से कि वे शीघ्र ही कन्द्रसत्ता का तथा प्रास्ताप सत्ताओं का ध्यान भी आकर्षित करने का अनुमद् करेंगे इस ओर।

पिगत ३-४ वर्षों में राजस्थानसत्ता के प्रति हम विरा में हम सर्पान्मना प्रकनरील प। किन्तु सम्भवतः हम किसी अपन ही भ्रष्टाचार से निरन्तर प्रयास करते हुए भी राजस्थानसत्ता के सबसमय प्रकनरील भी सत्ताधीरों का अनुमद् प्राप्त न कर सके। अपन ही प्रान्त की इस आत्मीय-सत्ता से हमप्रकार उपलब्ध होने में निरतिरायरूप से इत्यादि हात हुए हम विरा में तटस्थ बन जाना ही हमने भेय पन्था मान लिया था। सहसा जनवरीमास के आरम्भ में ही राजस्थान के मरुठिनित्त महामान्य भीरान्यपाल महाभाग का हमें विरोध अनुमद् प्राप्त हुआ। एवं आरने वह ही पर्य्य से हमारी साहित्यसत्ता का पर्य्यवेक्षण किया। साथ ही राजस्थानसत्ता के अवन ही पर के समप्रकार के साहित्यिक कार्य के प्रति उदासीन बन रहने के प्रति रर भी प्रकट किया। और हमें यह आश्वासन प्रदान करने का निःसीम अनुमद् दिया कि, 'राज्यपाल शीघ्र ही हम विरा में राजस्थानसत्ता के सहभाग के त्रिप कृतसंकल्प हैं। तद्व कृतज्ञता समर्पित कर रहे हैं हम हृदय से अवन महामान्य भीरावदात्त महाभाग के प्रति भी।

आत्र से अनुमानत तीन पर पूष माहमयी (बम्बई) के सुविद्यमान धनुरेवर भंतिनवर श्रीगणेशिन्द्रगामत्री महाभाग मरुठिनिया के एकमात्र सुपुत्र भंतिनवर मानसभृष्ट आरमंसंस्कृतिपरायण श्रीरुडीलान्त्री महाभाग मरुठिनिया न लगमग पक्षीममहण के व्यय से आरमन्त्रिया, साविण्य रिया में सम्पन्न रगन बान दा प्रथ्य प्रकाशित करवाने का अनुमद् कर स्वयं अपनी ही आर से इष्टे विषय के गंठिनित्त विज्ञानों के समीप भजा था। जापान-रुसी-जर्मन अमरिका आदि के गंठिनित्त विज्ञानों की जैसी सम्मतिजों हमें हम समय प्राप्त हुई थी इनके आधार पर सहसा एक बार तो हमारी पनी धारणा हा गई थी कि पर्य्य ही ज्यन्त्र लिया हमनें इर भारत देश में जहाँ गणवनी का मूलाहन आत्र कथन उद्ग पातुगल्लो ग ही किया जा रहा है। आत्र से अनुमा-

क-महामहिम राष्ट्रपति महाभाग की प्ररणा ग गन दिग्दर्शन सन ३१ का १४-१५-१६-१७-१८-मासिकों में निरन्तर बौद्ध विषय पर्य्यम् राष्ट्रपति महाभाग की गणुगिदिनि में जो व्यक्त्यात ह्य प वे स्वप्रकार से प्रकाशित हो गए हैं।

नतः यो अप यूष हमारी साहित्य-सेवा से पूर्ण परिचय प्राप्त करने वाले राजस्थान के ही एक सम्मान्य मन्त्री महाभाग अनुग्रह करते हुए हमें यह आश्वासन दिया था कि "यदि राजस्थान सदा एक हजार वार्षिक भी दे दे, तो हमें कुतुकुत्य बन जाना चाहिए। क्योंकि आरम्भ थोड़ा ही अच्छा है"। यह है हमारे उस बरा भारत राष्ट्र की संस्कृतिनिष्ठा, जिसने वेदशास्त्र जैसी महामहानोपा शोकोत्तरा संस्कृति को जन्म दिया है। उधर जापान के विश्वविद्यालय के एक सम्मान्य प्रोफेसर ने अपने सम्मेलन में इस साहित्यिक क्षेत्र के प्रति अपनी यह धारणा अभिव्यक्त की है कि—“हमारा जापान राष्ट्र युद्धवृत्ति की पूर्ति न कर सकने के कारण अभी तक इस प्रकार की साहित्य-साधनाओं में सफलता प्राप्त नहीं कर सका है। सचमुच आपका देश (भारतराष्ट्र) अन्य है जिसने आपको ऐसी सुविधा प्रदान की है, जिसके बल पर आपने अपनी हमप्रकार की साहित्य-साधना को सफल बनाया। अब हमने भी आपके इस साहित्यप्रचार की दृष्टि से अपनी युनिवर्सिटी में हिन्दी के क्लास खोल दिए हैं”।

स्पष्टतम है कि विगत तीन हजार वर्षों से प्रकान्त बनी रहने वाली विविध मतवादा-सम्प्रदायवादा-निष्पन्धता आत्मबुद्धि अनुगता आत्मन्तरादासता न, तथा विगत एक सहस्र वर्षों से प्रकान्त बनी रहने वाली मनःशरीरनिष्पन्धता वाच्य वासता ने भारतराष्ट्र की बुद्धियोगनिष्ठा को पञ्चतन्त्र अभिमूढ हा कर दिया है। हमारी सांस्कृतिक-साहित्यिक चेतना सर्वात्मना प्रसन्नवत् ही प्रमाणित हो गई है। यदा कदा जब कोई विद्वशी पिशाच यहाँ की संस्कृति, किंवा साहित्य-दिशा के सम्बन्ध में अपनी भारग्रा व्यक्त करता है, तो एक क्षणमात्र के क्षण हमारे देश के महापुरुष एक प्रचण्ड क्रोध से मानो अपना मुख ऊपर करते हैं और पुन क्षणानन्तर ही उसी भीहारीक के गर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं, मानो इन्होंने कुछ सुना ही न हा। भारतराष्ट्र की आत्म-बुद्धि-मन-शरीर-दासतामूला इस सवशासता को लक्ष्य बना कर ही कलकत्ता की गान्धीजयन्ती के अवसर पर सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता स्व० श्री जे एम सेन गुप्ता महाभाग ने अपने यद्गार प्रकट किया था कि—

“जस्तुन एर्रे पश्चिमरा आम्रादेर चोखे आँसुल दिए दखे दाय, तस्तुन आमरा बुद्धि-एर्रे पढ़ो लोक”।

अपान “जय य पश्चिम के विद्वान हम भारतीयों की आँखों में अङ्गुली डाल डाल कर हमें यह बतलाते हैं कि, तुम्हारा देश में अमुक पिपाएँ हैं, अमुक थैल कार्ग्य हैं,

तत्र कर्त्री हमारी समझ में कुछ आता है कि, सचमुच यह राष्ट्र का महान् कार्य है'—
(सो भी चण्मात्र के लिए ही—भूतावेशवत्) ।

भारतवसुधरा के महत्सौभाग्य से भारतवर्ष आज मन-रारितानुबन्धिनी वासता के वाक्य परामर्शन से अहिंसाधुक्तिवत् विनिमुक्त हो चुका है इसमें तो कोई सन्देह नहीं । किन्तु इस तथ्य के साथ भी कदापि गजनिमीसिद्धि नहीं की जा सकती कि भारतीय मौखिक प्राच्य ज्ञान-विज्ञानसंस्कृति के अभाव से हमारी आत्मबुद्धिनिबन्धना आध्यन्तर वासता अभी तक क्यों की स्थिति सुरक्षित ही बनी हुई है । 'स्वतन्त्रता' के वास्तविक अर्थ के समन्वय के लिए हमें शीघ्र से शीघ्र इस आत्मबुद्धिवासता से राष्ट्र का परिचाय कर लेना है । यह कर्म्य कदापि स्वप्न में भी केवल पश्चिम के अत्यानुकरण से तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि हम अपनी मूलसंस्कृति-मौखिक प्राच्य-साहित्य को आधाररिक्ता के रूप में ज्ञानविज्ञानदृष्टि से अपने राष्ट्रीय निर्माण कार्य में, विविध योजनाओं में प्रतिष्ठित नहीं कर लें ।

जिस राष्ट्र के ज्ञान व कोश में 'बुद्धियोग' निष्ठा प्रतिपादक 'गीता' वीर्य शोकोत्तर शास्त्र सुरक्षित हो वह भी यदि आत्मबुद्धिवासता में निमग्न रहता हुआ अपनी प्रत्येक प्रगतियों में पश्चिम का ही अत्यानुकरण करता रह, तो सचमुच इस के लिए इससे अधिक ज्ञान का भीर कोई क्षेत्र नहीं माना जा सकता । अमिनत्र स्वतन्त्रता के इस कथकाल में भारतवर्ष इस स्थिति को देख समझे, एवं अबिलम्ब अपने मौखिक साहित्य की ज्ञानविज्ञान-परिमाण्यों के अन्वेषण में प्रवृत्त हो तन्माध्यम से आत्मबुद्धिवासता का परिचय कर वास्तविक स्वतन्त्र-सुख का सफल उपभोग प्रमाहित हो एवमात्र इसी महत्त्वमयी राष्ट्रीय कामना से बुद्धियोगनिष्ठासक यह अस्त-प्रसूत राष्ट्र के महामहिम संस्कृतिमित्र राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महामाग के कर्मजों में अत्यन्त सम्मान के साथ समर्पित करते हुए वः कश्चिदपि यह गुह्यकराम्ना आङ्गिरस भारद्वाज मनमुष्टि का ही अनुभव कर रहा है ।

ओमित्येतत्

भगवतीपुस्तक-बन्धनपत्रमी
दि ४ १ २३

मानवामविद्यापीठ, दुर्गापुर
(बनपुर संस्थान),

की

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-‘बुद्धियोगपरीक्षा’ नामक
सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक ‘ग’ विभागानुगत
पूर्वस्वरूप की
परिलेखसूची, एवं साक्षिप्त-विषयसूची

८२—आत्मभूतगुण चतुर्विध-योगविषयपरिलेख	२१६
८३—आत्मभूतगुण योगविषयपरिलेख (२२०-२२१ के मध्य में)	
८४—आत्मभूत मूलात्मगुण कर्मयोगपरिलेख (१)	२२६
८५—आत्मभूत मूलात्मगुण कर्मयोगपरिलेख (२)	२३०
८६—आत्मभूत मूलात्मगुण कर्मयोगपरिलेख (३)	२३१
८७—आत्मभूतज्ञानमनोमय मूलात्मगुण कर्मयोगपरिलेख(४)	२३२
८८—संप्रदायपरिलेख	२३३
८९—कलाविभागपरिलेख	२३४
९०—सर्वसंप्रदायपरिलेख	२३५
९१—मक्तियोगपरिलेख (१)	२४१
९२—मक्तियोगपरिलेख (२)	२४२
९३—मक्तियोगपरिलेख (३)	२४३
९४—मक्तियोगपरिलेख (४)	२४४
९५—संप्रदायपरिलेख	२४५
९६—कलाविभागपरिलेख	२४६
९७—सर्वसंप्रदायपरिलेख	२४७
९८—ज्ञानयोगपरिलेख (१)—(२४२-२४३ के मध्य में)	
९९—ज्ञानयोगपरिलेख (२)—(")	
१००—ज्ञानयोगपरिलेख (३)—(")	
१०१—ज्ञानयोगपरिलेख (४)—(")	
१०२—संप्रदायपरिलेख —(")	
१०३—कलाविभागपरिलेख	२४३
१०४—सर्वसंप्रदायपरिलेख	२४४
१०५—बुद्धियोगपरिलेख (१)—(२४१-२४२ के मध्य में)	
१०६—बुद्धियोगपरिलेख (२)—(")	
१०७—बुद्धियोगपरिलेख (३)—(")	
१०८—बुद्धियोगपरिलेख (४)—(")	
१०९—संप्रदायपरिलेख (")	
११०—कलाविभागपरिलेख	२४२

१११—सर्वमप्रहारमक बुद्धियोगपरिलेख	२६३
११२—योगानुगत साम्य-साधन-साधक-विषय-परिलेख	२६५
११३—पोडराधिष योगविषय-परिलेख	२६६
११४—पोडराकलाविस्तारानुगत पोडरीपरिलेख	२६७
११५—प्रज्ञानात्मस्वरूपविषय-परिलेख	२७१
११६—धोपधिरूप-अमानुगत-प्रज्ञानविषय-परिलेख	२७६
११७—उच्य-अर्थ-अशीति-विषय-प्रथी-परिलेख	८३
११८—बिज्ञान-प्रज्ञान-सम्मत योगपरिलेख	८
११९—पुरुष-प्रकृति-प्रकृतिविकृति-विकृति-विषय-परिलेख	२६८
१२०—चेदशास्त्रानुगत-सम्प्र-परिलेख	२६९
१२१—सर्व-मन-प्राण-वाह्य-योग-विषय-परिलेख	३०१
१२२—अव्ययसमस्तुक्षिता ज्ञानयोगचतुष्टयी-परिलेख	३०५
१२३—अक्षरसमस्तुक्षिता भक्तियोगचतुष्टयी-परिलेख	३०६
१२४—आत्मक्षरसमस्तुक्षिता कर्मयोगचतुष्टयी-परिलेख	३०६
१२५—पदस्वरसमस्तुक्षित-निष्कामाव्ययपुरुषानुगत त्रिभुक्तिज्ञानपरिलेख	३०६
१२६—त्रिभुक्तिप्रक्रियाप्रदर्शनपरिलेख	३१०
१२७—अत्मपर्याप्तानुगत-सपसंमाहक-परिलेख (३११-३१२ के मध्य में)	
१२८—सुष्ठानुप्रतिष्ठभाषानुगत प्रज्ञापतिपरिचय-प्रदर्शनपरिलेख	३११
१२९—पञ्चपदीरानुगत पञ्चमहामूत्र परिलेख	३१६
१३०—सत्त्वरजस्तमोऽनुगत-ईश्वर-जीव-ब्रह्म-परिलेख	३१८
१३१—वर्णवर्णसुष्टिप्रवच फलमपरिलेख	३२३
१३२—शाब्दमन्त्रानुगत पञ्चाक्षरमूलक वणसर्ग-परिलेख	३२४
१३३—मातृ-पशु-पक्षी-वृष्टि-कृमि-सग-परिलेख	३२६
१३४—सौरविषय-भाव-परिलेख	३३५
१३५—विभूतिप्रवच-भगवत्स्वरूप-परिलेख	३४०
१३६—मदात्-विज्ञान-प्रज्ञान-भूतानुगत धम्म-वेदव्य-धरा -मो-भाप-परिलेख	३४२
१३७—पञ्चविषय-‘भग’ विभूतिसम्बन्धित पदविषय-अत्म-परिलेख	३४३
१३८—अश्वत्थसौरानुगता अविद्याबुद्धिचतुष्टयी-परिलेख	३४४
१३९—मत्पक्षीरानुगता अविद्याबुद्धिचतुष्टयी-परिलेख	३४५

१४०—चिन्त-प्राप्त-भूत-अनुगत आत्मविषय	३५२
१४१—प्रज्ञाबुद्धि-प्राणबुद्धि-मूतबुद्धि-समन्वय-परिलेख	३५३
१४२—संविन्स्वरूप-परिलेख	३५७
१४३—प्रतिपत्स्वरूप-परिलेख	३५८
१४४—शास्त्र-शास्त्र-व्यवहार-मूत-विद्याचतुष्टयी-परिलेख	३८२
१४५—व्याजसर्माविभिन्ना-भारतीयविद्याचतुष्टयीसमन्वय-परिलेख	३८३
१४६—वेदशास्त्रात्मिक-परिलेख	३६७
१४७—अष्टादशपुराणशास्त्र-परिलेख	३६९
१४८—निगम-निगमाङ्ग-शास्त्र-परिलेख	४००
१४९—निगमानुगत-सर्वशास्त्रसंग्रह-परिलेख	४०१
१५०—भाग्यशास्त्रसंख्यान-परिलेख	४०२
१५१—मनोऽनुगता-बोद्धराविद्या-संख्या-परिलेख	४०३
१५२—ज्ञानत्रियानुगता-बोद्धराविद्या-संख्या-परिलेख	४०४
१५३—कर्मोत्रियानुगता-बोद्धराविद्या-संख्या-परिलेख	४०५
१५४—मूतानुगता-बोद्धराविद्या-संख्या-परिलेख	४०५
१५५—चतु पष्टिच्छा (६४) संख्या-परिलेख	४१५
१५६—विषयसंहार-संख्या-परिलेख	४१५
१५७—मूतशास्त्र-संख्या-परिलेख	४१६
१५८—चतु पष्टिच्छा (६४) संख्या-परिलेख	४२
१५९—स्व-आचर-आत्मचर-चर-श्रेयानुगता विद्याचतुष्टयी-परिलेख	४२७
१६०—पद्गुणस्मिका महत्प्रकृति-वित्त्वार-परिलेख	४२३
१६१—शारीरकस्मा-परमात्मा-अनुगता परिपूर्णता-परिलेख	४२७
१६२—सर्वविद्या-योग-विभूति परिलेख	४३४
१६३—विभूतिमानुगत-अध्वतध्वर्य-परिलेख	४३७
१६४—सुखानुगत-विद्या-अविद्या-स्वरूप परिलेख	४३६
१६५—बुद्धपानुगत-विद्या-अविद्या-स्वरूप-परिलेख	४३९
१६६—सिद्ध-साध्य-योग-चतुष्टयी-परिलेख	४४५
१६७—विद्याव्ययानुगत-उपक्रमोपसंहार परिलेख	४४६
१६८—अविद्याव्ययानुगत-उपक्रमोपसंहार-परिलेख	४४७

१६६—आत्मसोपानपरम्परानुगता-अभ्यस्यसंस्थात्रयी-परिलेख	४४८
१७०—गीताभिमता योगचतुष्टयी, तदाचारमूढ-आत्मविषय-परिलेख	४४६
१७१—प्राचीनाभिमता संशोधिता-बुद्धियोगात्मिक-योगत्रयी-परिलेख	४६०
१७२—पञ्चविध आत्मभ्योतिस्वरूप-परिलेख	४६३
१७३—पञ्चविध भूतभ्योतिस्वरूप-परिलेख	४६४
१७४—उभयभ्योतिर्लक्षण गुणात्मा-परिलेख	४६७
१७५—ज्ञानकर्ममार्ग-आत्मविषय-परिलेख	४६८
१७६—ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान-मात्र-परिचय-परिलेख	४६९
१७७—निगुणात्मवैभवंस्वरूप-परिलेख	४७१
१७८—तत्सोपनिषद्भूमि-परिलेख	४७२
१७९—गुणानुगत विवर्तमान-परिलेख	४७३
१८०—ज्ञान-कर्मत्रयी, विज्ञान-विद्वान्त्रयी-परिलेख	४७५
१८१—अज्ञान अकर्मत्रयी-परिलेख	४७६
१८२—गीतासम्भवा संशोधिता योगत्रयी-परिलेख	४७७
१८३—प्राचीनाभिमता-योगत्रयी-परिलेख	४७८
१८४—सर्वयोगसंग्रहसमन्वय-परिलेख	४७९
१८५—श्लोकानुगता योगत्रयी-परिलेख	४८०
१८६—अभ्यस्यविद्या-अभ्यस्ययोग-चतुष्टयी-परिलेख	४८१
१८७—प्राचीनाभिमता-गीतायोग-परिलेख	४८२
१८८—वैद्वानिकाभिमता-गीतायोग-परिलेख	४८३
१८९—गीताशास्त्र-नाम-स्वरूप-परिलेख	४८४
१९०—भगवद्गीतानिबन्धन-शान्तिवचन-परिलेख	५००
१९१—योगी-ज्ञानी-तपस्वी-कर्मि-वार्ताव्य-परिलेख	५०२
१९२—सर्वभेद भेद-वचन-मध्यम-प्रथम-योगचतुष्टयी-परिलेख	५०५
१९३—प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-कर्मविभाग-परिलेख	५०६
१९४—सर्व-रज-सत्व-सर्व-गुणाकर्षण-परिलेख	५३१
१९५—रमादेवसङ्घ-परिलेख	५३२
१९६—रमात्रयी-स्वरूप-परिलेख	५३४
१९७—सुम्न-दुम्न-स्वल्प-मात्रत्रयी-परिलेख	५३५

११८—प्रतिपादितविषयपरिज्ञापनपरिलेख (१)	६२९
११९—पण्डित-मुक्ति-पुष्टि-मुक्ति-गुणचतुष्टयी-परिलेख (२)	६३१
२००—गुणानुगता योगचतुष्टयी-परिलेख (३)	६३३
२०१—पुरुषविद्याचतुष्टयानुगता पुरुषयोगचतुष्टयी-परिलेख (४)	६३५
२०२—प्रकृतिविद्याचतुष्टयानुगता-प्रकृतियोगचतुष्टयी-परिलेख (५)	६३७
२०३—विकृतिविद्याचतुष्टयानुगता विकृतिबोधाचतुष्टयी-परिलेख (६)	६३९
२०४—सर्वसंग्रहपरिलेख (७)	६४०
२०५—योगी-मात्रपरिलेख (८)	६४०
२०६—योग-मात्रपरिलेख (९)	६४८
२०७—विद्या-मात्रपरिलेख (१०)	६४९

सैवा बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्डानुगता

परिलेखसूची-उपरता



‘बुद्धियोगपरीक्षा’ नामक पूर्वखण्ड की सक्षिप्त विषय-सूची

* —‘बुद्धियोगपरीक्षा’ नामक पूर्वखण्ड का प्रकरणविभाग—

- (१)—बुद्धियोगस्वरूपनिर्बचन (प्रथमप्रकरण)———१ पृष्ठ से ३७६ पर्यन्त
 (२)—बुद्धियोगानुगत विद्यास्वरूपनिर्बचन (द्वितीयप्रकरण)—३७७ से ६४४ पर्यन्त
 (३)—बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार (तृतीयप्रकरण)———६४५ से ६६२ पर्यन्त
 सैषा प्रकरणत्रयात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा

- (१)—‘बुद्धियोगस्वरूपनिर्बचन’ नामक प्रथम प्रकरण के चार स्तम्भ(१से३७६पर्यन्त)
 १—सन्दर्भसङ्गति (प्रथमस्तम्भ) १ से १८ पर्यन्त
 २—योगेश्वर का ताश्चिकस्वरूपनिरूपण (द्वितीयस्तम्भ) १९ से २०४ पर्यन्त
 ३—योगेश्वरानुगत ‘योग’ का स्वरूप निरूपण (तृतीयस्तम्भ) २०५ से २६८ पर्यन्त
 ४—‘बुद्धि’ तत्त्वस्वरूप दिग्दर्शन (चतुर्थस्तम्भ) २६९ से ३७६ पर्यन्त
 तदिदं स्तम्भचतुष्टयात्मकं—प्रथमप्रकरणम्

—१—

- (२)—‘बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्बचन’ नामक द्वितीय प्रकरण के चार स्तम्भ
 (३७७ से ६४४ पर्यन्त)
 १—अर्म्भबुद्धियोगानुगत ‘आपविद्या’स्वरूपनिर्बचन (प्रथमस्तम्भ) ३७७ से ५०६ पर्यन्त
 २—एश्वर्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्बचन (द्वितीयस्तम्भ) ५०७ से ५४२ पर्यन्त
 ३—ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्बचन (तृतीयस्तम्भ) ५४३ से ५८८ पर्यन्त
 ४—वैराम्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्बचन (चतुर्थस्तम्भ) ५८९ से ६४४ पर्यन्त
 तदिदं स्तम्भचतुष्टयात्मकं—द्वितीयप्रकरणम्

—२—

(३) बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार—६४५ से ६६२ पर्यन्त
सैषा प्रकरणाप्रयात्मिका मधस्तम्भानुगता बुद्धियोगपरीक्षा

— ३ —

स्तम्भचतुष्टयात्मक-‘बुद्धियोगस्वरूपनिर्घणन’ नामक
प्रथम-प्रकरण

प्रथमप्रकरणान्तर्गत ‘सन्दर्भसङ्गति’ नामक प्रथम स्तम्भ के १४ अर्वान्तर परिच्छेद
(१ पृष्ठ से १८ पृष्ठ पर्यन्त)

१-साङ्गितिक संस्मरण	१	८-अभिनिधिशास्त्रनिष्ठा की अतुल्यकुला	११
२-शास्त्रनिष्ठा का शैविन्य एवं शोक्तनिष्ठा का प्राक्कन	२	९-विलास्य पूर्ण एवं अपूर्ण गीताशास्त्र	१२
३-मानव का आत्मिकमूलक परिष्ठाप	३	१०-गीता का अर्थनिर्णय भाष्य	१२
४-मानव का देवभुक्त्यर्थीन उद्बोधन	४	११-अन्तर्निष्ठा के लोकात्मिक पाँच विधय	१३
५-कर्मसौभाग्यानुगत-शास्त्रीय प्रकरण का वैशिष्ट्य	५	१२-नव (६)-सर्वकार्यमिच्छा गीताविज्ञानमात्म-मूमिच्छा की सन्दर्भसङ्गति	१३
६-कर्म, और अकर्म की स्वरूपव्यवस्थिति	६	१३-विद्या एवं योगानुगत गीताशास्त्रनिष्ठा	१४
७-कर्मसौभाग्यानुगत-शास्त्रीय प्रकरण का वैशिष्ट्य	७	१४-निरूपणीय विषय की सन्दर्भसङ्गति	१५

प्रथमप्रकरणान्तर्गत ‘सन्दर्भसङ्गति’ नामक चतुर्दश (१४) अर्वान्तरपरिच्छेदस्तम्भ

प्रथमस्तम्भ—उपरत

(१)—१

प्रथमप्रकरणान्तर्गत-‘योगेश्वर का तात्त्विकस्वरूपनिरूपण’ नामक

द्वितीय स्तम्भ के १५१ अर्वान्तर परिच्छेद
(१६ से ३०४ पृष्ठपर्यन्त)

१-आत्मोपस्थिति का स्वरूपनिर्घणन	१६	४-अभिप्रेक्षितस्वरूप व्यक्तित्व, एवं	
२-आत्मोपस्थितिमात्रक योगेश्वर	२१	विरहस्वरूपनिर्घणन	२४
३-योगेश्वर का ‘योग’ और ‘विरह’	२३	५-प्राधानिक (अर्थक) शास्त्र का आरम्भोक्त	२४

१-विरवक्राख्यात्रयी का स्वरूपदिग्दर्शन	२५	१३-आकृष्टा श्री भानन्दरूपता	५३
७-सूक्ष्मस्य से उपलब्ध तन्त्रिदानन्दब्रह्म	२६	१४-मयप्रवर्धक उदरमाष	५३
८-सत्ताब्रह्म का सर्वानुभूत 'सत्' पदार्थ	२६	१५-साक्षी और मोक्षा सुपर्व का सम्बन्ध	५३
९-सत्ता, धृति, विभूति, नामक सत्ताब्रह्म के तीन विषय	२७	१६-मानव की सहस्र भानन्दरूपता	५४
१-ज्ञानपूर्विकारचारमक दृष्टिकोण	२७	१७-भूमा, और अन्तता का तारतम्य	५५
११-सत्तापूर्वक ज्ञानात्मक दृष्टिकोण	२८	१८-आत्मानुगत स्वागतसुख क्षीणोत्कर्षमार्ग	५६
१२-उभय दृष्टिकोणों का तात्त्विक सम्बन्ध	२९	१९-आत्म्यात्मानुगत उपनिषत्सम्मत भूमेदोर्कमार्ग	५८
१३-सम्बन्धमूलक-प्रत्ययैकसरूपोपनिषत् सिद्धान्त	२९	४-सम्बिदानन्दब्रह्म के तीन विधायी	५८
१४-सत्ताब्रह्म का सर्वानुभूत 'चित्' पदार्थ	२९	४१-एकमेवादितीय ब्रह्म	६१
१५-आत्मज्ञान स्वज्ञान, परज्ञान, नामक विद्वन्ब्रह्म के तीन विषय	३१	४२-सत्तातीय-विद्यतीय-स्वगत-मेन्द्रान्त्य	
१६-रसोपलब्धिमूलक 'आनन्द' पदार्थ	३१	अलरह-अहय-ब्रह्म	६१
१७-आत्मानन्द स्वानन्द, परज्ञान, नामक आनन्दब्रह्म के तीन विषय	३२	४३-स्वगतमेन्द्रमूला आपत्ति, और तन्निष्करण	६२
१८-आनन्दस्वरूपमीमांसा (वैज्ञानिकी)	३३	४४-छत्-चित्-आनन्द-मात्तियों की अभिप्राय	६२
१९-मूल-वृत्तान्त-मात्तास्वरूपदिग्दर्शन	३४	४५-'अस्ति' 'उपलब्धि' और 'तत्त्वभाव' का सम्बन्ध	६३
२-परम आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन	३६	४६-ग्रेटा का समब्रह्म और ऐकान्तिक रत	६६
२१-शतमात्तानुगत-स्यजानन्दस्वरूपदिग्दर्शन	३७	४७-ब्रह्मानुगत 'आम्' और 'आम्' तत्व	६६
२२-तैत्तिरीयोपनिषत्सम्मत-आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन	३९	४८-ब्रह्मानुगत वाक्यार्थ का सम्बन्ध	६७
२३-मानव श्री भानन्दस्वच्छ, और कृष्णमात्रान-प्रकार	४१	४९-नेति नेति, इत्युपनिषत्सम्बन्ध	६७
२४-विषयानन्दप्रवृत्ति का आध्यात्मिक मोह	४२	५-आत्मानन्दसोपनिषत्सम्मत-आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन	६९
२५-ब्रह्मानन्द के प्रति लोकापत्तिकी की आन्वि, एवं तन्निष्करण	४२	५१-निष्कलब्रह्म और तदनुगत वनब्रह्म	७
२६-रत्यानन्दस्वरूपदिग्दर्शन	४२	५२-महाकाल परमेश्वर की सर्वानुभूता	७१
२७-पुत्र-लोक-विशेषता-प्रवर्धक रत्यानन्द	४३	५३-सर्वकालविद्यत परत्परब्रह्म, एवं सर्वकालोत्पन्न पुरुषब्रह्म	७१
२८-निष्प्रानन्दस्वरूपदिग्दर्शन	४४	५४-नव (१) अयस्यात्मक 'बल' तत्त्व	७१
२९-आनन्द और सुख का पार्थक्य	४४	५५-यद्वत्परिग्रहणमक आत्मन्वी प्रजापति	७२
३-भूमानन्दस्वरूपदिग्दर्शन	४५	५६-'माया'-परिग्रहणक आत्मन्वी प्रजापति	७३
३१-मूला और तद्रूप आत्मा	४५	५७-'कला'परिग्रहणक आत्मन्वी प्रजापति	७६
३२-शून्य-पूर्ण-स्वरूपदिग्दर्शन	४८	५८-'गुण'-'बिम्ब'-परिग्रहणक आत्मन्वी	८२
	४९	५९-'आत्मन'-'आवरण'-परिग्रहणक आत्मन्वी	
	५	'विद्युत्'-'विरव' प्रजापति	८७
	५	६-परमविद्युत् और सुप्रविरात्	८८

११-बहुमहात्मक एकवचर	८८	८२-उभयविद्यारथकर्मसमर्पक भौत-सार्ध-वचन	१२३
१२-पञ्चप्रजापतिरथकर्मदिग्दर्शन	८९	९०-बीजानुगत्य ईश्वर-बीज-वचन-प्रती	१२५
१३-पटुप्रतिग्रहणशिक्षक पटुसंन्य प्रजापति	९०	९१-बीजांबराट्टपुरुषानुगता 'आत्मप्राप्त'	
१४-सांख्यिकमाध्यम से अविद्यमन्वय	९१	स्वरूपमीमांसा	१२६
१५-प्रतिमापौडरोप्रजापति के विविध विवर्त	९५	९२-बीजविराट्पुरुषानुगता 'भूतप्राप्त'-	
१६-अद्या, इन्द्र, एवं उपेन्द्र के पौडरोप्रजापति	९७	स्वरूपमीमांसा	१२९
१७-अमृत-अन्न-शुक्र-प्रतीत्यरूपदिग्दर्शन	९८	९३-प्रसंगरमानुगत धारिक अन्ना, और	
१८-पञ्चपुरवरीप्रजापतिस्वरूपदिग्दर्शन	९९	अध्यात्मम्	१३
१९-वि-वामरसक 'विरक्तकर्मा' प्रजापति का		१४-आत्मक बीज, और वदुर रा (१४) विष	
प्रथमा विवर्त	१०	भूतकर्मा	१३१
२०-पञ्चानुगत वि-वामरसक 'मनोत्पा' भाव	१२	१५-आत्तरथप्रती से अनुपाठित अध्यात्मिकी	
२१-वक्त्राभिमग्नस्वरूपदिग्दर्शन	१३	विराट्प्रती	१३३
२२-तत्त्व का परस्परानेर्वागोपनिष्कर्	१४	१६-विद्यारमानुगत विद्वरा विद्यामास	
२३-मादी, सागरागध और अदिति	१४	और विस्य विवर्त	१३३
२४-आत्म-देव-भूत-मेदमिवा उत्पत्ती	१५	१७-विद्यमहक 'बीज' उत्प	१३४
२५-विराट्कर्म देवस्य का स्वरूपदिग्दर्शन	१६	१८-सूर्यशान्त माध्यम से विद्वरा-विवर्तप्रती	
२६-ईश्वर(महापति) की ३४४ कलाविभूतियों	१७	का समन्वय	१३४
२७-उर्वरप्रदात्मक कर्मसमन्वय	१९	१९-बीज के 'पाप्मा' भावों का सामान्य-	
२८-आरण्यकी से अनुपाठिता संस्कारकी	११३	स्वरूपदिग्दर्शन	१३५
२९-अविदेवत-अध्यात्म-अभिव्या-मुगत		२०-बीजप्रकाशविभूति तथा पाप्मभावों का	
दृष्टिकोण का समन्वय	११४	स्वरूपदिग्दर्शन	१३६
३०-विविध बीजविवर्तस्वरूपदिग्दर्शन	११५	२१-अविदेवत गूढोत्पत्ता, एवं अध्यात्म गूढोत्पत्ता	१३९
३१-अविदेवत उपाधि के अधिकारी		२२-एकैतद्विराति (१६) मुक्त जीवत्मा का	
'परमविराट्प्रजापति'	११६	स्वरूपविस्तार	१३९
३२-'अध्यात्म उपाधि के अधिकारी मुद्द		२३-आत्मस्यपदस्वरूपसमर्पकवचन	१४५
विराट्प्रजापति'	११९	२४-प्रतिमापौडरो में पञ्चोपरवरपौडरी विवर्तों	
३३-'अभिमृत उपाधि के अधिकारी 'रिधि-		का अन्तर्भव	१५
विपुप्रजापति'	१२७	२५-आध्यात्मिक प्रतिमापौडरी-उत्पत्त-स्वरूप-	
३४-सावरणविराट्प्रजापति का स्वरूप समन्वय	१२७	दिग्दर्शन	१५
३५-अननरन्ध्र साक्षी एवं अननरन्ध्र मातृ	१२८	२६-अविदेविक-प्रतिमापौडरी-उत्पत्त-	
३६-इश्वरभाषानुगत गौडवचनसमन्वय	१२९	स्वरूपदिग्दर्शन	१५२
३७-बीजविद्यारथ मानुस्य सार्ध दृष्टि	१२९	२७-प्रजा, और प्राण की अन्वेषण	१५२
३८-आरण्यकी से अनुपाठिता कार्पण्यकी	१२२	२८-अविदेवतानुगत उत्पत्त, तथा अध्यात्मा-	
		मुगत वचन	१५५

१९ (क) - उपनिषद् मनुस्मृत आत्मस्वरूपपरिचय	१५७	१३२ (क) - इन्द्रियव्यपार, और काममय मन का	
१९ (ख) - शान्ता मन्त्ररूपदिग्दर्शन	१५८	अनिवाच्ये तद्वेगो	१७३
१९ - मीमांस्य महानात्मा	१६२	१३२ (ख) - इन्द्रिय इन्द्रियमात्रा - विस्तार	१७९
१९१ - आध्यत्म स्वयम्भू की वशापूर्वमात्स्यप्रक्रिया	१५९	१३३ - भूतमात्रा और पञ्च इन्द्रियार्थ	१७९
१९२ - आकृति - प्रकृति - आहृति - जनक		१३४ - समेतलभूता महत्प्रकृति	१८०
दशपूर्वभाव	१६०	१३५ - कथाय का अणुपरमाणुत्व और कफिल	
१९३ - वैश्वसमावबन्धक विधि - आदि - भाव	१६१	का गुणभाव	१८१
१९४ - पञ्चमावापन्न पारमेष्ठ्य महान् की महत्ता	१६२	१३६ - अपूर्व शिष्य, एवं प्रतिक्रम शिष्य द्वारा भूत	
१९५ - तिस्रस्वरूपताएक बीज 'महान्'	१६३	विकृत का समन्वय	१८१
१९६ - पूर्वांगगत विधिभाव	१६४	१३७ - ब्रह्मर्षी में प्राथमात्रा का समन्वय	१८३
१९७ - गुणत्रयमावापन्न महानात्मा का जीवात्मकत्व	१६५	१३८ - तीनों कर्तों का प्रत्यक्षत्व	१८३
१९८ - महानात्मस्वरूपदिग्दर्शन	१६६	१३९ - जेतन, अजेतन परिभाषा	१८३
१९९ - प्राकृतशरीरेता आत्ममय महानात्मा	१६७	१४ - 'इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्थाः' का समन्वय	१८४
२०० - महान् का विशुद्ध स्वभावक स्वरूप	१६८	१४१ - त्रिपर्वा प्रधानात्मा से त्रिपर्वा मूलात्मा	
२०१ - महानात्मा की स्वकामाभिनिष्पत्ति,		का समन्वय	१८५
एव पार्यवय	१६९	१४२ - आत्मा का स्वकामस्वान्त एवं जय -	
२०२ - मनुबन्धन, और आत्मस्वरूपपार्यवय	१७०	संहारस्थान	१८६
२०३ - महानात्मस्वरूपदिग्दर्शन	१७०	१४३ - मौखी दृष्टि और गीतादृष्टि का	
२०४ - दार्शनिक ११ इन्द्रियाँ, 'एवं वैदिक		समन्वय	१८८
५ इन्द्रियाँ	१७१	१४४ - अणुआत्मानुगता अत्यन्तस्वरूप -	
२०५ - इन्द्रियवाहक का मूलाधार	१७२	विद्यमान्ति	१९१
२०६ - गुणानिद्रिया सप्तप्रपञ्चसुषुप्ती	१७३	१४५ - त्रिभिन्ने बीजात्मका	१९२
२०७ - अतीन्द्रिय - अनिन्द्रिय - सर्वेन्द्रिय - हाथक		१४६ - एवं वा ह्यं वि भूय कर्षय	१९३
प्रधान मन	१७३	१४७ - अविशुद्धस्वकम का विशुद्धकोटन	१९४
२०८ - इन्द्रियों के 'मात्रा' भाव	१७४	१४८ - त्रिक्रमावापन्न बोधशीतुषुषु	१९४
२०९ - मानस ज्ञान कर्म, अर्थ का उदय	१७५	१४९ - शिर - इन्द्रिय - पादमूला सृष्टिविधर्तृत्व	१९५
२१ - महामात्रा, और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ	१७५	२५ - ईश्वर, बीज, एवं शिपिविद्यमन्न देव -	
२११ - मायामात्रा, और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ	१७६	आत्म - भूत - विना	१९६
		२५१ - योगेश्वरस्वरूपोपसंहार	१९६

प्रथमप्रकरणान्तर्गत - 'योगेश्वर का तार्थिक स्वरूपानिर्णय'त्मक

१५१ अन्तर परिच्छेदात्मक

द्वितीयस्तम्भ - उपरत

(१) - २

प्रथमप्रकरणान्तर्गत—“योगेश्वरानुगत ‘योग’स्वरूपनिरूपणा” नामक
द्वितीय स्तम्भ के ५६ अर्धान्तर परिच्छेद
(२०५ से २६८ पृष्ठा)

१-मीमांसा योगस्वरूप	२५	२१-धर्मानुगत सर्वमय लौकिक बुद्धियोग (प्रपृच्छिप्रधान कर्म)	२२१
२-योगानुगता-अनादिका	२७	२२-लौकिक कर्म मक्ति, ज्ञान-योगक्षयी का कर्मयोगत्व	२२४
३-योगानुगत विनियत आत्मवाद और प्राचीन गीताभाष्यता	२७	२३-आत्म-लौकिक-बुद्धियोग का अधिभेदितत्व	२२४
४-आत्मस्वरूपविज्ञानकोटन	२८	२४-परम्परवा उद्भूत योगानुगत आत्मा	२२५
५-योगातीत योगेश्वर, योगक्षयी योगलाभन और तन्मात्र आत्मविवेक	२९	२५-योगानुगत प्राङ् वैश्व वैश्वानर आत्मा	२२६
६-आधिदैवत, तत्प्राप्त-अनुगत आत्म- आत्मस्वरूपव्यवस्थिति	२११	२६-मूल-वैश्व-वैश्व आत्म-भेदविना अधिभूतबुद्धी परं अनुगता योगक्षुद्धी	२२६
७-योगानुगत योगक्षुद्धी	२१२	२७-कर्मस्वयं कर्मयोग का अधिष्ठाता वैश्वानरत्मा (१)	२२७
८-मूल-मूल-मविच्छेद-इति सर्वमोक्षार एव	२१३	२८-कर्मस्वयं कर्मयोग का अधिष्ठाता वैश्वानरत्मा (२)	२२७
९-आत्मन आकाश और आकाश	२१३	२९-कर्मस्वयं ज्ञानयोग का अधिष्ठाता प्राज्ञानत्मा (३)	२२७
१०-अपविच्छेदक आत्मप्रकाशवि	२१४	३०-कर्मस्वयं बुद्धियोग का अधिष्ठाता समस्त्यात्मक प्रज्ञानत्मा (४)	२२८
११-अज्ञ और कर्म-परिष्ठाता	२१४		
१२-अज्ञानक कर्मयोग और कर्मयोग- परिष्ठाता	२१५		
१३-अज्ञानयोग की तात्त्विक परिष्ठाता	२१५		
१४-ज्ञानयोगपरिष्ठाता	२१६		
१५-सकाम्य-भेद-‘बुद्धियोग’ की परिष्ठाता	२१७		
१६-योगानुगत अक्षय्य दृष्टिच्छेद	२१७		
१७-कर्मस्वयं कर्मयोगचतुष्टयी प्रथमा(१)		३१-‘परिच्छेदा’-मात्मानुगत बाह्यमय मक्तियोग (१)	२२१
१८-बाह्यमय अधयोगानुगत लौकिक कर्म- योग (धर्मधर्म)	२२१	३२-‘मक्ति’-मात्मानुगत प्राणमय मक्तियोग (२)	२२७
१९-बाह्यमय क्रियायोगानुगत लौकिक मक्तियोग (महाधर्म)	२२१	३३-‘प्रपत्ति’-मात्मानुगत मनोमय मक्तियोग (३)	२२७
२०-अनामय ज्ञानयोगानुगत लौकिक ज्ञान- योग (निरीक्षण)	२२२	३४-‘इषामना’-मात्मानुगत सर्वमय मक्तियोग (४)	२२८
२१-अपविच्छेद आत्मानव का वर्गीकरण	२२३		

—(१)—

३-मक्त्यात्मिका मक्तियोग
चतुष्टयी द्वितीया (२)

—(२)—

#-ज्ञानयोगात्मिक ज्ञानयोग-
चतुष्टयी तृतीया (३)

#-बुद्धियोगात्मिक बुद्धियोग-
चतुष्टयी चतुर्थी (४)

३६-जीवानुगत चोदणीपुराण, और ज्ञानयोग- चतुष्टयी	२४८
३७-ज्ञानयोगाधिष्ठात्री आत्मचतुष्टयी	२४८
३८-'बिम्बि'-भाषानुगत बाह्यमय ज्ञानयोगा- त्मक कर्मयोग (१)	२४९
३८-'निषिद्धि'-भाषानुगत प्राणमय ज्ञान योगात्मक मक्तियोग (०)	२४९
३९-'अनुभूति'-भाषानुगत बाह्यमय ज्ञान- योगात्मक ज्ञानयोग (३)	२४
४-'बिमूर्ति'-भाषानुगत सषमय ज्ञान- योगात्मक बुद्धियोग (५)	२५१
४१-ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग के साधन-साधक साध्य-मात्र	२५१
४२-ज्ञानयोगात्मक मक्तियोग के साधन-साधक साध्य-मात्र	२५२
४३-ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग के साधन-साधक साध्य-मात्र	२५२
४४-ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग के साधन-साधक साध्य मात्र	२५२

४५-लोकप्रचलितता योगत्रयी का गीता के द्वारा संयोजन	२५३
४६-योगों के अकथन, एवं सम्कथनमात्र	२५५
४७-गीताविद्यान्त, और बुद्धियोगचतुष्टयी	२५६
४८-'धर्म'-भाषानुगत बाह्यमय कर्म- योगात्मक बुद्धियोग (१)	२५९
४९-'प्रेमधर्म'-भाषानुगत प्राणमय मक्ति- योगात्मक बुद्धियोग (२)	२५९
५-'ज्ञान'-भाषानुगत मनोमय ज्ञानयोगा- त्मक बुद्धियोग (३)	२६
५१-'दीर्घम'-भाषानुगत सर्वमय बुद्धि- योगात्मक बुद्धियोग (४)	२६
५२ बुद्धियोगात्मक कर्मयोग के साधन-साधक- साध्य-मात्र	२६१
५३-बुद्धियोगात्मक मक्तियोग के साधन-साधक साध्य-मात्र	२६१
५४-बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग के साधन-साधक- साध्य-मात्र	२६१
५५-बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग के साधन-साधक- साध्य-मात्र	२६१
५६-यादृशक प्रभावति के बोध्य (१६)	
विषय योगविषय -५-	२६६

—(३)—

प्रथमप्रकरणान्तर्गत—'योगेश्वरानुगत—'योग'—स्वरूपनिरूपणशास्त्रक'
५६ अथान्तरपरिच्छेदात्मक
तृतीय स्तम्भ—उपरत

(१)—३



प्रथमप्रकरणान्तर्गत—“बुद्धितत्त्वस्वरूपविगूढदर्शन” नामक
चतुर्थस्तम्भ के ७५ ध्वान्तर परिच्छेद
(२६६ से ३०१ पर्यन्त)



१-सर्वविष योगों का इन्द्रियम्यापारसापेक्षक	२१६	२५-‘बुद्धि’ शब्द निर्वचनोपक्रम (१)	३१५
२-सर्वविष योगों का प्रधान (मन) स्थापार- सापेक्षक	२७२	२६-बुद्धितत्त्वप्रवचन क विरहमध्यस्थ सूर्य	३१५
३-नामि अर-नेमि, और रसचक्र	२७३	२७-ब्राह्मणसम्बन्धमक लक्ष्मिक ब्राह्मण और सूर्य	३१६
४-प्रज्ञान का स्वरूपाविर्भाव	२७६	२८-‘अधीमयाय त्रिगुणतमने नमः’	३१७
५-‘केनेपितं पतति प्रेपितं मनः का बैज्ञानिक समन्वय	२७६	२९-प्रज्ञायोग ‘स्वधर्म’ शब्द एवं उसके तीव्र विवच	३१८
६-प्रज्ञान विरह के प्रथम प्रकिया योगि एवं आराध-विवच	२८१	३०-सर्वधर्मोपपन्न विरहेश्वरपञ्चा	३१९
७-आत्म स्वप्न-सुषुप्ति-अवस्थापरिचय	२८३	३१-प्राकृत बीजात्मा और उसके स्वधर्म, परधर्म	३१९
८-प्राकृतिक योग और प्ररनेह्यान	२८४	३२-ब्रह्मसिद्धि स्वधर्म परधर्म मन्त्रों की सकममकलवा	३२०
९-बुद्धियोगसुगामी महामादेश्वर अमिन्व- सुषुप्तधर्म	२८६	३३-सफोट-स्वर-वर्ण-निबन्धना गण धर्मसुद्धि	३२१
१०-विषयविमलानुगत गीतायागबुद्धि	२८७	३४-वर्णावर्णधर्मस्वरूप की व्यवस्थिति	३२१
११-बुद्धियोगसम्पत्प्रकला गीतायाग	२८८	३५-स्वधर्मोपगत स्वमान-विशेष मय	३२२
१२-व्याप्यधर्मों की लक्ष्यप्रवृत्ति	२९१	३६-स्वधर्मोपगत स्वात्मन्, एवं परधर्मोपगत पाठ्यन्व	३२३
१३-प्रीतिगीर्वाणी और जनक अनामकियोग	२९२	३७-धर्म-अमृत-माषादिभय बीजहरणा	३२४
१४-प्रियासिद्धान्तविमर्श	२९३	३८-मनुष्य-पशु-पक्षी-वृद्धि-कृमि-तर्ग, और बुद्धितारक्य	३२५
१५-वैदरात्म और ‘बुद्धि’ शब्द	२९६	३९-पुरुषार्थी मानव आर भोगार्थी जीव	३२७
१६-शास्त्रों के प्रतिपाद्य विभिन्न विषय	२९६	४०-भोगार्थी प्राकृत बीजों की प्राकृत-धर्मोपगति	३२८
१७-उपनिषदों की निष्ठा, और योग	२९८	४१-प्राकृत-धर्मोपगत स्वतन्त्रप्रवृत्ति भोगार्थी मानव	३२९
१८-सूत्रांगविशेषनिष्कर्ष	३००	४२-आविचारिक, धर्मोपगत, भोगोपगत, विविध जीव, और मानव का बुद्धिबला	३३०
१९-बुद्धिबला की प्रतिष्ठाभूमि	३००	४३-सूर्य के जन्मप्रकला परमेष्ठी	३३१
२०-ज्ञानयोग की प्रतिष्ठाभूमि	३००		
२१-अभिव्यक्ति की प्रतिष्ठाभूमि	३००		
२२-धर्मयोग की प्रतिष्ठाभूमि	३००		
२३-मनःशान्तिक का विशुद्धेश्वर और अल्पमंगलविमर्श	३००		
२४-शास्त्रपर्यायसमन्वय की अर्थवैज्ञानिकता	३१९		

४४-परमेश्वरी के कर्मगता स्वयम्भू एवं सर्व		४६-‘श्रीसुयी’ राज्यनिर्बंधन (६)	१४८
प्रथम आत्मपुरुष	१३२	६-‘मति’ राज्यनिर्बंधन (७)	१५
४५-सूर्य्य का मौलिक, एवं दैविकरूप	१३२	६१-‘प्रेक्षा’ राज्यनिर्बंधन (८)	१५१
४६-व्योति-गौ-रायु-सर्म्नोतानय		६२-‘उपलक्ष्य’ राज्यनिर्बंधन (९)	१५४
बुद्धिप्रभव सूर्य्य	१३३	६३-‘चित्’ राज्यनिर्बंधन (१०)	१५५
४७-बोगेश्वर की मगधपालक्या ‘मग विमृति	१३५	६४-‘सचित्’ राज्यनिर्बंधन (११)	१५६
४८-उपाधिभेदमिमा पद्विषय ‘मग’-		६५-‘प्रतिपत्’ राज्यनिर्बंधन (१२)	१५८
विमृतिवग	१३६	६६-‘ज्ञप्ति’ राज्यनिर्बंधन (१३)	१६२
४९-पद्विषय विमृतिभागों के समर्थक बचन	१३८	६७-‘चेतना’ राज्यनिर्बंधन (१४)	१६८
५०-विराधेश्वर के चतुर्षी से जीव क		६८-‘विज्ञान’ राज्यनिर्बंधन (१५)	१६३
स्वरूपनिर्माण	१४	६९-‘योग’ राज्यनिर्बंधनोपक्रम	१६६
५१-अर्थोन्नात्मक जीव की दुःसप्रवृत्ति के		७०-गीताशास्त्रानुगत ‘योग’ राज्य का	
मूलकारण	१४१	अन्वेषण	१६७
५२-बुद्धियोगानुबन्धिनी मगचतुर्षी	१४२	७१-सिद्धबुद्धियोग पद साध्यबुद्धिभाग का	
५३-अमृतसूर्य्यानुगता विद्याबुद्धिचतुर्षी, एवं		कारतम्य	१७०
उदमिमा ‘मग चतुर्षी	१४२	७२-सिद्धयोगानुगत कृतात्मा, एवं साध्य-	
५४-विज्ञानादिमका एक ही बुद्धि के ज्ञान विवर्त	१४३	योगानुगत विवेचयत्मा	१७०
५५-‘मनीषा’ राज्य-निर्बंधन (०)	१४४	७३-योगवञ्चित विमूढत्मा और उसका	
५६-‘विपय’ राज्य निर्बंधन (३)	१४६	प्राकृत विषम योग	१७१
५७-‘धी’ राज्यनिर्बंधन (४)	१४६	७४-विषमयोगानुगता आत्मदर्शपरम्परा	१७२
५८-‘प्रज्ञा’ राज्यनिर्बंधन (५)	१४७	७५-बुद्धियोगस्वरूपदिग्दर्शन	१७२

प्रथमप्रकरणान्तर्गत-‘बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन’ नामक

७५ अध्यान्तरपरिच्छेदात्मक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(१)-४

चतु स्तम्भसमष्ट्यात्मक-‘बुद्धियागस्वरूपनिर्वचन’ नामक

प्रथमप्रकरण समाप्त

-१-

—३—

स्तम्भचतुष्टयात्मक—'बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक
द्वितीय—प्रकरण

२



द्वितीयप्रकरणान्तर्गत—'धर्मबुद्धियोगानुगत—आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक
प्रथम स्तम्भ के १२१ अवान्तर परिच्छेद
(१७७ से २ ६ पृष्ठ पर्यन्त)



अथ—विद्यास्वरूपपरिचयः—

१—भारतीय शास्त्र के 'ब्रह्म' (१५) विवर्त	१७७
२—धर्मधर्मानुगत 'शास्त्र-शास्त्र-वाचिक- शिक्षण' विद्याचतुष्टयी	१८१
३—भारतीय चारों विद्याधर्मों की प्रकृति का सामान्य	१८३
४—ब्रह्म का व्यासोद्भूत और अज्ञानमयपति का चय	१८५
५—सर्वव्यपारिका अर्पणव्यपारि और राष्ट्र का पठन	१८५
६—शास्त्र वर्ग के द्वारा प्रकृति का निर्गम शोभन	१८६
७—मिथ और वचन की प्रतिबन्धिता से राष्ट्र- वैभव का अभिभव	१८७
८—सांख्यिक उपचारों की व्यर्थता	१८७
९—धर्मधर्मानुगति, और राष्ट्रस्वरूपपरिच्छेद	१८८
१०—भारतीय राष्ट्रकल्पना, और तत्त्वस्वरूप- परिच्छेद आर्षसूत्र	१८८
११—वर्तमान राष्ट्र की इच्छाशिक्षा का अम मार्ग एवं अन्तर्गत व्यापारमयीपता	१९
१२—वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षा का विज्ञान स्वरूप	१९
१३—राष्ट्रीय विद्याधर्म और तत्त्वस्वरूपकर्म	१९१
१४—अज्ञानपति के द्वारा धर्मधर्मसूत्रि	१९१

१५—राष्ट्रीय वर्गों के पारम्परिक पथ का (दुःखपूर्ण) इतिहास	१९१
१६—राष्ट्रीय (ज्ञानगोष्ठा) प्रत्यक्षता की शीघ्रता	१९५
१७—सर्वविद्याधीन धार्मिक भारतीय-विद्या	१९५
१८—अज्ञानीधर्मधर्मानुगता निगमशास्त्र-विद्या (निगमशास्त्रम्)	१९५
१९—मन्त्रशास्त्रशास्त्र का प्राचीनशास्त्र शास्त्र (वेदशास्त्र)	१९६
२०—इतिहास से वेदशास्त्र का सामान्य	१९७
२१—इतिहास से निगमशास्त्र का सामान्य	१९८
२२—अज्ञानीधर्म (१८) विद्यात्मक निगमधर्मानुगत भारतीय पुराणशास्त्र	१९९
२३—निगमधर्मधर्मानुगत भारतीय धर्मशास्त्र के ब्रह्मशास्त्र (१६) विवर्त	५
२४—सर्वव्यपारिधर्मधर्मानुगता (भारतीय) धर्मशास्त्र- (२—धर्मशास्त्रम्)	५ १
२५—निगमधर्मधर्मधर्मधर्मशास्त्रा शिक्षा- व्यवस्था	५ १
२६—अज्ञानीधर्मधर्मधर्मधर्मशास्त्रा (१६) विद्या- विभाग	५ १
२७—अज्ञानीधर्मधर्मधर्मधर्मशास्त्रा (१६) विद्याविभाग	५ ५

२८-कर्मोन्मुखविद्यानुगत पोढरा (१६)	५	५-भारतीय साम्यवाद, और धम्मदृष्टि	४१५
विद्याविभाग ---	४ ५	५१-ब्रह्मानुगत धर्मोन्मुख, और शरीरानुगत	
२९-मृतविद्यानुगत पोढरा (१६)		नीतिक्रम ---	४१६
विद्याविभाग ---	४ २	५२-सवाभिनिवेश के दुष्परिणाम	४१७
३-ब्रह्मकीर्णानुगता निगमागमविद्याओं		५३-धर्म और अधर्म के अंतरपरिचय	४१८
का स्वरूपविग्रहण	४ ९	५४-धर्मस्वरूपविज्ञाया ---	४४
३१-ब्रह्मकीर्णानुगता शम्भुविद्याओं का		५५-स्वधर्म-परधर्म-परिभाषा	४४
स्वरूपविग्रहण ---	४१२	५६-धर्मोपदेशविप्रतिपत्ति, और तस्मिन्परिणाम	४४२
३२-विह्वलीर्णानुगता कृपिवादिभ्यविद्या का		५७-विज्ञानसिद्धि माध्यम धर्म के अन्तर्गत भेद	४४३
स्वरूपविग्रहण ---	४१७	५८-प्राकृतिक विरचधर्म स्वरूपपरिचय	४४४
३३-पौष्पवर्णानुगता शिल्प-कला-विद्या का		५९-'निष्काम' शब्द की निरर्थकता	४४६
स्वरूपविग्रहण ---	४१७	६०-फलत्यागानुगत निष्काम धर्म का	
३४-'विद्या' स्वरूपपरिचयोरुक्त ---	४२१	महान् व्यामोहन	४४७
३५-'पर' अर्थ, एवं 'अपर' धर से संश्लेष		६१-धर्म और धर्मफल-मीमांसा	४४८
'अपर' धर की परा-अपरा-विद्यार्थ	४२१	६२-अधिभूतानुगत धर्म	४४९
३६-अपरविद्यात्मिका 'अविद्या' के तीन विवर्त	४२३	६३-'धर्मोपदेशविप्रतिपत्ति' का समन्वय	४५
३७-वेद-ब्रह्म-विद्या-सङ्ख्या 'अविद्या',		६४-इच्छा, और कर्तव्यमीमांसा	४५२
एवं तद्रूपा निगमागमविद्या	४२३	६५-धर्म, और कर्तव्यमीमांसा	४५२
३८-गीताप्राज्ञानुगता अध्वयविद्या, एवं		६६-धर और कर्तव्यमीमांसा	४५३
श्रोत्रानुगता अविद्याद्वयी ---	४२४	६७-धराधर और कर्तव्यमीमांसा	४५४
३९-गीताप्राज्ञ की अध्वयविद्या, एवं		६८-धरधरस्वरूपविरोधधर	४५५
तदनुगता योगबन्धुद्वयी ---	४२५	६९-दृष्टान्तिरूपता धर्ममीमांसा	४५६
४०-गिर्यगन्तव्य 'विद्या' स्वरूपोपसंहार	४२६	७०-आर्षविद्याप्रतिपत्तिरुक्त अविद्या	४५७
इति-विद्यास्वरूपपरिचय-—		७१-श्रुतिप्राप्त की सर्वात्मिकता	४५९
४१-गीताप्राज्ञ की प्रकृति का मुख्य उद्देश्य	४२७	७२-समर्पित्तसुख श्रुतिप्राप्त का परिचय	४६२
४२-बीजतन्त्र की अराधित का मूलकारण	४२८	७३-श्रुतिप्राप्तात्मिक आर्षविद्या	४६३
४३-गीताप्राज्ञ का प्रतिपद्य निष्कर्ष	४२९	७४-मानवश्रुतिवैशानुगता आर्षविद्या	४६३
४४-गीताप्राज्ञानुगत विद्या और योग	४२९	७५-कर्णात्मिकवैशानुगता आर्षविद्या	४६५
४५-धर्म, और नीति का अर्थत्व	४३	७६-अर्थनात्मिक धर्मयोगनिष्ठा	४६५
४६-धर्मप्रकृति, और नीतिकप्रकृति ---	४३	७७-भगवत् (गीता) सम्मता 'धर्मोन्मुखि-	
४७-मत्तवाद की महती विभीषिका	४३१	योगनिष्ठा'	४६५
४८-मत्तवाद का स्वरूपपरिचय ---	४३२	७८-धर्मोन्मुखियोगात्मक धर्मयोग का अर्थत्व	४६६
४९-परिचयी साम्यवाद पर एक दृष्टि	४३३	७९-तान्त्रिकधर्मनिष्ठा 'धर्म' मीमांसा	४६६
		८०-दक्षिणोन्मुखविद्या का धर्मोन्मुख	४६७

८१-आत्मनिश्चयमनोःस्य मोहात्मा	४१८	११-बहिरङ्गप्रकृति, और अन्वयप्रमित महात्मा	४८१
८२-अनुभव, और 'मम' तत्त्व-परिचय	४१८	१०-बहिरङ्गप्रकृति, और आकृति-प्रकृति-	
८३-विभूति योग बन्धन, लक्षणा सम्बन्ध		आकृति त्रयी	४८२
त्रयी	४१९	११-नाक-अन्न-अन्नाह-मयी पदगुणात्मिका	
८४-अभिनिवेशरूपक संस्कारबन्धन	४०१	बहिरङ्गप्रकृति	४८२
८५-विद्या-कर्म-कर्मार्थक 'गुण' तत्त्व	४०१	१२-मानकर्मात्पुण्यता गुणलक्षित	४८४
८६-संस्काररूपक 'माय' तत्व	४०२	१४-गुणत्रयी का स्वरूप	४८४
८७-संस्कारबन्धनकारकविहाय	४०२	१५-(क) तत्व-रत्न-रत्न-प्रकृतिभेदविज्ञा	
८८-बुद्धिस्वरूपपरिचय के द्वारा विज्ञान का		मानवत्रयी	४४
लक्षण	४०३	१६-(ख) रावर्षि मनुसम्मत् गुणत्रयस्वरूप-	
८९-अपेक्षा-उपेक्षा-बुद्धि का तार्किक		सिद्धान्त	४८६
स्वरूप-परिचय	४०३	१७ गुणात्मिका प्रकृति का आश्रयमूलक	
९-ईश्वर, एवं बीजानुगत अपेक्षा-उपेक्षा-मायों		त्रिवृत्तत्वात् एवं तन्मूलक त्रय (६)	
का कारण	४०४	योजि विवक्ष	४८७
९१-शौकिक उदाहरणों के माध्यम से अपेक्षा-		१८-आत्मप्रकृतिसत्त्व्या गुणमयी महात्माप्रकृति,	
उपेक्षा-मायों का सम्बन्ध	४०५	एवं तत्कथनविमोह	४८९
९२-मायना-वायना-संस्काररूपक कर्मार्थता, एवं		१९-नैदर्शिक प्रकृति, एवं तार्किक प्रकृति का	
कथनविमोहक आत्मविज्ञानुगत धर्म-		स्वरूपसिद्धान्त	४९
बुद्धियोग	४०६	२०-अधिकारविद्या तार्किकी, तथा कर्मविद्या	
९३-नवधर्म-परधर्मात्मिक आत्म-अनात्मग्रन्थ	४०७	नैदर्शिकी प्रकृति	४९१
९४-आत्मरूपप्रकृतिविशिष्ट निर्गुण अम्बुपुत्र	४०८	२१- 'निमग्न कि करिष्यति'	४९१
९५-आत्म-मूल-प्रधानता ज्ञानकर्मार्थक अम्बु		२११-गुरुत्व-पापादि इन्हों का विवृत्त	४९२
पुत्र	४०८	२१२-कर्मार्थक परधर्म एवं अधर्मात्मक	
९६-आत्मयोगात्मिका कर्मरूपप्रकृति का संवाच-		परधर्म	४९२
निष्ठ, और अम्बुपुत्र	४०९	२१३-धर्म, एवं अधर्मात्मक इन्द्रनिवर्तक	
९७-विद्या अविद्या-प्रकृतिविशिष्ट अम्बुपुत्र	४१०	धर्मबुद्धियोग	४९३
९८-गुणात्मिका बहिरङ्गमायानता 'बिद्-		२१४-योग प्रतिबन्धकत्वं एवं समत्वं	
प्रकृति' एवं तन्मूलक धर्मबुद्धि-		साक्षात् संस्कारनिवर्तिका अनात्मत्री	४९३
योग	४१०		

११५-धर्मस्वरूपसम्पादिकाप्र क्रम-अभिक्रम व्युत्पन्न-त्रयी	४६९	११८-नियमधर्मयोगलक्षण समन्वययोग	५२
११६-मान्यत्वाय की जटिल समस्या, और इसका निरीक्षण	४६७	११९-धर्मयोग, और धर्मबुद्धियोग	५२
११७-धनलोपाय की सर्वश्रेष्ठ श्रेयता	५	१२०-धर्ममाता, और नीतिमाता	५१
		१२१-आयविद्यानुगत धर्मबुद्धियोगनिष्कर्ष	५५

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत-“धर्मबुद्धियोगानुगत-आयविद्यास्वरूपनिर्वचन”नामक

१२१ अध्यान्तरपरिच्छेदात्मक

प्रथमस्तम्भ-उपरत

(२)—१

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत-“ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचन”नामक

द्वितीय स्तम्भ के ४१ अध्यान्तर परिच्छेद

(५७ से ५४२ श्लोकपर्यन्त)

१-अस्मिता के प्रसिद्धिही ऐश्वर्य का स्वरूपोपक्रम	५७	१०-‘उद्धरेत्तमाना-आत्मानम्’का समन्वय	५११
२-यस्युर्मय वस्तु अहमय वस्तुपिरह, एवं साममय वस्तुमपहकारात्मक सर्व- मूर्ति प्रजापति	५०९	११-ईश्वरेच्छानिबन्धना माहृती समन्वय	५१५
३-ईश्वर के विविध विवरण, और उसके विविध ऐश्वर्यविवरण	५१	१२-आध्यात्मिक आत्मलोभानपरम्परा	५१६
४-विभूति, एवं योगलक्षण ऐश्वर्य	५१	१३ ईश्वरेच्छावृत्त अरहण धर्मों की अकल्पनता	५१७
५-ऐश्वर्य की छाया, तथा किदात्मयार्थ	५११	१४-ईश्वरेच्छा के उन्मूलन में समन्वयमक प्रयत्नवान	५१८
६-आत्मविश्रुति की प्रतिबन्धिका अस्मिता	५१२	१५-‘सद्योर्षक दुर्गे घृष्टम्’ का तात्त्विक समन्वय, एवं प्रयत्नसमाधि	५१९
७-सिद्ध, हास और अट्टाहास, स्वरूप- विगुरान एवं अस्मितामात्र	५१२	१६-‘आत्मैव आत्मनो वायु’-बुद्धियोगा- नुष्ठानेन एवं ‘आत्मैव त्रिपुरारमन’- आसक्तिव्यवधानेन	५२१
८-आत्मैश्वर्य का प्रतीक सिद्धहास, और तद्विरोधनी अस्मिता	५१२	१७-‘व-पुरारमनस्वस्य’ इत्यादि श्लोक समन्वय	५२१
९-आत्मविमान एवं आत्मविमान का स्वरूपविगुरान	५१३	१८-मनोवाक्य का ‘आह्वये’ मात्र	५२२

१९-अभिमान एवं अस्मिन्-स्ववशार्थ का पार्यंक्य --- ५२२	३-साधी सुपर्यल्ला के लक्ष्म्य से अस्मिता की निवृत्ति --- ५९
२-नामाविमानी शान्मिक विद्वानों शासकों तथा पनिकों का आत्यन्तिक परामव (गीता की दृष्टि से) ५२३	३१-अस्मितानिर्बन्ध ईश्वरयोगतना ५१
२१-सिद्धशास्त्रगुण उपश्रुमावनिक्थन आन्तैरकर्म ५२४	३२ काम्यमन्त्रियोगानुगता दोषपरम्परम्वर ५१
२२-ईश्वर का ऐश्वर्य --- ५२५	३३ ऐश्वर्यसुखियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष --- ५११
२३-बीज का ऐश्वर्य ५२६	३४-प्राचीनामिमता योगश्री का गीताबार्थ के द्वारा उद्योपन ५११
२४-ईश्वरानामृत, अत्यय ऐश्वर्यशास्त्री भी बीज का अनैश्वर्य --- ५२६	३५-प्राचीनामिमता योगश्री की मगवान् के द्वारा आत्यन्तिक उपेक्षा ५१२
२५-लौकिक उदाहरण और अस्मिता ५२६	३६-गीतामिमता योगश्रुष्टी ५१३
२६-बाह्य-सुख-भावानुगता अस्मिता का स्वरूपविगृहणन --- ५२७	३७-(क) अन्धकारमत्तस्था-मुक्त चतुर्विध मनस्तम्भ ५१४
२७ काम्य ऐश्वर्य की अनित्यता ५२८	३७-(ख) ऐश्वर्यमत्तक विपन्न के विविधरूप ५१६
२८-ऐश्वर्यबोध का अभाव एवं अस्मिता का आक्रमण तथा लम्बा दुःखमहति ५२८	३८-महिमा और विपन्न का पार्यंक्य ५१७
२९-आत्मदुःख-अस्मिता के द्वारा ऐश्वर्य का अस्मिन् --- ५२९	३९-चतुर्विध आचरणों के कारण ऐश्वर्य का अस्मिन्, एवं लम्बा दुःखमहत्ता ५१८
	४-स्थाभाषिक, और आत्मदुःख विपन्न ५१९
	४१-ऐश्वर्यसुखियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपनिर्धार --- ५४

द्वितीयप्रकरणान्तगत-‘ऐश्वर्यसुखियोगानुगता-राजविद्यास्वरूपनिर्बन्धना’ स्मक

४१ अमान्तर परिच्छेदात्मक

द्वितीय स्तम्भ-उपरत

(२) — २

द्वितीयप्रकरणान्तगत-‘ज्ञानसुखियोगानुगता-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्बन्धना’ नामक

तृतीय स्तम्भ क ३४ अमान्तर परिच्छेद

(३४३ से ३८८ वृत्तपर्यन्त)

१-अविद्याचतुर्विधस्य आचरण ५४३	१-विरवमन्त्रय विरववर्ममूर्ति सूर्य एवं उसके वाग विमृति विवर्त --- ५४५
२-विद्या अविद्यात्मक अन्वय क मूर्त्य-निबन्धन चार चार विवर्त ५४५	४-विरवार्थ सूर्य के चार पप्पा विवर्त ५४७

५-अमृतधिमृत्तित्तुष्टयी, एवं मर्त्य पाप्मा चतुष्टयी का अनान्तव्यैरिमक आत्मसर्व्य (साहाय्य) --- --- ५४८	१९-गुणानुगत ज्ञानकर्म के विविध द्वन्द्व ५६३
६-ईश्वरगुण विभूति, एवं पाप्मा का समन्वय ५५	२-प्राकृतत्वमन्त्री, एवं कर्तुगता प्राचीनामिता योगत्रयी --- --- ५६८
७-मीनानुगता विभूति, एवं पाप्मा का समन्वय ५५	२१-निकृतिता योगत्रयी की प्रासङ्गिकी विषय-समन्वा --- --- ५६९
८-अविदैवत-अप्यात्मानुगत आत्मविवत्त के उपक्रमोपसंहारमात्र --- --- ५५२	२२-आत्मानुगता ज्ञानकर्मत्रयी के छद्मविद्य त्रिष्टुत्माव --- --- ५६९
९-छिद्य-साप्तावस्थापत्ता बुद्धियोगचतुष्टयी का पार्यक्य --- --- ५५२	२३-अमृत-जग-शुक्र-समष्टिरूप चतुष्पात्र प्रज्ञा के मात्रा और अमात्रा-भाव ५७
१-प्राचीनामिता योगत्रयी के आधारभूत आत्मविवत्त --- --- ५५३	२४-गुणानुगता ज्ञानकर्मत्रयी के त्रिष्टुत्तरूप ५७४
११-गीतासम्भवा योगचतुष्टयी के आधार-भूत आत्मविवत्त --- --- ५५३	२५-त्रैगुण्य का संघय, एवं तत्रनित मोह ५७८
१२-अध्यात्मरमानुगत एक ही बुद्धियोग के चार विभिन्न योग विषयों का समन्वय ५५४	२६-कामप्रतियन्धजनित शोभ की मोहसमकता २७-सङ्ग-काम-क्रोध-संमोह-सृष्टिविघ्नन ५७८
१३-पाठशालाबोगसूत्र के 'अविद्या शब्द का समन्वय --- --- ५६	बुद्धिनारा की मोहमूला परम्परार्य ५७९
१४-उभय ज्योति-प्रदर्शक आत्मव्योदितिलक्षण प्रत्यगात्मा ५६१	२८-कलिका बुद्धि का स्वरूपसमन्वय, एवं मोहपरातिष्ठस्युपायप्रदर्शन ५८
१५-विद्यनिबन्धन पुरुषप्रयोक्ति-प्रकृतिज्योति-विवत्त --- --- ५६२	२९-नभस्य का समन्वय ५८१
१६-पुरुषज्योति, एवं प्रकृतिज्योतियों के पौष पौष विवत्त ५६२	३-मोहपरम्परानुगता ज्ञानसहबुद्धिज्जता ५८२
१७-मन्थननिबर्त्तक-प्रवर्त्तक पुरुष-प्रकृति-ज्योतिर्विपत्त ५६५	३१-मोहनियर्त्तिका ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या ५८३
१८-हादसस्वानुगता (ज्ञानबुद्धियोगानुगता) सिद्धविद्या ५६६	३२-छिद्यार्त्ता में उत्पन्न छिद्य कपिल की छिद्य विद्या, एवं कर्तुगता ज्ञानबुद्धियोग ५८३
	३३-सिद्धकपिलानुगता सिद्धविद्या ५८५
	३४-ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष ५८६

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत- 'ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्घटना' स्मक

३४ अमान्तर परिच्छेदात्मक

तृतीय स्तम्भ-उपरत

(२)-३

द्वितीयप्रकरणान्तगत-‘वैराग्यवृद्धियागानुगत-राजर्षिबिद्यास्यरूपनिबन्धन’ नामक
 अतुर्यं म्ठम्म फ ४८ अथान्तर परिच्छेद
 (१२६ से १४४ पृष्ठपर्यन्त)

१-वैराग्य और आर्थिक शक्तों के प्राक् प्रचलित धर्म	५८२	१७-‘वागिनापि सर्वेषाम् इत्यादि श्लोकसमन्वय	६१
२-प्राचीन व्याख्याताओं की वैराग्यदृष्टि और उनका ज्ञानयोग	५९१	१८-मानवकी दुःखमूला आत्मदाप- परम्परा	६१
३-वैराग्यमाहानुगत ‘वैराग्य’ शब्द के तारिखिक धर्म का उपक्रम	६९२	१९-आयुजन और आरक्षिक	६१२
४-गीतारात्र में प्रयुक्त ‘स्यमा’ शब्दानुगत स्यमा एवं इनका अक्षरार्थसमन्वय	६९२	२-‘राम’ का तारिखिक निबन्धन	६१२
५-गीतानन्तित ‘स्यमा’ शब्द का निष्कर्षार्थ	५९७	२१-‘द्वेष’ का तारिखिक निबन्धन	६१३
६-गीतारात्र का तारिखिक नामकरण	६९७	२२-रागद्वेष के अनुकूल-प्रतिकूल-भाव	६१३
७-‘मग’ अनुपुत्री में अनुप्रासिता मगवृद्धिया एवं मगव्याग के चार चार विधय	६९९	२३-रत्नमूलक काम-क्रोध-मोह	६१४
८-वैराग्यानुबन्धी परिवर्त्या का सङ्घ स्वरूपवर्णन	६	२४-रामाक्षिक का उदाहरण	६१५
९-शिक्षा के द्वारा संशोधिता योग्यदी	६ २	२५-कर्मसत्त्व के चार विद्वर्त एवं रामाक्षिक का समन्वय	६१६
१०-‘तत्रैवियाऽधिको यागी इत्यादि श्लोकसमन्वय	६ २	२६-आन-क्रोध-हान-श्रयी का अनुगम	६१९
१-ज्ञानयोग, और कर्मयोग के सापक्ष गीत-सुख्य-भाव	६ ३	२७-‘आमात् क्रोधोऽमिच्छादो’ का समन्वय	६२३
१२-कर्मयोग, और मत्तियोग के सापक्ष गीत-सुख्य-भाव	६ ४	२८-‘क्रोधात् मन्ति ह्यमोह’ का समन्वय	६२४
१-समावर्त, श्रीखोदक, एवं वस्तुगत मन्मना-उमना-भाव	६ ५	२९-‘तमोऽहम् स्मृतिविभ्रम’ का समन्वय	६२४
१४-मन्मना अर्थव्यय, और उमना अर्थव्यय	६ ६	३-‘स्मृतिघ्नात् बुद्धिनाश’ का समन्वय	६२४
१-उमना बागी और उसका बाह्य बातावरण	६ ८	३१-‘बुद्धिनाशान् प्रकुर्यति का समन्वय	६२५
१६-मन्मना बागी और उसका बाह्य बातावरण	६ ९	३२-‘व्यापला विपयान् पुम का तारिखिक समन्वय	६२५
		३३-राग और द्वेष का अन्व-जनकभाव- समन्वय	६२७
		३४-राम-द्वेष का सङ्घसमन्वय	६२८
		३५-रागकरोकारक मेम के पाँच विभिन्न कोत्र	६२८
		३६-व्याकरण-विशेषसमन्वय रागद्वेषद्वय	६३१
		३७-काम-क्रोधानुबन्धी रागद्वेष	६३१
		३८-रत्नमूलक काम-क्रोध-मोह	६३३
		३९-कामक्रोधमूलक राग-द्वेष-मोह	६३४

४ - 'रबो रागात्मक विधि' का सम्बन्ध	११५	४५-मनोऽनुगत रसा से युक्त रागद्वेपमोह	
४१-त्रिगुणात्मक रबोगुण का विह्वलरूप	११५	त्रयी का शास्त्रिक साहचर्य	११७
४२-वैराग्य का तात्त्विक स्वरूप	११५	४६-वैराग्यबुद्धियोगानुगता वैराग्यविद्या	
४३-विषयानुगत रागद्वेपमोहत्रयी का अनुभावित साहचर्य	११६	(राजपिपिद्या)	११८
४४-संस्कारानुगता रागद्वेपमोहत्रयी का यास्तविक साहचर्य	११७	४७-आत्मस्यातत्रयी, भीतर सम-विषम योग, एवं समस्वयोगानुगता राजपिपिद्या	११९
		४८-व्येष्ट-श्रेष्ठ-वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजपिपिद्या	१२०

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत- 'वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्दिष्टना' स्मक

४८ अथान्तर परिच्छेदात्मक

चतुर्थ स्तम्भ-उपरत

(२)-४

चतु स्तम्भसमष्ट्यात्मक- 'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्दिष्टना' नामक

द्वितीय प्रकरण-समाप्त

—२—

(३) बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार-(तृतीय प्रकरण)

सप्रैते-अथान्तरपरिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या

(६४४ श्लोक से ६६२ श्लोक पर्यन्त)

१-प्रतिपादित विषय की रूपरेखा	१४७	७-पुरुषविद्याचन्द्रवरी से अनुगत-पुरुषयोग-चन्द्रवरी-	१४९
२-पुनः-बुद्धि-बुद्धि-मुक्ति-गुण-चन्द्रवरी	१४७	८-महतिविद्याचन्द्रवरी से अनुगत-महति-योगचन्द्रवरी-	१५१
३-मुक्तिगुणानुगत चर्मबुद्धियोग	१४८	९-मिहतिविद्याचन्द्रवरी से अनुगत-मिहतियोग-चन्द्रवरी-	१५२
४-बुद्धिगुणानुगत वैश्वर्यबुद्धियोग	१४८	१०-पूर्व-गच्छोपसंहार-	१५३
५-बुद्धिगुणानुगत क्षमबुद्धियोग	१४८		
६-पुनः-बुद्धिगुणानुगत वैराग्यबुद्धियोग	१४९		

उपरतश्चेद-‘बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार’-नामक
तृतीय प्रकरण-१० अथान्तरपरिच्छेदात्मकम्

—३—

उपरता चेत्यं-बुद्धियोगपरीक्षा-नामक-पूर्वखण्डस्य
सञ्चिता विषयसूची

—→—

श्री

बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड की
संक्षिप्ता परिलेख सूची

एव

विषयसूची-समाप्त



भी

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-प्रकरणत्रयात्मक 'बुद्धियोगपरीक्षा'

नामक पूर्वखण्ड का

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथम-प्रकरण

१



श्रीः

अथ-बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमे प्रकरणे

‘सन्दर्भसङ्गति-’ नामकः

प्रथमः स्तम्भ

(१)-१



श्री

बुद्धियोगपरीक्षाया-‘बुद्धियोगस्वरूपानेर्वचनम्’ नाम-प्रथम प्रकरणम्

प्रथमप्रकरणेऽस्मिन्-‘सन्द-मसङ्गति’ नामक-

प्रथम स्तम्भ

१—माङ्गलिकर्मस्मरणम्—

१—नि पु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतम कवीनाम् ।
न श्यते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्क मघवश्चित्रमन्त्र ॥

—शुक्लसंहिता १०।१।२।६

२—एक एवाग्निर्वहुषा समिद्ध णक. सूर्यो विश्वमनुप्रभूत ।
एकैत्रोपा सर्वमिदं विमाति णकं वा इद वि मभूव नर्वम् ॥

—शुक्लसंहिता ६।४।२।६।

३—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्या ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता मा नो इवं जुपतामिन्द्रपत्नी ॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।५।५।१।

४—वाग्वर प्रथमजा घृतस्य वेदाना माताऽमृतस्य नामि ।
मा नो जुपाख्योपयमममादधन्ती दधी सुखा मेऽस्तु ॥

—तै० ब्रा २।५।५।

५—यो ब्रह्माक्षं विदधाति पूर्वं यो वै वेदोश्च प्रहियोति तस्मै ।
त इ देव ‘मात्मबुद्धिप्रकाशं’ मुमुक्षुर्न शरस्वमर्ह प्रपद्ये ॥

—रबेतारवतरोपनिषत् ६।१२।

६—ओष्ठापिषाना नङ्गुली दन्तै परिपृता पथि ।

सर्वस्य वाच ईशाना पाल मामिह वादयत् ॥

—एतरेय आरण्यक

७—आत्मानं रथिन विद्धि, शरीर रथमेव तु ।

‘बुद्धि’ तु सारथि विद्धि, मन-प्रग्रहवाचर ॥

इन्द्रियास्मि हयानाहुः, विपर्योस्तेषु गोचरान् ।

आमन्त्रियमनोयुक्त मोक्षतेत्याहुर्मनीषिणः ॥

—ऋटोपनिषत् १।१।१४ ।

८—यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्मात्भूयो न जायते ॥

विज्ञानसारपरिष्यस्तु मन-प्रग्रहपाकरः ।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

—ऋटोपनिषत् १।३।८ ।

९—एष सर्वेषु भूतेषु गृहोत्मा न प्रकाशते ।

इत्यत त्वप्रपया 'बुद्ध्या' धर्ममया धर्ममद्विशिभिः ॥

—ऋटोपनिषत् १।३।१२।

१०—य एको बसो बहुधा शक्तियोगात्-वर्षाननेकान् निहितार्थो दधाति ।

त्रि षैति शान्त विस्मयाद्गौ स देवः, स नो 'बुद्ध्या' धर्ममया सयुनक्तु ॥

—ऋत्वेता० ष्य ४।१।

११—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकह इकनन्दन !

बहुशाखा धनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

—गीता २।४१।

१२—शूर्य धरः कर्म 'बुद्धियोगात्' धनञ्जय ! ।

बुद्धौ शरसमन्विष्य कृपणा फलहेतवः ॥

—गीता २।४२।

१३—बुद्धियुक्तो ब्रह्मतीह उमे सुकृत-दुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युन्यस्य योगः कर्मसु कौशलम् ॥

—गीता २।४३ ।

१४—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ब्रह्मिणि 'बुद्धियोगं' त येन मामुपयान्ति ते ॥

—गीता १।१०।

१५—केतसा सब्रह्मर्मास्मि मयि संन्यस्य मत्पर ।

'बुद्धियोग' सुपाभित्य मन्विताः सततं मय ॥

—गीता १८।३।

२-शास्त्रनिष्ठा का शैथिल्य, एवं लोकनिष्ठा का प्राधान्य—

आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक, इन तीन प्रकार के तार्कों से ऊक्त पुरुष अपने जन्मक्षण में आरम्भ कर मृत्युदश पर्यन्त शान्ति-सुख के लिए स्थिर बना रहता है। इसकी यह स्थिति उस समय और भी अधिक प्रबल हो जाती है, जब कि शान्ति-सुख के लिए पर्यर्थ प्रयास करने पर भी इसे शान्ति-सुख-नहीं मिलते। वाचस्पतिकन भ्रौत स्वार्थ कर्मों में रत रहने वाले कर्मठ पुरुष भी वर्तमान युग में आध्यात्मिक शान्ति की खोज करे, लौकिक सुख से भी वञ्चित होकर इतस्तत् दन्त्रम्यमाण है। अहरोत्त नाम ध्वनि का अनुगमन करने वाले मक्त्त भी लौकिक तार्कों से युक्त देखे सुने बातें हैं। अस्म्यक्त ज्ञानमात्र का उपयोग करने वाले वेदान्तमहाशिवि भी अमभितन्वा से संतप्त हैं। भारतीय विद्वान् सामिनिवेश कहा करते हैं कि, शास्त्रीय मार्ग के परित्याग से ही मनुष्य दुःख पामा करता है। ओमित्येत्। परन्तु, देखा-सुना यह वा रहा है कि, जो शास्त्रीय कर्म-प्रति-ज्ञान-यथी के अनुगामी हैं वे उन लौकिक मनुष्यों की अपेक्षा भी नहीं अधिक संतप्त हैं जो लौकिक मनुष्य अपनी व्यावहारिकी बुद्धि के बल पर केवल व्यावहारिक मार्ग के अनुगामी बने हुए हैं। यह ठीक है कि, लौकिक मनुष्य भी आत्मशान्ति से तो वञ्चित है। और इस दृष्टिकोण से शास्त्र निष्ठा, एवं लौकिक मनुष्य, दोनों वर्ग सम्मिलित हैं। परन्तु मानना पड़ेगा कि, योग-वेदान्तगत लौकिक चिन्ता लोकनिष्ठ व्यावहारिक पुरुष की अपेक्षा शान्तिनिष्ठ-व्यवहारगत-पुरुष को ही अधिक उत्पीड़ित कर रही है। इस प्रकार प्रत्यक्षानुभव यह मानने मनवाने के लिए विवश कर रहा है कि, कथमान युग की शास्त्र निष्ठा, एवं लौकिकव्यवहारनिष्ठा आत्मशान्तिप्राप्ति के स्थान में उर्विपारिक ही बन रही है। दोनों निष्ठाओं में से यदि योग-वेदान्तिन्ता को प्रधान मान लिया जाता है तो-लोकनिष्ठा ही वर्तमानयुग में उपादेय अतएव उपादा मानने अशक्यती है। यही आज हो भी रहा है। लोकनीतिकुशल वचमानयुग के वर्तमानलोकनिष्ठा पद महानुभावों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में ऐसा ही कुछ बना हुआ है। उनका कहना है और यह कथन तथ्यपूर्ण भी है कि, शास्त्रनिष्ठा से आत्मशान्ति तो नहीं ही मिलती, शरीरसुख भी योग-वेदान्त भी पलायित हो जाते व अतः हमें जीवन के मूलाधारमूय योग-वेदान्त की रक्षा के लिए वर्तमान में लोकनिष्ठा का ही समर्थन करना चाहिए, एवं शास्त्रनिष्ठा की उपादा कर देनी चाहिए। अस्तवन्म आत्र शास्त्रनिष्ठ समाज की संस्था क्रम-क्रमशः पटती जा रही है और बढ़ती जा रही है लोकनिष्ठ-व्यवह युगों की संस्था।

३-मानव का भ्रान्तिमूलक परिताप—

क्या आज ही शान्ति-सुख को लेकर मारतर्क में यह सर्वथा नवीन प्रश्न प्रकट हुआ है। नेति होनाच। आज से पहिले भी यह प्रश्न समय समय पर उपस्थित होता आ रहा है। क्या अतीत युगों में भी उपस्थित इस प्रश्न के संघर्ष में लोकनिष्ठा की ही मान-कृता स्वीकार हुई है, नेति होनाच। वर्तमान स्थिति से उत्तरमना मिलते सुतते संक्रान्त पुरुषुगों में जब जब भी उपस्थित हुए, तब तब ही उत्तरवेदाओं में इस सम्बन्ध में अपना यही नियम प्रकट किया कि शास्त्रानुगता धर्मनिष्ठा उठी दशा में शान्ति का अरण्य बनती है, जबकि इसके अनुष्ठान-यकारों में किसी भी प्रकार के दोष का सम्बन्ध हो जाता है। तब ही लोकानुगता अधर्मनिष्ठा लोभानुग्रहप्रधान विषय में पाँके समय के लिए मुक्तस्मृति का कारण बनती हुई भी अन्तर्वेदान्तगत स्थूल विनाश

का ही अर्थ होता है +। शास्त्रीय धर्मनिष्ठा से यदि मूल-शान्ति प्राप्त नहीं होती, तो विश्वास करना चाहिए, अथवा ही इसके अनुष्ठान में हमसे कोई मूल दुर्ग है। उक्त मूल का अन्वेषण कर उत्तरी चिकित्सा करना ही मानवधर्म है। इस मूल का यह अर्थ निम्नलिखित है कि, शास्त्रीय पथ ही एक मूल है, महामूल है। अगर इस महामूल से समुत्पन्न परिचाय का मानव को याचनीय अनुभवन करना पड़ता है। क्योंकि निष्ठाभाव के स्वरूपविशेषक लोचन का बही निष्कर्ष है जो मूल इत कम से प्रविष्ट है कि— 'मूल देखना मानव को मूल नहीं है, क्योंकि मूल देखना मानवीय मन का साहचर्य एवमात्र है। किन्तु मूल देखने में मानव को कदापि मूल नहीं करनी चाहिए। जो मानव दुराग्रहमूलक अथिक्त आचारा में अथवा मूल देखने में मूल कर बैठने हैं, उन्हें याचनीयन परिचाय का ही अनुग्रामी बना रहना पड़ता है' ॐ। शास्त्रनिष्ठा का उत्प्रेषणों में विरोध नहीं किया, अस्तु लोचनिकाओं में मानवीय-कल्पना के आधार पर भिन्न प्रकृतिकिस्त्र-अशास्त्रीय भावों का उन्मूलन हो जाता है, उनका निष्पन्न करते हुए उन्हें ही शास्त्रनिष्ठ की अमेधा शिक्षा पर प्रतिक्रिया है।

४—मानव का देवयुगप्रसीन उद्बोधन—

अति हनें तुलाती है कि एक बार भारतीय मनुष्मन्त्र ने यह करते हुए शास्त्रनिष्ठा का परिचाय कर दिया कि,—“जो शास्त्रीय कथादि कर्म करते हैं वे तो बुद्धि पा रहे हैं एवं जो इन कर्मों की उपेक्षा कर स्वच्छाचारविहारपरक है वे लौकिक मनुष्मन्त्र शास्त्रनिष्ठों की तुलना में सुन्दर बने हुए हैं। ऐसी स्थिति में हम भी क्यों शास्त्रनिष्ठा का अनुष्ठान करें। क्यों नहीं, हम भी लौकिक मनुष्मन्त्रों की भाँति कष्टाचार विहारपरक बने हुए तुल्य कर्मों का प्रयास करें”। बचना उक्त युग की ही जो युग भारतीयों के लिए स्वर्णयुग माना गया है वैदिक संकल्पितबान यह देवयुग विद्वान् प्रकृतिकिस्त्र दत्त प्रकृति पर ही वैदिक-व्यवस्था व्यपदिष्ट थी। भारतीय प्रथा की इस मनोवृत्ति के उन्मूलन के क्षेत्र के क्षेत्रीय पुरुषों। क्षेत्र ने अनुभव किया कि, शास्त्रीय निष्ठा की इस अभाव का कारण अथवा ही कर्मणोय हुआ है। लक्ष्य देवयुग

×—अधर्मेऽप्येते तावत् ततो मद्राणि पश्यति ।

उत्त सप्तनाअपति समृष्टस्तु दिनश्यति ॥

—मनु ११०३।

● लक्ष्य देवयुगक 'भारतीय हिन्दू मानव और उसकी भावुकता' नामक ग्रन्थ के अग्रिम पृष्ठ में इन श्लोक की व्याख्या देखा हुआ है।

×—“स य इन्द्र-ईन्द्रि, त ह म्मावमरी यवन्त । न पापीयांस आसु । अथ य नश्चि, से भेषांस-आसु । ततोऽभद्रा मनुष्मन्-चिचद-यि यवन्त-पापीयांसले मवन्ति । य उ न यवन्ते, भेषांसले मवन्ति” इति । त ह ऋषा ऊतु—अहस्पतिमाङ्गिरसम् । अभद्रा वै मनुष्मन्किद्, तस्यो चिचहि यन्मिति ।”

—शत० भा० १।२।३।४।

बृहस्पति भारतवर्ष भेजे जाते हैं। वे वहाँ जाकर अपने सम्मुख इनसे यह करते हैं और देखते हैं कि—
असुक असुक स्थानों में इनके हाथ नुति हुईं हैं, एवं यही नुति कर्मस्वरूपविपादिका बनती हुईं अमर्या
तया अनिष्ट का कारण बनी है। नुति का विश्लेषण किया जाता है। भारतीय प्रथा अपना दाय स्वीकार
करती है। पुनः तबभी शास्त्रनिष्ठा पर भरोसा हो जाती है + ।

५—कर्मकौशलानुगत-शास्त्रीय प्रकारण का वैशिष्ट्य—

एक भारतीयैतिह्यपरम्परा से हमें हम निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि दोनों निष्ठाओं में शास्त्रनिष्ठा ही विकासोद्योगित शान्ति-सुखप्राप्ति का अनन्य-अन्यतम मार्ग है। शास्त्रनिष्ठा तभी हानिप्रदा बनती है जबकि उसके अनुष्ठानप्रकार में हम अपनी ओर से कोई असाध्यबानी कर बैठते हैं। शास्त्रनिष्ठा ही कहीं लोकनिष्ठा भी हो रही प्रकर स्नेह का समर्पण कर रही है। यथाप्यवशिष्टपूर्वक भावार्थ के साथ किया जाने वाला यही लौकिक कर्म यहाँ फलप्रद बनता है, यहाँ अनुष्ठानप्रकार की अताथबानी कर्मस्वरूप को विकृत कर देती है, एवं ऐसे विकृत कर्म से कदापि अमीत्य फलसिद्धि प्राप्त नहीं होती। कर्म का कुशलतापूर्वक किया जाने वाला अनुष्ठानप्रकार ही 'कर्मकौशल' (कर्मजातव्य) है। यदि शास्त्रीय कर्म हो, अथवा ही लौकिक कर्म, कौशल ही इस कर्म का लक्ष्य है। यदि कौशल कर्मविभूति का हमारे अन्तर्ममण्डल के साथ योग करने में समर्थ होता है। अतएव उत्त्वाचार्यों में इस कौशल का • 'योग' शब्द से व्यञ्जित किया है। कुशल पावन का कौशल पाककर्म की उत्कृष्टता का रस है। कुशल विद्वान् का कौशल स्वाध्यायाभ्यास-कर्म की उत्कृष्टता का रस है। कुशल नाटिक का कौशल यज्ञकर्म की प्रतिष्ठा है। ×। कुशल मातृ का कौशल ही मतिमार्ग का अलाभन है। कुशल ज्ञानी का कौशल ही ज्ञानपथ की आचारभूमि है। यथाभाक् मार्ग कुशलता-उत्कृष्ट से योगप्रदक करते हुए उपादेय हैं, एवं यन्त्रयाक् मार्ग कुशलता से बहिष्कृत रहत हुए अनुपादेय हैं रस है अतएव अनिष्कार है।

—“म द्वेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरस—‘कथा न यजन्व’ इति । त होतु—‘किङ्क काम्या यजेमहि । य यजन्ते-पापीयांसस्ते भवन्ति । य उन यजन्ते-भोयांसस्ते भवन्ति’ इति । ×× । स होवाच—अनममर्शं यच्चाम् । तथा भयांसो भविष्यथ-इति । स यो ह्येवं विद्वान्-अनवमर्शं यजते, भोयान् ह्येव भवति । तस्मान्नवमर्शमेव यजत”।

—राव भा० १।१०।१२।२६

६—बुद्धियुक्तो ब्रह्महीह उमे सुकृत-दुष्कृत ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व—‘योग कर्मसु कौशलम्’ ॥ (गी० २।२०) ।

×—“तद् होवाच याम्बवन्वय—श्वचिजो ह्येव टवयजनम् । य ब्राह्मणा—
द्युभ्रांसोऽनुवाना विद्वांसो याजयन्ति, मैव-अह्ला । एतन्न—
दिष्टमामिन् मन्यामहे-इति” (शल० ३।१।१४,५) ।

६-धर्म, अर्थात् अधर्म की स्वरूपव्यवस्थिति—

तत्पर्यं वह निकला कि, धर्म, अधर्म का कार्य नियत स्वरूप नहीं है । यही तत्व यही धर्म अस्तुशान्तप्रकारक्य बीराल से बहिष्कृत रखा हुआ अधर्म बन जाता है । यही तत्व बीराल के लक्ष्य से धर्म बन जाता है । 'विद्य-ज्ञान-पाप-द्वन्द्व-भ्रष्टा' के समन्वय से ही धर्म का स्वरूपनिर्माण माना गया है + । यही मोक्षधर्म एक स्वल्प मनुष्य के लिए धर्म है तत्पितातपोव्रत व्यष्टि के लिए यही अधर्म है । वह शास्त्रनिष्ठ धर्मपथ भी उत सम्य अशास्त्रीय निष्ठ, अधर्मपथ बन जाते हैं, जबकि वह निष्ठ वह पथ बीरालरूप भोग से बहिष्कृत हो जाते हैं । तब ही वह लोकेन्द्रिय अधर्मपथ भी उत सम्य शास्त्रीयनिष्ठ, धर्मपथ बन जाते हैं जबकि वह निष्ठ, वह पथ भोग से मुक्त हो जाते हैं + । यहाँ आकर उक्त पूर्व प्रश्न का मञ्जीमांशि समाधान हो जाता है कि, "शास्त्रनिष्ठ भी वक्तमान में क्यों अस्तुद्वन्द्व-निम्बेक के स्थान में आस्तिक प्रथा की अवनति का कारण बन रही है ?, एवं लोकेन्द्रिय भी (लोकेन्द्रिय मुक्तक्य के लक्ष्य से) क्यों योग्येननिर्वाहिक मनी जा रही है ? । "

७-धर्मकाशुलप्रतिपादक गीताशास्त्र—

कित धर्मबीरालात्मक योग के लक्ष्य ने पञ्चकारक नियमों "ब्रह्मनी-अभिज्ञानिकारिक बन जाती हैं उक्त योग का उक्त धर्मबीराल का स्वरूप क्या ? एतन्मात्र "की प्रश्न के समाधान के लिए 'कमाधि' रूप से (बुद्धबोगक्य से) गीताशास्त्र प्रथम हुआ है । मुक्त आस्तिक प्रथा वह लक्ष्य रही होगी कि, गीता भी शीत-स्मार्त-तू-अर्थात्, तथा मनु-पञ्चमस्मृतियः धर्मधर्मों की मूर्ति एक प्रथम का विधि-निवेद-अन्व होगा आदेशक्य होगा । एही प्राप्ति का यह अस्तुवह है कि, जबकि कितने एक गुरुवादियों में गीता को ही एक-धर्म निर्णय का मूलाधारशास्त्र मानते हुए भारतीय अन्व मन्वादि-विधिनिवेदात्मक शास्त्रों की उपेक्षा करने में ही अपना अस्तुद्वय मान लिया है । गुरुवादियों की इत गीतामूर्ति का हृदय से अभिमान करते हुए भी इत लक्ष्य में इसे उनके लक्ष्य इत अयिप-अन्व का उत्पादन करना ही पड़ेगा कि, यदि वे अपने लक्ष्य-धर्म के निर्णय के लिए अन्व शास्त्रों की उपेक्षा कर केवल गीताशास्त्र पर इतका उक्तवाकित्त बाल होंगे तो उन्हें इत लक्ष्य में लक्ष्य निरस्त ही परावर्तित होना पड़ेगा । 'अस्तु धर्म करो, अस्तु धर्म न करो' इत्यादि विधि-निवेदमन्त्रों का पीठा से कोर्त लक्ष्य नहीं

—'विशो ज्ञान उपायेन श्रद्धं भद्रासमन्वितम् ।

प्राप्ते प्रदीपत यत्नं सकलं धर्मलक्ष्यम्' ॥

—भा सू १।६।

—देशं धर्मं वयं शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नत ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्याद्यत्र धोक्ता न निष्कृति ॥

—भा स्मू १।२।३।

। —योगयुक्तो मुनिश्च ह नभिरेशाधिगच्छति ॥

—गीता १।६।

हैं। यदि किसी कर्म में भक्ति, ज्ञान का विधान भी हुआ है, तो उसकी वास्तविक विधि (इतिवृत्त मन्ता) का तो गीताशास्त्र ने स्पर्श भी नहीं किया है। कश्चिन्म के सम्बन्ध में मगवान् में आदेश ही अक्षर्य दिया है ॥ परन्तु साथ से इतिवर्त्यन्त अन्वेषण कर माइए, कहीं भी यों तिक्रम मन्ता का उल्लेख उपलब्ध नहीं होगा। यही स्थिति अन्व शास्त्रीय विधि-विधानों की है। 'कैसे करें, क्यों करें' ? इस कर्म क्रौशलात्मक प्रश्न का समाधान करना ही गीताशास्त्र का मुख्य विषय है। जब गीता से यह पूर्णतः बाता है कि, 'क्या करें क्या न करें' ?, तो वह विस्पष्ट शब्दों में यही बोधना कर देती है कि, - 'कृत्स्न (विधि), अक्षर्य (निषेध) का निर्णय शास्त्र के आचार पर ही करना चाहिए + ।''

८-अभिनिविष्टा शास्त्रनिष्ठा की अनुपयुक्तता—

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता ने कृत्स्न-अक्षर्य के सम्बन्ध में किस शास्त्र की ओर उल्लेख किया है उसकी परिमाणा आब कई एक कार्यों से कुछ बन रही है। येश का यह नि सीमा दुर्गम्य है कि किस किसी भी रखे चलने वाले व्यक्ति के द्वारा केवल संस्कृतभाषा में लिखे गए पत्रों में आब 'शास्त्र' का बाना पहिन कर आस्तिक प्रथा को आमोह में डाल रक्खा है। विभिन्न मतवादी का पोषण करने वाले साम्यवादीग्रन्थों में शास्त्र की वास्तविक परिमाणा को इसप्रकार आहत कर लिया है कि, मार्क्समैम गीताशास्त्र आब मत्-विरोधी का ही उपोद्बलक बन गया है, अथवा तो बना दिया गया है। मन्त्रमाज्ञाशास्त्रिक वेदशास्त्र एवं तदनुगामी स्मृतिशास्त्र ही यह मुख्य शास्त्र है किञ्च गीताक 'शास्त्र' से समझ किया जा सकता है। परन्तु, तत्तवः शास्त्र की इस निष्ठा से भी काम चलता सिन्हाई नहीं दता। 'त्रैगुण्यविषया वेदा'- 'भुक्तिप्रतिपन्ना' इत्यादि वचनों में ओर जब हमारा + भान आता है, तो शास्त्र की कुछ ओर ही परिभाषा माननी पड़ती है। यहाँ अभयवर्गप्रतिपादक भुक्ति-स्मृतिशास्त्र भी

ॐ-यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं काय्यमेव तत् ।

यस्यो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

—गीता० १८।१।

×-तस्माच्छास्त्रं प्रमाद्यं ते काय्याकर्म्यम्यवस्थितौ ।

आश्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म कर्तुमिहहसि ॥

—गीता० १६।२४।

—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवान्नुन । ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसच्चस्यो नियोगिधेम आत्मवान् ॥

—गीता० २।४५।

भुक्तिप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधात्वचसा बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

—गीता० २।५३।

११—आत्मविद्या के सोपाधिक पाँच विवक्त—

योगसूत्र को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली अध्यात्मविद्या ही ब्रह्मविद्या है, यही 'आत्मविद्या' है। यह आत्मविद्या ही पहिला, एवं मुख्य दृष्टिकोण है। इस आत्मविद्या के (आत्मा के) 'ब्रह्म-कर्म' नामक ही विषयवाचु माने गए हैं। सोपाधिक-विधानुगत आत्मा का ब्रह्म नामक दिव्यवाचु 'ज्ञान' नाम से, कर्म नामक दिव्यवाचु क्रिया' नाम से अभ्यहृत हुआ है। ब्रह्मकर्मप्रसक्त यही आत्मा दिव्यात्मा है, ज्ञानक्रियात्मक यही आत्मा विद्यात्मा है। इत्यन्तर उस एक ही आत्मतत्त्व के समष्टिलक्षण 'आत्मा' व्यष्टिलक्षण ब्रह्म-कर्मप्रसक्त 'दिव्यात्मा', एवं व्यष्टिलक्षण ज्ञानक्रियात्मक 'दिव्यात्मा' के तीन विवक्त हो जाते हैं। तीसरे विद्यात्मा के ज्ञान-क्रिया, इन दो विवक्तों के व्यक्त्य से अत्यन्त तीन अन्तर्विक्त हो जाते हैं। किशुद्र ज्ञानप्रधान यही विद्यात्मा 'ज्ञानात्मा' है। किशुद्र क्रियाप्रधान यही आत्मा 'कर्मात्मा' है, उभयात्मक मध्यम यही आत्मा 'कर्मज्ञात्मा' है। इस दृष्टि में अध्यात्मविद्या के 'आत्मा, ब्रह्मकर्ममय दिव्यात्मा ज्ञानात्मा कर्मात्मा, कर्मज्ञात्मा' के पाँच विवक्त हो जाते हैं। इन पाँच आत्मविवक्तों में से आत्मा और विद्यात्मा, ये दो अन्तर्विक्त हो योगसूत्र में आसृष्ट हैं। शेष तीनों विवक्तों योगसूत्र से संसृष्ट हैं। विद्यात्मा के ज्ञानज्ञान में लक्ष्य करने वाला योग ही 'ज्ञानयोग' है कर्मात्मातुगत योग ही 'कर्मयोग' है एवं कर्मात्मातुगत योग ही भक्तियोग है। विद्यात्मातुगत ज्ञान-कर्म-क्रियात्मक विद्यात्मा ज्ञानज्ञान ही उस विद्यात्मा के ज्ञानयोग के साथ युक्त हो सकता है, यही इत्यत्र ज्ञानयोग है। कर्मज्ञान ही उसके कर्मयोग के साथ युक्त हो सकता है, यही इत्यत्र भक्तियोग है। एवं क्रियाज्ञान ही यह उसके कर्मयोग के साथ युक्त हो सकता है यही इत्यत्र कर्मयोग है। इन पाँच आध्यात्मिक विवक्तों के स्पष्टीकरण के लिए, एवं विद्यात्मातुगत योग-प्रती के स्पष्टीकरण के लिए क्रमशः 'आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्मपरीक्षा, कर्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा,' इन पाँच निबन्धों का पूर में विक्षेपण हुआ है।

- १—आत्मा—आत्मपरीक्षा
- २—ब्रह्मकर्मयोग दिव्यात्मा—ब्रह्मकर्मपरीक्षा
- ३—ज्ञानप्रधानो विद्यात्मा (ज्ञानात्मा)—ज्ञानयोगपरीक्षा
- ४—उभयप्रधानो विद्यात्मा (कर्मज्ञात्मा)—भक्तियोगपरीक्षा
- ५—क्रियाप्रधानो विद्यात्मा (कर्मज्ञात्मा)—कर्मयोगपरीक्षा

१२—नव (९) स्वपञ्चात्मिका गीताविज्ञानमाध्यमिन्द्र की मन्त्रमूर्ति—

कर्मरूपा, दोनों विषय अन्तरह्व आत्मा है । मक्तिपूर्वात्पुनः आत्मात्मा निगूट आत्मा है । इसी आचार पर आत्मा, ब्रह्मकर्म कर्मरूपा, ज्ञानरूपा, इन चारों की समष्टि का 'अन्तरह्वपरीक्षा' में अन्तर्मात्र मान लिया गया है । आत्मा, एवं निष्प्रमात्मा, इन दो निगूट विषयों से सम्बन्ध पारीक्षा 'तर्कान्तरह्वपरीक्षा' मान ली गई है । एवं इसी द्विकोष्य को आत्मन्य बना कर गीतारूपपरीक्षा प्रवृत्त हुई है । अन्तरह्वपरीक्षा-तर्क-
'आत्मपरीक्षा' का 'क' विभागस्य एक स्वतन्त्र खण्ड में निरूपण हुआ है । ब्रह्मकर्मपरीक्षा एवं कर्मयोग-
परीक्षा का अर्थात्मकभाग, दोनों का 'ख' विभागस्य एक स्वतन्त्र खण्ड में, शेष कर्मयोगपरीक्षा का 'ग' विभा-
गस्य एक स्वतन्त्र खण्ड में एवं अन्तरह्वपरीक्षात्मिक अन्तिम ज्ञानयोगपरीक्षा का 'घ' विभागस्य एक स्वतन्त्र
खण्ड में विक्षेपण हुआ है । इत्यन्तर अन्तरह्वपरीक्षात्मक सूत्रिका द्वितीयखण्ड से सम्बन्ध रखने वाली
आत्म-ब्रह्मकर्म-कर्मयोग-ज्ञानयोग-इन चार परीक्षाओं का क्रमः क-ख-ग-घ- इन चार अक्षरों
खण्डों में विक्षेपण हुआ है ।

आरंभविशेष से ज्ञानरूपा को अन्तरह्व आत्मा मान कर तदनुगता ज्ञानयोगपरीक्षा का अन्तरह्वपरीक्षा
में अन्तर्मात्र माना लिया गया है । एवं मध्यम खंडे वाली भी आत्मरूपा को आरंभविशेष से निगूट(तर्कान्तरह्व)
आत्मा मानते हुए तदनुगता मक्तियोगपरीक्षा का तर्कान्तरह्वपरीक्षा में अन्तर्मात्र माना गया है । इत मक्ति-
योगपरीक्षा के क-ख-ग-घ से अक्षरान्तर हो खण्ड हुए हैं । कर्मयोगविशेष अन्तरह्व कर्मरूपा ज्ञानयोगवि-
शेष अन्तरह्व ज्ञानरूपा मक्तियोगविशेष तर्कान्तरह्व नामरूपा, तीनों से अर्थात् तीनों में एकस्वरूप से
व्यक्त बुद्धियोगविशेष निगूट निष्प्रमात्मा ही अन्तिम व्यक्तिक आत्मत्व है । इसीका प्रस्तुत 'घ' विभाग-
स्य 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक तर्कान्तरह्वपरीक्षा के तृतीयखण्ड में विक्षेपण अर्थात् है । तर्कान्तरह्व में 'ब'
विभागस्य एक खण्ड में 'गीतासारपरीक्षा' का विक्षेपण हुआ है । इत्यन्तर निगूट आत्मपुनः ज्ञान-
त्यक्त विक्षेपण तर्कान्तरह्वपरीक्षात्मक सूत्रिका तृतीयखण्ड के भी द्वितीयखण्ड-मक्तिपरीक्षा पूर्वखण्ड
मक्तिपरीक्षा उत्तरखण्ड बुद्धियोगपरीक्षा गीतासारपरीक्षा से चार अक्षरान्तर खण्ड हो जाते हैं, किन्तु क-ख
ग-घ-स्य से विभक्त हुआ है । तन्मूल निखरब्रह्मिन्ना गीतापरीक्षात्मिक गीतासूत्रिका के २ खण्ड हो जाते
हैं जिनमें से ४ खण्ड गतार्थ हैं । १-२-३-तीन खण्ड अक्षरप्रतिष्ठ हैं । ८ वें खण्ड प्रकथित है । नवम
खण्ड प्रतीक बना हुआ है * ।

—द्वितीयपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड एवं अन्तरह्वपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड के आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म
परीक्षा—कर्मयोगपरीक्षा—नामक क-ख-ग-घ-ये तीन अक्षरान्तरखण्ड तन्मूल अक्षरानि ४ चार सूत्रिका खण्ड
प्रकथित हुए हैं । प्रस्तुत खण्ड से पूर्व अर्थात् अन्तरह्वपरीक्षा का 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक 'ब'-अक्षरस्य प्रथम
खण्ड, तथा तर्कान्तरह्वपरीक्षात्मक तृतीयखण्ड के मक्तिपरीक्षा पूर्वखण्ड (क), उत्तरखण्ड (ख), १-२-३-
खण्ड अक्षरप्रतिष्ठ हैं ।

नवखण्डगर्भिता-विखण्डात्मिका-गीतापरीचात्मिका-गीताभूमिका-

१	१-०-बहिरङ्गपरीक्षा	} -बहिरङ्गपरीक्षात्मक-प्रथमखण्ड (१)
२	१-(क)-आत्मपरीक्षा (आत्मानुगता)	
३	२-(ख)-ब्रह्मकर्मपरीक्षा (ब्रह्मकर्मानुगता)	} -अन्तरङ्गपरीक्षात्मक-द्वितीयखण्ड (२)
४	३-(ग)-कर्मयोगपरीक्षा (कर्ममात्मानुगता)	
५	४-(घ)-ज्ञानयोगपरीक्षा (ज्ञानानुगता)	
६	१-(क)-भक्तियोगपरीक्षा (पू०सं०) (कामात्मानुगता)	
७	२-(ख)-भक्तियोगपरीक्षा (उ०सं०) (कामात्मानुगता)	
८	३-(ग)-बुद्धियोगपरीक्षा (निष्कामानुगता)	
९	४-(घ)-गीतामारपरीक्षा (सपानुगता)	

१३-विद्या, मय योगानुगत गीताशास्त्रनिष्पत्त्य-

आत्मा के तिन पाँच विषयों का पूर्व में विवरण कराया गया है। मनुज एक क्षण दृष्टि से उन का पार विषयों पर ही अत्यन्त मानना न्याय्य होगा। पार भी नहीं, दो ही विषय, एक निगूट आत्मा, नूनत विद्यात्मा। निगूटमा विद्यात्मा आत्मा है विद्यात्मा विद्यात्मा है। विद्यात्मा विद्यात्मा ज्ञान क्रियात्मक है, विद्यात्मा निगूट आत्मा मय मय है। ब्रह्मकर्म मय निगूट आत्मा विद्यात्मा है ज्ञानक्रियात्मक विद्यात्मा लौकिक आत्मा है। विद्यात्मा विद्यात्मा है लौकिक आत्मा भगवत्क है। निगूटविद्या-आत्मविद्या गुणविद्या है, तन्मय विद्यात्मिक मय मय विद्यात्मा है। भगवत्क आत्मविद्या आत्मविद्या है तन्मय लौकिक योग नै आत्मविद्या है। आत्म आत्मविद्या एवं तन्मय आत्मविद्या, दोनों ही मूलप्रतिष्ठा गुणविद्यात्मा गुण आत्म-विद्या है। परी लौकिक है। आत्म आत्मविद्या एवं आत्मविद्या मायामय में विद्यत है। तीनों का आधार बना तथा अन्तर्विद्यमय अन्तर्विद्यात्मिक विद्यात्मा है। इन्द्रिय विद्यात्मा गुण अन्तर्विद्यात्मा, मय-आत्म आत्मविद्या-आत्मविद्या व पार लौकिक आत्मविद्या का आधार है एवं विद्यात्मा निगूट अन्तर्विद्यात्मा 'बुद्धियोग' लौकिक-ज्ञान ज्ञानयोग भक्तियोग, कर्मयोग व पार मय का मय है। 'मयविद्यात्मा' से परी बुद्धि का आत्मविद्या अन्तर्विद्या है। एवं मायामय मय मय बुद्धि मय अन्तर्विद्या है। परी तन्मय लौकिकविद्यात्मा है।

१४-निरूपणीय विषय की सन्दर्भसङ्गति—

प्रथमसंस्कार चर चर अनन्त आत्मा से उत्पन्न अनन्त योग (बुद्धियोग) लुप्त हुआ, तब तब ही इत पर प्रतिष्ठित रहने वाली योगश्री की शक्तता सम्पूर्ण से न्युत होती हुई अनिष्ट का कारण बनी। अनेक बार इत बुद्धि का लक्ष्यवेद्यों के द्वारा उन्वान हुआ बाल पा कर उन्वान विच्छिन्न हुआ। महाभारत युग में भगवान् कृष्णद्वारा इच्छा पुनरुत्थार हुआ। भागी बाकर साम्प्रदायिक युग के अनुभव से पुनः यह सिद्धान्त अस्तित्व हो गया। यही कारण है कि, उपलब्ध होने वाले कर्मात् फलमाप्ती, टीकाओं में ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग की ही आत्माभूमि उपलब्ध हो रही है। बुद्धियोगसमक एक बराबर से विच्छिन्न योगश्री का अस्तित्व निःशेष के स्थान में प्रकृत्य का कारण ही बनी हुई है। इस बुद्धियोग का पुनः एकत्रित रूप बन चुका है। बुद्धियोग-विज्ञानविद्या निदानश्री का अस्तित्व-सुख के स्थान में अस्तित्व-सुख की अस्तित्वविद्या बन रही है। और इसी आधार पर यह नित्यबोध का कारण है कि, कर्म मान-युग के ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग शास्त्रनिष्ठ बन एवं लोकनिष्ठ व्यावहारिक सांग तभी एकमात्र बुद्धियोगनिष्ठ से बहिरत रहते हुए प्रयास करने पर भी सुख अस्तित्व प्राप्त नहीं कर रहे, नहीं किना बुद्धियोग की आधार बनाए अस्तित्व-सुख सम्भव। टीना योग तभी अस्तित्व-सुख के प्रकृतिक बन लगे हैं बल्कि इन तीनों को बुद्धियोगसमक में परिणत कर दिया जान। बुद्धियोगसमक अन्तयोग बुद्धियोग बुद्धियोग, इन तीनों योगों का ही पूर्व में कर्मयोग अन्तयोगपरीक्षा, कर्मयोगपरीक्षा अन्तियोगपरीक्षा-करवाओं में किसे कहें हुआ है। अन्तियोगपरीक्षा में विश्व-गुरुत्मा के विश्व अन्त-कर्म फलों का विशेषण हुआ है। एवं अन्तियोगपरीक्षा में अन्तियोग से अन्तियोगपरीक्षा हुई है। अन्तियोगपरीक्षा-प्रकृतिक में गीता के अन्तियोगसमक उक्त 'बुद्धियोग' का ही स्वकर्म विशेषण किया जा रहा है जो कि वर्तमान भाग्य-टीका-द्विती से अन्तियोग अन्तियोग, प्राचीन व्याख्याकारों में से एकमात्र अन्तियोगपरीक्षा के द्वारा ही 'अन्तियोग' स्वकर्म से उन्तियोग है। यही अन्तियोग प्रकृतियोग सन्दर्भसङ्गति है, जिसे लक्ष्य बना कर ही निरूपणीय विषय का अन्तियोग करना चाहिए।

- | | | | | |
|----------------------------------------------|---|----------------------|---|--------------|
| १ आत्मा | } | -(आत्मपरीक्षा) | } | -चिरवशील (१) |
| २ अन्तियोगसमक विषयसमा | | | | |
| | | -(अन्तियोगपरीक्षा) | | |
| १-ज्ञानरत्ना—ज्ञानयोगविद्यया—ज्ञानयोगपरीक्षा | } | | | -चिरवशील (२) |
| २-अन्तियोग—अन्तियोगविद्यया—अन्तियोगपरीक्षा | | | | |
| ३-कर्मरत्ना—कर्मयोगविद्यया—कर्मयोगपरीक्षा | | | | |

इति-बुद्धियोगस्वरूपनिर्दिष्टनात्मके प्रथमप्रकरणे 'सन्दर्भसङ्गति' नामकः

प्रथमस्तम्भ—उपरत

श्री

‘बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन’ नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

‘सन्दर्भसङ्गति’ नामक

प्रथमस्तम्भ-उपात

(१)-१



५१

अथ बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मकं प्रथमप्रकरणो
'योगेश्वरस्य तात्त्विक-स्वरूपनिष्पत्तौ' नामक-।-

द्वितीयस्तम्भ

(१)-२

— ५ —

योगेश्वरस्य तात्त्विकस्वरूपनिरूपणम्

द्वितीयस्तम्भ



१—ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपदिग्दर्शन—

चित्त अलौकिक, अपूर्व पूर्ण, विलक्षण योग (बुद्धियोग) का विश्लेषण अभीष्ट है, प्रथम उस अपूर्ण योग के आधारभूत योगेश्वर का स्वरूप ही विनिश्चय है। योगतत्त्व की मूलप्रतिष्ठा आत्मविद्या मानी गई है, एवं इसी को 'ब्रह्मविद्या' कहा गया है। एक ही आत्मतत्त्व ब्रह्मविद्या, और योगमें से दो भागों में परिणत हो रहा है। ब्रह्मविद्यामुक्त, किंवा ब्रह्मविद्यात्मक नहीं आत्मा ब्रह्म है, इस ब्रह्म की स्वरूपस्थिति ही 'ब्राह्मी-स्थिति' है। योगानुगत, किंवा योगात्मक नहीं आत्मा योग है, इस योग की स्वरूपस्थिति ही 'योगस्थिति' है। योगस्थिति ब्राह्मीस्थिति पर प्रतिष्ठित है, ब्राह्मीस्थिति योगस्थिति के सद्योग में निश्चित है। ब्राह्मीस्थिति स्थितिलक्षणा है योगस्थिति गतिलक्षणा है। गतिलक्षणा वागस्थिति स्थितिलक्षणा ब्राह्मीस्थिति को आधार बना कर स्वकाम्य स्थितिमात्रादिभेद बन जाती है। ऐसे आध्यात्मियद्विभक्त योग के लिए ही 'ता योगमिति-मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारयाम्' (कठोपनिषद् १।११।) यह कहा गया है। ठीक इसके विपरीत ब्राह्मीस्थिति-रूप स्थितितत्त्व से बहिष्ठा गतिरूपा योगस्थिति मूललक्षणा स्तानुगत गतिमात्र के कारण व्यामोह का कारण बन जाती है। लक्षणाया में ही सम्बन्ध कीविए कि, ब्राह्मीस्थिति ब्रह्म है, योगस्थिति कर्म है। यदि कर्म प्रथम को आधार बना कर किया जाता है, तो अक्षय ब्रह्म के आधार बन जाने से कर्म बन्धित संस्काररूप का आत्मा के सम्बन्ध नहीं होने पाया। आत्मा अपनी स्वामादिक ब्राह्मीस्थिति में बना रहता है *। यदि ब्रह्मधार का पक्षिवाग कर दिया जाता है तो स्वरूपा संवृत्तिधर्मा कर्म संस्काररूप-बन्धन का प्रवर्धक बनता हुआ आत्मा के स्वामादिक निश्चय का आधार बन दुःखमहति का कारण प्रमादित हो जाता है। निष्कृत ता नामस्थिति में सम्बन्ध परिष्ठान ही व्यामोहमहति का अन्ततम कारण है, वैनाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ (गीता१।७।) ।

२—ब्राह्मीस्थितिमूलक योगेश्वर—

एक श्लोक से पहिले अनेक श्लोकों में 'स्थितप्रज्ञता का विश्लेषण हुआ है। स्थितप्रज्ञता ही ब्राह्मी-स्थिति है। प्रज्ञान मन का प्रकाश भाग आत्ममय वैयक्तिक संस्कारों से उन्नी प्रकाश आन्वेषित हो पड़ता है जो

*—ब्रह्मएषापापय कर्मास्थि सङ्ग त्यक्त्वा करोति यः ।

क्षिप्यते न स पापन पद्मपत्रमिवाम्मसा ॥ (गी०४।१०।) ।

कि एक लोचर पापाश्रमणेय से। अथवा यों समझिय कि प्रमे समुद्रप्रवाह में शान्त-धीरगति से प्रवाहित एक नौका मन्मन्त्राद्य के प्रत्यापात से डगमगा जाती है अपनी स्वाभाविक गतिकर शिथिल छोड़ बैठती है एवमेव शारीरिक कामनामय समुद्र में योगबोध-निर्वाह के शिथिल शान्त-धीरगति से प्रवाहित नौकास्वामी प्रहानमन रागद्वेष-हो पाठकिक मन्मन्त्राद्य के प्रत्यापात से डगमगा जाता है +। सर्वप्रकार की दृष्टि में लौकिक विषय कल्पन के कारण हैं। परन्तु तत्काल कोरों में विषय कल्पन का कारण नहीं है। देहधारी की सदा विषयमहय पर ही सब निर्भर है तो वह इनका आत्मभक्त परिवर्तन कर भी कैसे सकता है। प्राकृतिक-वेदिकवेद वेदों का निरोध सर्वथा असम्भव है *। कल्पन का कारण है रागद्वेषादिनां यथा शिथिल कामलिपटा आदिक। इन्द्रियों को अपना काम करने दीक्षिय, अज्ञान के घास मन का योग बनाए रखिय, कोई हानि नहीं है। वही तो मरण की प्राप्ति का असह्यत उपाय है x। रागद्वेषानुप्राणा आदिक से मन कामधारी बनवा हुआ आत्मबोधलाक्षा आशीरिपति से शक्ति रहता हुआ अशान्त बन जाता है। अशान्त मन स्वोपरि प्रतिष्ठित बुद्धि को अशान्त कर देता है। अशुभ मनोऽनुप्राणा ऐसी अश्विर बुद्धि स्थितिपक्ष स्व स्वकम को ही लो बैठती है। लक्ष्मीवेदकामना लुप्त हो जाती है, कि कर्षण कि न कर्षण-लाक्षा अशान्ति उद्वृत्त हो जाती है अशान्तक शान्तिमूलक आत्मिक आत्मदुल पलायित हो जाता है -। ठीक इसके विपरित रागद्वेषविनिवृत्तक शिथिलगमन करवा हुआ भी मन आर्ष्यमाया आत्मपरा की अक्षतप्रतिष्ठा-सहवा आशीरिपति में प्रतिष्ठित रहता हुआ शान्त बुद्धि पर बना रहता है। "उत्के शान्त रहने से बुद्धि शान्त रहती है बुद्धि के स्वाभाविक स्वभावपक्ष आत्मबोध का विकास रहता है। आत्मविराटकर आत्मप्रदा मे युक्त पला मन और ऐसी बुद्धि दोनों प्रसन्नयुक्त से युक्त बन रहते हैं ‡। वही आशीरिपति है। प्रहानमन की प्रसा

+ इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नारिभिवाम्मसि ॥ (गी २।६०)।

*-न हि क्वचित् क्षणमपि ब्रह्म तिष्ठत्यकर्मकृत्।

क्षायति श्वश कर्म सधः प्रकृतित्रैगुणै ॥ (गी ३।४)।

x-रागद्वेषद्विभुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

आत्मवश्यविधिं यथात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गी २।६।२)।

—नास्ति बुद्धिरशुक्तस्य न चापुक्तस्य भावना।

न धामावयतः शान्तिरशान्तस्य हृत् सुखम् ॥ (गी २।६।६)।

‡-प्रसादे सर्वदुखानां हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नपतसो वायु बुद्धिं पर्यवतिष्ठते ॥ (गी २।६३)। (१)

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निम्ममो निरर्हश्चरः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (गी०२।७१)। (२)

आर्ष्यमाद्यमचलप्रतिष्ठं समुद्रमायं प्रविशन्ति यद्वा।

सद्ब्रह्म यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ (गी०२।७०)। (३)

का स्थिर ही जाना ही ब्राह्मीस्थिति है, जिसे गीता में 'स्थिरप्रकृता' नाम से भी व्यवहृत किया गया है। यह स्थिर-प्रकृता जैसे प्राप्त हो, परन्तु का तात्त्विकों ने मित्र मित्र समाधान किये हैं। सभी समाधान स्थितिवेद से संभाव्य हैं। प्रकृत में इस प्रश्न के समाधान के सम्बन्ध में हम अपनी ओर से 'ब्राह्मीस्थिति' का स्वरूप विभेद पण ही अधिक समीचीन समझ रहे हैं। ब्रह्म की तात्त्विक स्थिति (अवस्थान, ध्यानि) ही ब्राह्मीस्थिति है। निःसंशय है कि, तत्त्वज्ञान के अभाव से, ब्रह्म के दार्शनिक स्वरूपज्ञानाभाव से ही अज्ञ में अज्ञ का, एवं ज्ञ में अज्ञ का भ्रमोद्भव हो जाता है। एक तत्त्ववादी विवेक ज्ञ मान कर अज्ञ का कारण कह रहा है, अतत्त्ववादी लौकिक मनुष्य की दृष्टि में वही अज्ञ का कारण हुआ है। विवेक इतने ज्ञ मान लिया है, तत्त्व-वादी की दृष्टि में वही अज्ञ है एवं यह अज्ञप्रवृत्ति ही उसकी दुःखप्रवृत्ति का मूलकारण बन रही है। विवेक ज्ञान ही त्रिपस्तुता का निर्वाहक है। अतद्विवेक ही विवेकज्ञान है, विवेकज्ञान ही ब्राह्मीस्थिति का स्वस्मर्याक है। अतएव कहा जा सकता है कि ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपज्ञान ही शान्ति की अन्वय प्रविष्टा है। ब्राह्मी-स्थिति का अर्थ है ब्रह्म की साक्ष में स्थिति। ब्रह्म विद्य रूप से विश्व में स्थित हो रहा है, ब्रह्म की वह विद्य-स्थिति ही ब्राह्मीस्थिति है। इस स्थिति का परिज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान ही निःसंशय का कारण है— 'तत्त्वज्ञानाभिः श्रेयसाधिगम' (न्या०-५०)। तत्त्वज्ञानाभिः ब्राह्मीस्थिति ही ब्रह्म का साक्षात्क (तात्त्विक) स्वरूप है। पलात ब्राह्मीस्थिति का स्वरूप— विवेकपण ही ब्रह्म का स्वरूपविवेकपण है। योगाधिष्ठाता वह ब्रह्म ही योगेश्वर है। योगेश्वर की ब्राह्मीस्थिति का विवेकपण ही योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का विवेकपण है। वही की ओर विद्य पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

३—'योगेश्वर' का 'योग', और 'ईश्वर'—

'योगेश्वर' शब्द में 'योग'—'ईश्वर' इन दो शब्दों का सम्मेलन है। दोनों में से 'योग' स्वरूप अगले स्तर के लिए छोड़ा जाता है एवं योग के 'ईश्वर' (अधिष्ठाता) रूप 'ईश्वर' शब्द की सीमांत आत्म्य की जाती है। 'ईश्वर' शब्द पौराणिक है यथाकथञ्चित् दर्शनशास्त्र के रूप में संघटित, परन्तु सर्वथाधारण को 'ईश्वर' शब्द से बिल अगदीश्वर-अग्निवन्ता का बोध होता है, उस अर्थ में ईश्वर शब्द वेदशास्त्र में अप्रयुक्त है। आद्यवाक्यों में अनेक स्थलों में ईश्वर शब्द प्रयुक्त अस्मय हुआ है, परन्तु अनेक विद्वेश्वर की भी अभिप्रेत नहीं है अस्मिन्-सर्वत्र ईश्वर शब्द से—'अर्थ' अर्थ का ही प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में इस निकृता के लिए 'ईश'—'ईशिता'—'सर्व'—'परात्पर'—'आदि' शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। विचार हमें गीता के बुद्धिबोग का करना है, अतः अन्य प्रपञ्चों में न पड़ कर हमें गीतादृष्टि से ही 'ईश्वर' शब्द का समन्वय करना है। गीता किसे ईश्वर कहती है? उत्तर में गीता के ही निम्न लिखित शिष्टान्त पर दृष्टि डालिए—

द्राविमो पुल्लौ लोके धरमाधर एव च ।

धरः सर्वाधि भूतानि कृत्स्नोऽधर उच्यते ॥१॥

*—'गृहा वै दुर्गा । ते हेत ईश्वरो गृहा यजमानस्य, यो ऽप्येवोऽप्यप्युर्ध्वेन वरति।
तं प्रयन्तमनु प्रभ्योतोस्तम्येश्वरं क्लृप्तं विदोऽधो' । (शत०-अ०-१।१।२।२१) ।

उत्तमं पुरुषस्त्वन्यं परमात्मेत्युदाहृतं ।

यो लोकाग्रयमाविश्य विमत्यभ्यय ईरवरः ॥२॥ (गीता२.२।१६ १०।)

अज्ञानमें यही है कि—'इत शोक में बर, अचर नाम के ये दो पुरुष हैं। सपूर्ण भूत बर है, कृत्स्न अचर कहा जाता है। उत्तम पुरुष तो (इन दोनों में) अन्य है जो 'परमात्मा' इत नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं जो अभ्यय-ईरर तीनों शोकी में प्रविष्ट होकर लज का कारण-योरण करता है'। जिन गीताग्रयमियों में गीताभूमिका के प्रबन्धनों का अन्वेषण किया होगा, उनके लिए ये तीनों पुरुष सर्वथा परिचित होंगे। परन्तु व्यावहारिक बालों की प्रवृत्तियों के कारण किन्हीं पर्यायत्त रूप में न मिला होगा, उनके लिए दो शब्दों में इत पुरुष-प्रतीक के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करना अनुचित न होगा। साथ ही इतिवृत्त-मैत्र के प्रवृत्त स्वरूप में प्रतिपादित त्रिपुरव्यतिरिक्त पूर्ववत् मस्तुमावों के लिए भी अनुच्छेद ही प्रमाणित होगा।

४-अभिध्यातिसलक्षण व्यक्तित्व, एवं विश्वस्वरूपदिग्दर्शन—

पक्ष, अचल-माहात्म्यक बरपर पञ्चमैशिक विरव में व्यतिष्ठत्वात् त्रित्तं भी पदार्थ हमें प्रतीत हो रहा है। ये लज 'व्यक्ति' नाम से प्रसिद्ध हैं। अलु से आरम्भ कर महान् पर्यन्त विरव भी पदार्थ हैं, य लज पृथक् पृथक् आत्मलया रखते हुए ही अभिध्यात हो रहे हैं। इसी आचार पर व्यक्ति का 'व्यक्तित्व' गुणगणना पर लक्षण किया गया है। यह पृथक्पृथक् ही लज-मैशिक पदार्थों की अभिध्यात का कारण है। पदार्थमा पदार्थान्तरं पदार्थ पदार्थान्तरं है। बटला मनःप्राणबाह्यमयी है। बटल्य भटनाम भटन्म, तीनों की लयति ही बट का पदार्थ है। नामरूप-व्यक्तिगत बट का आत्मा मनःप्राण बाह्यमयी है। बटना के मन पर्व से बटल्य का प्राणपर्व से पदार्थान्तरं का, बाह्यपर्व से भटनाम का विच्छेद हुआ है। मनःप्राणबाह्यमय लज इसी बट का अमृतमयी है। नामरूप-व्यक्तिगत इसी बट का मर्त्यमयी है। 'व्योमशित' इत वाक्य में 'वटः-अभित' ये दो पर्व हैं। 'वटः बट नामरूपव्यक्तिगत मर्त्य पर्व है परिचित नया है। 'अभित' यह मनःप्राणबाह्यमय अमृत पर्व है अपरिवर्तनीय है। चैतकि आगे लज होने वाला है। लजप्राणक अभित लज ही 'लज' है। बट नामरूपव्यक्तिगत पदार्थों से पृथक्-पृथक् पदार्थों से लज होकर पृथक्-पृथक् अभिध्यातियों की मूलप्रतीका बन रही हैं। लोकाधिक लजका मनःप्राणबाह्यमय लज ही नामरूपव्यक्तिगत व्यक्तिकी प्रवृत्तलया है। तभी लज उत लयति की अतिव्यतिरेक अभिध्यातित्व हे भान है लज ही अभिध्यात है। अचरव कहा का लजका है कि नामरूपव्यक्तिगत मैशिक पदार्थों की जो अभिध्यातित्व हे बट लजका लजाकार, लजलमय, व्यतिष्ठत्वात् आत्मलया की ही अभिध्यातित्व है। आत्ममयिध्यातित्व ही पदार्थ-मिध्यातित्व है। पदार्थों की अभिध्यातित्व ही लजका व्यक्तित्व है। इत्यन्तर एक एक व्यक्तित्व लजों की पृथक्-पृथक् अभिध्यातित्व है। 'अभित' लज अभिध्यातित्व के गर्भ में नामरूपव्यक्ति की भी अभिध्यातित्व है, मनःप्राणबाह्यमय अतिव्यतिरेक की भी अभिध्यातित्व है। दोनों अभिध्यातित्वों के लयतिरिक्तमय का ही नाम 'व्यक्तिरव' है यही व्यक्तिगत विरव का लयति पर्व व्यक्तिकय से लक्षित स्वरूपविश्लेषण है।

५-माधनिकाशास्त्र का 'अचरशाब्दात्'—

'अभित' लजका व्यक्तिगत विरव अचरव ही क्यु बल है क्योंकि-पदार्थान्तरं-लजत् कर्तृबन्धनम्' श्याव अचरवरीत श्याव है। बट-ल-मयि चैते अलमयि-अचरों के लिये अनुपपन्न है, एकमेव लयति,

कन्द्र, ग्रह, श्रौचि, वनस्वति, आदि प्राकृतिक शक्ति मी अवरय ही किरी न किरी कारण की अपेक्षा स्त रहे हैं। इन प्राकृतिक शक्तियों का कारण कौन है, प्रश्न के उत्तर में प्राधानिक विद्वानों में 'कारण' शब्द ही हमारे ध्मुख उपायत किया है। 'कार्यत अनेन' निर्बचनातुकार शक्ति का पूर्ववर्ती स्त ही 'कारण' कहाला है। यही कारण शक्तिमक शक्ति का कारण है। कारण नामक यही कारण प्राधानिक परिमाणा में— 'कुने-शक्तिमय प्र-प्रथमाभत्वा निर्बचन से 'प्रकृति' कहाला है। कि प्रकृतिरूप कारण का-प्रकृति-कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपक्षारावन्मिलेपः, किन्तु वेतना' इन शब्दों में शिरोपण हुआ है। 'अभ्युपासिद्धि शूम्भत्से सति नियतपूर्ववर्तिरूपम्' ही कारणत्व है, यही प्रकृतिरूप है एवं यही दार्शनिक कारणतावाद की विमामभूमि है जिसे मान कर ही वैज्ञानिक उन्मुक्त नहीं हो जाते। प्रकृति के कारणतावाद को अस्तुत्य काय रखते हुए मी इस सम्बन्ध में हमें उक्त वैज्ञानिक कारणतावाद का विश्लेषण करना पड़गा किन्तु के परिचय के बिना न तो शक्तिमय शक्ति का ही सम्भव सम्भव, एवं न शक्तिमयिधि की आभास्यता निरूपणीय माधीरियति का ही सम्भव सम्भव।

६-विश्वकारणप्रयी का स्वरूपदिग्दर्शन—

वच मान युग के अनन्व सर्वश्रेष्ठ वैदिकविद्वानाविष्कारक विद्वान् गीतावत्स के पुनश्कारक मातः स्मरणीय मी भी गुरुवर का कारणतावाद के सम्बन्ध में जो तात्विक विश्लेषण हुआ उनके सम्बन्ध में किना माधीरियतिरूपण योग्यरूप के तात्विक स्वरूप का स्वीकरण सम्भव है अतः उनी का उपाय से दिग् दर्शन करया जा रहा है। उक्त विद्वानाशक्ति का इस सम्बन्ध में यह निर्णय हुआ है कि, शक्तिमय रहने वाली प्रत्येक शक्ति के 'निष्कल, पोडरी, प्रतिमायाइरी' से तीन बातें आरम्भ (उत्पत्ति) बनत हैं। इन्हीं तीनों में शक्ति का उद्भव (उत्पत्ति) होता है इन्हीं तीनों पर वस्तु प्रविष्टि (स्थिति) रहती है एवं इन्हीं तीनों में शक्ति विनीत (सब) हो जाती है। निष्कल पोडरी, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला प्रतिमायोइरी शक्ति का उद्भव बनता है उनी का दार्शनिक भाषा में समवाधिअरण (उत्पत्तिअरण) कहा जातकता है। निष्कल और प्रतिमायाइरी दोनों को स्वर्ग में प्रविष्टित रखन वाला पोडरीरूप शक्ति का प्रविष्टिपक बनता है उनी को दर्शनमाप में 'निमित्तकारण' कहा जा सकता है। पोडरी, और प्रतिमायोइरी, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला निष्कलरूप शक्ति का लक्ष्य बनता है इन्हीं का दर्शनमाप में 'असमवाधिअरण' कहा जा सकता है। असमवाधिअरण निष्कल है, निमित्तकारण पोडरी है, समवाधिअरण प्रतिमायोइरी है। और इस दृष्टि से दार्शनिक कारणतावाद का मी इस वैज्ञानिक कारणतावाद के साथ निर्विरोध सम्बन्धन हो जाता है। असमवाधिअरणरूप निष्कल एवं आत्मन् (आत्मरूप आचार) है इसे ही 'किं स्वशासीवधिष्ठानम् (अच्छं १ अ०२।२।) के अलावरु 'अधिष्ठान' कहा गया है। निमित्तकारणरूप पोडरीरूप कर्ता है। एवं समवाधिअरणरूप प्रतिमायोइरीरूप कारण (उत्पत्ति) है, यही विज्ञानभाषा में—'आरम्भणं कृतमात्मन्वितं' के अलावरु 'आत्मन्वण' नाम से संबद्ध हुआ है। आत्मन् कर्ता, कारण तीनों शक्तियों ही शक्तिमय शक्ति के प्रति कारण माना गया है। इसी आचार पर—'कारणसमुहायस्य शक्ति प्रति कारणत्वं न तु कारणस्य वह शक्ति स्ववर्धित हुआ है। उक्ति कर्म के लिए अवरय ही तीनों कारण अपेक्षित हैं। पदनिष्ठाप्रक्रिया की शक्ति न कि आत्मन्रूप का उत्पत्तिरूप आर्त मूखम विरह स्वयं प्रजापति (कुम्भकर) तीनों के सम्बन्ध में परमार्थ का स्वरूप सम्भव होता है। निष्कल का आचार, निष्कलता, निष्कलता प्रत्येक शक्ति में तीन शक्ति आचरक

है। तीनों कर्तव्य विधानमूल हैं, अतएव तीनों को ही तीनों कारणताओं से युक्त माना जा सकता है। इसी आधार पर हमें पूर्व में तीनों को व्यक्ति का आरम्भ (उत्पादक) कह दिया है। आत्मस्वरूप निष्कल कारण के गर्भ में आरम्भरूप प्रतिमागोचरी, निमित्तरूप बोधही होती है। अतएव निष्कल को भी आरम्भ, निमित्त कहा जा सकता है, परन्तु प्रधानरूप निष्कलता का आत्मस्वरूप ही माना जाएगा। एवमेव बोधही के गर्भ में भी दोनों हैं इत्यत्र वह निमित्त के साथ साथ आत्मस्वरूप, आरम्भक भी कहा जा सकेगा परन्तु प्रधानरूप से इसे निमित्त ही माना जाएगा। एवमेव प्रतिमागोचरी के गर्भ में भी दोनों युक्त हैं। अतएव यह भी यद्यपि निमित्त आत्मस्वरूप माना जा सकेगा तथापि मुख्यता होने आरम्भक ही कहा जाएगा। अन्तर्गम्य करने का यही है कि, व्यक्तिरूप कार्य के प्रति निष्कल पाचरी प्रतिमागोचरी, तीनों को कारणता है। इसी तीनों की कारणता का क्रम दिग्दर्शन कथना का रहा है।

७-सहजस्य स उपलब्ध सचिदानन्दब्रह्म—

'कृती वेदान्तिना सर्वे आभासक को अतिशय करने वाले वर्तमान युग के वेदान्तग्रन्थ 'सच अस्वित् ब्रह्म' का उत्प्रेरक करते हुए अपने आत्म-ब्रह्मस्वरूपता मानने का अविमान कर रहे हैं। विद्वानुक्त के प्रश्न करने पर निष्कर्षण। उस व्यापक ब्रह्म का स्वरूप है ? उत्तर निम्न है 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। तत्सर्व-जगद्ब्रह्म है वह ब्रह्म व्यापक है, नित्य है, अविज्ञानन्दस्वरूप है। यह स-वि-ज्ञान-आत्म-ब्रह्म है ? वह इस प्रश्न पर वेदान्ती की प्रश्न प्रथिमा कहाँ और क्यों प्रजापित्त हो जाती है ? प्रश्न का समाधान वे वेदान्ती ही कर सकेंगे। किन्तु भौतिक-द्वन्द्व-अनुभूत विद्वत् के आधार पर ब्रह्म का शेष प्रमाण से सम्भव है वह तो वेदान्ती के द्वारा अस्वित्-विशेष-आभासय पीठित कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि अविज्ञानन्दस्वरूप का विज्ञान इस शब्द का क्षेत्र भी तत्पार्थम्य एवम् कर अन्वयार से दृष्टता का अपनी प्रथा का दुरूपयोग कथ्य हुआए ता सम्भव बना रह जाता है। अन्त में वह यह कर कि, यह सर्वथा अविद्वत् है अविज्ञानी है प्रवेष्ट है, अविज्ञान है वह अस्वित्-रूप बना रह जाता है। क्या यही वेदान्तनिष्ठा 'विज्ञाननिष्ठा' है ? क्या इसी अस्तित्व निष्ठा के रूप पर सुख-शान्ति निर्भर है ? नेति होताए। अविज्ञाननिष्ठा विज्ञाननिष्ठा के विद्वत् अविज्ञानन्द को बहाँ ऐसा दुरूपमय बना दिया है यहाँ एक वैज्ञानिक तत्त्व सम्बन्ध का अस्वित्-कारण कथा हुआ प्रत्यक्ष रूप अस्वित् ब्रह्म के दर्शन कर रहा है और अस्वित्-विज्ञान को भी दर्शन कर सकता है। अविज्ञानन्द की प्रत्यक्षता के लिए न तो दुरूप अविज्ञाननिष्ठा के आभास ही अपेक्षा है एवं न अस्वित्-विज्ञान में प्रतिष्ठित अस्वित्-विज्ञान मात्र ही इस शेष के अस्वित्-विज्ञानी है अस्तित्व आकाश-ब्रह्म-निष्ठा आभास-विज्ञान तत्त्व के लिए वह 'अस्वित्' सम्बन्ध से अस्वित्-प्रत्यक्ष का नियम का रहा है। केवल योजे इति के आकर्षण में विद्यमान है। इतिशेष के कारण हम उसे अस्वित् रूप ही नहीं देख रहे—परस्परवि न परस्परि। नामस्वरूप-स्वित्तित्त ने हमारा अस्वित्-उत्तर अस्वित् से परार्थित कर सकता है। उक्त परार्थित इतिशेष को पुनःपरार्थित करने मात्र से ही अस्वित्-प्रत्यक्ष अस्वित् अस्वित्-ब्रह्म ही नामस्वरूप-स्वित्तित्त मौलिक प्रत्यक्ष में अस्वित्-प्रतिष्ठित हो जाता है।

८-अविज्ञानन्दब्रह्म का सर्वास्तित्व 'सत्' पद—

'अविज्ञानन्द' शब्द के 'सत्' अस्वित्-ब्रह्म' के तीन पदों का के लिए विद्यमान है। तीनों में से अस्वित् 'सत्' पद को ही अस्वित्-कारण। एक उत्प्रेरक ही अस्वित्-निष्ठा अस्वित्-स्वित्तित्त से निष्ठा होकर प्रथिमा-

पात्य के माध्यम से परमोपास्य की उपासना आरम्भ करता है। संस्कारी बालक भी कुतूहलवश उपासक पिता के समीप एक क्षीर बैठ जाता है। ममकप्रतिमा रूप प्रथमोपास्य पर होने वाले पिता के प्रतिमास्तान गन्धानुसोक्त पुण्यधारण, धूप, दीप, नैवेद्य, आदि उपासनेरवार्थों को बालक देखता जाता है और मध्य मध्य में प्ररन करता जाता है—पिताजी! यह क्या है?, यह क्या है?। पिता उत्तर देते जाते हैं—धोम्य! ये मगवान् हैं अथ इनका पूजन होगा। ये पुण्य हैं, यह नैवेद्य है। बालक इन उत्तरों से रुद्र होना जाता है। इस रुद्रादि का कारण है एकमात्र नामरूपकर्मानुगत 'अस्तित्व' तत्त्व। 'मगवान् हैं—पुण्य हैं—नैवेद्य है इन यान्त्यों में प्रतिमा रूप भगवान्, पुण्य, नैवेद्य, यह माध्यम नामरूपकर्मानुगत है एवं सबके छाप सम्बन्ध है' तत्त्व ही अस्तित्व है। नामरूपकर्मानुगत अस्तित्व के ही नाम 'मगवान् हैं—पुण्य हैं—नैवेद्य है' ये वाक्य हैं। सर्वथा अनोप मी बालक इसरूप से अस्तित्व का परिचय प्राप्त कर रहा है। यह 'अस्तित्व' ही तत्त्व है तत्त्व ही सत्ता है यही प्रतिज्ञातत्त्व है जिसके वाकिकों में 'सत्ता सृष्टि विभूति' ये तीन पर्व माने हैं। तीनों एक ही सत्तातत्त्व के अन्तर्गत तीन विवचन हैं। अतः तीनों का एक 'सत्ता' रूप से ही, 'अस्तित्व' रूप से ही संग्रह कर लिया जाता है।

६—सत्ता, सृष्टि, विभूति, नामक सत्ताप्रकाश के तीन विवचन—

आत्मप्रतिष्ठा सत्ता है, स्वप्रतिष्ठा सृष्टि है एवं परप्रतिष्ठा विभूति है। पार्ष्णिप्रकाश भूषण पर प्रतिष्ठित है। भूषणिका को छोड़ कर अस्तमादि प्राणी अन्तरिक्ष में निरुक्तमन्त्र नहीं उठर सकते। पृथिवी की प्रतिष्ठा ने ही पार्ष्णि प्रकाश का विपरण्य कर रक्ता है। पार्ष्णि प्राणियों ने प्रक्षिप्त पार्ष्णिप्रकाश देखा ही परसता (अन्व-भूषण्य से आगत-सत्ता) किंवा परप्रतिष्ठा है। यही विभूति नामक प्रतिष्ठातत्त्व है। 'गृहा ये प्रतिष्ठाः से यही विभूतिप्रतिष्ठा सृष्टि है। मन्त्रज्ञान कर्त्तों की, शरीर अलङ्कारों की, मन्वीपत्र मन्वीदम्ब (रयाही) की, मेघ पुस्तक की प्रतिष्ठा है। ये सब परप्रतिष्ठा के उदाहरण हैं। परप्रतिष्ठा के निष्कृत जाने से पतन का मय आकरन है, परन्तु बह्युत्तरूप का विनाश नहीं है। पार्ष्णि प्रकाश की अपनी मी एक स्वतन्त्र सत्ता है। जब तक यह स्वतन्त्र सत्ता है तभी तक इनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। इस सत्ता के निष्कृत जाने पर अस्तित्व के नाम—कम—कर्म का ही उन्मेष हो जाता है। यही स्वतन्त्रसत्ता अस्तित्व के जीवन की प्रतिष्ठा है। 'पुस्तक है, मनुष्य है यह है पर है इस रूप से दृग्गण्यसत्तारूपेण को अस्तित्व अन्वहार (सत्ताअन्वहार) होता है यही स्वतन्त्रास्तित्व स्वप्रतिष्ठा है। इसी के आभार पर कस्तुस्वरूप (नामरूपकर्मानुगत) सृष्टि है अथवा इसे 'सृष्टि' नाम से सम्बोधित किया गया है। परसत्ताशिका विभूति, स्वसत्ताशिका सृष्टि, दोनों अस्तित्वतत्त्व से सम्बन्ध रखती हुई लोपाशिका परिच्छिन्न है। परन्तु एक सत्ता ऐसी भी है जो सम्मानरूप से, एकरसरूप से मात-अभाव, सत्-असत्—मृत-अमृत—निश्कृत-अनिश्कृत रूप में व्याप्त रहती हुई सर्वाभार बनी हुई है। सर्व-व्यापक—आत्मा सत्तारूप से अन्तर्गत व्याप्त है। यही वाचनिकों का परमव्याप्तान्य है। यही आत्मप्रतिष्ठाशिका आत्मसत्ता है। इसकी उन्मेषात्मकता ही विवचन है, उन्मेषात्मकता ही महाप्रलय है। 'मूर्च्छा पर पुरुष प्रतिष्ठित है' इस वाक्य में परप्रतिष्ठा और स्वप्रतिष्ठा दोनों का अन्वय है। भूषण्यप्रतिष्ठा परप्रतिष्ठा है स्वयं पुरुष स्वप्रतिष्ठात्मक है यही मातप्रतिष्ठा है। पुरुष नहीं रहा। अथवा पुरुषात्मिकात्मकता परप्रतिष्ठा मी नहीं रही, स्वप्रतिष्ठा मी नहीं रही। परन्तु व्यापक आत्मप्रतिष्ठा अथ भी विद्यमान है किन्तु अस्तित्वतत्त्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। अथवा 'पुरुष है' इस वाक्यत्मक अन्वहार की गति—'पुरुष नहीं है' इस अभाववाक्य

स्वप्नधार में भी अस्तित्व प्रतिष्ठित है। प्रथमिन्द्र स्वप्नया च मे ही है। परन्तु व्यापक आत्मकतया का अत्रि रूप से महात्मक पर पर अनुग्रह या नदी रूप से अमावास्याक पर पर भी अनुग्रह हो रहा है। 'बदोऽस्ति मे वीरे' अस्ति है तथैव 'भ्यो नास्ति' में भी अस्तित्व अनुग्रह है। बदोऽस्ति में बनी उता परमाव की अनुग्राहिण्य है। 'भ्यो नास्ति' में बनी पराग्रह की अनुग्राहिण्य है। जैसे सामान्यता अस्तित्व में है, नास्तित्व में भी वह अनुग्रह है। एक स्थान पर 'हूँ' ने पद को पकड़ रक्खा है, अतएव 'पद् हूँ' पर व्यवहार होता है। एक स्थान पर 'हूँ' ने नहीं को पकड़ रक्खा है अतएव 'नहीं-हूँ' व्यवहार होता है। आद्यमया मझे ही कहते हैं अस्तित्व नहीं कहता। नाम-रूप अमम कहते हैं व्यापक उता नहीं कहती। ममत्व विरुद्धपक्ष में एक भी उदाहरण ऐक्य उपस्थित नहीं किया जा सकता वहाँ एक सामान्य-लतात्मिका आत्मप्रतिष्ठा का सम्बन्ध न हो; यामाम्बन्धनात्म मे यह अत्र तत्त्व नर्कमयारु बन रहा है किन्तु अनुग्रह में ही स्पष्ट होने वाला है। बलव्य यही है कि आत्मकता स्वतन्त्रा परता मे' से नतातत्व तीन मयों में परिकृत हो रहा है। तीनों में आत्मकता निरुपनिक्त व्यापक गतातत्व है। पर-स्वल्प दार्ढ्य विरार लोपाधिक स्थान्य लतातत्व है। उपाधिकरूप को पूषक करके अब आन न इनो पर इति नर्मिमे तो केवल निरुपनिक्त न्या ही शेष रह जायगी।

१०-ज्ञानपूर्विकामया-ममक दृष्टिस्थान

उपाधिक उता के ही लोपाधिकरूप स्वल्प मम मयों का रूपक भी शेष हो रहा है। उपाधि के माय ही यही, अस्ति त्वं का प्रथम अस्तित्वेन अनुग्रह है। यही 'नू' रूप प्रथम पूर्व के लक्ष्य-रथान है। "यद् नूयं है क्व पूर्विकी है वर अत्रा है पर प्राची है" इत्यस्मि है लक्ष्य को अस्ति का मम हो रहा है। क्या कोई वह कल्प है कि 'अस्ति का मुक्त-बोध नहीं। यदि बोध है तो वह कल्प है कि, 'अस्ति-ममत्व अत्र का 'नू' पूर्विकी के लिए भी पदोक्त नहीं है। यी अदिए कि, एक लक्ष्यमाय अत्र के स्वरूपबोध से अपने आपका अर्थ पूषक नहीं कर लता। अब शेष रहे-नित्य और अममक दो विना।

विना प्रथम 'नू' से अस्तित्वलक्षणा 'लता' अस्तिमेत है परमेव 'वि' से वेदनालक्ष्य 'ज्ञान' अस्तिमेत है। ज्ञान ही अतना है। अस्तित्व का ज्ञान ही वेदना है। केवल अस्ति त्वं एक अस्तित्वरूप मे उन्मुक्त है अब तक कि उन्मुक्त हयें ज्ञान न हो बाव। ज्ञान से ही अस्ति का अस्तित्व प्रथमिन्द्र होता है। वैशानिक पक्ष में यह प्रथम भी ब्रह्म महत्त्व लता है कि-अस्ति अतो ज्ञापते किंवा ज्ञायते, अत-अस्ति?। अतु है इत्यस्मि एम उते जानते है अथवा जानते है इत्यस्मि कतु है!। तत्पर्यं प्रथम का यही है कि 'लतापूर्वकं ज्ञानम आदेरित्य-ज्ञानपूर्विका लता'। परन्तु अस्मि एम वि, अब तक पुरोऽनुरिपत नामरूप अममत्वक पदार्थ के अस्तित्व का हयें ज्ञानममक मान (अवयव-उपनिधि) नहीं हो बाव, दूसरे शब्दों में वह अस्तित्वान लार्थ अब तक हमारे अन्तमब्रह्म में प्रविष्ट नहीं हो बाव तब तक 'अमुक्त-पदार्थोऽस्ति व इत्यु हमारे मुख से नहीं निकलते। अन्तमधर में अथवा तो विनि क अथवा के उत अोर मझे ही पर-पदाधि पदार्थ विद्यमान रहे, परन्तु अब तक प्रथम के द्वारा अथवा ता निविआवरण-निपकरण द्वारा व विद्यमान पदार्थ हमारे हयें में नहीं आ बाते तबतक एम उन पदार्थों के लक्ष्य मे अस्ति-बदोऽस्ति-पदोऽस्ति इत्यादि बान्धी का प्रयोग नहीं कर लते। एम उन पदार्थों को जान कर ही अस्तित्वप

मे उनका अभिनय करते हैं। "स दृष्टिकोण के आधार पर कहा जा सकता है कि 'ज्ञानपूर्विकात्ता' ही सिद्धान्त है। 'ज्ञानते-अत-अस्ति, न ज्ञायते-अतो नास्ति' ही उत्पत्ति प्रतीत हो रही है।

११-सत्तापूर्वकज्ञानात्मक दृष्टिकोण —

क्या उक्त प्रतीति का समर्थन किया जा सकेगा?, क्या हमारे (जीवात्मा) ज्ञान के आधार पर ही वस्तुओं की सत्ता प्रतिष्ठित है? अनुभव कहा है—पेना तो नहीं है। 'न ज्ञायते, अतो नास्ति' कहना तो चाह है। वह कि, ईश्वरसत्ता का ज्ञान न होने पर भी ईश्वरसत्ता का अस्तित्व नहीं किना जा सकता। हम नहीं जानते, पताचता ही सत्तासिद्ध पदार्थों के अस्तित्व का अमान कैसे माना जा सकता है। यदि सत्तात्मक पद पदार्थ केवल हमारे ज्ञान से ही सत्तात्मक है तब तो इच्छामात्र से हम विश्व किन्हीं भी प्रवेश में पद के न रहने पर भी पदज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। जानामिश्च इच्छा-मात्र से पदज्ञान हो जाना चाहिए। परन्तु देखते हैं, किना ज्ञानसिद्ध पदार्थों के पदार्थ पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। मानना पड़ेगा कि, अस्तित्व ही उद्दिष्टसत्ता ज्ञान का जनक है। पदार्थ है, इच्छाएँ उनका हमें जान होता है। 'अस्ति-अतो ज्ञायते नास्ति चेत् न ज्ञायते, नोलपपन्नते' यही सिद्धान्तपद प्रतीत होता है। 'सत्तापूर्वकज्ञान ही उत्पत्ति प्रतीत हो रही है।

१२-उभय दृष्टिकोणों का तात्त्विक समन्वय—

दोनों ही सिद्धान्त अनुभव-उत्पत्ति से प्रमाणित हैं। कैसे दोनों का निर्विरोध समन्वय किया जाय?। वैज्ञानिक उदार होते हैं—अन्तर्गत की दृष्टि से प्रथम उत्पत्ति का समन्वय हो रहा है, बहिर्गत की दृष्टि से द्वितीय उत्पत्ति का समन्वय हो रहा है। पाञ्चमीय महाविश्व हमारे ज्ञान के लिए बहिर्गत है। बही ईश्वरीय सत्ता है। ईश्वरीय ज्ञान से विनिर्मित सत्तासिद्ध ईश्वरीय ज्ञानमय सत्ता अस्तित्व में जीव के लिए बहिर्गत है। सत्तासिद्ध वह ईश्वरीय सत्ता-ज्ञानपूर्वक है। यही ज्ञान आधार है, सत्तासिद्ध बहिर्गत आधार है। इस सत्तासिद्ध सत्ता की दृष्टि से कहा जा सकता है कि, वे इसलिए हमें ज्ञानते हैं। बहिर्गत स्वरूपमात्र है, दृश्य नहीं। हम जो कुछ देखते हैं जानते हैं वह हमारे ज्ञान में प्रविष्ट ज्ञानमय वस्तुमात्र है, यही हमारा अन्तर्गत है। सत्तासिद्ध पदार्थ के आधार पर सत्तात्मक सत्ता पदार्थों का ज्ञान हमारे ज्ञानमयज्ञान में प्रविष्ट हो जाता है वह जानामिश्च सत्ता ही हमारा अन्तर्गत है। और अन्तर्गत ही यह अन्तर्गत हमारे ज्ञान से अभिन्न है, ज्ञान में उपलब्ध है। निष्कर्ष यही निकला कि—हमें बिन सत्तासिद्ध पदार्थों की 'जानामि-ज्ञायते-ज्ञातम्' रूप से प्रतीति होती है वे तब प्रतीत ज्ञान-उत्पत्तय पदार्थ अन्तर्गत है। इसका निर्माण हमारे ज्ञान से हुआ है। वह एक हम है, वह एक हमारा ज्ञानीय सत्ता है। इस दृष्टि से 'ज्ञानते-अतो नास्ति' सर्वमाना समन्वित है। हमारे ज्ञानीय अन्तर्गत का निर्माण हुआ है—ईश्वरीय ज्ञानीय सत्तात्मक (जोकि ईश्वरसत्ता ईश्वर का अन्तर्गत है) बहिर्गत के आधार पर। स्वरूप बहिर्गत सत्तासिद्ध है। इसके आधार पर हमारे दृश्य अन्तर्गत (दृश्यसत्ता) का निर्माण हुआ है। एवं इस दृष्टि से 'अस्ति-अतो ज्ञायते' यह दृष्टिकोण सर्वमाना समन्वित है। स्वसत्ता ज्ञाननिष्ठा है ज्ञाननिष्ठा स्वसत्ता सत्तासिद्धा बहिर्गतनिष्ठा है, यही निष्कर्ष है।

१३-समन्वयमूलक-प्रत्ययैकस्योपनिषत् सिद्धान्त—

इस से एक नवीन सिद्धान्त और निकल जाता जो सिद्धान्त विज्ञानमात्र में—'प्रत्ययैकस्योपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुआ है। हमारा अन्तर्गत हमारे ज्ञान से निर्मित होता हुआ जैसे ज्ञानमय है, एवमेव ईश्वरीय

एक ईश्वरीय ज्ञान से निर्मित होना हुआ ईश्वरीय ज्ञानमय है। हमारा अन्तर्ब्रह्म वेने हमारे ज्ञान से उपलब्ध है एवमेव हमारी दृष्टि में ब्रह्मब्रह्म किन्तु ईश्वरीय दृष्टि से अन्तर्ब्रह्मरूप कर्णादि महामिष ईश्वर के ज्ञान से उपलब्ध है। ईश्वरज्ञान ही महामिषरूप ज्ञानमान में परिणित हो रहा है। और इस नवीन विज्ञान की दृष्टि में 'ज्ञानपूर्विकाण्य वह प्रथम निश्चय ही प्रथम बन बाठा है। अन्तित्व का अण- भाव नहीं है अन्ति अन्तित्व, और ज्ञान का अन्त है। 'ईश्वरीयज्ञानमय', के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान कर्णा- दित्व है। तमी तो तत्त्वं ब्रह्म के लिए 'ब्रह्ममित्' यह स्पष्टहार होता है। ब्रह्म उमी ज्ञानामिष तथा का शायक है। ईश्वरीय ज्ञान उमी तथा का महोरूप है। प्रतीक ज्ञान, प्रत्यक्षता, तत्त्व—यौनों अमिष हैं, एक हैं। ज्ञान ही अन्तित्व है अन्तित्व ही शान्ते है।

१४—सच्चिदानन्दस्य का सप्तसुभृत 'चित्' पद्य—

महत्समुत्तमः। कर्णात्मा गया है कि, ब्रह्मब्रह्म की दृष्टि से अन्तित्व के अन्तित्व का विकास ज्ञान पर ही अवलम्बित है। 'अन्तित्व का उच्चारण ही मुक्त से एक सम्भव है वह कि वह अन्तित्व ज्ञानमयज्ञान में प्रविष्ट हो जाती है। 'च्येयन्ति वह वाक्य शनीय पच्छता का ही अमिष्य कर रहा है। उच्यते पित्त के तनीय पित्त हुआ शक्त 'वह म्माच्य' है' इस कर्णात्मक वाक्य अर्थ से 'अन्तित्व को उपलम्ब कर रहा है। उपलम्ब ही ज्ञान है उच्यतेच्य ही ज्ञान है यही किन्तु किन्तु च्यता है। इच्छाधार 'अन्तित्व म्माच्य' यह ब्रह्मब्रह्म रूप से कर्णा के साथ अण ही शक्त च्यता—यौन का भी अनुभव कर रहा है। शक्त ही क्या तमी तो इस उपलम्ब (अन्तित्व) के अनुगामी बने हुए है। तमी अपने मुक्त से 'अन्तित्व—अन्तित्व' स्पष्टहार करत हुए उच्यतेच्य (ज्ञान के ज्ञान) के अनुगामी बन रहे हैं।

१५—आत्मज्ञान—स्वज्ञान—परज्ञान—नामक चित्तस्य क तीन चित्त—

चित्त प्रकार कर्णात्मक अन्तित्व तथा स्वतत्ता, पच्छता (तथा पृथि विपृथि) रूप से तीन चित्तमयों में परिणत रथा है एवमेव इस च्येयता—तत्त्व (ज्ञान) के भी आत्मज्ञान, स्वज्ञान, परज्ञान मेर से तीन ही चित्त मर्त गय है। इन ती कुछ ज्ञानते हैं, वह एक 'परज्ञान' है आत्मज्ञान ज्ञान है। वैयधिक—वैयधिक ज्ञान ब्रह्मब्रह्म के कर्णादि अण विपों के आचार से उपलब्ध हुआ है। अण विपों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। इनसे म्माच्यताक शनीय कर्णाच्य उत्तम हो बाते हैं। वे शनीय कर्णाच्य ही लोक में 'अनुभव' नाम से स्पष्टत हुए हैं। चित्त चित्तना अन्तित्व कर्णाच्यो से तम्पर्व रेषा, तत्त्व आत्मा उच्यते ही अन्तित्व माकराच्यो से कुछ रेषा। साथ ही यह म्माच्यताक में कर्णा ही अण अनुभव ही कर्णाच्य है। अनुभव ही म्माच्य ही कर्णाच्य ही च्यता है। चित्त प्रकार चित्तच्येयताक रिपच्छम्पर्व से कर्णाच्य उत्तम होते हैं एवमेव चित्तच्येयता (अणुअणु) से भी कर्णाच्य उत्तम होते हैं। म्माच्य को वेचने में भी ज्ञान कर्णाच्य से कुछ ही बाठा है 'गा' शुभ्र अणु से भी कर्णाच्य कर्णाच्य अणु में अन्तित्व हो बाठा है। तम्पर्व वैयधिक चित्त शुभ्र अणु से हो भायो में विपत्त हैं। एवं दोनों का वैयधिक— शक्त च्येयताकम्प है •। अन्तित्व अन्तित्व से बने तत्त्वं चित्तच्येयता अन्तित्व हो बाठा है, एवमेव

• इस चित्त का विचार वैज्ञानिक विवेचन अनिश्चितज्ञानमयामूमिषा सुदीप्ततरह में प्रकृत है।

छ्वात्तक शब्दश्रवण से मी छ्वात्तक्य विषयाक्षर उपस्थित हो जाता है। अर्धरूप किय के आगमन से, सम्पर्क से शब्द छ्वात्तक्यकारित हो जाता है, यही तात्कालिक विषयज्ञान 'प्रज्ञा' कहलाया है। एवमेव-शब्दबन्धित शब्दावस्थित छ्वात्कालिक ज्ञान 'वेद' कहलाया है। ब्रह्मज्ञान वेदज्ञान (अर्थज्ञान शब्दज्ञान) दोनों पार्थिवज्ञानवर्षणा से कालान्तर में बन्धि प्रज्ञानमन में लक्षित हो जाते हैं, तो यही दृढ़ ज्ञान 'संस्कारज्ञान' कहलाने लगता है। यही संस्कारव्यभिचय ज्ञान 'विद्या' = कहलाया है। इसप्रकार ब्रह्म विषयसंस्कार से उत्पन्न होने वाले आगन्तुक परज्ञान के ब्रह्म, वेद विद्या, तीन विभक्त हो जाते हैं। त्रिविध मावापन्न यह विषयज्ञान परस्परमिच्छा विभूति की भाँति आगन्तुक, अतएव परिपूर्णरहित है। संस्कारज्ञान विषयसम्पर्क के तात्काल्य से अक्षयम ही कहलाता रहता है। संस्कारज्ञान का बीजव्यवस्वरूप से कोई संस्कार नहीं है। इसी के कारणतम्य से मूल-बुद्धिमान्-जाग्रद, चक्षुषि-वैश्व-आदि मेन्द्राद भ्यस्तियत हुए हैं।

धृतराज है—स्वज्ञान। त्रिभूत ज्ञान के आधार पर ब्रह्मज्ञान (परज्ञान) प्रतिष्ठित होते हैं यही स्वज्ञान है यही उस व्यक्ति की मूल प्रकृति है, बीजव्यवस्था है। 'तमेव मान्दमनुभाति सद्यम्' के अनुसार इस स्वज्ञान से ही इतर ज्ञानज्ञान मासित हैं। प्रति व्यक्ति का यह स्वज्ञान उच्छन्न अपना ज्ञान है। इसी के द्वारा वह ज्ञानदा है। पक्षी का ज्ञान धृष्ट है पशु का ज्ञान धृष्ट है मनुष्य का ज्ञान धृष्ट है। अपने अपने क्षेत्र के स्वरूप के अनुसार क्षेत्ररूप यह स्वज्ञान विभिन्नधर्मी है। यह मेरु ज्ञान अल्पक है, तनक ही व्यक्तिप्रतिष्ठा है। अतएव इसे पक्षिजज्ञान स्वच्छा से सम्प्रतिष्ठित माना जा सकता है। इन दोनों शांती से अतिरिक्त तीसरा निष्पापिक-निर्विकल्पक व्यापक ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है त्रिभूत ज्ञानों विद्वानाधारमूत महात्मा माना गया है। यही तीसरा निष्पापिक ज्ञान सामान्यतया से सम्प्रतिष्ठित रहता हुआ सामान्यज्ञान है, यही अक्षय-अक्षय-ज्ञान है। यही अक्षयज्ञान 'बीजव्यवस्था का आधार कला हुआ 'स्वज्ञान' है, विषयाधार भनता हुआ परज्ञान है। परज्ञान प्रज्ञानानुमेरित (मनोज्ञान) है, स्वज्ञान विज्ञानानुमेरित (बुद्धमनुगत) है, एवं अक्षय-ज्ञान महात्मानुमेरित (स्वानुगत) है। इसप्रकार उद्यात्क वेदनाज्ञान ज्ञान के मी तीन ही विभक्त हो जाते हैं। निष्पापिक ज्ञान के ही लोपापिक ज्ञानमात्र का बालक को लोपापिक उद्यात्क्य क्षेत्र हो रहा है। उपाधि का संस्कार मले ही रहे, चित् (ज्ञान) का मलय, किंवा चित्त प्रत्यय चित्तमात्रवेन अक्षय्य है। एवं यही 'चित्' रूप द्वितीय पर्व के लक्ष्य दर्शन है।

सूर्यादि को सतासिद्ध पदार्थ हैं उनको हम जानते है, इत्यादिस्व से हमी को अस्तित्व की उपलब्धिक्रम ज्ञान हो रहा है। उपलब्धिक्रम ज्ञान के रहते मी क्या कोई यह कह सकता है कि मुझे 'चित्' का परिज्ञान नहीं। अक्षय ही परिज्ञान =। परिज्ञानमिच्छा उपलब्ध हो तो अस्तित्व की प्रतीति है। ऐसी स्थिति में क्या का सकता है कि अक्षयज्ञानव्यवस्था का चित् पर्व मी उत्पन्नकत सकरे क्षिप्र प्रत्यय है। यही चित्तपर्व की सत्त्वानुभूति का संक्षिप्त निदर्शन है।

१६-रसोपलम्बिमूलक आनन्दपर्व—

अन रोप रहे जाता है—सर्वमूलभूत तीसरा आनन्दपर्व है। आनन्दानुभवरूप आनन्द-प्रत्यय का विशेषक इच्छित जनकरक है कि शान्ति-सम्यक्स्व से हमी को इच्छा मलय हो रहा है। किन्तु तब

= इन दोनों संस्कारिक ज्ञानों का विशेषक मक्षिपरीक्षा-उत्तररुद्ध के इच्छामविद्या-प्रकरण में किना या पुत्र है।

की तथा है जिस सत्वादिद तत्त्व का हमें ज्ञान होता है तथा-शानानुगत सर्वोपारभूत बड़ी तत्त्व 'ज्ञानम्' है। जो है विश्व ज्ञान है बड़ी ज्ञानम् है। प्रश्न होता है—'क्या है?'। उत्तर मिलता है—'पुस्तक है'। प्रश्न होता है—'किसका ज्ञान है, उत्तर मिलता है 'पुस्तक का ज्ञान'। वह प्रश्नोत्तर-व्यवहार सिद्ध कर रहा है कि जो है एवं विश्व ज्ञान है बड़ी सौम्य विश्वज्ञान तत्त्व 'है' (अर्थात्) और ज्ञानना (जित) बातों में रक्त करता हुआ 'रस' नाम से प्रसिद्ध है। वह रस ही ज्ञानम् है। केवल अर्थित मे मा सुखरूप का नम् की प्राप्ति अर्थम् है। केवल ज्ञान से ही ज्ञानार्थिक अर्थम् है। विश्व ही ज्ञान है विश्व ज्ञान है उस अर्थित की प्राप्ति में ही ज्ञानम् है। हम जानते हैं कि योग्योप में अत्युत्कृष्ट तत्त्व प्रसिद्ध है। अत्युत्कृष्ट की तथा भी है उक्त्य हमें ज्ञान भी है परन्तु जित रक्तविश्व तत्त्व की तथा है विश्व ज्ञान है जब तक वह हमें मिल नहीं जाती तब तक ज्ञानम् नहीं आता। इसी आधार पर—'रसो हो ब स'। रसो हो बार्थ स'—आज्ञानी मर्षि (उपनिषद्) यह सिद्धन्त प्रसिद्ध हुआ है।

१७—आत्मानन्द-स्वानन्द-परानन्द-नामक ज्ञानान्दब्रह्म के तीन विधा—

सु-चित्त-पर्व की मर्षि इस तीसरे ज्ञानम्पर्व के भी आत्मानन्द, स्वानन्द परानन्द मेरु से तीन ही विधा मानें जाँगी। आत्मानन्द, भूमानन्द है, निःश्रीम ज्ञानम् है। स्वानन्द परानन्द, तीमानन्द है। दुःखादुःखेन भृगुनिषिक्त इत्य, सुखर लक्षित, अमान्य योग्य परिग्रह आदि लौकिक विषयों के संसार से जो ऐन्द्रिक दार्ष्टिक मुक्तोत्कृष्ट हुआ करती है बड़ी परानन्द है आत्मानन्द ज्ञानम् है। अतएव अत्युत्कृष्ट ज्ञानम् है। ज्ञान के साथ तत् ज्ञानम् का अभाव होता है। अतएव अत्युत्कृष्ट ज्ञानम् का अभाव नहीं रहती है तभी तक ज्ञानम् की प्राप्ति होती है। ज्ञानविनिर्वाह के साथ ज्ञानम्पर्व यह रस (ज्ञानम्पर्व) भी निरुक्त हो जाता है *। इसीलिए इस ज्ञानम्पर्व की परिग्रामतः दुःखमर्षक ही मन्ना मया है। कुद्द भी हो, ज्ञानम्पर्व में जो 'ज्ञानम्' का अर्थ है वह ही स्वतन्त्र से ज्ञानम् ही है एवं यह भी ज्ञानम्पर्वेन अत आत्मानन्द सं अर्थात् ही है अतएव ब्रह्मत्वम् में अर्थात् ही अर्थात् है।

१८—ज्ञानान्दस्वरूपमीमांसा—

ज्ञानान्दस्वरूपमीमांसा के लिए हमें ज्ञानम् की विधा भीमांसा करनी पड़ेगी। अत्युत्कृष्ट 'नन्द' वाट (दुर्गात्कृष्टी) से 'ज्ञानम्' शब्द निष्पन्न हुआ है। अत्युत्कृष्ट उठी तत्त्व का नाम है जो पूर्ण परिग्रह को ता अत्युत्कृष्ट बनाए रहे, एवं अन्य परिग्रह का अभाव करती रहे। यदि आप में व्यय अर्थात् है ता + अत्युत्कृष्ट (अत्युत्कृष्टमात्र) है। यदि आप-व्यय अत्युत्कृष्ट है तो योग्योत्कृष्ट निर्वाह है। यदि अर्थ से आप अर्थात् है ता अत्युत्कृष्ट है। पूर्णपरिग्रहार्थक अर्थ अर्थोत्कृष्ट ही अत्युत्कृष्ट है। ज्ञानम् का अर्थ तत् अत्युत्कृष्ट से मिलता मिलता है अतएव इसे 'ज्ञानम्' करना अर्थ बनता है। केवल में उक्त्य से प्रसिद्ध अर्थक अर्थक से उत्तरोत्तर विनिर्वाह होता रहता है। अन्ते स्वान (इत्य) में प्रसिद्ध रहता हुआ आगे बताया है यही

* विषया विनिर्वाहन्ते निराहारस्य दहिन ।

रसवर्त्रं रसोऽप्यस्य परं दृष्टा निवर्षते ॥ गी० २।५६।

+ 'अत्युत्कृष्ट-यह' वैदिक शब्द है, जो सम्पत्ति का अभाव में प्रयुक्त होता है।

इसका सम्बन्धभाव है। वैज्ञानिकों में आनन्द शब्द का यही निर्बलन किया है। कियप्रदेशपर्यन्त आनन्द का शिमरुम से अनुभावन होता है। परन्तु उक्त्यरूप से वह स्वप्रदेश (हृदय) में ही प्रविक्षित रहता है। अन्य-प्रदेशानुभावन के द्वारा यही सम्पूर्ण सृष्टियों का स्रष्टा बनता है + परन्तु स्वस्वरूप से अज्ञेय बना रहता है। यही आनन्द का आनन्दत्व है यही वास्तविक आनन्द है। प्रकृतिविक्रम मधुपान-स्तेयकर्म-हिंसकर्म-आदि लौकिक कियों में मूलप्रतिष्ठा का सम्बन्ध नहीं रहता। नाहीं ऐसे किययानन्द स्रष्टा ही बनते, अपितु मूलप्रतिष्ठा (हृदयप्रतिष्ठा) के उन्मेषरक ही बनते हैं, अतः ऐसे किय आनन्दमर्त्यांग ने सर्वथा परिष्कृत रहते हुए दुःखरूप ही मार्ग गये हैं।

मूलप्रदेश से अन्य प्रदेश पर्यन्त आनन्द अनुभावन करता है, इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में मूलप्रदेश, और अन्यप्रदेश विक्रियात्म्य हैं। उभावान कर लौकिक आम्नात्मिक इतिशेष से। स्वाभ्यन्त पर-माकाश के गर्भ में प्रतिष्ठित और पुराणाकार आम्नात्मिक शरीरकार की प्रतिष्ठा है। शरीरकार के गर्भ में गर्भरूप हृदयाकार है। तत्र स्वाभ्यन्त परमाकार से सम्प्रसृत ब्रह्माकार है आदि 'दहराकार-दहरपुण्ड-रीक आदि नामों से भी व्यवहृत हुआ है। यही वह मूल प्रदेश है, यहाँ स्वयंस्वरूप मात्स्य, स्मोदियाम्नाति, आकाशात्मा, सृष्टिदानन्दपनमम प्रविक्षित है ०। यही ब्रह्म+'परत्परपुरुष' कहलाता है। इस दहराकारानुगत-रूप-परत्परपुरुषब्रह्म के आगे कर्मरूप ३ अन्य प्रदेश हैं जिनमें वह मूलप्रदेशरूप उक्त्यरूप ब्रह्म अर्क्यरूप से प्रकृत होता है। पुरुष के सृष्टिकृत सर्वप्रथम स्वाभ्यन्त ब्रह्मप्रकृतप्रदेश है शिव ब्रह्मस्तपमा का A उपनिषद्

+ यात्यन्यदेशं त्यजहृत्स्वदेश, विज्ञायते किन्तु न हीयते तत ।

यदक्षितं स्रष्टु, यदति सुस्थ-सस्मात्तदानन्दपद वदाम ॥

ॐ-"मनोमय" प्राणशरीरो मारूप सत्यसकल्प आकाशात्मा मवकर्मर्मा सर्वकर्म सवगन्ध सवरम सर्वमिदमभ्याषोऽजाक्यनादर" (भा० उप० ३।१।२।
-एष म आत्माऽन्तर्हृदय आसीयान्, न्यायानेभ्यो लोकेभ्य, (भा० १।१।१।३।
-"अथ यदस्मिन् ब्रह्मपुर दक्षरं पुण्डरीकं वरम, दहरोऽस्मिन्तराक्षश ।
तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तदत्र विजिज्ञासितम्यम्" (भा० १।१।) 'यान्त्वा
अयमाकाशात्मावातेपोऽन्तर्हृदय आकाश । मव हृदस्मिन् समाहितम् (भा० १।३।)

-यथा नथ स्पन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूप विहाय ।

तथा विद्याभामरूपाविमुक्त परात्पर पुरुषस्तुपैति त्विष्यम् ॥

—मण्डकोपनिषत् १।२।२।

A—यच्छब्दाहमनसी प्राणस्तपन्ध्वेच्छान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छन्, तपन्ध्वेच्छान्त आत्मनि ॥ (अपनिषत् १।३।३।)

यदा स दबो आगाधि सठठ चष्टत जगत ।

यदा स्वपिति शान्तात्मा सदा मव निमीलति ॥ मनुस्मृतिः १।५३।

नै एवं स्मृतिर्मा' नाम से मी स्मृत है। मूलतः आत्मानन्द (पुरुषानन्द) का प्रथम-
 स्थापितप्रदेश यही अस्मकतामा है। अस्मक के लक्ष्य पारमेष्ठ्य महानात्मप्रदेश है, जो तल्लिख्य माना
 गया है एवं लक्ष्य का (विद्युद्बलसिद्ध) प्रवर्तक माना गया है। मूलतः आत्मानन्द का अस्मकतामाहाय यही
 महानात्मा द्वितीय स्थापितप्रदेश है। महात् के लक्ष्य विद्युद्बलसिद्ध गौर विज्ञानात्म—(बुद्धि)—प्रदेश है।
 महानात्महाय मूहानन्द का यही विज्ञानात्मा तृतीय स्थापितप्रदेश है। विज्ञानात्मा के लक्ष्य प्रज्ञानात्म—
 (लक्ष्मिप्रदान)—प्रदेश है। विज्ञानात्माहाय मूहानन्द का यही प्रज्ञानात्मा चतुर्थ स्थापितप्रदेश है। प्रज्ञानात्मा के
 लक्ष्य इन्द्रियवर्ग प्रदेश है। प्रज्ञानात्मा के हाय मूहानन्द का यही इन्द्रियवर्ग पञ्चम स्थापितप्रदेश है।
 इन्द्रियों के लक्ष्य वायु शक्ति विभवप्रदेश है। इन्द्रियाय मूहानन्द का यही विभवप्रदेश षष्ठ स्थापित-
 प्रदेश है। वायु प्रदेशों में एक मूलप्रदेश है व मूलप्रदेश है। मूलप्रदेश स्वप्रदेश है, स्वप्रदेशक एक अन्य
 प्रदेश है। स्वप्रदेश में वह स्वयम् से स्थापित है अन्य प्रदेशक एक में कार्यरूप से स्थापित है। स्वय
 ही व यही अन्य प्रदेशों में स्थापित आत्मानन्दमात्राएँ उचरोत्तर होतीयों, एवं पूर्व-पूर्वप्रदेश में विकसिता है।
 इस से वह मी स्वतःसिद्ध है कि, विद्युत्वायुमात्राएँ इन्द्रियानन्दमात्रा प्रदह है स्वयम् प्रज्ञानान-
 न्दमात्रा स्वयम् विज्ञानानन्दमात्रा स्वयम् महानन्दमात्रा, एवं स्वयम् अस्मकतामात्रा प्रदह है।
 स्वयम् अस्मकतामात्रा आत्मानन्दपन है। इती की कार्यरूप आत्मानन्दमात्राएँ से वह लभ्येँ संस्थाएँ उपस्थित है।
 निर्दिष्ट परिच्छेद से गती अस्मकतामात्राओं का मनीमति स्पष्टीकरण होना है।

१६-मूल-तुलानन्दमात्रास्वरूपविगृह्यार्थ-

शक्ति विभव अस्मकतामात्रा का 'चित' माना गया है। यह आत्मविद्युत् आत्मचित्त बहिर्चित मेर से
 हो मानी में परिच्छेद रहता है। इन्द्रियों के हाय जो विभव लक्ष्यरूप से आत्मानन्दमात्रा की सीमा में प्रकृत
 होते हुए महानात्म पर प्रकृत होकर आत्मा के अन्तर्गत रूप में परिच्छेद होयते हैं वे लक्ष्यप्रकृत
 विभव (आर्थ) आत्मचित्त कहलाए हैं। एवं जो विभव इन्द्रियमात्रा आत्मासीमा में प्रकृत न होकर बाहर बने
 रहते हैं बहिर्गत—रूप से विभव 'बहिर्चित' कहलाए हैं। वह मी एक स्वयम् विभव है कि, चित्त स्वकृति
 की आत्मात्मकता में अस्मान्तर मे जो कार्य लक्ष्यरूप से प्रकृत रहते हैं वर्तमान कर्म में वह स्थापित उन आत्म-
 चित्तस्व लक्ष्यप्रकृत आर्थों के अतुल्य ही स्वयम् बहिर्चितों के योगने मे लभ्येँ होय है। इती आचार पर चित
 आत्मा, योग तीनों का अस्मान्तर लक्ष्यप्रदेश से सम्बन्ध माना गया है। मूलतः की विविध शक्तियों (बोनिनी)
 आत्माधु-वीर्षाधु-आत्मा आत्मा, उत्तम-मध्यम-निम्न-मोग आदि लक्ष्य अस्मान्तर लक्ष्यप्रदेशारण्य से ही निकल
 रहते हैं। स्वयम्-स्वयम्-स्वयम्-आत्मादि विभव लक्ष्यरूप से अस्मकतामा में प्रकृत रहते हैं। इनकी मात्मा-
 तारण्य मे ही स्वयम् विभवमोग चलीरिभव है। इति प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, प्रत्येक स्वकृति का मोगात्मक
 एक एक है। चित्में एक स्वकृति ऐसे हैं—किन्हीं लक्ष्य रूप का अस्मकतामा नही होता आत्मारण्य का अतुल्य नहीं
 होता सुन्दर मे सुन्दर लक्ष्य मी उन्हें आत्मचित्त नहीं कर लक्ष्य आत्मानन्दमौनी मी उन्हें लक्ष्य विभव (मनसिद्ध आर्थ)
 बनी रहती है अर-मौन लक्ष्य के लक्ष्यत्व का किन्हीं मेर ही प्रकृत नहीं होता। मानना पड़ेय कि इनमें
 उन स्वयम् आर्थों के लक्ष्य आत्मचित्त लक्ष्यप्रदेश आर्थों का विज्ञान नहीं है। यही लक्ष्य प्रार्थ (मनसिद्ध आर्थ)
 एक की शक्तियों मे जाँच हो जाती है स्वयम् उती की किना लक्ष्यप्रदेश के ही का पता है। वह अतुल्यमेर लक्ष्य-

रमेश पर ही अन्तर्निहित है। बाह्य विषयमोग की मूलप्रतिष्ठा अन्तर्निहित आत्मन्तर अर्थ (रम्बर) ही है। भिन्नमें कित अर्थ का आभाव है, वह उदनुगत बाह्य विषयानन्दग्रहण में अवतरण है।

उक्त आत्मन्तर, बाह्य अर्थ, मेद से पूर्वप्रतिपादित लक्ष्यस्थानम् की दो अन्तरधारणें हो जाती हैं उन्ही के लिए वह विद्यमानता उपरिष्ठ हुई है। अन्तर्बितरूप अर्थ अन्तर्हीमा में प्रविष्ट है। अतएव इस दृष्टि से इन्द्रिय इन्द्रियार्थ मन, बुद्धि, महान्, आत्मन्तर, पुण्य, यह क्रम माना जायगा। बहिर्बितरूप अर्थ इन्द्रियहीमा से बहिर्भूत है। अतः इस दृष्टि से अर्थ-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-महान्-आत्मन्तर-पुण्य, यह क्रम माना जायगा। अक्षि में दोनों ही कर्मों का उल्लेख हुआ है। आध्यात्मिक दृष्टि में प्रथम क्रम प्रधान है सामान्य तत्त्वदृष्टि में द्वितीय क्रम प्रधान है। निम्न लिखित वचन दोनों कर्मों का विभिन्न दृष्टिकोण से समर्थन कर रहे हैं

अन्तर्बितरानुगता दृष्टि-इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च पर मनः ॥

(आध्यात्मिकी)

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥

महत् परमभ्यक्त, अभ्यक्तात् पुरुष पर ॥

पुरुषात् परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥

—कठ पणिपत् १।३।१०, ११, १

बहिर्बितरानुगता दृष्टि- (अर्था, क्तम् इन्द्रियाणि)—

(वाक्चिन्ती)

इन्द्रियेभ्यः पर मन, मनस सत्त्वसुखमम् ॥

सत्त्वदधि महानात्मा, महतोऽप्यक्तसुखमम् ॥१॥

अभ्यक्तात् पर पुरुषो भ्यस्यकोऽस्ति एव च ॥

यज्ञाणां च सुच्यते अन्तरमृतत्त्वं च गच्छति ॥२॥

—कठो ० ६।७।८, १

गौटा का प्रधान लक्षण बुद्धियोग है। लक्ष्यस्थानक ईश्वरीय चित्त के केन्द्र में बुद्धितत्त्व प्रवृत्तित है। पुण्य आत्मन्तर महान्, वे तीन पर्व बुद्धि के उक्त ओर हैं, एवं वे तीनों अमृतप्रधान हैं। मन, इन्द्रियवर्ग अर्थ तीन पर्व बुद्धि के उक्त ओर हैं, एवं वे तीनों मूलप्रधान हैं। मन्भव बुद्धितत्त्व दोनों ओर अतुल्य रहत हुआ अमृत-अमृतमय है। अर्थ पावित्र है, मन चन्द्र है, इन्द्रियवर्ग उभयतः है। बुद्धि सौरी है, महान् पारमेष्ठ्य है आत्मन्तर स्वयम्भुव है, पुण्य लौकातीत है। बुद्धि से परे के पुण्य-आत्मन्तर-महान् तीनों की समष्टि पुरुषत्वस्व में अन्तर्भूत है। महान् के वाच योग होते ही बुद्धि महद्गमित आत्मन्तरानुगत पुण्य से पुण्य हो जाती है। एकमात्र इसी दृष्टि से बुद्धियोगप्रतिपादक गौड्यात्मन ने बुद्धि से परे की उपनिषत्प्रामाण्यता तीनों संस्थाओं का समष्टिस्व से एकस्वमेवैव संग्रह कर लिया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों में प्रामाणिक है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुः, इन्द्रियेभ्यः पर मन ॥

मनसस्तु परा बुद्धिः, यां बुद्धे परस्तु सा ॥१॥

एवं पुद्गे परं पुद्ग्या संस्तम्यरमानमात्मना ॥

अदि शत्रुं महाबाहो ! अमरूरं दुरासदम् ॥२॥

—गीता १।४२, ४३ ।

● मूलप्रवेशावच्छिन्नः—	पुरुषात्मा	(सोकरीत)	मन्तान्म
१-प्रथमोऽन्यप्रवेशः—	अभ्यतत्मा	(स्वाम्यनुषः)	
२-द्वितीयोऽन्यप्रवेशः—	महानात्मा	(पारमेष्ठ्या)	ति
३-तृतीयोऽन्यप्रवेशः—	विज्ञानात्मा	(सौर)	त
४-चतुर्थाऽन्यप्रवेशः—	प्रज्ञानात्मा	(बान्द्र)	त
५-पञ्चमाऽन्यप्रवेशः—	इन्द्रियविधि	(उमय्यरमअनि)	त
६-षष्ठोऽन्यप्रवेशः—	अर्था	(परिषथा)	

—सिषा भूततूलानन्दमीमांसा

२०—'परम' आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

एक प्राकृतिक आनन्दमीमांसा का समन्वय आर कर लौकिक । प्रियतम तत्त्व चित्ता अधिक निर्मल होय वह उतनी ही अधिक आनन्दमात्रा से युक्त रहेगा । एवं चित्ता तत्त्व चित्ता अधिक मतिन होगा, उतनी आनन्दमात्रा उतनी ही अधिक अस्व-अस्वत-अस्वत होगी । यही आनन्दमात्रातारुष्ममीमांसा का मुख्य दृष्टिकोण है । आनन्दमात्रा में जो स्थान अभ्यक्त, महान्, विज्ञान प्रज्ञान, इन्द्रिय, अर्थ, इन ६ पदों का है आदिद्वयसंस्था में वही स्थान स्वयम्, परमेष्ठी, स्वयं, चन्द्रमा, अन्तरिक्ष प्रथिनी, इन ६ पदों का है । इन्द्रियपद का मन में अन्तर्भाव है तो अन्तरिक्षपद का चन्द्रमा में अन्तर्भाव है । उक्त दोनों अथाहों में अभ्यक्त, महान्, विज्ञान प्रज्ञान अर्थ एवं स्वयम् परमेष्ठी, स्वयं चन्द्रमा प्रथिनी, ये पाँच पाँच पद ही मुख्य रह गये हैं । पदों पदों का अविद्याता पुष्पतत्त्व ही अन्तर्भावमूर्ति है । इस अन्तर्भाव की अपरिमित परिमित, भर से दो अर्थका मान लौकिक । स्वयं अन्तर्भावमूर्ति अन्तर्भाव अपरिमित आनन्द है । यही तत्त्व उप निराली में ब्रह्म कहलाता है । यही बीजतत्त्वा की परमा लम्बत है परम लोक है परम आनन्द है । शेष पाँचों मूल पूर्व ही अपरिमित आनन्द की परिमित आनन्दमात्रा को लेकर ही उपबीजित हैं । अन्तर्भावमन ही अन्तर्भाव का दिग्दर्शन करती हुई मुक्ति कहती है—

“मलित एको दृष्टाऽद्वैतो भवति । एष ब्रह्मलोकः मन्नादिति हैनमनुग्रहमात्र यत्प्रवक्ष्ये” । एषाऽस्य परमा गतिः, एषास्य परमा सम्पत्, एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः । एतस्यैषाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मायासुपजीवन्ति” (ब्रह्मसूत्रभाष्येनित्यम् ४।३।३२)।

२१—श्रुतमात्रानुगत—खण्डानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

पृथिवी से ब्रह्म नाम्ना अन्तरिक्ष, इस से बृहत् सूर्य्यं सूर्य्यं से बृहत् परमेष्ठी, परमेष्ठी से बृहत् स्वयम्भू । इस महातादृशिक के तात्पर्य्य से इन पाँचों में रहने वाला परिमित आनन्द (मात्रानन्द) भी उसी तात्पर्य्य से प्रतिष्ठित है । पञ्चब्रह्मक विरव सर्वभूतव्यक्तमूर्ति है । ब्रह्मस्वयम्भू सब में आहुत है, सब ब्रह्मस्वयम्भू में आहुत है । वयुर्ब्रह्म प्रजापति (प्रजापति) स्वायम्भुव परमाकाशरूप ब्रह्मज्ञात्मा में प्रतिष्ठित है । वह भी सब में प्रविष्ट है । यही विरवपति की सर्वभूत-यज्ञता है ० । दशाक्षरपितर के दशधा भूहन से यह यज्ञमात्रा शतसंख्या पर विभाज्य मानी गई है । शतसंख्या यज्ञस्वरूप की तद्भाषिका है यही तात्पर्य्य है X । अतएव पाँचों पत्नों में मुक्त मात्रानन्द के तात्पर्य्य का विशेषण शतसंख्या के द्वारा ही हुआ है । 'उत्तर उत्तर एषां सोकानां क्याचान' (ता -म जा १९।१०।१) के अनुसार उत्तर-उत्तरलोक पूर्व-पूर्वसोकानेवया क्याचान् ('वृत्') है । उमी अनुपात से उत्तर-उत्तर लोकसंख्या की आनन्दमात्रा का शत-शतकम् से बिलम्बर है ।

पृथिवी, अन्तरिक्ष अन्तरिक्ष, सूर्य्य, इन अक्षरवामी में श्रुतमात्र का प्राधान्य है । अतएव प्रजा वे भूतानि' (शत० २।४।२।१) के अनुसार प्रजा शब्द से इन तीनों लोकों को सूत्रप्रजा का ही महण किया जाता है । पार्थिवप्रजा 'मनुष्य' नाम से आन्तरिक्षीय प्रजा 'पितर' नाम से, एषं लौकप्रजा 'देव' नाम से अन्वयित हुई है—इन तीनों प्रजाओं का वास्तविक त्रिधा आपोमत्र परमेष्ठी है । अतएव इसे 'प्रजापति' कहना अन्वय प्रकता है ॥ । परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू ब्रह्म है यही सर्वलोकप्रितामह है । इसप्रकार पाँचों विरवपतियों में ब्रह्मः मनुष्य, पितर, देव प्रजापति, ब्रह्म, इन पाँच विरवों की तथा त्रिधा हो जाती है । यही पत्र विषर्न मात्रानन्दमीमांसा के मुख्य आधार माने गए हैं ।

५—'ब्रह्म वै स्वयम्भू तपोऽतप्यत । तदैवात-न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । इन्ताहं भूतेष्वाम-
त्मानं जुह्वानि, भूतानि चात्मनीति । तत् सर्वेषु भूतेषु-आत्मानं हुत्वा भूतानि
चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठेषु स्वारज्यमाधिपत्यं पर्य्येत् । स वाऽप्य सर्वमेधो
दशरात्रो यज्ञकृतुर्मवति । दशाक्षरा विराट् । विराट् कृत्स्नमक्षम् । परमो वा
ऽप्य यज्ञकृतुः—यत् सर्वमेध ।' (शत० ब्रा० १३।७।१।२,२) ।

X—'श्रुतान्यन्वहं शीयन्ते । एषा वाष यज्ञस्य मात्रा—यच्छतम् । सैव साऽविच्छिन्ना
दीयते । दशतोऽन्वह दीयन्ते । दशाक्षरा विराट् । वैरात्रो यज्ञ' ।

—तप्यब्रह्महाजाभय ० । १६।१०।

—'प्रया वाष सोकानः—मनुष्यलोकः, पितृलोकः, देवलोकः' । इति ।

—शा० ब्रा० १४।४।२।२।

॥ 'आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी । ता द्वि परमे स्थाने तिष्ठन्ति' । इति ।

—शत० ब्रा० ५।२।१।२।

मनुष्य पार्ष्णि प्राली है पार्ष्णि प्रथा है। प्राण के विद्युत् के कारण यही इतर पार्ष्णि प्राणियों की अपेक्षा आनन्दमोहा है। अतः श्रुति ने पार्ष्णिबानन्दमीमांसा में केवल मानुषानन्द का ही विशेषण किया है। मनुष्य के आनन्द का क्या स्वरूप है, मनुष्य का परमानन्द क्या है, उक्त है पार्ष्णि मोगसम्प्रदाय। पार्ष्णिबलम्पु पुत्रेपणा लीकैपणा विद्येपणा, मेरु से तीन मन्वी में विद्युत् है। प्रथासम्प्रति प्यासम्पति विद्युत्पति हीनीं यदि अतस्तरुम से मनुष्य को मिला जाती है तो वही मनुष्य का परमानन्द है। अकिल-भूमवदस का अविपति वह स्रष्टा को सम्पूर्ण मनुष्य की अपेक्षा समृद्ध है क्व पर निरेषकम से राशन करता है—अवसावत् मानुष (पार्ष्णि) मोलीं से लम्ब है वही मानुषानन्द का अविद्यारी है। वही मानुषानन्द की पराकाशा है, त्रिका एक भी उदाहरण वर्तमान युग में अनुपलब्ध है।

पार्ष्णि मानुषानन्द के अनन्तर चान्द्र-आन्तरिह है। चान्द्रपिण्ड में प्रतिष्ठित सौम्यप्राण 'चित्त' है। चान्द्र आन्तरिह में प्रतिष्ठित सोमानुपस्थित वाक्प्य प्राण पञ्चम है। इत दृष्टि से चान्द्रविचर में चित्त, गन्धर्व व दो अचान्तर प्रकाशर्ण स्पष्टरिच हो रहे हैं। विद्य मानुषानन्द की पूर्व में मीमांसा की गई है उसे शतगुण कर हींविद्य। ऐसे ही मानुषानन्द मिल कर चित्तों का आनन्द है। ऐसे १ पैत्र आनन्द मिल कर एक गन्धर्वानन्द है। वही चान्द्र-आन्तरिह आनन्द की मीमांसा है। पञ्चमा के अनन्तर सूर्य है। दूसरी प्रथा विद्य नाम से प्रसिद्ध है। वह देवतल कर्मदेव आत्रानदेव मेरु से दो मगों में विद्युत् है। वी मनुष्य का के द्वारा देवान्माधिराव का स्वभूतात्मा में आवान कर होता है वह कर्मदेव कहलाया है। एवं प्रकृतिविद्य नित्य सौम्याल आत्रानदेव कहलाए हैं। और लम्बतर में मुक्त पार्ष्णि नाभिकेठस्वर्ग में (निचानानन्तर) कर्मदेव प्रतिष्ठित होते हैं। शतगुणवर्धनर्णों को मिला कर इनका एक आनन्द है। शत कर्मदेवबान्दी की लम्बि एक आवाननेवीं का आनन्द है। यही और आनन्दहीवी की मीमांसा है। सूर्य से ऊपर परमेही प्रकाश है। आवानदेवी के शत आनन्दी की लम्बि एक प्रजापति का आनन्द है। वही पारमेथ्य आनन्द की मीमांसा है। परमेही से ऊपर अण्डक स्वकम् ब्रह्म है। प्रजापति के शत आनन्दों की लम्बि का एक ब्रह्मलोकानन्द (स्वायम्भुवानन्द) है। यह स्वायम्भुष आनन्द उक्त केन्द्रतय अस्थानन्द (अष्टीमानन्द) के लम्बिह है। अतः इसे भी परमानन्द मान लिया जाता है। अरिष मानानन्दी में वही आनन्द परम (अन्तिम) है। इत्यपि मी इसे परम आनन्द कह रिच जाता है। वही स्वायम्भुष आनन्द की मीमांसा है यही मानानन्द की मीमांसा है त्रिका निम्न लिखित पण्डित तथा श्रुति से लकीकरण हो रहा है—

- (१) ब्रह्मलोक-आनन्द]—स्वायम्भुष-आनन्द (४)—मैया अण्डकानन्दमीमांसा
 (१) प्रजापतिशोक-आनन्द:]—पारमहृष्य-आनन्द (५)—मैया महृष्यानन्दमीमांसा
 (२) आवानदेवानामानन्द
 (१) कर्मदेवानामानन्द } —सौर आनन्द (३)—मैया विमानानन्दमीमांसा
 (२) गन्धर्वलोक-आनन्द
 (१) विद्युत्खामानन्द } —चान्द्र आनन्द (१)—मैया प्रमानानन्दमीमांसा
 (१) मनुष्याणां परम आनन्द]—पार्ष्णि-आनन्द (१)—मैया अर्षानन्दमीमांसा

मैया-मानानन्दमीमांसा
 —अर्षानन्द-मैया-मीमांसा

(१) पार्थिवानन्दो मानुष - "स यो मनुष्याणां राद् सृष्टो भवति, अन्येषामधिपतिः, सर्वमर्तुष्यकैर्मोगै सम्पन्नतमः, स मनुष्याणां परम आनन्दः"।

(२) आनन्दानन्दो वैश्वः } "अथ ये शत मनुष्याख्यामानन्दा, स एकः पितृ खामानन्दः"।
 ,, गान्धर्वः } "अथ ये शतं पितृ खामानन्दा, स एको गन्धर्वलोक आनन्दः"।

(३) सौरानन्दो वैश्व "अथ ये शत गन्धर्वलोक आनन्दा, स एकः कर्मदेवानामानन्दः"।
 "अथ ये शत कर्मदेवानामानन्दा, स एक आज्ञादेवानामानन्दः"।

(४) पारमेष्ठानन्दः प्राजापत्यः "अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दा, स एकः प्रजापति लोक आनन्दः"।

(५) स्वायम्भुवानन्दो ब्राह्मणः - "अथ ये शत प्रजापतिलोक आनन्दा, स एको ब्रह्म-लोक आनन्दः"।

शु० आ० प० ४१३।३३।

२० - तैत्तिरीयोपनिषत्सम्मत-आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन-

उक्त आनन्दमीमांसा का तैत्तिरीयमठि में अन्य दृष्टिकोण से सम्यक् प्रकाश है। प्रकृतज्ञान को शब्दों में उक्त भी विस्तारण कर दिया जाता है। और उक्त दृष्टि से तो तैत्तिरीयमीमांसा ही आ मीमांसा में सम्मिलित है। केवल हैवानन्दमीमांसा में ही आनन्द है। इन्द्रावर्यक में ब्रह्मदेवानन्द की अपेक्षा आनन्ददेवानन्द विशेष उच्च माना गया है ब्रह्मदेवीय ने आनन्ददेवानन्दप्रेषमा कर्मदेवानन्द को विशेष उच्च माना है। साथ ही आनन्ददेव कर्मदेव, दोनों से पूर्व एक देवानन्द की उपा और स्वीकार की गई है। एवमेव इन्द्रावर्यक ने वैश्वानन्द की अपेक्षा ब्रह्मदेवानन्द को उच्च माना है ब्रह्मदेवी ने गन्धर्वानन्द की अपेक्षा वैश्वानन्द को प्रधानता दी है साथ ही गन्धर्वानन्द मानुषगन्धर्वानन्द, देवगन्धर्वानन्द में से ही का विस्तार माना है। एवमेव ही ने देवानन्द के आनन्दशितोत्तरमान में ही ब्रह्मदेवानन्द देवानन्द की स्थिति बतलाई है ब्रह्मदेवीय ने दोनों के मध्य में कर्मदेव देव आनन्द शार्दूल आनन्द, इन दो मात्रानन्दों का उपावेश और माना है। शेषांश दोनों का सम्मिलित है।

मानुषानन्द दोनों का सम्मिलित है। इन्द्रावर्यक का उक्त कर्ममन्त्र विवर है। इन्द्र-आनन्द-देव, इन विद्यानिरपेक्ष कर्मों के अनुपायी मनुष्य का मानुषानन्द निबन्धनान्तर कर्म विवररूप में विरचित हो जाता है। आनन्दपितृलोकवासी ही इन्द्र कर्मों का मन्त्र है। 'स एकः पितृ खां त्रितलोकान्प्रमानन्दः' (इन्द्र) से अति कर्मविवर की ही उपा बना रही है। पार्थिव मानुषानन्द के अनन्तर ही का अन्तरानन्द है।

उपनिषद् गन्धर्वानन्दी में से मातृगन्धर्वानन्द का बृहदारण्यक में मातृगानन्द में ही अन्तर्भाव मान लिया है। कर्मव्या गन्धर्वोनि-प्राप्त मातृगान्ता ही 'मत्पुत्रगन्धर्व' है। इत्यत्र स्थान अक्षर ही कर्मवितर की अपेक्षा निम्न है। वृत्ता है-देवगन्धर्वविष्णुः। नित्य प्रायागमक चान्द्र अन्तरिक्षमुक्त गन्धर्व ही देवगन्धर्व है। कर्मव्याक अन्तिव वितरों की अपेक्षा इनका स्थान उच्च है। अतः बृहदारण्यक ने वितर के अनन्तर इन देव-गन्धर्वों की व्यवस्था स्वीकार की है। शतसंध्य-गन्धर्वी से बृहदारण्यक का रूप नित्य देवगन्धर्व है और वे अक्षर ही अनित्य कर्म-वितरों की अपेक्षा उच्चमूिमिष में प्रतिष्ठित हैं।

“बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः” इस निगमभूति के अनुसार बृहस्पतिवत् पूर्वेषामो में अन्तिम है एवं इन्द्रवत् उत्तरेषामो में प्रथम है। स्वर्गमूिमिष, परमेष्ठी-प्रजापति दोनों पूर्वेषामो हैं। सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी, तीनों उत्तरेषामो (अक्षरवामो) हैं। सूर्यवत् नवाहवत् का २२ वाँ अर्हाण्य 'अपिवाक्यमहाः' कदावा है यही 'महाभ्रतमहा' है। वह सैम्बन्धित्पुरुष "न्द्रतत्त्वात्मक है। यह इन्द्रवत् ही राक्षसवत् की प्रकृति है। यही इन्द्रवत् सूर्यादि उत्तरेषामो का उपक्रमस्थान है। यही इन्द्रवाम पुत्रवो में 'युत्र गत्वा म पुनर्भियन्त' निर्बचन से 'अपुनर्मार' शोक कदावा है। इस पञ्चमिष राक्षसवत्प्रवत् क, अपुनर्मार-शोकम्यक विष्णुदित्र से ऊपर पञ्चराहवत् के केन्द्र में बृहस्पतिवत् प्रतिष्ठित है। सूर्यमुक्त १ में अर्हाण्य से आर म कर १९ में अर्हाण्य पर्यन्त, १९ अर्हाण्यो में व्याप्त पारमेष्ठ्य गोश्वसक ही पञ्चराहवत् कदावा है। २६ वाँ अर्हाण्यक इत मत् का केन्द्र बनता है। यही बृहस्पतिवत् प्रतिष्ठित है। यही बृहस्पति 'वाक्षेयवत् का प्रवत्क माना गया है। अक्षरव वाक्षेयवत् 'बृहस्पतिवत् कदावा है। बृहस्पतिवत्-प्रवत् क यही वाक्षेयवत्पाम पुत्रवो में 'अशोकमहिम' कदावा है। यही बृहस्पतिवत् पूर्वेषामो का उपलंकारस्थान है। इत्यन्तः सूर्य से ऊपर २५ २६, इन दो अर्हाण्यो के सम्बन्ध से पारमेष्ठ्य शोक में इन्द्र, बृहस्पति इन दो वरवो की तथा स्थि ही जाती है। और आशानवेवानन्तर पञ्चमिष विष्णुदित्र प्रतिष्ठित है तदनन्तर नवमिष बृहस्पति प्रतिष्ठित है तदनन्तर परमेष्ठी प्रजापति प्रतिष्ठित है। बृहदारण्यक ने इन्द्र और बृहस्पति का परमेष्ठी प्रजापति में अन्तर्भाव मानते हुए यहाँ आशानवेवानन्तर प्रजापति की व्यवस्था की है यहाँ वृत्तीय ने इन्द्र-बृहस्पतिवत् दोनों पारमेष्ठ्य वरवो का वृत्तकर्म से विभेदण कर दिया है। बृहदारण्यक, तथा वैदिकीय की मात्रान्वयीमिष में यही अन्तर है, जो तत्पत्ता निर्भेद है।

० यथ दुःखेन सम्मिश्र यथ प्रसन्नमन्तरम्।
अमिलापोपनीतं च तत्पर्दं स्वपदास्पदम् ॥

५	(१) प्रथम आनन्द (४८)	—स्वायम्भुव (अन्यस्तान् ५) ।
	(३) प्रजापतेरानन्द (३६)	
८	(२) बृहस्पतेरानन्द (२६)	—वारमण्डयः (महवानन्द ४) ।
	(१) इन्द्रस्थानन्दः (०५)	
	(३) इयानामानन्द (०८)	
	(१) कर्मविधानामानन्द (१७)	—सार (विज्ञानानन्द ३) ।
	(१) व्याजानन्दवानामानन्द (६)	
	(१) विदुःसामानन्द (१७)	
२	(०) देशान्धबाणामानन्द (१५)	—चान्द्र (महानानन्द १) ।
	(१) मनुष्यगणबाणामानन्द (१५)	
१	(१) मनुष्य आनन्द (३)	—पार्थिव (अमानन्द १) ।

“सैषा आनन्दस्य (मात्रानन्दस्य) मीमांसा भवति”
—वैश्वदेवोपनिषत्, महात्मन्युपस्थी ८ अनुषाङ्ग

२३-मानस फी आनन्दलिप्सा, आंग तनुमसाधानप्रकार—

आनन्दमीमांसा का अर्थ क्या है, उत्तर स्पष्ट है। तान-मात-प्राप्त्यो धर्मिक हर्षोल्लास विषयी में प्रवृत्त रहने से कि, य मानस सुख के कारण बनते हैं। लौकिक विरासनन्वयप्राप्त्यो धर्मिक आत्माप्रसन्नता का यह करने हुए उपवास किया करते हैं कि लौकिक विरथा में था हमें आनन्द मिलता है। अन्तर्हित्तन कनी किया बार जबके उनके अनुष्ठान-प्रकारी में विरासनन्व-प्रवृत्ति का पदे पदे विरोध होता रहता है। आनन्दप्रमत्ता में विरयी में आनन्द कामकामी कुपय न भूति वृद्धिनी है कि अज्ञाना तुरं विठना आनन्द आरिष्ट १, कामकामी उत्तर दता है—अर्थ कमी न रहे, यथार्थम् अमिषित परार्थ मिले बाय। अति न तन्व्यो पार्थिवमग तन्मूल गन्

दिया और साथ ही में वह भी उद्धृत कर दिया कि, विद्यार्थी पृथिवी के समस्त मोहों में तुम विद्वान् आनन्द समझे हो, चाण्डालदिमा में हलके शतगुण अधिक आनन्द है। उल्टी साक्षात् दुर्ग, क्योंकि भूमा-साक्षात् स्वामासिक है। चाण्ड आनन्द के आनन्द उत और आनन्द की ओर आनन्दसिन्धु का प्यान आकर्षित किया, जो और आनन्द चाण्डानन्दप्रापेक्षा भी शतगुण अधिक है। तदपेक्षानि शतगुणीकृत पाठोपेक्ष्य आनन्द को सम्मुख रखता। तदपेक्षया भी शतगुणीकृत स्वाध्याय आनन्द की ओर प्यान आकर्षित किया गया। और संकेतज्ञाप इत मावानन्दमीमांसा से वह आदेश दिया कि, पूर्व-पूर्व-आनन्दमात्रा उत्तर-उत्तर-आनन्दमात्राओं से सीमित है। अतएव पूर्व-पूर्व-आनन्दमात्राओं के अनुगमन से उत्तर-उत्तर-आनन्दमात्राओं की क्षमता कनी रहती है, साक्षात् कनी रहती है। क्षमता एक प्रकार का बोध है अशान्ति है। अतएव इन क्षमता मात्रानन्दों में कभी वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती-‘नास्तत्परमं तु-आनन्दसिद्धिं विदितं’। किञ्च मूलापदेशपर्य (इदपर्य) पदानानन्दवृत्ति निष्काम आनन्द की मात्रा ही लेकर मूल पर्य आनन्द (आनन्दवृत्ति) को हुए हैं उसे प्राप्त करना ही मुख्य का पर्यनुसंधान है। तन्वी दुःख का आनन्दनिक निमोह सम्भव है *। वहाँ बोध का आनन्दनिक सम्भव है पूर्व-शान्ति का आनन्द है।

२४-विषयानन्दप्रवृत्ति का अल्पनिक मोह—

विषययोगपरवाच्य करते मन को बीतपग शोध्यवस्थि में आनन्दनन्दन्य प्रदानन्द के अल्पनिक तत्त्व को न समझते हुए इतका उपहास किया है। वे करते हैं कि उत आनन्दनन्द के अल्पेण में बोध पर्य का पयात करेगा किन्तु न इत्यं न इत्यं न इत्यं न अनुभव है न अनुभवकता है। है, तो केवल अल्पन्य। जैसे एक मूर्च्छित मनुष्य बेचना से विवृणुत रहता हुआ बड़बुद निश्चल बना रहता है वही रहा आनन्दनन्दन्य गमिनी की है। यद्युक्त ऐसी शान्ति का बोध अनुगमन करेगा। ‘बाव अल्पनोत्तर में कुण्डल नासिकी की ऐसी ऐसी शक्ति सुनने में तो बड़ी प्रिय लगती है। तत्कालानन्दन्य छोटी छोटी लक्षण उनके इत प्रलोभन का स्वीकार कर लगे और कर बैठें कि ठीक छोटे हैं। मुन्नाहु मोहन उपरार्थन नहीनभवका आदि आनन्दों का अनुभव आनन्द में करी है। तबमुख उत एतन्मत्तः स्थिरवृत्ति में पहुँचना तो अपने आनन्दों का बना लेना है। वहाँ न मोह-यमोह, न इत्य-किंसा न मित्रवोपेक्षित, न भुव्वर इत्यन्वृत्तियं। है केवल एतन्मत्तः निश्चलम्भव। बना अन्तिम आनन्द का परी स्वस्व है। वही अल्प है। तभी तो अल्पनन्दन्य की जैसे अल्प आनन्दन्य की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। एतन्मत्तः कया, बोध भी सम्भवतः [अल्पनन्दन्य विद्वानन्दों को छोड़ कर कभी उत अल्पनन्दन्य अल्पनिक अल्पनन्दन्य की ओर प्रवृत्त न होय।

२५-प्रदानन्द का प्रति लोकात्मिकों की आन्ति, पर्य तस्मिन्पर्य—

क्या लोकात्मिकों का उक्त अल्प लक्ष्यपूर्व है, नैति होयत्। विषयानन्दन्य से ही विचार अल्पन्य। आनन्द की अल्पनिक आनन्द माना क्या है किन्तु मन की लक्ष्यता अनुभव कनी रहती है। किन्तु विषयानन्दों में मन और विषय का एक का पार्यक बना रहता है वे विषयानन्द नीच से प्रकृत होने लगे हैं।

* यदा चमन्ददात्मन्य बहयिष्यन्ति मानवा ।

तदा देवमसिद्धाय दुःखस्यान्तो मविष्यति ॥

'आनन्दविभोर' मन ही आनन्दी कहलाया है। एक वह विमोक्ष्य ही मन की उन्मयता कहलाई है। जिस विषया नन्द में यह उन्मयता आ जाती है, वह विषयानन्द ही तन्मात्र से पूषण्ड का खटा है। विषय उन्नतित आनन्द आनन्द-मोक्षा मन, तीनी मित्तर एकाक्षर कन बाते हैं। मन अपने आपको मुला वेता है। उस आत्यन्तिक विषयानन्द-बन्धना में योही देर के लिए मनुष्य ऐसा मुग्ध कन बाता है कि, उस दशा में उसे बाहिर, भीतर, प्रहा-हरय-आदि भेदों का कुछ भी मान नहीं रहता। पर्वण्य शान्त होने पर उसे स्वयं को ऐसा मान होता है, जैसे वह गहरी नींद से जगा हा। विषयानन्दी में से उस्तीनता प्रवचक ऐसे विषयानन्द ही उक्कट विषयानन्द मारें गए हैं। स्वयं विषयानन्दपरवचण लौकिक मनुष्य भी ऐसे उक्कट विषयानन्दों के लिए ही उदा साक्षात् देखे सुने गए हैं। यही इस बात का प्रमाथ है कि, आनन्द नही उक्कट माना जायगा, किन्तु ही तन्मात्र की अतिआधिक निद्रति, एक उन्मयताप्रवचक आदौ तन्मात्र की अतिआधिक प्रवृत्ति रहेगी।

२६-रत्यानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

और और किन्तु भी विषयानन्द ही सभी अपनी शरमायस्या पर पहुँच कर उन्मयता के प्रवर्तक बनते हुए यद्यपि उक्कट आनन्दभोगि में जाते हुए आदौ तानन्द-से समद्वलित हो जाते हैं, तथापि विषयानन्दी में हो ही उदाहरण ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनमें उन्मयतारूप आह्वयभाव स्वया प्रस्तुति रहता है। अतएव अधियों में आनन्द की सर्वोत्कृष्टता का परिचय कराने के लिए उन दो विषयानन्दी को ही उदाहरण माना है। पहिला विषयानन्द रत्यानन्द है, दूसरा विषयानन्द निद्रानन्द है। रत्यानन्द गेय है, निद्रानन्द प्रबान है। रत्यानन्दलक्षण विषयानन्द लौकिक बन्धनवत् विषयों में कहीं भेठ माना गया। लौकिक मनुष्य भी इसे कभी उक्कट आनन्द मान रहे हैं, परन्तु का एकमात्र उत्तर है इदौ स्वत्व एवं आदौ त-भूत्वत्व। आदौ त-भूत्वत्व का कारण है-पूर्णता पूर्णता का कारण है-दो अर्थात्शरीर का एकत्र उन्मयन। ससानन्द आत्मशात्मक माना गया है जैसे कि भागे स्वयं होने वाला है। आत्मय परिपूर्ण है, अतएव उसे पूर्णपुरुष कहा जाता है। इस पूर्णपुरुषात्मक आकाश के स्वयं-बन्ध मायम से आहरोत द्वारा हरय-आहरय ये- से हो विभाग हो जाते हैं। और अर्थात्शरीर आग्नेय है यही आह-काल है यही हरय अर्थात्शरीर है इसीसे पुरुषवृत्ति का विकास हुआ है। अग्निरत्मन्व से ही आग्नेय-अर्थात्शरीर से कृतात्मा पुरुष आग्नेय अतएव अग्नात् (मोक्षा) कहलाया है। पन्द्र अर्थात्शरीर शीम्य है यही यत्किञ्च है यही आहरय अर्थात्शरीर है, इसीसे स्त्री-वृत्ति का विकास हुआ है। लोम के उन्मय से ही लोम-अर्थात्शरीर से कृतात्मा स्त्रीत्व शीम्य अतएव अन्न (मोम) कहलाया है। केवल पुरुष भी अर्थात्शरीर से कृतात्मा बनता हुआ आदौ त-गता है, अपूर्ण है। केवल स्त्री भी अर्थात्शरीरारिभक्त बनती हुई अपूर्ण है। मन दोनों का दाम्पत्यभाव होता है तो इण ता प्रस्तुति हो जाती है। पुरुष के अर्थात्शरीर की पूर्णता स्त्री के अर्थात्शरीर पर ही निर्भर है। इसी आधार पर—“सौडयमाकाशा सिद्धया पूष्यते”(६ भा १।४।३) यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। अर्थात्शरीराल्पक पुरुष एवं अर्थात्शरीराल्पक स्त्री दोनों का मन दाम्पत्यभाव (मिदुनरत्मन्व) होता है तो आकाशासमवृत्ति शून्य बन जाती है। पूर्ण काय के उन्मय होने ही ही तन्मात्र उन्मय हो जाता है पूर्णरमक आदौ तन्मात्र प्रस्तुति हो जाता है। अतएव उन्मय-तन्मयवर्तिका इस रति में पुरुष-स्त्री, दोनों अपना पार्यन्त भूल जाते हैं, उन्मय हो जाते हैं। परिमित शरीरों तक प्रस्तुति रहने वाला यही रत्यानन्द विषयानन्दी में से उन उक्कट विषयानन्द का उदाहरण है जिसे आदौ तानन्द के परिचय के लिए मध्यम माना जा सकता है। अधिय-आह-काल-मोह-आम

धर्मों में भी का इत रक्षित में सम्भव रहता है। यह सर्वोच्छेद-सर्वनाशक प्रेम प्रथम तो ब्रह्म के साथ ही सम्भव है अथवा तो फली के साथ ही, बिना कि मक्तिपरीक्षा-उत्तरदायक के 'प्रेमामक्ति' प्रकरण में विस्तार में बताया जा चुका है।

रत्यानन्दस्वरूप-विशेषण से प्रकृत में हमें उन विरयानन्द-पक्षपातियों से यह पूछना है कि, क्या रत्यानन्द उन्हें विरयानन्दों में उत्कृष्ट मानना मठीत नहीं होखे? यदि हाँ, तो हम फिर पूछते हैं कि-क्या हममें मोक्षानन्दारि की मूर्ति द्वैतपरीति होती है? क्या अपने आपका बोध यथानुरूप बना रहता है? नहीं, तो फिर उनसे पूछा जाय कि, जब रत्यानन्द में द्वैतभाव नहीं, अपितु कर्तृत्वता है अपने आपका मुहा देना है तो ब्रह्मा में सम्पुञ्जित इत रत्यानन्द के लिए विरयमोक्षपरिणाम के महापुरुष अस्तिभाव में साक्षात्कि कहीं? 'त एव शूच्या'। मानना पड़ेगा कि-रत्यानन्द की वास्तविक रत्यानन्द है किन्में द्वैत-भाव का अभिवाचिक हात हो आईतन्त्र का अधिवाचिक विद्यमान हो। जबकि चक्षुमात्र के लिए प्राप्त रत्यानन्दस्वरूप विरयानन्दस्वरूप आईतन्त्र की सर्वोच्छेदता अनुभवस्थिति है तो क्या वे विरयानन्दपक्षपाती उन आईतन्त्रपरिपूरक ब्रह्मानन्द का उदाहरण कर सकते किन्में चक्षुमात्र के लिए नहीं, अपितु तदा के लिए कर्तृत्वताका रत्यानन्दस्वरूप संश्लिष्ट है। क्या वह मर्मे उन दिव्य-परिपूर्ण-ब्रह्मानन्द को वे ब्रह्मानन्द?। अपने अन्तर्गत में वे आईतन्त्रात्मक किन्तु अधिष्ठ रत्यानन्द एवं आईतन्त्रात्मक किन्तु नित्य-ब्रह्मानन्द दोनों का सम्पुञ्जित करे। और फिर ब्रह्मानन्द-की देखोपादेयता का निर्वाह करे। तत्पदार्थों अर्थात् वे विरयमोक्षपरिणाम ऐसे स्थितियों के उत्पन्न के लिए ही ब्रह्मानन्दस्वरूपपरिणाम के लिए रत्यानन्द की उदाहरण बनाय है किन्तु उदाहरण का एकमात्र लक्षण है-रत्यानन्द में सम्भव रहने वाली आईतन्त्रपूर्ति किन्तु निम्न स्थितिगत स्थितियों में विशेषण हुआ है—

“तद्यथा प्रियया मिथ्या सम्परिप्यक्तो न बाह्य किञ्चन वेद, नाऽऽन्तरम्। पद्मेवाय पुर्याः प्रक्षेणाऽऽत्मना सम्परिप्यक्तो न बाह्य किञ्चन वेद, नाऽऽन्तरम्। तथा अस्मि-
उदात्तस्वमात्मकाममस्वामं स्व्यं शोकान्तरम्” (छाण्डोग्यकोपनिषद् ४।३।२।)

०७-पुत्र-सौम-विनीपणा-प्रवचक रत्यानन्द—

रत्यानन्द के उक्त कीर्तन-उदाहरण के सम्भव में कुछ एक अस्तिव्य-सम्बन्धिमानी प्रतीय विद्वानों में हस्तिए अपनी अस्ति प्रकृति की है कि, ब्रह्मानन्द के पवित्रतम-सोपीतर रत्यानन्द के तम रत्यानन्द-बोधि वैदिक सौमिक अधिष्ठ रत्यानन्द की तुलना करना समीचीन नहीं। उनकी हत अस्ति का उत्तर पूर्व में दिया जा चुका है। उदाहरण से केवल ब्रह्मानन्दप्राप्ति अभिप्रेत है। और विरयानन्दों में आईतन्त्रप्राप्ति की प्रतिष्ठाया से मिलता तुलता उदाहरण एकमात्र रत्यानन्द ही है। अस्ति उदाहरण के द्वारा बुधि की सौमिक मनुष्य के सम्भव ब्रह्मानन्द की महात्ता उपरिपद्य करनी है। यह यह कहना चाहती है कि, कदाचित् विरयानन्दों की अपेक्षा ब्रह्मानन्द ही श्रेष्ठ, अथ, अत्यन्त अनुगमनीय है। मानते हैं-रत्यानन्दारिक्त अस्तिव्य-ब्रह्मानन्द-ब्रह्म अर्थात् अस्तिव्य विरयानन्दों में ही कर्तृत्वताका आईतन्त्रप्राप्ति होती है। परन्तु इन और किन्हीं विरयानन्दों की उदाहरण न बना कर रत्यानन्द को उदाहरण मानने में अधिष्ठ का कुछ और भी प्रयोजन है।

पञ्चरात्र लौकिक कामनाओं का पुत्रकामना, लोककामना, विरककामना, इन तीन कामनाओं में अन्तर्भाव है। एवं आनन्दसिष्य प्रेमी मन की प्रेमभाव कामना की दृष्टि से भद्रा, बालक्य, स्नेह, काम, इन चार अवान्तर भावनों में प्रभावित है। ख्यानन्द ही एक ऐसा उदाहरण है कि, जिसमें पुत्र-लोक-विर इन तीनों सर्वकामनामयी प्रधान कामनाओं का भी सम्भव है, एवं भद्रादि चारों प्रेमभावनों का भी सम्भव है। पुत्रपेया की पूर्ति ख्यानन्द पर ही निर्भर है। अतएव ख्यानन्द (शाम्भ्य) के पत्न्यरूप पुत्र को भी अति ने 'आनन्द' नाम से ही अभ्यहृत किया है * । पुत्र ही एकमात्र लोकप्रतिष्ठा का लोकमुक्ति का लोकेयणा का पूरक माना गया है X । एवं पुत्रार्थ ही पिता की विधियणा की द्वार प्रवृत्ति रहती है। बिना पुत्रसम्पत्ति के मनुष्यका विधिसम्पत्ति से भी विरग हो जाता है। इत्यकार पुत्रके द्वारा ख्यानन्द तीनों एयकाओं का समाह्व बना हुआ है। इन्हीं सब तत्त्वदृष्टियों के आधार पर अति ने ख्यानन्द को ही उदाहरण माना है जिसके तात्त्विक दृष्टिकोण से अपरिचित रहने के कारण ही भूतदृष्टिपरबल प्रतीत्य विद्वान् 'मुन्नमस्तीति बलन्त्य, वराहस्ता हरीतकी' को अन्वय बनाते रहते हैं।

२८-निदानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

अब दो शब्दों में बूरे प्रधान निदानन्दरूप विपवानन्द की भी मीमांसा कर लीजिए। यह ठीक है कि, अन्यान्य विपवानन्दों की अपेक्षा ख्यात्मक विपवानन्द अर्थात्तुभूति में प्रधान रहता हुआ तात्त्विक उदाहरण बन रहा है तथापि एक विशेष हेतु से इत उदाहरण को भी निदानन्द से सर्वमना समन्वित नहीं माना जा सकता। आनन्द का स्वरूपनिर्बचन करते हुए पूब में यह बतलाया गया है कि, आनन्दतत्त्व स्व-स्वरूप से अग्रद्वित विपर तत्त्व है। क्रियारूपा कर्मनमर्यादा से यह सर्वथा अलक्ष्य है। ख्यानन्द उक्तिविभाजित है। वा तत्त्वों के मिथुनीभाव से तात्कालिक ख्यानन्द प्रादुर्भूत हुआ है। यद्यपि आनन्दत्वेन ख्यानन्द निदान

*—“काऽऽनन्दता याश्चवन्त्य ? (इति जनकः पप्रच्छ) । मन एव सम्राट्-इति होवाच (याश्चवन्त्य) । मनसा वै सम्राट् स्थियममिहायति । तस्यां प्रतिभ्यं पुत्रो जायते । स आनन्दः” (बु०भा०४०४।१।१।)

X—“यावन्त पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि ।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितृस्त ॥१॥
किं नु मत् किमग्निं किम् शमभूषि किं तपः ।
पुत्र प्राप्स्य इच्छर्त्तं स वै लोकोऽभ्यदावद ॥२॥
नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत् सर्वं पशवो विदुः” । (वे०भा ३३।२।)

अथ पुत्रस्य पौत्रेण अन्नस्याप्नोति विटपम् ॥

—विद्युत्सुक्तिः

एव विरय वा वैदिक विवेचन आद्विचान ३ लघु में देलना चाहिए ।

ही है, तथापि इच्छा क्रियाप्रवृत्ति से सम्बन्ध है। उन्मत्तव्यापारकर्म ही तन्मूर्त की प्रवृत्ति ही स्वानन्द का निमित्त बनता है। इसके अतिरिक्त एक ही स्वानन्द का अनुभव भी विनिश्चित बन रहा है। प्रथम का स्वानन्द स्वरूप है स्त्री का स्वानन्द स्वरूप है। दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित एक ही स्वानन्द दोनों का योग बन रहा है। यही वृत्त ही तन्निमित्त है। इसके अतिरिक्त स्वानन्द में प्रवृत्त दोनों को ही यद्यपि शब्द-आत्मन्तर प्रपञ्च का बोध नहीं रहता तथापि स्वतन्त्रपार्ष्ण्य बोध अत्राय सुरक्षित है। दोनों स्वानन्द में लीन रहते हुए भी प्रत्येक अस्तिस्व का अनुभव कर रहे हैं। तभी तो व्यवहृत व्यापार संकल्पित रहता है। किमुत्र अद्वैतमय में तो क्रिया का आत्मनिक रूप से निरोध हो जाता है। यही तीव्र प्रैतनाथ है। इन्हीं कुछ एक कारणों से स्वानन्दबोधाहरण में अराध विभक्तता आ रही है। स्वानन्दबोधाहरण की इसी अराधि को तन्मय में रहते हुए प्रवृत्ति में वृत्ते 'निदानन्' को उदाहरणरूप से विषयानन्दप्रैमियों के सम्मुख उपस्थित किया है।

आप्त, स्वप्न सुषुप्ति, मेद से तीन अवस्था प्रधान मानी गई हैं। तीनों का क्रमशः प्रधान (मन) विज्ञान (इन्द्रि) महान्, इन तीन अवस्थाविकृतियों से सम्बन्ध है। प्रधान-विज्ञान-महान्, तीनों की साम्य-वस्था आत्मवस्था है। प्रधान-विज्ञान दोनों की आत्मवस्था स्वप्नावस्था है। महान् की आत्मवस्था सुप्ता-वस्था है। एवं महान् की सुप्तावस्था मृत्यु-आवस्था है। आध्यात्मिक विद्वान्ना महत्त्वमें ही प्रतिष्ठित रहता है। इत्यवस्थित-महत्त्वविज्ञान विद्वान्ना ही बीजात्मा है। जब तक महान् स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित है काव्य है तभी तक बीजात्मा तन्-शरीरपुर में प्रतिष्ठित है। महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित आत्ममय से निकलने वाली अन्तरिमयी से विज्ञान प्रकाशित है विज्ञान से प्रधान प्रकाशित है प्रधान से इन्द्रिय-हाय विषय प्रकाशित है। अन्तः प्रधानरिमयी इन्द्रियहाय अन्तः विषयों को प्रकाशित करती रहती है तभी तक इन्द्रिय व्यापार होता रहता है। यही प्रधान की आत्मवस्था है यही प्रधानसुप्तावस्था प्रथमा आत्मवस्था है। जब प्रधानरिमयी शिष्ट कर प्रधानत्व में लीन हो जाती है तो इन्द्रियव्यापार अन्तः हो जाता है। यही प्रधान की सुप्तावस्था है। इत अवस्था में प्रधानव्यवस्था पर प्रतिष्ठित अन्तःकारिक विषय विज्ञानहाय प्रकाशित होते रहते हैं, इसी विज्ञानप्रकाश से प्रधानव्यवस्था अन्तःकारिक विषयों का परस्पर अन्तःकारिकत्व से सम्बन्ध होता रहता है। प्रधान की सुप्तावस्थाका, विज्ञान की आत्मवस्थाका नहीं कृती स्वप्नावस्था है। अन्तः अन्तः विज्ञानरिमयी का ही विज्ञानोक्त में निक्षेप हो जाता है। अन्तः अन्तः प्रधान से अर्थात् अन्तः रहते हैं। प्रधान को अपने गर्भ में रहने वस्था विज्ञान (विज्ञानरिमयी) प्रवृत्तिनाम्नियों के हाथ अन्तः महान्प्रपञ्च उन्मत्तविज्ञान में लीन हो जाता है। यही विज्ञान की सुप्तावस्था किन्तु महान् की अन्तः-वस्था है। यही तीव्र सुषुप्तावस्था है। महान्प्रपञ्च अन्तः 'स्व' है। इत अवस्था में प्रधान-विज्ञान-आदि तन्मयानात्रार्थ इत तन्मय में अर्पित हो जाती है इत जाती है अन्तः 'स्व'रिमयप्रैमियों महत्ति निर्बन्धन से इत अवस्था से मुक्त अन्तः के लिए 'स्व'पिति कहा जाता है। केवल यही अपने महत्त्वस्वरूप से प्राप्त रहता है। निदानवस्था अन्तःकारिक अवस्था है सुप्तावस्था नहीं, यह विषयमयी स्वीकार करेंगे। परन्तु देवते हैं-निदानवस्था में अन्तःकारिक अर्थात् है। अन्तः नहीं, अन्तः अन्तः अन्तः। तभी तो निदानन्तर 'सुप्तावस्थावस्थावस्था' (बड़े मुक्त से छोड़) यह वाक्य मुक्त से निष्कला है। प्रधान-निदानवस्था अन्तः सुप्ति में मुक्त है। परन्तु महान्-व्यवस्था अन्तः है। अन्तः निदानन्निदान का अन्तः नहीं कहा जा सकता। अन्तः इसी अन्तः के कारण सुप्तावस्था में भी आन्त-महात्वादि मान्यव्यापार होता रहता है। इत व्यापारव्यवस्था से ही

ज्ञानसत्ता स्वीकार करनी पड़ती है क्योंकि बिना ज्ञान के व्यापारप्रवृत्ति असम्भव है। निद्रानन्द में वही का भाव्यनतिक्रमण है। अर्थात् अज्ञानज्ञान शान्तानन्द का साम्राज्य है। अतः अज्ञान ही इसे ब्रह्मानन्दस्वरूप परिचय के लिए मध्यस्थ उदाहरण माना जा सकता है। निद्रानन्द यदि विषयानन्दप्रैमियों की दृष्टि में शान्तिसदृश है, स्वास्वप्नसदृश है, उपादेय है, बह्यमात्रासंश्लेष है, तो अज्ञानसदृश ब्रह्मानन्द भी अज्ञान ही पूर्ण शान्ति-शाश्वतशान्ति का अधिष्ठान कन्या हुआ अज्ञानमेव विषयानन्दापेक्षया सर्वोत्कृष्ट बह्यमानन्द है, बिल्के निद्राब्रह्मयानुगत शक्ति प्रसन्नमात्र से हमारी अध्यात्मसंस्था के सम्पूर्ण विचार पूरे हो जाते हैं। एक बात ध्यौर। स्वानन्द ब्रह्मानन्द का भाषात् उदाहरण न बन कर परम्परया उदाहरण कन्या है। भाषात् उदाहरण तो निद्रानन्द ही है। अतः स्वानन्द निद्रानन्द का उदाहरण है, निद्रानन्द ब्रह्मानन्द का उदाहरण है। अतः ही इसी रूप से दोनों उदाहरणों का सम्भव हुआ है। निम्न लिखित उपनिषद्बचन इसी निद्रानन्द का स्वरूपविरहोपगच्छ कर रहे हैं—

- १-“तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा, सुपर्णो वा विपरिपत्य भ्रान्त-संहत्य पर्वा संलयापैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति । यत्र सुप्तो न कञ्चन कर्म क्रमयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति” (इ० उ० ४।३।१।)।
- २-“अथ यत्र (निद्रावस्थायां) देव इव, राजा-इव-अहमेवेद सर्वाऽस्मीति मन्यते । सोऽस्य परमो लोकः” (इ० उ० ४।३।२।)।
- ३-“तदा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहृतपाप्मा-अमयं रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया० । एवमेवायं पुरुषो न बाह्यं वद, नाऽन्तरम्” (इ० उ० ४।३।३।)।
- ४-“अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता० । तीर्थो हि तदा सवाम्बुधोकान् हृदयस्य भवति” (इ० उ० ४।३।४।)।
- ५-“यद्वा तत्र पश्यति, पश्यन्वा तत्र परयति । न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशिच्चात् । न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्रिमक्त यत् पश्यत्” (इ० उ० ४।३।५।)।
- ६-“सलिल एवमेव द्रष्टा अद्वैतो भवति । एष ब्रह्मलोकः सम्राट्-इति ह्येनमनुशशास यज्ञवन्धय । एषाऽस्य परमा सम्पत्, परमा गतिः, परमो लोकः, परम आनन्दः” (इ० उ० ४।३।६।)।
- ७-“यत्रैतत् पुरुष स्वपिति नाम, सत्ता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति । स्वमपीतो भवति । तस्मादेनं स्वपित्वावचते । स्वं अपीतो भवति” (इ० उ० ४।३।७।)।
- ८-“तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, आसु नाडीषु तदा सुप्तो भवति । त न कञ्चन पाप्मा स्पृशति । तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति” (इ० उ० ४।३।८।)।

६—“अथ यदा सुपुप्तो भवति, यदा न कस्यचन धेद—दिता नाम नाभ्यो द्वाप्तति सद्भाषि ह्यात् पुरीकृतमभिप्रतिष्ठन्ते, तामि प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते” ।

(बृ० उ० २।१।२६ ।)

२६—आनन्द, और सुख का पार्यक्य—

प्रसङ्गोपात्त मात्मानन्दमीमांसा तत्प्रयोक्तव्यं ब्रह्मानन्द के प्रति शोकप्रतिक्रिया का आद्येय, उपानन्द-निब्रह्मानन्दद्वारा—आद्येयनिब्रह्मण इत्यादि प्राक्किक विषयों की मीमांसा की गई। अब हो शब्दों में आनन्द तत्त्व की छद्म परिभाषा का छद्मभाषा में निरूपण और कर कर दिया जाता है। आनन्द को छद्मभाषा में हम ‘सुख’ कह सकते हैं। कथतः आनन्द और सुख विभिन्न तत्त्व हैं। ‘शान्ति-सन्ध्या आत्मनन्द आनन्द है। ‘सुखि-सन्ध्या मात्मानन्द (निब्रह्मानन्द) ‘सुख’ है। आनन्द ‘शान्तानन्द’ कहलाया है, एतत्सुखसमग्रानन्द’ कहाया है * । इन्द्रियविवर ही ‘पर्याञ्चि स्नानि स्मृत्यात् स्वयम्’ (ऋ० १।४।१) के अनुगत ‘स’ नाम से व्यञ्जित हुए हैं। इन ल-बगों (इन्द्रियबगों) की शून्य, पूर्ण को अचरता रहती है। इन्द्रियकम ल-भाषों में यदि रूप-रस-गन्धादि विषय प्रसिद्ध रहते हैं, तो वे ‘ल’ पूर्ण रहते हैं। यही पूर्णता इन्द्रियों का लक्षण है। यही ‘ल’ का ‘सु’ मात्र है। ऐसी विषयपूर्ण इन्द्रियों ही ‘सु-ल’ हैं। यही ‘सुख’ की तात्त्विक निश्चिति है। अधिक अनुकूल दक्षिण-दिवकर विषयों से ‘सु’ सुखिपर बन रहते हैं। अतएव ‘सुखिपरभावप्रयो-जकानि अनुकूलविषयैः परिपूर्णाणि-इन्द्रियाणि’ निर्वचन से भी विषयपूर्ण अतएव सुखिपर ल-भाषों को सुख का अर्थ कहा है। ठीक इसके विपरीत-हानिप्रद-अदक्षिण-अदिवकर-दुःख विषयों के आग्रहण से ल अग्रान्त होजाते हैं। यही दुःखानि-स्नानि-रूप दुःख है। निब्रह्मानन्दानन्द में इन्द्रियकर्मा अर्थ है यही ल का दुःख ही है। इत्येत्ये मी इत मय को ‘दु-ख’ कहना अन्वर्त्त बनता है। ‘सुपु-पूर्णाणि-स्नानि यत्र तत् ही ‘सुखम्’ का निर्वचन है ‘दुपुटानि शून्यानि स्नानि यत्र तत्’ ही ‘दु-खम्’ की निश्चिति है।

सुख (इन्द्रियक आनन्द) की दृष्टि से उत्पन्न विषय के बहवाक्य प्राक्कियों का आनन्दसुख अन्वृत्तित है। एक निर्वचन निब्रह्मानन्द से कितना सुखी है एक समाप्त भी निब्रह्मानन्ददृष्ट्या उत्पत्तिमि ही सुखी है। कस्मा बोधिय, आमी आय निर्वचन हैं। किमी से एक छद्म व आप को मिसे शास्त्र आत्मनन्दसुख में इन छद्म रूपों के आपात से उठी प्रचार द्वाय मरके लिए एक शहर उत्पन्न हो गई जैसे शान्त मन्दिर में पापात् प्रदुष से अतमात्र के लिए एक उत्पन्न हो जाती है। यही शहर आत्मनुक अन्वृत्तानन्द है (सुख है)। यद्य मर के लिए आपका प्रदान-बदलत बढ़ता, फिर शास्त्र इत्यादि। यह शान्ति, और निर्वचनकरता की शान्ति, दोनों अन्वृत्तित हैं। शास्त्र-बोध-अनुद-अनु द-रात्मन-साधारण-ज्यों ज्यों वे विपत्तिप्रद आपको निशते बार्थी त्यों त्यों उठी अनुपात से प्रदानबदलत द्वाय मर के लिए उद्वृत उद्वृत कर शास्त्र होता जायाय। अधिक आत्मनन्दतर यही पूर्वाकरता उदित होती जायगी। और इतप्रकार निब्रह्मानन्ददृष्ट्या आप की समाप्तकरता आत्मनि निर्वचनकरता से उर्ध्वा अन्वृत्तित रह जायगी। क्या अधिक उत्पन्न को अतएव—

०—सुखनदृष्ट्या सुख और सुखि में अन्तर है। तत्कालिक इन्द्रियक सुखि यहाँ ‘सुख’ मात्र है यहाँ ल-भाषापर्यन्त सुखित अनुभोगानुगति ‘सुखि’ है। दोनों की समष्टि के लिए ही लोक में ‘सुखसुखि’ वाक्य प्रयुक्त है।

पक्षया अधिक सुख मिलता है ? निर्बन्ध को मरो ही ऐसा प्रतीत मात्र हो, किन्तु वस्तुस्थिति कभी ऐसी नहीं है। सुमानन्दानुभवदृष्टया सर्वत्र सुमानुभव सम्प्रलित है। कारण स्वयं है। विषयानन्द से आत्मानन्द में कोई हास-इति नहीं होती। हाँ, आत्मानन्द आकृत अवश्य हो जाता है। अतः वह अवश्य कहा जासकता है कि, जिसके कोश में कितना अधिक विषय-परिग्रह है वह उतना ही अधिक अशान्त है। आगन्तुक विषयपरिग्रह से स्वाभाविक आत्मस्थान्ति का अभिमव अवश्य सम्भव है-निश्चय नहीं। अतः सम्पत्ति की विपुलता के वास्तव्य के आचार पर सुख-दुःख की व्यवस्था करना अवास्तविक है निमूल है। सम्पत्ति के आचार पर दुःखवारण्य की ही व्यवस्था की जासकती है।

३०—भूमानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

आनन्द, प्रमोद, मोद, हर्ष, आहाहा उखाठ, आदि सभी मात्रानन्दलक्षण इस सुलारमक विषयानन्द के अनान्तर विषय हैं। नियमने-दृष्ट्या सब विभिन्न हैं विषयत्वदृष्ट्या सब सुलारमक हैं। एवं निययविषय-दृष्ट्या सुख और आनन्द अभिन्न हैं। इत आनन्दग्राम्य की तद्व्यपदिभाषा क्या ? यही वह स्वयं प्ररत है, जिसके उमादान के लिए शिवित नहीं, भारतीय दार्शनिकेतर दार्शनिकों ने, विवेचकों ने किन्तु महा निम्नो से अपनी प्रथा को स्थापित किया होगा, जबकि भारतीय महर्षिओं ने स्वधर्मापानवी अपनी केवल सत आचर की एक पहिक्त में ही इस दुःख सत्व का स्वस्वमिच्छेयण कर जाता है। लक्ष्य दीनिय निम्न शिक्ति पहिक्त पर, और मनन कीबिए उसकी ममीयमहिमा का —

‘यो वै भूमा-त्तु सुखम्’ (जा० उ० ७२३।१)।

जिसे हम लोकभाषा में बहुत कहा करते हैं उठी के लिए वेदभाषा में ‘भूमा शब्द व्यवहृत हुआ है। ‘बहोभाषा-भूमा’-‘अतिशयेन बहु-सुखिष्ठ एव भूमा’ इत्यादि निर्बन्धनानुसार बहुत्व का ही नाम भूमा है। वही सुख की वास्तविक वह व्यापक परिभाषा है, जिसके गर्भ में स्वभावत् सुखविवच प्रविष्टित हैं। पहिले लोकवृत्ति (नियवृत्ति) से भूमा की सुखप्रथा का समन्वय कीबिए। यदि निवासस्थान विपुल है कहा है तो उठमें संकुचित स्थानापेक्षया अधिक सुख मिलता है। मोहन-राजन-चलन-आदि व्यापारी का सुखत्व भी इसी भूमा पर निर्भर है। सम्पत्ति की अतिअधिक भूमा अधिकअधिक सुखप्रवृत्ति का कारण मानी गई है। पूर्व में हमने प्राप्तिमात्र के सुमानुभव को समप्रलित बतलाया है। वह कथन आत्मानन्द की दृष्टि से स्वयं मानना चाहिए। आत्मानन्दपेक्षया सभी नियवानन्द सम्प्रलित हैं। किन्तु स्वयं नियवानन्दों की पारस्परिक दृष्टना में बहुत्वयुक्त नियम अस्वरूपयुक्त विषयानन्दया भूमानुभव कतत हुए विशेषतः सुखप्रवचक बनते हैं। नियम दुःख के कारण माने जाते हैं परन्तु तत्कतः भूमा का अभाव दुःख का कारण बनता है। एक स्वयं का मिल जाना दुःख का कारण नहीं है, मिल कर छिन जाना दुःख का कारण है। जो जिस स्थिति में पहिले स है वह बहुत्वभाव से युक्त होकर सुखी अवश्य होगा परन्तु दुर्भाग्यवश यदि एकका आगन्तुक बहुत्व न योग्य तो इसे पूर्वस्थापेक्षया भी अधिक दुःख होजासगा। पुत्र-पौत्र-धन-व्याम्य-समी भूमानुभव बनते हुए सुखप्रवचक हैं, अस्वस्थानुष्णमी बनते हुए दुःखप्रवचक हैं। अतएव दुःख की-‘नास्त्य सुखमस्ति’ (जा० उ० ७२३।१) वह परिभाषा की जाती है। अस्तथा ही दुःख-शोक-मन-क्लेशाणि पाप्माणां की बनती ह, जितका अनुभव हमें अपने पाप कर्ती मार्गवच बलसत्त्व के द्वारा प्रतिदिन हुआ करता है। किशालकरीवर भूमा से युक्त है वही १०-२ क्या, कैफ़ों मनुष्य निर्निरोध प्याह युक्त लकत है, किन्तु अस्य लोदनसिद्ध के द्वारा

आगत ब्रह्मण्य की अस्वभावमात्रा अत्रमाहर्षी में तर्पण उत्पन्न क्यती खती है। निदर्शन है। एहएत मे बलकन हल्ले रूप, रूप मे जापी, तज्ञाण हरोवर, नट महान, तागर, लमुत्र, इनमें बतरोवर मूमा का लप्राग्य है पूर्वपूर्व अस्वता का प्राचाम्य है। अस्वता सत्र तुल्य है मूमा सत्र तुल्य है। पार्थिव अद्विकस विपय म्मस्य बुधियन्वेक्षया अस्व है बुधियी भूमा-अस्वमयी है। अतएव इत्सल पार्थिवानन्द अद्विकस्य अस्वताओं की अपेक्षा मूमानुगत बतल्य हुआ मनुष्य के सिद्ध परमानन्द है। बुधियन्वेक्षया आन्द्रात्परिवृष्ट मूमा है, तपेक्षया स्वेरमसदृश तपेक्षया पारमेष्ठ्यमसदृश एवं तपेक्षया स्वात्तुम्भवमसदृश भूमा है। निरीम मूमा प्रमानस्य भूमा है। परी आत्मभूमात्तया अस्मानस्य है।

३१—भूमा, और तप आकाश-

मामक नहीं भूमा का बुद्ध और विशिष्टता इत्यादि। मूमा विपय की अस्वता-महता से सम्बन्ध रखती है अथवा नभ्या न ?। विशिष्टतावैपुण्य भूमा मे अभिप्रेत है अथवा विस्मयक्याबहुत्व भूमा से म्माप्र है ?। हाँ मी, और ना मी। यदि विपयवैपुण्य मे विपयवारभूत आकाशप्रदेश अपेक्षित है, तब ठी १। यदि विपयवैपुण्य मे मत्य हर परमासु अभिप्रेत है ता ना। एवमेव संकथ से यदि संकथमारभूत आश्रयविशेषा निरपेक्षा एकरासंघ अभिप्रेत है ता हाँ। यदि विपयक्या से मदेव १-२-२-आदि सर्व संस्कार्य अभिप्रेत है, ता ना। प्रदेश का नाम भूमा है। प्रदेश बह अक्षरा है किन्ने नामस्वतयाक विपय प्रसिद्धि रहते हैं। अक्षरासमक प्रदेश 'शून्य' तब है। आ इत्स मे परिपूर्ण हुई शब्दी में आ-इत्सपाशा-तक अक्षरा-प्रदेश ही 'शून्य' हितम निर्बन्ध मे 'शून्य' है। यह शून्य तस्का पूर्ण है। इत्स पाशा-सक शून्यकता अक्षरा है। अक्षराशासक आकाश ही नामस्वतयासक अक्षराक सर्व विपयों को स्व-स्वस्वोत्सव विपयि तब के सिद्ध अक्षरा प्रदान करता है शेष कि- 'आकाशमक्षराप्रदाने' (गर्भक-विपय १) इत्यादि अविपयकृति से प्रमाणित है।

३२—शून्य-पूष-स्वरूपदिग्दर्शन-

अतत्त्वानुगामिनी में आकाश का अथ शून्य म्माक रक्या है और शून्य का अर्थ 'बुद्ध नहीं' मान रभ्या है। आकाश शून्य अक्षर्य है परन्तु शून्य का अर्थ है प्राचाय-बीजमय अक्षराय प्राणायमक या इत्सा-स्य तया विपय 'शून्य' बुद्धम मपयानमिष्टम्' (अक्षर १।१ [२०]) इत्यादि मत्र ही विशिष्टता हुआ है। अस्वता का मी अर्थ अविभाष्य में शून्यपान (गामी बने) ही म्माप्र आता है। परन्तु अन्तु अक्षराय इत्सप्राग्य १। तनी ठी प्राणा व अक्षराता (अ० आ प० ६) बह बुद्धि विरतिर्था इती है। तन्मूल विपय में तब मी पान पद नहीं है बर्दा बह बीजमय आकाशतया आ-त्स अन्तु न हो 'नम्नाटने पक्षे पान विपय'। (अक्षर १।१६।१६।) इती मे तस्या बीजनीय रत विपता है। निराक्षर प्रदेशों में एह अक्षर्य मे विपय रहता है। अतएव अक्षर्य-आकाश प्रदेशों में बर्दा प्रसन्द मूर्ति प्रसन्न मन अनुता जाता है परा निराक्षर प्रदेशों में अक्षर्य शून्य इत्सप्राय के लक्षणे मे मन प्रसन्नित हो पक्ष्य है। गुपी इवा में 'शून्यगुपीया महा शून्यता के अनुगत पक्ष अनुगत मरदान मामक अन्तिरिद्ध इत्स रहता है। परी का तम्बक मारे का मी अक्षराय है। उधर आकाश-आकाश-शून्य-शून्य-प्रदेशों-दरों में- 'यद्वा' ज्ञाना माधि-वादि, तन्मय पक्षरैवपु के अनुगत अक्षर्यपक्षक तयाविज्ञाना पक्षरयक के प्राचय मे मीर हा

भी स्वस्वरूप से आवृत्त रहता है, एवं महत्वानिन्द्र (बामध्वेन्द्र) का भी प्रवेश निषिद्ध रहता है। अतएव भूमामाश्वजित वह अस्वता दुःख का कारण बन जाया करती है। अश्वकारात्मक आकाश यद्यपि स्वस्वरूप स शून्य है (इन्द्रप्राणसमक है) तथापि नामरूपकर्मरामक प्रपञ्च से इसकी शून्यलक्षणा पूर्णता पूर्णलक्षणा-शून्यता में परिणत हो जाती है। 'मर्दं पूण-तत्त शून्यम्, यत् शून्यं-तत्त पूणम्' ही शून्यपूर्ण का विवेक है। बिन मौलिक प्रपञ्चों से हम आकाश को पूर्ण मान रहे हैं वस्तुतः यह आकाश की शून्यता (अपूर्णाता) है क्योंकि यहाँ आकाश की शून्यतालक्षणा पूर्णता विधियों से आवृत्त रहती है। नामरूपकर्मरामक इन विधियों का प्रयुक्त कर कर आकाश तत्त्व पर दृष्टि डाली जाती है, तभी आकाश स्वपूर्णातालक्षणा शून्यमात्र से प्रस्तुत होता है तभी आकाशरामक भूमामात्र प्राप्त होता है। इसी तत्त्व को लक्ष्य में रखते हुए भुक्ति ने कहा है—'आकाशं शून्यं कल्प्या' (नामरूपान्मर्थं विमुञ्च्येति यावत्) —(अमृतचिन्मुपनिषत् ११)

शुन इन्द्रात्मक आकाश ही पुरुषाकाश है, या पुरुषाकाश षोडशी कहलाया है जिसका अगले परिच्छेदों में विस्तार में उपलब्ध होने वाला है। केन्द्रगत तदुपकार में षोडशीपुरुष प्रतिष्ठित है। केन्द्रानुगत आकाशात्मक तत्त्व ही इन्द्र है। अतएव इन्द्रो ह वै षोडशी' (शत ४५।१।१।) रूप से यह भी षोडशी कहलाया है। यही षोडशी-इन्द्रात्मक आकाशानन्द उत्पत्ति-रिपत्ति-मङ्ग-का प्रबर्तक बनता है। वृत्तराश्यों में भूमामात्र आकाशानन्द ही विश्व का सत्त्व है। आकाशानन्द ही रमानन्द का प्रबर्तक है। स्वानन्दस्वरूप में परिणत होकर ही यह आकाशानन्द प्रबर्तकत्व का अग्रण करता है। विद्वान्तर है कि, जित दाम्पत्य सम्बन्ध में केवल विषयकामना-गुष्टि की प्रवृत्ति रहती है दम्पती में आनन्दोद्वाह नहीं रहता, वैसा निरानन्द दाम्पत्य कभी प्रबर्तक नहीं बन सकता। प्रबर्तकत्व ही क्या, किन्ती भी लौकिक-पारलौकिक कर्मों में बिना आनन्द का आचार बनाए प्रवृत्ति ही नहीं होती—'यदा य सुखं लभत करति नासुखं लभ्या करोति' (कां ३ - ७।२।१।)। यही आकाशानन्द माधनादि इतर लोभाधिक आनन्दमात्रों में परिणत होकर हुआ विश्ववीक्षण का कारण बनता है। यही आकाशानन्द अपने मातृत्विक नामरूपविमुक्त शून्यानन्दमात्र में परिणत होकर हुआ तब का प्रबर्तक बनता है वैयक्तिक निम्न लिखित बचनों से प्रमाणित है—

१—'सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाश परायणम् । सवायि ह वा इमानि भूतान्याका-
शादय जायन्ते, आकाशादव जस्तानि जीवन्ति, आकाशं प्रयन्त्यमिसंविशन्ति ।
तस्मादाकाशं बीजम् (संसारमहीरुहस्य)'"—(नृसिंहपूषतापिन्मुपनिषत् ३।१।)

२—'अस्य सौम्य (विश्वस्य) का गतिरिति ? । 'आकाश' इति होवाच । सवायि
ह वा इमानि भूतान्याकाशादव समुत्पद्यन्त, आकाशं प्रयन्त्य यन्ति । आकाशो
धो धम्यो ज्यायान्, आकाशं परायणम्'"—(कां ३०।१।१।)

३३-आकाश की आनन्दरूपता—

सोमिनेत् । इन्द्रात्मक आकाश पर सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, विधित मङ्ग निर्धार के मान लिये ।
पन्तु यह आकाश आनन्द है यह अत्र तत्र तत्र न ही गया । प्रमाणवाद में परिणत अनुभवदृष्ट्या सम्भव

कीर्ति। आकाश तत्र नामरूप च प्रकृतं, किमु स्वयं नामरूप से व्युत्पन्न है। इत विद्यान्त की मान कर आकाश की आनन्दस्वरूप का प्रत्यक्ष कीर्ति। मोक्ष से आनन्द आता है, वह सर्वानुभूत निश्चय है। बिल मुक्तसुख में मोक्षस्वरूप प्रसिद्ध होकर आनन्दके कारण करते हैं, वह सुख आकाश ही तो है। किन्तु इत्यपेक्षरूप आकाश में प्राप्त होकर गुणावकाश में जाता आता है, वह इत्यावकाश आकाश है। गुणावकाश—इत्यावकाश के मध्य में प्रतिक्रिय इत्यव्याख्यावकाशरूप अवकाश आकाश है। मोक्षरूप को विद्यमान बनाने वाला व्यक्तिसंस्काररूप अवकाश आकाश है। विद्य-वर्धित अम को गुणावकाशरूपानुभूतव्यापार से मुक्त बनाने वाली विद्या का आचाररूप गुणावकाश अवकाश आकाश है। निर्गुण मोक्षरूप के रक्षणसाधक संस्कार-व्यापार का आचाररूप उदररूप अवकाश आकाश है। मधुनिर्गमस्वामरूप अवकाश भी आकाश है। अम-रूपव्यतिरेक भी आकाश है। अमररूप शरीरवस्तुओं की प्रसिद्धरूप अवकाश भी आकाश है। स्वयं अव्याप्तस्वरूप का आचाररूप शरीरवकाश भी आकाश है। पार्थिव मोक्षरूप के कारण अम-मोक्षान्ति पार्थिव पदार्थ, इनका उपादान पृथिवी, पृथिवी का उपादान आच (बल) आच का उपादान ठेक ठेक का उपादान बज्र, बज्र का उपादान अमृताकाशरूप इन्द्रपत्नी नामक आकाश (सदुत्पन्नरूप मर्त्याकार) वायवकाश का आचाररूप अमृताकाशरूप-आत्माकाश। इस परन्तु से स्वयं मोक्षरूप भी आकाशरूप ही है X। "अवकाश 'मोक्ष आनन्द' का कारण है। इस वाक्य का निर्वर्ण नहीं निकलता है कि 'आकाश ही आनन्द का कारण है'। मोक्षसाधक से ही अमररूप विद्यान्तों की आकाशरूपता व्यक्त्याता है। दर्शनानन्द अवस्थानन्द, अमस्थानन्द, शक्तानन्द स्वानन्द, अमगानन्द, किन्तानन्द, अमयानन्द, आदि आदि विद्ये भी विद्यान्त हैं। तत्र भौतिक आनन्द है। भौतिक पदार्थ प्राश्नमहाभौतिक है। तत्र का मूलप्रमथ आकाश नामक महाभूत है। महाभूत ही महाभूत है। समूर्ण मह ही आकाशरूप महाभूत की भाषा से लेकर व्युत्पन्न है। अत्यन्त अज्ञ का लक्षण है कि, मूला आकाश है ही आनन्द है।

अब एक स्पष्टि करों इस पेटों को पहार कर लेटता है। हेट कर अमरार्थ होता है तो उल्लेख मुक्त से निकल पड़ता है—अज्ञ अज्ञ आनन्द आच। बैठे बैठे इस रूप पेटों को इतरका किन्तु करते हैं। इति-याज्ञ के एक जाने पर आमाज्ञ के लक्ष्य आमाज्ञ के एक जाने पर इतियाज्ञ के लक्ष्य अमी शिर के लक्ष्य, अमी शिर के लक्ष्य अमी पुटनी के लक्ष्य अज्ञे करते हैं। अमी विद्याएँ आनन्दरूप हैं, शान्तिरूप हैं। परन्तु इन अज्ञ मूलाकार आनन्दरूप ही है। यदि अज्ञरूपरूप आनन्द न हो, तो इत्यावकाश-अज्ञरूप अज्ञरूप अज्ञरूप हो जाय। अज्ञरूप में मूलाकार-आनन्द इन से हीन लिया जाता है। अज्ञरूप मूलाकार का अज्ञ बनाने वाली अज्ञ-दीवारी परिमित मोक्ष अज्ञरूप निकलकर-अज्ञ इन्हीं मूलाकारियों का निरोध से

* पद-सुखिरं, तदाकाशम्-गर्भोपनिषत्) १ ।

X "तस्माद्वा पक्षस्मात्तस्मिन् (अमृताकाशात्) आकाश (तन्व्याकाशा, भूताकाशा) सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अह्नस्य पृथिवी, पृथिव्यां ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्देवः, देवस्य पुरुषः । यः वा एष पुरुषोऽन्नसमयः" । (ते उप० ४०१) ।

एक अस्पष्टताएँ ही तो बुद्ध का कारण बनती हैं। न्यायानुसार अस्वीकार्य रूप बुद्ध्यात्मक नियन्त्रण से निकल कर बन करमचारी अवस्था (सुष्टी) रूप आकाशभूमा में आते हैं, तो उनका बेहद जितल पड़ता है। जब हम पीछे, हमने, ठमय पाशों में, ऊपर दृष्टि डालते हैं, तो सर्वत्र भूमाकाश के ही दर्शन करते हैं। विरवात कीविष्ट, यह भूमाकाश ही आकाश आनन्द है, बिलकी अनन्तता एवं आनन्दविमोक्त बना रही है। अस्पष्टता कीविष्ट, यदि आपके मस्तिष्क के ऊपर एक गे विरक्ति (विज्ञान) के अन्तर पर ही ईश्वर के द्वारा कोई आचरण लगा दिया जाता, तो आपकी क्या विधि होती !। हम सुट सुट कर क्या हो जाता, प्रत्येक विचार ही दोहरिये +। तत्काल निष्कर्ष यही निकला कि, ममा सुप्त है, यह मूमा ही आकाश है। आकाश ही आनन्द है। एवं अस्पष्टता ही बुद्ध है।

३४—मयप्रवर्तक उद्गम—

भूमादृष्टि अमृतदृष्टि है, अन्तरदृष्टि मन्त्रदृष्टि है। अमृतदृष्टि एवदृष्टि है, अन्तरदृष्टि है, आत्मार्थन है। मन्त्रदृष्टि नानादृष्टि है विमदृष्टि विपयदर्शन है। अमृतार्थनरूप अमृतदृष्टि मूमाभाव आनन्द का प्रवर्तक है, विमदृष्टि नानादृष्टि मन्त्रदृष्टि अस्पष्टता बुद्ध का अन्तक है। अमृतमना से अमयसम्पत्ति प्राप्त होती है। इस भूमाकाश में जब नामरूपकर्ममन विरवी का उभावेश हो जाता है, तो मूमा इत स्पष्टमान से अस्पष्टता में परिवर्त हो जाती है। यह मेरा यह पराया यह प्रेमी, यह होयी इत्यकार के उदर (अप्यच्छेद) ही मय के प्रवर्तक बनते हैं—‘मदुदरमन्तरं कुस्तो, अथ मयं मबति’। उतरोत्तर अस्पष्टता का अनुगमन अधिकाधिक बुद्ध प्रवर्तक का कारण है। उतरोत्तर भूमानुगमन अधिकाधिक आनन्दविष्णु का हेतु है। बिलकी दृष्टि संकुचित है बायो संकुचित है मनोभाव संकुचित है, स्वार्थ स्वपरिचारात्मक में सीमित है, बि भूमाकाशकम्पत् से बलित रहते हुए बुद्धी है। ठीक इसके विपरीत उदारदृष्टि, उदारबायी, उदारशीय, सर्वमूर्तिरिते रता। महामना पुत्र्य भूमाकाश से पुत्र्य रहते हुए सुधी हैं। अपनी आत्मभूमा ही बुद्ध का कारण है, अपनी आत्मलक्ष्य ही बुद्ध का कारण है। हम स्वयं ही आत्मभूमा के द्वारा बुद्धी हैं, अस्मात्स्वता के द्वारा बुद्धी हैं। जो भूमा है, वह अस्पष्ट नहीं, जो अस्पष्ट है—वह भूमा नहीं। पुनः आत्मतत्त्व भूमा तथा अन्त्य, इन दोनों विरक्त भावों से बीने व्यवहृत किया गया !, यह एक प्रार्थनात्मक प्रश्न है।

३५—साची, और मोक्षा सुपर्ण का सम्बन्ध—

‘दा सुपर्णा धनुर्जा सप्तस्यो’ शिवान्तागुत्तर अस्मात्स्वता में साची ईश्वरसुपर्ण, सीता कीसुपर्ण, बि हा तत्र प्रतिष्ठित है। साचीसुपर्णरूप ईश्वरतत्त्वा अन्विदानन्दलक्ष्य परिपूर्ण भूमाकाशरूप है, सर्वत्र अधिशेष है, अन्तरी है। मोक्षा सुपर्णरूप बीतात्मा अधिष्ठा—अम—कर्मदि पाप्माओं से आहत पड़ता हुआ अपनी उन्मत्तमानुगता स्वतन्त्रिद मी पूर्णता से बहिष्कृत रहता हुआ अन्त्याकाशरूप है। इनकी यह कृत्रिम पाप्मानुगता अन्त्याकाशता उन्मत्तता में और मी अधिका महद ही जाती है, बढ़के यह अन्त्य आनुगती (भूमाकाशात्मिका ईश्वरतत्त्वप्रपणता) को छोड़ कर इन्द्रियहाय अस्पष्टियदुग्धति में आच्छा हो जाता है। इनके अन्तर्न दो मार्ग हैं। विपयसक्त बन कर यह अपने न्यायानुसार भूमाकाश की अन्त्य बना कर बुद्धी बना रहे, वह एक

+ “धो धोवन्त्यात्, कः प्राप्यात्, यद्येव आकाश आनन्दो न प्यात्”।

मार्ग है। ईश्वरसम्भत बन कर यह अपने आपको सूक्तप्रशस्ति से विकल्पित करता हुआ नित्य सुखी बना रहे, यह एक मार्ग है। यह स्वयं 'स्व (आप) है इत् स्व का स्व ईश्वरयत्ना है। 'अपने आप ही आत्मा अपना कर्तु है अपने आप ही आत्मा अपना शत्रु है। इत् वास्वतन्वर्म में पठित अपने शब्द बीजतमा को शक्त्य बना रहा है एवं 'आप ही' शब्द ईश्वरयत्ना की ओर लड़ते कर रहा है। उस अपने (बीजतमा) का आधा बही (ईश्वरयत्ना) है, वही 'अपने आप' का रहस्य है। 'आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिए वही उद्धार करने वाला ईश्वरयत्ना है, उद्धारशील आत्मा बीजतमा है। 'आत्मार्त्त-आत्मना उद्दरेत्' का—'बीजतमान् ईश्वरयत्नना उद्दरेत्' ही निष्कर्ष है। 'नात्मानमपसाद्येत्' का आत्मार्त्त—'बीजतमान्' है। 'आत्मैव' से ईश्वरयत्नाका प्रहय है। आत्मना वस्तु के आत्मना से बीजतमा पठित है। वही ईश्वरयत्ना कियत्सक्त बीजतमा का शत्रु है वही ईश्वरयत्ना स्वायत्त बीजतमा का निष्कर्ष है। बिना बीजतमा ने ईश्वरयत्न-विमुक्तिद्वारा अपने आत्मको बलि दिया है कियत्सक्ति से प्रयत्न कर निष्कर्ष उक्त बीजतमा का यह ईश्वरयत्ना वास्तव में कर्तु (अनुमाहक-सन्तुष्टिकारक) बन जाता है। जो उक्त ईश्वरयत्ना की उपेक्षा कर निष्कर्ष तन्तावरणों से अपने स्वयं को अनग्रम कियत्सक्त बह बना होता है उक्त बीजतमा पर कमी ईश्वरयत्ना का अनुग्रह नहीं होता। अपिष्ट वह इत्के व्यप शत्रुम् ही व्यपहार करने शक्त है। तन्वर्म-ईश्वरयत्न मी सूमा है उद्दशुक्त बीजतमा मी स्वयंरूप से भूमा ही है। परन्तु वह कियत्सक्ति से अस्वस्थ में परिणत होता हुआ दुःखी बन जाता है। आत्मसूना (ईश्वरसूना) की अनुगति, कियत्सक्त का परित्याग ही इत् कियत्सक्त आत्मा की अस्पृता की निवारिका है। निम्न लिखित कथन इसी रहस्य का किञ्चैवण कर रहे हैं—

उद्दरदात्मनाऽऽत्मानं नत्मानमवसादयत् ॥

आत्मैव आत्मनो बन्धुरात्मैव त्पिरात्मनः ॥१॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य बन्धुर्मेवात्मना जितः ॥

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्षेतात्मैव शत्रुवत् ॥ गीता ६।५ ६, १

३६—मानव की सख्य आनन्दरूपता—

इत्कर्मिण्य आत्मनन्द ही पनानन्द है इत्त आनन्दमात्रा इत्की के अर्थ-अर्थरूप है। मानानन्दद्वारा वही कर्मदानन्दरूप में परिकृत हो रहा है पनद्वारा वही शान्तानन्दरूप में परिकृत हो रहा है। शान्तानन्द आत्मनन्द है कर्मदानन्द कियत्सक्त है। कियत्सक्त मीमांसय है अस्तविक-शान्तितक आनन्द आत्मनन्द है। इसी की प्रतिष्ठाया से ऐन्द्रियक कियत् आनन्दप्रकृति के कारण करते हैं। लघारक मनुष्य तमस्यो है कि कियत् आनन्द के कारण है। तत्त्व वास्तव में यह है कि आत्मनन्द को शत्रु रूप में ले कर कियत् आनन्दी बन है। तमस्य बीजित्—उक्त अस्वस्थानि कियत्सक्त-परम्यत का किञ्चै मूलप्रदेशक पनानन्द-मूर्ति उक्तकर्म आत्मनन्द के अर्थरूप माशामादी का अधिक अस्वस्थ कल्याण बना है। देशान्तर वैकल-प्राप्ति भूक्तय हो बीजतमा है। यह आनन्द से उक्त होने के कारण आनन्द का स्वाभाविक इन्तु है। आनन्द इत्त अपना स्वयं है अतएव आनन्दकर्मना स्वाभाविक है। कर्मकर्म कर्म-कियत् माशान्ति प्रकृतियों में आनन्दकर्मना ही कारण है। यदि कर्म मी आशमा का स्वयं होता तो उक्त किय मी आनन्द की प्रकृति देनी तुनी जाती। एक व्यक्ति आत्मपात में प्रहय हुना चाहता है।

आत्मपाठ-आधार महत्त्वपूर्ण है। क्या यह प्रकृति भी आनन्द-मूला है, अथवा? मृत्यु की अपेक्षा यह आत्मपाठी जीवनदशा में अधिक दुःख का अनुभव कर रहा है। अतिराव संसारिक कर्मों से, दुःखों से भाग पाना ही आत्मपाठ का निमित्त बन रहा है। आत्मपाठ में अगम मर के लिए जा दुःख होता है यह जीवन-दुःखों से कहीं अलग है। उनके सामने यह आत्मपाठ सुखप्रवण क क्या हुआ है। इतपकार यहाँ भी तबत आनन्द ही उत्कर्मप्रकृति का कारण बन रहा है। आत्मपाठ में आत्मपाठी की इच्छापूर्वक प्रकृति है। परन्तु ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं, यहाँ अनिच्छापूर्वक भी मृत्यु के लिए पैर बताने पड़ते हैं। निरपराध की, किंवा अपराध स्वप्ति को बचकर रह मिलता है। बचपयल की ओर बचिक उसे ले जा रहे हैं। यह सुपचार बचरमल की ओर पैर बह रहा है, प्रकृति हो रहा है। अनिच्छापूर्वक भी क्या प्रकृति सम्भव है, नहीं। किन्ना हृष्टा के, कामना क तो कर्मों की क्रिया सम्भव नहीं है। बन्ध की अनिच्छा को इच्छारूप में परिणाम करना पड़ता है—स्वयं बन्ध की ही। क्यों! आनन्द जो प्रकृति का कारण है। क्या तब से उसे आनन्द मिलेगा? नहीं। तो क्यों बचरमल की ओर प्रकृति हुई, इच्छिय कि-बन्ध जानता है—यदि यह सुपचार बिना उपद्रव किए बचरमान की ओर अग्रसर न हुआ तो बच से पहिले ही वह मयद्वर अनुष्ठानन-व्यङ्गन से चाकित किया बाग्या। इस प्रकृष्टिक दुःख से प्राण पाने के लिए ही यह बचरमल की ओर अग्रसर होता है। इतपकार यहाँ भी आनन्द ही प्रकृति का कारण बन रहा है। कर्णाकर्मि मुना जाता है—सना कदा अपने आपको 'दुःखी' बताना करते हैं और कहा करते हैं कि, हम बने दुःखी हैं। उत्कल उद्वार निस्त्वत है। मनुष्य मनुष्य ही क्या प्राणीमात्र अब तक बीता है, मुल न ही बीता है। उलका बीबित रहना ही इस बात का प्रमाण है कि, उसके इतर में आनन्द तरन अभी तक प्रदितित है। जिस दिन सैपायिक आनन्दमात्रा निरोध हो बायगी, उत दिन विद्युद निरपयिक गुन्वानन्द प्रकृतित हो बायगा। शरीर का कमबलन हो बायगा। इतपकार यह किद्व विषय है कि, आनन्द ही सर्वविध प्रकृतियों का मूलकारण है। यही इत कल का सर्वोद्वर प्रमण्य है कि, हम आनन्दमय हैं, आनन्द ही हमारा स्वरूप है।

३७-भूमा, और अल्पता का तारतम्य—

अल्पता की पूर्णता के लिए कामना का उपाय होता है। अमात्त कस्तु की प्राप्ति के लिए भी कामना होती है प्राण कस्तु की उपधि के लिए भी कामना होती है। आनन्दकामना इत दुरी भोगि से ही सम्भव पसती है। आत्मा पहिले से ही मात्रानन्द से युक्त है। इत अल्पानन्द की पूर्णता के लिए इसकी आनन्द-कामना का सम्भव मन के द्वारा निर्गमन होता है। यहाँ बात प्राणी सम्पत्ते की है। अल्पक, महान् विज्ञान महान् इन्द्रिय इन्द्रियार्थ इन ५ आध्यात्मिक पदों में से सुखदुःखयोगमोक्ष बीजकामा (मेक्षात्मा) महानमन और इन्द्रियबर्ग इन दोनों बीजे-प्राचर्षों के मध्य में प्रदितित रहता है। यह स्वाभाविक-प्राकृतिक स्थिति है। महानरूप मन के द्वारा मध्यस्थ मेक्षात्मा को कामना किन्तु ओर जान है, यह विज्ञानरूप है। यो मार्ग है इस महान् कामना के अनुष्ठानन के। बुद्धिरूप विज्ञान की ओर भी कामना का गमन सम्भव है इन्द्रियद्वार विषय की ओर भी कामनागमन सम्भव है। विज्ञान की ओर यदि कामना जाती है तो मनो-द्वार बीजकामा को स्वामुक्त बनानन्द सिद्ध जाता है। क्योंकि मन की अपेक्षा लघुर्कम्य विज्ञान (बुद्धि) में अधिक आनन्दमात्रा है। यह भूमानन्द बोधप्रदित है। अतएव लघुक्त मन शान्त बना रहता है। मान लीबिए-मन विज्ञानानन्द की ओर न जा कर इन्द्रियों के द्वारा विषयानन्द की ओर प्रकृष्ट हुआ, जो विषयप्रकृति

पार्ष्णिभ शरीरपेक्षया भी प्रबल है एवं निगमनद्वारमूल इन्द्रियों की बहिर्मुखता के कारण भी सुगम-स्वाभाविक है—तो इस बहिर्मुखन से मनोद्वार जीवत्मा को तापत्रिक, ताप ही अस्थानम् प्राप्त होता है। क्योंकि मन की अपेक्षा व्युत्तरय इन्द्रियों में अस्थानमात्रा है, तदपेक्षया त्रिपदी में ता शीर भी स्वस्थानन्दमात्रा है। त्रिपदित्तत्त्वया तृपि अपने से अधिक अज्ञान में भ्रमान् में है। अज्ञमान् की मात्रा से युक्त मन इन्द्रियों की स्वस्थानन्दमात्रा को शून्य रूप से प्रदृष्ट करके स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले त्रिपदी में वह भ्रमा ब्रह्म, जो स्वपेक्षया भ्रमानन्दमात्रामय मन को शून्य कर लके। अमित्तयित् भ्रमान् की शोक के लिए मन किसी विल पर मद्य बढ़ा उस अपने से भी स्वस्थानन्द मिला उने छोड़ कर अन्व त्रिपद का अनुभावन किया ब्रह्म से भी उन्ही कार्य से निराश लाज्या पड़ा। अथवा बड़ी। त्रिपदातुभावनसंयोग प्रदृष्ट हुआ, उन्ही अनुपपत्त से अथवा भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यही मनरथाश्रय का कारण बनी। यथा या मन अमित्तयित् भ्रमानन्द होन वह तो मिथा नहीं, मित्र भी नहीं लक्ष्य था। मिला तो दोम मिला, अशान्ति मिनी, त्रिप अशान्ति को त्रिपदानन्दविहाता 'अनुदानन्द' कहा करते हैं। जो कर्षणा क्षणमाशान्ति कनया हुआ अन्तरोत्तरात्वा दुष्कालुभूति का ही प्रवचक बन जाता है। तभी तो त्रिपदमुक्त्वनन्तर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। बुद्धियोगानुगत आत्मा भ्रमानन्द है बरी अमृत है। त्रिपदयोगानुगत आत्मा अस्थानम् है, त्रिपदानन्द है यही मूल है। दोनों में अने उपादेय है १, प्रश्न का उत्तर त्रिपेक्षियों पर ही निर्भर है। हैतानुभूति, नाम-रूप-वर्णादिना नानाम्बाधिपद्य त्रिपदसिद्धि ही अस्तित्व है यही मर्त्यमात्र है। अहैतानुभूति ही भ्रमा है, यही अमृतभय है +।

३८-अज्ञमानगत स्यागलक्ष्य चीलोदकमार्ग—

उक्त अज्ञानस्वरूपमीमांसा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, मूलपदेतरण अज्ञमान् की प्राप्ति ही दुष्कालुभूति का अन्त्य उपाय है। किना उलके योग के दुष्कालुभूतिनिवृत्ति अत्यन्त है। इसका हमें वह तापत्रय समझ कि, माषानन्दान्द त्रिपदी का अत्यन्तिकरूप से परित्याग कर देना चाहिए। त्रिपदपरित्यागपूर्वक इन्द्रियसंयम के द्वारा मन का बहिर्मुखन रोक देना चाहिए। इत्यन्तर कर्षणमय इन्द्रियसंयमद्वारा शान्तय आयो (त्रिपदी) का अर्धकालद्वारा मन का संयम करना चाहिए। मन को विज्ञानात्मा में विज्ञानात्मा को महानात्मा में महानात्मा का अन्त्यत्मा में लीन कर देना चाहिए। कर्षण में रह बाधना पतनान्दरूप पुष्यत्मा। उन्में जीवमाय का अन्व कर देना चाहिए। यही अत्यन्तिकर इन्द्रियनिवृत्ति का एक दुर्घण्य-क्लेशावह वह उपाय है जिसे 'इन्द्रियभारखलकक्षययोग' कहा गया है जिसे विज्ञानमया में 'बीजोत्कर्षमार्ग' कहा जाता है। त्रिपदी के परित्यागपूर्वक उत्तर-उत्तर

—पराश्रिभ खानि व्युत्सत् स्वप्नमृत्स्मात् पराद् परपति नान्तरात्मन् ।

अस्त्रिर्द्वार प्रत्यगात्मानमैषयाह्वय पञ्चुरमृतत्तमिच्छन् ॥

(पृष्ठ ११५)

—“यत्र नान्यद् परपति-शुशोति-विजानाति-स भूमा । अथ यथान्यद्-परपति-शुशोति-विजानाति-सद्व्यम् । यो वै भूमा, तदमृतम् । यद्वर्ण-तन्मर्त्यम्” ।

—ब्रा० उ ७-१११।

मरणात्मपर्यं का पूर्व-पूर्व लयकालपर्यं में संयम करते हुए अन्तर्भोगत्वा अलयात्ममा में लीन हो जाना ही
नित्यानन्दप्राप्ति का एक उपाय है, किन्तु निम्नलिखित शब्दों में विरक्षेण हुआ है—

क्षीणोद्दर्कमार्गी—यच्छेद्राह्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ॥

(अव्यक्तनिष्ठा) ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ॥१॥

—श्लो० १।३।१३।

यदा पञ्चावसिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥

बुद्धिश्च न विषेष्टवे तामाहु परमां गतिम् ॥२॥

तां योगमिच्छि मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारयाम् ॥

अप्रमत्तस्तदा भवति योगी हि प्रमथाप्ययौ ॥३॥

—श्लो० ६।१०, ११, १।

अशब्द-मस्पर्श-मरूप-मव्ययं तथाऽरसं-नित्यमगन्मवच्च ॥

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुव निचाप्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥४॥

उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरार्णवोक्त !!!

ध्रुवस्य धारा निश्चिता दूरत्यया दुर्गं पयस्तद् क्वयो वदन्ति ॥५॥

—श्लो० १।३।१४, १४, १।

‘न विषष्टते’-‘स्थिरामिन्द्रियधारयाम्’-‘निचाप्य तन्मृत्युमुखात् इत्यादि वाक्य बौद्धोक्तं
(धीन्यपरिष्कारं) का ही समर्थन कर रहे हैं। निवृत्तिपत्र ही इत उर्ध्वं का निष्कर्ष है किन्तु कमरा
उप का परित्याग करते हुए अर्न्त में निष्कल्पस्वभाव की प्राप्ति है। इस मार्ग के पथिक यज्ञी लोकसंग्रह से
कोई सम्बन्ध नहीं रखते। अर्न्त लोक-सम्बन्ध से निवृत्त-रूप अरण्या में अमरशोधपूर्वक योगप्रवृत्तियों
का अनुगमन करते हुए शरीरमात्रोपबीची बने रहते हुए अन्त में निर्वास्यत् प्राप्त कर अपने आपको
मूर्क कर लेना ही इस मार्ग का प्रधान पुरुषार्थ है। अन्त को ऐसे योगियों से कोई लाभ नहीं है। वाप ही
माग भी सर्वथाभारण के लिए आवश्यक है, क्योंकि विषयों का परित्याग कर देना उद्वेग नहीं है। वाप ही
परित्याग की माकना कर पुनः मनस्य भी उनका संस्मरण कर लेना पूर्ववृत्ति से भी अपने आपका
गिरा लेना है। इहो लिये कविगण्य (महर्षि) इसे ध्रुवस्य धारा-निश्चिता बुज्यया कहा करते हैं। गीताप्राम्भ
ने भी निम्न लिखित शब्दों में इस बौद्धोद्दर्कपथ का समर्थन किया है—

(१) —योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित ॥

एकाको यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह ॥१॥

शुभां दशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥

नाप्युच्छ्रित नातिनीवं पैलाः मिनःशोचरम् ॥२॥

सर्वं मन रुष्या यतश्चिरोन्द्रियक्रियं ॥

उपविरयामने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥३॥

—गीता० ६।१०, ११ १२,

(३)—सर्वं इति सयम्य मनो हृदि निरुध्य च ॥

मूर्ध्याभायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥१॥

—गीता० ६।१२।

क्लेशोऽपि क्लेशस्तोगामभ्यक्तास्तक्वेषतमाम् ॥

अभ्यक्ता हि गतिर्दुःखं बहवश्चिरवाप्यत ॥२॥

—गीता० १२।१।

❀ ❀ ❀ ❀

३६—अभ्ययात्मानुगत उपनिषत्सम्मत मूर्धोदर्शमागं—

दृश्य है—मूर्धोदर्शमागं । किसी के भी परिचाय की आवश्यकता नहीं है । केवल तब में तब कायं
 यज्ञान-इति वा अनुगमन अवेदिता है । विरयानन्द ही, अथवा आत्मानन्द उभयत्र आनन्द स्वरूप में
 आनन्द ही है । आनन्दस्वैतन वही आत्मा किम्प है इत्य है । वही नियमी है प्रप्य है । विरय को विरयति
 मे न देक कर आत्मानन्द-इति से देखिए । इसके अतिरिक्त बित मात्रानन्दपदक की तथा अन्त्यात्मकेया
 में है, अविदेक में है अविभूतकेत्या में भी तो बह संख्या विद्यमान है । बित किम्प को हम तर्पया बह
 समझे हैं, उन्में भी आत्मानन्द और वनानन्द वनों के त्यों प्रतिष्ठित हैं । बेशक आगे एक किना मान
 जाता है । किम्प इन्द्रियमय आनन्दमात्रा से जब तक मुक्त रहेंगे तभी तक अदृष्टि रहेगी । वहाँ स्वयं
 विरयमीयुत वनानन्दलक्षण आत्मानन्द पर इति गर्त नहीं कि दृष्टिमान उचित हुआ नहीं । तब में
 महव एविय, परन्तु आत्मादृष्ट्या । शोचतमात्रक कल्पवाक्य कर्मों का अनुगमन भीष्टिय, परन्तु
 आत्मधर्मसकलक्षय बुद्धिपेय के हाय । स्वयं कर्मदर्शनपूर्वक होने वाला विरयमर्षन विरयलक्षण रहता
 हुआ भी निर्वियक का रहता है । यही महवियम में निवृत्ति की प्राप्ति है वही बुद्धिभोगरूप है वही
 गीतायज्ञान है वही मूर्धोदर्शना है किन्तु विरयेपण ही इस परीक्षणपद का मुख्य प्रतिपाद विरय है ।

४०—मच्चिदानन्दब्रह्म क तीन विषयमात्र—

प्राकृतिक आनन्दमीमांसाकार पुनः प्रकृत की और पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।
 कृष्णाया गया है कि ब्रह्म के लत-बित्त् पत्तों की भाँति आनन्दपर्व भी आकाश-बृह-बनित तब के विरय
 प्रकृतानुभूत तब है । इन आनन्दतब के भी लत बित्त्-पत्तों की भाँति आत्मानन्द स्वानन्द
 पदानन्द, मैत्र से तीन ही विषय हैं । इन्द्रियानुगत-आण्डुक विरयानन्द पदानन्द है यही
 अनुभूतवेदानामक तब है इमे ही हमने पूर्व में समुद्धानन्द कहा है । ईश्वरउत्पत्तिवृत्त बीजानुगमन
 बीजलक्षणाविक स्वयंपर्यव्यक्त-ब्रह्म आनन्द स्वानन्द है । एवं केन्द्रतय पुरातमक वनानन्द आत्मानन्द
 है । आत्मानन्द वृत्तानन्द है परी शान्तानन्द है निवृत्तानन्द है । शान्तानन्दरूप आत्मानन्द, एवं समुद्धान-
 नन्दरूप विरयानन्द (पदानन्द) दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित स्वानन्दलक्षण बीजकय वरि वृत्तानन्दरूप
 आत्मानन्द का अनुगामी है तो इच्छा स्वानन्द आत्मानन्दरूप में परिणत हो जाता है । वरि विरयानन्दरूप

समदानन्द का अनुगामी है, जो वही स्वानन्द परानन्दरूप में परिणत हो जाता है। आत्मानन्द ही मात्रा-
अथ-रूप से स्वानन्द बना है। आत्मानन्द ही मात्रारूप से परानन्द बना है। तत्त्वतः आनन्दस्वैतनं तीनों
एक ही आनन्द हैं। एवं तीनों अशान्ति-समृद्धिरूप से हमें अनुभव होता रहता है। स्वस्वदशा की
शान्ति आत्मानन्दानुभव है चित्तपरिग्रहनिवृत्ता समृद्धि अ अनुभव विद्यवानन्दानुभव है। वही ब्रह्म के
आनन्दपर्व के साक्षात् दर्शन है। वही आनन्दपर्व की उर्जातुभूति का संक्षिप्त निदर्शन है।

सर्वत्र 'अस्तित्व अ बोध आप प्राप्त कर रहे हैं'। वही तन्त्रिदानन्द के दर्शन हैं। 'अस्तित्व' 'स्तु'
है बोध चित् है, प्राप्त तत्त्व स्थात्मक आनन्द है। इस दृष्टि से क्या आप ब्रह्म के साक्षात् रूप से दर्शन
नहीं कर रहे ?, अक्षरम कर रहे हैं। क्त-चित्-आनन्द, तीनों के तीनों पर्व परस्पर सम्मिश्रित हैं। परलक्षा,
परज्ञान, परानन्द, वही किययात्मक तन्त्रिदानन्दब्रह्म है। स्वसत्ता, स्वस्थान स्वानन्द तीनों की समष्टि
जीवात्मक तन्त्रिदानन्दब्रह्म है। आत्मसत्ता, आत्मज्ञान, आत्मानन्द, तीनों की समष्टि ईश्वररूपक तन्त्रिदानन्द
ब्रह्म है। तन्त्रिदानन्देश्वररूप ही अभिदैवतश्रया का अण्ड है। तन्त्रिदानन्दश्री ही अण्डात्मश्रया का
अण्ड है। तन्त्रिदानन्दशिविषिष्ट ही अभिमूर्तश्रया का अण्ड है। इसप्रकार एक ही तन्त्रिदानन्दपन
निष्कल पुरुष अभिदैवत, अण्डात्म, अविमूर्त, रूप से तीन पदवर्तभावों में परिणत हो रहा है। अभिमूर्त
विषय जगत् है, अण्डात्मविषय जीव है, अभिदैवतविषय ईश्वर है वही विशिष्टाद्वैतवादियों का
विशिष्टाद्वैत है जो इस त्रैमासिक दृष्टि से मान्य कहा जा सकता है *। वही स्वस्वामी विज्ञानभार्या में
'त्रिसत्याद्वैतवाद' नाम से प्रसिद्ध हुई है।

ॐ-इत्यं स्वरूपात् पृथगस्ति विश्वं जीवात्मकचूत्तानि जगन्ति सन्ति ॥
जीवा जगन्मूलतया च सन्ति प्रद्युम्ब तेपामयमीश्वरोऽस्ति ॥१॥
जडास्थ, बीजास्थ, तथेश्वरस्थ, त्रिभिर्विशिष्टं यदिहैकरूपम्-॥
तद्ब्रह्म, तन्त्रि द्विविध परं चार्त्तं च नात् परमस्ति किञ्चित् ॥२॥

सचिदानन्दब्रह्मस्यो-विब्रगमात्ता - (प्रज्ञे वेद सचम्-इति मन्त्रविदः प्राहुः)

स चि- दानन्दब्रह्म	१	१-आत्मसत्ता (निरपेक्षप्रतिष्ठा-‘सत्ता’-इरबरातुगतता) (अधिबैबतम्) २-स्वसत्ता (सापेक्षप्रतिष्ठा-‘वृत्ति’-जीवानुगतता) (अध्यात्मम्) ३-परसत्ता (सापेक्षप्रतिष्ठा-‘विभूति’-विषयानुगतता) (अधिमूर्तम्)	} मन् (?)	
	०	१-आत्मज्ञानम् (निरपेक्षचेतना-‘महत्-ज्ञानम्’-इरबरातुगतम्)-अधिबैबतम् २-स्वज्ञानम् (सापेक्षचेतना-‘विज्ञानज्ञानम्’-जीवानुगतम्)-(अध्यात्मम्) ३-परज्ञानम् (सापेक्षचेतना-‘प्रज्ञानज्ञानम्’-विषयानुगतम्)-(अधिमूर्तम्)		} चित्(२)
	३	१-आत्मानन्दः (निरपेक्षरस-‘शान्ति’-इरबरातुगतः)-अधिबैबतम् २-रसानन्दः (सापेक्षरस-‘आनन्दः’-जीवानुगतः)-अध्यात्मम् ३-परानन्दः (सापेक्षरस-‘ममूक्ति’-विषयानुगतः)-(अधिमूर्तम्)		

(१) इन्द्रविषयः—

- १-आत्मसत्ता (सत्)
- २-आत्मज्ञानम् (चित्)
- ३-आत्मानन्दः (आनन्दः)

इरबरा-इति अधिबैबतम्

(२) जीवविषयः—

- १-स्वसत्ता (सत्)
- २-स्वज्ञानम् (चित्)
- ३-स्वानन्दः (आनन्दः)

जीव-इति अध्यात्मम्

(३) जगद्विषयः—

- १-परसत्ता (सत्)
- २-परज्ञानम् (चित्)
- ३-परानन्दः (आनन्दम्)

जगत्-इति अधिमूर्तम्

‘तस्मात्-युक्तं त्रियत्रासो युक्तचित्त इहं जगत् ।
आत्मनीपस्य किल, मात्मानं मयधीस्वर’ ॥
श्रीमद्भागवत १२.७.३४
तेषां-आत्मीयैरबरात्वां श्रयाणामेषाम्-येत्यस्यवत्त्वा
(सर्वं तस्मिन् मध्ये ति प्रतियम्बरसिद्धिः प्राहुः) ।

४१-एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म—

सर्वानुमूल सच्चिदानन्दब्रह्म ही निष्कल ब्रह्म है, जिसका तर्कारम्भ में उपक्रम किया गया है। "बन्तु के अस्तित्व का ज्ञान सभी को आनन्दी बनाता है" यह वाक्य ही सच्चिदानन्दब्रह्म की सर्वानुमूलि का गण्यनिरण कर रहा है। यह निष्कल ब्रह्म ही विश्व का प्रधान आत्मिक माना गया है। सौन्दर्य सच्चिदानन्द ?। प्रश्न इच्छित हुआ कि पूर्व में निरपेक्ष, सापेक्ष-भेद से इतके तीन विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है। वीचानुगत सच्चिदानन्द (आध्यात्मिक), पर्य विचानुगत सच्चिदानन्द (आधिभौतिक), दोनों ही चापेय हैं, दोनों ही उद्बुद्ध हैं, अनुमूल हैं। निरपेक्ष ईश्वरानुगत सच्चिदानन्द विषयोपरिहित है, शेष दोनों विषयोपरिहित हैं। विषयोपरिहित उद्बुद्ध सच्चिदानन्द केवल व्यक्तित्व उद्भवित्व का आरम्भक बनता है, समष्टिक्रम यथायाक्त् विषयों का नहीं। षट का अस्तित्व ज्ञान, रस (आनन्द) पर के अस्तित्वदि से विभिन्न है। षटमात्र में भी पर का अस्तित्व अत्युत्तरण रहता है। पर के अस्तित्व का, पदानुगत सच्चिदानन्द का पदरिणय में कोई सम्बन्ध नहीं है। पदविषयक विद्यमान सच्चिदानन्द षट का आरम्भक है पदविषयक विद्यमान सच्चिदानन्द पर का आरम्भक है। अतएव विषयोपरिहित-शेषाधिक-नामरूपकम्पानुमाहक-सापेक्ष-उद्बुद्ध इन सच्चिदानन्द को सन्तुगा विश्व का, समष्टि का यन्त्रयाक्त् स्वस्तिनी का आरम्भक नहीं माना जा सकता। निरपेक्ष-निरपेक्ष-नामरूपकम्पानुमाहक-निरपेक्ष-उद्बुद्ध सच्चिदानन्द ही समष्टि का आरम्भक बन सकता है। यदि वह न रहे, तो कोई भी उद्बुद्ध पदार्थ न रहे। वही भावस्थि है, वही अनावास्थि है, सब एकतरक्येण व्याप्त है। अस्ति 'नास्ति' सर्वत्र उक्त का उद्भास्य है। षटकता षट में ही है, षटमात्र, किंवा षटमात्र में षटकता नहीं है। परन्तु यह सामान्य उद्भास्य षट में भी है षटमात्र में भी है, परमात्र में भी है। सर्वत्र एकतरक्येण व्याप्त रहने के कारण ही ही यह सन्तुगा सच्चिदानन्दब्रह्म 'निष्कल ब्रह्माणा' है। नाम-रूप ही कलामात्र के प्रवर्धक हैं। वह इनसे अस्ति, अतएव निष्कल है। अतएव इत्यत्र 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म-नेह नानास्ति किञ्चन' पद लक्ष्य किया जाय है।

४२-सत्तावीय-विजतीय-स्वगत-भेदशून्य अखण्ड-अद्वय-ब्रह्म—

सत्तावीय, विजतीय, स्वगत तीनों श्रेणियों से यह अस्ति है। नानात्म्य कलामात्रों से यह अखण्ड है अतएव 'एकम्-एव'-'अद्वितीयम्' ये तीन विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। एक आग्रहण अन्य आग्रहण से विभिन्न है, यही सत्तावीयभेद है। आग्रहण कवृष से विभिन्न है, वही विजतीयभेद है। एक आग्रहण के आग्रह-मूल, आग्रहणात् प्रयाणा, मञ्जरी, पत्र, फल, आदि परस्पर भिन्न हैं, वही स्वगत-अपने आप में रहनेवाला)-भेद है। मनुष्य-मनुष्य का भेद सत्तावीयभेद है, मनुष्य-वस्तु का भेद विजतीयभेद है, एक ही मनुष्य शरीर में रहने वाला हस्त-पाद-उदर-उर-शिर-कर्ण-नासिका-आदि भेद स्वगतभेद है। अल्पक ब्रह्म सेमे अल्प और किसी ब्रह्म का अभाव है इच्छित वह सत्तावीयभेदशून्य है। नारी सेमे ही अल्पक अन्य स्वरूपयुक्त किसी अन्य अल्पक ब्रह्म की लक्षा है, अतएव वह विजतीयभेदशून्य है। इसमें सर्व में भी अक्षयवामात्र है, अतएव यह निष्कल है अतएव स्वगतभेदशून्य है। 'एकम्' विशेषण सत्तावीयभेद का, 'एव' विशेषण विजतीयभेद का, एवं 'अद्वितीयम्' विशेषण स्वगतभेद का व्याख्यंजक बन रहा है।

४३-स्वगतमेदमूला आपत्ति, और तन्निराकरसु—

माना कि, ब्रह्म तज्जतीय, विवादीयमेदशून्य है, परन्तु हमे स्वगतमेदशून्य कैसे कहा जा सकता है ? , जब कि इसके-‘छत्-चित्-आनन्द’ से तीन अक्षर्य है, कहा है । अतएवच इसे निष्कल मी क्यों कर माना जा सकता है ? । परन्तु का उचार मात्तिय्य पर निर्भर है । कलाभेद का नियामक मात्तियेद नहीं, अस्तित्व उताभेद माना गया है । एक ही अस्तित्व अपेक्षया अपने पुत्र का पिता पिताका पुत्र सेबक का स्वामी स्वामी का सेबक, स्यावासन का स्यायाप्यक आदि अनेकस्य मे प्रतीत हो रहा है । इन अनेक मात्ति-मेदों क रहने पर मी उतातुग्य ऐसब सुचित है । रज्ज्विक बरत को सूत-तूल (स्य)-कपास-मिठी-पानी-अग्नि-बापु-आम्रय-शाय-मन-विज्ञान-आनन्द-समी दृष्टिसे से देखा जा सकता है । सब का मान व्यक्तिक है । क्योंकि पूर्व-पूर्व मात्ति का आचार उचर उचर मात्ति बन रही है । एक ही अस्तित्वता पदल पर सूत-तूलादि अनेक मात्तियं प्रतिष्ठित है । इन अनेक मात्तियों के रहने पर मी तत्त्वज्ञान बरत एक ही कहाता है । मात्तियेद कमी भेदक नहीं बनता । भेदक बनाय है एकमात्र उताभेद यही निष्कर्ष है । ठीक यही रिबति यहाँ समझिय । छत्-चित्-आनन्द ब तीन सत्ता नहीं है अस्तित्व एक ही त्व्य की तीन मात्तियाँ हैं । यही छत्-चित्-आनन्द, इन सबों से प्रतीत हो रहा है । सत्ता एक है अतएव मात्तियव के रहने पर मी स्वयतमेव को अक्षर नहीं मिसता । आम्रय-आम्रय-आम्रय-आम्रय-आम्रय-आम्रय हैं उही आम्रय में परन्तु सब की सत्ता विभिन्न है । अतएव कल-मज्जी-मस्तवादि का पृथक रूप से ही उद्भव होता है, नाश भी हो जाता है इतने इष्ट का दुःख बनता निष्कला नहीं । अतएव इसे स्वगतमेदशून्य माना जा सकता है । परन्तु चित्त तन्निदानद्वय का अस्तित्व अकारपाठ्य है अस्तित्व है जो सब ही दृष्टिकोणभेद से छत्-चित्-आनन्द-रूप से प्रतीतमात्र हो रहा है ब्रह्मसे ही प्रतीतियाँ अस्तित्व हैं, एक प्रतीते के अभाव में तीनों अस्तित्व हैं उत ब्रह्म में स्वगतमेद कैसे माना जा सकता है । त्रिपुटी (इलाकबी) का उदाहरण इससे अत्यन्त स्पष्टित है । पुट तीन है इलाकबी एक है । मात्ति तीन है, सत्ता एक है । अतएव आईतद्य तन्निदाना अस्तित्व है ।

४४-सत्-चित्-आनन्द-मात्तियों की अस्तित्वता—

तीनों मात्तियों की अस्तित्वता का मी समन्वय कर लीजिय । पहिले तीनों के अन्वेषणाविनामात्र पर दृष्टि डालिय । ‘अस्तित्व-अतः अस्तित्व-‘दे-इच्छित्य जानता है’ इस वाक्य में वेत्ति रूप चित् अस्तित्व से अस्तित्व है । यदि अस्तित्व नहीं है, तो वेत्ति मी नहीं है । ‘वेत्ति-अतः अस्तित्व-‘जानता है-इच्छित्य वह है’ इस वाक्य में अस्तित्व रूप चित् वेत्तिय चित् से अस्तित्व है । यदि चित् नहीं है, तो चत् मी नहीं है । अस्तित्व, वह वेत्तिय सत्-‘जो है चित् जानता है यही सत् है इस वाक्य में सत् रूप अस्तित्व रूप चित् वेत्तिय चित् दोनों से अस्तित्व है । यदि चत्-चित् नहीं है तो सत्त्व मी नहीं है । इस प्रकार तीनों का स्वस्व एक बूते पर आश्रित है । वह तमी सम्य है जब कि तीनों एक ही तत्त्व की तीन मात्तियाँ हो ।

तीनों की अस्तित्वता का मी समन्वय कर लीजिय । (१)-‘अस्तित्व तज्जतीय सत् सत्-‘जो है उती का सत् है तज्जतीय जान है-यही सत्त्व है’, यह वाक्य अन्वेषण तीनों की अस्तित्वता का समर्थक है । ‘अस्तित्व चत् है । तज्जतीय रूप से यह अस्तित्वचत् चत् मी चित् है । तदन दृष्टि रूप से अस्तित्वचत् चत्-

ज्ञान ही स्वरूप आनन्द है। इसप्रकार स्व-चित्-आनन्द-वीनों स्वरूप हैं। (२)-'यज्ज्ञायते-तद्वस्ति-स रस'-'बो जाना जाता है, वही है, जो जाना जाता है, जो है, वही रसानन्द है', यह वाक्य चिदपेक्षया वीनों की अभिव्यक्ति प्रमाणित कर रहा है। 'जायते' चित् है। स्वस्तिरूप से यह ज्ञानलक्षण चित् ही स्वरूप है। तेन वृत्तिरूप से चिदलक्षण-ज्ञान ही चिदरूप आनन्द है। इसप्रकार स्व-चित्-आनन्द, वीनों चिद्रूप हैं। (३)-'यो रसा-सोऽस्ति तं जानाति'-'यो रस है वही है, वही जाना जाता है' इस वाक्य से रसापेक्षया वीनों की अभिव्यक्ति प्रमाणित हो रही है। 'जो-रस आनन्द है। 'रसोऽस्ति' रूप से यह रसलक्षण आनन्द ही चिदस्वरूप रूप स्वरूप है। रसलक्षण अस्ति का ही ज्ञान है। इसप्रकार स्व-चित्-आनन्द, वीनों आनन्दरूप हैं। अनुभव भी इसी अभिव्यक्ति का प्रमाण कर रहा है। (१)-'है, उसे ही जानते हैं, इसके अस्तित्व का ज्ञान है, वही वृत्तिलक्षण आनन्द का कारण है। कारण क्या है, उस अस्तित्वलक्षण बोधमाप्ति का ही नाम वृत्ति है। अस्तित्वबोध के प्रकटित होने ही बुद्धि का शान्त हो जाती है वृत्ति का उपस हो जाता है। (२) जानते हैं वही है। जो जानते हैं वही ज्ञानलक्षण वृत्तिलक्षण आनन्द है। (३)-'वस्तुतः ही रस है वही आनन्द है। इस रस का ही अस्तित्व ही वृत्ति का बोध है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों में वृत्तिज्ञानानन्दभावों की अभिव्यक्ति के दर्शन किए जा सकते हैं।

अन्योऽन्याविनामानदृष्टिस्त्रयास्याम्—

अस्तीति तद्वे चि—चिदपेक्षानुगामिनी—सत्ता	}—सद्विषयमन्वोऽन्याविनाम्नव
वेचि—अतोऽस्ति—सदपेक्षानुगामिनी—वेदना	
बोऽस्ति तं वेचि—अन्यापेक्षानुगामी—आनन्दः	

(१) सदनुगता-अमेददृष्टिः—

१-यद्वस्ति (सदपि सत्)—सत्तैव सत्	}—सद्विषय सचिदानन्दः (सद्विषय)
२-तज्जानाति (ज्ञानमपि सत्)—सत्तैव चित्	
३-स रस (रसोऽपि सत्)—सत्तैव आनन्दः	

(२) चिदनुगता-अमेददृष्टिः—

१-यज्ज्ञायते (ज्ञानमपि चित्)—चिदेव चित्	}—चिदविषय सचिदानन्द (चिदविषय)
२-तद्वस्ति (सदपि चित्)—चिदेव सत्	
३-स रस (रसोऽपि चित्)—चिदेव आनन्दः	

(३)-आनन्दानुगता-अभेदवृष्टिः—

१-यो रस (रसोऽपि रसः)—रस एव आनन्दः

२-सोऽस्ति (सदपि रसः)—रस एव सत्

३-त जानाति (चित्पि रसः)—रस एव चित्

—आनन्दामिम सच्चिदानन्द
(आनन्दब्रह्म)

अपमत्र संग्रह —

अविनाभावः-अर्न्तानि तद्, -अप्य धेत्यतोऽस्ति, यो विद्यत धृति स य रसः स ॥
अथ प्रियो नोऽस्ति-सद्यल्लिप्ता, ज्ञानं प्रियो नोऽस्ति सदा बुद्धस्ता ॥१॥
बोध्यं सुखं, वस्तु सदस्ति बोध्यं, बोध्यं च बोधादप्यक् प्रबुद्धम् ॥
ज्ञानं सुखं, चास्ति हि वस्तुसत्त्वत्, तस्मात् पूयद्-नातितरामिमानि ॥२॥
द्विष्यत् पर्यगमिर्दं समग्रं नातमत्तुर्षं किमपीह लोके ॥
प्रत्यधमपामपूयकृश्मीचे नैक विनाऽन्यन कदापि सिद्धयेत् ॥३॥

अनिस्तभाव-मात्यास्तिरथं खलु, मातिरस्त्या, ताम्यां रस, स्त च रसन सिद्धे ॥
तयां न पूयत्पररश्मिद्विगत्या यथा योगविभागसंस्था ॥१॥
मनोपक्षम्भिपदिहास्ति, धटोपस्तम्यते यत्दिहास्ति सत्ता ॥
यद्मानसिद्धाऽस्ति, -स्थास्तिमिद्धा माती, रसस्तुमपसिद्ध एव ॥२॥
न मातिरुत्थास्ति, -स्थास्तिपूया न माति, -राम्यां न विनाऽस्तो वा ॥
रसोऽपि शक्यतः, मते तद्भ्रमस्याकृत स्याक्रियत विधा यत् ॥३॥
अर्न्तानि बोधोऽपि च, सोऽस्ति, बोधा रसः, स बोधोऽपि च बोद्ध-भाष्य ॥
रमाऽस्ति सत्तापि रसो, न चान्यन्मन्यामह, तेन तद्भ्रमस्त्यम् ॥४॥

१	(१) अस्त इति बोधरूपम्-अस्तीत्येवं ज्ञायते	ज्ञानेनानुगृह्यते सत्ता	ज्ञानेनाप्यविनामूढा सत्ता
	(२) बोधः-अस्ति-—-उचिदं ज्ञानं सत्तावत्	सत्त्वानुगृह्यते ज्ञानम्	सत्त्वानुगृह्यते ज्ञानम्
२	(३) रसः-इति बोधरूपम्-रस इति कृत्वा ज्ञायते	ज्ञानेनानुगृह्यते सत्ता	ज्ञानेनाप्यविनामूढो रसः
	(४) बोधो, बोद्धा बोध्य इति रसः-उचिदं ज्ञान रसः	रसेनानुगृह्यते ज्ञानम्	रसेनाप्यविनामूढं ज्ञानम्
३	(५) रस-अस्ति-—-ब्रह्मपातः करिष्यन्ति	सत्त्वानुगृह्यते रसः	सत्त्वानुगृह्यते रसः
	(६) सत्ता-रसः-—-ज्ञानक्रियात्मकत्वान्	रसेनानुगृह्यते सत्ता	रसेनाप्यविनामूढा सत्ता

४५-‘अस्ति’, ‘उपलब्धि’, और ‘तत्त्वमात्र’ का समन्वय—

ज् ‘अस्त’ है चित् ‘उपलब्धि’ है, ज्ञानम् ‘तत्त्वमात्र’ है । तत्त्वमात्रोपलब्धिरूप अस्तित्व ही वाच्यमानन्दब्रह्म है । अस्तित्वोपलब्धिरूप तत्त्वमात्र (उचिदं ज्ञानत्वमात्र) ही प्रत्यक्ष का कारण है । अस्तित्व-प्रत्यक्ष से सर्वप्रतीत है । यही उचिदानन्दब्रह्म की वाच्यत् एति है, वित्का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

नैव वाचा, न मनसा, प्राप्तं शक्यो न चक्षुषा ॥

‘अस्ती’ ति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१॥

‘अस्ती’ त्योपलम्ब्यस्तत्त्वमात्रं चोभयोः ॥

‘अस्ती’ त्योपलम्बस्य तत्त्वमात्रं प्रसीदति ॥२॥

—कठ्यपनिषत् १२/१२।

१-अस्ति-—सत्

२-उपलब्धि-चित्

३-तत्त्वमात्र-ज्ञानम्

} -अस्तीत्योपलम्ब्यस्तत्त्वमात्रं चोभयोः
 “अस्तीत्योपलम्बस्य तत्त्वमात्रं प्रसीदति”

४६-गीता का 'समग्र', और 'एकान्तिकरत'-

अनुग्रह मन्विद्वानन्दलक्षण-येतन्नात्म-निरपेक्ष-यही निष्कामग्रह गीतापरिभाषा में-'स-ग्रह'-
 ऐकान्तिकरत इन दो नामों से व्यक्त हो चुका है। तब हमका मे व्याप्त गुणातीत ब्रह्म ही समग्र है।
 यह विद्युत् स्वभाव है, अतएव हमें 'ऐकान्तिकरत' नाम से व्यक्त करना भी अनर्थ्य जाता है। महात्मन,
 ज्ञान, मूर्धन्यता निस्कामिकरत, अचिदकत-अध्यात्म-अधिभूत, सर्वत्र यह ब्रह्मरूप से व्याप्त है। जिना
 इसके क्योंकि कोई भी अपेक्ष विषय अपनी अपेक्ष तथा नहीं रख सकता, अतएव सर्वत्र ब्रह्म ही यह
 निष्कामग्रह सब का आत्मिक मान लिया जाता है। अतएव विद्युत् ही इन्द्र का आत्मिकरत है। सर्वज्ञापरि
 विद्युत् रत ही इन्द्रा प्राक्सिद्ध रूप है किन्तु इन्द्र रत की अन्विद्वानन्दरूप से माति होती है। अतएव ही
 क्या का बनक है। अतएव स्वस्वरूप से ब्रह्मरत बनता हुआ निष्काम है। ब्रह्मरत-ब्रह्म रत की लक्ष्य-
 लक्ष्यरूप में परिचात करने वाला मनुष्याद्यक्ष लक्ष्यरूप सर्वत्र का ही है। ब्रह्म नहीं, तो लक्ष्यरूप नहीं।
 लक्ष्यरूप नहीं, तो ज्ञानात्मक नहीं। अतएव सर्वत्रोपरि विद्युत् स्वभाव की ब्रह्मरत ही निष्काम ब्रह्म का
 लक्षण है।

४७-ब्रह्मानुगत 'आमू', और 'अम्ब' तत्त्व-

प्रकार से आत्मिक कर सब तत्त्व केका जन्-विद्-आनन्दरूप रतत्त्व का ही निर्दिष्ट हो चुका है।
 इती की सर्वव्यापि का अतोत्पन्न हुआ है। इतकी आत्मिकरत ही केवल अतएव विद्युत् स्वभाव ही ही है।
 यह लक्ष्य व्याप्त है अतएव ही निष्काम है निष्काम है, परिपूर्ण है, निष्काम है। अतएव कहीं अभाव नहीं,
 एतावत् ही उसे आत्मिक मान लिया जाता है। अतएव 'आत्मिक' शब्द का जो अर्थ-आत्म-आर्थ-लोके-वेद
 में लक्ष्य है उत अभावनात्मक आत्मिकरत से तो अतएव कोई भी लक्ष्य नहीं है। अतएवसे न ब्रह्म
 लक्ष्यरूप है तो अतएव अम्मता से क्या लक्ष्य? क्योंकि अम्मता अभाव कस्तु की प्राप्ति के लिए ही हुआ
 कल्टी है। यह लक्ष्य है कि, अम्मता विरत में जो अपरिचर्तनीय-आत्मिक-निष्काम है, अतएव यह लक्ष्य
 कारण हो, परन्तु प्रतिफल किन्तु अम्मता के किन्तु अम्मता गुणों का गुणकत्वका इतकी का
 एवं लक्ष्य अम्मतामयी का ही यह अम्मता अभाव नहीं बन सकता। अम्मतामयी ही अम्मतामयी के निष्काम
 के लिए अम्मता अम्मता के अम्मतामयी का अम्मतामयी, एवं अम्मता नाम से व्यक्त किया। अतएव ही यह
 अम्मतामयी अम्मता कि, अम्मतामयी कि में अम्मता-अम्मता से अम्मतामयी परिचर्तनीय को विद्युत् अम्मता
 का एक लक्षण ही रहा है अतः अम्मतामयी अम्मतामयी कि का मूल ही अम्मतामयी ही ही ही अम्मतामयी,
 क्योंकि अम्मतामयी ही अम्मतामयी के अम्मतामयी बना करते हैं। परिचर्तनीय मात का परिचर्तनीय मूलकारण ही
 'अम्मतामयी, एवं अपरिचर्तनीय अम्मतामयी का अपरिचर्तनीय मूलकारण ही 'रत' अम्मतामयी। रत
 'आत्मिकरत' अम्मतामयी अम्मतामयी निर्बन्ध से 'आमू' अम्मतामयी अम्मतामयी अम्मतामयी से 'अम्मतामयी-अम्मतामयी'
 निर्बन्ध से 'अम्मतामयी' अम्मतामयी। अम्मतामयी अम्मतामयी अम्मतामयी अम्मतामयी का कारण बना अम्मतामयी
 आमू अम्मतामयी अम्मतामयी (अम्मतामयी) का अम्मतामयी बना। अम्मतामयी निष्काम अम्मतामयी के लक्ष्य
 लक्ष्य लक्ष्य अम्मतामयी इती अम्मतामयी में हमारी अम्मतामयी और अम्मतामयी ही हैं।

* 'ति ह्येतौ ब्रह्मस्यो महती अम्बे, महती यत् (नामरूपे)'

४८—ब्रह्मानुगत वाक्यार्थबोध का समन्वय—

ब्रह्मत्व की स्वीकृति से स्वगतमेव का प्रश्न उपस्थित होना चाहिए था, परन्तु नहीं होता। कारण तत्-चित्त-आनन्द-तीनों जैसे मातृशब्द कहे हुए खण्डित पर कोई आक्रमण नहीं करते एवमेव मातृशब्द का भी सर्वोत्कृष्ट स्वगतमेव को अन्तर नहीं देने पाता। सर्वत्र कार्य के कारणभूत इस ब्रह्म को सुस्पष्टि जागृति स्थिति ह्युत्पत्ति से बात अन्वयार्थ रहती है। सुस्पष्टिदशा में यक्षमाका ब्रह्म रसमग्न में विलीन रहते हैं। एतदवस्थापर रस ही क्लेशहित रस कहलाया है। इसी को निष्कलत्रक माना गया है। ब्रह्म है अन्वय। ब्रह्म मला रस को छोड़ कर बाँगे भी कहाँ? परन्तु रसमग्न में निगमन है सुन्दर है। अतएव अनाप्रवृत्ति का अन्वय है। अतएव व रहते हुए भी ब्रह्म की उठी प्रकार इस सुतरा-अक्रमस्यदशा में अभिव्यक्ति कर ली जाती है जैसे अन्वययोग्यताविहित तत्-वस्तु की स्थिति अन्वयस्थिति मान ली जाती है। विलका का कर्म है, वह यदि उठे नहीं करता, तो उसका खना न खना ही माना जाता है। अथवा रहते हुए भी सुखरस की उठी प्रकार अभिव्यक्ति कर ली जाती है जैसे वाक्यार्थबोध-प्रसङ्ग में वाक्यार्थबोध के समन्वय के लिए अपने ज्ञान में विद्यमान भी पदत्व की अभिव्यक्ति कर पदे पदत्वम् का पदत्वोपहिते पदे पदत्वम् इस रूप से वाक्यार्थबोध कर लिया जाता है। तब विषय है कि पद में अन्वय ही पदत्व रहता है। यदि पदत्व ही न रहेगा, तो पद कहाँ रह पाएगा। बात तो ठीक है। परन्तु इस शब्दद्वारा कदा क्षेत्र बाय।। 'पदे पदत्वम्' क्या यह कहा बाय? कह म्लो ही निवा बाय परन्तु वाक्य अत्युत्त होगा, अन्वयार्थस्थिति न होगी। क्यों?। इतलिय कि—पदे का अर्थ होगा पदत्वविहित पदे। क्योंकि पदत्व के बिना पद शब्द ही अनुपपन्न है। उभर पदत्व पद में रहता है पदत्व पदत्व में नहीं रहता—'सामान्ये सामान्याभावः'। मनुष्य में मनुष्यत्व रहता है, मनुष्यत्व में मनुष्यत्व क्या रहण, और कैसे रहेगा? ऐसी स्थिति में 'पदे पदत्वम्' का स्वतःस्थिति का—'पदत्वविहिते पदे पदत्वम्' यह अर्थ होगा वह एवमा तत्त्वद्वारा अनुपपन्न बन बायगा। क्योंकि पदत्वविहित पद में पदत्व तो पहिले से ही विद्यमान है। फिर उसमें और पदत्व क्या रहेगा। इत अन्वयन को दूर करने के लिए तार्किकों में विद्यमान भी पदत्व की स्वभुक्ति में अभिव्यक्ति मान कर 'पदत्वोपहिते पदे पदत्वम्' यह वाक्यार्थ-समन्वय कर लिया है। ठीक यही व्यवस्था यही समन्वय। एत पदत्वानीय है ब्रह्म पदत्व रवानीय है। पद जैसे बिना पदत्व के अनुपपन्न है, एवमेव रस भी बिना ब्रह्म के अनुपपन्न है। ऐसी स्थिति में 'रसे अन्वयम्' का अन्वयविहिते रसे अन्वयम् यह वाक्यार्थ होना चाहिए, किन्तु यह अनुपपन्न है। अतएव इत्यथ 'पदत्वोपहिते रसे अन्वयम्' इत्यथ अन्वय कर लिया है। तात्पर्य-उपलक्ष्यता बायि रस ब्रह्म दोनों का वाक्यार्थक ट, तथापि विरोधनिवा अपने ज्ञान में ब्रह्म की अभिव्यक्ति कर शुद्ध रस की भावना कर ली जाती है। कलचित यह शुद्ध रस ही, जिसे पूर्वकथनानुसार हम उन्मग्न शिवादानन्दकाल कहेंगे—निष्कलत्रक है। 'रसो ह्येव स ही इषी परिग्रहा दे, एव शब्द ऐकान्तिकभाव का ही एवक ने।

४९—नस्ति-नेती-युपनिषत् का समन्वय—

वाक्य तद्विदानमस की सर्वव्याप्यता प्रत्यक्षरूपि का पूर में विरुद्ध हुआ है कारण तत्-प्रसङ्ग में ही यह कथनाय गया है कि-आद्यान-बुद्ध-वनिता-सर्व का मस के वाक्य वाक्यिक उन्मग्न कपी के प्रत्यक्ष-दर्शन हो रहे हैं। क्या लौकिक-भौतिक-विषयानुसारी की मति इस ब्रह्मानुगत का भी बाणी के बाव (शब्दों में) अभिव्यक्ति सम्भव है? प्रश्न का उत्तर—'नस्ति-नेती-युपनिषत्' (शुक्ति) ही माना

ग्य है। "बर किसी भी लक्ष्य-कथित विचार के समर्थन के लिए इन केवलतावादी-विज्ञान-मार्कवादी को बर्न प्रमाण उपलब्ध नहीं होता तो ये उभे ही-अधिकांश-अनिर्बन्धीय-शब्दातीत-कहे हुए उच्च बन्नाते हैं जो कि उच्चतम हन का पधवारणस्यक पप ही माना जायगा", इनप्रकार भारतीय तत्त्वमयत अनिर्बन्धीय, हिन्दु स्वधुमनैकगम्य ब्रह्मसत्य के समर्थन में बङ्गमूर्तिविज्ञानवादियों का जो विज्ञान-सम्बन्ध है आज्ञात्य व्यक्त होता रहता है उच्चतम्य में भारतीय धार्मिकता के क्षेत्र में इसलिए कोई उभावान मयी है कि विज्ञानविमिनेश से उच्चतम इत्युच्यार के आशय, एव उच्चतम देवतामय लोकसुमन (मूछा-सुमन) उच्चि मे भी बर्न महत्त्व नहीं रहते। अतएव सर्वथा बालप्रज्ञा से सम्बन्धित इत्यमत् आशयेतों की समाधान-हित कर्षणर सहायता है। हाँ, जो अस्तिप्रत्य के उपासक है, जो रिगूदेरनासास्य ब्रह्मसत्य की अत्तुम्पासना से सुविनिता है उन्हें हत विद्या में न कभी उच्छेद हुआ म हो उच्च। क्योंकि ये जानते हैं कि बर कि मुद-शक्य इच्छु-मनु-आदि भौतिक पदार्थों के सर्वथा विभिन्न मधुर-घनमनो क तात्सम्य भी वाणी के द्वारा प्यन नहीं करि जा सकते। केवल सन्देशिप ही इनके माधुर्य-शासकन का अनुभव कर सकती है ता था ब्रह्मसत्य सपूर्ण विपरीत का आधार है किजको आधार बनाए बिना बर्न भी अनुमत् व्यक्त नहीं हो सकते विद्वेषकाजनकव्यस्तुम उभ स्वधुमनैकगम्य ब्रह्मसत्य का उच्च-द्वारा कहे अभिनय सम्भव है। निधि-निधि ही उनक अभिनय की आधारभूमि है।

‘निधि निधि वा अध्यायं वान रोना भी आधारभूमि है। स्वधुमनैकगम्य के निर्वेद्य आवेष, रूप दो विज्ञा-व्यपार कर है। विचारहीन विमुक्त स्वधुमनैक अधिदानस्यक निर्वेद्य है विचारहीन उच्चतमक अधिदान-ब्रह्म आवेष है। जो मुक्त प्रतीति होता है वह आवेषक्य है। जो इन्द्रिय-प्रतीति से अधिमूत है वह निर्वेद्य है। ‘निधि-निधि आवेष रोनी का संवाक्य बना हुआ है। प्रत्येक भौतिक विषय पर, नामरूपधर्मरूपक पार्थ पर उच्चि ब्रह्मत आवेष, और ताप ही म-इति-न-इति बोलते जायए। निर्वेद्य पर उच्चि कही जायती। ‘ग पथ-प्रति न पथ-प्रति न, अस्तु विचारहीन-अच्छरमनसतोचर-अविश्व-विद्वेषविद्य’ ही ‘नि-इति-न-इति-अस्तुमनस-म-म करने जायए, विद्यमानत्वमनस आवेषी तत्त्वभाक्ता अद्यत होजायती। वही निर्वेद्यब्रह्म होय। इनप्रकार ‘निधि-निधि’ आवेष का विचार विधायक अर्थ निर्वेद्यब्रह्म की ओर हमारा ध्यान आकर्षण कर रहा है। इत्यादि उच्चिरोध मेधि की मति से सम्बन्ध रहता है। विद्यमानत्वमनस वही सर्व प्रवृत्त है। वही भी उच्चि अध्याय नहीं है। ‘अभि’ (विद्यमान) रूप से सर्व वही प्रतीत होता है। मनी होने का स्वधुमनैक ब्रह्म शारिरीक ‘विद्यमान’ है। अध्यायस्यक उच्च का स्वधुमनैक मया गया है। अध्यायस्यक स्वधुमन का वाग्म्य है। नशर का मशर अध्याय का समर्थक है। न-इति न-इति (अध्यायस्य) ही ब्रह्म उच्चिरोध का सम्बन्ध है। ‘ब्रह्म नहीं है पर वाग मयी है पैसा समर्थक ही-‘निधि-निधि वा अध्यायं वान रोना भी आधारभूमि है- अस्तुमनस’।

अध्यायस्यक होने है-निर्वेद्य अधिदानस्यक वा। इन प्रवृत्त में विद्य और विद्यमानस्यक अधिदानस्यक दो प्रतीत का सम्बन्ध है। हमने ने विद्य का ता स्वधुमनैक नाम दे, परन्तु विद्यमानस्यक अधिदानस्यक का अनुवादाय म प्रवृत्त है। एतय स्वधुमनैकबन बना अस्तुमनस है। वाग्म्य एव है। वर कही स्वधुमन के व्यक्त ब्रह्म हुआ निर्वेद्यब्रह्म के अधिन है। हमारा अध्याय वही स्वधुमन वर विद्यमान अधिदानस्यक है। और वर कही स्वधुमनैक अधिदानस्यक का अध्याय विद्यमान ही है तो ब्रह्म कही वर अध्याय

व्यापक धर्म में हमारी बुद्धि-मन-इन्द्रिय सब में व्याप्त है, परन्तु बुद्धि-मन-इन्द्रिय उन्में व्याप्त नहीं है। वह हममें अक्षर्य है, हम उन्में नहीं है। प्रत्येक तरङ्ग में समुद्र व्याप्त है, परन्तु तरङ्गों तो सम्पूर्ण समुद्र की हस्ता-नापने में अक्षर्य हैं। तरङ्गों अक्षर्य सामुद्र हैं किन्तु समुद्र तरङ्ग नहीं है—‘समुद्रो हि तरङ्गः, कश्चन समुद्रो न तारङ्गः’। यही अक्षर्य उल्लेख है, परन्तु यह मेरा (ही) नहीं है। व्यापक अक्षर्य व्याप्यों में रहता है, परन्तु व्याप्य व्यापक का बहान नहीं कर सकते। वह स्वार्थमना एक परिच्छिन्न व्यक्ति में नहीं समा सकता—‘न त्वह-तेषु’। व्यक्ति अक्षर्य ही सर्वार्थमना उक्त व्यापकधर्म में प्रविष्ट है—‘तै मयि’। व्यक्ति-मान लेते हैं—सोपाधिक ब्रह्म की हमें अनुभूति है। फिर भी उक्त अक्षर्यव्यक्ति के निर्बन्धन के लिए शब्द कहाँ प्राप्त करें। पर का पर शब्द से इसलिए निर्बन्धन होनावा है कि, पर शब्द परदेवर पर्यादि वक्ष्यावत् शब्दों का व्यावर्तक है। प्रत्येक शब्द की यत्किञ्चित्प्रदायतावच्छेदकान्बन्धन में ही शक्ति रहती है। पर इसलिए पर है कि, वह पर नहीं है। पर इसलिए पर है कि, वह पर नहीं है, परन्तु जो पर-पर-मठ-कृष्ण-गीत-हरित-नील-सब कुछ है उसके लिए ‘सर्वम्’ (जो सर्वम्-नेति नेति का ही स्मान्तर है) के अतिरिक्त और क्या कहा जासकता है। इस अक्षर्यव्यक्ति से वह अनिर्बन्धनीय है। हम सोताधिकरूप से उसका अपने अक्षर्यगत में अनुभव कर रहे हैं, इसलिए हमारे मुख से—‘नहीं जानते’ भी नहीं निकलता। उल्लेख शब्द से निर्बन्धन करने में हम अक्षर्य हैं इसलिए ‘जानते हैं’ भी नहीं कहा जासकता। जानते हुए भी नहीं जान रहे, देखा आश्चर्य है। वह जानना या क्या जानना है, बिसे जान कर हम अपने आपसे ही मूल ब्रह्म—‘ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति’। अक्षर्य अक्षर्यगता मृति के ‘नेति नेति’ होना-आवेश पर ही विभ्राम करना पड़ता है, जिस विभ्राममूमि का निम्न लिखित शब्दों में बिलोपण हुआ है—

संबिदन्ति न यं वेदा, विष्णुर्वेद, न वा बिधिः ।

यतो वाचो निवर्षन्त अप्राप्य मनसा सह ॥

५०—अवाह्यमनसगोचर अविज्ञेय ब्रह्म—

अनुभूत आत्मविषयी हो, आपका लोकविषयी, अनुभूति अनुभूति है। स्वतन्त्र अपने रूपसे ब्रह्म है। ब्रह्म उल्लेख निर्बन्धन अक्षर्यमय है। विद्वत्-कटु अन्त-लाक्य-अधुर-स्वार्थों की अनुभूति अनुभूति पर विभाव है। उल्लेख शब्द—‘ज्ञान निर्बन्धन अक्षर्यमय है। ज्ञाना, शब्दों हस्त, शब्दोत्पत्त (मिमी) आदि तभी तो मुख रह हैं। उल्लेख स्वान् प्रथक प्रथक रूप से अनुभूत होता है। क्या आप एक अनुभूत-ब्रह्म प्रथक स्वार्थों की प्रथमनुभूति का शब्दद्वारा निर्बन्धन कर सकेंगे। कृष्णमरीचिका, हरिमरीचिका, यक्ष्मरी चिका आदि के विद्वत्कारों से अनुभूत होने वाले पार्थक्य का क्या आप स्पष्टीकरण कर सकेंगे ?। अक्षर्यमय । विष्णु उल्लेखानुभूति में आकर वह एक उक्त निर्बन्धित रूप से अविज्ञेय बन जाता है। अक्षर्य उल्लेख निर्बन्धन अक्षर्यमय बन जाता है। लक्ष्मिनाम्बुब्रह्म लक्ष्मनुभूत है फिर भी उल्लेख यदि और स्वकल्पद्वय पूर्णता है तो उल्लेख पहिले विषयवादी का निर्बन्धन करना चाहिए। यदि वह उनका निर्बन्धन कर देगा तो हम भी ब्रह्म के स्वकल्पनिर्बन्धन के अक्षर्यमय-मराठ में प्रवृत्त होने की वृत्ता कर सकेंगे। मना जब हम इन्द्रियमारेण विषयानुभूतिकों का भी स्वकल्पनिर्बन्धन नहीं कर सकते, तो फिर उक्त निष्कल निष्कल, निर्बन्धक, निष्कल, निर्बन्धित दिग्देशकाल से अनन्त, किन्तु संख्या में एक, रक्षक, उन्मुख लक्ष्मिनाम्बुब्रह्म का निर्बन्धन कभी कर ही सकत है। अक्षर्य हते अवाह्यमनसगोचर अनिर्बन्धनीय, एवं अविज्ञेय कहा गया है।

५१—निष्कलप्रश्न, और उदुगात प्रश्नवन—

उक्त लक्षण किन्तु उक्तः सर्वविशेषाद्यातीत निष्कल प्रश्न के दो विधय मायी की ओर वैश्यामिणी में हमारा ध्यान आकर्षित किया है। बसोपहित निष्कलप्रश्न प्रथम विधय है एवं बस-पिराणु निष्कलप्रश्न द्वितीय विधय है। उक्तप्रश्ना दोनों का स्वरूप अतिशय है। केवल बस-वृद्धि से लावण्य है। उठी की किन्तु उक्त स्वरूप से बेलना एक दृष्टिकोण है, वही बसोपहित निष्कलप्रश्न है। उठी को कलाविशिष्टकर्म से बेलना एक दृष्टिकोण है वही कलाविशिष्ट निष्कलप्रश्न है। प्रथम विधय विज्ञानमाया में 'निर्बिरोध' कहलाया है पीछमाया में वही 'येकान्तिकरस' नाम से व्यक्त्युक्त हुआ है। द्वितीय विधय विज्ञानमाया में 'परत्पर' कहलाया है वही गीतामाया में 'शास्त्रवचनमै' कहलाया है। समस्त कीर्तय, हमने पूर्व में (१० पृष्ठ पर) बस की लुपति वाप्यति स्थिति, प्रथम भेद से बार बारका बलात् है। यही बस भी स्वयं कर दिया है कि, रत्नार्थ में बस बस हुन हो बाते हैं वो किन्तु उक्त का लक्षण्य एव बाध है। और ऐसे बस का रहना न रहने के समान है। यही पहली निर्बिरोधवस्था है। बस लुपतामस्या को छोड़ कर बसवचनमा में तो बाण्य, परन्तु अमी न तो इनकी स्थिति हुई, न बस हुआ अन्तु बस लुपत बार बारकाभाय से मुक्त है। स्वयंउत्पन्नबाण्यय बस स्थिति एवं बसवचनमा उदुगामाया से अर्थात् एव एव उदुगामाया से एकान्तः रहित है। स्वयं-वाक्यमा ही बसों की बसवचनमा है। उदुगामायायुक्त उदुगामायायुक्त उदुगामायायुक्त रह ही परत्पर है। बस ही रत का 'त्व लक्षण्य धर्म' है। अत्यन्त परत्पर को उदुगामायायुक्त बस बाधक है। अत्यन्त विज्ञान-प्रधान गीताशास्त्र ने इसे 'शास्त्रवचनमै' नाम से ही व्यक्त्युक्त करना स्वाकहात माना है। उदुगामायायुक्त कलाविशेषका वही उक्त निर्बिरोध है कलावस्था वही उक्त परत्पर है। निर्बिरोध भावित्यवेद्य है, परत्पर उदुगामायायुक्त है। स्वयंवृद्धि से विचार करने पर दोनों का येत्यमाय मुक्त है। अत्यन्त दोनों की ही न मान कर हम 'निष्कल' रूप से एक ही नाम से उक्त्युक्त कर रहे हैं। वही निष्कल निर्बिरोधवस्था अनारम्भक है पर-त्परवृद्धय अविज्ञानमत्त आरम्भक है। परत्पर का उदुगामायायुक्त विद्यायुक्तता का आरम्भक है, परत्पर का बसवचन विद्यायुक्तता का आरम्भक है। वही निष्कल परत्पर महतीमहीमान् है वही अयोरीचीयन् है। उदुगामाया वही महतीमहीमान् रूप ममा है। उदुगामाया वही अयोरीचीयन् रूप अविद्या है। वो ममा है वही अविद्या है। वो अविद्या है, वही ममा है। ममायत यी कर्मम है, अविद्यायुक्त यी उदुगामाया है। उदुगामायायुक्त वही परत्पर को हम प्रथम प्रश्नय का निष्कल नामक प्रथम आरम्भक कहेंगे—वो कलाविशेष मिला अद्वैत को अपने गर्भ में उक्त्युक्त हुआ की उदुगामायायुक्त मिला अद्वैत की अवेद्या आयुर्मायक उदुगामायायुक्त अवेद्यायुक्त है। उदुगामायायुक्त अवेद्यायुक्त की उदुगामायायुक्त वही वही निष्कल परत्पर को 'अद्वैत' नाम से व्यक्त्युक्त किया है—

बस परत्पर में बस अद्वैतवस्थायुक्त है, एवं कलाविशेष का ही नाम बस कहा है, वो परत्पर को निष्कल वैसे मना गया है, वह प्राकृतिक प्रश्न है। प्राकृतिक उदुगामायायुक्त है। कलाविशेष स्थितिमाय पर निर्म है। स्थितिमाय कर्ममाय पर निर्म है। काममाय उदुगामायायुक्त पर निर्म है। उदुगामायायुक्त काममाय पर निर्म है।

ॐ—प्रश्न वनं, प्रश्न स इय आसीत्, यतो धानापृथिवी निदृष्टः ।
मनीषिणो मनसा विप्रवीमि वः, ब्रह्माप्यतिष्ठन्—सुवनानि धारयन् ॥

कब कि परस्पर अमीम है, तो ये सम्पूर्ण निर्मरवार्ये उसके गर्म में ही मिलीन हो जाती है। कलों की चिति, किवा प्रथियन्वयन तो ठमी सम्भव है कबकि संबरभाव से प्रवाहित कलों को एक दूसरे से टकराने का अवसर मिले। व्यापक परास्पर में ऐसे अवसर मिलना असम्भव है। अतएव चिति भी असम्भव है। अतएव व उसका कशामाव से सम्भव नहीं होता।

५२-महाकाल परमेश्वर की सर्धारम्मकता—

निष्कल परास्पर ही आगममाया में 'महाकाल'-परमेश्वर कहलाया है। इसी के लिए भुविषी में पवे पवे 'अमर्य से ब्रह्म' इत्यादि रूप से 'अमर्य' नाम प्रयुक्त हुआ है। यह किवाटीय, परास्पर-परमेश्वर एक है इसके गर्म में अनन्त (असंख्य) ईश्वर उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं, जैसे एक एक ईश्वर के गर्म में असंख्य भीम प्रतिष्ठित हैं। बीनों का परमेश्वर ईश्वर है, ईश्वरों का परमेश्वर परास्पर है। सर्वकालविशिष्टरसमूर्ति परास्परका कलमाग 'मुख्य' है यही 'अमर्य' है। रसमाग 'अमृत' है यही 'आमृ' है। कल संख्या से अनन्त (असंख्य) किन्तु दिग्देशकाल से शादि व्यक्त परिच्छिन्न है। रस संख्या से एक, किन्तु दिग्देशकाल से अनन्त-अपरिच्छिन्न है। रस पञ्चान्तः अपरिवर्तनशील है स्थितिराद्य है। कल परिवर्तनशील है गतिराद्य है। रस नित्य है, कलराद्य है आनन्दरतेकपन है पूर्ण है। कल अनित्य है, कलराद्य है, दुर्लभ-दुर्लभ है, शून्य-शून्य है। रस ब्रह्म है, कल कर्मरस ब्रह्म है। रसब्रह्म को प्रदान मानने वाला प्रधानुयायी वर्ग 'ब्रह्मण्य' है। ब्रह्मब्रह्म को प्रधान मानने वाला जमाधुयायी वर्ग 'जमाधुयक' है। अस्तिरस रसब्रह्म के अनुयायी ब्रह्मण्य 'आस्तिक' कहलाए हैं। नास्तिक कल ब्रह्मब्रह्म के अनुयायी ब्रह्मण्य 'नास्तिक' कहलाए हैं। इत्यकार परास्पर के अस्तिक, नास्तिकरस से दो प्रकार से दर्शन हो रहे हैं। इसी आधार पर भारतीय आत्मदर्शन आस्तिकदर्शन, नास्तिकदर्शन में दो मार्गों में विभक्त हो रहा है, जिसका भूमिका के 'आत्मपरीक्षा-संबन्ध' में विस्तार से विवेचन किना बाधुका है। पूर्वपत्र का निष्कर्ष यही निष्कल्य है कि, सर्वकालविशिष्ट अकाल-अकाल परास्पर का ही नाम निष्कलब्रह्म है, किन्तु निर्विशेष, परास्पर, इन दो विवेचनों से प्रायना की जा सकती है। यही पहिला निष्कल नामक आत्मक है।

५३-सर्वकालविशिष्ट परास्परब्रह्म, एवं सर्ववस्तुपपन्न पुरुषब्रह्म—

वित निष्कल परास्परब्रह्म का पूर्व में निष्कल हुआ है, उसीके आगे आकर सर्वकालविशिष्ट, सद्य-कालोपपन्न, वे दो विवेचन हो जाते हैं। वितप्रकार उन्मुक्तरसमूर्ति सविदानन्दब्रह्म के सर्वकालविशिष्ट सर्वकालविशिष्ट, वे दो रूप क्रमशः निर्विशेष, परास्पर, नाम से व्यञ्जित हुए हैं। एकमेव परास्परब्रह्म के उक्त दोनों विवेचन क्रमशः परास्पर, पुरुष, नाम से व्यञ्जित हुए हैं। जैसे निर्विशेष और परास्पर तत्त्वता अस्मिन् कलतावे गए हैं, एकमेव परास्पर, और पुरुष भी तत्त्वता अस्मिन् ही हैं। इसी आधार पर परास्पर पुरुषमुपेक्षि विद्यम्य यह निगम व्यञ्जित हुआ है। पुरुष अकाल्य जसते अस्मिन् रस्य हुआ परास्पर है, परन्तु स्यन परास्पर अणो व्यापक त्वरस से (सर्वकालविशिष्टरसमे) कमी पुरुष नहीं है। इस भौतिक दृष्टिकोण को आधार बना कर ही 'बेबरी' नामक द्वितीय आत्मक की मीमांसा कनी बादिने।

५४-नव (६) अवस्थात्मक पक्षतय—

रतेकपन परास्परब्रह्म में वित ध्विक कल का अवस्थातन कलताया गया है अमृतत्त के वाद्यम्य में जत कल की ६ अवस्था हो जाती है, एवं वे ६ अवस्था यन वन उपनिषदों में— १-शान्ति, २-भूमि,

३-प्रमात्, ४-मात्, ५-कत्, ६-गुणः ७-विधात्, ८-अद्यत् ९-आपरयत् इन नामों से प्रथम दुई हैं। इनमें से ३-६ का एक एक स्वल्प विभाग है। प्रथमत्रयी में रत् का प्राधान्य है द्वितीयत्रयी में रत्-कत् का स्वल्प है तृतीयत्रयी में कत् का प्राधान्य है। रत्प्रधाना प्रथमा त्रयी 'अमृतम्' है, इत्यादि निष्कल परस्पर से सम्बन्ध है। रत्प्रधाना द्वितीया त्रयी 'अमृतमृतम्' है, इत्यादि बोधरी से सम्बन्ध है। कत्प्रधाना तृतीया त्रयी 'मृतम्' है इतम् प्रथमबोधरी से सम्बन्ध है, ऐसा कि निम्न लिखित तालिका में एक है—

❊			
१	१-रागिन् (सुप्तबलम्) तद्गुणोऽद्यत्	} —निर्विशेष } } — } } —परस्पर }	} —अमृतम् (निष्कलः १)
	२-वृष्टिः (स्वल्पबलम्) बलस्याग्रनुगामी रसः		
	३-प्रसङ्गा (शाम्बलम्) बलविशिष्टरसः		
❊			
२	—माय्य (चित्पाधारबलम्)-तद्गुणोऽव्यय-गुरुप	} —सत्स्वल्पम् } } सत्स्वल्पम् } } —अमृतमृतम् (बोधरी २)	} —अमृतमृतम् (बोधरी २)
	२-कत्ता (चित्बलम्)-तद्गुणोऽद्यत्-परस्परकृति		
	३-गुणः (चित्बलम्)-तद्गुणः सत्-अपरस्परकृति		
❊			
३	१-विधात् (मन्थाधारबलम्)-तद्गुणो विरवसद्-प्रजापति	} —मृतम् (प्रथमाबोधरी ३)	} —मृतम् (प्रथमाबोधरी ३)
	२-अद्यत् (मन्थबलम्)-तद्गुणः पुराणम्-विराट्प्रजापति		
	३-आपरयत् (सुप्तबलम्)-तद्गुणः पुरम्-विरवप्रजापति		

५५-वद्-वत्परिभ्रष्टस्य क् आत्मनी प्रजापति—

एक नवी क्तात्मनीयों में से शक्ति, वृष्टि, पद्यत्, वे तीन अक्षरों को अक्षर-अनिर्बन्धीय-अक्षर-अक्षर-विशिष्ट परस्परकम निष्कलरत् से एक घटी हुई अक्षर है। ये १ वीं अक्षरार्थ माधोपति के सम्बन्ध से किये हैं। इन तीनों का 'अक्षर' से सम्बन्ध है इन १ वीं का आत्मनी से सम्बन्ध है। रत्प्रधान एक 'अक्षर' प्रथमा है। कत्प्रधान-परिभ्रष्टस्य एक 'आत्मनी' प्रथमा है। आत्मनी ही विधानमाधोपति से सम्बन्ध है। एतत्परि तीनों क्तात्मनीय बलसे एक परिभ्रष्टमाधोपति बनती हुई भी अक्षर से होने से अपरिभ्रष्ट है। अतः एक निष्कल परस्पर की आत्मनी ही एक आक्षर। माधोपति से

। अस्त्यार्थे ही वास्तविक परिग्रह है। अतः उद्दिष्ट आत्मा (रुद्र) को ही आत्मन्वी (प्रजापति) माना जायगा।
 ही निष्कल परस्पर मायादि ९ परिग्रहों के कारण कर्तृत्वंय बन जाता है, वैसे कि अग्रिम परिच्छेदों से स्पष्ट
 हो रहा है।

५६-‘माया’ परिग्रहयुक्त आत्मन्वी प्रजापति—

समसे पहिला मायापरिग्रह है। जिस निष्कल परस्पर में प्रतिक्षण क्लिष्टयुक्त बल का समन्वय कलसाया
 गया है, वह बल ‘कोराबल मात्राबल,’ में से दो मार्गों में विभक्त है। कोराबल १५ है इन कोराबलों का
 गर्भ में प्रतिष्ठित मात्राबल असंख्य है। अनन्त मात्राबलों को स्वर्ग में प्रतिष्ठित रखने वाले कोराबलों में १५
 अविद्याबल हैं, वे सृष्टिसाक्षी बनते हैं। एवं १ काशबल विद्याबल है और वह भक्तिसाक्षी बनता है। विज्ञान
 माया में ये १५ ही बलकोश कर्मणः-विद्या मायादि नामों से प्रसिद्ध हैं वैसे कि निम्न लिखित परिच्छेद
 से स्पष्ट है—

१-विद्या (१)	२-माया (२)		१०-सत्यम् (१)	
इति केवलसम्पत्	३-आया ()	६-इवयम् (१)	११-यद्यम् (२)	१४-वयः (१)
	४-घरा (३)	७-भूति (२)	१२-अभ्यम् (३)	१५-वयोनाभ (२)
	५-आरा (४)	८-सहा (३)	१३-सोह (४)	१६-वपुनम् (३)
	इति संप्रीचीनानि- अस्वारि-अभ्यानि	९-सूत्रम् (४) इति संप्रीचीनानि- अस्वारि-अभ्यानि	इति संप्रीचीनानि- अस्वारि-अभ्यानि	इति संप्रीचीनानि- व्रीणी अभ्यानि
१	४	४	२	१

● बलश्रेयाः

●—इन श्रेयों के अर्थों का विस्तार वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्ब्रह्मसूत्रानुसंगीत उद्दीकृतपद में
 देखना चाहिये। यहाँ विस्तारमय केवल इनके नाम ही उद्धृत कर दिये गये हैं।

- १-विद्यावज्रम् (विभिन्नभावानामकत्वसम्पादिनी विद्या, ततो प्रथिव्यम्बुविभोःक्षयच्छा मुक्तिः) ।
- २-मायावज्रम् (एकत्वानकत्वसम्पादिनी माया, ततः सीमाभावप्रवृत्तिः) ।
- ३-ज्ञायावज्रम् (ज्ञमभावप्रवर्तिनी ज्ञाय ततः-इदम्ब) ।
- ४-पारावज्रम् (ब्रह्मवाहसम्पादिनी घना ततः-ब्रह्मसम्पत्) ।
- ५-आयावज्रम् (श्रुतमात्रप्रवर्तिन्मः-आय ततो ब्रह्मव्यपि) ।
- ६-हृदयवज्रम् (सत्त्वमात्रप्रवर्तक-हृदयम् ततो ब्रह्मसंपत्) ।
- ७-भूतिवज्रम् (वित्त-पशु प्रजा-ग्रेत्र-वेदामिबर्द्धिनी भूतिः ततोऽभिहृद्विर्ज्ञानम्) ।
- ८-यज्ञवज्रम् (भोक्तृभोग्यसम्बन्धकर्ता यज्ञः ततो ब्रह्मानामभ्रमात्मत्वम्) ।
- ९-सूत्रवज्रम् (स्थिरभोग्येषु भोक्तुराक्रान्तिप्रवर्तकं सूत्रम् ततो-ब्रह्मानो बलेषु ब्रह्मणि) ।
- १०-सत्यवज्रम् (ज्ञानक्रियार्थमर्शकं सत्यम्, ततो नामरूपप्रतिष्ठा) ।
- ११-यज्ञवज्रम् (स्वार्थिसद्यविषयतेः प्रवर्तकं यज्ञम्, ततो ब्रह्मानामभिम्बवत्) ।
- १२-अम्बवज्रम् (अमृते सूर्युप्रवेशकं ब्रह्मम् ततोऽसत्तः सत्सुरूपेस्तत्त्वानम्) ।
- १३-मोहवज्रम् (अभावे भावबुद्धिप्रवर्तको मोहः ततो ब्रह्मानामभ्रसत्) ।
- १४-बोधवज्रम् (ब्रह्मगुणकर्मप्रवर्तकं बयः ततो भावप्रतीतिः) ।
- १५-बयोभाववज्रम् (मायातां सीमाप्रवर्तके बयोभावः, ततः-आत्मप्रतीतिः) ।
- १६-बयुनवज्रम् (ज्ञाने विषयसंज्ञाप्रवर्तकं बयुनम्-ततः-भूतप्रतीतिः) ।

+ + +

शान्ति, सुति, प्रसन्न इन तीन अतिन्वित आत्मरपाओं का तो मुख्यवर्तक विद्याका से सम्बन्ध है । एवं दोष भावादि बद्-परिग्रहों का दोष मात्र-बाधादि पञ्चदश अविद्याकलों से सम्बन्ध है । इन १५ अविद्याकलों में से बाधा बाध-बाधि औरह अविद्याका मायाका के गर्भ में प्रतिष्ठित है । अतएव इन पञ्चदशकलं कोशों में मायाकलकोश ही सर्वप्रधान माना गया है । परस्परसम्बन्ध में ऐसे आठव्य मायाकलकोश हैं—भित्त प्रत्येक मायाकलकोश में अन्ततः मायाकलगमित आदर्श आदर्श कलकोश प्रतिष्ठित हैं । परस्पर के भित्त प्रवेश में मायाकल का उदय होता है तत्प्रवेश हीमित हो जाता है । मायाहीमित मानी तही परस्पर सर्वकलोपक परस्पर कदावाय है जो मायाहीत सर्वकलविशिष्ट निष्कल परस्पर से अविद्य है । इत्यन्तर अमायी, मायी मेरु से एक ही परस्पर के सर्वकलविशिष्ट निष्कल परस्पर, सर्वकलोपक निष्कल परस्पर, वे ही विकर्ष ही करते हैं । और लव इतियों से दोनों निष्कल परस्पर समुत्पन्न हैं । अन्तर केवल यही है कि, मायाहीत परस्पर केवल परस्पर है एवं वह संकल्प में एक है । परन्तु मायी परस्पर मायापुर के सम्बन्ध से 'परस्परपुन्य' है, एवं मायाकल से वह अनन्त (आर्षकम्) है । अमायी परस्पर 'ब्रह्मकल' है मायी परस्परपुन्य ब्रह्मकल है, जिसे 'अकलकल' कहा गया है, एवं भित्तव्य मूर्तिपरीक्षा उत्तरकाल में विद्यार से विभेदक हुआ है एवं भित्तव्य निम्न विभिन्न शक्तों में उपलब्ध हुआ है—

यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मात्माप्सीयो न न्यायोऽस्ति कश्चित् ।
 बुध इव स्वम्बो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

मायाप्रकृतिमात्र से बुद्ध मायी परत्पर क्योंकि स्वत्वरूप से निष्कल है, वैविध्य का अभाव है, अतएव वह 'अम्यय' नाम से व्यवहृत हुआ है। कलात्मात्र बलविति पर निर्भर है, बलविति हृदयकाशयेदा है। हृदय अक्षरव्यापारशेष है। वह ठीक है कि, मायाकल के सम्बन्धमात्र से तत्परिच्छिन्न मायी पुरुष में हृदय-कलातुगत अक्षरव्यापार आरम्भ हो जाता है। चिति का उपक्रम हो जाता है, तथापि हल व्यापार से प्रथमा-वस्थापन्ना, मायोदय से उत्तरावस्थापन्ना निर्भ्यावावस्थाका, अतएव कलाशिक्ष चिति से अक्षरतुष्टा को परत्पर-वस्था है, उसे निष्कल ही माना जायगा। यही निष्कल परत्परपुरुष इष्टी कलाभावविद्य से एकत्र रहता हुआ 'न वैविध्यमेति' निर्वचन से 'अम्यय' कहलाया है। यही काले काकर हृदयलक्ष्य अक्षरव्यापार का आचार बनता हुआ कलात्मप्रवृत्ति का कारण बनता है। दूरे शब्दों में विशुद्धभावस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) इष्टी निष्कल अम्यय से कला नाम के दूरे परिग्रह से कलासर्ग का उपक्रम होता है। कलातुगता माया बलानावा कहलाई है। लख-लखानिमग्न माया उक्त कालिमाया से पुत्र रहती है, अतएव इह 'योगमाया' नाम से व्यवहृत करना अनर्थ बनता है। इन बचनसक्त योगमायाओं का आचार आदिमाया है, वह इन सब की अपेक्षा मूर्ती है अतएव उसे 'महामाया' कहना अनर्थ बनता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, सर्वव्यतिष्ठितस्वरूप अनायी-अक्षय निष्कल परत्पर के स्वच्छिन्न चित्त प्रदेश में माया परिग्रह का उदय हुआ। वह मायात्मक सर्वकला-परिवृत्त, कलात्मवस्तुत्व, अतएव निष्कल-अम्यय नाम से प्रसिद्ध, महामाया सम्बन्ध से 'मोक्षेश्वर' नाम से उपदर्शित, कलात्मप्रकर्ता अक्षर अक्षरव्यवहारमक तत्त्व ही परत्परपुरुष है, जिसे हम अपनी माया में 'परमात्मा' कह सकते हैं। अनायी परत्परवेषणा मायोपाधिक परमात्मा मायामेद से अनन्त है। स्वकल-विशिष्टस्वरूप अनायी परत्पर को एक निःसीम पद समझिय। इस पर किन्तु कलात्मव्यवहार अक्षय परमात्मा समझिय। उदाहरण के लिए एक श्वेत पत्र पर छोटे छोटे हल बना दीक्षिय। इच्छात्मिक रत्ना हि-लेखा हिपुर' (रात १।१।१।२५) के अनुसार भाविच्छिन्न-कल्पित-रत्नात्मक पुर (सीमा) है। रत्ना केवल मासिच्छिन्न है। लखात्तया अक्षरपाठ्य उक्त एक ही अक्षरवत् अनायी पत्र का सम्बन्ध है। यदि रत्नात्मक पुर से अक्षरव्यवहार हृष्टी पर हल बाली जाती है तो वे पत्रक पृथक् से प्रतीत होते हैं। पृथक्कृत से प्रतीतमान से मायोपाधिक परत्परपुरुष ही मोक्षेश्वर है। निम्न लिखित बचन एवं परिकल्प मायापरिग्रहविशिष्ट इष्टी निष्कल परत्परपुरुष की आर इमाय प्यान आकर्षित कर रहे हैं—

- १-न चक्षुषा गृह्यते नापि बाधा नान्यैर्देवैस्त्वपसा कर्मणा वा ।
 ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसच्चसत्त्वस्तु त पर्यते निष्कल व्यापमान ॥
 —सुरबोधोपनिषत् ३।१।८
- २-न भूमिरायो न च बद्धिरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चान्ध्ररश्च ।
 एषं विदित्वा परमात्मस्य गुहाशय निष्कलामद्दिलीपम् ॥
 समस्तसार्धिं सदसद्विद्मिन् प्रयासि शुद्ध परमात्मरूपम् ॥
 —कैवल्योपनिषत् २।२३, २४, १

३-माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

तस्यावयवभूतैस्तु न्याप्तं सप्तमिदं जगत् ॥ श्वेतारशरोपनिषत् ५१ ।

४-मात्राश्रमनीहास्य मावामावकर शिवम् ।

कलासंगकरं दवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ श्वे० उ० ११५

५-धर्मीश्वरास्तां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च ईक्षतम् ।

पतिं पत्नीनां परमं परस्तात्-विद्वान् देवं सुवनेशमीड्यम् ॥ श्वे० ११०

६-सदृशं शिषु लिङ्गेषु सवस्तु च विमक्तिषु ।

बन्धनेषु च सर्वेषु यमं श्येति तदुच्यते ॥ गी० प्रा० पृ १२६

७-ऊर्ध्वमूलमधःश्रावमरुतर्षं प्राहुरन्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्यानि पस्तं घेदं स घेदवित् ॥ श्वि० १२१

८-उपद्रष्टुमन्ता च मर्चा मोक्षा महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्ता देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥—गी० १३२

५७-‘कला’-परिग्रहयुक्तं आत्मन्वी प्रजापति—

कित प्रश्न निष्कलत्रय के लक्ष्मणविशिष्ट, लक्ष्मणविशिष्ट, मेर से निर्बिरोध परस्पर व दो किन्तु है । परस्पर नामक निष्कलत्रय के लक्ष्मणविशिष्ट लक्ष्मणोत्पन्न, मेर से परस्पर, पुरुष (अन्वय) के दो किन्तु है एवमेव लक्ष्मणोत्पन्न पुरुष (परस्परपुरुषकम मदेरकर) के लक्ष्मणोत्पन्न लक्ष्मणविशिष्ट मेर से दो किन्तु हो करते हैं । लक्ष्मणोत्पन्न मदेरकर अन्वयपुरुष नाम से प्रसिद्ध है एवं लक्ष्मणविशिष्ट मदेरकर घोडरी नाम से प्रसिद्ध है । घोडरी की ही मायापरिग्रहमात्राश्रमिण्या अन्वय अन्वयमदेरकर है घोडरी की ही अन्वयपरिग्रहमात्राश्रमिण्या अन्वय अन्वयमदेरकर है । एव ही वह और तथा कर लीकिए कि, परस्पर के धर्म में परस्परपुरुषकम किन्तु अन्वय मदेरकरों की मुक्ति कलत्राई परी है, उनमें प्रवेश में मात्रा-कला-गुण-किन्तुपरि १ धर्म किन्तु परिग्रहों का वैल ही अन्वय है वैल अन्वय प्रकृत में केवल एक मायापरिग्रह से कुछ एक मदेरकर की लक्ष्मण के साथ कलत्राया अन्वय । अन्वय मदेरकरों में से केवल एक मदेरकर की लक्ष्मण मान कर ही हमें ज्ञानी की प्रायोजकलत्राश्रमों का अन्वय करता है । प्रमाणी-लक्ष्मणविशिष्ट रत्नमूर्ति निष्कल परस्पर के कित प्रदेश में मायाकल का उदय हुआ, लक्ष्मणविशिष्ट रत्नमायीप्रदेश निष्कल अन्वय अन्वय, यहाँ तक एक रिकति का विरलोकन हुआ । अब ज्ञानो तथा

(शरीरविरहित आत्मा, प्रबापति) कहलाया । इस से पहले केवल आत्मा ही आत्मा था । माया के आभाव से हृदय, और परिचरूप आत्मा, तथा शरीर, इस हीतमात्र का आभाव था । अमानी में हृदय नहीं था इच्छा वास्तव्य है—कोई निष्क हृदय नहीं था अपितु वह सम्पूर्णरूप से हृदयरूप ही था । महान् और अस्तु का पार्ष्व न था । जो ही महान् था, वही अस्तु था । परन्तु मायीपुरुष में केन्द्रावच्छिन्न बही तत्त्व आत्मा बन गया, परिचरवच्छिन्न बही तत्त्व शरीर (आत्ममाहिमा) बन गया । परिचरवच्छिन्न में भी वही रस कला, हृदय में भी वही रसकला, रसकला से अतिरिक्त और तीव्रता तत्त्व आवेगा कहाँ से । हृदवावच्छिन्न आत्मरूप रसकलात्मविलक्षण तत्त्व ही 'रुचोवलीपत्' नामक मन (अन्वयमन) कहलाया किन्तु तैत्तिरीय में— 'तदेतच्छब्दोवस्वस प्रच्छ' (ते आ० २।२।३।१) इत्यादि रूप से विस्तोषल हुआ है । यही अन्वयमन किन्तु अन्वयमनोऽनुगत अन्वयमात्र सृष्टि का प्रथम रेत माना गया है * ।

मायाकला के उदित होते ही हृदयकला उत्पन्न हो जाता है । इस हृदयरूप हृदयकला का ही नाम 'प्रकृति' है । हृदवावच्छिन्न पुरुष स्थितिरूप है, हृदयकलाकला प्रकृति गतिरूपा है । दोनों अद्वैत प्राकृत तत्त्व— 'प्रकृति पुरुषं चैव बिन्धि—अनादी अमावपि । गतिरूपा इस प्रकृति के गतिपरकचक्रमेद से स्थिति, गति, आगति, स्थितिगमिता गति, स्थितिगमिता आगति, ये पाँच विषय हो जाते हैं । पुरुष भी रसकलात्मक है, हृदयकलाकला प्रकृति भी रसकलात्मिका है । दोनों के स्वरूप में अन्तर वही है कि, पुरुष कलागमितारसप्रधान है प्रकृति रसगमितारसप्रधाना है । रसप्रधान पुरुष स्थितिप्रधान है, कलाप्रधाना प्रकृति गतिप्रधाना है । कलाप्रधाना इस प्रकृति में रस और कला दोनों हैं । अतएव अगो बचकर इच्छे भी दो विषय हो जाते हैं । कलागमिता रसप्रधाना प्रकृति रसप्रकृति है, रसगमिता कलाप्रधाना प्रकृति कलाप्रकृति है । रसप्रधाना प्रकृति रसप्रधान—पुरुष भी अस्तुमाहिरुचि है कलाप्रधाना प्रकृति कलाप्रधानपुरुष भी अस्तुमाहिरुचि है । रसप्रकृतिविरहित रसपुरुष सृष्टिप्रवर्तक बनता है, कलाप्रकृतिविरहित कलापुरुष सृष्टिप्रवर्तक बनता है ।

रसप्रधान वही पुरुष अस्तुपुरुष है यही परपुरुष है । कलाप्रधान वही पुरुष मृत्युपुरुष है, वही अपरपुरुष है । रसप्रधाना वही प्रकृति अस्तुता प्रकृति है परपुरुषास्तुता वही प्रकृति परप्रकृति है । कलाप्रधाना वही प्रकृति मृत्युप्रकृति है अपरपुरुषास्तुता वही प्रकृति अपरप्रकृति है । इच्छाप्रकार रस—कला के आरम्भ से कलाप्रधाना—गतिरसप्रधाना प्रकृति के चार अपराय मेद से दो विवर्त हो जाते हैं । जो पञ्चगतिविभाग परप्रकृति के हैं वे ही अपराय के हैं । जो नाम परप्रकृति के पञ्चविभागों के हैं, वे ही नाम अपराय—विभागों के हैं । गतिरसप्रधाना स्थिति नामक प्रथम विभाग ब्रह्मा नाम से गतिविभाग इन्द्र नाम से आगति विभाग विष्णु नाम से, स्थितिरसप्रधान गतिविभाग अग्नि नाम से, एवं स्थितिरसप्रधान आगतिविभाग सोम नाम से पञ्चकृत हुआ है । ये ही पाँच विभाग अपरायप्रकृति के हैं । इच्छाप्रकार हृदयकलाकला रस—कलाप्रधान, गतिरसप्रधान एक ही प्रकृतिरस के आरम्भ में परा, अपरा दो विभाग, एवं पञ्चमन्तर विभागदृष्ट्या दश विभाग हो जाते हैं । यही दशमन्तर विभाग—कलाकला प्रकृतिरस है किन्तु आगमशास्त्र में 'ब्रह्ममाहिरुचि'।

* अन्वयमनोऽनुगत अन्वयमात्र रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सद्यो पञ्चमससि निरविन्दन् हृदि प्रतीप्या क्वपो मनीषा ॥

—शब्द सं० १ १२५३४

३-मार्यां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

तस्यावयवभूतैस्तु व्यार्त्तं सर्वमिदं जगत् ॥ श्वेतसूत्रोपनिषत् ३।१ ।

४-मात्रप्राज्ञमनीहास्य मातामायकरं शिवम् ।

कलासर्गाकर्तं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ श्वे० उप० ३।१३।

५-तमीश्वराख्यां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च द्वैतम् ।

पतिं पत्नीनां परमं परस्तात्-विद्राम देवं सुबनेशमीदृशम् ॥ श्वे० १।७।

६-सर्वत्र त्रिषु लिङ्गेषु सवालु च विमक्तिषु ।

बध्नेषु च सर्वेषु यद्य भ्येति तदध्ययम् ॥ गी० भा० पू० १।२६।

७-ऊर्ध्वमूलमधःप्राष्ठमरवर्त्यं प्राहुरभ्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्यानि यस्तं वेदं स वेदवित् ॥ गी० १।२।१।

८-उपद्रष्टुमन्ता च मर्त्ता मोक्षं महेश्वरं ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषं परं ॥—गी० १।२।२।

५७-‘कला’-परिग्रहपुक्त आत्मन्वी प्रजापति—

जिह प्रकार निष्कलत्रक के लक्ष्मणविरहित, लक्ष्मणविरहित, मेर से ‘निर्बिहोय परस्वर’ से दो विवक्त है । परस्वर नामक निष्कलत्रक के लक्ष्मणविरहित, लक्ष्मणोपपन्न, मेर से परस्वर, पुत्रप (अथवा) से दो विवक्त है एवमेव लक्ष्मणोपपन्न पुत्रप (परस्वरपुत्रकम महेश्वर) के लक्ष्मणोपपन्न, लक्ष्मणविरहित से दो विवक्त हो गये हैं । लक्ष्मणोपपन्न महेश्वर अथवापुत्रप नाम से प्रसिद्ध है एवं लक्ष्मणविरहित महेश्वर बोडरी नाम से प्रसिद्ध है । बोडरी की ही मातापरिमहामात्रमिच्छा अथवा अथवामहेश्वर है, बोडरी की ही अमापरीमहामात्रमिच्छा अथवा बोडरीमहेश्वर है । ज्ञान ही वह और रख कर लक्ष्मण वि, परस्वर के कर्म में परस्वरपुत्रकम जिह अलक्ष्मण महेश्वरों की प्रकृति बलवर्तक है, उनमें प्रत्येक में माया-कला-गुण-विश्रादि ३ को जिन्य परिधों का वैद्य ही लक्ष्मण है वैद्य लक्ष्मण प्रकृत में केवल एक मातापरिमह से कुछ एक महेश्वर की संज्ञा के साथ कलाया कलाया । अन्त महेश्वरों में से केवल एक महेश्वर को लक्ष्मण मात्र कर ही हमें ज्ञानी की प्राज्ञात्मसंस्थाओं का लक्ष्मण करना है । अमापरी लक्ष्मणविरहित लक्ष्मण निष्कल परस्वर के जिह प्रदेह में मायात्मक का उदय हुआ, लक्ष्मणविरहित लक्ष्मणविरहित मायीप्रदेह निष्कल अथवा अथवा, यहाँ एक एक रिच्छि का विरहोपपन्न हुआ । अथ हमने क्या हुआ । इत प्रश्न की भीमता कीविय ।

मायापरीना के जहित होने ही मातापरिमह परस्वर (पुत्रप) प्रदेह में परिधि, केन्द्र, के ही एक प्राबुध्त् हो गये । परिधि में अथवा लक्ष्मण शरीर है केन्द्रमिच्छि लक्ष्मण अथवा है । इत्यन्तर मायेज-मय से इत मायी पुत्र में शरीर, अथवा ने ही एक अन्त ही गये । अथवा यह मायीमहेश्वर अथवा

(शरीरविरहित आत्मा, प्रजापति) कहलाया । इस से पहले केवल आत्मा ही आत्मा था । माया के अभाव से हृदय, और परिचिह्न आत्मा, तथा शरीर, इस द्वैतमात्र का अभाव था । अमासी में हृदय नहीं था हृदय तात्पर्य है—कोई नियत हृदय नहीं था अपितु वह सम्पूर्णरूप से हृदयरूप ही था । महान् और अणु का पार्यन्त न था । बा ही महान् था वही अणु था । परन्तु मायोपद्रव में केन्द्राबन्धित वही सत्त्व आत्मा बन गया, परिध्वनन्धित वही तत्त्व शरीर (आत्ममहिमा) बन गया । परिधियवहल में भी वही रस बल, हृदय में भी वही रसबल, रसक से अतिरिक्त और तीव्रता तत्त्व आयेगा कहाँ से । हृदयाबन्धित आत्मरूप रसकलात्मबिलाह्वय तत्त्व ही 'रबोवतीवत्' नामक मन (आत्ममन) कहालाया बिलका वैदिकोप में— 'वदेतच्छब्दोवस्यस ब्रह्म' (वे मा० २।२।३।१ ।) इत्यादि रूप से विरलेपण हुआ है । वही काममय मन किंवा आत्ममनोऽनुभूत काममात्र सृष्टि का प्रथम 'रैत' माना गया है * ।

मायाकल के उदित होते ही हृदयबल उत्पन्न हो जाता है । इस हृदयरूप हृदयबल का ही नाम 'प्रकृति' है । हृदयाबन्धित पुरुष स्थितिकरूप है हृदयकलाकला प्रकृति गतिकला है । दोनों लैव प्राङ्मुक्त हैं— 'प्रकृति पुरुष चैव बिद्धि-अनाथी सभापि' । गतिकला इस प्रकृति के गतिपञ्चकमेद से स्थिति, गति, आगति, स्थितिगमिता गति, स्थितिगमिता आगति ये पाँच बिबल हो जाते हैं । पुरुष भी रसकलात्मक है, हृदयकलाकला प्रकृति भी रसकलात्मिका है । दोनों के स्वरूप में अन्तर नहीं है कि, पुरुष कलागमितरसप्रधान है प्रकृति रसगमितरसप्रधाना है । रसप्रधान पुरुष स्थितिप्रधान है कलाप्रधाना प्रकृति गतिप्रधाना है । कलाप्रधाना इस प्रकृति में रस और कला दोनों हैं । अतएव अनेक अकार इसके भी दो विपक्ष हो जाते हैं । कलागमिता रसप्रधाना प्रकृति रसप्रकृति है, रसगमिता कलाप्रधाना प्रकृति कलाप्रकृति है । रसप्रधाना प्रकृति रसप्रधान-पुरुष की अनुप्राप्ति है कलाप्रधाना प्रकृति कलाप्रधानपुरुष की अनुप्राप्ति है । रसप्रकृतिविशिष्ट रसपुरुष मुक्तिप्रवर्धक बनता है, कलाप्रकृतिविशिष्ट कलापुरुष सृष्टिप्रवर्धक बनता है ।

रसप्रधान वही पुरुष अमृतपुरुष है वही परपुरुष है । कलाप्रधान वही पुरुष मृतपुरुष है, यही अपरपुरुष है । रसप्रधाना वही प्रकृति अमृता प्रकृति है परपुरुषानुगता वही प्रकृति परप्रकृति है । कलाप्रधाना वही प्रकृति मर्त्यप्रकृति है अपरपुरुषानुगता वही प्रकृति अपरप्रकृति है । इतप्रकार रस-कला के तात्पर्य से कलाप्रधाना-गतिप्रधाना प्रकृति के वरा अपरा मेद से दो विवर्त हो जाते हैं । जो पञ्चगमि-विभाग परप्रकृति के हैं वे ही अपरा के हैं । जो नाम परप्रकृति के पञ्चविभागों के हैं, वे ही नाम अपरा-विभागों के हैं । गतिप्रधानरूप स्थिति नामक प्रथम विभाग ब्रह्मा नाम से गतिविभाग इन्द्र नाम से आगति विभाग बिद्रा नाम से स्थितिगमिता गतिविभाग अग्नि नाम से, एवं स्थितिगमिता आगतिविभाग सोम नाम से स्पष्टरूप हुआ है । ये ही पाँच विभाग अपराप्रकृति के हैं । इसप्रकार हृदयकलाकला रस-कलात्मक, पठिलाह्वय एक ही प्रकृतिकरूप के आरम्भ में पर, अपरा दो विभाग, एवं अन्तर विभागदृष्टया दो विभाग हो जाते हैं । वही रसकला विराट्-सद्यः प्रकृतिकरूप है किन्तु आगम्यकारण में 'वरात्महाविषा'

* अमस्तदग्रे समवन्ताधि मनसो रैत प्रथमं यदासीत् ।

सद्यो मन्धुमसवि निरविन्दन् हृदि प्रतीप्या कल्पो मनीषा ॥

रूप में विरहीबद्ध हुआ है एवं क्लिष्टे इत बतों किवतों का मङ्गलपरीक्षा—उत्तरलयद्वयवर्त 'निदानविद्यारूप-प्रथमोपासना' प्रकार में विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। प्रकृति के कर्वादि पञ्चमाश्री के सम्बन्ध के लिए उपप्रकरण पर एक बार आश्रय दृष्टि डाल लेनी चाहिए। विस्तारमय से यहाँ उन प्रकृति-पुरुष कर्वाश्री के नाम मात्र उद्धृत कर दिए गए हैं।

इन्द्रवक्त्रात्मिका अमृत्य प्रकृति 'आश्र' है। मत्स्यं प्रकृति 'श्र' है। श्रमामित आश्र ही चित्ति कद्रोति चिनाति या सा, भीयते अनया सा' निबन्धन से 'वेदना' है। इन्द्रवक्त्रिभ्रम आत्मरूप रथयवान मनोमय पुरुष लीमित बनव्य हुआ 'एकाऽई बहु स्याम्' कल्पना से युक्त हो जाता है बिना कल्पना का- 'कल्पान्तर्गते' समपत्तताभि मनसो देव प्रथमं यवासीत् (श्रुतं १।१२।३।४।) इत्यादि रूप के विश्लेषण हुआ है। वह कल्पना उक्त-काल के कारणसे कर्वात्मिका रसकल्पना रत्नमिति कल्पकल्पना, मेर से दो मगों में विच्छेद हो जाती है। रत्नकल्पनाद्वारा इन्द्रवक्त्रकला रथयवाना श्रमामिता आश्रप्रकृति से इन्द्रवक्त्र मनोमय पुरुष पर परिष्कृतबन्धुन-कल्पमिति रथ की चिति होती है कल्पकल्पना के द्वारा इन्द्रवक्त्रकला रथयवाना आश्रमामिता श्रमप्रकृति से रत्नमिति कला की चिति होती है। रत्नकल्पना मुमुक्षा नाम से कल्पकल्पना सिद्धा नाम से व्यञ्जित हुई है। मुमुक्षाकल्पनायुक्ता रत्नचिति सहस्ररत्नयुक्ता-रसचिति सुप्रवक्तव्युक्ता-रसचिति, मेर से दो मगों में विभक्त रखी है यही अन्तर्बिच्छेदी है। यही सुमित का आत्मरूप है। विद्यवानुक्ता कल्पचिति आश्रमरसमुक्ता-कल्पचिति सुप्रवक्तव्युक्ता-कल्पचिति मेर से दो मगों में विभक्त रखी है यही अन्तर्बिच्छेदी है। यही लक्ष्मी का आत्मरूप है। उक्त चिति के मध्य में प्रतिष्ठित, उक्तचित्-बन्धुन मनोमय पुरुष ही इन चारों चित्तियों से विद्रव्यता बन रहा है। इन्द्रवक्त्र आश्रम में निष्कल बना रहने काका पुरुष प्रकृतिद्वारा होने वाली कर्वात्मिका चित्तियों से पञ्चकल विद्रव्यता बन गया है। इत कला-प्रकृति का ज्ञेय कला की चिति-आश्रमता को ही है जो तृतीय कल्पना मानी गई है। मुमुक्षुताकल्पना निर्मित्व से सम्बन्ध रखती थी, आश्रमकला आश्रमकल्पना परस्पर से सम्बन्ध रखती थी एवं चित्तिकला कलाकल्पना इत मानीपुरुष से सम्बन्ध रख रही है (१००)। मुमुक्षुतयुक्ता रथचिति 'आनन्द' है उक्तकल्पयुक्ता रत्नचिति 'विज्ञानम्' है। आनन्द, विज्ञानचिति ही रत्नचिति है यही अन्तर्बिच्छेदी है यही श्रमामित-आश्रयुक्त सुकिलकला अन्तर्बिच्छेदी है यही परपुरुष है उक्तकला परचिति ही आश्रयचिति है यही आश्रयचिति है, विच्छेद आश्रयगतत्व में विश्लेषण हुआ है। अश्रयकल्पयुक्त कल्पचिति प्राण है उक्तकल्पयुक्त कल्पचिति 'वाक्' है। प्राणवाक चिति ही कल्पचिति है यही अन्तर्बिच्छेदी है यही आश्रयचिति-आश्रयुक्त लक्ष्मी अन्तर्बिच्छेदी है यही अश्रयुक्त है, उक्तकला अश्रयचिति ही श्रयचिति है यही निगमचिति है विच्छेद निगमगतत्व में विश्लेषण हुआ है ०। इन चारों कर्वाश्री के मध्य में मनोमय तत्त्व प्रतिष्ठित है विच्छेद 'वेदनीयैरकल्पय' से उक्त चित्तियों से सम्बन्ध है। आनन्दविज्ञानबन्धुन यही अश्रयकला अन्तर्बिच्छेदी है यही उक्तकल्पना में 'विद्या' कल्पनाय है। मनोमय कल्पकला 'कल्पान्तर्गते' है यही 'कल्प' है। प्राणवाकल्प यही कल्पकला कल्पकला है यही 'शुद्धम्' है। मध्यवन्दरेण आनन्दविज्ञानमनोमय श्रमामित आश्रययुक्त यही कल्पकला सुकिल कल्पनी है। मनोमयकलायुक्त, आश्रयचिति श्रययुक्त यही कल्पकला लक्ष्मी है। आनन्दः 'आनन्द' है।

० वैश्वर, मङ्गलपरीक्षा उत्तरलयद्वयवर्त 'निदानविद्यारूप-प्रथमोपासना' नामक परिच्छेद।

विज्ञान चित्त है, मन-भाण-वाक्-की समष्टि 'व्य' है। एवं यही लब्धदानन्दब्रह्म है, यही उद्बुद्ध लब्धदानन्दब्रह्म है, जो उन्मुग्ध लब्धदानन्दरक्षणैव अमायी निष्कल परत्पर से अभिन्न है।

तत्र यही निष्कला कि कलापीयहसहयोग से हृदयवत्मानिन्द्र पराप्रकृति (अक्षर) पञ्चकला बन गई, अपराप्रकृति पञ्चकला बन गई, दन्तों के व्यापार से होने वाली अन्तर्द्विध से-बहिर्द्विध से केन्द्रानुगत मनोमयपुरुष भी पञ्चकल बन गया। तन्मूय मायी-हृदयकलाबन्धुन पुरुष अपने ही रस-बर्णों के चित्तिमावी से पञ्चदशकला बन गया। इन १५ हो कलाओं की मूल प्रविष्टि स्वयं निष्कल मायी परात्पर पुरुष बना बिसे पूर में हमने कलासौप्रवर्तक ब्रह्माभा है। स्मरण रहे, ये कलास्य भावात्मक । क्योंकि 'भघन्ति भावां भूतानां मत्त एव पूषर्गविधा' (गी ११।५) के अनुसार अभ्यवसृष्टि (कलासृष्टि) भाव-सृष्टि ही कदलार है। संघटिलक्षणा सृष्टि ही वास्तविक सृष्टि है, जिसे गुण-विकार सृष्टि कहा जाता है, एवं क्लिष्टा स्थीकरण अनुपद में ही होने वाला है। बर्णों की प्रविचक्यनावस्था नाम की एक अवस्था अभी शेष है (१७ पृ)। उदीका सृष्टि (मैयुनीसृष्टि) से सम्बन्ध है। भावप्रधाना पुरुषसृष्टि तो तत्त्व-आरम सृष्टिकोटि में आती हुई अद्यकल्पना मानससृष्टि ही मानो गई है। हृदयकलोद्भव से पूर्णवत्पापम, माया पञ्चदश से उपायवत्पापम को विशुद्ध-निष्कल परत्पर पुरुष है यही इन १५ कलासामी का आधार है। परत्परपुरुष अमात्रलक्षणा अर्द्धमात्रा है अलपद मात्रा है तृतीयपद है त्रिपदाः अनुषास्य है। तत्र प्रतिष्ठित पञ्चकल अभ्यव अक्षर है उदनुमत् पञ्चकल अक्षर (पराप्रकृति) अक्षर है उदनुगत ल्दमिन्न पञ्चकल अक्षर (अपराप्रकृति) अक्षर है तमसि अक्षर है। परत्परपुरुष परत्पर है, पञ्चकल अभ्यवपुरुष पुरुष है उभयप कृति प्रकृति है। परत्पर, पुरुष, प्रकृतिविशिष्ट सकलतत्त्व (पञ्चरीकलतत्त्व) ही बोधरीप्रव्यपति है। यही बोधरीपुरुष विश्व का वृत्त आरम्भक है। परत्परकिनाभूत अभ्यव विश्व का अविज्ञान (आत्मन्त अक्षरक अलमवाकिअक्षरक) है अक्षर निमित्तअक्षरक है अक्षरकमवाकिअक्षरक (उपादानअक्षरक) है। यही बोधरी के वास्तविक स्वस्म का प्रथम दृष्टिकोण है। योगमावात्मिका बोधरीकला ही इस बोधरी-बोधरी की मूलप्रविष्टि है। निम्न लिखित बचन ही बोधरी बोधरी का स्वस्म-स्थीकरण कर रहे हैं—

१-यस्माज्जातं न पुरा किं च नैव य आत्तभूव भुवनानि विस्वा ।

प्रजापतिः प्रजया संरराक्षस्त्रींश्च न्योतीपि सपते स बोधरी ॥ यजु २२।११

२-यस्मात्त जातं परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विस्वा ।

प्रजापतिः प्रजया सराक्षस्त्रींश्च न्योतीपि सपते स बोधरी ॥ यजु २३।६

३-“बोधशकलः सोम्य ! पुरुष” (जा० अ० ६।३।१) ।

४-“इहैवान्त शरीरे सोम्य ! स पुरुष, यस्मिन्नेताः बोधशकला प्रभवन्ति ॥

—मरुतोपनिषत् ६।२।

‘य आविवेश भुवनानि विस्वा’ वाक्य को लक्ष्य बनाए। वह स्वयं बोधरी है एवं वह बोधरी पुष्पों में प्रविष्ट है। वे मुक्त कीन से, किन्में वह प्रविष्ट है किन्तु मुक्तप्रवेश का गीता ने यी-‘यो बोधप्रयमाविश्य विमलवैभ्यय ईश्वर’ (गीता १५।१७) का ही समर्थन किया है। अतः का उक्त

*—प्रतिमापोखरी कितना अनुपम में ही किन्नेपण होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्याप्त होगा कि, स्वप्न परमेठी, दुर्ग, चन्द्रमा, पृथिवी, इन पाँच पदों की समष्टि तत्त्वमुच्यते एक मुचन है। उस पोखरी के गर्भ में ऐसे एक लक्ष मुचन हैं, किन्तु वाही का मूलकारण वेद-सोफ-वाङ्मय के तीन लक्ष विचल माने गए हैं *। अन्य निम्नों में प्रख्यातित वाह्यीविज्ञान के सम्बन्ध में प्रकृत में यही जान लेना अर्थ होगा कि, महामायाबन्धित इन्द्रिय पोखरीप्रवापति का केन्द्र से परिधिपर्यन्त अर्द्ध (रश्मि) रूप से विद्यमान होता है। इन आत्मार्थों से मायामयज्ञ तत्त्व प्रकृत परिपूर्ण रहता है जैसे ऐरमस्वत में सूर्यकेन्द्र से विनिर्गत रश्मिर्था व्याप्त रहती हैं। इसी परिपूर्ण रश्मिमात्र का वैज्ञानिकों ने कारणाभियोग से लक्ष संख्या पर आकलन मान लिया है। प्रतिरश्मि में केन्द्रस्थ पोखरी की अभिव्यक्ति है। रश्मिबन्धित पोखरी ही प्रतिमापोखरी है। यही 'उपेक्षर' कहा जाता है। किन्तु प्रकार एक फलेस्वर (आत्मी परस्वर) के गर्भ में अनन्त महेस्वर (पोखरी) हैं एवमेव प्रत्येक महेस्वर के गर्भ में एक एक लक्ष उपेक्षर हैं। इहानिच महेस्वर अत्यन्तबृहत्स्वर है तो शाकादिना उपेक्षर बसोस्वर है। एक लक्ष बसोस्वरबन्धित एक लक्ष मुचनों में वह अत्यन्तबृहत् मण्डित है 'य आधिबेरा मुचनानि किर्या' से इसी रीति का किन्नेपण हुआ है। इसी लक्षकस्याभ्यापित का निम्न-लिखित कथन तथा परिलोक से स्पष्ट करण हो रहा है।

त इभिरस्य हृदयस्य प्रकैरीः सहस्रकशमभिः सं चरन्ति ।

यमेन तत् परिधिं वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्षसिष्टाः ॥ अर्द्धसं० ७/३३।३।

* सहस्रबा पञ्चदशान्युक्त्वा यत्तद्वावापृथिवी तावद्विचत् ।

सहस्रबा मक्षिमानः सहस्र यावत् मक्ष विष्टितं तावती वाक् ॥

किं तत्सहस्रमिति ?—इमे लोकः, इमे वेदाः अथो वागिति म् यात् ।

—उपनिषद्मूर्ति में इस विषय का वैज्ञानिक विरलेपण देखना चाहिए ।

१ । ॐ सूर्यपल्लोपपन्नो निष्कलाः परत्प (पुरुषः)]

—परत्पर-^१अद्व मात्रा,

- २
- १-आत्मन्वः (१)-सुप्तबलयुक्त रसचित्ति
 - २-बिहानम् (१४)-सहचरबलमुक्त रसचित्ति
 - ३-भन (१३)-धित्वीनामाश्रय]—
 - ४-प्राणः (१२)-जाम्परसमुक्त बलचित्तः
 - ५-वाक् (११)-जाम्परसमुक्त बलचित्त

—हानात्मा (विषा)

—हानात्मा (धमः)

—हानात्मा (शुक्ल)

—पञ्चकलोऽव्यय-
आत्मन्वनम् (पुरुष)
(अकार)

- ३
- १-अमृतो मन्वा (१०)-गविसमम्बिलक्षणा गति
 - २-अमृतो विष्णुः (६)-विशुद्धा आगति
 - ३-अमृत इन्द्र (८)-विशुद्धा गति
 - ४-अमृतोऽग्निः (७)-स्थितिगर्भिता गति
 - ५-अमृतः सोमः (६)-स्थितिगर्भिता आगति

—अन्तर्प्यामी

—सूक्ष्मा

—पञ्चकलोऽक्षर-
निमित्तम्
(परप्रकृति)
(अक्षर)

- ४
- १-मर्त्यो मन्वा (५)-गविसमम्बिलक्षणा प्रविक्षा
 - २-मर्त्यो विष्णुः (४)-आगतिरूपा अशानाया
 - ३-मर्त्य इन्द्र (३)-गतिरूपा विक्षय
 - ४-मर्त्योऽग्निः (२)-उग्लोपणरूपा विक्षय
 - ५-मर्त्यः सोमः (१)-स्वप्नरूप संक्षय

—विधाधाट

—विधम्बर

—पञ्चकल क्षर-
आत्मन्वः
(अपरप्रकृति)
(अकार)

स तप परत्पर-प्रकृतिविशिष्टः पुरुषः पञ्चकलो मायी मधेश्वर-पञ्चकली

५८- 'गुण'-परिग्रहयुक्त आत्मन्वी सत्यप्रज्ञापति, एवं 'विहार'-परिग्रहयुक्त आत्मन्वी यज्ञप्रज्ञापति—

निष्कल गोइती इन दो आत्मियों के अतिरिक्त प्रतिमागोइती' शेष रह जाते हैं। दो शब्दों में इनके स्वरूप की भी सीमाओं पर लीकिए। मरणा कीकिए मायादि पश्यिहोई का, किनका पूर्व में टन्लेख हुआ है। मायापरिच्छेद मे मायी किन्तु निष्कल पश्यपरिग्रह का प्राप्तिमात्र हुआ कलापरिच्छेद मे कल गोइती का प्राप्तिमात्र हुआ बही लक्ष्यवस्तुमक अरुअत्मनि मोहरउपवापति कलाका। परापरित प्रकृतिविशिष्ट पुरप ही लक्ष (पोइराकल) मोहरकर करताया। अथ कम्पायत गुण, विहार, नाम के तीनो चीय परिग्रहों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

कलाका गया है कि पोइतीपुरप की अक्षर-अक्षर नाम की दो प्रकृतियाँ हैं। आनन्दमनोविज्ञानस्य रमयित्तकय सुकृताकी, परपुरप से अनुपरित अक्षर पराप्रकृति है। एवं मनध्याणवागरूप, कलचित्तकय लक्ष्य लक्ष्यकी, अपरपुरप मे अनुपरित आत्मक्षर अपराप्रकृति है। महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित कलापरिच्छेद योगमात्रमक है। महामाया बही गुणातीता है बही कलातुगता योगमाया गुणत्रयावच्छिन्ना है। गुणत्रयारिषध योगमाया के लक्ष-रक्ष-स्वयो-गुण ही 'गुण' नामक आत्मपरिग्रह हैं। कलात्ममय्यय पुरात्मों में गुणत्रय टन्मुख रहते हैं। गुणत्रयमक प्रकृतियों में ही गुणत्रय का उद्घोषण होख है। अतएव प्रकृति को ही गुणत्रय का अविद्याकी माना गया है। अतएव पराप्रकृति ही न्त गुणत्रयी की कननी है। हुआ है विहारपरिग्रह। गुणपरिग्रहमक अक्षर से मरिष्यत्त कर्मजगत्परिपन्नकरोपेत धर विपरिणामी है। इती मे विहारपरिग्रह का उरव हुआ है। अर की मय कला-किन्तु-अत्र-अग्नि-होम इन पाँच मर्त्यकलाओं से अग्ना-वायु आर वाक अन्तः, अक्षय व पाँच विहार उपपन्न होते हैं। अथ लक्ष वैगुण्य का विफल नहीं होता लक्ष लक्ष विहारोपति को अक्षर नहीं मिनता। अक्षर-आय गुणत्रयी के उद्भूत होते ही अखाय पाँच विहार उपपन्न हो जाते हैं। यत्त पञ्चविहारकमष्टि ही पहिली मूख्य है। गुणत्रयी के आचार पर उपपन्न होने से ही वह प्रायादियम्बकरुपा विहारमष्टि 'गुणमूत नाम से व्यपहृत हुई है। लक्ष्यपरिमाया में वह गुणमूत ही 'पञ्चकलन्मात्रा' नाम से व्यपहृत हुआ है। प्राण शब्दसम्मात्रा है आर स्पर्शतन्मात्रा है, अथ रूपतन्मात्रा है अन्तः गन्धतन्मात्रा है, अन्न दसतन्मात्रा है। इत्यकार प्रकृति के अक्षरमय मे गुणत्रयस्य गुणत्व का विद्यत हो जाता है एवं प्रकृति के अक्षरमय से गुणमूतमक विहारमय का विद्यत हो जाता है। कलात्ममय्यय मावर्त्तों के अविद्याता पुरप (अक्षय) के आचार पर ही प्रकृति के द्वारा न्त कनी परिग्रहकों का प्राप्तिमात्र हुआ है अथकि—“विहारतरं च गुणारविष-विधि प्रकृतिसम्बन्धत्त ” (गीता २३।२८) इत्यादि बचन मे प्रमाणित है।

- | | |
|--------------------------------------------------------------|-------------|
| १-अक्षय्य (गुणः)——कलासामप्रवराक (मावसृष्टि-अक्षय्यसृष्टि) | } पोइती-मगः |
| २-अक्षर-(वराप्रकृतिः)——गुणसामप्रवराक (गुणसृष्टि-अक्षरसृष्टि) | |
| ३-अर-(अपराप्रकृतिः)——विहारसामप्रवराक (विहारसृष्टि-अरसृष्टि) | |



अक्षरद्वय प्राबुद्धता गुणलक्षि से युक्त होकर वही पोद्धारप्रजापति 'सत्यप्रजापति' कहलाने लगता है। एवं अक्षरद्वय प्राबुद्धता विकारलक्षि से युक्त होकर वही अक्षप्रजापति यक्षप्रजापति' कहलाने लगता है। इसप्रकार गुण-विकारपरिग्रह से दो प्राणाक्षर-संस्थाओं का क्रम और हो जाता है। अक्षप्रजापति और यक्षप्रजापति के स्वरूप का थोड़ा विवेचन करना पड़ेगा। 'सहृदयं शरीरं सत्यम्' ही अक्ष का वास्तविक लक्षण है। पूर्वपरिच्छेदों में बतलाया गया है कि, अक्ष-विष्णु-इन्द्र, तीनों की समष्टि वा अन्तर्व्यामी है, एवं अग्नि-सोमलक्षि सूत्रात्मा है। विष्णु आहरण करता हुआ 'हृ' है इन्द्र विष्णु के शय आगत वक्ष को अक्षररूप में परिणत कर बाहिर देकरता हुआ 'द' है। आगानकर्मोपिच्छता विष्णु आहरति निर्बचन से 'हृ' है। किर्त्तकर्मोपिच्छता इन्द्र 'यति' निर्बचन से 'द' है। इ-द, दोनों आगानविक्रामाओं का निश्चयन करने वाला स्थितिलक्षण अक्ष 'यमयति' निर्बचन से 'यम्' है। इ-द-यम् रूप विष्णु-इन्द्र-अक्ष की समष्टि ही 'हृदयम्' है। प्रत्येक वस्तुपिच्छ से 'हृदय-पृष्ठ' भेद में दो विभाग रहते हैं। केन्द्रविन्दु हृदय है केन्द्राधार पर प्रतिष्ठित भूतपिच्छ (कक्षपिच्छ) पृष्ठ है। केन्द्ररूप हृदय ही वस्तु का अन्तःस्थान है। अन्तःस्वरूप इसी हृदय (केन्द्र) में इ-द-यम्-रूप-विष्णु-इन्द्र-अक्ष नामक आगति-गति-स्थिति-कार्यों की प्रकृति है। यही तत्त्वत्रयी हृदय में इ-द-यम्-रूप से (आदान-विकर्ण-प्रतिष्ठाकरूप से) प्रतिष्ठित रहती हुई पृष्ठपिच्छ का निश्चयन करती है। अतएव 'अन्तःस्थित-हृदये-इ-द-यं-रूपवापरियत-व-नियमयति वस्तुपृष्ठ' निर्बचन से यह तत्त्वत्रयी 'अन्तर्व्यामी' नाम से व्यक्त हो रहा है। पृष्ठ इन्द्राग्निशोभात्मक है, वही सूत्रात्मा है। इन्द्र और अग्नि अक्षररूप हैं, सोम अक्षररूप हैं। उभयसूत्रात्मक पिच्छरूपा ही सूत्रात्मा है। अक्षविष्णुइन्द्र की समष्टि हृदय है यही अन्तर्व्यामी है, यही नियतिशरणा है। तब इसी की चर्या स आक्रमण है। प्रत्येक पृष्ठ का अन्तर्व्यामी अक्षररूप से पृष्ठ का संवाहन किया जाता है। सूर्य-वन्दमा-पृथिवी ग्रह-नक्षत्र-मनुष्य-पशु-पक्षी-आदि सब हृदयस्थ-हृदयमूर्ति इसी अन्तर्व्यामी के नियतिर्बन्ध से बहिष्कृत हैं। इसी महदम्भ से सब अपने अपने निवृत्त कर्मों में अक्रान्त हैं। इस नहीं जानते परन्तु यह भीतर बैठा हुआ सब कुछ सम्भालन कर रहा है +। पृष्ठ हृदय शरीर है। अतएव 'हृदयं शरीरम्' परिभाषानुसार गुणत्रयत्मक इत अक्षरत्व का अक्षर ही अक्षप्रजापति अक्ष वा लक्ष्य है, वैसा कि निम्न लिखित बचन से प्रमाणित है—

१-“तदेतत् अक्षरं 'हृदय' मिति। 'हृ' इत्यक्षमक्षरम्, 'द' इत्यक्षमक्षरम्, 'यम्' इत्यक्षमक्षरम्। तर्हि तदेतदेव तदास्त सत्यमेव। स यो हृदयेतन्महदप्यथ प्रथमजं वेद-‘सत्यं शब्दं’ ति, त्रयतीर्मान्तोक्तान्”।

—(शत० १४।१।२, ५ भा०)।

०-मीपास्माद्गतं पवते, भीषोदति सूर्यं ।

मीपास्माद्ग्निरथेन्द्ररव, मृत्युधावति पञ्चम ॥

—ते० उप० २।१।१।

X-“य पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरं, य पृथिवी न वेद, यच्च पृथिवी-शरीरं, य पृथिवीमन्तरो यमयति, स त आत्मा-अन्तर्व्यामी-अमृतः”।

—शत० १४।१।१।१।

गतिरस्य ही आहार है प्राणरस्य ही गतिरस्य है। यह प्राणरसिका गति मनोरुपा रिपति एवं वागव्य-
 स्तम्भन, दोनों से अविनाशित है। मनोरुपा रिपति अमवेद्य है, प्राणरसिका गति पशुवेद्य है, वाग्मय स्तम्भन
 अगवेद्य है। वाग्मयी अक्षु मूर्तिमात्र की, प्राणमय यत्न गतिमात्र का एवं मनोरुप साम महिनामात्र का
 (सिद्धोन्मेषण का) प्रबन्धक माना गया है। परी आधरवेद्य है, परी आमवेद्य है किन्तु उपनिषद्सूत्रिका में
 किन्तु से उक्त ह्य हुष्मा है + । अक्षु पर प्रतिष्ठित इन्द्राभियु की अक्षुत्त को लक्ष्य बना कर
 प्रतिष्ठता होती है। अन्ते प्राणप्राण वेद्य-लोके-वाग्मयहसीरूप में परिष्कृत हो जाता है (८ ५ ७)।
 अक्षुत्त अक्षुत्तमी अक्षुत्तय गुणरूप वेद्यरूपीरूप में परिष्कृत हो जाता है। महाभाष्यरूप अक्षुत्तय
 गुणरूप बना हुष्मा वही निर्गुण + है, वही वागाभाष्यरूप प्रकानिःकतिवेद्युर्ति, अक्षुत्तय अक्षुत्तमा
 (अक्षुत्तमी) अक्षुत्त है। अक्षुत्त अक्षुत्तमय वेद्य त्रिगुणमयवाद्य माने गए हैं × । वेद्यरूप अक्षुत्तमी-
 रूप से अक्षुत्त है, अक्षुत्त मयवाद्यति का निष्कृत निष्कृतय है—'वेद्यप्रवापति' अक्षुत्त निष्कृत
 मयन से प्रमाणित है—

॥ "तद्यत्-तत्-सत्यं—'प्रयी या विद्या' (शान० ६।५।२।२६) ।

अक्षुत्तय, गुणरूपविशिष्ट (गुणरूपविशिष्ट) इस अक्षुत्तयति की गुणरूपविशिष्ट गुणरूपेणम,
 वेद्य से उभी प्रकृत का अक्षुत्तय हो जाती है अक्षुत्त अक्षुत्तम-विशिष्ट यत्त की अक्षुत्तमीविशिष्ट (पक्षुत्तय),
 अक्षुत्तमीरूप (अक्षुत्तय) से ही अक्षुत्तय हो जाती है। गुणरूपविशिष्ट अक्षुत्तयति के अक्षुत्तमी-
 रूप (अक्षुत्तयिष्कृतय) के आहार पर अक्षुत्तयति के अक्षुत्तयरूप की प्रतीय है एवं अक्षुत्तमा
 के आहार पर अक्षुत्तयरूप प्रतिष्ठित है। अक्षुत्त अक्षुत्तमय प्रतिष्ठता मय विष्कृतमय अक्षुत्तमा मय
 अक्षुत्तय, अक्षुत्त की अक्षुत्त अक्षुत्तय अक्षुत्तय है। अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय
 अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय

—अक्षुत्तयो वार्ता संबंधो मूर्तिमात्र, सवा गतियायुर्ति ह्य शान्त ।

नय तत्र सामरूप ह शरत्, सर्व ह्य अक्षुत्तय ह्य सुद्यम् ॥

—शान० ६।५।२।२६

* उमा त्रिगुण्युन पराक्षुत्तया, न पराक्षुत्तये अक्षुत्तय नैनो ।

इन्द्ररूप निष्कृत यक्षुत्तयेया अक्षुत्तय नि अक्षुत्तयेयाम् ॥

अक्षुत्तय ६।५।२।२६

। अनादिश्वाभिगुण्युत्तय परमात्मामयमयम् ।

शरीरस्वोऽपि अक्षुत्तय ! न करोति न अक्षुत्तय ॥ (गी० १३।३।१)।

× त्रिगुण्युत्तयया अक्षुत्तय निर्मात्रगुण्युत्तय मवानुन । ।

निष्कृत अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय अक्षुत्तय ॥ गी० २।५।५।

॥ "अक्षुत्तयया त्रिगुण्युत्तय नयम्"

के व्यापार से स्यात्मा पर प्रतिष्ठित विश्वम्भर (अभासाद) द्वारा भी विकारपञ्चक उत्पन्न होता है परी 'यज्ञ' तत्त्व है। विश्वम्भर की अग्नीषोमाग्निप्रकाश यज्ञकला से ही व्यक्तता का विश्व में बितान होता है, क्योंकि— 'त्रयी का एषा विद्या ब्रह्मः' (शत० १।१।३।४।)—'ति वेद्या ऊचुः—यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवाभवे' (शत० ६।५।१।२८) इत्यादि बचनों से प्रमाणित है। इसप्रकार त्रिगुण वेगात्ममूर्ति स्वप्नप्रजापति (अक्षर) ही गुणविशिष्ट है। यही अपने मार्ग पञ्चक्रमात्र से विकाररत्मक (क्षरात्मक) बनता हुआ गुणोपपन्न बन कर यज्ञस्वरूप में परिणत हो जाता है। गीतादृष्टि से यों समन्वय कीविष्ट कि, अक्षरक्षार ब्रह्म नामक 'धर' का विकारत हुआ। धर से विश्वोपपन्न कर्म का उत्पन्न हुआ। कर्मद्वारा अभासादसमन्वयरूप ब्रह्म का आविर्भाव हुआ। यह से सपूर्ण विश्व, एवं विश्वप्रकाश का आविर्भाव हुआ, जिस समन्वय का निम्न स्थितित शब्दों में बिकल्प हुआ है—

सहयज्ञा प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ॥
 अनेन प्रसविष्यन्वमेव धोजस्त्वित्कन्नमधुक् ॥१॥
 अभावाभवन्ति भूतानि, पर्जन्यादभसम्मवः ॥
 यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्मसमुत्पन्नः ॥२॥
 कर्म प्रश्नोत्पन्नं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुत्पन्नम् ॥
 तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥३॥
 एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्षयतीह यः ॥
 अथायुरिन्द्रियारामो मोक्षं पार्थ ! स जीवति ॥४॥
 —गीता ३।१०, १४, १५, १६ श्लो ।

निष्कर्ष यही निकला कि, विकारपञ्चकत्वरूप धररूप स्वप्नप्रजापति है, गुणपरिग्रहणरूप अक्षररूप सत्यप्रजापति है, कलापरिग्रहणरूप अग्निप्रकाश सत्यरूप सत्यम् है। प्रतिज्ञाद्वारा में १५ ही कलाएँ निम्नत्र पयात्परुपरुप में बँटि हो जाती हैं। यह (धर) स्वप्न (अक्षर) में, स्वप्न स्वप्नप्रजापति में विरति होजाता है। ब्रह्मरूप में भवत्स्वत्त्वम् (अभ्यन्त) स्वप्नप्रजापति (अक्षर) का आधार है स्वप्नप्रजापति परमप्रजापति (धर) का आधार है। निम्न स्थितित बचन इसी कर्षाचारमूल स्वप्नप्रजापति का विश्लेषण कर रहा है—

(१)—यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभियत् सं वहन्ति ।
 'सत्यस्यसत्य' मनु यत्र युज्यत तत्र दवाः सर्वे एकं भवन्ति ॥
 —चेतरेव आरण्यक २।३।३

(२)—गताः फला पञ्चदश प्रतिष्ठा दवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
 कस्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परऽप्यये सर्वे एकीभवन्ति ॥
 —मुण्डकोपनिषत् ३।२।७

(३) —“स यथोर्ध्वनाभिस्तन्तुनोधरेत्, यथाऽग्ने छुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युत्थरन्ति,
एषमेवास्माद्दत्स्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि
व्युत्थरन्ति । तस्योपनिषत्—‘सत्यस्यसत्यम्’ मिति । प्राणा वै (अधर-
प्राणा वै) सत्यम् । तेषामेव (अभ्यय पुल्यः) सत्यम्” ।

—अ०भा०अ० २।१।२०।

(४) —“तस्मै स विद्वानुपसम्भाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ॥
येनाधरं पुरुषं वेत् सत्यं प्रोवाच सां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्” ।

—मुयबकोपनिषत् १।२।१३।

(५) —“स्तनपितुरवेन्द्रः, यज्ञं प्रजापतिः” (अ०भा०अ० १।१।१६।)

• • •

१—कृत्वात्मकोऽभ्ययः—सत्यस्यसत्यम्—प्रजापतिः

२—गुहात्मकोऽधरः—सत्यप्रजापतिः

३—विकारत्मकः अधरः—यज्ञप्रजापतिः

• • •

(१) असूतो ब्रह्मा] —सत्त्वगुणविरिष्टाः

(२) असूतौ विद्युत्]

(३) असूत इन्द्र] —रजोगुणविरिष्टौ

(४) असूत इन्द्र]

(५) असूतोऽग्निः] —तमोगुणविरिष्टा

(६) असूतः सोम]

—स एव गुणत्रयविरिष्टा गुणपरिग्रहविरिष्टा वा
पञ्चकोऽधरः—सत्यप्रजापतिः

• • •

१-मत्स्ये ऋष्या-प्राणविकारयुक्तः	} —सत्त्वगुणोपपन्ना	} स एष गुणप्रबोधोपपन्नाः सविकारो विकारपरिग्रहविरहितो वा चरत्समा-भ्रमप्रज्ञापति	
२-मत्स्ये पिप्प्लु-अब्धविकारयुक्तः			} —रजोगुणोपपन्ना
३-मत्स्ये इन्द्र-वाग्बिकारयुक्तः	} —तमोगुणोपपन्ना		
३-मत्स्ये इन्द्र-वाग्बिकारयुक्तः			} —तमोगुणोपपन्ना
४-मत्स्योऽग्निः-अग्नाविकारयुक्तः			
५-मत्स्ये सोमः-अन्नविकारयुक्तः			

• • •

प्राणविकारः—शब्दतन्मात्रा (आकाश)	} —एष गुणभूतानि पञ्चतन्मात्रा-विकारपरिग्रहः । तद्विरहित-चरत्समा-भ्रमप्रज्ञापति
अब्धविकारः—स्पर्शतन्मात्रा (वायु)	
वाग्बिकारः—रूपतन्मात्रा (तेज)	
अग्नाविकारः—गन्धतन्मात्रा (पृथिवी)	
अन्नविकारः—रसतन्मात्रा (अन्न)	

• • •

५६-‘अज्ञान’-परिग्रहात्मक आत्मन्वी विराट्प्रज्ञापति, एवं ‘आवरण’-परिग्रहात्मक आत्मन्वी विस्वप्रज्ञापति—

माहापरिग्रह से आरम्भ कर विकारपरिग्रह पर्यन्त आत्मन्वीति की विघ्नशक्त्या में कोई विरोध परिवर्तन नहीं होने पाता, स्थूलमात्र का समावेश नहीं होने पाता । परन्तु विघ्नयन्त्र विकारों से उत्पन्न वैचारिक आवरणों से आत्मविकास अवरोध ही जाता है । अतएव विकारों से उत्पन्न वैचारिक माहों को आवरण ही आवरण होने से ‘अज्ञान’ कहा जा सकता है । यह अज्ञान गुणोपपन्न यत्नप्रज्ञापति (चरत्समा) के आचार पर प्रतिष्ठित है । गुणत्रयमेव के कारण एत अज्ञान के विमूर्ति, पाप्मा,—आवरणों, वे हीन मेर हो जाते हैं । तन्महाप्राणगत अज्ञान विमूर्ति है, इसके भी आत्मविकासप्रकार में विरोध यात्रा नहीं होती । अतएव एत विमूर्तिक्रम प्रथम कल्पाज्ञान को अनावरण ही मान लिया जाता है । ईश्वरदर्शना में इसी कल्पाज्ञान की प्रधानता है । एतेषु प्राणगत अज्ञान पाप्मा है यही अज्ञान ‘अज्ञान’ कहा जाता है । अतिवर्तना में इसी का प्रधान माना गया है । एतेषु प्राणगत अज्ञान आवरण है, यही आवरण कहा जाता है । अज्ञानदर्शना में इसी का प्रधान है । श्वेत आवरण (अन्न) दीपप्रज्ञा के लिए विमूर्तिक्रम अज्ञान है । एत से दीपप्रज्ञाविकार आवरण

नहीं होता। कृप्य आदर्श (वाला वाच) दीपप्रभा के लिए आन्तरिकत्व अज्ञान है। इस से दीपप्रभा का अन्वयन तो नहीं होता किन्तु प्रभा मलिन (कृप्य) हो जाती है। वन कृप्य आदर्श (वाले रङ्ग से उज्वल वाच) दीपप्रभा के लिए आन्तरिकत्व अज्ञान है। इस से दीपप्रभा का विद्यत सर्वथा अन्वय ही जाता है। इस प्रकार गुणवच-व्यक्त्यम से एक ही अज्ञान तीन भागों में परिणत होता हुआ ईश्वर-जीव-अज्ञानों का अनुप्राणन बन रहा है वैसे कि परिच्छेद से स्पष्ट है।

६०—परमविराट्, और सुद्विराट्—

प्राणादि पञ्च विकारधारकत्वक वक्ष्यप्रकाशिता को गुणोत्पन्न कहा गया है। विकारपरिग्रहविशिष्ट गुणभूतप्रकाशक यत्र यत्रप्रकाशिता के विकारविशिष्ट, विकारोपनिबन्ध मेद से उसी प्रकार दो विषय हो जाते हैं, वैशेषिक गुणविशिष्ट प्रकाशिता के गुणविशिष्ट गुणोत्पन्न मेद से दो विषय मर्जित गए हैं। विकार विशिष्ट नहीं तत्त्व वक्ष्यप्रकाशिता है, विकारोत्पन्न नहीं तत्त्व 'विराट्प्रकाशिता' है, बिसे इन का अज्ञान प्रकाशिता करेंगे। इत विच्छेदप्रकाशिता के परमविराट्, सुद्विराट्, मेद से दो विषय हैं। परमविराट् ईश्वरविराट् है तद्विभूत सुद्विराट् जीवविराट् है। ईश्वरविराट् तत्त्वान्तक विभूति नामक अज्ञान संतुष्ट है जोकि विभूतिक्रम तत्त्वज्ञान विकारधार भी पाँचों प्राणदि कलाओं से उत्पन्न वेद-लोक-देव-पशु-सृष्ट-मेद से पाँच भागों में विभक्त माना गया है।

६१—महामात्मिक एकप्रार—

शक्ति का यौ समन्वय कीविए कि, गुणकत्वक आन्तरिकत्व व्यक्त्यमा विकारकत्वक आन्तरिकत्व व्यक्त्यमा, दोनों अन्वयपुत्रय की पर-अपरा प्रकृतियाँ मानी गई हैं। दोनों वस्तुतः एक ही प्रकृतितत्त्व है। इती की सम्बन्धकत्वस्था अन्वय है उसी को व्यक्त्यमात्वा चर है। चर अन्वय की अन्वयका अन्वय ही व्यक्त्य है परन्तु तन्वयिक विभाषेक्षया इत चर को भी व्यक्त्य ही माना जायगा। व्यक्त्य चर से परे अन्वयक अन्वय है, व्यक्त्यमात्वा (चरचर) से परे अन्वयक अन्वय है ०। अन्वयकत्वमीश्वरी की व्यक्त्यमात्वात्वा अन्वयकत्वप्रकृति ही अन्वय है। एवं तीनों गुणों की विभोवादानभूत किन्मात्वात्वा व्यक्त्यमात्वात्वा ही चर है। अनेक विकारधारकत्व कष्टो (विभोवादानभूत विकारचरों) का अपने गर्भ में रखने वाली किन्मगुणव्यक्ति व्यक्त्यमात्वात्वा ही (चर ही) दर्शनमध्य में 'महान्' कहलाती है। उही आन्तर पर व्यक्त्य से महान् (चर) का प्राणमर्जित व्यक्त्यमात्वात्वा है +। विकारचर अनेक अन्वय आन्तरिकत्व पञ्चकत्व चर एक, वह एकचर से अनुप्राणित,

०—यस्मात्प्रमतीश्वरीश्वरमचरादपि शोचतः ॥

अतोऽस्मि लोके षड् ष प्रथित पुरुषोत्तम ॥१॥ (गीता १३।१८)

परस्तस्मात् मावोऽन्यो व्यक्त्योऽन्यत्कात्—सनातन ॥

यं स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न स्तितस्यति ॥२॥ (गीता ८।२।)

—“बुद्धोत्ता 'महान्' परं (क ३।१०)—महत् परमव्यक्तम् (क ३।११)—
सच्चादपि महानात्मा (क ६।७)—अन्यत्के महति तमसि द्योत्यति”—इत्यादि।

इसी आधार पर—'मूढं मयिष्मत् प्रस्तौमि बहु ब्रह्मोक्तमक्षरं, महद्ब्रह्मोक्तमक्षरम्' * यह निगम प्रतिक्रिय है। यही महान् सर्वज्ञत्वप्रमत्त है +। यही वैज्ञानिकों का आत्मक्षर है, एवं दार्शनिकों का महान् है।

६२—यज्ञप्रज्ञप्तित्वस्वरूपदिग्दर्शन—

महान् से अक्षर उक्त होया है। अईमात्र की योनि महान् ही माना गया है। इसी पर विस्तारवाच अई प्रस्तुति होता है। अईर्गमित महान् के अईमात्र के आधार पर (मना—प्राण—वाक्मय अईमात्र के मनोमय काम, प्राणमय तप एवं वाक्मय अमन्युपार से) पञ्चतन्मात्राओं का विकास होता है। दर्शनमन्त्रा में महान् नाम से प्रसिद्ध वैज्ञानिकमन्त्रा के आत्मक्षर से (आत्मक्षर की ब्रह्मादि पाँचों कलाओं से) उत्पन्न प्राणादि पञ्च विक्षरक्षर ही दर्शनमन्त्रा की शब्द—स्पर्शादि पञ्चतन्मात्राएँ हैं, जोकि 'गुणमूल' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये गुणमूल सर्वथा अमूर्त हैं। सर्वस्वधारण गुणमूलक्षिप्त पञ्चतन्मात्रा के द्वारा (विक्षर क्षरद्वारा) वाक्मयप्रकृति (विक्षरजनक आत्मक्षर) को ही बगल का कारण मान रहा है। वैशेषिक शास्त्र सम्मत निरवयव परमाणु कस्तुतः सावयव हैं, जोकि 'अणुमूल' कहलाए हैं। गुणमूलों के सञ्चालित सम्बन्ध से ही अणुमूल (अणुपरमाणु) का विकास हुआ है। आत्मक्षर से उत्पन्न प्राणादि पञ्च विक्षरक्षर शुद्ध (अपञ्चीकृत) विक्षरक्षर हैं ये ही गुणमूल हैं अमूर्तभूत हैं। इन प्राणादि पाँचों विक्षर विक्षरक्षरों को समष्टि 'बिम्बसूट' है। इन पाँचों का आगे बाकर सञ्चालित सम्बन्धजनक पञ्चीकृत होता है जो कि प्रक्रिया 'स्रष्टव्य' कहलाए है। पाँचों में पाँचों की आशुति होती है। चलस्वरूप पञ्चीकृत प्राणादि पञ्च वैश्वरिक्त क्षरों का प्रत्युत्पन्न हो जाता है। अक्षर—अक्षर माग में प्राणादि, शेष अक्षर अक्षर माग में अक्षरिक्त चारों यमीभूत रहते हैं। क्योंकि पञ्चीकृत प्रत्येक वैश्वरिक्त क्षर में आधे माग में एक की, शेष आधे माग में चारों की व्यपत्ति है, अतएव तत्रान्नाय से A ने भी प्राणादि नाम से ही व्यपन्न हुए हैं। पञ्चीकृत अतएव

*—एतद्द्रव्याक्षरं सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्यभिसम्पद्यन्ते । तदेतत्—ब्रह्म च, स्रष्टव्य ।
अग्निरेव ब्रह्म, इन्द्रः स्रष्टव्यम् । इन्द्राग्नी वै विश्वे देवा । विद्म विश्वे देवा ।
तदेतत्—ब्रह्म—स्रष्टव्यं—विद् । (शत० १०।१। १।)

—तदप स्तोत्रोऽभ्युक्तः—

तस्यै स प्राणोऽमवत्—महान् भूष्वा प्रजापति ।

ब्रह्मो बुद्धिष्या विश्वा पत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥ इति ।

—शत० अ१।१।२१।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भव सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥

—गीता १४।१।

A—'वैशेष्याणु, तत्रादस्तत्राद' (वेदान्तसूत्र २।१।२१) ।

पञ्चब्रह्म के वैचारिक सूर ही विद्वानमया में 'पञ्चजन' कहलाए हैं, जिनका अग्रणीकृत निरवयुओं के उच्चातीस उन्मुख से प्रासुर्म्य हुआ है। वे ही पञ्चीकृत, अतएव पञ्चावयवात्मक, अतएव च सावक पञ्चजन वार्तानिधी के 'अणुमूल' हैं। आगे बाहर इन परमाणुओं के विद्यतीय सम्भव से 'रेणुमूल' का प्रासुर्म्य होता है। तत्पर्य-पञ्चीकृत पञ्चब्रह्मों के विद्यतीय पञ्चीकरण से पञ्च-पञ्चब्रह्म को अग्रुर्मय उत्पन्न होते हैं, वे पञ्च पञ्चीकृत पञ्चब्रह्म ही 'पुरञ्जन' कहलाए हैं। पञ्चब्रह्मप्राप्त एवं पञ्चीकृत (पञ्चावयव) है। इन्हें पञ्चीकृत अर्थात् चारों पुरञ्जनों की आकृति हुई। परिणाम यह हुआ कि, पञ्चीकृत प्राणपुञ्ज में २२ अवयव हो गए। यही कम आगे के चारों पुरञ्जनों में पठित हुआ है। पञ्चीकृत पञ्चब्रह्मप्राप्त के पाँचों पुरञ्जन ही अमराज वेद, लोक, देव, पशु, मृत, नाम में स्पष्टतः हुए हैं। वे ही अर्थात्पञ्च के रेणुमूल हैं जो विद्यतीय परमाणुओं (पञ्चब्रह्मों) के उन्मुख के उर्ध्व हैं। इसी उन्मुख में वार्तानिधी ने यह स्वरूप ही है कि प्रत्येक रेणुमूल में कम से कम ३ परमाणु रहते हैं अधिक से अधिक ३ परमाणु रहते हैं। तत्पर्य-विद्यतीय परमाणुर्मय का ही नाम 'रेणुमूल' है। यहाँ पर तांत्रिकी सृष्टि का अर्थान है दूसरे शब्दों में विद्यारमृति का अर्थान है। इत में आगे मूलसृष्टि का आरम्भ होता है। गुण असु, रेणु दोनों मूलवर्णा उन्मुख हैं। मूल, लक्ष, दोनों लक्षमूलों के आकार पर प्रतिष्ठित मूल महामूल हैं। लक्ष अक्षरादि अर-अक्षर प्राप्ति हैं। इमारे उपादानरूप पञ्चमहामूल मूल हैं, जो यौगिक हैं मूल हैं लक्ष-मय्यादिभिन्त हैं। पञ्चीकृत पञ्च महामूलों के मौलिकरूप लक्षमय्य पञ्चरेणुमूल हैं, रेणुमूल ही तांत्रिक अर्थान (मय्यादि) का परमाणु है। रेणुमूल का मौलिक रूप पञ्च अणुमूल है यही वैशेषिक का अणुपरमाणु है। रेणुमूल का मौलिक रूप पञ्च गुणमूल है। गुणमूलों का मौलिक रूप विद्यारमूल है यही प्राचानिधी की पञ्चलक्षणा है। विद्यारमूलों का मौलिक रूप पञ्चकल धारणा है यही प्राचानिधी का अर माध्यमक महामूल है। अर का मौलिक रूप पञ्चकल अक्षरणा है यही प्राचानिधी की अक्षरणाहति है। अक्षरणा का मौलिक रूप पञ्चकल अक्षर है यही प्राचानिधी का पुनरुत्पत्तावर्तितोप प्रारण है। अक्षर का मौलिक रूप मायी निष्कल अक्षरपुत्र है—'सा अक्षरा सा पत्र गति'। 'अक्षर लक्षणी अक्षरमर्त'। अक्षरपुत्र से आरम्भ कर लक्षरमय्य माचारी ९ परिधरी का अर्थान हो रहा है। अर अर के परिध में पूर्व पूर्व परिधविशिष्ट आत्मन्वी 'तत्सृष्ट्या तदेवाणुमाचारात्' म्याय से प्रथि है।

६३—इदपरिग्रहावच्छिन्न पञ्चस्य प्रजापति—

माचारीपरिग्रह परक्षरपुत्र का आद्या रत है शरीर अत है, रक्तविरिह लक्षार्थ-विधि यह परक्षर ही मायीमहारार है। अणुपरिग्रहपुत्र अक्षरपुत्र आत्म है पत्र-अक्षर-महारिकर आक्षरपुत्र शरीर है त्रिभिष्ट कोटरी ही कोटरीप्रजापति है। मायीमहारार, लक्षरपुत्री, दोनों की अर्थ अक्षरपुत्रमूर्ति-महेश्वरप्रजापति है। महेश्वरपुत्रपरिग्रहित गुणवर्तितोप अक्षरलक्ष आद्या है गुणवर्तित अक्षर शरीर है यही गुणवर्तितमहामूल सत्यप्रजापति है यही निरक्षरपुत्रपति है। महेश्वर

ॐ—यस्मिन् पञ्च पञ्चब्रह्मा आत्माशरच प्रतिष्ठित ।

तमेव मन्ये—आत्मान विद्वान् ब्रह्माणुतोऽमृतम् ॥

—इ आ० वप १११११

वेदवेदवत्प्रजापतिर्गमितं गुणत्रयोपपन्नं क्षयमा आत्मा है गुणभूतरूप विकारद्वयस्यैव शरीर है, यही वेदप्रतिग्रहणमक यज्ञप्रजापति है, यही उपेखर है । महेखर-विश्वेखर-उपेखर-गमितं विकारयत्ना आत्मा है अणुभूत-रेणुभूतरूप-पञ्चजन-सुरजन-समिति शरीर है, यही अज्जनपरिग्रहणमक विराट्प्रजापति है । महेखर-विश्वेखर-उपेखर-विण्ट-गमितं अणु-रेणु पञ्चक आत्मा है पञ्चमहाभूत, एवं सत्वत्मति शरीर (विश्व) है, यही आबरण्यत्मक विश्वप्रजापति है ।

ब्रह्मी इति ते समन्वय इतिविष्ट । मायी परस्पर आत्मा है, षोडशो-सत्य-यज्ञ-विण्ट-विश्व-मायों पर्व इत्यत्र शरीर है, यही आत्म-शरीरविशिष्ट प्रथम आत्मन्वी है, यही मायी महेखरप्रजापति है । परात्परगमितं पुत्रपत्न्य आत्मा है, सत्व-यज्ञ-विण्ट-विश्व पारों पर्व इत्यत्र शरीर है यही आम-शरीर-विशिष्ट द्वितीय आत्मन्वी है यही सत्कृष्ट षोडशीप्रजापति है । परात्पर-पुत्रपत्न्यगमितं अक्षयत्न्य आत्मा है पञ्च-विण्ट-विश्व, तीनों पर्व इत्यत्र शरीर है यही आत्मशरीरविशिष्ट तृतीय आत्मन्वी है, यही सगुण सत्यप्रजापति है । परात्पर-पुत्रप-अक्षरात्मगमितं आत्मक्षयत्व आत्मा है विण्ट-विश्व दोनों पर्व इत्यत्र शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट चतुर्थ आत्मन्वी है, यही सविश्वर यज्ञप्रजापति है । परात्पर-पुत्रप-अक्षर आत्मक्षयगमितं विकारक्षयत्व आत्मा है विश्वपर्व इत्यत्र शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट पञ्चम आत्मन्वी है, यही सामञ्जन विराट्प्रजापति है । परात्पर-पुत्रप-अक्षर-आत्मक्षर-विकारक्षरगमितं वैश्वरिक् भूत सत्व आत्मा है, विश्वगमिता सत्वप्रजा इत्यत्र शरीर है यही आत्मशरीरविशिष्ट षष्ठ आत्मन्वी है यही सात्वर्य विश्वप्रजापति है । सभी सर्वरूप हैं, सभी आत्मरूप हैं । निष्कल परस्पर आत्मा ही सर्वरूपमें परिणत हुआ है । इन ५ वीं आत्मन्वी संस्थाओं का विज्ञान ही सर्वविज्ञान है यही आत्मविज्ञान है यही विश्वविज्ञान है । आत्मविज्ञानिष्ठ आन्ध्याओं में परस्पर विभिन्नरूपेण प्रतीयमान जिन जिन आत्मसंस्थाओं का लक्ष्य समर्पण किया है, वे सब आत्मदर्शन तत्त्वतः सत्त्वा अभिन्न अथवा प्रामाणिक हैं ।

६४-सात्त्विकियों के माध्यम से सर्वविषय-समन्वय—

परात्पररूप मायी महेखरपञ्चक परस्परपुत्रगामी बनते हुए गीतापय के पथिक हैं । सत्कल आत्मसात्म-पत्न्य पुत्रपञ्चगामी बनते हुए वेदत्रय के पथिक हैं । आत्मक्षयपुत्रद्विष्ट आत्मक्षयपञ्चक सत्त्वात्मापुत्रगामी सत्यपत्न्य के पथिक हैं । आत्मक्षयपुत्रद्विष्ट विकारक्षयपञ्चक पञ्चमपुत्रगामी वैश्वरिक्पय के पथिक हैं । विश्वक्षयपुत्रद्विष्ट वैश्वरिक्त्वपञ्चक विराट्प्रजापुत्रगामी साम्प्रदायिकपय के पथिक हैं । एवं वैश्वरिक्क्षयपु-यद्विष्ट विश्वेखरक विरहप्रजापुत्रगामी सात्त्विक के पथिक हैं । आगे के परिशेषों से उक्त आत्मन्वी-विज्ञान का मन्वीमति स्पष्टीकरण हो जाय दे ।

(१)

- | | | |
|-------------------------------------------|------------|--------------------------------------|
| १-मायापरिमहः—मायी महेश्वरः (भारमन्वी) | }—महेश्वर | }—स्तुष्टयं वा इह मर्ष-
मित्याहुः |
| २-कलापरिमहः—सकला पोद्दरी (भारमन्वी) | | |
| ३-गुणपरिमहः—सगुण सत्य (भारमन्वी) | }—पिरबैरवः | |
| ४-बिम्बपरिमहः—सबिम्बरो यज्ञ (भारमन्वी) | }—उपेवर | |
| ५-साञ्जनापरिमहः—साञ्जना विराट् (भारमन्वी) | }—इषर | |
| ६-सावरणपरिमहः—सावरणं विरबम् (भारमन्वी) | | |

(२)

- १-परस्परपासकाः—परस्परगुरुष्वानुयायिनो गीतापद्यपिच्छाः—शुद्धिबोगिनः
 २-पौद्गल्युपासकाः—गुरुपादगानुयायिनो वैदान्तपद्यपिच्छाः—शामिनः
 ३-आत्महरोपासकाः—सत्यस्मानुयायिनो प्राचानिकपद्यपिच्छाः—उत्तमा आस्तिकाः
 ४-बिम्बरोपासकाः—अज्ञानानुयायिनो वैशेषिकपद्यपिच्छाः—सम्भवा आस्तिकाः
 ५-बैकारिकहरोपासकाः—विराट्स्मानुयायिनो सम्प्रदायपद्यपिच्छाः—अधर आस्तिकाः
 ६-पिरबोपासकाः—विराट्स्मानुयायिनो शोकपद्यपिच्छाः—शोकावतिका आस्तिकाः

(३)

- १-पौद्गली-कण-कड-विराट्-विरब-शरीरविशिष्टाः-परस्पररामा भारमन्वी 'मायीमहेश्वरप्रजापतिः'
 २-कण-कड-विराट्-विरब-शरीरविशिष्टाः-परस्पररामिन्-गुरुपरमा-भारमन्वी 'सकलापोद्दरीप्रजापतिः'
 ३-कड-विराट्-विरब-शरीरविशिष्टाः-परस्पर-गुरुपरमिन्-अधररामा-भारमन्वी 'सुगुणः सत्यप्रजापतिः'
 ४-विराट्-विरब-शरीरविशिष्टाः-परस्पर-गुरुपर-अधररामिन्-आत्महरोरामा-भारमन्वी 'सबिम्बरो यज्ञप्रजापतिः'
 ५-विरब-शरीरविशिष्टाः-परस्पर-गुरुपर-अधर-आत्महरो-विराट्-विराट्-भारमन्वी 'साञ्जनो विराट् प्रजापतिः'
 ६-कण-शरीरविशिष्टाः-परस्पर-गुरुपर-अधर-आत्महरो-बिम्बरोरामिन्-वैकारिकरामा-भारमन्वी 'सावरणो विरबप्रजापतिः'

(६)

विकल्प	अन्वयः	आक्षरः	आत्मक्षरः	विकारक्षर (विकारवट्)	पञ्चमना	पुरुषाना	पुरम्
विशेषण-पुरुषा-मात्री-विकल्पः पुरुषः पुरुषा-मात्री-विकल्पः	आमन्दा	अमृतो ब्रह्मा	मत्स्यो ब्रह्मा	विशुद्धा माया	पञ्चकृता प्राणा	पञ्चविराट्-विश्वाना-वेदा	वेदान्तका-आत्मना
	विद्यमानम्	अमृतो विष्णुः	मत्स्यो विष्णुः	विशुद्धा आया	पञ्चकृता आपम	लोका	लोकात्मको ब्रह्मा
	मना	अमृत इन्द्रः	मत्स्य इन्द्रः	विशुद्धा वाक्	पञ्चकृता वाक्	देवा	देवात्मको देवः
	माया	अमृतोऽग्निः	मत्स्योऽग्निः	विशुद्धोऽन्नादः	पञ्चकृतोऽन्नादः	मृगानि	मृगात्मिन् प्रुथिवी
	वाक्	अमृतः स्रोमः	मत्स्यो स्रोमः	विशुद्धमक्षरम्	पञ्चकृतमक्षरम्	पशुका	पशुनात्मको जलम्
पुरुषः	अमृतम्	महान्	पञ्चतन्मात्रा (गुणमूयानि)	विकारा (अमृतमूयानि)	वैश्वरिक् (रिक्तमूयानि)	अक्षर (महामूयानि)	
महेश्वरप्रजापतिः १	महेश्वरी प्रजापतिः			कल्पप्रजापतिः	कल्पप्रजापति	विराटप्रजापति	विराटप्रजापति
	१			२	३	४	५

६५-प्रतिमाबोधरीप्रजापति के विविध विवरण—

अथ-पञ्चात्मक प्रतिमाबोधरी के प्रत्येक से पञ्चविधों का प्राकृतिक विकल्प किया गया। अथ महत्त्व विवरण 'प्रतिमाबोधरी' की ओर परतर्कों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बोधरीपुरुषस्वरूप की मीमांसा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, परतन्परेत-सङ्कल्पितविशुद्ध पुरुष ही ऊपर बोधरी है, जिसमें माया, कला, नास्तिक हो परिधर्मी का उपमोहा हो रहा है। इस बोधरी के आत्मक्षरमाय से अक्षरव्याप अमृतवात्मक पर मायादि पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। इन पाँचों की उत्पत्ति को ही 'विकारवट्' कहा गया है। यही 'विकारवट्' 'आमृतप्रजापति' है। वैश्वरिक् रूप बोधरी का है, ठीक वैश्व ही स्वस्म इत्यर्थ है, अतएव इसे अक्षर ही बोधरी की 'प्रतिमा', अतएव 'प्रतिमा' बोधरी कहा जा सकता है। कल्पप्रजापति (अक्षरप्रजापति) ही इत्यर्थ मूलाक्षर है, अतएव इसे 'महेश्वरप्रजापति' कहा जा

सवसंघाट्—(४)

०-अर्धकर्मिणो रत-येष्टकेभ्यो लभता-निर्मितिः, ० एव अमापी निष्कन्ता एष्टका
 (१)-अर्धकर्मिणो रत-अर्धकर्मिणोऽवसवा-एष्टका, ० एव अमापी निष्कन्ता एष्टका

(१)-अर्धकर्मिणो रत-मापी एष्टका-एष्टका, ० एव मापी युक्तो निष्कन्ता
 (२)-अर्धकर्मिणो रत-मापी एष्टका-युक्तः, ० एव मापी युक्तो निष्कन्ता

(२)-अर्धकर्मिणो रत-मापी एष्टका-युक्तः, ० एव योऽपि लभता
 (३)-अर्धकर्मिणो रत-अन्ता यमात्मा-योऽपि, ० एव योऽपि लभता

(३)-अर्धकर्मिणो रत-अन्ता यमात्मा—योऽपि, ० एव लभः लुप्य
 (४)-अर्धकर्मिणो रत-युष्मिणो अन्त-निष्कान्ता-लभः, ० एव लभः लुप्य

(४)-अर्धकर्मिणो रत-युष्मिणो अन्त-निष्कान्ता-लभः, ० एव लभो दक्षिण
 (५)-अर्धकर्मिणो रत-युष्मिणो अन्त-निष्कान्ता-लभः, ० एव लभो दक्षिण

(५)-अर्धकर्मिणो रत-युष्मिणो अन्त-निष्कान्ता-लभः, ० एव लभो दक्षिण
 (६)-अर्धकर्मिणो रत-युष्मिणो अन्त-निष्कान्ता-लभः, ० एव लभो दक्षिण

(६)-अर्धकर्मिणो रत-युष्मिणो अन्त-निष्कान्ता-लभः, ० एव लभो दक्षिण
 (७)-अर्धकर्मिणो रत-युष्मिणो अन्त-निष्कान्ता-लभः, ० एव लभो दक्षिण

विवादीषा 'पयस्वर' अर्धकर्मिणिर्द्वैवारत्नता' अमापी-
 श्चिद्व आत्मा •

-विवादीषा 'पयस्वर' अर्धकर्मिणो लभः
 अमापी 'मापी महेश्वरप्रजापतिः' (१)

-विवादीषा 'युष्मि' अर्धकर्मिणो रतात्मा-एष्टका; अमापी
 'सुकन्ता' योऽपिप्रजापतिः' (२)

-अर्धकर्मिणी 'अष्टका-अर्धकर्मिणोऽपिप्रजापतिः-एष्टका'
 अमापी-सुगुहः सत्यप्रजापतिः' (३)

-विवादीषा-अमापी-अर्धकर्मिणोऽपिप्रजापतिः-अमा-
 पी-दक्षिण-अमापी-सुकिणो यज्ञप्रजापतिः' (४)

-विवादीषा 'दक्षिण-अर्धकर्मिणोऽपिप्रजापतिः-
 एष्टका-अमापी-साधनो विराट्प्रजापतिः' (५)

-विवादीषा 'दक्षिण-अर्धकर्मिणोऽपिप्रजापतिः-
 अमापी-अष्टका-अमापी-
 'साधारणो विराट्प्रजापतिः' (६)

प्रकरणान्तरेषु—

(४)

मायाबन्धिघ्नो रक्तः (१)—आत्मा
 मायाबन्धिघ्नं बलम् (२)—शरीरम् } —आत्मशरीरविशिष्टः—आत्मन्वी—परत्परात्मा—
 'मायी महेश्वरप्रजापति'

परत्परमिति पञ्चकण्ठोऽक्षरः]—आत्मा
 २ आत्म्यमिति पञ्चकण्ठोऽक्षरः
 अक्षरमिति पञ्चकण्ठाः क्षरः]—शरीरम् } —आत्मशरीरविशिष्टः—आत्मन्वी—पुरुषात्मा—
 'सकल पोहयीप्रजापति'

परत्पर—पुरुषमिति गुणत्रयविशिष्टोऽक्षरः]—आत्मा
 परत्परपुरुषाक्षरमिति गुणोत्कृन्त क्षरः]—शरीरम् } —आत्मन्वी—अक्षरत्मा—
 'सगुणः सन्यप्रजापति'

परत्परपुरुषाक्षरमिति गुणोत्कृन्त क्षरः—आत्मा
 परत्परपुरुषाक्षरमिति विकारक्षरः—शरीरम् } —आत्मन्वी—आत्मक्षरत्मा—
 'सविकारो यज्ञप्रजापति'

परत्परपुरुषाक्षरमिति विकारविशिष्टः विकारक्षरः—आत्मा
 परत्परपुरुषाक्षरमिति विकारक्षरमिति पञ्चकण्ठपुरुषान्तमको विकारिक्षरः—शरीरम् } विकारक्षरत्मा
 'साञ्जनो
 विराट्
 प्रजापति'

परत्परपुरुषाक्षरमिति विकारक्षरमिति पञ्चकण्ठपुरुषान्तमको महासूतक्षरः—आत्मा
 परत्परपुरुषाक्षरमिति विकारक्षरमिति पञ्चकण्ठपुरुषान्तमसमूहक्षरमिति सत्त्वम्—शरीरम् } विकारिकात्मा
 'साक्षर्यो विस्व-
 प्रजापति'

(१)

१-माण्डपरिमहः	—मायी महेश्वरः	(आत्मन्वी)	} —महेश्वरः	} चतुष्टयं वा इदं सर्व- मित्याहुः
२-कृत्वापरिमहः	—सकलः षोडशी	(आत्मन्वी)		
३-सुण्डपरिमहः	—सगुणः सत्यः	(आत्मन्वी)	} —विश्वेश्वरः	
४-विश्वरूपपरिमहः	—सविश्वरो यज्ञः	(आत्मन्वी)	} —उपेश्वरः	
५-साञ्जलपरिमहः	—साञ्जनो विराट्	(आत्मन्वी)	} —ईश्वरः	
६-सावरुणपरिमहः	—सावरुणं विश्वम	(आत्मन्वी)		

(२)

- १-परस्परोपासकाः — परस्परपुरुषानुयायिनो गीतास्यपथविद्या — बुद्धियोगिनः
- २-षोडशोपासकाः — पुरुषसमानुयायिनो षोडशोपथविद्या — ज्ञानिनः
- ३-आत्मन्वरोपासकाः — सत्यसमानुयायिनः प्राधानिकपथविद्या — इत्यमा आरितिका
- ४-विश्वरूपोपासकाः — यज्ञसमानुयायिनो वैश्वेदिकपथविद्या — सम्भ्रमा आरितिका
- ५-वैश्वेदिकरूपोपासकाः — विराट्समानुयायिनः मन्त्रहास्यपथविद्या — अथवा आरितिका
- ६-विश्वोपासकाः — विश्वसमानुयायिनो लोकापथविद्या — लोकापथिका न्नास्तिक्का

(३)

- १-षोडशी-कल-कल-विश्व-ईश्वर-शरीरविधिः परस्पररत्ना आत्मन्वी 'मायीमहेश्वरप्रजापति'
- २-कल-कल-विश्व-शरीरविधिः परस्पररत्ना-पुरुषसमा-आत्मन्वी 'सकल-षोडशीप्रजापति'
- ३-कल-विश्व-विश्व-शरीरविधिः परस्पर-सुण्डरत्ना-आत्मन्वी 'सगुणः सत्यप्रजापति'
- ४-विश्व-विश्व-शरीरविधिः परस्पर-सकल-कल-रत्ना-आत्मन्वी 'सविश्वरो यज्ञप्रजापति'
- ५-विश्व-शरीरविधिः परस्पर-पुरुष-कल-कल-रत्ना-आत्मन्वी 'साञ्जनो विराट् प्रजापति'
- ६-कल-शरीरविधिः परस्पर-सकल-कल-रत्ना-आत्मन्वी 'सावरुणो विश्वप्रजापति'

(६)

विभक्त	अव्ययः	अक्षर	आत्मक्षर	विभक्तक्षर. (विभक्तवृत्)	पञ्चदशः	पुरुषानः	पुरम्
विभक्त मूलरूप-मायी-विभक्त मूलरूप-पुरम्-मायी-विभक्त	आनन्दः	अमृतो मत्स्यः	मत्स्यो मत्स्यः	विशुद्धः प्राणः	पञ्चीकृतः प्राणः	पञ्चपञ्चीकृतः पञ्चविराट्कलाः वेदाः	वेदात्मक- आकाश
	विज्ञानम्	अमृतो विष्णुः	मत्स्यो विष्णुः	विशुद्धा आयाः	पञ्चीकृता आयाः	लोकः	लोकप्रत्यक्षो वायुः
	मनः	अमृत इन्द्रः	मत्स्य इन्द्रः	विशुद्धा वाक्	पञ्चीकृता वाक्	देवाः	देवात्मक तेजः
	प्राणः	अमृतोऽग्निः	मत्स्योऽग्निः	विशुद्धोऽभावः	पञ्चीकृतोऽभावः	मूलानि	महात्मिन् पृथिवी
	वाक्	अमृतः सोमः	मत्स्यो सोमः	विशुद्धममम्	पञ्चीकृतममम्	पराकः	पञ्चात्मक कलम्
पदपरः	पुरम्	अमृतम्	महान्	पञ्चदशाना (गुणमूलानि)	विभक्ता (अष्टमूलानि)	वैभक्ति (रेणुमूलानि)	अणु (महामूलानि)
महेश्वर्यापत्तिः २		पोदरी प्रजापतिः २		अमृत्यापत्तिः ३	महामृत्यापत्तिः ४	विभक्त्यापत्तिः ५	विरभ्यापत्तिः ६

६५-प्रतिमापोदरीप्रजापति के विविध विवरण-

अथ-महात्मक प्रतिमापोदरी के प्रसङ्ग से पदपरिग्रहों का प्राथमिक विस्फेपण किया गया। अब प्रकृत विरचन 'प्रतिमापोदरी' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पोदरीपुरस्यस्वरूप की मीमांसा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, पदराधेय-मङ्गलविशिष्ट पुरम् ही लक्ष्य पोदरी है, विष्णो माय, कला, नामक दो पद्यों का उपमौल हो रहा है। इन पोदरी के आत्मक्षरमम से अक्षर्याय आत्मपालमन पर प्राणार्थी पाँच विभक्तक्षर उत्पन्न होते हैं। इन पाँचों की समष्टि की ही 'विभक्त' कहा गया है। यही 'विरभ-स्यमम' 'अमृत्यापत्ति' है। यैव्य स्वरूप पोदरी का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इच्छा है, अतएव होने अक्षर्य ही पोदरी की 'प्रतिमा', अतएव 'प्रतिमा पोदरी' कहा या सकता है। कल्याणक गुणप्रवर्धित गुणपरिग्रहक कल्याणपति (अक्षर्या) ही इच्छा मूलकार है, अतएव होने 'मत्स्यस्वयम्' कहा या

कण्ठा है। इत सम्भवतः के आधार पर विश्वरूपप्रिहात्मक आत्मनश्चर के पञ्च विचारों के हाथ पर उभेधरों का प्रस्तुत होना है। विश्वरूपक विश्वरूप, तदुत्पन्न पञ्चमन, तदुत्पन्न पुरुषान् तद्गमित पुर ही उभेधर हैं। इत प्रतिमापोडरी के आधार पर उभूत पञ्चपुरुषक पञ्चोभेधरों का 'उभेधरयोडरी' से सम्भव है। प्रतिमापोडरी मायी मोहेश्वर से अमिश्र है उभेधरयोडरी मायीमोहेश्वराविनाभूत इत प्रतिमापोडरी के केन्द्र से बन्द होना हुआ तबस उभेधरों में विच्छेद है।

प्रतिमापोडरी भी स्वयम्भू है उभेधरयोडरी भी स्वयम्भू है। नामसम्भवात् से दोनों को एक तल मान बैठना असम्भव है। एक मावाहण में प्रतिमापोडरीस्वयम्भू एक है एवं यही स्वयम्भूयम्भू परेशवा, आम् प्रवापति, अम्भरुत्स्वयम्भू विश्वरूप आदि नामों से प्रसिद्ध है। एक मावाहण में उभेधरत्वयम्भू एक तबस है वे ही 'पुण्डरीकस्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। पुण्डरीक (शाकात्मक) एक तबस उभेधर-स्वयम्भू भावों के सम्भव से ही परेशवास्वयम्भू से अविनाभूत मायी मोहेश्वरलाघव अस्वयम्भू 'तदसम्भोरेष' कहलाया है। इत विमेष को लक्ष्य बना कर ही प्रतिमापोडरी की कारवाय का सम्भव करना चाहिए।

इसी दृष्टि से समन्वय श्रीविद्ये। अक्षर को सगुण स्वप्रवापति क्या गया है आत्मनश्चर को तन्मिश्र स्वप्रवापति माना गया है। अम्भन-अक्षर-अक्षरक पोडरीपुरुष के केन्द्र में प्रतिष्ठित पञ्चक अक्षरपञ्च उर्ध्व अक्षरित्यत इतमम अम्भय से भी मुक्त है अक्षोऽवस्थित अर्धमनश्चर से भी मुक्त है। अम्भन की पञ्चकलाओं से चर की पञ्चकलाओं से, स्वागुण्य पञ्चकलाओं से परत्परसम्भन पर प्रतिष्ठित सगुण अक्षरविषय भी पोडरी की मूर्ति पोडरकल बन रहा है। वैश्व कलाविभाग पोडरी में है वैश्व ही कला-विभाग इतने हैं यही अक्षर का प्रतिमात्व है। अतएव इते उत अम्भयोडरी की अपेक्षा अक्षरकोष 'प्रतिमापोडरी' कहा जा सकता है। अम्भकान से उर्ध्व अक्षरों से सर्वविद्, एवं स्वत्वस्म से सर्वराष्ट्रिमात् बना हुआ उर्ध्व-उर्ध्वरहित-उर्ध्वविद् इतमिन्द्रियमय अक्षरपोडरी ही चर के हाथ निरकलता करता है *।

अम्भन, अक्षर, आत्मनश्चरक अक्षरपोडरीचर्म तीन दृष्टियों से समन्वित है। अम्भनरूपा भी आत्मा पोडरी है यह पोडरी विश्वात्मन है। अक्षररूपा भी आत्मा पोडरी है यह पोडरी निरकलता है। अक्षररूपा भी आत्मा पोडरी है यह पोडरी विश्वमय है। प्रज्ञामात्रात्मिक सम्मत्ता विषय का आत्मनश्चर बना करती है। मायमात्रात्मिक विज्ञामात्रा निरकलता बना करती है एवं सूत्रमात्रात्मिक अर्धमात्रा विषय की उपादान बना करती है। इसी दृष्टि से तीनों की कारवाय अन्वयित हुई है। परत्परसम्भन अक्षरक अक्षरक पर प्रतिष्ठित अम्भन-अक्षर-चर तीनों अमिश्र हैं अविनाभूत हैं, अमुत्पिद्ध हैं। अतएव किसी भी पर्व को लक्ष्य बनाकर, तीनों का लक्ष्य हो बावना। अतएव निरकलित्व पोडरी के तीन निरकल हो जायेंगे। अम्भनरूपा अक्षर को गम में रखने वाला पोडरी विज्ञामात्रा है यही 'पोडरी' अक्षर है। अक्षररूपा अम्भनरूपा को गम में रखने वाला पोडरी विज्ञामात्रा है यही प्रतिमापोडरी है। अक्षररूपा अम्भनरूपा को गम में रखने वाला पोडरी अर्धमात्रा है यही 'उभेधरयोडरी' है। अम्भनरूपा अक्षरक अक्षरक पोडरी प्रतिमापोडरी है अन्वय पोडरी उभेधरयोडरी है। तीनों में से प्रत्येक में उर्ध्वपञ्च अक्षरपञ्च है वैश्व परिशेष से तब है—

० तदेतन्सत्यं-यथा सुप्तिमात्-पावधद्विष्कुसिद्धाः सहस्रशः प्रमन्वते सरूपाः ।

तथाऽक्षराद्विषिधा सोम्य ! मायाः प्रजायन्ते सत्र वैवापियन्ति ॥

—सुण्डकोपनिषत् २।१।१।

(१) सनातनपोडशी—(अभ्यय—ज्ञानप्रधान)—(आलम्बनम्)

परस्पर	{	आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाग्माया-ज्ञानम् (अभ्ययोऽध्यय)	}	-अध्ययपोडशी-‘पोडशी
		मद्येन्द्रियिणु-अमितोमभाषा-अमृता-क्रिया (अक्षरोऽध्ययः)		
		मद्येन्द्रियिणु-अमितोमभाषा-मर्त्याः-अर्थः (क्षरोऽध्ययः)		
		ॐ		ॐ

(२) प्रतिमापोडशी—(अक्षर—क्रियाप्रधान)—कृत्वा

परस्पर	{	मद्येन्द्रियिणु-अमितोमभाषा-अमृता-क्रिया (अक्षरोऽक्षरः)	}	-अक्षरपाडशी-‘प्रतिमापोडशी
		आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाग्माया-ज्ञानम् (अभ्ययोऽक्षरः)		
		मद्येन्द्रियिणु-अमितोमभाषा-मर्त्या-अर्थ (क्षरोऽक्षरः)		
		ॐ		ॐ

(३) उपग्वरपोडशी—(क्षर—अर्थप्रधान)—प्रम

परस्पर	{	मद्येन्द्रियिणु-अमितोमभाषा-मर्त्या-अर्थ (क्षर क्षरः)	}	-क्षरपाडशी-‘उपग्वरपोडशी
		मद्येन्द्रियिणु-अमितोमभाषा-अमृता-क्रिया (अक्षरः क्षरः)		
		आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाग्माया-ज्ञानम् (अध्यय-क्षरः)		
		ॐ		ॐ

६६-मद्येन्द्रियिणु-अमितोमभाषा-मर्त्या-अर्थ (क्षर क्षरः)

पति है। चिन्पति ब्रह्मा ज्ञानमय है, इसी दृष्टि से अक्षररत्ना सर्वज्ञ है। इन्द्र क्रियामय है इसी दृष्टि से अक्षररत्ना सर्वराक्षिमान् है। विष्णु अर्थमय है इसी दृष्टि से अक्षररत्ना सर्वविन् × है। ब्रह्मात्मक सर्वज्ञ अक्षर में प्रतिष्ठाब्रह्मात्मक चर मर्त्यब्रह्मा का विद्यमान हुआ है। इन्द्रात्मक सर्वराक्षिमान् अक्षर से ऋषेर्लोकवृण नाम-रूपब्रह्मर्षिनक मर्त्य इन्द्रविष्णु का विद्यमान हुआ है। विष्णुवात्मक सर्वविन् अक्षर से यज्ञरक्षण मर्त्य अर्षीमान का विद्यमान हुआ है। प्रतिष्ठाब्रह्म से अग्निज ज्ञानमय ब्रह्मा ज्ञानप्रधान अम्यप से समुत्पित है, अतएव अम्यपत्माक पोहरी को 'ब्रह्मात्मकोहरी' कहा जा सकता है वही 'पोहरी' है। ऋषेर्लोकवृण नामरूप में अग्निज क्रियामय इन्द्र क्रियप्रधान अक्षर से समुत्पित है अतएव अक्षररत्माक पोहरी को 'इन्द्रात्मक पोहरी' कहा जा सकता है वही 'प्रतिमापोहरी' है। अक्षररत्ना यज्ञ से अग्निज अर्थमय उपेन्द्र (विष्णु+) अर्थप्रधान चर में समुत्पित है अतएव चररत्माक पोहरी को उपेन्द्रात्मक पोहरी कहा जा सकता है वही 'उपेन्द्रपोहरी' है। निम्न लिखित बचन इसी विविध पोहरी-विषय का स्मरण कर रहे हैं—

अम्यप-१- 'पाञ्चरात्रं वै ब्रह्म' (जे ७० ३।१८।१) ।-ब्रह्मा पोहरी (पोहरी)

अक्षर-२- 'इन्द्रा इ वै पोहरी' (शत० १।१।१।१) ।-इन्द्र पोहरी (प्रतिमापोहरी)

चर-३- 'अतिरिक्तो वै पाञ्चरी' (तां भा ६।१।१।१) ।-उपेन्द्र पोहरी (उपेन्द्रपोहरी)

ॐ

ॐ

ॐ

६७-अमृत-ब्रह्म-शुक्र-अपीस्वस्वदिगूर्धन —

महामायाविष्णु अम्यप्रधान मन्थरप्रजापतिजगत् अथच्युति पाहरीरूप के ही 'अमृत-ब्रह्म-शुक्र' मेरु से तीन विषय माने गए हैं। अमृतमाय का अम्यप्रपोहरी से ब्रह्मात्मक चर अक्षरपोहरी से एवं शुक्रमाय का चरपोहरी से सम्बन्ध है। मूला-कला-परिहोतम अम्यप्रपोहरी 'अमृत' है, यही अमृतपाति है। गुण-विचार परिहोतम अक्षरपोहरी 'ब्रह्म' है यही प्रकृतिपति है। अज्ञान-आत्मक-परिहोतम चरपोहरी 'शुक्र' है यही विद्वृतिपति है। 'तदेव शुक्र-वृद्धम-तदेवाधुनमुच्यते' के अनुसार वही अमृत-अक्षर-चर-रूप से पञ्चपरिहोतम बनता हुआ विरंज्य पञ्चरूप एवं अमृतंरूप बन रहा है। मन्थर ऋषिज-निष्कणक्षरणस्वामीपति में हमने लक्षिगान्द्रब्रह्म के स्वस्व-बीज-बगन् में से तीन विषय उलगाए हैं। उन तीनों विषयों का इन्हीं अमृत-ब्रह्म-शुक्र-स्वस्वस्व विविध पोहरीरूपों में सम्बन्ध है। लक्षिगान्द्रब्रह्म अम्यप्रपोहरी है। लक्षिगान्द्रबीज अक्षरपोहरी + है। लक्षिगान्द्र-बगन्

× यं मन्थं सर्वविषयस्य ज्ञानमयं तप ।

तस्मात्तद् ब्रह्म-नामरूप-मन्थ च ज्ञापत ॥

—मुद्ररङ्गपतिपत्र १।१। १ ।

+ उपन्तो विष्णुरबन्तावरज-इन्द्रस्य कनिष्ठभ्राता-उपन्द्र-इन्द्रावरजभद्रपाणिभ्रतु सुज' इत्यमरः ।

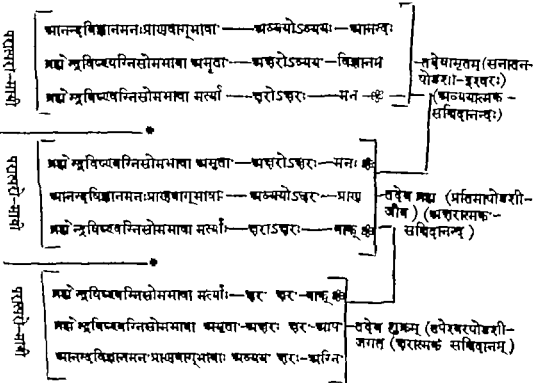
— इत्यन्यथां प्रकृतिं विद्धि म पराम् ।

दीवभृतां मदानाहो ! ययर्द धार्यते बगव ।

(पञ्चप्रकृतिरक्षर म पञ्च दीपतष्टरापारमून)

पर्यावरणी है = । तीनों सेषाधिक-उद्बुद्ध सविदानन्द है, जोया परात्पर निरुपाधिक उन्मुग्ध सविदानन्द है
 किष्का उपाधिसम्बन्ध से तीन प्रकार का किष्कस हुआ है । रसैकभन परात्पर 'आनन्द' है । इत्यत्र प्रथम
 किष्कस आनन्द-विज्ञान-मनः है यही 'अमृतम्' है । द्वितीय किष्कस-मन-प्राणः-वाक्-है, यही 'ब्रह्म' है ।
 तृतीय किष्कस वाक्-आपः-अग्नि है, यही शुक्लम् है, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है ।

ॐ आनन्द-परात्पर (उन्मुग्धसविदानन्दो तिष्कस) -अमात्री



६८-यक्ष्य पुराणीरप्रजापतिस्वरूपदिग्दर्शन-

उक्त कर्म के किष्केष्य के आधार पर पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि अक्षरप्रधान
 रूपप्रजापति तो प्रतिमापोडरी है एवं आत्मशरप्रधान वक्ष्यप्रजापति उपेखरपोडरी है । 'सम्मिस्तोत्रः भित्ता
 सर्वे के अनुधार पोडरी-प्रतिमापोडरी-गणित-उपेखरपोडरी में ही लोकेष्ट्या अन्तमूत है । अक्ष्यप्रजापति

= भूमिरापोऽनलो वायु स्र मनो शुद्धिग्व च ।
 अपरेयम् । (अपराप्रति शरः तदिदं जगत् शरः सवायि भूवन्ति ।

की ही वह विष्ट विरक्त से तीन अवस्थाएँ हैं। वही आत्मेश्वर के द्वारा यह बना है, यह के द्वारा बना बना है विष्ट के द्वारा विरक्त(प्रका)रूप में परिष्कृत हुआ है। लक्ष्यवाचि प्रतिमापोडशी है यह, विरक्त विरक्त, तीनों एही के विरक्त हैं। अतएव तीनों का प्रतिमापोडशी के स्वरूप में ही अन्तर्मात्र माना जा सकता है। तीनों में ये विरक्तमात्र प्रका का छोटा दीर्घित, केवल उत्प-पद-विरक्त, इन तीन संस्थाओं पर इति इतिष्टि। लक्ष्यवाचि-लक्ष्य आक्षरत्मा मार्गमोडेश्वर के स्वरूप से उत्पन्नित है, वह क्या का पुत्र है। इसके गर्भ में पुरहीर-स्वयम् रूप, लक्ष्यवाचिप्रका लक्ष्यमा प्रतिष्ठित है। लक्ष्यपुरहीरस्वयम्पुर्मित अक्षयलक्ष्यमूलक्ष्य परमा-अक्षयलक्ष्य उत्पन्वि आक्षरत्मा ही प्रथम प्रतिमापोडशी है जिसे पद-विरक्त-पोडशी-मात्री के पार्थक्य सूचित करने के लिए प्रतिमापोडशी कहा जायगा। निम्न लिखित परिलेख से एही का स्पष्टीकरण हो रहा है।

अक्षय स्वयम्पुर्मित प्रतिमापोडशी के गर्भमें एक लक्ष्य पुरहीरस्वयम्पु प्रतिष्ठित है, ये ही उपेश्वरपोडशी है। प्रत्येक उपेश्वरपोडशी के गर्भ में चार चार प्रतिमोपेश्वर हैं। वही पञ्चपुरहीर प्राधान्यकथा है। पाँचों पुरहीरों में अक्षय रूप से महिमा के द्वारा आप्त एककरोडेश्वर पुरहीरस्वयम्पु ही आत्मज्ञानक्षय लक्ष्यवाचि है। आक्षरत्मा लक्ष्य पद लक्ष्यवाचि उक्त लक्ष्यवाचि की प्रतिमा है। एवं इसके गर्भ में प्रतिष्ठित चार पुरहीर इस लक्ष्यवाचि की प्रतिमा हैं। पुरहीरस्वयम्पु-गर्मित चार प्रतिमाप्रकावति की अपेक्षा पुरहीरस्वयम्पु परम प्रकावति है। इस प्रकार उपेश्वरपोडशी के 'परमप्रकावति'—प्रतिमाप्रकावति से ही विरक्त हो जाते हैं। 'अक्षयपदपुन-पदार्थ प्रतिमाप्रकावति' ही प्रतिमा का लक्षण है। प्रत्येक कल्पविष्ट में कल्पेश्वर, कल्पविष्ट, कल्पमहिमा ये तीन तीन संस्थाविभाग माने गए हैं। कल्पेश्वरकल्पिन उक्त आत्मा है। आत्मा का प्रथम प्रदर्शस्थानरूप कल्पविष्ट 'पदम्' है। द्वितीय प्रपत्तिस्थानरूप कल्पमहिमा 'पुनःपदम्' है। 'पुनःपदम्' (महिमाप्रकावति) आरीतिकर पद है परं (कल्पविष्ट) आर्यरूप पद है इत्यर्थकल्पिन आत्मा उक्तकर पदपति है। पदपति-पाद-पद-उक्त-आर्य-आरीति, कल्पेश्वर-कल्पविष्ट-कल्पमहिमा, आत्मा-माया-पदपति-आत्मा-पुनःपदम् सभी विक लक्ष्य आभिन्नार्थक हैं। पुरहीरस्वयम्पु में तीनों संस्थाविभाग विद्यमान हैं। ये ही संस्थाविभाग लक्ष्यमीव शेष चारों पुरहीरों में हैं अतएव हमें पुरहीरपञ्चवाचि की प्रतिमा कहना आवश्यक बनता है।

आत्मेश्वर की अक्षादि पाँचों मय कक्षाओं से प्राप्तदि पञ्च विष्टार (गुणभूत) उत्पन्न हुए। पाँचों के पञ्चीकरण से पञ्चीकृत पाँच प्राणविष्ट पञ्चक्य (अक्षयभूत) उत्पन्न हुए। इन पाँच पञ्चक्यों के पञ्चीकरण से पाँच पुच्छन (शुभ्रभूत) उत्पन्न हुए। इन पाँच पुच्छनों से अक्षय-वेधपुच्छन से पुच्छीरस्वयम्पु लोक-पुच्छन से पुरहीर पादेही, देवपुच्छन से पुरहीर लक्ष्य भूतपुच्छन से पुरहीरक्षयिष्ट पदपुच्छन से पुरहीर पदमा उत्पन्न हुआ। सर्व अक्षादिक आत्मेश्वर से विरक्त-पदक-पुच्छन के द्वारा उत्पन्न इन पाँचों पुरहीरों में लक्ष्यवाचिपदपुच्छनप्रकावति न्यय से पदपद-अक्षय-आक्षरगर्मित आत्मेश्वरत्वं उपेश्वर-पोडशी पाँचों में अक्षय आत्मी अक्षा-विष्णु-इन्द्र-आग्नि-शेम-एत पाँच मत्स्यकक्षाओं से प्रविष्ट हो गया। अतएव ये पाँचों पुरहीर अक्षय अक्षात्मक-विष्टवाचिक-इन्द्रात्मक अक्षयत्मक-शेमात्मक कहलाए। पाँचों में अक्षात्मक पुरहीरस्वयम्पु 'अक्षा' कहलाया। शेष चारों के विष्णु (परमेष्ठी), इन्द्र (लक्ष्य), आग्नि (क्षयिष्ट) शोम्(पदमा) चारी चार आत्मा-पद-पुच्छन-मात्री से पुरहीरस्वयम्पु से उत्पन्नित रहते हुए प्रथम नाम से पञ्चकृत हुए, जेय कि निम्न लिखित श्रुति से प्रमाणित है—

“स ऐक्षत प्रजापति” (पुराडीरस्वयम्भू) — ‘इम वाऽआत्मन प्रतिमामसृषि ।
आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत । ता वा एता प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त—अग्निः
(पृथिवी), इन्द्रः (सूर्य), सोमः (चन्द्रमाः), परमेष्ठी (विष्णु) प्राजापत्य” ।
(रात० ११।१।६।१३, १४, १५) ।

६६-त्रि-धामात्मक विश्वकर्मा-प्रजापति का महिमाविवर्ध—

पुराडीरस्वयम्भू ही संज्ञित में विश्वकर्माप्रजापति कहलाया, एवं चारों पुराडीरजापति विश्वकर्मा के रूपा बहलाए । यही विश्वकर्मा पुराण में ‘सप्तवितस्तिकायाः’ ईश्वर नाम से उपरार्णित हुआ । स्वयम्भू ‘सप्तलोक’ है, यही प्रथमा विवर्तित है । स्व पर, दोनों के मध्य का लोक ‘तपोलोक’ है यही द्वितीया विवर्तित है । परमेष्ठी ‘अनल्लोक’ है यही तृतीया विवर्तित है । परमेष्ठी सूर्य, दोनों का मध्यलोक ‘महर्लोक’ है, यही चतुर्थी विवर्तित है । सूर्य ‘रत्नलोक’ है, यही पञ्चमी विवर्तित है । सूर्य-पृथिवी, दोनों के मध्य का अन्तरलोक ‘मुक्कलोक’ है, यही षष्ठी विवर्तित है । पृथिवी लूलोक है, यही सप्तमी विवर्तित है यही सप्तवितस्तिकात्मक एकस्वरोरवर नामक पञ्चोत्तरवात्मक, उपेखरगोबरी है । पृथिवी, अन्तरिक्ष (अन्तरिक्ष), सूर्य तीनों की समष्टि भू-मुक्क-रत्न-रूपा प्रथमा ‘रोदसीत्रिलोकी’ है । सूर्य-अन्तरिक्ष-परमेष्ठी, तीनों की समष्टि भू-मुक्क-रत्न-रूपा द्वितीया ‘ऋग्वेदीत्रिलोकी’ है । परमेष्ठी-अन्तरिक्ष-रत्नम्भू, तीनों की समष्टि भू-मुक्क-रत्न-रूपा तृतीया ‘संघटीत्रिलोकी’ है । यही त्रैलोक्यत्रिलोकी है । ‘उत्तिस्तिकायाः त्रिताः त्वे’ से इती त्रैलोक्यत्रिलोकी का ग्रहण हुआ है । रोदसी भू नाम की महाभ्याहृति है, यही विश्वकर्मा पुराडीरस्वयम्भू का ‘अबमघाम’ है । ऋग्वेदी मुक्क नाम की महाभ्याहृति है यही विश्वकर्मा का ‘मध्यमघाम’ है । संघटी ‘रत्न’ नाम की महाभ्याहृति है । यही विश्वकर्मा का ‘परमघाम’ है । त्रिधामात्मक इती विश्वकर्मा का जो अपने परमेष्ठ्यादि चारों कलाओं (प्रथमाप्रजापतिनी) को शिष्या के खा है, निम्न लिखित शब्दों में विश्वकर्मा का है—

या ते धामानि परमास्ति, यावमा, या मध्यमा विश्वकर्मान्नुत्तमा ॥

शिवा सखिम्यो इविवि स्वधावः स्वय यजस्व तन्वं बुधानः ॥१॥

किंस्विदासीदधिष्ठातमारम्भं कृतमत् स्वित्कयासीत् ॥

यतो भूमि जनयन् विश्वकर्मा वि धामौर्ध्वान्निहिना विश्वघदाः ॥२॥

विरवदरचभ्रुल्य विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुल्य विश्वतस्यात् ॥

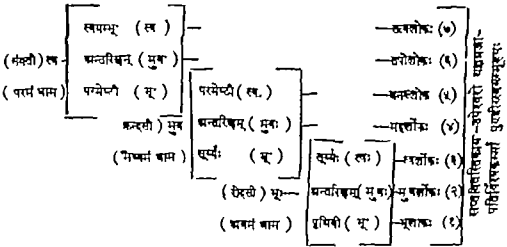
सं बाहुर्म्या धमति सं पञ्चैर्धावाम्भूमि जनयन् देव एकः ॥३॥

—यजु सं० १०।२१, १८, १६, १५।

७-काई तमोमहदईसचराग्निधाम्नाः—सवेष्टितायडभट—‘सप्तवितस्तिकायाः’ ।

कं इविधासिगण्यितायडपरासुधम्याधाताज्वरोमविषरस्य च से महिष्मत् ॥

—मीमक्षुमाग्वत-१०।१४।११।



कसलाय गमा है कि-बाहू-आप-अग्निरूप 'उदेव शुक्रम्' का इत लन्तकिरिदिअम्यतक एक-अक्षोरवर यद्यथापलिलकल आत्मधारण्य, उपेक्षरपोडरी से ही सम्भव है। अमृत-मर्त्य मेद से शुक्रज्यो के १ निवर्त हो जाते हैं। मर्त्य बाहू-शुक्रार्मित अमृतबाहू-शुक्र का सम्भव उपेक्षर के प्रथम पर्व पुरधीर स्वयम्भू से है। मत्सा आपःशुक्रार्मित अमृत आपःशुक्र का सम्भव उपेक्षर के द्वितीय पर्व सुवर्ग-परमेष्ठी से है। मर्त्य अग्नि-शुक्रार्मित अमृत अग्निःशुक्र का सम्भव उपेक्षर के तृतीय पर्व पुरधीर-अमृत सूर्य से है। अमृत अग्नि-बाहू-शुक्रार्मित मर्त्य अग्निःशुक्र का सम्भव उपेक्षर के तृतीय पर्व पुरधीर मर्त्य सूर्य से है। अमृत आपःशुक्रार्मित मर्त्य आपःशुक्र का सम्भव उपेक्षर के चतुर्थ पर्व पुरधीरचन्द्रमा से है। एवं अमृत-बाहू-शुक्रार्मित मर्त्यबाहूशुक्र का सम्भव उपेक्षर के पञ्चम पर्व पुरधीरमृषिरथ से सम्भव है। इत्यकार १ वीं अमृतमर्त्यशुक्रों का उपेक्षर के पौर्वी पुरधीरो में क्रमिक उपयोग हो रहा है।

७०-पञ्चानुगत त्रिधा विमक्त 'मनोता' तत्त्व—

पुरधीरस्वयम्भू का केन्द्रत्व मन वेद सूत्र निबन्धित इन तीन तत्वों में श्रेष्ठ है वे ही स्वयम्भू के मनोता हैं। पुरधीर परमेष्ठी का केन्द्रत्व मन इन्द्र-बाहू-मोहा इन तीन तत्वों में श्रेष्ठ है वे ही परमेष्ठी के मनोता हैं। पुरधीर सूर्य का केन्द्रत्व मन ज्योतिः, गी। आपु इन तीन तत्वों में श्रेष्ठ है य ही सूर्य के मनोता हैं। पुरधीर चन्द्रमा का केन्द्रत्व मन रेतः, अन्ध, अरा इन तीन तत्वों में श्रेष्ठ है, वे ही चन्द्रमा के मनोता हैं। पुरधीर मृषिरथ का केन्द्रत्व मन बाहू-गी-धो, इन तीन तत्वों में श्रेष्ठ है वे ही मृषिरथ के मनोता हैं। इत्यन्तर पंच स्वप्नी में तीन तीन मनोताओं का उपयोग हो रहा है। इनका सम्भव परिज्ञान ही वेदपरिज्ञान है वेदादि निम्न शिरीत अमृतमन्त्रन से प्रमादित है—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तम्यो न ज्याय परमन्यदस्ति ।
यस्तद् म वेद मर्त्य सथा दिशो बक्षिमस्मै हरन्ति ॥
—हाम्बो ऋ २।२।३।

७१—कलाविभागस्वरूपदिग्दर्शन—

कलाया गया है कि, आत्मघर से विरवसूट् पञ्चीकृत पञ्चजन, पञ्चीकृत पुरञ्जनी के द्वारा ही पुण्यवीर्य इन स्वयम्भू आदि पाँच पुरों का आविर्भाव हुआ है, क्योंकि इनके उपादान मूल्य ब्रह्मादि पञ्च कलामेत आत्मघर, छन्दुगत अपञ्चीकृत प्रायादि पञ्चकल विरवसूट् (विकारघर), पञ्चीकृत पुरञ्जन गर्मित पञ्चीकृत वेदादि पञ्चकल पुरञ्जन हैं, अतएव इन में प्रत्येक में पाँचों नावों का सम्भव हो रहा है । पहिले आत्मघर को ही लीजिए ।

आत्मघरकला—

- (१) पाँचों के ब्रह्मा क्रमण—विरवसूट्, पितामह, शिरय्यार्ग, निचन, पद्यभूः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
- (२) पाँचों के बिष्णु क्रमण—स्वयम्भू गोसब, नारायणः धामनः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
- (३) पाँचों के इन्द्र क्रमण—बावस्पति अर्जुनः, मघवा, वृत्रहा वासवः नामों से प्रसिद्ध हैं ।
- (४) पाँचों के अग्नि क्रमण—सत्याग्निः, श्रवाग्निः, वेवाग्निः, पशुपति अत्राग्निः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
- (५) पाँचों के सोम क्रमण—प्राण, सुगुः महः, अन्नम्, ओपधी, नामों से प्रसिद्ध हैं ।

❀

❀

❀

विकारघरकला—

- (१) पाँचों के प्राण क्रमण—अपयः, पितरः, वेवाः, गन्धर्वा पराव, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
- (२) पाँचों के आप क्रमण—प्राण अस्मा, मरीचिः, आपः, मरः नामों से प्रसिद्ध हैं ।
- (३) पाँचों की वाक् क्रमण—सत्या आत्मसृष्टी, वृहती, सुमन्त्रवा, अतुष्टुपु, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
- (४) पाँचों के अन्न क्रमण—अर्कः, बाजः, महः राजा, हृदिः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
- (५) पाँचों के अस्मा क्रमण—विरवसूट्, पक्षितधामा सम्भस्तरः, स्वधामसूट्, पशुसूट्, नामों से प्रसिद्ध हैं ।

❀

❀

❀

- (१)—पाँचों के वेद क्रमण—ब्रह्मनिःस्वसितः, ब्रह्मवेदः शायत्रीमात्रिकः, अयर्ब, धाममात्रिका नामों से—
- (२)—पाँचों के लोक क्रमण—अरोकमहिमसोका अमप्रसोका, वैषलोका, पितृलोका, मनुष्यलोकाः—
नामों से—

- (३)—पाँचों के देव क्रमण—ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः मोमा अग्निः नामों से—
- (४)—पाँचों के पशु क्रमण—सुरवः, अरवः, गौः अविः अन्न नामों से—
- (५)—पाँचों के मृत क्रमण—अकारा, वामुः, तेजः, ज्ञानम् पृथिवी, नामों से—प्रसिद्ध हैं ।

पञ्चकल विरवसूट् पञ्चकल पञ्चजन, पञ्चकल पुरञ्जन रूप स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य—पञ्चमा—मू विरव, पाँचों पुण्यवीर्य का आधार पञ्चकल आत्मघर है तथाकार पञ्चकल अघर है तथाकार पञ्चकल अय्य है तथाकार निष्कल पञ्चर है । अतएव, अय्य अघर, आत्मघरकम पोखरी पाँचों में प्रत्येक में आधार है, विरवसूट्—पञ्चजन—पुरञ्जन—गर्मित पञ्च पुर प्रवक्—पुयक् हैं । इन्हीं शब्दों में पोखरी अर्थात् अग्नि है, अमान्

हे अक्षिणो दे । पुर मित्र है, विषोप दे । पोडरीइण्वा एवमिदमभिधम् । पुरइण्वा तर्बमिदं विभिधम् । यही पञ्चपुरप्रमक, आत्मब्रह्मक उपेखरपोडरी के (विश्वके अचान्तर पाँच उपेखरपरम है, विश्वमें प्रथम परमप्रजापति है, शेष चारों प्रतिमाप्रजापति हैं) शरियक स्वरूप का संक्षिप्त विभोपक है । आत्मब्रह्म-प्रधान उपेखरपोडरी कर्मकाण्ड का आधार है । अक्षरप्रधान प्रतिमापोडरी मक्षिकण्ड का आत्ममन्त्र है । आत्मप्रधान कलाकनपोडरी कानाक्षरक की आत्मपम्ति है । एवं विद्युद आत्मन (पक्षरपुरण) बुद्धिबोध का आनास्तम्भ है, विश्वके विश्वैषक का लैमान्य एकमात्र गीताराल्य को ही प्राप्त है, विश्वके संक्षिप्त स्वरूप का उपनिषदी में दिग्दर्शन हुआ है ।

७२-तस्य वा एतस्यान्वगोत्रोपनिषत्—

अथएत स्वयम्भूस्व आम्पूयपति (अक्षरप्रधान कल्पब्रह्म प्रतिमापोडरी) के गर्भ में उक्त पयो-रवर पोडरीस्व पुरबीरस्वम्भूत्वाद्य आत्मब्रह्मप्रधान स्वमूर्ति एककण्ड उपेखर प्रतिष्ठित है किन्तु कि पूर्वपरिलोक द्वारा तत्र कर दिया गया है । प्रकृत में केवल पयोपेखरविक्रम एक उपेखरकल्याण का परिलोक द्वारा दिग्दर्शन कर दिया गया है जो उपेखरपोडरी विश्व माना गया है । पक्षरस्व महे-रवर अक्षिणो वा पुष्यस्व कानाकन पोडरी बुद्धिबोध का अक्षरक प्रतिमापोडरी है वा एवं आत्मब्रह्मक यह उपेखरपोडरी सुत्र है । अभी 'बुद्धिबोध' नामक एक प्राजापाल्य विषय और शेष रहा है । परिलोकान्तर उनके स्वस्व का भी प्रतजोनाद दिग्दर्शन करना बावप ।

बतलान्य गया है कि अक्षरक कल्पब्रह्मप्रधान प्रतिमापोडरी के ही बड़-विद्यु-विषय, वे तीन विश्व है । इनमें से कल्पब्रह्मप्रधान उपेखर नामक पोडरी का स्वस्व कला विना गया । एवं कल्पप्राप्त विद्युत्प्रजापति की और पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है । कल्पब्रह्मप्रधान उपेखर पोडरी के गर्भ में त्व पर ए कन्द्र ए वे पाँच पुरबीर कलाए गए हैं । इन पाँचों पुरबीरों की मूर्ति मानी महेखरब्रह्मप्रधानक अक्षरकण्ड की पञ्चपुरबीर एक ब्राह्मणकल्याण (शाखा-यनी) है । इत शाखा का अन्तित शोर म विद्युत्स्व पुरबीर है । यह म विद्युद अक्षिप्रधान है । यह अक्षि विषय-विश्वे-विश्व (मर्म-कर्म) मेर से वा पाणों में विद्युत् है । म विद्युद विश्वमिन्त्र है । म मूर्तिमा विद्युनिषेयापि-मन्त्र है । म केंद्र से विनिर्गत म विद्युद से बड़ी इतक अथ विद्युनिषेयापिन्त्रक (पुनः) ही मक्षिण-शुक्ली है । मनोवाची का दिग्दर्शन करते हुए हमने म विद्युद के कण्ड-गो-वी-स्व तीन मनोव कलाए हैं । मक्षिमन्त्रकालिका शुक्ली के केंद्र से आरम्भ कर प्रथि (परिधि) पर्यन्त ४८ अर्धगण व्याप्त है । इसमें २१ वे अर्धगण पर्यन्त दो कण्ड-मनोव व्याप्त है । केंद्र से आरम्भ कर ११ पर्यन्त भी नामक मनोव व्याप्त है । केंद्र से आरम्भ कर ४८ पर्यन्त वी नामक मनोव व्याप्त है । 'तस्य वा एतस्यान्वगो-त्रोपनिषत्' (शत १ ५४।१।) के अनुसार कण्डनामक प्राकानि ही केंद्र से परिधि पर्यन्त (४८ पर्यन्त) व्याप्त रहा हुआ कण्ड-गो-वी रूप में परिणित हो रहा है ।

७३-मही, सागराम्बरा, आर अक्षि—

म विद्युद की मूर्तिमा में इतके ऊपर के कण्डमा-सूर्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू, चारों पुरबीरकलों का प्रत्यक्ष रूप से कल्पना हो रहा है । ४८ पर्यन्त कण्डनामक प्रतिष्ठित है, यही 'गो' है । ११ पर्यन्त

पारमेष्ठ्यत्वत्व प्रतिष्ठित है, यही गौः है। २१ पर्यन्त शौर्यत्व प्रतिष्ठित है, यही 'वाक्' है। यौक्म से इसी महिमाशुभिनी में प्रबन्धरूप से स्वायम्भुवो संखीत्रिलोकी का क्रमः २४-४४-४८ स्तोम मेद से मोग हो रहा है। यही गौर्वाक्ष्या, स्वायम्भुवत्त्वात्मिका, महाशुभिनी 'महो' कहलाई है। गौक्म से इसी महिमाशुभिनी में प्रबन्धरूप से पारमेष्ठिनी ऋक्षीत्रिलोकी का क्रमः ११-२२-३३ स्तोम मेद से मोग हो रहा है। यही गौर्वाक्ष्या, पारमेष्ठ्यत्त्वात्मिका, महाशुभिनी 'सागरम्बरा' कहलाई है। वाक् रूप से इसी महिमाशुभिनी में प्रबन्धरूप से खीरी खीरीत्रिलोकी का क्रमः ६-१५-२१ स्तोममेद से मोग हो रहा है। यही वाग्ज-क्ष्या, शौर्यत्त्वात्मिका, महाशुभिनी 'अदिति' कहलाई है। त्रैलोक्यात्मिका अदिति-शुभिनी मू है, त्रैलोक्यात्मिका सागरम्बर-शुभिनी मुनः है त्रैलोक्यात्मिका यही-शुभिनी स्व है। तीनों ब्राह्मणियों उत्पत्तिरिक्तिकायात्मिका, पञ्चभुवदीरमक उपेक्षरस्वरूपवत् इसी महिमाशुभिनी में त्रिष्टुरूप से प्रतिष्ठित है। अदितिक्रम मू नाम की महाब्राह्मिणी का त्रिष्टु (६) स्तोम 'मू' है पञ्चदश (१५) स्तोम मुनः है, एकत्रिंश (२१) स्तोम स्व है। यही अदितिशुभिनीरूपा मूर्खद्वया प्रवर्णरक्षीरूपा पहिली आग्नेयी त्रिलोकी है वाक्-मनोव्यामयी त्रिलोकी है। सागरम्बररूपा मुनः नाम की महाब्राह्मिणी का एकत्रिंश (११) स्तोम मू है ब्राह्मिण्यस्तोम (२२) मुनः है, त्र्यम्बिंश (३३) स्तोम स्व है। यही सागरम्बरशुभिनीरूपा मुनर्क्षद्वया प्रवर्णरक्षीरूपा वृक्षी ऐन्द्रीत्रिलोकी है गौर्मेनोव्यामयी त्रिलोकी है। यहीरूपा स्वः नाम की महाब्राह्मिणी का त्र्यम्बिंश (३३) स्तोम म है, ऋक्षदशत्रिंश (४४) स्तोम मुनः है अष्टादशत्रिंश (४८) स्तोम स्वः है। यही महोशुभिनीरूपा स्वराक्ष्या प्रवर्णरक्षीरूपा तीसरी ब्राह्मी त्रिलोकी है यौर्मेनीव्यामयी त्रिलोकी है। इतप्रश्नर मूदेन्द्र से आरम्भ कर ४८ वें अर्धगण पर्यन्त ब्याप्त महाशुभिनी में त्रैलोक्यरूपा तीन शुभिनीविकृतों का मोग सिद्ध हो जाता है, वैशा कि पण्डित से स्पष्ट है।

७४-आत्म-देव-भूत-मेदमिमा सत्यत्रयी—

'उत्पत्त्युत्पत्त्य' लक्षण आत्मप्रधान सनातनपोषणी के आभार पर उत्पत्त्युत्पत्त्य आद्यप्रधान प्रतिमा-पोषणी का आधिपत्य माना गया है। एवं इस उत्पत्त्युत्पत्त्य से यज्ञलक्षण आत्मप्रधान उपेक्षरपोषणी, तथा विष्ट का आधिपत्य माना गया है। उत्पत्त्युत्पत्त्युत्पत्त्य (अन्वयव्युत्पत्त्युत्पत्त्य) उत्पत्त्य (अन्वयव्युत्पत्त्युत्पत्त्य) 'सत्य-अन्न-विराट्' इन तीन भावों में परिणत हुआ है, अतएव तीनों को उत्पत्त्य शब्द से व्यबहृत किया जा सकता है। वे तीनों उत्पत्त्य उपनिष्क-परिभाषा में क्रमः 'आत्मसत्य ब्रह्मसत्य देवसत्य' इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। वे ही प्रकृत प्रकृत के प्रतिमापोषणी, उपेक्षरपोषणी एवं विष्टप्रधान हैं। आत्म उत्पत्त्य (अन्वय) प्रकृति है। ब्रह्मसत्य (आत्मसत्य) आत्मसत्य की प्रकृति, तथा देवसत्य की विष्टि होने से प्रकृतिविष्टि है। देवसत्य ब्रह्मसत्य की विष्टि होने से विष्टि' है। विष्टिपर्यन्त में प्रसिद्ध व्युत्पत्त्युत्पत्त्य लक्षण विष्ट देवसत्यसत्य विष्टि से उत्पन्न होने के कारण वैदिक है। "व इष्टि से अन्वयरूप आत्मसत्य के आत्मसत्य, ब्रह्मसत्य देवसत्य, भूतसत्य ये चार विष्ट हो जाते हैं जोकि क्रमः उत्पत्त्य, विष्ट विष्ट नामों से व्यबहृत हुए हैं। उत्पत्त्य 'इत्यसत्यम्' है स्व 'त्रयीसत्यम्' है विष्ट 'देवाः सत्यम्' है विष्ट 'नामरूप सत्यम्' है। अणु उत्पत्त्य अस्तित्व है। इसी आभार पर माध्यम ब्रह्म-रमात् संस्कार ब्राह्मसंस्कार देवसंस्कार, भूतसंस्कार-मेद से तीन भेषिनी में विष्ट हुए हैं, जिनका विष्ट वैशानिक विष्टोत्पत्त्य 'अर्ध-योगपरीक्षा' 'ग' विभाग में किया जा चुका है।

● कल्पकल्पम्—अम्बकप्रधानः स्नातनपोडरी पुत्रपत्न्य

१-उदमिन्नः कल्पप्रदापतिः—प्रतिनालोडरी—प्रकृतिकल्पः

—आत्मकल्पः

(इत्यम्)

२-उदमिन्नो ब्रह्मप्रदापतिः—उपेक्षरपोडरी—प्रकृतिविकृतिकल्प]—ब्रह्मकल्पः (त्रयी)

१-उदमिन्नो विरहप्रदापतिः—विरहपोडरी—विकारकल्प]—देवकल्पः (देवाः)

४-उदमिन्नो विरहप्रदापतिः—विश्वम्——वैश्वरिककल्पः]—मूलकल्पः (भूतानि)

●—सत्यस्यसत्यम्—

१—“सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र दत्ता सब एकी भवन्ति” ।

१-प्रकृतिसत्त्वोऽक्षरः—‘तदेतत् स्यक्षरं हृदयमिति । तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव’

२-प्र० वि० सत्यः क्षरः—“सैषा त्रयीविद्या यज्ञः । तद्यत् सत्यं, त्रयी सा विद्या” ।

३-विकारसत्त्वा विकारक्षर—विराजो वा एतद्रूपं यदक्षरम् (सत्यम्)

—तां म० ब्रा० पा० १५।१५।

४-वैश्वरिकसत्त्व—‘नामरूप सत्यम्’ (राव १५।५।५।)

७३-विराट्-रूप इवसत्य का स्वरूपदिग्दर्शन—

स्नातन अम्बकल्प मी आनन्द विज्ञान—मन—मात्र—बाह्यरूप से पाँच कल्प कर्त्त है, अक्षरकल्प प्रकृतिकल्प मी ब्रह्मा किणु इन्द्र, अग्नि होमकल्प से पञ्चकल्प है । पञ्चमकल्प कल्पकल्पं यमित् पञ्चमकल्प—अज्ञमकल्प के आचार पर प्रतिष्ठित आत्मक्षरकल्प प्रकृतिविकृतिकल्प मी मात्रः—आपा—वाक्—आनं—आम्नाह—कल्प से पञ्चकल्पकल्प ही है । वैश्वरिक मूलकल्प मी द्रुपिनी, बल तेज, वायु, आकाश मेव से पञ्च कल्पकल्प ही है परन्तु विकारकल्प विरहकल्प अग्नि वायु, इन्द्र मेव से विकल्प है । इसी आचार पर ‘त्रिःसत्त्व वे देवाः’ यह निगम प्रतिष्ठित है । प्राणमूर्ति स्वप्नम्, अपानमूर्ति परमेष्ठी, वाङ्मूर्ति इत्यं, अयनमूर्ति अन्तःप्राण, आम्नाहमूर्ति म विरह, ये पाँच पुण्डरीक पञ्च ब्रह्मकल्प हैं, किन्तु कल्पि को पूर्व में उपेक्षरपोडरी? कल्पकल्प मय है । हम पाँचों ब्रह्मकल्पों में से पाँचवें मूखब्रह्मकल्प ब्रह्मकल्प के आचार पर पूर्वपरिष्ठा वैश्वरिकविनीकी कल्पा मरिना द्रुपिनी का किणु हुआ है । इत महाद्रुपिनी के अतिरिक्त द्रुपिनी से ही विरह—कल्प देवकल्प का कल्प है ।

अदितिद्रुपिनी के ९-१५-२१ स्तोत्री में अग्नि कल्प व्याप्त है, अतएव इसे आग्नेयी विशोकी माना गया है । तीनों स्तोत्रमन्त्रों में क्रमशः अनाग्नि (अग्नि) कल्पद्रुपि (पाण्डु) विरहाग्नि (इन्द्र) कल्प एक ही अग्नि की तीन अक्षरपादों प्रतिष्ठित हैं । तीनों अग्निवी के विद्भ्रक्षर से क्रमशः वाक्पित्रर्गमित् किणुर्ग

अग्नि अग्नीन्द्रगर्मित त्रिमूर्ति वायु, अग्निवायुगर्मित त्रिमूर्ति इन्द्र इन तीन सर्वमात्रों का उदय होता है। त्रिमूर्ति अर्थात् अग्नि विद्युत् है, त्रिमूर्ति त्रिमात्रप्रधान वायु हिरण्यगर्भ है, त्रिमूर्ति ज्ञानप्रधान इन्द्र सर्वत्र है। सर्वत्र की प्रकृति २१ बिंदा स्तोम है, आराध (अपिस्वित्वात्) सम्पूर्व अतिमयबल है। हिरण्यगर्भ की प्रकृति पञ्चदशस्तोम है आराध अदितिमयबल है। विद्युत् की प्रकृति त्रिदशस्तोम है, आराध अदिति-मयबल है। तीनों अग्नि के ही तीन विध्वं हैं। अग्निप्रधानरूप ही विद्युत् है। अतएव सर्वपात् विद्युत्, सर्वत्र हिरण्यगर्भ, सर्वत्र ही सर्वत्र ही अदिति 'विराट्प्रजापति' नाम से ही व्यवहृत हुई है। यही देवस्यप्रजापति है यही ताज्जानप्रजापति है। यही अरक्यवृद्ध के भूपिण्डरूप शास्ताय माग में प्रकृति छात्रिस्तोम है। सागपम्बरपुत्रिणी के द्वारिण स्तोमरूप अन्तरिक्ष में मुक्त चान्द्रोम इसका प्रधानरूप है। २१-विराट् स्तोम और प्रवर्णाश विज्ञानरूप है। त्रयस्त्रिंशत् स्तोमात्मक पारमेष्ठपत्न्य महाज्ञानरूप है। यही-पुत्रिणी में मुक्त स्वायम्भुवतत्त्व अम्बुकात्मक है। स्वयं भूपिण्ड मूलात्मक है। भूपिण्ड द्वारिणस्तोमात्मकस्वयं स्तोम, एकद्वारिणस्तोमात्मकस्वयं स्तोम, त्रयस्त्रिंशत्स्तोमात्मकस्वयं पारमेष्ठपत्न्य, अष्टादशद्वारिणस्तोमात्मकस्वयं स्वायम्भुव तत्त्व क्रमशः मूलरूप-महानात्मक-विज्ञानात्मक-महानात्मक-अम्बुकात्मक पञ्चदशस्तोम है। पौत्रिणी के मूलरूप भूपिण्डकाश्चय ब्रह्मरूपवाच्य पर विद्युत् विद्युत्-हिरण्यगर्भ-सर्वत्रमूर्ति विद्युत् विद्युत्-प्राकाररूप है। यही ईश्वररूप है। वायुतः विज्ञानमात्रा में इसे ही ईश्वर कहा जाता है जो उपरेश्वर के धर्म में प्रकृति है। उपरेश्वरपोत्रिणी के स्वयंवात् सत्याविभागों का इस विराट्-हिरण्यगर्भ में सम्भव हो रहा है। यही विद्युत्-साक्षर प्रतिमापोत्रिणी है जिसे उपरेश्वर के धर्म में प्रकृति बोधे भूपिण्डात्मक प्रतिमाप्रजापति की प्रतिमा कहा जा सकता है। इसप्रकार प्रतिमापोत्रिणीरूप स्वयंप्रजापति के प्रतिमापोत्रिणी, उपरेश्वरपोत्रिणी, विद्युत्पोत्रिणी, भेद से तीन विध्वं हो जाते हैं। तीनों को हम 'प्रतिमापोत्रिणी' स्वरूप में अन्तर्मुक्त मानते हुए तीनों का 'प्रतिमापोत्रिणी' नाम से प्रकृति कर सकते हैं। विद्युत्प्रजापति-स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली पारिष्व परिमात्राओं का पूर्व में जो निर्देशक हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। अतएव ही विद्युत्-परिम्यथा पाठकों को उलझी छी प्रकृति होगी। इस सम्बन्ध में मन्त्रिणीका-पूर्ववर्धक को और ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाना चाहिए। यहाँ यही अन्तर्गम्य अदिति, सर्वत्र हिरण्यगर्भ विद्युत्, अदिति तत्त्वों का जो विस्तार से आत्मनिर्गमरूपका निर्देशक हुआ है। प्रकृत विद्युत्प्रजापति के यथातुल्य सम्बन्ध के लिए एक बार मन्त्रिणीका पूर्ववर्धक के अन्तर्गम्यत्वको अहम अपने पाठकों से विशेष आग्रह करेंगे।

७६-ईश्वर-प्रजापति की ३५४ कलाविभूतियाँ—

विद्युत्प्रजापति के सम्बन्ध में एक बात और बताना कर प्रकृत स्तोम से विज्ञान लिया जायगा। विद्युत्-रूप प्रतिमापोत्रिणी देवस्यप्रजापति है, तत्त्वमात्रा में यही त्रिमूर्तिरूपका ईश्वर है। अनन्त ईश्वर की अनन्त त्रिमूर्तियों का संस्कारार्थन यद्यपि दुस्त्यरथ है तथापि अदिति के द्वारा प्रकृत तत्त्ववाद ने इस त्रिमूर्तिरूपका को सुगम-सुविशेष बना दिया है। त्रिमूर्तिरूप से इस देवस्यप्रजापति में आत्मकलाविभूत सामान्यकलाविभूत विरोधकलाविभूत ये तीन त्रिमूर्तियाँ हैं। तीनों क्रमशः ७२ २१२ ४१ संख्याओं में विभक्त हैं। अन्तर्व ३५४ (तीनसे चौकन) त्रिमूर्तियाँ हो जाती हैं, जिनका भावविज्ञान के 'आत्म विज्ञानोपनिषत्' प्रथमस्कन्ध में विस्तार से तार्किक निर्देशक हुआ है। त्रिमूर्तिस्वरूप की विशेष विज्ञान रखने वाले पाठकों को उलझा ही देकरा चाहिए। प्रकृत में विद्युत्प्रजापति की दृष्टि से उनके केवल नाम-मात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं।

(१) - 'आत्मकलाविभूत्य'

१-परिवारकला (६)	}	अह मात्रा	}	आत्मविभूतिकला - दामसति (७२)		
२-अभ्यसकला (६)						
३-अक्षरकला (६)						
४-आत्मक्षरकला (६)						
५-आत्मकला (६)	}	-अक्षर	}			
६-प्राणकला (६)					}	-उक्षर
७-पशुकला (६)						

७-सामान्यकलाविभूत्य

१-श्रवण (१)	}	-स्वप्नम् (१)	}	सामान्यविभूतिकला २३१
२-चिन्तन (२)				
३-अनुसंधान (३)	}	-परमेष्ठी (२)	}	
४-देवा (३)				
५-मनस (४)	}	-मूर्ति (१)	}	
६-गणपति (२)				
७-पदा (४)	}	-अक्षर (४)	}	
८-पराशर (२)				
९-श्रीवा (३)	}	-मूर्ति (२)	}	
१०-श्रीवा (३)				

३-विशेषकलाविभूतय —

१-विषा (४)	६-पकरंसत्वम् (१)	
२-कमः (०)	१०-पकायस्थत्वम् (१)	
३-कम्म (०)	११-विरषज्यापकत्वम् (१)	
४-शुद्धम् (६)	१०-विरबल्लष्ट स्वम् (१)	
५-प्राण (१०)	१३-सर्वसाक्षित्वम् (१)	विशेषविभूतिकला (५१)
६-इन्द्रियाणि (४)	१४-सर्वमशित्वम् (१)	
७-पूर्वोद्भवम् (१)	१५-कम्माभ्यस्तत्वम् (१)	
८-सत्यसंकल्पत्वम् (१)	१६-पाप्मासंस्तुष्टत्वम् (१)	

७७-सर्वसंप्रहृतमक सर्वसमन्वय—

प्रतिमापोडरी की करणवा प्रकल्प है। कस्रादीत निष्कल अत्यण्ड अमायी 'अभिशेय' परस्पर परमेस्वर के अक्रिमियत् प्रवेश में गर्भीमूत, एककण्ठोरवर, मावाभलापरिग्रहपुत्र मावी-छकल, दुर्बि शेष, मोरेश्वरप्रजापति नामक, अश्वत्थप्रधान तनाठनपोडरी पोडरी है। किरादीत अभिशेय परस्पर 'निष्कल' नामक प्रथम काण्ड है। उदासीमूत मोरेश्वरपुरुष नामक पोडरी द्वितीय करण है। इत अश्वत्थप्रधान तनाठन पोडरी से अग्नि, एककण्ठपुरडीत स्वयम्भूवितों को अपने गर्भ में रखने वाला अश्वत्थ स्वयम्भूत, 'आत्मप्रजापति' नाम से अश्वत्थ अश्वत्थप्रधान, गुणपरिमहमुक्त, शेष अश्वत्थप्रजापति ही प्रतिमापोडरी है। इस प्रतिमापोडरी के ही उच्य, एव विष्ट ने तीन विकर्त हैं। स्वयम्भूत एवं अश्वत्थप्रजापति हैं। इसके आचार पर प्रतिष्ठित, परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्र-भूषिण्ड इन चार पुण्डरीकमक चार प्रतिमाप्रजापतियों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला पुण्डरीकमक 'परमप्रजापति' नाम से अश्वत्थ, प्रकृतिविकृतिमक अश्वत्थप्रधान सर्वसुतपदमूर्ति, अश्वत्थप्रजापति ही विशेष उपेस्वरपोडरी है, नही एककण्ठोरवर है। इत एककण्ठोरवर के भूषिण्ड नामक अन्तिम पर्व के मन्दिमापुषिनीकप मर्म्मामासकाल में प्रतिष्ठित अश्वत्थप्रजापति-चन्द्र-विष्ट-द्विरवगर्भ-सर्व-कण्ठप्रधान अश्वत्थप्रधान देवकण्ठप्रधान, अश्वत्थ अश्वत्थप्रजापति ही अश्वत्थपोडरी है। इतप्रकार आत्म के अश्वत्थप्रधान अश्वत्थप्रजापतिकम प्रतिमापोडरी के किरेश्वरपोडरी, उपेस्वरपोडरी, ईश्वरपोडरी ने तीन विकर्त हो जाते हैं। अत्यण्ड तीनों की सम्मिश्र अ हम 'प्रतिमापोडरी' स्वयम्भूत में अश्वत्थम कर लये हैं। किरेश्वर-उपेस्वर-ईश्वर-पोडरीकाच-ही प्रतिमापोडरी नामक तृतीय करण है। इत इति से निष्कल पोडरी, प्रतिमापोडरी ने तीन ही करण होय एव जाते हैं, अश्वत्थप्रधान आत्मम में उच्यम हुआ है एवं नही उपेस्वर। इत अश्वत्थप्रधान करणवाओं अ इन्हीं तीन करणवाओं में अश्वत्थम है अश्वत्थम ही अश्वत्थम ही अश्वत्थ कर दिया गया है।

इत करणवाओं-मीमात्र से एक उच्य यह भी निष्कल अश्वत्थ है कि, परमेस्वर, मोरेश्वर, किरेश्वर, उपेस्वर, ईश्वर, पाँचों माव उपाभिमेद से तर्नया विमस्त हैं। यह ठीक है कि, नही परमेस्वर है नही मोरेश्वर है नही किरेश्वर है नही उपेस्वर है नही ईश्वर है परण्ड गुणकण्ठप्रधान 'गुणानां च परार्थत्वात्सम्बन्ध-सम्बन्धात्' स्वाभ से परमेस्वर मोरेश्वर से मोरेश्वर परमेस्वर से मोरेश्वर उपेस्वर से उपेस्वर मोरेश्वर से उपेस्वर किरेश्वर से किरेश्वर उपेस्वर से उपेस्वर ईश्वर से, ईश्वर उपेस्वर से सर्वथा विभिन्न उच्य है। नही मोरेश्वरिण्डु अमेद है नही वास्तविक अश्वत्थमिडा है। नही ज्ञानगमित माण्डीय विज्ञानकण्ड है। अश्वत्थप्रधान अश्वत्थप्रधान पाविहत्त्वमि के विस्तृतमात्र हो जाने से यह तार्किकी अश्वत्थमिडा नव मान में अश्वत्थप्रधान बन चुकी है। 'ईश्वरगमित उपेस्वर, अश्वत्थप्रधानगमित किरेश्वर, किरेश्वरगमित मोरेश्वर, ऐसे ऐसे अश्वत्थ-अश्वत्थ मोरेश्वरगमित परमेस्वर एक है। मोरेश्वर अश्वत्थ है। अत्येक मोरेश्वर के गर्भ में किरेश्वरानुगत एक एक उच्य उपेस्वर है। अत्येक उपेस्वर के गर्भ में विष्ट-द्विरवगर्भ-सर्वमूर्ति एक एक ईश्वर है।' इत अश्वत्थप्रधान किरेश्वर की अश्वत्थ में आभ अश्वत्थ हो गर्भ है अश्वत्थ एकमात्र कारण है—गीतादिज्ञानकम अश्वत्थप्रधान की अश्वत्थमिडा है। सभी माण्डीय अश्वत्थप्रधान आभ अश्वत्थ-अश्वत्थ के पाव बनते हुए अश्वत्थप्रधानकम से अश्वत्थ हो गए हैं। अश्वत्थप्रधान अश्वत्थप्रधान अश्वत्थप्रधान उपेस्वर से ही अश्वत्थम है। अश्वत्थप्रधानकम अश्वत्थप्रधान का ईश्वरप्रधानगमित अश्वत्थप्रधान अश्वत्थप्रधान से ही अश्वत्थम है। अश्वत्थप्रधानकम अश्वत्थप्रधान का ईश्वरप्रधानगमित अश्वत्थप्रधान मोरेश्वर से ही

सम्बन्ध है, एवं सर्वोत्तम-सर्वरूप बुद्धिकारण (बुद्धियोग) का ईश्वरोपेक्षितविराट्स्वरूपमहेश्वरार्मित विशुद्ध अल्प-
 यत्ना से ही सम्बन्ध है। विरहातीत परस्पर चारों भावों से आवीरत रहता हुआ कर्म-प्रकृत-ज्ञान-बुद्धिबोध,
 चारों ओरों से बहिर्भूत है। इन चारों ओरों का मूलाधार अम्यवानुगत बुद्धियोग ही है। अतएव माया-कलादि
 परिग्रहों के कारण महेश्वर-विराट्स्वर-उपेश्वर-ईश्वर-भावों में परिणत होने वाला बुद्धियोगात्मक अम्यव ही
 तत्त्वतः 'योगेश्वर' है। यही योगेश्वर अ वास्तविक स्वस्मविराट्स्वरूप है, जिसे आप मामाह्वयवा महेश्वर,
 गुणह्वयवा विरेश्वर, विकाराह्वयवा उपेश्वर, अज्ञानह्वयवा ईश्वर, सभी नामों से व्यक्त कर सकते हैं। क्योंकि
 योगेश्वर के वास्तविक स्वरूपपरिचय के बिना तदनुगत बुद्धियोगस्वरूपपरिचय असम्भव था। महेश्वरवदि विवर्तमान
 परिचयानामात्र में योगेश्वरपरिचय असम्भव था। अतएव प्रकृत बुद्धियोगपरीक्षा निम्न में सर्वप्रथम योगेश्वर
 के वास्तविक स्वस्म का विरलक्षण करना अनिवार्य माना गया। एवं इत अनिवार्यता की पूर्ति के लिए क्रमशः
 निम्नलिखित-योगेश्वरी-प्रतिमायोगेश्वरी, इन तीन स्वरूपताओं की प्रासंगिक मीमांसा करनी पड़ी।

सर्वसंग्रह—(४४ प्रच्छेदपि प्रकृत्यम्)—

(१)—योगेश्वरतत्त्वविस्तार—

१-येकान्तिको रसा-निर्विशेष }
 २-ब्रह्मविशिष्टो रसा-परस्पर } —निष्कलः-आत्मा (प्रथमं स्वरूपम्) (परमेश्वर)

१-परस्परपुरुषो मायी-परस्पर }
 २-योगेश्वरीपुरुषः सफला-पुरुषः } —मायी,सफला योगेश्वरी (द्वितीयं स्वरूपम्) (महेश्वर)

१-अक्षरः-प्रकृतिः—सगुणः सत्यप्रजापतिविराट्स्वरूपः }
 २-आत्मक्षरः-प्रकृतिविकृति-सविकारो व्यक्तप्रजापतिरुपेश्वरः } —प्रतिमायोगेश्वरी (तृतीयं स्वरूपम्)
 ३-विकारक्षरः-विकृति-साक्षनो विराट्प्रजापतिरेश्वरः }

(२)—

* परमेश्वरं प्रतिष्ठितो योगेश्वरः (अम्यवयः) — बुद्धियोगाधारः
 १-योगेश्वरं प्रतिष्ठितो महेश्वरः (योगेश्वरी) — ज्ञानयोगाधारः

खर्वरलविशिष्ट रत्नम परस्पर ही शारवत माना जासकता है। अतएव इसे ही गीता के शब्दों में 'शास्वतधम्म' कहा जासकता है। यही गीताइत्याद्या शत्रयं विभूति है। विद्युद्धारवरूप निर्दिशेय विद्युत्-निष्कैवल्य ध्यानन्दरूप है। अतएव इसे गीता के शब्दों में विकान्तिक सुख कहा जासकता है। इतमकार गीता ने ऐकान्तिक-सुख, शास्वतधम्म, अक्यय, अमृत, मद्य, इन पाँच शब्दों से क्रमशः वैदिक निर्दिशेय, परस्पर, पोढशी-महेरवर, विरवेरवर, उपेरवर-ईरवर, इन १३ओं विषयों का संग्रह कर लिया है, बेशक परिश्लेस संन्य है-

१ विद्युद्धार रस]	निर्दिशेय]	ऐकान्तिक सुखम् (५)
२ सर्ववत्तविशिष्टो रस]	परस्परः]	शास्वतधम्मः (४)
३ पोढशीमहेरवरः (अक्ययप्रधानः)]	अक्ययः]	अक्यय (३)
४ विरवेरवरः (अमृतप्रधानः)]	अमृतः]	अमृतम् (२)
५ उपेरवर (आत्मसुखप्रधानः)] - सुख]	मद्य (१)
६ ईरवरः (विद्युद्धारप्रधानः)		
श्रीती-दृष्टि		स्मार्थी (गीता) दृष्टि

'अक्ययो' हि प्रतिष्ठाहं, 'अमृतस्या', -व्ययस्य' च ।
शास्वतस्य च धम्मस्य', सुखस्यैकान्तिकस्य' च ॥
गीता १४।२.७

७८-कारणश्रयी से अनुप्रासिता संस्वाश्रयी-

'निष्कैवल्यधारवररूपमीमांसा' नामक पूज परिच्छेद में उच्यते-तन्मद्य के तीन विषयों का दिग्दर्शन करते हुए, एवं-प्रतिमापोढशीकारणशस्वरूपमीमांसा नामक पूज परिच्छेद में अमृत-मद्य-सुख-नाम ही तीन धरकरयत्तसंस्वाश्रयी का निर्माण करते हुए नेमेरवर के अविश्वैवत अक्ययस्य अमृत, 'न तीन विषयों का उल्लेख हुआ है। मित प्रकार निष्कै, पोढशी, प्रतिमापोढशी तीनों का स्वरूपपरिचय नेमेरवर के तात्त्विक स्वरूपपरिचय के लिए आवश्यकतया से अनेकित है, एवमेव नेमेरवरस्वरूप के यथाक् समन्य के लिए उसके अविश्वैवत-अक्यय-अमृत-विषयों का भी विश्लेषण आवश्यक रूप से ही अनेकित है। अतएव कारणश्रयी-मीमांसा के अन्तर्गत हल संस्वाश्रयीमीमांसा ही ओर ही पाठ्यों का ध्यान आकर्षित किया जाय है।

- २-महेश्वरे प्रतिष्ठितो विरवेरवरः (अक्षरः) ————— भक्तियोगाधारः
 ३-विरवस्वर प्रतिष्ठितो उपेरवरेरवरो (आत्मस्वरविद्यारवरो) कर्मयोगाधारः

• • •

(३) —

- असंख्यमहेश्वरगमितः-अक्षरः-निष्कल-परत्परः परमेश्वर-अविद्युय-] समातीतः
 १-सहस्रवत्सोरवरगमितः-मायी-सकल-पोडरी महेश्वरः-दुर्विद्युय-] बुक्तियोगाधारः
 २-सहस्रपुण्डरीरत्वयम्भूमिभट-अभ्यक्तत्वयम्भूरूपः सगुण-सत्य-विश्वेश्वर-श्रेय-] भक्तियोगाधारः
 ३-पञ्चपुण्डरीरवर-पुण्डरीरत्वयम्भूरूपः, सविष्णुः, सद्य उपेश्वर-विद्येय- }
 ४-महादुर्विद्युयं प्रतिष्ठितः देवसत्त्वप्रसा, साञ्जना पिराद् ईश्वरः-मुक्तिवय } कर्मयोगाधारः

• • •

(४) —

- परमेश्वरोऽविद्युय ७६-७७ पृष्ठमध्य परिलक्षणा मीमांसितो ब्रह्म
 १-महेश्वरो बुक्तिवय ८०-८१ पृष्ठमध्य परिलक्षणा मीमांसितो ब्रह्म
 २-विरवेरवरो शकः १००-१०१ पृष्ठमध्य परिलक्षणा मीमांसितो ब्रह्मः
 ३-उपेरवरो विद्युय १०४-१०५ पृष्ठमध्य परिलक्षणा मीमांसितो ब्रह्मः
 ४-ईश्वरः मुक्तिवय-१०६-१०७-पृष्ठमध्य परिलक्षणा मीमांसितो ब्रह्मः

• • •

एक प्रासंगिक गीतादि का अन्वय कर प्रस्तुत परिच्छेद उपरत ही रहा है। 'ब्रह्म' शब्द गीता में अत्यन्त के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अमृतम्' शब्द अक्षर के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अभ्यय' शब्द बन्दरी के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'शारवतधम्म' ऋषिभिर्गुण परत्पर के लिए, एवं 'पिबन्ति' शब्द शकपन निर्विष के लिए प्रयुक्त है। इन आध्यात्मिक शीर्षों विषयों की मूल प्रविष्टि आध्यात्मिक शीर्षों विषयों में ही है। साञ्जना विद्युय ईश्वर विद्युयसम्भूत है अविद्युय उपेरवर आत्मस्वरम्भूत है। एतौ साङ्गम्भूत है। अक्षर ही मीमांसितम्भूत है 'ब्रह्म' है। अक्षर ही गीता के 'ब्रह्म' शब्द में इन दोनों का अर्थ तथा बालकता है। अभ्यक्तत्वयम्भूरूप सगुण विरवेरवर अक्षरम्भूत है। अक्षर ही गीता का अमृत है। अक्षर-एव गीता के 'अमृतम्' शब्द में विरवेरवर का अर्थ किया बालकता है। अक्षरस्वरवर पोटरी अभ्य-याना है। अक्षर ही गीता के 'अभ्यय' शब्द में एतौ बोटरीमहेश्वर का अर्थ किया बालकता है। यहाँ तक साञ्जना ही अभिर्गुण है। अक्षर 'संयोग विप्रयोगान्तरः पठनान्तरः समुच्छ्रयः' शब्द से माय-भेदा का विरक्त अक्षरम्भूत है। अक्षर ही माया के कर्म में प्रतिष्ठित महेश्वर (अभ्यय) विरवेरवर (अमृतम्) उपेरवर-ईश्वर (ब्रह्म), इन चारों (गीतादोष्य एतौ) विषयों का शारवत नदी वत् बालकता। साञ्जना-

सर्वज्ञविशिष्ट स्वरूप परात्पर ही शारदा माना जा सकता है। अतएव इसे ही गीता के शब्दों में 'शारदावधन्म' कहा जा सकता है। यही गीतादृष्ट्या सतुर्य विभूति है। विद्युदस्वरूप निर्विशेष विशुद्ध-निष्कैवल्य ध्यानरूप है। अतएव इसे गीता के शब्दों में 'ऐकान्तिक सुख' कहा जा सकता है। इस प्रकार गीता ने ऐकान्तिक-सुख, शरदावधन्म अभ्यस, अमृत, जज्ञ, इन पाँच शब्दों से क्रमशः वैदिक निर्विशेष, परात्पर, बोद्धरी-मोक्षर, विरक्षर, उपरक्षर-ईश्वर, इन ६ शब्दों के द्वारा का संग्रह कर लिया है, जिसके परिच्छेद से स्पष्ट है-

१ विद्युदो रस]	निर्विशेष]	ऐकान्तिक सुखम् (२)
२ सर्वज्ञविशिष्टो रस]	परात्परः]	शारदावधन्म (५)
३ योगेशीमोक्षरः (अभ्यसप्रधानः)]	अभ्यस]	अभ्यस (३)
४ विरक्षरः (अक्षरप्रधान)]	अक्षर]	अमृतम् (२)
५ उपरक्षर (आत्मक्षरप्रधान)] - क्षर]	जज्ञ (१)
६ ईश्वर (विक्रमक्षरप्रधान)		
श्रीती-दृष्टि		स्मार्ती (गीता) दृष्टि

'ब्रह्मयोगे' हि प्रतिष्ठार्ह, 'अमृतस्या', - 'व्यस्य' च ।
 शाश्वतस्य च धर्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
 गीता १४।१०-११

७८-क्षररूपप्रयी से अनुभाषिता संस्वाप्रयी-

'निष्कलक्षररुपास्वरूपमीमांसा' नामक पूर्व परिच्छेद में उक्तध्यानद्वय के तीन किन्तों का विमूर्शन करते हुए, एवं-प्रतिमापोद्धरीक्षररुपास्वरूपमीमांसा' नामक पूर्व परिच्छेद में अमृत-जज्ञ-शुद्ध-नाम की तीन अस्वरूपब्रह्मसंख्याओं का विमूर्शन करते हुए योगेश्वर के अविद्वेषत अभ्यस्य अभिमृत नन तीन विषयों का उल्लेख हुआ है। किंतु प्रथम निष्कल, योगेश्वरी, प्रतिमापोद्धरी, तीनों का स्वस्वरूपपरिचयन योगेश्वर के तारिकक स्वस्वरूपपरिचयन के लिए आवश्यकक्रम से अपेक्षित है एवमेव योगेश्वरस्वरूप के यथाक् ध्यान्य के लिए उक्तके अनिर्दिष्ट-अभ्यस्य-अभिभूत-किन्तों का भी विशेषतः आवश्यक रूप से ही अपेक्षित है। अतएव अक्षररूपमीमांसा के अनन्तर इस उक्तप्रतीमांसा की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७६-अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूतानुगत दृष्टिकोण का समन्वय—

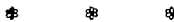
इन तीनों संस्थाओं का पूर्वपरिच्छेदों में बिल दृष्टिकोण से समन्वय हुआ है, पहिले दो शब्दों में उक्त विचारलोचन कर लेना आवश्यक होगा। आत्मलक्षण-ज्ञान-ज्ञानान्तरमधिक्य अधिदानन्दब्रह्म ईश्वरानुगत है, यही 'अधिदैवतम्' है। स्वलक्षण-ज्ञान-ज्ञानान्तरमधिक्य अधिदानन्दब्रह्म बीजानुगत है यही 'अध्यात्मम्' है। परलक्षण-ज्ञान-ज्ञानान्तरमधिक्य अधिदानन्दब्रह्म कायानुगत है, यही 'अधिभूतम्' है। (१५५)। माया-कलादि परिग्रहों के कारण से पूर्वपरिच्छेदों में सर्वकलविशिष्टरत्नमूर्ति, आत्मलक्षण, अमायी, उन्मुख अधिदानन्दलक्षण निष्कल परलक्षण (परमेश्वर) के १ विग्रहों का अमृत-ब्रह्म-शुद्धरूप से विभो-मय हुआ है। मायापरिमह्युक्त मायी परम्परपुरुष कलापरिमह्युक्त कल पोद्धारोपुरुष दोनों आत्मकी (मध्यपति) संस्थाओं की समष्टि ही 'अमृतम्' है। यही आत्मलक्षण-ज्ञान-ज्ञानान्तरमधिक्य अधिदानन्द है। शुद्धपरिमह्युक्त सुखा सत्यप्रजापति विकारपरिमह्युक्त अधिभार यज्ञप्रजापति, दोनों आत्मायी संस्थाओं की समष्टि ही 'ब्रह्म' है। यही स्वलक्षण-ज्ञान-ज्ञानान्तरमधिक्य अधिदानन्दब्रह्म है। अज्ञानपरिमह्युक्त विराट्-प्रजापति, आनन्दपरिमह्युक्त विश्वप्रजापति, दोनों आत्मकी-संस्थाओं की समष्टि ही 'शुद्धम्' है। विद्यावात्मन अमृत अधिदानन्द अक्षयप्रधान कला हुआ सनातन महापोद्धारो है, विद्यावात्मन ब्रह्मलक्षणा-मन्त्र अक्षयप्रधान कला हुआ प्रतिमापोद्धारो है, एवं विद्यावात्मन शुद्ध अधिदानन्द अक्षयप्रधान कला हुआ उपेश्वरपोद्धारो है। पोद्धारो ईश्वरानुगत कला हुआ 'अधिदैवतम्' है प्रतिमापोद्धारो बीजानुगत कला हुआ 'अध्यात्मम्' है। उपेश्वरपोद्धारो किरानुगत कला हुआ 'अधिभूतम्' है। एकमात्र ही दृष्टिकोण के कारण पर इन तीनों अमृत-ब्रह्म शुद्धसंस्थाओं का पूर्वपरिच्छेदों में अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-नाम से स्पष्ट कर दिया गया है, बिना कि परिच्छेद से स्पष्ट है—

- | | |
|---------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------|
| <p>(१) १-मायी परलक्षणपुरुषः
(५) १-कला पोद्धारोपुरुषः</p> | <p>— उपेश्वरपोद्धारो महापोद्धारो (अमृतम्-ईश्वरानुगतमधिदैवतम्-अक्षयप्रधानम्)।</p> |
| <p>(४) १-शुद्धः स्वयंप्रजापतिः
(३) २-अधिभारो यज्ञप्रजापतिः</p> | <p>— विश्वेश्वरः प्रतिमापोद्धारो (ब्रह्म-बीजानुगतमध्यात्मम्-अक्षयप्रधानम्)।</p> |
| <p>(२) १-नाञ्जनो विराट्प्रजापतिः
(१) २-सदाशो विश्वप्रजापतिः</p> | <p>— उपेश्वरपोद्धारो (शुद्ध-कायानुगतमधिभूतम्-अक्षयप्रधानम्)।</p> |

—(११ इत्येवमिदं दृश्यम्)।

प्रकारान्तरेषु—(१११ वृष्टेऽपि द्रष्टव्यम्)—

निष्कलङ्कारम् १	<p>● ऐकान्तिको रसः ● क्साविशिष्टो रसः</p>	परालम्ब-परमेस्वर-आत्मा तदेव—
पौष्टशीलम् २	<p>१-परस्परपुरुषो मयी (माया) २-योऽशीपुरुषः सकला (कला)</p>	महेश्वरप्रजापति-स्यस्यकल्पम्]-आमृतमुच्यते (अभिरक्षम्)
पु षां ध ३	<p>१-आत्मेश्वरप्रजापतिः सविष्णुः (विष्णुः) उपेस्वरः यक्षप्रजापतिः २-निष्कारप्रजापतिः साङ्गः (अम्बनम्) ईश्वरः विरट्प्रजापतिः ३-वैकान्तिकप्रजापतिः सावरणः (आवरणम्) विरयम् विश्वप्रजापतिः</p>	उद्वह (आख्यात्मम्) तदेव शुक्लम् (अभिमृतम्)



८०-त्रिविध जीवविषयस्वरूपदिग्दर्शन—

यह तो हुआ विद्यालोकन । अब प्रकृत दृष्टि से तीनों संस्थाओं का सम्बन्ध कीजिए । विशानम्या में ईश्वरतत्त्व पार्थिवसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले विरट्-द्विरयवर्ग-सर्वतमूर्धि देवकल्यात्मा ब्रह्मकल्पगमित आम्बन विराट्प्रजापति का नाम है । यही प्रकृत दृष्टि है । इसी को आचार बना कर तीनों संस्थाओं का सम्बन्ध करना है । यह ईश्वरतत्त्व ही साक्षी मोक्षदा मेघ से दो मार्गों में विभक्त हो जाता है । ईश्वरतत्त्व का 'साक्षी' रूप 'ईश्वर' कहलाया है एवं मोक्षा रूप 'जीव' कहलाया है । जीवस्वरूपात्मक ईश्वर, किंवा ईश्वरस्वरूपात्मक मोक्षा जीव के भी वे ही तीन पर्व हैं जो तीन पर्व ईश्वरस्वरूपात्मक साक्षी ईश्वर के मार्गें गए हैं । साक्षी ईश्वर का विरट् पर्व मोक्षा-ईश्वर-[जीव]संस्था में 'वरदान' कहलाया है । द्विरयवर्ग पर्व 'तेजस' पर्व सर्वत पर्व 'प्राज्ञ' कहलाया है । विरट्-द्विरयवर्ग-सर्वत-पर्वत्रयस्वरूप पार्थिव-साक्षी ईश्वर से सम्बन्धित वेदान्त-वैकल्य-प्राज्ञ-पर्वत्रयस्वरूप पार्थिव मोक्षा जीव के इन तीनों पर्वों के तात्पर्य से आगे काकर बीजवृद्धि तथा विभक्त हो जाती है । किन्तु जीवों में तीनों पर्व प्रकटित हैं, वे जीव 'ससंज्ञ' कहलाए हैं । किन्तु जीवों में संज्ञ-वैरदान, वे दो पर्व प्रकटित, किन्तु प्राज्ञ पर्व अभिमृत है, वे जीव 'अज्ञ' संज्ञ कहलाए हैं । किन्तु जीवों में केवल वेदान्त पर्व प्रकटित, शेष दोनी पर्व अभिमृत रहते हैं वे जीव 'असंज्ञ' कहलाए हैं । वृष्टे शब्दों में ज्ञानमयान जीव सर्वत है, किन्तुमयान जीव अन्तर्गत है, अर्धमयान जीव अज्ञत है । सर्वतजीव

'जीवजीव' कहलाए हैं। अन्तर्लक्ष्य जीव मूलजीव कहलाए हैं, एवं अंततः जीव पशुजीव कहलाए हैं। जीवजीव 'चेतनसेन्द्रियजीव' हैं मूलजीव अर्थात् 'चेतनस्वयन्देव' से 'एवेन्द्रियजीव' हैं, पशुजीव अर्थात् 'चेतन-अनिन्द्रियजीव' हैं। चेतन सेन्द्रियजीव 'अज्ञमजीव' हैं अर्थात् 'चेतन एवेन्द्रिय मूलजीव, और अचेतन-निन्द्रिय पशुजीव दोनों स्थावरजीव हैं। अतएव तीन जीववर्गों के ब्रह्म, स्थावर, मेरु से दो ही जीव-विवर्त' प्रधान मान लिए जाते हैं। इत्यन्तर ईश्वर (विराट्प्रजापति) से उत्पन्न जीववर्ग के चार-अक्षर मे' से दो ही रूप विवर्त रह जाते हैं। ईश्वर 'ईश्वर' है चार प्रपञ्च 'जीव' है अक्षर प्रपञ्च 'ब्रह्म' है। यही ईश्वर-जीव-ब्रह्मरूप त्रिकल्पप्रपञ्च विधिब्रह्म है, त्रिकला परिलेख से स्वीकार्य हो रहा है।

विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वजन्मूर्ति-पार्ष्णि-महाविराट्प्रजापतिरिवर-साक्षी सुपर्ण-ईश्वर-
वैश्वानर-तत्रम प्राज्ञमूर्ति-पार्ष्णि-सुप्रविराट्प्रजापतिर्जीव-मोक्ष सुपर्ण-जीव

- १ वैश्वानर-तत्रस प्राज्ञरूपय प्रस्तुतिः-ससंज्ञजीवः-चतन]-अज्ञमो मोक्ष-जीव
२ वैश्वानर-प्राज्ञरूपयामिमृतस्तेजमरूपय प्रस्तुति-अस्त-संज्ञजीव-अर्थात् चेतनः } स्थावरते मांकां ब्राह्म
३ प्राज्ञतेजसरूपयामिमृतो वरक्षनरूपय प्रस्तुति-अनसंज्ञजीव-अचेतनः }

८१- 'अधिदेवत' उपाधि का अधिष्ठात्री परमविराट्प्रजापति-

माता-कृपा-पतिप्रहृष्ट पोच्छीपुत्र (महेश्वरप्रजापति) अर्थात्प्रधान माना गया है। उक्त विष्णुवाद के विष्णु-हिरण्यगर्भ-सर्वजन्मूर्ति विष्णु-रूप ईश्वर के साथ इत अर्थात्प्रधान महेश्वर का प्रधान लक्षण है एकमात्र तन्वी आकार पर गीता में ईश्वरत्व का- 'यो लोकप्रथमाधिरथ विभर्त्यभ्यय ईश्वर' पर लक्षण कर दिया गया है। महाविराट्प्रजापति ही अधिदेवत है। महेश्वर पोच्छी का इत से प्रधान लक्षण है। इसी दृष्टिकोण से पूर्वगीतों में ब्रह्म-संज्ञात्मक लक्षण-लक्षण-लक्षण-अर्थात्प्रधान महेश्वर-प्रजापति को 'अधिदेवतम्' कह दिया गया है। अधिदेवतम् में 'ईश्वर' फल पटित है जो वैश्वानर का लक्षण है। उच्च देवत्वप्रथमा केवल विष्णु ही है। अतः लक्षण 'अधिदेवत' उपाधि का यही अधिष्ठात्री माना जाएगा।

८२- 'अध्यात्म' उपाधि का अधिष्ठात्री सुप्रविराट्प्रजापति-

सुप्रविराट्प्रजापति अर्थात्प्रधान माना गया है। विष्णुप्रजापति के अंतर्गत वैश्वानर-संज्ञ-प्रपञ्च-रूप मोक्ष जीव के साथ इत अर्थात्प्रधान लक्षणप्रजापति का प्रधान लक्षण है। एकमात्र इसी आकार पर गीता में श्रीप्रहृष्टि का- 'जीवमूर्ता महाबाहो। यथेहं धाप्नोते जगत्' पर लक्षण कर दिया गया है। सुप्रविराट्-जीव ही 'अध्यात्मम्' है। लक्षणप्रजापति का इसी से प्रधान लक्षण है। अतः इसी दृष्टिकोण से

प्रह्लादस्यारामम्—आत्मप्रधान—स्वप्रजापति (किरबेरर) को 'अध्यात्मम्' कह दिया गया है। तत्त्व 'अध्यात्मम्' शब्द आत्मप्रधान—विराडंशमूत चेतनबीजवर्ग के साथ ही सम्बद्ध है।

८३—'अधिमूत' उपाधि का अधिकारी शिपिविष्टप्रजापति—

विश्वरूपिप्रह्लादम् महप्रजापति (उपेरर) आत्मप्रधान माना गया है। विराडंशर के अंशमूत स्थावरबीज के साथ इस आत्मप्रधान महप्रजापति का ही प्रधान सम्बन्ध है। एकमात्र इती आचार पर गीता में इत ब्रह्मप्रकृति का 'सुरा सुवाणि भूतानि' यह लक्षण किया गया है। स्थविराडरूप ब्रह्म ही 'अधिमूतम्' है। महप्रजापति का इसी से प्रधान सम्बन्ध है। इस दृष्टिकोण से शुकस्वरुपात्मक—आत्मप्रधान महप्रजापति (उपेरर) को पूर्व में 'अधिमूतम्' कह दिया गया है। तत्त्व 'अध्यात्मम्' शब्द आत्मप्रधान—विराडंशमूत—अचेतन बीजवर्ग के साथ ही सम्बद्ध है। इन विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, मोक्षरुप्यपानुमत शास्त्री अंशरी महाविद्युद् ही ईश्वर है, यही अधिवैतम् है। किरबेररानुगत मोक्ष—अंश—ब्रह्म—सुप्रविद्युद् ही बीज है यही अध्यात्मम् है। एवं उपरवयत्प्रधानुगत अंश—स्थावर—शिपिविष्ट ही ब्रह्म है यही 'अधिमूतम्' है। यही विष्णु का प्रकृत दृष्टिकोण है। इसी का क्रमशः विश्लेषण अपेक्षित है।

प्रकृतदृष्टिकोणानुगता सत्याप्रपी—

महेश्वररुप्यपानुगत—विराडंशिरुप्यपगमसकलमूर्तिर्विराडंशरः—परमविद्युद्—“अधिवैतम्”
 किरबेररानुगत—बैरवानरतैजसप्रह्लादमूर्तिर्जज्ञमो जीव—सुप्रविद्युद्—“अध्यात्मम्”
 उपेररानुगत—तैजसप्रह्लादमूर्तिर्बैरवानरतयैश्वावरं जगत्—शिपिविष्ट—“अधिमूतम्”

८४—सावररुपिप्रजापति का स्वरूपसमन्वय—

पाठकों को उनके एक प्रश्न का हम उत्तर देना आवश्यक लगभग है। मायादि परिग्रहों का विश्लेषण करते हुए अम्बन नामक ३ ठे परिग्रह पर ही विभाम मान लिया गया है। माया—कला—परिग्रहयुक्त भैरवर, गुरुपरिग्रहयुक्त स्वप्रजापति, विश्वरूपिप्रह्लाद महप्रजापति, अम्बनपरिग्रहयुक्त विराटप्रजापति, इक्ष्वाकर माया से आरम्भ कर अम्बनपर्यन्त पाँच परिग्रहों का विश्लेषण हुआ है। यदि सावररुपिप्रजापति से त्रैलोक्यत्रिलोक्यरूप सन्तुष्ट बन अपेक्षित है, तो इच्छा तो महप्रजापतिस्वरूप में ही अन्तर्भाव हो रहा है। यैतकि तत्स्वरूपनिरूपण में स्पष्ट कर दिया गया है। निर आबरुपरिग्रहरूप 'विश्वप्रजापति' का स्वरूप क्या है, क्यों इसे एक स्वतन्त्र श्रेया माना गया ?। प्रश्न का उत्तर संकेत द्वारा पूर्व में दिया जा चुका है। पूर्व परिच्छेदों में विभिन्न दृष्टियों से समन्वित होने वाले पद—परिग्रहों में से केवल दो दृष्टियों की अंतर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। परन्तु अम्बन माया है, पुरुषात्मा सत्त्व है आत्मप्रधान सगुण है आत्मप्रधान तनिकार है विश्वरुप्यपानुगत साम्बन है, वैश्वरुप्यपानुगत सावररुप है। ये ही २ को निवर्त क्रमशः भैरवर, योगेशी, स्वयं पक्ष, विद्युद् विद्यम् है, (देखिए पृ ८ २२)। यही एक दृष्टिकोण है। यही सावररुप 'विश्व' को सत्यात्मक कृतज्ञाया गया है। सत्त्व बीजवर्ग का नाम है।

कथतः स्वयंश्च विश्वं से इत्तं सत्त्वात्मकं बीजवर्गं का ही प्रकृतिः स्यादिति ननं जाता है। स्वयंबीजस्य विश्वं उपेक्ष्यशरीरस्य सत्त्वमुदनात्मकं महाविश्वं से प्रकृतं तत्त्वं है। प्रश्नसमाप्ति गठार्थं है। वृत्तं दृष्टिक्रमेण 'अनुप्यं' वा इत्वं सर्वम्' निगम से सम्बन्ध रखता है। मायायुक्तं महेश्वर, तथा कलायुक्तं बोधरी, दोनों की समष्टि 'महेश्वरप्रजापति' है। गुणपरिमिदयुक्तं तत्त्वं तत्त्वं विरेश्वरप्रजापति है। विष्णुपरिमिदयुक्तं कथतः उपेश्वरप्रजापति है। ब्रह्मणपरिमिदयुक्तं विराट् और आनन्दपरिमिदयुक्तं विरव (बीजवर्ग), ईश्वरप्रजापति है। इस दृष्टि से चार विस्वों हो रहे हैं (वेदिए-पृ ७ ६२)। क्योंकि महाविरवात्मक, तत्त्वतः 'विरव' उपेश्वरस्य विश्वं अर्थ का उपेश्वर में अन्तर्भाव हो जाता है तो ईश्वरप्रजापति के गर्भ में प्रतिक्रिया का कारण विश्व के लिए केवल स्वयं (बीजवर्ग) ही शेष बचता है। उसी का 'जावरण विश्वप्रजापति' से प्रकृत करना चाहिए। प्रत्येक बीज का अपना अपना पारम्परिक शरीर अपना अपना विश्व है। इत स्व-स्व विश्व के तत्त्वबीज पति बनते हुए विश्वप्रजापति हैं। अंशरूप होने से ये विश्वप्रजापति (बीज) नाना हैं *। बिल प्रकार हमारे शरीरजालों में अक्षय्य बीजाणु व्याप्त हैं एवमेव विराट्शरीर में बीजाणु स्थानीय अक्षय्य विश्वप्रजापति व्याप्त हैं। उपेश्वरखण्डों के मध्य से ऐसे ऐसे विराट्शरीर एक खड़ा हैं। यही इन संस्थाओं का अक्षय्य बहुराजसम्बन्ध है। विरवा निष्कर्ष है—'सर्वमिदमनन्तम्'। निष्कर्ष बही निष्कर्ष कि, महाविश्वप्रजापति के अंशरूपों से सम्बन्ध रखने वाले अक्षय्य-अक्षय्य-अक्षय्य (बीजरूप) हुए विराट् ही जावरण विश्वप्रजापति हैं। इसी के अर्थ अक्षय्य-अक्षय्य-अक्षय्य संस्थाओं का सम्बन्ध हो रहा है।

८५-अनन्तं साधी, एव अनन्तं मोक्षा—

युन एक प्रश्न उपस्थित हुआ। विराट्प्रजापतिखण्ड ईश्वर तत्त्व को पूर्व में अक्षय्य कथा गया है। अब यहाँ अक्षय्य का भी जावरण विश्व—(बीज)—शरीर से ही सम्बन्ध कलाया का रहा है। इसी विरवा मायी का सम्बन्ध कैठे सम्बन्ध है। उच्च विराट्-ईश्वर के ही ही विस्वों से सम्बन्ध रखता है। अक्षय्य से अक्षय्य कर मूषिमा के ४८ हैं अक्षय्यसम्बन्ध व्याप्त लोकप्रकृत्य पापिण वैश्वोत्पन्न में एकस्य से—अक्षय्यस्य से—व्याप्त विराट् शिरस्यगर्भ-सर्वतन्त्रि महाविश्व 'सोक्तप्रदायमा' है। यही विराट्शरीर का मुख्य-तथा प्राथमिक विस्व है। यही सर्वसाधी विराट्प्रकृति है। प्रत्येक बीज के अर्थ निष्कृत्य से इत विराट् का सम्बन्ध होता है। बीजप्रकृति अक्षय्यस्य विरवा मायी से सीमित, बीजलोकप्रकृति (बीजशरीरप्रकृति) से सीमित, किन्तु निष्कृत्य सम्बन्ध के अक्षय्य सर्वथा अक्षय्यस्य से प्रतिक्रिया अक्षय्य-अक्षय्यस्य अक्षय्यस्य विराट् 'सर्वमूलात्तरत्मा' है। प्रत्येक बीजस्य का विराट्शरीर उक्त बीजस्य का ही साधी है अक्षय्य इसे सर्वसाधी न कर कर 'बीजसाधी' कहा जायगा। अन्व बीजस्य पर उक्त सर्वमूलात्तरत्मा रूप बीजसाधी विराट् स्वमहिमास्य लोकप्रकृत्य महाविश्व में किलीन ही जायगा किन्तु अक्षय्यस्य बीजशरीरों में उनका साधीविश्व उन्हीं में प्रतिक्रिया रहेगा। यही प्रत्येक बीजस्य का प्राथमिक साधी विराट्शरीर कहायगा। महाविश्व यही वैश्वोत्पन्न के क्षेत्र में प्रतिक्रिया रखता है यहाँ वह बीजस्यविश्व बीजशरीर के क्षेत्र में

*—“अथो नानाम्यपद्रशात्, अन्यथा आपि-दाशकित्वादिस्वमधीयत एक”

—व्याससूत्र २।१।७।३।

रहता है। बीजशरीर में ही ईश्वर, बीज, नाम के दो कन्नापी मानें गए हैं। हृदयस्य सर्वमूलान्तवत्त्वा साक्षी कन्नापी है, यही ईश्वर है। तदनुगत मूलवत्त्वा (बीजवत्त्वा) मोक्षा कन्नापी है यही बीज है। दोनों सुषुम्न एक ही हृदयन्दु में सुषुम्न से प्रतिष्ठित हैं। 'द्वा सुषुम्नां संयुजा सञ्जाया' इत्यादि मन्त्रवर्चनानुसार उसी मौक्तिक शरीर में प्रतिष्ठित एक (साक्षी हृदयस्य ईश्वरविराट्) अनन्तरन्म् अमिष्वाकशीति। मोगमर्त्यादा से अर्चस्य रूपा हुआ मोग मोगने वाले मोक्षा सुषुम्न (बीज) की चोक्ली कर रहा है। वृष्य (मोक्षा हृदयस्य बीजविराट्) 'विष्णोः स्वाहृति' मोगी में लिप्य रहता है। गीता के शब्दों पर लक्ष्य दीक्षिय—

“सर्वतः पाश्चिपाद् तद् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः भुक्तिमन्लोके सर्वमाहृत्य तिष्ठति” ॥

—गीता १३।१३।

८६—ईश्वरमावानुगत गीतावचनसमन्वय—

'सर्वमाहृत्य तिष्ठति' लक्षण महाविपकीश्वर ही कर्तुं लहृताकाराप्रिय बनाया हुआ केन्द्रानुसृत शक्तियों का परिधिपर्यन्त समानरूप से प्रसार करने में समर्थ बनाया हुआ सर्वतःपाश्चिपादादि लक्षण बन सकता है। 'लोकत्रयमाविरय विमर्शम्यव ईश्वरः' ही 'सर्वमाहृत्य तिष्ठति'। यही समष्टिरूप लोकत्रयवत्त्वा विराट् है। उक्तलक्षण लोकत्रयवत्त्वा विराट् के अर्चस्य विराट् का ही नाम बीजानुगत विराट् है। यही विमृष्टिरूप से हृदयस्य बीजवत्त्वा विराट् है यही चित्तरूप से हृदयस्य बीजविराट् है। दोनों अमिष्वाक से एक ही शरीरसंगमा में प्रतिष्ठित हैं। विमृष्टिसम्बन्धावच्छिन्न हृदयस्य बीजवत्त्वा ईश्वरविराट् सर्वेन्द्रियविवर्धित है, अक्षत है, निरुप है। चित्तरूपवत्त्वावच्छिन्न हृदयस्य बीजविराट्—सर्वेन्द्रियगुणामय है, सर्वसूत है, गुणमोक्षा है। पूर्वलोके से भयवान् ने समष्टिलक्षण लोकत्रयवत्त्वा महाविराट् का विगूरार्चन करवाया, एवं निम्न लिखित उगारकोके से अक्षिलक्षण हृदयवत्त्वा ईश्वरविराट् के साक्षी, मोक्षा दोनों विषयों का सर्वेन्द्रियगूरार्चन करवा—

- सर्वेन्द्रियगुणामयं (बीजविराट्) — मोक्षा हृदयस्यः
- सर्वेन्द्रियविवर्धितम् (ईश्वरविराट्) — साक्षी हृदयस्यः
- असक्तं — (ईश्वरविराट्)
- सर्वसूतमेव — (बीजविराट्)
- निरुपं — (ईश्वरविराट्)
- गुणमोक्तं च — (बीजविराट्) — गीता० १३।१४।

कित प्रकार बीजविराट् स्वस्थानसम्बन्धित सर्वमूलान्तवत्त्वा लक्षण अपने बीजवत्त्वा विराट् से अमिष्वाक है, एवमेव यह बीजवत्त्वाकृत अक्षिलक्षण नर समष्टिक्रम लोकत्रयवत्त्वा लक्षण महाविराट् से अमिष्वाक है। यही ही विमृष्टिसम्बन्ध से बीजवत्त्वा बना है। लोकत्रयवत्त्वा सर्वमूलान्तवत्त्वा, दोनों की इत अमिष्वाक का लक्षण ही दोनों के प्राथमिक विभिन्नवर्चन—मात्री का स्पष्टीकरण करते हुए भागी अक्षर मगवान् करने हैं—बह अपने

स्मृष्टिरूप से स्वतः ब्रह्मिष्ठ है। अपने व्यष्टिरूप से सर्वो अन्तःप्रतिष्ठ है। स्मृष्टिरूप से वह अक्षर है। स्मृष्टिरूप से वह अक्षर है। स्मृष्टिरूप से वह सुखमा बनता हुआ अक्षिण्य है। स्मृष्टिरूप से वह विवेक है, समीपत्व (बीज के समीप) है। सम्पूर्ण मूर्तों में वह अपने स्मृष्टिरूप से अविमक्त है, स्मृष्टिरूप से तब व्यष्टियो (बीजों) में विमक्त या बन कर प्रतिष्ठित है। व्यष्टिरूप से वह बीजरूप मृत का (मृत्युमा का) नर्ता बनता हुआ मृतमर्त्य है। बीज के शिष्ट क्षेत्र व बीज का प्रतिप्रवरकाल में प्राप्त करता हुआ प्रतिष्ठ है, मक्षरकाल में बीजमय बनता हुआ प्रमत्तियु है।

ब्रि (महाविराट्), अन्तरश्च भूतानां—(जीवसाक्षीविराट्) ।

अक्षर (महाविराट्), अक्षरमेव च (,,)

सुखसुखमश्वात्तद्विशेषं दूरस्य (महाविराट्)

शान्तिके च तत् (जीवसाक्षीविराट्)—गीता० १३।१५।

अविमक्त च भूतयु (महाविराट्)

विमक्तमिव च स्थितम् (जीवसाक्षीविराट्)

भूतमर्त्यं च, तद् क्षेत्रं, प्रसिष्यु, प्रमत्तियुच (जीवसाक्षीविराट्)

—गीता १३।१५।

उक्त गीतास्थि के अनुसार विष्टप्रकाश के व्यापक जीवानुगत विभूतिरूप, जीवस्तक चित्तरूप में से तीन विषय हो जाते हैं। व्यष्टिरूपण बीजरूपक विष्ट भी हान्योक्तिर्मय है। व्यष्टिरूपण विभूतिरूप जीवानुगत जीवसाक्षीविराट् भी हान्योक्तिर्मय है। इन काल हान्योक्तिर्मय का मूलभार महान्विराट् है। अक्षरकाल उक्त व्यापक विष्ट को अक्षरकाल ही—'तमसा परे—शक्तिं स्योति' कर लाने है। इसका अपना व्यापक स्वरूप (महाविराट्) को 'ज्ञानगम्य' (बुद्धियोगगम्य) है इसका व्यष्टिरूप जीवसाक्षी स्वरूप 'क्षेत्र' है एवं इसका व्यष्टिरूप बीजस्वरूप 'ज्ञान' (जानने का स्थान ज्ञान) है। ज्ञानरूप ज्ञान क्षेत्रविराट् है क्षेत्रकाल बीजसाक्षी विष्ट है, ज्ञानगम्य काल महाविराट् है। इसका अक्षर, विष्टि, चित्, भाषी से मही शक्तिं उपैति: कस्या— ज्ञानगम्य—होय—ज्ञान (ज्ञान) रूपों में परिवर्त होकर हुआ व्यापक महाविराट् जीवानुगत विष्टिविराट् बीजस्वरूपक विष्टिविराट्—रूप से तीन भाषी का प्रवर्तक बन विभूतिरूप से एक प्राणियों के हृदय में प्रतिष्ठित हो रहा है। इसी कर्तव्य का स्वीकरण करते हुए मगनात् से अन्त में कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसा परमुष्पत ।

(१) ज्ञान—जीवविराट्

(०) क्षेत्र—जीवसाक्षीविराट्

(३) ज्ञानगम्य—महाविराट्

} ब्रि सप्तय विज्ञान (विभूतिस्वरूपण)
—गीता १३।१५।

हाविराद्-ईश्वरः-उत्तमं पुण्यस्त्वन्यं परमात्मत्युदाहृत ।

यो लोकप्रयमाविरय विमर्त्यभ्यय ईश्वर ॥

ॐ ॐ ॐ

जीवसाक्षी-ईश्वरः-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्भोगेऽर्जुन ! तिष्ठति ।

आमपन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

• • •

८७-जीवविराट्-मावाप्तुगता स्मार्त्वी दष्टि—

दो शब्दों में ध्मात्वीदष्टि से भी विप्लवमन्त्र कर लीजिए । जीवविराट में दो उन्नायी हैं, यह कहा गया है । इदमिच्छ जीवसत्त्वा का मूलाधार जीवताकी सर्वभूतान्वयत्वा नामक ईश्वरविराट् 'परमात्मा' है । यह मन्त्र-मोक्ष-मात्री से अरुण्य है । स्वयं जीवतामा 'भूतात्मा' नामक जीवविराट् है, यही जीवात्मा है, यही कर्मात्मा है, किते अक्षरविराटि से, मन्त्र-मोक्ष मात्री से युक्त माना गया है, किन्तु मात्री का 'अध्यात्मकर्त्ता' नामक अयत्ने परित्येदों में विस्तार से स्पष्टीकरण होने जाता है । इत दष्टि से भी केवल जीवसत्त्वा में ही ईश्वरविराट् (परमात्मा), जीवविराट् (कर्मात्मा) दो अध्यात्मों की कृता सिद्ध हो जाती है, वैद्यकि निम्न लिखित बचनों से स्पष्ट है—

जीवानुगत-ईश्वरविराट्-यत्र य परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः सृष्ट ॥

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवात्मता ॥१॥

ॐ ॐ ॐ

जीवात्मको जीवविराट्-कर्मात्माभपरो योज्यो मोक्षनचै स युज्यते ॥

स सत्तद्दृशकनापि राशिना युज्यते पुनः ॥२॥

—महामारथ ।

• • •

कोटिपि विस्तारकम को । यह सिद्ध हो गया कि, अज्ञान महाविराट् से अतिरिक्त विराट् ही के बलमायागत जीवविराट्, जीव विराट् ने दो विभक्त और हो जाते हैं । जीवविराट् पूर्वकथनामुक्त ब्रह्म-रक्षात्र मेरु से दो मात्री में विभक्त है । एसावर जीवविराट् बाह्य है, ब्रह्म-जीवविराट् जीव है । अमरवर्षी अक्षिस्म हृदयस्म विराट् ईश्वर है । और ईश्वर-जीव-बगवत्तत्त्वा यह त्रयी उक्त महाविराट्-अज्ञानप्रवृत्ति के गर्भ में भुक्त है । अज्ञानविराट्प्रवृत्ति के आचार पर प्रतिष्ठित ईश्वरविराट्-जीवविराट्-अमविराट्, तीनों अवस्था है । यद्यपि ईश्वरविराट् (हृदयस्म अक्षी विराट्) उक्त महाविराट् से अतिम कृता हुआ स्वस्वरूप से निराचरण है । तथापि जीवविराट्-अक्षयस्म अक्षिमा योगमात्रा-सहस्र जीवावरण के छात्री कनन से अचरणा जीवसत्त्वा में प्रतिष्ठित रहने से इसका भी अवस्था-जीवविराट् में ही अन्तमात्र मान लिखा गया है नित अध्यात्मकर्त्ताप्रतिष्ठित अक्षिदेवतस्म ईश्वरविराट् की इत योगमायागत अवस्था का गीता के श्राव-‘नाहं प्रकृता सर्वस्य योगमायासमाप्तुव’ इन शब्दों में समर्पन हुआ है ।

८८-आरक्षणप्रयी से अनुप्राणिता कार्यप्रयी-

आवरणप्रयापति विरक्षणप्रयापति है मही कल्याणक भीषणप्रयापति है। माया-कृता-गुण-विघ्न-अज्ञान, इन पाँच परिणहों का आरक्षणप्रयी से सम्बन्ध है। आवरण परिणह का कार्यप्रयी से सम्बन्ध है। निष्कण योग्यी-महिमायोग्यही, ये तीन कारण हैं किन्तु क्रमशः पूर्ण परिच्छेदों में विच्छेपट हुआ है। श्रीना मुक्त आवरण ईश्वरविघ्न, अज्ञानहीनत्वक सावक भीषणियात्, त्यागहीनत्वक आवरण अज्ञानियात्, ये तीन कार्य हैं। तीनों में से प्रत्येक कार्य के तीनों कारण बने हुए हैं। ईश्वरविघ्नक कार्य 'अविरोधक' है भीषणियात्क कार्य अज्ञानक है। अज्ञानियात्क कार्य अविभूतक है। पञ्चपरिणहितिहा आरक्षणप्रयी से विघ्नक कार्य की उत्पत्ति हुए हैं, अज्ञान का उत्तर पञ्च आवरणपरिणहितिहा की कार्यप्रयी है किन्तु स्वल्प विच्छेपक है। यहाँ आकर ६ वीं परिणहों का तीनों कारणों का, तीनों कार्यों का निर्धारण सम्भव हो जाता है, जैसा कि परिणह में स्पष्ट है।

योगेश्वरस्य कारण-कार्यसम्बन्धप्रदर्शनम् - (१११ श्लो ५पि श्रुष्टव्यम्)

१	१-द्वेषान्तिहो रत-निर्विरोध	}	निष्कणः (प्रथम कारणम् १)	} सेवा-आरक्षणप्रयी (कार्यम्)
	२-बलविशिष्टो रत-परत्पट			
२	१-अज्ञानगुणयो मायी-परत्पट	}	(दोसरी द्वितीय कारणम् २)	
	२-योग्यीगुणयोः कर्तव्य-गुणयोः			
३	१-आज्ञान-महतीः (अज्ञान कल्याणप्रयापतिविरक्षणक)	}	प्रतिमायोग्यी (तृतीय कारणम् ३)	
	२-आत्मघट-महतीः (अविघ्नो कल्याणप्रयापतिविरक्षणक)			
	३-विघ्नघट-महतीः (आज्ञान महाविरक्षणप्रयापतिविरक्षणक)			

प्रथमकारणस्य अज्ञानकृत - द्वितीयकारणस्य कर्णयोग्यही - तृतीयकारणस्य - आरक्षणप्रयापतिरूप-विरक्षणक, -आत्मघटमहतीविकृतिरूपोपरक, -निर्मित-विरक्षणकरूपेपरकरूपस्तृतीयकारणस्य अज्ञानक-कारणप्रथममूर्तिः आज्ञान महाविरक्षणप्रयापति कारणं आवरणस्य अज्ञानस्य विरक्षण-

साविरथो विश्व
प्रजापति
(जीवसर्ग)

१-जीवानुगत साधीविराट् (साधी)-ईश्वर (अधिदैवतम्) प्रथमं क्षेत्र्यम्
२-जीवत्सको जीवविराट् (जङ्गमजीव)-जीव (अधिभूतम्) द्वितीयं क्षेत्र्यम्
३-अगत्सको अगद्विराट् (स्थावरजीव)-अगत् (अधिभूतम्) तृतीयं क्षेत्र्यम्

सैषा-क्षेत्र्यत्रयी
'विश्वम्'

• • •

८६-उत्सवविराट्स्वरूपसप्तमर्षक भ्रात-स्मार्ग-वचन-
इमान्यत्र संग्रहवचनानि विमर्शनीयानि—
लोकत्रयात्मा महाविराट्-भ्रंशी-

स वृषकालाकृतिमि परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्च परिवर्षितेऽयम् ॥
बर्माविर्ह पापनुदं मवेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥१॥
तमीश्वरान्मां * परम महेश्वर तं देवतानां परम च दैवतम् ॥
पतिं पतीनां परमं परस्तात्-विद्वाम देवं भूषनेशमीडयम् ॥२॥
—श्वे० ए० ६।६,७,।

• • •

* पुराणसमन्वय—

-मोक्षो, मुक्त, इति ध्यास्या गुणतो मे, न वस्तुत ॥
गुणस्य मायामूलभाष मे मोक्षो, न बन्धनम् ॥१॥
शोकमोक्षौ मुखं दु खं, देहापत्तिश्च मायया ॥
स्वप्नो यथाऽऽत्मन स्याति संसृक्तिर्न तु वास्तवी ॥२॥
विद्या-विद्ये मम तन् विद्वद्ब्रह्म ! शरीरिखाम् ॥
मोक्षबन्धकरी भाष्ये मायया मे त्रिनिर्मिते ॥३॥
एकस्यैव मर्माशस्य जीवस्यैव महामते ! ॥
बन्धोऽस्याऽविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतर ॥४॥
अय ब्रह्मस्य मुक्तस्य ब्रह्मस्य क्वामि त ॥
विरुद्धवर्त्मियोस्तात् ! स्थितयोरकधम्मिण ॥५॥

[शेष एव १२४ पर देखिए]

सर्वभूतान्तरात्माविराट्-अशः-

एको देवः सच्चभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥
 क्स्मात्प्रथमं सर्वभूताधिवासः साधी वेताः केवलौ निर्गुणम् ॥१॥
 एको बरी निष्क्रियायां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ॥
 तमस्मत्सर्वं वेज्जुपस्यन्ति वीरास्तेषां मुखं शास्त्रं, नेतरेषाम् ॥२॥
 नित्यो नित्यानां, चैतन्येकानानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥
 तत्कुर्यात् सांख्ययोगाधिगम्यं श्रुत्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥३॥
 रवे ७५ ६११ १२, १३, १४

• • •

उभयो ममन्विन रूपम्-

द्वा सुपर्णा मयुजा सखाया ममानं वृक्षं परिवस्रजाते ॥
 तपोरन्याः पिप्पलं स्वाहृत्यनरनभन्यो भूमिं चाच्छ्रीति ॥१॥
 यथा सुखां भ्रमृतस्य मागमनिसेपं विद्यामित्स्वरन्ति ॥
 इतो विश्वस्य सुवनस्य गोपाः स मा चीरः पाकमथा विवेश ॥२॥
 यस्मिन् वृक्षे मन्वदः सुपक्षा निषिगन्ते सुक्ते चादि विरभे ॥
 तस्मैदाहुः पिप्पलं स्वाहृते तन्नोभशयः पितरं न वेद ॥३॥
 अक्ष सं० ११६४१२०, २१, २२

• • •

परमविराट्-आप्पात्मिक-ईशपरविराट्-जीवविराट्-अपासात्मेयां संग्रह-

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्त, विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे ॥
 वरं त्वविद्या, ब्रह्मं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्य ॥
 रवे ७७०२११

• • •

[१२१ वृक्ष श्री पिप्पली अ रोचत]

सुपक्षाकरो मधुशौ सखायो यदम्बरीती कृतनीदी व वृक्षे ।
 ष्वन्तयो खादति पिप्पलाभमन्यो निरसोऽपि पक्षेन भूयान् ॥६॥
 आत्मानमन्यं च स ब्रह्म विद्वानपिप्पलादो न तु सिप्यलादः ॥
 योऽविद्यया युक्तः स तु नित्यबद्धो, विद्यामयो याः स हि नित्यमुक्तः ॥७॥

—श्रीमद्भागवते ११।१०।

६०-जीवानुगता ईश्वर-जीव जगत्-त्रयी—

अमानी निष्कल परात्पर, माया-कला-परिग्रहयुक्त मोक्षरत्नप्रदायि, गुणपरिग्रहयुक्त निरवेश्वरप्रदायि, विश्वरूपिप्रहसुख उपेश्वरप्रदायि, इन चारों विवर्तों को 'उत्पत्त्या तदेवानुप्राप्सित्' न्याय से स्वर्ग में प्रतिष्ठित करने वाला, अज्ञानपरिग्रहयुक्त महाविद्यप्रदायि देवकृतात्मा पारिवेश्वर से आबरुपरिग्रहयुक्त नागरणबीज-सृष्टि का विकास हुआ। 'एकस्यैव ममाशात्म्यं' इत्यादि पूर्वोक्त पुराणवचनानुसार महाविद्युत् के अंगभूत हृदयचिह्न आम्नात्मिकेश्वर विद्येश्वर के विद्यात्मक अविद्यात्मक, दो विधा हो गए। विद्यात्मक रूप ईश्वर कहाया, विषे आम्नात्मिकी योगमाया के अक्षय से हम 'बीज' ही करेंगे। अविद्यात्मक रूप बीज कहाया। इसी आधार पर—'जीवस्यैव महात्मते' कहना अन्वर्थ बना। अविद्यात्मक जीव के भागे बाहर बाह्य-स्वावर, को विवर्त हो गए। इस प्रकार अंगरत्मक जीव के ही (सारूप्य निरव के ही) ईश्वर, बीज, जगत्, ' विद्यात्मक बीज, अविद्यात्मक बाह्यमबीज, अविद्यामय स्वावरबीज), ये तीन विवर्त हो गए। तीनों का समुचितरूप ही अबरुपरिग्रहप्रदायि कहाया। ये ही तीनों अबरुपरिग्रह रूपः अपिदेवत-आम्नात्म-अविमय कहलाए। तीनों में से अमप्राप्त पहिले अबरु अंगरत्मक विद्येश्वर से सम्बन्ध रखने वाली अपिदेवततर्था श्री ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाया है।

६१-जीवविराट्पुरुषानुगता 'आत्मप्राप्त' स्वरूपमीमांसा—

अपिदेवतकलत्रण आम्नात्मिक विद्येश्वर के 'आत्मा, मूढम्' ये दो प्रथम विवर्त माने गए हैं। आत्मा 'अहमप्राप्त' कहाला है क्योंकि अनेक आत्मामों के समन्वय से एक आम्नात्मिक ईश्वरकृता का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। मूढ 'मूढ्याम' है, क्योंकि अनेक मूर्तों के समन्वय से एक आम्नात्मिक ईश्वररत का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। पहिले कमप्राप्त ईश्वरीय (अपिदेवत) आत्मप्राप्त की ही मीमांसा कीजिए। यह उन कुछ उपेश्वर, और अशरीरम महाविद्युत् के विवेकज्ञ हाथ गुनी धमन्नी हुई है। उतकीका यहाँ समन्वयमान कर लेना है। आम्नात्मिक ईश्वर महाविद्युत् का अंग है। महाविद्युत् उपेश्वर का अंग है, उपेश्वर निरवेश्वर का अंग है। निरवेश्वर मोक्षर का अंग है। और 'उत्पत्त्या' न्याय से पूर्व पूर्ववत् अंगों के लक्ष-धर्मों का उतर-उपलक्ष अंगों में समन्वय है। तभी तो अबरुपरिग्रह महाविद्युत् को अबरुप्रदायि कहलाया गया है। अतएव आम्नात्मिक रूप ईश्वर में ही उन लक्षधर्मों का समन्वय प्रकृतिविज्ञ बन जाया है। इसी लक्षधर्मदृष्टि को लक्ष्य बना कर 'अहमप्राप्त' का समन्वय कीजिए।

यह आत्मप्राप्त गूडोत्सा, अबरुपरिग्रहना वैश्वरिभ्रमा, मेर के तीन नामों में विभक्त है। इन अंगरत्मिक ईश्वरविद्युत्कृता में महाविद्युत् के हाथ मुक्त परात्पर-अम्ब-अक्षर-आत्मेश्वर-कर्मोदरकल मोक्षरत्नमा ही गूडोत्सा है। यह अपिदेवत-अम्ब-अविमय-तीनों में समान है। इस संस्था में मूढ-अप्यक अम्ब-स्वम्बुस्व अक्षरप्रधान निरवेश्वरकृता इत्यत्र अम्बकृता है यह भी तीनों में समान है। तीव्र वैश्वरिभ्रमर्त्त तीनों में अम्बान है। पञ्चमेश्वरभूत महाविद्युत् में मत्त स्वाग्म्बु-पारमेष्ठ-श्वर-बान्ध-श्रीम पाँचों के अंग इस संस्था में अमराः विश्वमा, हिरण्यमार्त्तमा, सर्वेश्वरमा, महात्ममा, विराजामा इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। पाँचों विश्वरत्ना हैं। पाँचों में से पाँचों विराजाम्य विश्वरत्ना, परात्परमा, विराजामा, हिरण्यमार्त्तमा, सर्वेश्वरमा, इन पाँच भागों में विभक्त है।

चित्तात्मसङ्घट्ट विराडात्मा महाविराट् के मूर्त्त्यङ्गतुल्य अंशों का अंश है । अणुसङ्घट्ट विराडात्मा महाविराट् के मूर्त्त्यङ्गतुल्य अंशों का अंश है । विराडात्मसङ्घट्ट विराडात्मा महाविराट् के विद्वत्-सोमाग्निश्चिह्न आग्निप्रगर्भित अग्निप्रधान त्रिमूर्ति विराडग्नि का अंश है । शिरयःगर्भसङ्घट्ट विराडात्मा महाविराट् के पञ्चबरासोमाग्निश्चिह्न अग्निप्रगर्भित वायुप्रधान त्रिमूर्ति वायुविराट् का अंश है । ऊर्ध्वसङ्घट्ट विराडात्मा महाविराट् के एकविंशसोमाग्निश्चिह्न अग्निवायुगर्भित इन्द्रप्रधान त्रिमूर्ति इन्द्रविराट् का अंश है । इन्द्रप्रकार मृदियङ्ग, मूषासु, विद्वत् पञ्चबरा, एकविंश-सोमाग्निश्चिह्न अग्नि-वायु-इन्द्र, महाविराट् के इन बीसों अंशों के अंश ही इत आग्नेयसिद्ध अद्वैत ईश्वरविराट् के चित्तात्मादि पंच विराडात्मा कहलाये हैं । पार्थी में चित्तात्मा अणुसङ्घट्ट, दोनों का एक विभाग है, यही इत ईश्वर का अणुसङ्घट्ट (शरीर) है । विराट्-शिरयःगर्भ-ऊर्ध्व टीनों का एक विभाग है यही इत ईश्वर का अन्तरात्मा (आत्मा) है । यही 'ऊर्ध्वसङ्घट्टात्मा देवसत्यात्मा' है । महाविराट् के पञ्चबरा सोमाग्निश्चिह्न पञ्चप्रकृत का अणुसङ्घट्ट महानात्मा ही इतका 'मन' है । महाविराट् के एकविंशसोम से अणुसङ्घट्ट और तत्त्व का अणुसङ्घट्ट ऊर्ध्वसङ्घट्ट ही इतकी 'बुद्धि' है । महाविराट् का अद्वैतसोमाङ्गत पारमेष्ठ्य ललायामूढ शिरयःगर्भसङ्घट्ट ही इतका 'महानात्मा' है । महाविराट् का अणु-अणुसङ्घट्टसोमाङ्गत पुण्डरीकस्वाम्युब ललायामूढ विराडात्मा ही इतका राजसङ्घट्ट है । इतका महाविराट् के प्रथम भागी से इतका इत ललायामूढ अद्वैत विराट् के वैकारिकात्मा ६ अणुओं में विभक्त हो रहे हैं । ६ में चार विराटात्मा हैं पंच वैकारिकात्मा हैं । दोनों अग्नि हैं । अणुः ६ की ललायामूढ विराडात्मा, वैकारिकात्मा, दोनों नामों से स्पष्ट विराट् का अणु है । इतकी विराट्-शिरयःगर्भ-ऊर्ध्व-अणुसङ्घट्ट स्वयम्भु का अणुसङ्घट्ट तत्त्व अणुसङ्घट्टात्मा है । यही इतका माहृत्सङ्घट्ट है । स्यात्पूर्वा मरेचर्यसङ्घट्ट गूढात्मा है यही इतका पुण्डरीकात्मा है । तन्मूढ ईश्वरीय आत्मप्राप्त में एकादश आत्मविक्रमों का सम्पन्न हो रहा है ।

अविद्वेषतानुगत - आत्मग्राम —

(१) महाभिराडुनुगत पोषरी महेश्वर	— तद्वरा —	ईश्वराव्ययो गुह्यत्मा
(२) महाभिराडुनुगतः अक्षरो विरवरवर	— तद्वराः —	अव्ययतात्मा
(३) महावि० ४८ स्तोमानुगत - स्वायम्भुवत्त्वम्	— तद्वरा —	विद्वत्त्मा
(४) " ३३ " — पारमेष्ठ्यत्त्वम्	— तद्वरा —	हिरण्यगर्भात्मा
(५) " २१ " — सौरवत्त्वम्	— तद्वरा —	सर्वज्ञत्मा
(६) " १५ " — चान्द्रवत्त्वम्	— तद्वरा —	महानात्मा
(७) " २१ " — व्यापक-सर्वज्ञवत्त्वम्	— तद्वराः —	सर्वज्ञत्मा
(८) " १५ " — " हिरण्यगर्भवत्त्वम्	— तद्वरा —	हिरण्यगर्भात्मा
(९) " ६ " — " विराटवत्त्वम्	— तद्वरा —	विराटत्मा
(१०) " — " — भूवायुः	— तद्वरा —	वराहत्मा
(११) " — " — भूपिण्ड	— तद्वराः —	पितृत्मा

उपर्युक्त-
आत्मग्राम

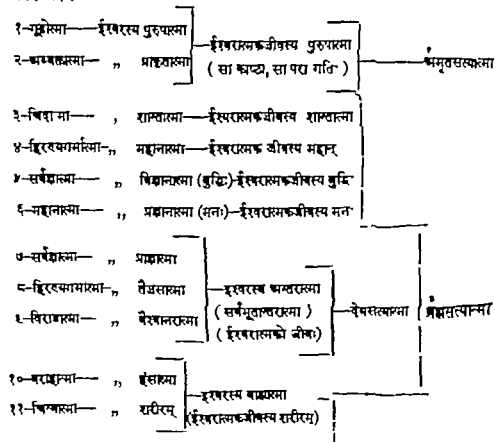
इति तु-अमुत्र- (महाभिराटु-पार्थिववत्त्व-विद्वत्त्मा)

विद्वत्त्मा-सर्वेश्वर —

इति तु-उपनिह-साक्षीविराट

अव्ययतामेव-अविद्वरा (अवि-
द्वेषत्वम्) प्रत्यगात्मा-ईश्वरः

प्रकारान्तरेण—



[१-गूढोत्समा—पुरुषात्मा (१)

[२-आभ्यन्तरिकात्मा—प्राकृत्यात्मा (२)

३-वैकारिकात्मा—

विद्ययात्मा— १-विद्यात्मा २-हिरण्यगर्भात्मा ३-सर्वज्ञात्मा, ४-महानात्मा,
५-विद्यात्मा ।

वैकारिकात्मा— १-सर्वज्ञात्मा, २-हिरण्यगर्भात्मा, ३-विद्यात्मा, ४-वराह्यात्मा,
५-चित्कात्मा, ।

पञ्चराशिः—
१-गूढोत्समा—
२-आभ्यन्तरिकात्मा—
३-वैकारिकात्मा—
४-विद्यात्मा—
५-वराह्यात्मा—
६-चित्कात्मा—

सर्वज्ञादि पञ्चविध वैकारिकात्माओं का विराडात्मा नामक पञ्चम विकारात्मा में अन्तर्भाव है। पञ्च-वैकारिकात्मा पाँच ही रह जाते हैं। अम्बुत्तरात्मा का गूढेत्मा में अन्तर्भाव है। अम्बुत्तरात्मा गूढेत्मा गूढेत्मा है, पञ्चविध वैकारिकात्मागर्भित पञ्चविध वैकारिकात्मा अचिन्महात्मा है। गूढेत्मा को अपने गर्भ में रखने वाला, किन्तु गूढेत्मा के गम में प्रवृत्तित पञ्चविध-वैकारिक-अचिन्महात्मा ही बीजाणुगत अचिदैकतत्त्वत्त्व ईश्वर विराट् का तात्त्विक स्वरूप है। 'अचिन्महात्माऽऽनेयात्र देहे देहसूतां यत्' यथानुसार इसी रूप से देहधारी बीजाणुगतपुरुषों का यह धात्री बना हुआ है। तत्त्व बीजाणुगता ईश्वरविराट्-रूपा में गूढेत्मा, पञ्च अचिन्महात्मा से ५ आत्मविकर्त प्रवृत्तित हैं। महाविराट् की बिन ३५४ विमूर्तियों का पूर्वपरिच्छेद में विच्छेदण हुआ है, वे अंशमूत्र इस बीजाणुगत विराट् में मी यथाणुत्त्व मुक्त हैं। विमूर्ति-सम्बन्ध से बीज का धात्री बनने वाला यही अंशमूत्र विराट् दर्शनमाया में 'प्रत्यगात्मा' कहलाता है, यैसा कि अगले परिच्छेद से स्पष्ट किना जाने जाता है।

६२-जीवविराट्पुरुषाणुगता 'भूतग्राम' स्वरूपमीमांसा—

यह तो हुई आत्मग्राम की मीमांसा। अब दो शब्दों में ईश्वरीय भूतग्राम की मीमांसा कर लीकिए। भूतत्व सूक्ष्म-सूक्ष्म मेद से हो मागी में विभक्त है। गुण-अणु-रेशुमूत्र सूक्ष्ममूत्र है। मूत्र (रेशुमूर्तों के पञ्चीकृत महामूत्र-प्रत्यक्ष) सूक्ष्ममूत्र है। ईश्वरीय भूतग्राम सूक्ष्ममूत्रमूत्र है, यिनका पूर्वपरिच्छेद में विच्छेद से विच्छेदण किना जा चुका है। बीज के मूत्र सूक्ष्ममूत्रमूत्र है, तत्त्वगत विराडीश्वर के मूत्र सूक्ष्ममूत्रमूत्र है। इन्हीं ईश्वरीय सूक्ष्ममूर्तों के आचार पर बीजाणुगत के पञ्च सूक्ष्म मूत्र प्रवृत्तित हैं। बीजाणुगत आत्मग्राम की प्रवृत्ति ईश्वरीय आत्मग्राम है। बीजाणुगत मत्प्राम की प्रवृत्ति ईश्वरीय भूतग्राम है। प्रायः आप, वाक् अन्नादौ, अन्नं, ही इसके सूक्ष्म मूत्र हैं, किन्हीं 'उन्मात्रा' मी कहा गया है। अचिन्महात्मा के पाँचों पक्षों से अन्नादौ पाँचों प्राकृतिक सूक्ष्म मूत्र अनुपस्थित हैं। सर्वान्त का अचिन्महात्मा विराडात्मा है अन्त का मूत्र 'अन्नम्' है। अतएव-अन्नं वै विराट् (शत ७५२।१६।)-'विराडन्नात्पम्' (ऐ०ब्रा ५।१९।२५) इत्यादि रूप से विराडात्मा को अन्नमूत्रमूत्र मान लिया गया है। यही वह अन्तम प्रसोभन है, जिसे लक्ष्य बना कर मोक्षा बीज का आचिर्भाव हुआ है। विराडात्माका अन्तम(पाँचवा वैकारिक)वर्ष मूत्रिसंज्ञामूत्र चित्तरामा है, वह विराडात्माका विराट् ही अन्तम अन्नमूत्र से मुक्त है। मूत्रिसंज्ञ-उत्पन्न अन्न दोनों की समन्वित विराडात्मा ही अचिन्महात्मा की प्रवृत्ति करता है यैसा कि ऊपर परिच्छेद में ही स्पष्ट हो जायगा। एक प्राकृतिक सूक्ष्ममूत्र और। महाविराट् सर्वान्त-पायिपादादि कता हुआ यही पूर्णोत्तर है, यहाँ अन्तममूत्र से कृतात्मा बीजात्मा अन्न वृत्त कता हुआ अन्नोत्तर है। तत्त्वगत अंशमूत्र इस विराडीश्वर को मी अन्नोत्तरात्मा में ही परिचलत रहना पड़ता है। यही अन्तममूत्रपादाभास अन्नोत्तरमूर्ति अचिदैकत-बीजाणुगत ईश्वरविराट् का अंशित इतिवृत्त है जिसे सुविशेष महाविराट् की अपेक्षा-हात कर लकते हैं। सर्वान्त इती अचिन्महात्मा में प्रवृत्तित यह अन्न है। केवल पाण्डाचरणा से यह अन्न बन रहा है। यहाँ आकर अचिन्महात्मा परात्पर, सुविशेष मदेरवर, अन्न मिरवेरवर, सुक्ष्म उपेरवर, सुविशेष महाविराडीश्वर, अन्न बीजाणुगत विराडीश्वर, इन आत्मविकर्तों का सर्वोत्तमा सम्बन्ध हो जाता है। यही इस अचिन्महात्मा का अंशित इतिवृत्त है, अचिन्महात्मा से स्पष्टिकरण हो रहा है।

गूढोत्मा अधिपशात्मा	१-अध्यात्मरमर्षितो गूढोत्मा (१)	परमाक्षरा मृतम् (ज्ञानरुम्भणी) प्राणो मृतम्	१-ज्ञानम्, २-किञ्च, ३-प्राण (आकाश), ४-वायु (वायु), ५-आह (तेज), ६-अन्नाह (दुग्धियी), आत्म (ब्रह्म), इति सखान्तानि सख्यभूतानि । पतस्रस्राणानि सप्तसावनपत् स्थिां— इति मूयमानिष्व प्राणु-
	२-चिदात्मा	आतो मृतम्	
	३-हिरण्यगमात्मा	वायु मृतम्	
	४-सब्रह्मात्मा	अन्नाहो मृतम्	
	५-पञ्चात्मरमर्षितो विराड्मात्मा	अहम् मृतम्	
अक्षरमात्मा		मृतमात्मा	
इत्यर-साक्षी विराट्			

आत्मा { १-महत्पोषणी गूढोत्मा-इत्यराम्य-सबाधिष्ठाता-(विद्याविधे-इत्यरते)

शरीरिकात्मा	१-स्वयम्-चिदात्मा प्राणमूर्ति	आकाशः
	२-परमेष्ठी-हिरण्यगमात्मा अहमूर्ति	वायुः
	३-सुषुप्त-सब्रह्मात्मा वाहमूर्ति	तेजः
	४-ब्रह्मा-महानात्मा अन्नमूर्ति	अहम्
	५-दुग्धियी-विराड्मात्मा अम्नामूर्ति	सूत्र
आत्मप्राणः		मृतप्राण

८३-प्रत्यगात्मानुगत शारीरिक आत्मा, और 'अध्यात्मम्'—

प्रत्यगात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित शारीरिक आत्म ही 'अध्यात्मम्' है। परी ब्रह्म-जीवात्मा है परी ऐन्द्रिय-वेन्द्रिय है। इह ऐन्द्रिय वेन्द्रिय के अन्तर १२ विध में गये हैं। वृत्त शक्तों में वेन्द्र

बीज के १३ त्रैलोक्यविभाग माने गए हैं, जिनमें ८ का एक विभाग है, ५ का एक विभाग है। कलसात्मा गया है कि ज्ञानमय प्राण, क्रियामय वैश्व, एवं अर्थमय वैश्वानर, तीनों के वारतन्त्र से बीजवर्ग संज्ञक, अन्तःसह अर्ध, मेद से तीन भागों में विभक्त है। पाषाण-लोक-वात-रस-आदि भौतिक पदार्थों में प्राण-वैश्व, दोनों अभिमूर्त रहते हैं, अतएव इनमें किसी भी इन्द्रिय का विक्रम नहीं होने पाता। अतएव ये इन्हें अनिन्द्रिय अचेतनद्रव्य कहा गया है। इनमें केवल अर्थमय वैश्वानरसत्त्वा प्रसूति है। अतएव इन प्राणवैश्वगमित वैश्वानरसत्त्वज्ञान अनिन्द्रिय, अचेतन बीजों को 'एकारत्मकजीव' कहा गया है। वे ही 'घातुजीव' नाम से प्रसिद्ध हैं। ओषधि-वनस्पति-लता-युष्मादि भौतिक पदार्थों में प्राण अभिमूर्त है, वैश्व, और वैश्वानर प्रसूति हैं। वैश्वसत्त्वा प्राण और वैश्वानर, दोनों के मध्य में प्रसिद्ध है। अतएव प्राण के यत्कियत अर्थ का इन वैश्वसत्त्वा-प्रधान बीजों में समावेश हो जाता है। जो अक्षरत्त्वा मुक्त चेतन बीज की है वही अक्षरत्त्वा इन वैश्व बीजों की है। अतएव इन्हें एकेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) अक्षरचेतनबीज माना गया है। इनका मूल भूगर्भ में समाविष्ट रहता है, अतएव इन्हें 'भूजजीव' कहा गया है। इनमें वैश्व-प्राण दोनों अत्माओं का विक्रम है अतएव ये 'द्वयकारत्मकजीव' नाम से भी प्रसिद्ध है। एकत्मक घातुबीज, द्वयकारत्मकबीज दोनों स्थावरीय हैं। इनमें उभोगुण का प्राधान्य है। अतएव इन्हें 'उभोविराट्सर्ग' नाम से व्यञ्जित किया गया है। प्राधानिक शास्त्र में उभयवित्त इस बीजवर्ग को 'सम्ब' नाम से व्यञ्जित किया है। यही विज्ञान-भाषा में 'अभिमूर्तम्' है, अक्षर है, किसकी अग्रे परिच्छेद में मीमांसा की जायगी।

६४-आत्मक बीज, और ऋतुर्दशविध भूतसर्ग—

अरमदादि भौतिक सेन्द्रिय द्रव्यों में वैश्वानर-वैश्व-प्राण, तीनों प्रसूति हैं। अतएव इन्हें 'आत्मक-बीज' कहा जाता है। एकत्मक घातुबीज अर्धक वे, द्वयकारत्मक बीज मूलबीज अन्तःसह वे, एवं त्रयकारत्मक 'बीज' नामक बीज संज्ञक हैं। यही बीजवर्ग 'अम्पात्मम्' है, जिसके ८-५ मेद से १३ विभव हो जाते हैं। कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य पञ्च बीजवर्गों का एक विभाग है। इनमें रजोगुण का प्राधान्य है, अतएव इन्हें रजसपरिभाषा में 'रजोविराट्सर्ग' कहा गया है। राजस पिराण यज्ञ, गन्धव, इन्द्र, पितर, प्रजापति, ब्रह्म, अह बीजवर्गों का एक विभाग है, वे ही चान्द्रबीज हैं। इनमें सत्वगुण का प्राधान्य है अतएव ये 'सत्त्वविराट्सर्ग' नाम से व्यञ्जित हुए हैं। अहविष सत्त्वविराट्सर्ग देवयोनि हैं, वे ही 'ऊर्ध्वबीज' हैं। पञ्चविध रजोविराट्सर्ग तिर्य्यग्गोनि हैं, वे ही 'मध्यबीज' हैं। द्विविध किन्दु रजस परिभाषातुल्य एकविध (सम्ब) उभोविराट्सर्ग भूतयोनि है, यही मूलबीज हैं। इस दृष्टि से सत्व से आरम्भ कर ब्रह्मपरिच्छेद ऋतुर्दशविध बीज हो जाते हैं। यही 'ऋतुर्दशविधो भूतसर्ग' (बीजसर्ग) है। इस ऋतुर्दशविध भूतसर्गों में से मध्यकारत्मक एकविध रजोविराट्सर्ग के पञ्च मनुष्यवर्ग में इतर बीजापेक्षया ज्ञान मात्रा सभ्यमाना प्रसूति है। प्रत्यगात्मज्ञान विराट्बीजवर्ग की स्वभावत् विभूतियों का इति में पूर्वरूप से सम्भव हुआ है। अतएव यही उक्त पूर्ण का पूर्ण अक्षर रूप माना गया है—'पूर्णात् पूर्य्यमुत्पद्यते'। इति आचार पर 'पुरुषो ह वै प्रभापतर्नेविद्यम् पर निम्न प्रसिद्धि है। 'अम्पात्मम्' की प्रकृत में वा मीमांसा की जायगी, वह इस पुरुषविष (मनुष्यविष) अम्पात्मा को ही प्रभानरूप से सपन बना रही।

१	१४-१-ब्रह्म (४)	प्राक्प्रियास्तव्याः (देवमानिः)	अभ्यस्तम् (ब्रह्ममयीवात्मपी बीजा)	बहुराशिधो- भूतसगा
	१३-२-महापतिः (३)			
	१२-३-पितरः (२)			
	११-४-इन्द्र (१)			
	१-२-मन्त्रवा (४)			
	३-३-यज्ञ (३)			
	८-७-पितामहः (२)			
	७-८-राक्षसः (१)			
२	६-१-मनुष्यः	प्राक्प्रियास्तव्याः (सिद्ध्यन्त्योनिः)	अभिमूढम् (त्वान्मयीवात्मना बन्धम्)	बहुराशिधो- भूतसगा
	५-२-पशु			
	४-३-पक्षी			
	३-४-पृथिवी			
	२-५-कृमि			
३	१-६	१-मूलबीजः	अन्तःकला-अहंवेदना	
		२-बहुबीजः	उत्पन्न-उत्प्रेक्षितस्तव्या (मूढयोनिः)	

६५—आवरणत्रयी से अनुप्रासिता आध्यात्मिकी विराट्त्रयी—

विकारपरिग्रहयुक्त, 'यज्ञप्रणवपति' नामक, उपदेवरोपोद्भवा श्री अस्तित्व पर्वस्या दृष्टिबी का अमृत-चित्तेतिचेव प्राण ही अस्मन् परिग्रह के द्वारा 'ईश्वर' नामक 'महाविद्युत्' स्वस्म में परिचय हुआ है, यह एतद क्रिया का पुत्रा है। बीजविद्युत्, प्रत्वगात्मलक्षण अधीविद्युत्, बीजविद्युत्, बगद्विद्युत्, तीनों इही महा विद्युत् से प्रकृत हैं। तीनों का क्रमः सत्त्वात्मन, रजोऽत्मन, तमोऽत्मन—यावों से सम्बन्ध है। सत्त्वात्मन विद्युति है, रजोऽत्मन पाप्मा है, तमोऽत्मन आवरण है, जैसा कि पूर्व में परिलोकद्वारा स्पष्ट किया जा चुका है (देखिए पृ ६३)। विद्युति नामक सत्त्वात्मन सत्त्वावरण है पाप्मा नामक रजोऽत्मन रजोस्म आवरण है, आवरणरूप तमोऽत्मन तमोस्म आवरण है। तीनों से सावरण साक्षी ईश्वर सावरण मोक्षा बीज सावरण मोक्षकर्म, इन तीन सावरण विद्युत्प्रवापत्तियों का निष्पन्न हुआ है। विद्युत् प्रकार विद्युति रूप आवरण—वेद, शोक, देव, पशु, मनु, मेद से पाँच भागों में विभक्त है, एवमेव बीजस्वरूप सत्त्वात्मनपाप्मास्म आवरण 'पद्यार्थ, ऊर्मि, आराय, अवत्या, ऊँरा, कर्मविपाक, पर्य आराय' मेद से सात भागों में विभक्त माना गया है, जैसा कि आगे स्पष्ट होने वाला है।

६६—चिदात्मानुगत चिदंश, चिदाभास, और चित्य-विचर्य—

सञ्जन महाविद्युत् 'चिदात्मा' है। यह इत्यत् सत्त्व, निष्कर्मत्त्व सत्त्वपाणिपत्र-अधिचिरो-मुक्त है। यह कर्मा व्यापक है। इसका बीजात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। निराहातुप्रह से अस्त्युक्त यह चिदात्मा आत्मन (कर्मात्मन) मात्र है—'ने तस्य कर्मव्यं करयां च विद्यते'। यही आत्मनलक्षण 'सं ब्रह्म' है, महाभाष्यानुसृत पापी मदेव [धोद्वीपुत्र्य] से सम्बन्धित है। एवञ्चिने यह महाविद्युत् बीजानुगता नोमाय [नोमायादिमद्य आवरणत्रयी] से अद्यत्मना युक्त हो कर 'चिदंश' नाम धारण कर लेता है। विद्युति आवरण से युक्त चिदंश सत्त्वविद्युत् है, पाप्मावरण से युक्त चिदंश मोक्षा बीजविद्युत् है, आत्मनलक्षण आवरण से युक्त चिदंश मोक्ष कर्माविद्युत् है। इत्यन्तर आवरणत्रयी के सम्बन्ध से नोमाया-वन्धिक चिदंश के ही ईश्वर-बीज-बगद्वी-ने तीन विवर्त हो जाते हैं। विद्युतिस्मन् अस्त्युक्त सम्बन्ध है। पाप्मा सम्बन्ध अस्त्युक्तन नामक योग सम्बन्ध है, आवरणसम्बन्ध अस्त्युक्तन नामक चिति सम्बन्ध है। अस्त्यु चिदंश ईश्वर है, नोमात्मक चिदंश बीज है चित्यत्मक चिदंश कर्म है। इत्यन्तर विद्युति-नोमा-चित्य, इस सम्बन्ध त्रयी के सम्बन्ध से चिदंश तीन विवर्तभावों में परिचय हो रहा है। ये ही तीनों विवर्त क्रमः—चिदंश, चिदाभास, चित्य, नाम से व्यवहृत हुए हैं। चित्यत्मक चिदंश [भीष्मकर्म] मोक्षा बीज के वैपयिक युक्त का धारण करता हुआ 'सं ब्रह्म' है। चिदात्मात्मक चिदंश [मोक्षा बीज] चित्यत्मक चिदंश से समान्य होया हुआ 'रे ब्रह्म' है। चिदात्मात्मक व्यापक महाविद्युत्-सत्त्व 'सं ब्रह्म' से अन्तिम चिदंशत्मक चिदंश [साक्षी ईश्वर] चिदात्मात्मक चिदंश [बीज] को निराहातुप्रहाराय प्रकृतिरथ बनाए रखने वाला शान्ति-स्वस्मन्मनवर्चक 'सं ब्रह्म' है। 'सं' का आवरण में स-र-स-सत्त्वा आवरणत्रयी प्रतिष्ठित है।

विदग्ध आतपर्यानीय है। आतपर्यानीय विदग्ध चिन्तन है, यही विमूढताका प्रत्यगात्मा (ईश्वरात्मा) है। प्रतिस्मिन्पर्यानीय चिन्तन चिदात्मक है, यही योगलक्षण शारीरक आत्मा है। प्रत्यगात्मा अपिदेवत है, शारीरक आत्मा अप्यात्मम् है। अपिदेवत प्रत्यगात्मा का स्वरूप पूर्वपरिच्छेद में बतलाया जा चुका है। अप्यात्मशारीरक आत्मा का स्वरूप मीमांस्य है, उसी की ओर विद्यवाटकी का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

६६-बीज के पाप्माभावों का सामान्य-स्वरूप-दिग्दर्शन-

विद्य प्रथम अज्ञान महाविद्यत्प्रभावति (चिदात्मा) के अद्यत्तु साक्षी सावरण विद्यत्प्रभावति में अज्ञानविद्यत् के पञ्चावत् (११) अक्षयविवर्तों, एवं मूलविवर्तों का समन्वय बतलाया गया था, एवमेव इत सावरणविद्यत् के मोक्षता कला सावरण शारीरक आत्मा में भी अज्ञान प्रत्यगात्मा के अक्षय-मूल-विवर्तों का समन्वय हो रहा है। बीज स्वरूप, जो कलाविभाग, प्रत्यगशरीरक का है, ठीक वैसा ही स्वरूप यही कलाविभाग इत शारीरक बीज का है। केवल पाप्माभावों में अन्तर है। प्रत्यगशरीरक नित्ययुक्त है। वह कभी मुक्तकरणा में रहे, कभी कल्पनावस्था में रहे, इत उभय 'पर्यायत' नामक पाप्मा का उभय अभाव है। इतर शारीरक बीज में मोक्ष, कल्प, नामक दोनों पर्यायत-पाप्माओं का सम्बन्ध रहता है। विद्यात्मक पर्याय 'मुक्तपर्याय' है, कर्मात्मक पर्याय 'वन्धपर्याय' है। ईश्वर में सुधा (मूल), पिपासा, र (प्यण), शोका (कृण), मोह (बैजित्य), ज्वार (अज्ञान), व्याधि (योग), इन कर्मिमाय (उभावक लहर) रूप पाप्माओं का अभाव है, बीज इन इन्हीं कर्मिमायों से युक्त रहता है। पर्यायपाप्माओं से अक्षय ईश्वर एक रह है, पर्यायपाप्माओं से नित्ययुक्त रहता हुआ बीज विभिन्न रहता है। अज्ञानक 'साधनासंस्कारलेप', कर्मक 'साधनासंस्कारलेप', इन दोनों आशय नामक पाप्माओं से ईश्वर अक्षय रहता हुआ निर्लेप है। इतर बीज दोनों आशयों से युक्त रहता हुआ लोप है। ईश्वर नित्य जाग्रत, नित्यैव रहता हुआ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह, सुख, दुःख, इन अक्षय नामक पाप्माओं से विमुक्त रहता है, बीज इन्हीं अक्षय-पाप्माओं से नित्ययुक्त रहता है। कर्ममय सावरण शरीर का मूलप्रवर्णक बनता हुआ भी ईश्वर समस्तलक्षण दुद्धियोग के प्रभाव से कर्मसंस्कारलेपकाल से विमुक्त रहता हुआ 'न करोति-न क्षिप्यते' को अतिर्वाह कर रहा हुआ निष्कर्म बना हुआ है। इतर बीजप्रतीक यज्ञ-तपो-दान लक्षण विद्या-लुपित प्रवृत्तिसङ्क्रम, इह-आर्त-दत्त-लक्षण विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्तिसङ्क्रम सुरापान-अगम्यागमन, धृया द्रिष्य रतेय, अज्ञानता कलहाय पनीतामर्जन, हायादि शास्त्रनिषिद्ध पिच्छमरूप (पिच्छकर्मरूप) असङ्क्रम, बलवाहन, कृपात, पात्रमय शिरसाहन, अज्ञानिच्छिन्नि (जुद्धकी), पादाहु, हृदय मन्त्रि-पिलोपन, अज्ञानहन, शरीरपथिकीकरण, कृष्ण-हृदयस्य, निरर्थक अक्षयपान, आर्ति आर्ति शास्त्रा-प्रतिनिदाविरित कर्मरूप (निरर्थककर्मरूप) असङ्क्रम एवं सर्वमूलक, दुद्धियोगलक्षण, विन्दुमित- (बीजमित) प्रवर्णक निष्कर्मकर्म, इन कर्मों में से अक्षय ही किन्ती न किन्ती कर्मों में रह रहा हुआ 'कर्म' नामक पाप्मा से नित्ययुक्त रहता है। यथाविद्यासंस्कारमयित यथाकर्मसंस्कार (अज्ञानपीठ कर्म-संस्कार) से ही पशु-पक्षी-मनुष्य-हृमि-दीयादि जाति (पौमि), अक्षय-मयन-पूर्व-दीर्घ-आयु (अक्षय),

सुत-ब्रह्म मेव प्राण इति । संस्कारानुसार प्राण ७३ति आत्सु भोग, ही कर्मविपाक नाम की पाप्मा-
वशी है । ईश्वर इनसे असंख्य है, बीच इनसे निरख्युक्त है । यही बीजातुल्य पाप्मा-भावी का उद्दान्य
दृष्टिकोण है ।

१००—जीवकलाविभूति, तथा पाप्मभावों का स्वरूपदिग्दर्शन—

अब निराप दृष्टिकोण से विचार कीजिये । पूर्व की अचिदेक गीमांसा में आत्मकलाविभूति, छायात्म-
कलाविभूति चिरोकलाविभूति भेद से प्रसङ्गान्तरपर में ७२-२६२-४१ इत क्रम से ३५४ तीन छो बौद्ध
विभूतियों का विगणन करवा गया है । इनमें से ७२ आत्मकला-विभूतियाँ, एवं २६२ छायात्मकलाविभू-
तियाँ वा बीजेश्वर में समान हैं । इत दृष्टि से दानी अचिदेव है, परन्तु चिरोकलाविभूतिका-दृष्टि से दानी
अचिदेव है । ईश्वर की विद्या-कामादि १६ चिरोकलाविभूतिकाओं में से विद्या-काम-कर्म-शुक्र-वायु-इन्द्रिय,
आरम्भ की ये ६ विभूतिकाएँ कर्मणः २-१-६-१-६-६ इन अक्षतर संख्याओं में विभक्त यही
सुं ४२ हैं, गेय पूर्वोन्मत्तादि २ कलाविभूतियाँ हैं । सम्पूर् ५२ चिरोकलाविभूतियाँ हो जाती हैं ।
इस बीजेश्वर में केवल ४ ही कलाविभूतियाँ हैं । पूर्वोन्मत्त-दृष्टिकोण-एकरत्न-एकरत्न-एकरत्न-
व्यापकत्व-विरक्तव्युत्पत्त तापित्व, सर्वशिल्प, कर्माप्यव्यव, पाप्माउत्पत्तत्त्व इन १ ईश्वरीय चिरोकला-
विभूतियों का बीजसंख्या में समान है । विद्यादि ६ चिरोकलाविभूतियाँ ही इन्हें प्रसिद्धि हैं । इनमें भी
काम, शुक्र, इन्द्रिय नामक तीन विभूतियों में अन्तर है । ईश्वर की कामविभूति द्विविधा है, बीचकामविभूति
निराभेद से अनेकविधा कामस्वेन एकविधा ही है । ईश्वरीय शुक्रविभूति पञ्चविध है, बीचशुक्रविभूति
मानवशुक्र-शान्तशुक्र भेद से द्विविधा ही है । ईश्वरीय इन्द्रियविभूति पञ्चविध है, बीचइन्द्रियविभूति दशविध
है । शय चिरोकलाविभूतियों का साम्यकलाविभूतियों की मति बीजेश्वर में समान है ।

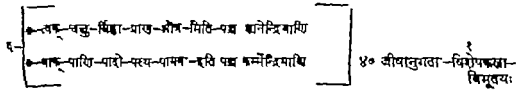
धम्म ज्ञान बीरज्य परब्रह्म मेरमिन्ना बुद्धिवा विद्याविभूति का उदय सूर्य से हुआ है । अतएव
इसे 'सौरविभूति' कहा जा सकता है । एकविधा 'धामविभूति' का उदय चन्द्रमा से हुआ है अतएव
इसे 'चान्द्रविभूति' माना जा सकता है । यद्य-तप-ज्ञान-दृष्ट-आपूर्त-वृत्त-रज पञ्चविधा कर्म'-
विभूति का उदय अदितिद्विधा से हुआ है अतएव इसे 'पार्ष्विपविभूति' नाम से स्पष्टत त्रिष वा
करता है । 'मानवशुक्र कामवशुक्र' इत द्विविधा शुक्र विभूति का उदय मृत्पिण्डव्य-
मूत विरवी के आचार पर हुआ है अतएव इसे 'मीमविभूति' करना अन्वर्ष करता है । पञ्चब्रह्म-
पञ्चदेवमाय समगुहामाय मेरमिन्ना लक्ष्मणविधा प्राण(-)विभूति का उदय सौन्दर्य से हुआ है अतएव
इसे 'पेन्द्रविभूति' मानना लम्बीबीन होता है । ७३ लक्ष् ७३, विद्या माय (प्राण), मेरमिन्ना
इन्द्रियव्यवस्था बाह्य पाणि पाद उपर्य पायु, मेरमिन्ना कर्मेन्द्रियव्यवस्था लक्ष्ण दशविधा इन्द्रिय'-
विभूति का प्रदायानुक्रमक बाह्य इन्द्र मे उदय हुआ है । अतएव इसे 'पान्द्रविभूति' करने में कोई आपत्ति
नदी की जा सकती । सम्पूर् इन ६ कलाविभूतियों की ४-१-७-२-३-१-१ अक्षतर कलाओं के
संज्ञक में बीजातुल्य चिरोकलाविभूतियों ४ हो जाती हैं जैसाकि परिच्छेद से स्पष्ट है—

७ आपुः, कम्म ५, विरां ५, विद्या, निधनमव ५ ।
पञ्चतानि तु सुन्यन्ते गमम्प्यव देहिन ॥

- (४) १-विद्याविमूक्ति-—सर्व ज्ञान-वैयम्-येरुबर्द्य-भेदमिमा चतुर्विधा —सौरविमूक्तिः
 (१) २-कर्मविमूक्ति-—विषयभेदादनेकविधा, कर्मस्वेन-एकविधा —चान्द्रविमूक्तिः
 (६) ३-कर्मविमूक्तिः-—बहुस्तथा-दान-मिह-मापूर्त-दत्तमिति-भेदमिमा बहुविधा —पार्थिवविमूक्तिः
 (२) ४-शुद्धविमूक्तिः-—भावनाशुद्ध-वाक्याशुद्ध-मो-मिन्ना द्विविधा —श्रीमद्विमूक्तिः
 (१७) ५-प्रायविमूक्ति-—पञ्चब्रह्मप्राय-पञ्चदेवप्राय-सतगुरुप्राय-भेदमिन्ना सप्तदशविधा —ऐन्द्रविमूक्तिः
 (१) ६-इन्द्रविमूक्तिः-—श्रीम-वक्-बहु-विधा-प्राय-वाक्-पाणि-पादो-परप-पाण्डु-भेदमिमा दशविधा —चान्द्रविमूक्तिः

—४०—

- १-चतस्रो विधा] —४
 २-मनसः किंवा कर्म] —१
 ३-वट कर्मप्राय] —१
 ४-वेदिकशुद्धिपञ्चकोट-शतशुद्धिपञ्चको-विषयकप्रामाण्योपपन्नशेषमूते-भावना-वाक्यानिबे द्वे शुद्धे] —२
 ५-ब्रह्म-वेद-गुहा-भेदेन ३८ विमूक्त्या प्राणा] १७



पूर्व में जिन पञ्चकोटि पाप्माओं का निगर्हण किया गया है यदि उनकी सूक्ष्म बीजता की जाती है तो उनकी 'कर्म्मि, अथवा क्लेशा बहु कर्म्मविपाक, आश्रम अपूर्णास्व, पञ्चाय, वे व्याट क्लिप्त' हो जाते हैं। आठो कर्मण १, १, १, १, २, १, ३, इन अन्तर संख्याओं में विभक्त हैं। संकलन से व-विद्या (११) पाप्मा हो जाते हैं। यह पाप्मास्य आचरण ही बीज का बीजत्व है। जब तक बीज इन पाप्माओं से मुक्त है, तब तक वह 'अज्ञ' नामक बीज है। पाप्माओं के मन्वाचरण ने ही इसका उक्त विद्युत् विमूक्तिक्रम प्रत्यालोचन से पार्यन्त कर सका है। जित दिन सुद्धियोगप्रभाव से यह पाप्माचरण एकात्मता निवृत्त हो जाता है उत दिन यह बीज भी 'कुर्वन्ति न लिप्यते' अ अनुगामी बनता हुआ ईश्वरस्य-वन्द्य प्राप्त कर लेता है। बीजानुगत ब्रह्माविद्या (४०) विरोधकलाविमूक्ति का एवं जीवानुगत व-विद्या (११) पाप्माकलाओं का दार्ष्टिक विरोधक लक्ष्यवस्तुव्यवस्था आश्रितज्ञान के प्रथमचरण की-प्राणहमविज्ञानो-पानपत्र' नाम की प्रथमा उपनियत् में हुआ है। विरोध विहास रखने वाली को तदुपनिषत् का ही अन्वयान बना जाये। यहाँ इन पाप्माओं की दार्ष्टिकप्रभाव उक्त व कर दी जाती है—

वीवानुगत पाप्मान —

(१) — छत्-पागे खोल-मही बग-व्याधी इति पद	— कर्मयः (६)
(२) — बायत्-रजन-गुपुठय, मोह-मूर्च्छा-मृदव इति पद	— अक्षयः (६)
(३) — अविद्या-अभिमन्त्र-राग-द्वेष-अभिमिषेया इति पत्र	— कलशाः (४)
(४) — आदिदेविह-आप्यस्मिह-आभिस्मैतिहा, इति पत्र	— बन्धा (३)
(५) — आवि-आवु-मोगाः नय अन्नानि, इति पत्र	— अर्मेपिपाक्षः (१०)
(६) — शुभा-शुभा इति मोगदत् द्वी	— आरायो (२)
(७) — ग्रीं दुष्ट्याम्यामाना विषामाव नम्	— अपूर्णत्वम् (१)
(८) — अनाद, कथयव्याव, मुक्कयव्याव, इति पत्रः	— पय्याया (३)

वैतथ पाप्मान पद विरुत् (३४)

— () —

वीरमध्याया—

(१) — आरमविम लिखलाः	७२	} सम्भूय ३०३ कला-जीवा मनि मुक्ताः
(२) — कामान्यदिम लिखलाः	२३१	
(३) — विरोपविम लिखलाः	४	
(४) — पामकलाः	३६	

— () —

11/11/11

१०१—अविदेवत गूढोत्मा, एव अप्यात्म गूढोत्मा—

प्रकृत हृदि से विषय का सम्बन्ध कीविषय । अविदेवतलक्षणा छाड़ी प्रत्यगात्मा की भाँति चिदात्मत-
लक्षणा मोक्षदा शारीरक आत्मा में भी आत्ममाम, मूत्रमाम, मेद से दोनों विवर्त हैं । एवं तद्वत् ही आत्ममाम
यहाँ भी गूढोत्मा अप्यात्मत्मा, वैश्वरिकात्मा मेद से तीन भागों में विभक्त है । चाय ही तद्वत् ही
गूढोत्मा अप्यात्मत्मा, दोनों आत्मविवर्त अविदेवतवत् इव अप्यात्म में समान हैं वैश्वरिकात्मविवर्त असमान
हैं विषेय हैं । चिदात्मात्मात्मा चिदात्मक इव शारीरक आत्मा (मोक्षदा जीव) में चिदात्मक चिदात्मक
प्रत्यगात्मा (छाड़ी ईश्वर, विराट्) के द्वारा मुक्त परत्पर-अभ्यय-अक्षर-आत्मचरक्य पोडरीफल महेस्वरत्मा
ही अप्यात्मलक्षणा गूढोत्मा है । अविदेवतानुगत पोडरी ईश्वराभ्यय कहलाया है अप्यात्मानुगत पोडरी
जीवात्म्यय कहलाया है । गीता में दोनों के स्वरूपों का विभिन्नरूप से विरलोपण हुआ है । तत्त्वानुगता
व्याप्त्या को मूलमात्र पर छोड़ते हुए वहाँ केवल उत्स्वरूपविरलोपक वचनमात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं—

इश्वराभ्ययवर्मा - }
(अविदेवत-गूढोत्मा) } — गति, मर्ता, प्रमु साक्षी, निवात, शरणं सुद्ध ।
प्रमत्., प्रलय, स्थानं, निधानं, शिवमभ्ययम् ॥ गी०६।१८।



जीवात्म्यवर्मा - }
(अप्यात्म-गूढोत्मा) } — उपद्रवा, अनुमन्ता च, मठा, भोक्तृ महेस्वर ।
परममेति वाप्युक्तो वेदेऽस्मिन् पुरुष पर ॥ गी०१३।२२।



१०२—एकोनविंशतिस्तुल जीवात्मा का स्वरूपविस्तार—

अभ्ययप्रधान गूढोत्मा परपुरुष है अक्षरप्रधान अप्यात्मत्मा परावरपुरुष है, आत्मचरप्रधान वैश्वरि-
कात्मा अवरपुरुष है । तीनों की समष्टि ही 'अविदेवतम्' है तीनों की समष्टि ही 'अप्यात्मम्' है ।
अविदेवत में प्रतिष्ठित परपुरुषरूप को गीता ने 'अभ्यय' शब्द से व्यपहृत किया है । कारण 'विमर्त्येभ्यय-
ईश्वर' इव अन्य कवनानुसार 'अभ्यय शब्द' ईश्वर माय का लक्षण है, और अविदेवतप्रधान छाड़ीरूप
ईश्वर ही माना गया है । यह अक्षरेश्वर ही अप्यात्मसंस्था के गति, मर्ता प्रमु साक्षी, निवात शरण
सुद्ध (सत्ता) प्रमत्, प्रलय, स्थान निधान एवं शीब हैं । अप्यात्मिक गूढोत्मा भी अविदेवत गूढोत्मा की
भाँति अभ्ययप्रधान अक्षर है । परन्तु यह ईश्वराभ्यय नहीं, अपितु जीवात्म्य है । छाड़ी अभ्यय नहीं, अपितु
मोक्षदा अभ्यय है । अतएव हमें ईश्वरमायतमर्त्यक 'अभ्यय शब्द' से व्यपहृत न कर 'वेदेऽस्मिन् पुरुष परः
इत्यादिक्रम में 'परपुरुष' नाम से ही व्यपहृत किया गया है । ईश्वराभ्यय वेदाभिमान से निवृत्त रहता है ।
अतएव उसके लिए किसी लौपाधिक मात्र का प्रदर्शन न कर केवल 'अभ्ययम्' कह दिया गया है । ईश्वर
जीवात्म्य उपद्रवा-अनुमन्ता-मर्ता-मत्तता बनता हुआ वेदाभिमानो अभ्यय है, अतएव इसके लिए 'वेदे-

ऋषिभ्यो नमः' यह लक्षित करना आवश्यक समझा गया है। देहामिमानो जीवात्मक लक्ष्योप है, प्रकृतिशरीर में विभिन्न है, यही प्राधानिकशास्त्र का बीजानानात्मकत्व है, जो इस दृष्टिकोण से सर्वथा लनीबीन है। वेद में ही प्रतिष्ठित, किन्तु देहामिमान से असंख्य प्रत्यगात्मा शरीरोपाधिकचक्रण से विमुक्त रहता हुआ स्वयम्भवम् महाविद्युत्-दृष्टया एक है, यही वेदान्तशास्त्र का ऐकत्म्यवाद है जो इस दृष्टिकोण से सर्वथा प्रामाणिक है। अधिवैकल्य-लक्षण गूढोत्पत्ति एवं अस्वात्मलक्षण गूढोत्पत्ति का यही तात्त्विक विवेक है।

वृत्त क्रमगत अस्वत्तत्त्वात् है। लक्ष्मी ईश्वरदाय अस्वात्मलक्षण में शरीराकाररूप से मुक्त अस्व-वत् स्वयम्भुव अंश ही अस्वत्तत्त्वात् है जो गूढोत्पत्ति से अस्वत्तत्त्वात् रहता हुआ तत्त्व से ही पदित है। अत्र क्रमगत तीनों वैकारिकात्मा पर दृष्टि डालिए। वैकारिकात्मा ईश्वरीय वैकारिक आत्मा की मूर्ति है मयों में विद्यमान है। अधिवैकल्यत्वात् में मुक्त विद्वत्तत्त्वात् है वैकारिक आत्माओं के प्रकर्षम्भुव है वैकारिक अंश ही ही इस अस्वत्तत्त्वात् के है वैकारिक आत्मा है। अधिवैकल्य में इन वैकारिकात्माओं के नवविधत्तों का जो संयोजन-क्रम कलापात्ता गया है वही क्रम यहाँ स्पष्टीकृत समझिए। केवल नाममात्र में विशेषता है। नाममात्रोत्पत्ति ने इस अस्वत्तत्त्वात् का वैकारिकत्व-का का स्वयम् अधिवैकल्यत्वात् से अन्तर्गत बन रहा है। वे है किर्तव्य क्रमगत शान्तत्वात् महात्मात्मा विद्वानात्मा (बुद्धि) प्रज्ञानात्मा (मन), प्राज्ञात्मा तैजसात्मा, वैश्वानरात्मा, ईशरात्मा भूतरात्मा इन नामों से स्पष्टीकृत हुए हैं। शान्त-महान्त-विज्ञान-प्रज्ञान और तीनों ही ईश-भूत, वे आत्मा ही किर्तव्यत्वात् है अस्वत्तत्त्वात् है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ तीनों वैकारिकात्मा हैं, तीनों की समष्टि ही वैश्वानरात्मा है। यही वृत्तलक्षणगर्भम्भुव वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षण-प्रोक्तत्वात् वैकारिकात्मा-विधत्तों का तात्त्विक स्वयम्भुवत्त्व है।

यदि इन है वैकारिकात्माओं के स्वयम् विभागों का विचार किया जाता है तो यह है संख्या १६ संख्या पर विभाजित करती है। १७ वाँ अस्वत्तत्त्वात् है, १८ वाँ गूढोत्पत्ति है १९ वाँ लक्ष्मीभारम्भुव, लक्ष्मीभारम्भुव-रमेकमूर्ति किन्तु मायी परस्परपुनरात्मा है। स्वयम्भुव विभाजिता के अंशम्भुव शान्त आत्मा के १ अस्व-त्त्वात्मी २-सूत्रात्मा ३-वैश्वानरात्मा ४-विद्वानात्मा वे चार किर्तव्य हो जाते हैं। पाद्योपज हिरण्यगर्भत्वात् के अंशम्भुव महात्मात्मा के आहूतत्वात्मा प्रहृष्टत्वात्मा अहहृत्त्वात्मा पृथक्त्वात्मा, मीर से चार किर्तव्य हो जाते हैं। मीर लक्ष्मीत्वात् के अंशम्भुव विद्वानात्मा के विद्वानात्मा, अस्वत्तत्त्वात्मा वैश्वानरात्मा वे दो किर्तव्य हो जाते हैं। पार्थिव विद्वानात्मा के अंशम्भुव भूशिवत्-भूवानु-विद्वानु-प्राज्ञत्वात्-प्राज्ञत्वात्-एकविद्युत्-इन पाँच अंशों के प्रकर्षम्भुव पाँच पार्थिवत्त्वात् क्रमगत भूतत्वात्-ईशरात्मा वैश्वानरात्मा-तैजसात्मा-प्राज्ञात्मा वे पाँच किर्तव्य हो जाते हैं। ४-४-२-४-के लक्षण से स्वयम्भुव, पाद्योपज, मीर चन्द्र मेद से १६ वैकारिकात्माविधत्तों हो जाते हैं। १६ वैकारिकात्मा १७ वाँ अस्वत्तत्त्वात्मा १८ वाँ गूढोत्पत्ति, १९ वाँ परस्परत्वात्मा यही 'एकविद्युत्-विद्युत्' 'अस्वत्तत्त्वात्' है। हमारे शरीर में एक आत्मा नहीं है अपितु इत्यन्त अनेक (१६)

आत्मा है। अतएव इस आत्मतत्त्व को 'आत्मप्राप्त' (अनेक आत्माओं के खने का स्थान) कहना अन्वय-
 पनता है। एक ही तत्व एकीनविशक्तिमुक्त बना है, इस दृष्टि से—'चित्तवात्स्न्यमिदं सधर्म' मूलक आइसवाद
 भी अज्ञान है। यही उपनिषदों की 'अद्वैतमूला ज्ञानदृष्टि' है। 'गुणानां च परार्थत्वसम्बन्ध'
 समत्वात्' न्याय से १६ रूप विभिन्न हैं, यही तत्त्वानुगत द्वैतवाद की अज्ञानस्थापना है। यही उपनिषदों
 की 'विज्ञान (विशिष्टज्ञान) दृष्टि' है। संस्कारविषया उक्त १६ विकर्षक रूप हैं, प्रकृतिस्वरूपविषया उक्त एकत्व
 अज्ञान है। यही भारतीय दर्शनशास्त्र का सुप्रसिद्ध मेधाविष्णु-अमेरवाद है।

अध्यात्मानुगत—आत्मप्राप्त—(१२७ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

विशेष-आत्मप्राप्त—

(१)	शास्त्रीविद्युत्—मत्स्यगत्समा उत्पन्नमुक्त—विद्युत्वाद्य—ईश्वरवर्णयो गूणेष्वा मुक्त	सत्यवर्णमाया	जीवात्मयो गूढरत्ना
(२)	"	अभ्यक्तमा	अध्वतत्समा
(३)	"	विदत्समा (अप्यार्थिकस्तोमानुगत— न्यायम्मुक्तं)	शान्तरत्ना
(४)	"	हिरण्यगर्भात्मा (३३ " परमेष्ठिप्रायः)	महानत्समा
(५)	"	सर्वज्ञत्समा (२१ " खैरप्रायः)	विज्ञानत्समा
(६)	"	महानत्समा (१५ " चन्द्रप्रायः)	प्रज्ञानत्समा
(७)	"	सर्वज्ञत्समा (२१ " व्यापकसर्वज्ञप्रायः)	प्राज्ञानत्समा
(८)	"	हिरण्यगर्भात्मा (३३ " " हिरण्यगर्भात्मा)	वैश्वानरत्समा
(९)	"	विद्युत्वात्समा (१ " " विद्युत्वात्समा)	वैश्वानरत्समा
(१०)	"	वद्युत्वात्समा (धूमामेष्ठि)	हंसत्समा
(११)	"	चित्वात्समा (सूषित्वात्समा)	मूलात्समा

इति तु—अभिधेयवत्—'सद्वत्'	इति तु अध्या- त्मम्—सर्वत्रिह मोक्षा—विद्युत् शाश्वतक आत्म की
शास्त्रीविद्युत्—आत्मगत्समा (ईश्वरः)	
विद्युत्—अध्वतमेष्ठि—	

प्रकारान्तरेषु—(१२८ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

१-पुरुषात्मा	सोऽर्चनीयस्य गृह्येत्मा	} बीजात्मकबीजस्य पुरुषात्मा (वा क्राष्टा स्य परा गतिः)	} १ ब्रह्मपुरुषात्मा
२-प्राणवत्त्वात्मा	ब्रह्मपुरुषात्मा		
३-दानवत्त्वात्मा	चिरात्मा	चिरात्मा—बीजात्मकबीजस्य चिरात्मा	} २ वेदकवत्त्वात्मा
४-महानात्मा	॥ हिरण्यगर्भात्मा	हिरण्यगर्भात्मा—बीजात्मकबीजस्य हिरण्यगर्भात्मा	
५-विद्यानात्मा	॥ सर्वज्ञात्मा	बीजात्मकबीजस्य सर्वज्ञात्मा	
६-महानात्मा	, महानात्मा	बीजात्मकबीजस्य महानात्मा	
७-प्राणात्मा	॥ सर्वज्ञात्मा	} बीजात्मक—दानवत्त्वात्मा (सर्वमूढान्तपरात्मा) (बीजात्मको बीजः)	
८-देवकवत्त्वात्मा	॥ हिरण्यगर्भात्मा		
९-वैश्वानरवत्त्वात्मा	॥ विद्यानात्मा		
१०-ईशत्मा	, परात्मा	} बीजात्मक—परात्मा बीजात्मकबीजस्य विद्यानात्मा	} ३ वैश्वानरवत्त्वात्मा
११-वायव्यम्	॥ विद्यानात्मा		

पुनरुक्तवित्तो वेदो-साध्यमूषिष्य

- ११- १-पुरुषात्मा—पुरुषात्मा
 १२- २-ब्रह्मपुरुषात्मा-प्राणवत्त्वात्मा
 ३-वैश्वानरवत्त्वात्मा
 विद्यानात्मा । १-दानवत्त्वात्मा, २-महानात्मा, ३-विद्यानात्मा, ४-महानात्मा, ५-पुरुषात्मा ।
 वैश्वानरवत्त्वात्मा । १-प्राणात्मा, २-देवकवत्त्वात्मा, ३-वैश्वानरवत्त्वात्मा, ४-ईशत्मा, ५-पुरुषात्मा ।

बुद्धियोगपरीक्षा

प्रकृतदृष्ट्या—(एफोनविंशतिमूलो जीवात्मा)—

● माधी—मपत्वरपुण्य (१)

१—गूढोत्तमा—शोडशी (२)

२—अभ्युत्थामा—विंशतिरुत्तर (३)

३—यान्तात्मा—(स्वायम्भुव)

|
१—अन्तर्ध्यामी, २—सूत्रात्मा, ३—शेखरात्मा, ४—विदात्मा

४—साहानात्मा—(पारमेष्ठि)

|
१—आह्वयात्मा, २—प्रकृत्यात्मा, ३—अहङ्कारात्मा, ४—यज्ञात्मा

५—विज्ञानात्मा (खेट)

|
१—विज्ञानात्मा, २—देवात्मा

४—मरुतात्मा (बान्द्र)

५—भूतात्मा (पाणिन)

|
१—प्राज्ञात्मा, २—तैत्तिरीयात्मा, ३—वेदव्यासराजात्मा, ४—संज्ञात्मा, ५—भूतत्मा

●
कर्मत्मा—अन्तर्ध्यामी
●

प्रकरणान्तरेषु —

२-१	१-मायी फलतरपुत्रका (१९)	}	द्विविधो गृहोत्तमा (१)-२
	२-बीजात्म्यो गृहोत्तमा (१८)		
२-१	१-बीजाद्युदोऽप्यकथयामा (१७)	}	एकविधः-अप्यकथयामा (२)-१
	१-अन्तर्म्यामी (१६)		
३-१	२-सूत्रात्मा (१५)	}	चतुर्विधं शान्तात्मा त्वाम्मुव (५)
	३-वैश्रामा (१५)		
	४-विद्यात्मा (१४)		
	१-आहृत्यात्मा (१२)		
४-२	२-यजुःशास्त्रात्मा (११)	}	चतुर्विधो महानात्मा पारयेत्तया (५)
	३-अहहृत्यात्मा (१)		
	४-पञ्चात्मा (९)		
	१-विद्यानात्मा (८)		
५-३	२-दीक्षात्मा (७)	}	द्विविधो विद्यानात्मा क्षेत्र (२)
	१-यजानात्मा (६)		
६-४	१-माध्यात्मा (५)	}	एकविधं महानात्मा चान्द्रा (१)
८-६	१-दीक्षात्मा (४)		
९-७	१-वैश्वानरात्मा (३)		
१-८	४-दृष्टात्मा (२)		
११-९	५-मूलात्मा (१)	}	पञ्चविधो मूलात्मा-पार्ष्णि (५)
	३-सूत्रात्मा		
	४-सूत्रात्मा	}	
	५-सूत्रात्मा		

योषाविधः-वैश्वानरात्मा (१)
१६

४ एष एतेन विद्युत्सुबो
"व्यात्मना-अप्यात्मम्"

१०३—आत्मसुखदस्वरूपसमर्थफलजन—

आत्मप्राप्त की पूर्वप्रवर्तित कालिकाएँ वहाँ विज्ञानव्यवहृतज्ञाननिष्ठों के आत्मप्रदाय की अपर्याप्तता हैं वहाँ विद्युत्प्रज्ञानामिनिष्ठि बगन्मिष्यास्ववादिषी की दृष्टि में वे ही वेदना का कारण बन सकती हैं। 'हमारे शरीर में एक आत्मा नहीं, १६ आत्मा हैं' ज्ञानव्यवहृत यह विज्ञानविद्वान्त अपभरय ही बात मान युग के विद्वत्समाज के लिए इसलिए पन्नां का विषय बन सकता है कि, वैदिक कल्पवाद के विलुप्तप्राय हो जाने से, बगन्मिष्यास्ववादी व्याख्याताओं की आस्पनिक व्याख्याओं के अनुग्रह से, सर्वोपरि अलमहिमा से मारतीय आत्मविज्ञान एकान्तता लुप्त हो गया है। यही कारण है कि, आज शास्त्रीय कर्मों के सम्बन्ध में पदे पदे शङ्काएँ उपस्थित हो रही हैं। यदि आत्मा अजरब है, तो कन्म किसने लिया ?, यदि यह कन्म लेता है, तो अलएव कैसे रहा ? यदि बीजत्मा शरीर छोड़ते ही कन्म देह धारण कर लेता है, तो आत्मान्त किसके लिए दिना जाता है ? आदि आदि सन्ध्याकर शङ्काओं का एकमात्र कारण आत्मा के तात्विक स्वरूपज्ञान की विलुप्ति ही माना जायगा। किन्तु आत्मा का क्या कर्म है ? कौन कर्ममोक्षा है ? कौन आत्मान्तमोक्षा है ?, किसके लिए गयाआत्मा विहित है ?, कौन अविशेष है ? कौन विश्व है ?, आदि आत्मविषयक सन्ध्याकर प्रश्नों का समाधान करना प्रकृत बुद्धियोगसूत्र में अप्राकृत है *। आत्मस्वरूपप्रतिपत्तिप्रदाना, उपक्रम में प्रतिष्ठाता आशीस्तिपति से सम्बन्ध रखने वाले १६ आत्माओं के आचार पर ही इन सब प्रश्नों का उत्तर बभानुरूप सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए परत्तर आत्मा अलएव है, अकन्मा है। आत्मा महानात्मा के लिए ही विहित है। वेदान्त (आतिवाहिक शरीर) धारण कर कर्मानुसार कर्मफलमोक्षा आत्मा वैश्वानर-जैकस-प्राज्ञासुख कर्मरत्ना ही है। गयाआत्मा 'मितात्मा' नामक 'इच्छात्मा' के लिए ही विहित है। इन १६ आत्माओं में १८ आत्मा तो मनुष्यमात्र में विद्यमान हैं। केवल एक आत्मा विशेष है और वह है खैर—'वेदान्तमा'। किन्तु यहना द्विधातियों को यथावि अर कर्ताः प्राप्त है अज्ञात उनके कर्मान्ता में दिव्यप्राणवेधातिथय प्रतिष्ठित हो जाता है। इच्छा सत्प्रश स्तोमस्य नाभिकैठस्वर्न में प्रतिष्ठित दिव्य वेधप्राण से हृद्भूमियकनन रहता है। बाकायुर्भोगानन्तर स्थूलशरीर छोड़ने पर कर्मरत्ना इत निम्नातिथय (यथातिथय) रूप देवत्मा के व्यवयोग से स्पष्टदृश्य दिव्य प्राणाकर्मा से, बाक्य-दिम्प्राणियद्विस्विक्रम्यन्त वहाँ प्रतिष्ठित हो जाता है। यही अज्ञानिता स्वर्गप्राप्ताति है, जिसके लिए—'यथातिथोमेन स्वर्गकामसा अजंत इत्यादि बचन विहित हैं। अतएव 'स खैर देवत्मा को 'कन्म आत्मा' कहा जा सकता है किन्तु केवल यज्ञकर्ता द्विधातियों से ही सम्बन्ध है। शेष १८ आत्मविकर्त' सर्वत्र मत्त रहते हुए अविशेष हैं अतएव इन्हें 'निश्चय आत्मा' कहा जा सकता है। युक्ति, उन्हें विज्ञान आदि से पदवि लक्ष्यैकपुष्प विज्ञानों के लिए इन आत्मविकर्तों की प्रामाणिकता स्वार्थिना सिद्ध है। तथापि जो 'सहस्रैकपुष्प' हैं, 'शम्भुप्रामाण्य' का बर्ण, अस्मात्क शब्द अज्ञ, सद्भरमाक प्रमाखम्' यही अतिनिवेश

* इसके लिए 'आत्मविज्ञान' प्रथम उपपद इच्छा है।

है जो तत्पर्याय वास्तुविज्ञान का सम्यक् नहीं करते X उनके परिणाम के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि इन आत्मतत्त्वार्थों की प्रामाणिकता का समर्थन करने वाले कुछ एक बचन भी उद्धृत कर लिए जायें। इनके विरुद्ध ही—प्रमासौक्यक महातुमार्थों का अन्वय ही इन बचनों से ही परिणत हो जायगा—
 कश्चात्प्रवृत्तः परात्परः-(१) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमवादितीयम् (छां० उ० ६।२।१)

(२)—यस्यामर्तं तस्य मर्तं मर्तं यस्य न वेद सः ।

अधिज्ञस्त विज्ञानर्ता विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

(३)—स विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधि ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अग्राप्य मनसा सह ॥

१-मायी परात्परपुरुष-यथा नयः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ॥

तथा विद्वानामरूपाद्भियुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति लिप्यम् ॥

—मुक्तेपनिषत् ३।२।२

२-जीवात्पर्ययो गृहोत्सा-एष सर्वेषु भूतेषु गृहोत्सा न प्रकथयति ।

इत्यतः त्वग्रयया युद्धया शूलमया इत्यमदर्शयिषि ॥

—उक्तेपनिषत् १।३।१२

३ जीवादातोऽप्यस्तत्त्वात् 'स एषोऽनन्तोऽप्येक आत्मा' (जाबालोपनिषत् २) ।

४-शास्त्रात्मा स्वाम्यम् ४)	—	अप्येकम्	} इन्द्रियाणि पराण्याहुर्निन्द्रियस्य पर मनः। मनस्तु परा बुद्धिश्च शेरत्मा महान् परः।। महत् परमस्यक्तमस्यक्तम् पुरुषः परः । पुरुषस्य परं किञ्चित् सा कथा सा परा गतिः ॥२॥
५-महानात्मा (पारमेष्ठिन)	—	महान्	
६-विज्ञानात्मा (बुद्धिः कथम्) शेरः	—	बुद्धिः	
७-प्रकृत्यात्मा (मनः-आत्म)	—	मनः	
८-भूतत्मा (शरीरम्-पार्थिवम्)	—	शरीरम्	

—उक्तेपनिषत्

X -युक्तिपुक्तमुपादयं वर्णनं बालक्यदपि ॥

अन्यत्तु यमिष त्वान्यमप्युक्त पञ्चजन्मना ॥१॥

अपि पौरुषमादयं शास्त्रं येषु किञ्चिदधिकम् ॥

अन्यत्त्वात्तमपि त्वान्यं मास्यं न्याय्यैस्तेषु ॥२॥

—योगवासिष्ठे

चतुर्विध शान्तात्मा स्वायम्भुव —

* शान्तात्मा—“नम शान्तात्मने तुभ्यम्” (मे० उप० ५।१।) ।

“चतुर्थं शान्तं आत्मा प्लुतप्रणवप्रयोगण समन्तमोमिति”

(भवपरिभाषो १।) ।

यदा स द्रवो जागृषि तदा चेष्टत जगत् ॥

यदा स्वपिति शान्तात्मा वदा सर्वं निमीलति ॥ मनु १।२०।

—•—

१-अन्तर्ध्यामी—“यं पृथिव्या तिष्ठन् , पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वद, यस्य पृथिवी शरीरं, यं पृथिवीमन्तरो यमपत्ति, ण्य त आमाज्जन्त्याम्यमृत” ।

—५० उ० ३।५।

—•—

२-सूत्रात्मा—“वायुर्धे गोलम ! तत् छवम् । वायुना वै गोलम ! वप्रणायं च लोहं, परमं लोकं, सर्वाणि च भूतानि सृष्ट्वानि मनन्ति”

—५० म ५०

—•—

३-चेदात्मा—“स एव नित्यकृतस्यः, स एव वत्पुरुष इति मन्यन्” (पञ्चमोऽध्यायः) ।

—•—

४-चिदात्मा—“अनुर्वाकरसो ह्यपमान्मा चिद्रूप एव” (नृ ३ म ३०) ।

—•—

* -चतुर्विधो महानात्मा पारमहंस-—

- ० प्रकृत्यात्मा—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महस्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सन्नमिदं जगत् ॥स्वे०३० ४११ ।
- ३ अहङ्क स्यात्मा—अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
पृथ्वगुष्मनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि ह्य ॥स्वे० ३१ ॥
- ४ यज्ञात्मा—एष ह वै यज्ञमानस्याहुर्मिन्लोकः ऽन्नात्मा भवति, यद्यज्ञः ।
स ह सर्वतनुर्व यज्ञमानो ऽहुर्मिन्लोकः सम्भवति, य एवं—
विश्रामिष्क्रीत्या यज्ञते'—शत०भा०१११।१।१६।

❁—विद्या विज्ञानात्मा मार—

विज्ञानात्मा सह दर्शय सच प्राणा भूतानि मम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।

तस्मिन् घटयत यस्तु सोम्य ! म मयत्र सर्वमेवाविवेश ॥

—प्रनोपनिषत् ४।११।

- १ विज्ञानात्मा—एव हि द्रष्टा, स्त्रष्टा, श्रोता, प्रस्ता, रसयिता, मन्ता, योद्धा,
कर्षा, विज्ञानात्मा पुरुष । स परेऽधरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठत ।
—प्रनोपनिषत् ४।११।

- ० देवात्मा—देवो गणस्यैव आत्मा, मानुषोऽपम् । स यम न्यञ्ज्यान्,
न इतं देवात्मानं प्रीणीष्यान् । अयं यन्नयनक्ति, तयो ह्येन
न्वामानं प्रीणाति—रत्न भा ६।१।४।४।

❁

❁—एकविंश प्रज्ञानात्मा चान्द्र—

यन्प्रधानमुत शनो ह्यनिधं यन्न्योनिरमृत प्रजासु ।

यस्मात्प्र श्यत किञ्चन कम्म क्रियत तन्म मन शिरसंरुन्मस्तु ॥यत्रु महिना'

"यदतन्—हृदय मनस्वतन् संग्रानमपानं विज्ञानं प्रज्ञानं मचाटिर्धुनि—

मनिमनीषा जनि स्मृति संरुन्प कतुरमु कयो पश—इति सबाणपरं—

तानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति । तेषां सत् प्रज्ञानेन, प्रज्ञाने प्रविष्टित
प्रज्ञानं ब्रह्म" — ऐतरेयब्रह्मसंहिता,

❀

पञ्चविधो भूतात्मा पार्थिवः —

"अथान्यत्राप्युक्तं—समोहो, मयं, विपादो, निद्रा, तन्द्रा, व्रणो, वरा, शोक, घृत्, विपासा, क्षापय्यं, क्रोधो, नास्तिक्यं, अज्ञानं, मात्सर्यं, वैकारय्यं, मूढत्वं, निर्वाहत्व, निकृष्टत्वं, उद्वेगत्वं, असमत्वं, इति तामसान्वितं—दृष्ट्या, स्नेहो, रागो, लोभो, हिंसा, रति, दृष्टिव्यापृतत्वं, ईर्ष्या, काम, अवस्थितत्वं, चञ्चलत्वं, विहीना, अर्थोपार्जन, मित्रानुग्रहत्वं, परिग्रहावलम्बो, अनिष्टपु—इन्द्रियाण्यु द्विष्टि, रिष्टव्य—मिपङ्ग—इति—रात्रसान्वितैः परिपूर्णं, एतैरभिभूतं, इत्ययं भूतात्मा । तन्मात्राना रूपाय्याप्नोति" । —मैत्रायण्युपनिषत् ३।३।

❀

१ प्राज्ञात्मा—“सुषुप्तस्यान, एकीभूत, प्रज्ञानपन एवानन्दमयो ज्ञानन्दसुखं—
येतोमुखः प्राज्ञस्त्वतीयः पदः" —माण्डूक्योपनिषत् ५।

❀

० जैवसात्मा—“स्वप्नस्थानो जन्तुः प्रज्ञ सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख प्रविविकसुखं—
द्वैजसो द्वितीयः पदः" —मा० ५।

❀

३ वैश्वानरात्मा—“जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख स्पृहसुखं—
वैश्वानरः प्रथमः पदः" —मा० ३।

४ इंद्रात्मा—“नवद्वारे पूरे देही इमो लेलापते बहिः ।

बशी सर्वस्य लोकस्य स्वावरस्य घरस्य च ॥ रवे० वप० ३।१५।

❀

५ मूलात्मा(शरीरम्)—“आत्मा वै सन् ” (शत० ६।७।२।६।) —“सुम्नादितर आत्मा मे—
धति च, कुर्याति च” (ता० म० ब्रा० ३।१।७।) —“तत्सर्वं
आत्मा (शरीरं) वाचमप्येति, वाचमयो भवति” ।

(बौ० ब्रा २।७।) ।



१०४-प्रतिमापोडशी में पञ्चोपेखरपोडशी-विवर्षो क्व अन्तर्मात्र—

पूर्व के अन्तर्मात्र परिच्छेदों में क्रमशः निष्कल, बोडशी, प्रतिमापोडशी, इन तीन अर्थों की क्रमिक मीमांसा हुई है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, महामायावन्दित्त-विद्युत्-मनोमूर्ति परस्पर पुरुष निष्कलतत्त्व है। तदसम्बन्धक-बोडशकल-महामायावन्दित्त-गूडोम्मा-अक्षतत्त्वस्य बोडशीतत्त्व है। एवं अक्षतत्त्वम् नामक व्यापक अक्षतत्त्व प्रतिमापोडशी है। इस अक्षतत्त्व के अक्षत, पुराडीर, मेद से भागी बाहर दो विभक्त हो जाते हैं। पुराडीर अक्षतत्त्व ही उपेखरपोडशी कहलाया है। यह उपेखरपोडशी ही स्वयम् (पुराडीरत्वयम्), परमेष्ठी, सूर्य चन्द्रमा धृषिणी, इन पाँच भागों में विभक्त होकर पञ्चावयव बना रहता है। पञ्चावयव उपेखरपोडशी निरवयव अक्षत नामक प्रतिमापोडशी से अन्तर्मात्र है। उषी की ये पाँच अन्तर्मात्रियाँ हैं। अतएव इन पाँचों का उस प्रतिमापोडशी-त्वम् में ही अन्तर्मात्र किया जा सकता है।

१ ५-आध्यात्मिक प्रतिमापोडशी-सप्तधर्मरूपविगूडशान्—

अक्षतत्वयम् अक्षतप्रतिमापोडशी है उपेखरत्त्वक पुराडीरत्वयम् अक्षत प्रतिमापोडशी है। इत्यत्र अक्षतीभाव पारमेष्ठ्य महान् पर निर्भर है अतएव इस पुराडीरत्वयम् का महान् में अन्तर्मात्र मान लिया जाता है। उच्च अक्षतप्रतिमापोडशी क्योंकि व्यापकत्वेन बोडशकल मारीमोक्षर से उत्पन्नित है अतएव इत्यत्र उसमें अन्तर्मात्र मान लिया जाता है। निष्कर्ष इह अन्तर्मात्रप्रक्रिया का यह निष्कर्ष है कि, निष्कल परात्परपुरुषस्य आत्मन पर प्रतिष्ठित महामाया बोडशीपुरुष के धर्म में महान्, विज्ञान प्रदान शरीर, इन चार प्रतिमाभाषों की तथा सिद्ध हो जाती है जिसे वैज्ञानिकों ने महान्, बुद्धि, मन, वायु, वैश्वानर, शरीर महिमा इन छत्र संस्कारों में विभक्त माना है। निष्कलाविनाशूत बोडशी महापोडशी है, तदविनाशूत अक्षतपोडशीरूप प्रतिमापोडशी इषी महापोडशी में अन्तर्मात्र है। पुराडीरपोडशीस्य प्रतिमापोडशी महान्पोडशी में अन्तर्मात्र है। परन्तु प्रतिमा शब्द से प्रथम संज्ञा केवल महान् तथा परमेष्ठी ही कथ्य रहते हैं। इस नवीन दृष्टिकोण को आधार बना कर ही हमें दो शब्दों में प्रतिमापोडशी तत्त्व-की मीमांसा करनी है।

- (१) निष्कलः—रबोवत्स्वस्यआत्मक परात्परपुरुष
 (२) पाडशी—परात्परत्त्वयात्तररत्त्वस्यस्यो महापोडशी } —अन्तर्मात्रो
 (३) प्रतिमापोडशी—महापोडशीना समतुलित-अक्षतपोडशी } व्यापकत्वात्

पञ्चाशत्योपेखर	}	(१) पुण्डरीकस्वप्नम् (अन्मत्तम्)	}	अत्र अन्तर्भावः पुण्डरीकान्यक्तस्य
		(२) पुण्डरीकपरमेष्ठी (महान्)		
		(३) पुण्डरीकसूर्यः (बुद्धिः)		
		(४) पुण्डरीकचन्द्रमा (मना)		
		(५) पुण्डरीकपृथिवी (शरीरम्)		

सिक्कलः (परस्पर)	}	निष्कल (१)
पोडरी (पोडरी)		}
अन्यक्तपोडरी (सत्य)		

पुण्डरीकस्वप्नम् (अल्पतम्)	}	}	}	}	}—प्रतिमापोडर्य' (३)
पुण्डरीकपरमेष्ठी (महान्)					
पुण्डरीकसूर्यः (बुद्धिः)]]]]	
पुण्डरीकचन्द्रमा (मना)]]]]	
पुण्डरीकपृथिवी (शरीरम्)]]]]	

विश्व प्रकाश निरूपित अविदेवतत्त्वा मे मूल आव्य-प्राप्ती का समन्वय है, एवमेव प्रकाश अन्वयान-संस्था मे मी होती विभाग यथाशुक्त प्रतिष्ठित है । अन्तर केवल इतना ही है कि, अविदेवत बीडरी महामाय-सम्बन्ध से बड़ी महापोडरी कहलाता है वहीं आध्यात्मिक पोडरी योगमात्रा के सम्बन्ध से बीजपोडरी कहलाता है, जिसे कि हम हमारी आध्यात्मिक निकोली की दृष्टि से महापोडरी मी कह सकते हैं । व्यापक अन्वय-सम्बन्धित महापोडरी (ईश्वरपोडरी) का अंशभूत योगमात्रावच्छिन्न बीजपोडरी अन्वयानसंस्था का पोडरी है । इस पोडरी के मर्म मे अविदेवत के पुण्डरीकस्वप्नम्, पुण्डरीकपरमेष्ठी, पुण्डरीकसूर्य, तीनों के प्रत्यक्षभूत

शान्तात्मा, महानात्मा विज्ञानरत्ना प्रकटित हैं। शान्तात्मा महानात्मा के गर्भ में अन्तर्भूत है। कण्ठः महान् और विज्ञान, ये प्रतिमायुग्मणी शेष रह जाते हैं। पुरबीरचन्द्रमा तथा पुष्यीरुचिनी के खौं के प्रकर्ष से अन्धकारमर्त्त्या में मन बाधु, वैशानर, शरीर इन चार प्रतिमामाओं का उदय होत्र है। इन के अतिरिक्त इन ६ खौं प्रतिमामाओं की महिमा (साहसीमरदण पुनःपद) का उभावेष और रहता है। कम्प्य महान् बुद्धि, मन, बाधु, वैशानर, शरीर, महिमा, ये छत प्रतिमाप्रभापति ही जाते हैं का आध्यात्मिक बीजपोडगी के गम में युक्त हैं। इत आध्यात्मिक लक्ष्य के उभयन्त्र के लिए आध्यात्मिक बरतक पर भी इच्छे बाल लेना आवश्यक होगा।

१०६—आधिदैविक—सप्त—प्रतिमापोडशी—स्वरूपदिग्दर्शन—

पञ्चाक्षय उपेक्षर के पाँचों पर्व क्रमशः प्राणमय (स्वभम्), आधोमय (परमेष्ठी), वाहमय (सूर्य) अधमय (चन्द्रमा) अन्नादमय (पृथिवी) हैं। अन्नादमय पाँचवाँ पृथिवीपर्व अग्निमय है। अित्य (मर्त्य), अितेनिकेव (अमृत) मेह से इतके वा विवर्त हैं। अित्याग्नि मूर्तिरुह है यही मर्त्यपृथिवी है। अितेनिकेवाग्नि की ही विहृत् पञ्चदश—एकविंशस्तोमये से पन-हरत-विजलास्त्वयाओं के द्वारा तीन विवर्तियाँ हो रही हैं, का अमृतान् अग्नि बाधु, इन्द्र नामों से प्रकट हैं। विहृत्—पञ्चदश—एकविंश तीनों स्तोम अमृतान् पृथिवी-अन्तरिक्ष-सौ-नामक तीन पार्थिव विवर्त हैं। तीनों के अमृतान् अग्नि-बाधु-इन्द्र-तीन नर (नामक अविद्याय) हैं। इन तीनों नरों के लम्बवय से उत्पन्न होने वाला त्रैलोक्यिक विवर्तान्-विद्वान् तत्त्व ही विहृत् अमृतान् है। यही अमृतान्परिमाणा में 'वैशानर' कहलाया है। वायु-इन्द्रगर्भित अग्निप्रधान विहृत् विहृत् है। अग्नि-इन्द्र-गर्भित बाधुप्रधान विहृत् द्विरस्वगर्भ है। एवं अग्निबाधुगर्भित इन्द्रप्रधान विहृत् लर्भ है। इत्यकार अग्नि-बाधु-इन्द्र-के लम्बवय से उत्पन्न एक ही विहृत् के अग्नि-बाधु-इन्द्र की प्रधानता-अप्रधानता से विहृत्-द्विरस्वगर्भ-लर्भ-के तीन विवर्त हो जाते हैं, अिनका केवल विहृत् नाम से भी उल्लेख किया जा सकता है।

विमूर्तिविहृत् का तीव्रान् अन्द्रप्रधान लर्भलर्भ वायुवेग से प्रकर्षमग्न से युक्त होकर अित्य बनता हुआ अपने लर्भ नाम को अन्वय बना रहा है। वायुवेग अपने ल्पामात्मिक बीजधर्म से विहृत् एक बनता हुआ अित्यमय इन्द्रलक्ष्य विहृत् को जानमय भी बना देता है। अित्यविहृत्मय यही स्तोम हैमर्त्यप्रमा नाम से अग्निपर्वों में अन्वयित हुआ है। इसी के लक्ष्य से इन्द्र लर्भ बन रहे हैं। अत्यर्ध-पार्थिव अितेनिकेव विहृत्अग्नि ही विहृत् द्विरस्वगर्भ-लर्भ इन तीन विवर्त माओं में परित्य हो रहा है। मूर्तिरुह के चारों ओर व्याप्त रहने वाला वराहबाधु एक लक्ष्य तत्त्व है। इत्यकार पुरबीर पृथिवीपर्व के मूर्तिरुह वराहबाधु, अित्य विहृत् य तीन विवर्त हो जाते हैं। ओषा पुरबीर अमृतान् है, पाँचवाँ पुरबीर सूर्य है अमृतान् पुष्यीर परमेष्ठी है अमृतान् पुष्यीर स्वभम् है यही अमृतान् है यही महिमा है। इत्यकार अविश्वकर्तृता में महिमा (स्वभम्), परमेष्ठी, सूर्य, अमृतान्, वराहबाधु, अित्यविहृत् मूर्तिरुह व अत्य प्रतिमायुग्मणी ही जाते हैं।

१०७—प्रमा, और प्राण का अमिलता—

उक्त आधिदैविक लक्ष्य से ही आध्यात्मिक लक्ष्य का निर्माण हुआ है। आध्यात्मिक लक्ष्य पर्व अमृतान् महिमा (स्वभम्) का प्रकर्षमग्न आकाश) महान् बुद्धि मन, अित्य वैशानर, बाधुमूर्ति इत्यमृत शरीर इन पाँचों में व्यष्टय हुए हैं। अविश्वकर्तृता का विमूर्ति विहृत् से अमृतान्प्रभापति में विमूर्ति अमृतान् कहलाया है। वायु-इन्द्रगर्भित अग्निप्रधान अग्निप्रधान वैशानर वैशानर नाम से अग्नि-इन्द्रगर्भित अित्यप्रधान

वाक्य्य वैशानर तैत्तस नाम से, एवं अधिष्ठायाभिर्गतं ज्ञानप्रधान ऐन्द्र वैशानर प्राह नाम से व्यवहृत हुआ है। ऐन्द्र प्राह में चिदंश, सोम, प्राण तीनों शक्तों का सम्मन्वय हो रहा है। चिदंश, सोम दोनों की समष्टि 'प्रज्ञा' है। यह प्रज्ञातत्त्व इन्द्रप्राणात्मक है। प्रज्ञा (सोमविशिष्ट चिदंश) विशिष्ट इन्द्रप्राण ही 'प्राह' है। प्रज्ञा, और प्राण, दोनों अधिनाम्न हैं। अतएव प्रज्ञा को प्राण कह दिया जाता है एवं प्राण को प्रज्ञा नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है, वैसाकि निम्न लिखित उपनियच्छ्रुति से प्रमाणित है—

“यो वै प्राण, सा प्रज्ञा । या प्रज्ञा, स प्राण । सहस्रता-
बस्मिच्छरीरे वसत, सहोत्क्रामत । तस्यैपैव दृष्टिः” । (श्री० उप० ३।३।)

इति तु—अधिदैवतम्

इति तु—अध्यात्मम्

अधिष्ठाता	निष्कला महायोद्धरी अध्यात्मः	महायोद्धरी गृह्णन्मा
अधिष्ठाता	स्वप्नम् :]—महिमा (१) परमशी]—परमेशी (२) सूर्याः]—सूर्या (१) चन्द्रमाः]—चन्द्रमा (४)	
अधिष्ठाता	सर्वत हितपदगर्भा विद्युः	विद्युः (५)
अधिष्ठाता	वपुः]—वायु (१) मन्त्रिणाः]—मन्त्रिणा (७)	

अधिष्ठाता	निष्कला वीर्योद्धरी अध्यात्मः	वीर्योद्धरी गृह्णन्मा
अधिष्ठाता	अध्यात्मम्]—महिमा (२) महान्]—महान् (२) बुधिः]—बुधि (१) मनः]—मन (४)	
अधिष्ठाता	प्राहः तैत्तस वैशानर	वैशानर (३)
अधिष्ठाता	हंसा]—वायु (१) शरीरम्]—शरीरम् (७)	

१-गायी परब्रह्मसुक्ता (१६)-१
 १ २-बीजास्यसो गृहोत्पत्ता (१८)-२] गृहोत्पत्ता-बीजास्यसो (८)]-सोऽप्यौ १
 १-बीजास्यसोऽप्यस्यसुक्ता (१७)-१

४-आन्तर्यामी (१४)-१
 २ १-सूक्तसुक्ता (१५)-२] सप्तमि (आन्तर्यामीस्यसुक्ता) (७)
 १-वेदसुक्ता (१५)-३
 ७-विषयसुक्ता (१४)-४

८-आन्तर्यामी (१२)-१
 १ १-सूक्तसुक्ता (११)-२] सप्तमि (१)
 १-आन्तर्यामी (१०)-१
 ११-सूक्तसुक्ता (११)-४

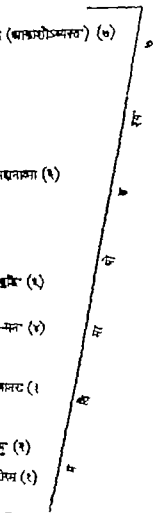
१२-विष्णुसुक्ता (८)-१
 ४ ११-वेदसुक्ता (७)-१] सुक्ते (१)

४ १४-सूक्तसुक्ता (४)-१] सप्त (४)

१५-सूक्तसुक्ता (३)-१
 १ १६-वेदसुक्ता (५)-२] वेदसुक्ता (१)
 १७-सूक्तसुक्ता (४)-१

७ १८-सूक्तसुक्ता (१)-१] सप्त (१)

८ १९-सूक्तसुक्ता (१)-१] सप्तमि (१)



पूर्वप्रतिपादित एकोनविंशतिमुल (१९) आत्मविकर्तों का उक्त आठों आत्मपदों में अन्तर्भाव हो जाता है। १-मायी परस्परपुरुष, २-बीबाभ्यक्त-ह्रमा, ३-बीबाधर अभ्यक्तात्मा, तीनों आत्मविकर्तों की समष्टि का आठवें गून्हेमा में अन्तर्भाव है। अन्तर्भ्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा विद्यात्मा, चारों का सातवें स्वायम्भुव अभ्यक्तात्मा में अन्तर्भाव है। आहूत्तात्मा, प्रकृत्यात्मा अहङ्कृत्यात्मा, यत्नात्मा, चारों का छठे पारमेष्ठ्य महात्तात्मा में अन्तर्भाव है। विज्ञानात्मा, देवतात्मा, दानों का पाँचवें बुद्धिविकर्त में अन्तर्भाव है। प्रज्ञानात्मा ही चौथा मन-पर्व है। प्राण, टोक्स वैशानर-लक्ष्य वैशानर तीसरे वैशानर पर्व से संप्रदीप्त है। इंद्रात्मा इसका वायव्य इह-पर्व है। मृतात्मा पहिले शरीरपत्र से संप्रदीप्त है। इहप्रकार १९ ही आत्मविकर्त इह पर्वच्छक से संप्रदीप्त हो रहे हैं, शेषादि पूर्व परिच्छेद में लक्ष्य है।

१०८-अधिदैवतानुगत सप्तपर्व, तथा अध्यात्मलुगत पट्पर्व—

जिस प्रकार १९ आत्मविकर्तों का ८ में अन्तर्भाव है, एवमेव आठ आत्मविकर्तों का ३ आत्मविकर्तों में भी अन्तर्भाव माना जा सकता है। भूतानलक्ष्य शरीर, इंद्रात्मलक्ष्य वायु, वैशानरपत्रलक्ष्य वैशानर, टोक्सलक्ष्य वैशानर, प्राणलक्ष्य वैशानर, ये पाँचों पारिविकर्त हैं पाँचों की समष्टि को 'मूलात्मा' इत एक नाम से संप्रदीप्त माना जा सकता है यही प्रथम अधिविज्ञानात्मा है। मनोलक्ष्य 'प्रज्ञानात्मा' द्वितीय अधिविज्ञानात्मा है। बुद्धिलक्ष्य 'विज्ञानात्मा' तृतीय अधिविज्ञानात्मा है। आहूति-प्रकृति-अहङ्कृति-यत्-लक्ष्य 'महात्तात्मा' चतुर्थ अधिविज्ञानात्मा है। अन्तर्भ्यामी-सूत्र-वेत्-विद्-लक्ष्य 'अभ्यक्तात्मा' पञ्चम अधिविज्ञानात्मा है। मायी परस्पर, बीबाभ्यक्ती, बीबाभ्यक्त-समष्टिक्रम दोहरी, इन पाँचों अधिविज्ञानात्माओं पर आध्य खने वाला ३ ठा आत्मा है। एवं अधिदैवत, तथा अध्यात्मदृष्टि से ये पट्पर्वच समस्तुशित हैं।

अध्यात्मसंस्था में एक आत्मपर्व विशेष इसलिए है कि, अध्यात्मसंस्था अधिभक्त के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतएव प्रतिरिक्त बीबायोहरी के अतिरिक्त इस अध्यात्मसंस्था में सर्वव्यापक ईश्वरयोहरी भी विभूति-सम्पन्न से प्रतिष्ठित रहता है। अतएव-अध्यात्म में ईश्वरयोहरी, बीबायोहरी, पञ्च अधिविज्ञानात्मा इन सात पदों का सम्भव है। अध्यात्मसंस्था के बिलसे एक परिगणित कायं बीबायोहरी पर नियंत्र है, एवं स्थित एक कर्म आध्यात्मिक ईश्वरयोहरी की प्रेरणा पर अचलान्वित है। भोजनकर्म यहाँ बीबायोहरी पर निर्भर है यहाँ मुख्यतः को रसायनिकतम में परिष्कृत करना ईश्वरकामना पर निर्भर है। चक्रवर्ती रूपसे के आजातम में लघुजन-पत्नी में मूर्धाभिहित मण्डलेश्वर रूपतियो की भी सत्ता रहती है। अकर्मणों के व्यापक शासनत्व का विरोध न करते हुए मण्डलेश्वरों को अपने अपने कर्मों का शासन करना पड़ता है। यदि मण्डलेश्वर पूर्ण कल्याणी होकर स्वच्छन बन जाते हैं तो वे स्वयं अकर्मणों की बन जाते हैं। ठीक यही परिमिति यहाँ समझिए। ईश्वर अकर्मणों है, बीबा मण्डलेश्वर है। निर्दलश्या में स्वच्छन बनने का प्रयास करने वाले मण्डलेश्वरधीन इच्छित होते हुए पद्यमूल हो जाते हैं। परिपूर्ण विद्याक्त (बुद्धियोग) के प्रभाव से ये स्वयं ईश्वरभाव में परिणत हो जाते हैं। तात्पर्य-बीबासंस्था में ईश्वर का भी हस्तक्षेप रहता है। अतएव बीबा परच्छन माने गए हैं ७। यही परमाधर्ष है।

० इश्वर सर्वभूतानां हृद्दशोऽनुत्त ! सिद्धति ।

आमपन् सभभूतानि यन्त्रास्तूतानि मायया ॥

—गीता

मापी परादरपुत्रव' (१६)	} बीजबोद्धरी (८)	ईश्वराम्यव' (७)	• • • •
बीजाम्यवो गृहरेमा (१८)		बीजाम्यव' (९)	ईश्वराम्यवः (९)
बीजाधरोऽम्भकशरणा (१७)			
अन्तर्व्यामी (१९)	} महिमा (७)	} अम्भकशरणा (५)	} स्वयम्भः (५)
एतन्मा (१५)			
वेदात्मा (१४)			
चिदात्मा (१३)			
आहृत्यारणा (१२)	} महान् (६)	} महानात्मा (४) (परमेष्ठिनः)	} परमेष्ठी (४)
प्रकृत्यात्मा (११)			
अहङ्कारात्मा (१०)			
महात्मा (९)			
विज्ञानात्मा (८)	} बुद्धिः (५)	} विज्ञानात्मा (३) (सेट)	} सूर्यः (३)
देवात्मा (७)			
प्रज्ञानात्मा (६)	} मना (४)	} प्रज्ञानात्मा (२) (ब्रह्म)	} ब्रह्मणाः (२)
प्रज्ञात्मा (५)			
तेजसात्मा (४)	} वैश्वानरः (३)	} महात्मा (१) (पार्ष्णिक्)	} सूर्यिणी (१)
वैश्वानरात्मा (३)			
इन्द्रात्मा (२)	} वायुः (२)	}	}
महात्मा (१)			

अविष्कारानां—पञ्च

अध्यात्मम्—मृत पञ्चोप

अविदेवतम्—सर्वपञ्चिक

अध्यात्मम्—

- आत्मा { (१) १-महापोषणी गूढेत्मा—ईश्वराभ्याय (सर्वाधिदातृत्वेन श्रीकृष्णापि-अभिहाता) विद्याविधे
 २-वीर्यपोषणी गूढेत्मा—श्रीलाभ्याय (अध्यात्मविहाता प्रातिरिक्ता) शनकर्मणी

शरीरविभक्तियाः	(१) १-अभ्यस्तारत्मा—स्वायम्भुव प्राणमूर्ति आकाश
	(२) २-महानात्मा—पारमेष्ठ्योऽधमूर्ति वायु
	(३) ३-विज्ञानात्मा—सौरी वाङ्मूर्ति तेज
	(४) ४-महानात्मा—बान्द्रोऽन्नमूर्ति क्लृप्त
	(५) ५-भूतारत्मा—गार्गीषोऽन्नामूर्ति मृत

आत्मप्रायः

भूतप्रायः

१०६-राजर्षिपुत्रसम्मत आत्मस्वरूपसमन्वय—

उक्त विवेचन से पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि अध्यात्मसंस्था में प्रधानता भूतात्मा प्रधानात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, शान्तात्मा (अभ्यस्तारत्मा), गूढेत्मा, इन ५ आत्मविभक्तों की ही है। शेष आत्मा इन्हीं ५ आत्मियों के अन्तर्गत विभक्त हैं। इन ५ आत्मियों में गूढेत्मा मुख्य आत्मा है शान्तात्मादि पाँचों वैचारिक आत्मा हैं। मत्तान् मनु में इन्हीं पाँचों का स्वरूपविच्छेदक किया है। "हमारी अध्यात्मसंस्था में एक आत्मा नहीं, अरिष्ट अनेक आत्मा है एवं उनके नाम-कर्म-कर्म पूषण् पूषण्" इत वैज्ञानिक विज्ञानत का अगमिष्यात्त्वबन्दी कश्चित्-नेदान्तनिर्णय की दृष्टि में सखे ही कर्तव्य मूल्य न हो, परन्तु शास्त्रसम्मत वैज्ञानिकों की दृष्टि में तो लम्बल चर्म्मोच्छिद्यत्त्वव्या की मूलप्रतिष्ठा बन्दी वैज्ञानिक आत्ममेव है। मानवशास्त्र-परिमाणुतावार के पाँचों वैचारिक आत्मा क्रमशः 'शान्तात्मा, जीवन्तात्मा, ज्ञेयतात्मा, मन, भूतारत्मा, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। एवं ५ टा गूढेत्मा 'साक्षी' नाम से व्यवहृत हुआ है। वैचारिक आत्मपञ्चक का साक्षी गूढेत्मा ही माना गया है। जब तक आत्मा (वैचारिक आत्मा) आत्मा (गूढेत्मा) के नियन्त्रण में रहता हुआ प्रकृतनुकूल आचरण कल्या रहता है तभी तक इच्छा अन्तुदय निःश्रेयस है ०। योगप्रपञ्च का लक्ष्य केवल वैचारिक आत्मपञ्चक के साथ ही माना गया है। अभ्यव्ययान गूढेत्मा तो वस्तुतः केवल साक्षी ही बना रहता है, बिल्के शिष्ट शीष्ट में-गर्विमेच्छा प्रसु साक्षी (गी० २।१८) यह शिष्टस्त स्थापित हुआ है। यही मनुष्यपान् का पहिला साक्षी गूढेत्मा है, बिल्क निम्न शिष्टित शरणों में विच्छेदक हुआ है-

+ "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं मौक्तेत्याहुर्मनीषिय" (छन्दोपनिषत्)।

आत्मैव आत्मनः साक्षी, गतिरात्मा तथात्मन ।
मात्रमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिस्समुत्तमम् ॥ (मनु ५:२४:३१) ।

दर्शो वैकारिक आत्माओं में शान्तरत्ना स्वयामुव है अस्मत्तत्त्वम्नां है । शेष चारों व्यक्त हैं । शान्तरत्ना को स्मरतावस्था ही छति है, अस्मत्तत्त्वत्वा ही लय है । अहयगम में अस्मत्त ही व्यक्तभाव में परिणत होकर सृष्टिकर्म का मूलप्रभव बनता है, एवं शान्तरत्ना में अस्मत्त ही बन्धव्यक्त व्यक्तभावों को अपने अस्मत्तत्वस्व में लीन करता हुआ छति का उपसंहार बन जाता है । वही अस्मत्तत्वम्नां प्राणमूर्ति स्वयामुव 'शान्तरत्ना' नामक प्रथम वैकारिक आत्मा का स्वस्मत्तत्त्वत्वा है, जिसका निम्न स्थिति बचन से स्मर्यत हुआ है—

यदा स द्रवो जागर्षि तदेदं चेतते अगत् ।
यदा स्वपिति शान्तरत्ना तदा सर्वं निमीलति ॥१॥
तस्मिन् स्वपिति सुस्थे तु कर्म्मर्त्मानः शरीरिणः ।
स्वकर्मभ्यो निवर्षन्ते मनस ग्लानिमृच्छति ॥२॥
युगपत् प्रलीपन्त यदा तस्मिन् महात्मनि ।
तथायं समंभवात्मा सुखं स्वपिति निवृत्तः ॥३॥ (मनु १:२२:२३,२४) ।

१०६—शान्तरत्नात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

शान्तरत्ना क्योंकि अस्मत्तत्वम्नां है अतएव इन्हें मुक्त गूणेश्वर नामक विराटा का अस्मत्त हो जाता है । अतएव अस्मत्तानुभव विद्वत्त्वा का स्मर्यमान नहीं होने पाता । अतएवच अस्मत्तत्वान् हमारे लिए अस्मत्त अज्ञात) ही बना रहता है । हम(वीर्यत्वा)नहीं जान पाते कि, शान्तरत्ना का कैसा स्वस्व है ? । विद्वत्त्वा को महर्गम में प्रतिष्ठित कर विद्वत्त्वा को स्मर्यत्व प्रदान करना इत्यत्र प्रदान कर्म है । शरीर-नेत्र-बल को स्व-वेदमहिमा के द्वारा सुरक्षित रखना इत्या वृत्त कर्म है । अपने श्रुत, लय-वृत्तों के द्वारा अपने स्वात्मिक प्राणत्वक विवरणकर्म में आध्यात्मिक चर-शैतिक परमाणुओं को कूटस्वस्व से सुरक्षित बनाए रखना इत्या तीव्र कर्म है । अपने दहरपुण्डरीकत्वक कूटस्व सं रिपति-आगति-गति-रथा-मात्रपी स पदाओं का नियन्त्रण कये रहना उन्हें नियन्त्र-आहृष्टिक-मर्त्यां से लक्षित रखना इत्या चौथा कर्म है । इसी कर्मचतुष्टयी-भेद से इत एक ही स्वयम्भुव शान्तरत्ना के विद्वत्त्वा वेदवत्त्वा सूत्रमा, अस्मत्तत्त्वमी, स चार विषय हो जाते हैं जिनका पूर्व में दिग्दर्शन करवा जा चुका है । इन्हें से चारों ही विषय अस्मत्त, अतएव अद्विष्ट है । हम इनके लक्षण म बद् अनुमान मर लगा लकते हैं कि अतएव ही हमारी अस्मत्त-त्वा में कोई तत्र दिष्ट है किने हम जानते ठा नहीं, किन्तु जो अपनी निपति से हमारी निवृत्तकर्म को

गतिमत्ता प्रसू साक्षी निवास शरय सुदृत्वा
प्रमत्र प्रलय-स्थान निधानं बीजमव्ययम् ॥ (गी ६:१५) ।

और प्रकृति बनाए रखता है—'किंतापि हेनेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'। अक्षर्य ही किन्तु तत्त्व में शारीर स्वरूपमात्राओं का एकसूत्र में संघटन कर रक्ता है। निश्चयेन आत्मीयतात्मक शरीर-यत्न का कोर्ष न कोर्ष आत्मन है। अक्षर्य ही किन्ती अक्षयस्वरूपेणा से विहात्मा विहामासक्त्य में परिणत हो रहा है। अनुमानैकगम्य, अक्षयस्वरूपमां, अनुर्विष शान्तरमा का यही इतिहास है।

११०—मीमांस्य महानात्मा—

स्वयम्भुव अक्षयस्वरूपमां शान्तरमा के अनन्तर पारमेष्ठ्य, अक्षयस्वरूपमां महानात्मा की ओर हमारी दृष्टि जाती है। नही आत्मा मानवपरिमाणानुसार 'बीजात्मा' नाम से मी अक्षयस्वरूपमां हुआ है। यद्यपि औपनिषत् विद्वान्त्वानुसार 'मोक्षत्मा' ही बीजात्मा है। एवं 'वैश्वानर-सैवय-याज्ञ' की तमस्विकरूप अक्षयत्मा, तथा मन इन्द्रिय, इन तीनों के समन्वितरूप का ही नाम मोक्षत्मा है *। तथापि एक विशेष हेतु से मन्वान् मनु में महानात्मा को मी बीजात्मा नाम से अक्षयस्वरूपमां कर दिया है। उक्त विशेष हेतु के समन्वय के लिए हमें महान विज्ञान, प्रज्ञान, तीनों के स्वरूप पर एक साथ दृष्टि डालनी पड़ेगी। क्योंकि अक्षयस्वरूपमां में इन तीनों आत्मविषयों का स्वरूप परस्पर संश्लिष्ट-सा है। अतएव महानात्मा मीमांस्य बन रहा है।

१११—अक्षयस्वरूपमां की दर्शपूर्णमासप्रक्रिया—

आधिदैवतसंख्या में पृथिवी स्वयम्भुव है, अक्षयसा प्रज्ञानात्मा है, सूर्य विज्ञानात्मा है, एवं परमेष्ठी महानात्मा है। आध्यात्मिक अक्षयस्वरूप के समन्वय से पहिले इत आधिदैविक अक्षयस्वरूप की विशेषता पर दृष्टि डालिए। प्रज्ञानात्मासंघटन अक्षयसा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। अक्षयसा को साथ लिए हुए मूलप्रमलसंघटन पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रही है। अक्षयसा पृथिवी को साथ लिए हुए विज्ञानात्मासंघटन सूर्य परमेष्ठो के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। अक्षयसा पृथिवी, एवं सूर्य को साथ लिए हुए महानात्मासंघटन परमेष्ठी शान्तरमासंघटन स्वयम्भु के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। शान्तरमासंघटन स्वयम्भु सर्वथा स्थिर, अक्षयस्वरूपमां है। इत परिक्रमा से इन तीनों पर्वों के अक्षयसा परस्पर अक्षय-अक्षय-भाव बना हुआ है। परिक्रमासंघटन आत्मानविकर्माभावान्तिका अक्षयसासंघटनिका यह प्रक्रिया ही पञ्चपरिणत में 'दर्शपूर्णमास' नाम से प्रसिद्ध हुई है। पर्वों में से प्रथम स्वयम्भु को दर्श-यज्ञ का ही प्रथम कहे, योय चारों में दर्श-पूर्णमास दोनों का समन्वय हो रहा है। पृथिवी, अक्षयसा सूर्य, परमेष्ठी, चारों का रहनिर्गमनभाव दर्शसंख्या है, चारों का रहगमनभाव पूर्णमासासंख्या है। स्थिर स्वयम्भु किन्ती के परिक्रमा नहीं लगाता एक्षयसा इत्थी दृष्टिकोण से इत्थे केवल दर्शप्रक्रिया का अनुमानी मान लिया गया है। तत्त्वतः निर्गमक यह मी चारों पर्वों की मूर्ति आदन का मी अक्षयसा बना हुआ है। क्योंकि चारों पर्व इत्थे परिमाणपरक में मुक्त हैं। अतएव—'आत्मनि प्रजातिमपत्त' विद्वान्त्वानुसार इत्थे मी चारों के रत्नों का आगम हो रहा है। अतएव य इत दृष्टिकोण से इत्थे मी दर्शयत्न पूर्णमास का मी अक्षयसा मान लिया गया है किन्ती निम्न लिखित बचन से प्रमाणित है—

*—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्त मोक्षेत्वाहुस्मनीपिण्य' (ऊपनिषत्)।

“ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽप्यथ । तद्वैचेतन वै तपस्यानन्त्यमस्ति, हन्ताहं भूतेष्व्वात्मानं शुद्धधानि, भूतानि चात्मनि-इति । तत् सर्वेषु भूतेष्व्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां भ्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधित्यं पर्येतु” —शत भा० १३।७।१।।

(भूतेष्व्वात्मानं हुत्वा—रसविसर्गावस्था दर्शः)

(भूतानि चात्मनि हुत्वा—रसादानावस्था-मूखमास)

११२—आकृति-प्रकृति-आह्वृत्ति-जनक दर्शपूर्णमासयज्ञ—

उक्त दर्शपूर्णमासयज्ञिया का कल होता है—त्रैगुण्यमान । मरुत्सङ्घ परमेष्ठी, विमानसङ्घ सूर्य, प्रधानसङ्घ चन्द्रमा, राशिसङ्घ (भूतस्मालसङ्घ) पृथिवी, चारों कत्व—रज—सत्व—गुणों से युक्त रहते हैं, एवं इस त्रिगुण की प्रकृति इसी दर्शपूर्णमासयज्ञिया पर आकृतमित्य है । पहिले मरुत्सङ्घ—परमेष्ठी के त्रिगुण्यमान की ही मीमांसा कीजिए । सूर्यविरोधसङ्घ—आह्वृत्ति—परमेष्ठी के चारों ओर सूर्य परिभ्रमा लगा रहा है वह कहा का युवा है । यही सूर्य का दर्शपूर्णमासयज्ञ है । सूर्यमहिमा में चन्द्रमा और पृथिवी भी प्रसिद्धि है । फलतः सूर्य के साथ साथ परमेष्ठी में इन दोनों का भी सम्बन्ध प्रकृतिसिद्ध बन जाता है । पार्थिव परिभ्रमण के कारण परमेष्ठी महान् में—‘आकृतिमात्र’ का उदय हो जाता है । चन्द्र परिभ्रमण के कारण ‘प्रकृतिमात्र’ का उदय हो जाता है । एवं और परिभ्रमण के कारण आह्वृत्तिमात्र का उदय हो जाता है । आह्वृत्ति का पार्थिव मूल्यय से सम्बन्ध है प्रकृति का चन्द्र महामय से सम्बन्ध है एवं आह्वृत्ति का और आह्वृत्ति से सम्बन्ध है । इसप्रकार पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य, तीनों के परिभ्रमण से परमेष्ठी—महान् में आह्वृत्ति—प्रकृति—आह्वृत्ति, तीन अवस्थाओं का उदय हो जाता है ।

११३—त्रैगुण्यमानजनक दिशि-अदिति-मात्र—

सूर्य स्वभोतिर्भन पदार्थ है । इसके सम्बन्ध से परमेष्ठी में भी उदीयप्रकार दिशि-अदिति-मात्रों का उदय हो जाता है । वैशेषिक पृथिवी में इन दोनों का सम्बन्ध रहता है । और—ज्योति से अगुणत पार्थिव अर्द्ध—मरुत्सङ्घ अदिति—पृथिवी है । सूर्यविक्रमत्रिगुणत पार्थिव अर्द्धमरुत्सङ्घ दिशिपृथिवी है । अदितिपृथिवी ज्योतिर्मयी है यही आह्वृत्ति है । दिशिपृथिवी ज्योतिर्मयी है यही प्रकृति है । इन दोनों के मध्य में एक तीसरे सम्बन्धप्रकार का उदय आर हो जाता है । ठीक यही अकृता परमेष्ठी में सम्भवि । परमेष्ठी का जो मय सूर्य—युक्त बना रहता है वह ज्योतिर्मयी आदिति है । जो मय सूर्यविक्रमत्रिगुणत बना रहता है वह ज्योतिर्मयी पृथिवी है । ज्योतिर्मय अर्द्धपरमेष्ठी सत्त्वगुणक है ज्योतिर्मय अर्द्धपरमेष्ठी तमोगुणक है । दोनों की सम्बन्धप्रकार से युक्त परमेष्ठी त्रैगुण्यक है । इसप्रकार केवल सूर्यपरिभ्रमणक और दर्शपूर्णमास से परमेष्ठी के

७—या प्राखेन सम्भवत्यदिभिर्वेदाभ्याम् ।-

गुहां प्रविश्य विन्दन्

पयोतिर्मय-सान्ध्य-तमोमय ये तीन विषय हो जाते हैं एवं इसके ये तीनों विषय ही क्रमशः सत्य-रस-स्तमाशुभाक महान् कहलाए हैं। स्यानुगत सत्वगुणक परमेष्ठी स्यात्मक अहङ्कृतिमात्र-प्रधान है। स्य-विद्युद्विगनुगत तमोगुणक परमेष्ठी चन्द्रात्मक प्रकृतिमात्र-प्रधान है। सान्ध्य मावानुगत रजोगुणक परमेष्ठी पृथिव्यात्मक आहृतिमात्र-प्रधान है। तात्पर्य-सत्वगुण का स्यात्मक अहङ्कृतिमात्र से, रजोगुण का चन्द्रात्मक प्रकृतिमात्र से, एवं तमोगुण का पृथिव्यात्मक आहृतिमात्र से प्रधान सम्बन्ध है। आगे बाकर आहृति-प्रकृति-अहङ्कृति तीनों में इन तीनों गुणों का सम्बन्ध हो जाता है।

११४-पद्मावापन्न पारमेष्ठ्य महान् की महत्ता—

उक्त कथन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य के द्वारा तो परमेष्ठी में क्रमशः आहृति-प्रकृति-अहङ्कृति-भाषों का उदय हुआ। एवं सूर्यनरिप्रमया से परमेष्ठी में सत्वरत्नतमोगुणों का उदय हुआ। इसप्रकार पदमावापन्न यही परमेष्ठी महान् कहलाया। अब से महान् अतएव 'महतो महीवान्' नाम से प्रसिद्ध मूलेन्द्रापरपर्यायक चिदात्मा की योगि यही परमेष्ठी बना। महतो महीवान् आत्मा को भी इसने अपने गम में प्रसिद्धि का शिष्या। अन्धकपन्ना पुण्डीररत्नयम् भी 'साऽयाऽसृजत-वाच एव सोऽवान्' सिद्धान्तानुसार इसने अन्धक से अन्धमृत हो गया। समहिम-स्य, चन्द्रमा पृथिवी इतनी महिमा के गर्भ में प्रकृत्य ही प्रसिद्ध है। परमेष्ठी की इसी महत्ता की दृष्टि से यह सविद्यवा 'महान्' कहलाया।

पद्मावापन्नो- महान्	आहृतिमहान् (पृथिव्यनुगत परमेष्ठी)	तमोगुणकः—स्यविद्युद्विगनुगतः
	प्रकृतिमहान् (चन्द्रमानुगत परमेष्ठी)	रजोगुणकः—सान्ध्य
	अहङ्कृतिमहान् (स्यानुगत परमेष्ठी)	सत्यगुणकः—स्यविगनुगतः



११५-चिन्स्वरूपग्राहक धीध्र 'महान्'—

अब हमारे कामने वह प्रश्न उपस्थित हुआ जिसके समन्वय के लिए हमें महान् की महत्ता का प्रात-द्विक निगूहन करना पड़ा। महान्स्वरूप परमेष्ठी, जिसे परमेष्ठीरूप महान्त्मा बीतामा क्यों कहलाया, प्रश्न का उत्तर इसके मनोत्तमात्र पर निरभर है। परमेष्ठीरूप के मनस्ता मृगु, अद्विग अवि, मे से तीन मार्गों में विभक्त है। इनमें मृगु नामक स्नेहगुणक मनस्ता ही प्रश्न के उत्तर का प्रधान आशय्य है। पन-ताम-शिम भ-म मृगु की आप वायु-नेमा-ये तीन अक्षरवा हो जाती हैं ॥ चित्तप्रकार सत्त्व व्याप्त रत्ना हुआ भी मूय प्रतिबिम्बवाहक रूप आदर्श आति बीध चगतकों के अतिरिक्त अन्यत्र प्रतिबिम्बित नहीं होता एवमव आप-वायु-मम इन तीन मार्गों धीध्र चगतकों का छोड़ कर सर्वत्र व्याप्त रहना हुआ भी

म-वायु-राप-रचन्द्रमा (गोम)-इत्यन भूगत ।

(—गायधमा पू 121)।

चिरात्मा अल्प्य प्रतिमास्थि नहीं होता । सूर्यस्थानीय विवात्मा का आमास (प्रतिबिम्ब) ही चिरात्मा कहलाता है । एवं दार्शनिक परिभाषासुसार चिरात्मा ही 'बीज' माना गया है । विदात्माच्छाद्य (चित्प्रतिबिम्ब-लक्षण) बीजत्मा का बीजत्व मार्गव्य पारमेष्ठ्यत्वन पर ही अकल्पित है । महान् परमेष्ठी ही स्युःपीठ्य से चित् का माहक बनता है । अतएव स्युःपीठ्य प्रकाश में बीजत्व आत्म, वाप्य, सौम्य, मेघ से छीन माली में ही विमल है । अत्रत्याज्योपेत पारमेष्ठ्य छेम बन तक चिरम्बोति से युक्त नहीं हो जाता तब तक यह केवल छेम ही कहलाता है । यही इच्छी यदिलक्षणया नीक्याकस्या है जो अकस्या 'अनिरक्तलक्षण्य' नाम से व्यञ्जित हुई है । चिरम्बोति के आमास से यह बीज छेम अमक पड़ता है । यही इच्छी माहकवत्या है । चिद्युक्त पारमेष्ठ्य छेम ही महान् है यही निष्कर्म है । अल्प्य ज्योतिष्मान् अक्षय्य है । परन्तु इच्छा ज्योतिष्-प्रकार कर्म परमव (चित्माहकव्य) है । बिना छेममव महान् के यह प्रकाशित नहीं होता । महान् ही इच्छी चिर-माहिषी योनि है और कि निम्न किञ्चित् गीताचरण से प्रमथित है—

मम योनिर्महदुच्छ्र तस्मिन् गर्भं दद्याम्यहम् ।

सम्भव' सर्वभूतानां ततो भवति मारुत ! ॥१॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूच्य' सम्भवन्ति या' ।

तासां ब्रह्म महद्योनिर्हं बीजप्रद' पिता ॥२॥—(गीता:४।१,४)।

११६—सूर्यानुगत चितिमात्र—

अल्प्य, और चिति इन दो सम्बन्धी को लक्षण बनाएँ । परमेष्ठी आधोम्य है अतएव अल्प्य(निर्माण) इच्छा स्वामाहिक धर्म है । प्रत्यक्ष में भी पानी में जो भी वस्तु डाली जाती है अपीत हो जाती है । आरीमव महान् परमेष्ठी चित्माहक अक्षय्य है । परन्तु स्वामाहिक अल्प्यधर्म के कारण चिरात्मा तब तक इच्छी प्रस्तुतिय नहीं हो जाता जब तक कि इच्छी चिति-सम्बन्ध का उद्भव नहीं हो जाता । चितिधर्म अमितारोह है । अतएव अमितार चितिमात्र (अल्प्य चित्या) नाम से व्यञ्जित हुआ है । विश्वैन्द्रत्य सवित्राग्निमव, विज्ञानचन सूर्य ही इस चितिधर्म से युक्त है । इच्छी के द्वारा महान् में गरित चिरात्मा अपने वास्तविक चिरुत्प से प्रस्तुतिय होता है । एकमात्र इच्छी आचार पर औरतव्य को स्थावर-अहम-अप्य का आत्मा मान लिया गया है औरकि 'सूर्य्य आत्मा अगतस्तस्युप्य' (स्युः) इत्यादि मन्त्रचन से प्रमाथित है । तत्पर्य्य यही हुआ कि, विज्ञानसम्बन्ध सूर्य्य के सम्बन्ध से ही महान्सम्बन्ध पारमेष्ठी के गर्भ में अपीत चिरात्मा चिरुत्प से प्रस्तुतिय होता है । यही महान् और विज्ञान का परस्परविनाभावलक्षण्य प्रतिकल्पन-सम्बन्ध है । महान् की महत्ता महान् का अक्षय्यलक्षण्य अक्षय्यलक्षण्य बीजत्व विज्ञानसम्बन्ध पर ही निर्भर है । अक्षय्यलक्षण्य महान्त्व ये प्रत्यक्ष में ही सूर्यानुगत, आत्मोपनिष्ठा आयुर्मात्र के आचार पर प्रतिष्ठित है और कि पूर्व में कलाना का उद्भव है ।

११७—गुरात्रयमात्रापन्न महानात्मा का 'बीजात्मकत्व'—

अपु-सौमवर्धित, अपुप्रधान महान्त्मा छेमोपुत्प्रधान है । इच्छा आहृतिमात्र से प्रधान सम्बन्ध है । क्योंकि 'अहृदयः पृथिवी' (सैठिरीयोनिव्य) विज्ञानसुत्तर पृथिवी का ज्ञानचन अपुत्त्व है ।

एवं पृथिवी को ही आहृतिमानप्रवर्तिका कहा गया है। आप्य बीजों में पृथिव्यनुगत आहृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकसित रहता है, एवं गुणत्रयी में से आहृतिमावानुगत समोगुण विकसित रहता है। अप-
 कामगर्भित बासुप्रधान महानात्मा रजोगुणप्रधान है। इसका प्रहृतिभाव से प्रधान सम्बन्ध है। क्योंकि वायु
 और अश्रमा दोनों आन्तरीक्य होने से समानस्थानीय कतं हुए समानबन्धों हैं। एवं चन्द्रमा ही प्रहृति-
 भाव का प्रवर्तक माना गया है। अस्मत्प्रति वायव्य बीजों में चन्द्रमानुगत * प्रहृतिमहान् का ही प्रधानरूप से
 विकसित रहता है, एवं गुणत्रयी में से प्रहृतिमावानुगत रजोगुण विकसित रहता है। अन-वासुगर्भित, कामप्रधान
 महानात्मा हृत्पुण्यप्रधान है। इसका अहृत्प्रहृतिभाव से सम्बन्ध है। क्योंकि सौर इन्द्र का सोम के साथ घनिष्ठ
 सम्बन्ध है। उचर-‘तं मामायुरसूतमित्युपात्स’ इत्यादि कीर्तिर्कम्पुत्पनुधर सौर इन्द्र ही आयुस्सु ईशभाव
 है। सौर इन्द्रात्मक आत्मा को ही अहृत्प्रहृतिभाव का प्रवर्तक कहा गया है। सोम्य चन्द्र बीजों में सूर्यनुगत
 अहृत्प्रहृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकसित रहता है एवं गुणत्रयी में से अहृत्प्रहृतिमावानुगत हृत्पुण्य
 विकसित रहता है। स्वभोगलक्षित आप्य बीज तमोविद्यालक्षणां है, पञ्चविध वायव्य बीज रजोविद्यालक्षणा है,
 अष्टविध सोम्य बीज हृत्विद्यालक्षणां है। यही संक्षेपसात्र का चतुर्दशविध भूतलक्षणां है, जिसका आप्य-वासु-
 सोम्य, इन तीन बीजलक्षणां में अन्तर्भाव हो रहा है। इत दृष्टि से भी गुणप्रयमाबाधन महानात्मा का
 बीजभावस्य सिद्ध हो रहा है।

११८-महानात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

आहृति-प्रहृति-अहृत्प्रहृति, तीनों का अश-वासु-सोमात्मिक भूगुणबी से सम्बन्ध है। एवं
 अहृत्प्रहृति का पारमेष्ठ्य महात्मा से सम्बन्ध है। भाग्यं सोम, आहृत्प्रहृति अग्नि दोनों के सम्बन्धितरूप से जो
 महान का अन्तरीक्यमयक अपूर्व स्वस्म उद्भूत इत्य है, यही महात्मा नामक महान् है। यही महत्त्व
 कामधे- में पञ्चदश (पञ्चदश अहर्गणालक्षक) 'गोख' कह कहताया है, जिसकी पार्थिव २२ वं अहर्गण
 से ३३ वं अहर्गण पर्यन्त व्यापित मानी गई है। इसप्रकार भूगुणबी, और आहृत्प्रहृति अग्निमन्त्रता के से- से एक
 ही महान् पारमेष्ठी के अहृत्प्रहृति, प्रहृति, आहृति यह व चार विषय हो जाते हैं, जिनका पूर्व में अस्मोत्प
 किया का बुझा है।

विद्युत् पारमेष्ठ्य सोम महान् है विद्युत् सौरप्राण विज्ञान है। न पारमेष्ठ्य काम में प्रकाश है,
 न सौर प्राण में प्रकाश है। दोनों अपने प्रातिमिक रूपों से पार कृष्य हैं। प्पातिलक्षण प्रकाश का
 (वृत्त्याति का) आविर्भाव होता है दोनों के सम्बन्ध में। विद्याल अन्तरिक्ष में प्राणिकरयापन्न दाम्य सोम
 व्याप्त है। दाहक सौर प्राण के सम्बन्ध इतने ही बह दास्य सोम सन् पड़ता है। इस प्रवर्तित काम का नाम
 ही बह प्रकाश है जिसका अन्तर् (पूर) रूप से हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। यदि में केवल कामत्व का
 (नामधेयी कृष्णत्व का) ही साक्षात्प रहता है सौरप्राण का अन्तर्प रहता है। 'राधा नातारिक सम्पत्ति
 है प्रकाश है अहर्काल है कृष्य विरहातीत, नित्य, पराफलक है। इसके अहर्कालात्मकित राधा-

*-विचक्षसाद्-धृतो रत आभृतम् । (श्री०भा उप०१। ७)।
 चन्द्रमा व विचक्षयम् । (१ प्रा० १६)।

बिदात्मा अन्वय प्रतिभासित नहीं होता । सूर्यसंचालित बिदात्मा का आवास (प्रतिबिम्ब) ही चिरामय कहलाता है । एवं दार्शनिक परिभाषासुदार बिदात्मा ही 'बीज' माना गया है । बिदात्मलक्षण (चित्प्रतिबिम्ब-लक्षण) बीजात्मा का बीजत्व मार्ग्य पारमेष्ठ्यतत्त्व पर ही अत्यन्तम्बित है । महान् परमेष्ठी ही स्यात्प्रदीप्त से चित् का प्रादुर्भाव करता है । अतएव उम्पूर्वा अद्याय में बीजत्वा अत्य, वाच्य, सौम्य, मेह से तीन मार्गों में ही विभक्त है । अतएवात्रमेवेत् पारमेष्ठ्य सोम अत्र एक चिन्मोति से मुक्त नहीं हो जाता एक एक वह केवल सोम ही कहलाता है । यही इच्छी उचितलक्षण नीरुपास्त्या है जो अथवा 'अनिदस्तकृष्ण' नाम से अन्वयत हुई है । चिन्मोति के आवास से वह बीज सोम अमक पकता है । यही इच्छी महान्तरता है । बिद्युत् पारमेष्ठ्य सोम ही महान् है यही निष्कर्म है । अत्यन्त चोतिभान् अथय है । परन्तु इच्छा चोतिः-प्रसर-धर्म परमव (चिन्माहवाच्य) है । बिना सोममय महान् के यह प्रकाशित नहीं होता । महान् ही इच्छी चिन्-माहिदी योनि है अत्र कि निम्न लिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

मम योनिर्महवृद्ध तस्मिन् गर्भं दद्याम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो मवति भारत ! ॥१॥

सर्वयोनिषु क्वेन्तेय ! मूर्धन्यः सम्भवन्ति या ।

तस्मां ब्रह्म महद्योनिरह बीजप्रदः पितृ ॥२॥—(गीता ११३, ११)

११६—अय्यात्सुगत चितिमात्र—

अप्यय, और चिति इन दो उम्पूर्णों का उदय बनाइए । परमेष्ठी आरोग्य है अतएव अप्यय(बिदात्म) इच्छा स्वाभाविक धर्म है । अत्यन्त में सी पानी में जो भी कत्तु डाली जाती है अपीत ही जाती है । आरोग्य महान् परमेष्ठी चिदाहक अथय है । परन्तु स्वाभाविक अप्ययधर्म के अथय बिदात्मा एक एक इच्छे प्रस्तुत नहीं हो लता अत्र एक कि इच्छे चिति-उत्पन्न का उदय नहीं हो जाता । चितिधर्म अनिदयेत् है । अतएव अनिदय चितिप्रद (अथय चिदा) नाम से अन्वयत हुआ है । चिदात्तरय अविद्याधिमय, विज्ञानधन अर्थ ही एक चितिधर्म से मुक्त है । इच्छे के द्वारा महान् में गर्भित चिदात्मा अपने वास्तविक चिदात्म से प्रस्तुत होता है । एकमात्र इच्छे आधर पर अथय को स्वाधर-ब्रह्म-अप्यय का अत्मा मान लिया गया है अत्र कि 'सूर्य्य आत्मा अगतस्तत्सुपद्य' (बहुत्) इत्यदि मन्त्रवचन से प्रमाणित है । अत्यन्त यही हुआ कि, विज्ञान-मत्तद्य अर्थ के उम्पूर्ण ही ही महान्तरलक्षण परमेष्ठी के धर्म में अपीत चिदात्मा चिदात्म से प्रस्तुत होता है । यही महान् और विज्ञान का परत्तयविनाभावलक्षण अन्वयधर्म-उत्पन्न है । महान् की महत्ता महान् का आत्मलक्षण अर्थमात्मक बीजमात्र विज्ञानमात्म पर ही निर्भर है । अदृष्टमत्तलक्षण महान्तरा हो प्रत्येक में ही सूर्यात्सुगत, आत्मोपनिक आनुमांग के आधर पर प्रतिष्ठित है अत्र कि पूर्व में कलात्मा का उदा है ।

११७—मुख्ययमावापन महानात्मा का 'जीवात्मकत्व'—

बायु-लोमार्ग्य, अप्ययान महान्तरा लोमोत्सुगयान है । इच्छा आरुतिमात्र से ययान उम्पूर्ण है । योनि 'अप्ययः पृथिवी (संविदीयोनियय) विज्ञानानुसार पृथिवी का उदाशन अत्यन्त है ।

एवं पृथिवी को ही आकृतिमात्रप्रवर्तिका क्यलाया गया है। आप्य जीवों में पृथिव्यनुगत आकृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकसित रहता है, एवं गुणत्रयी में से आकृतिमात्रानुगत उभोत्पत्त विकसित रहता है। अप-
 सोमगमित वायुप्रधान महानात्मा रबोत्पत्तप्रधान है। इत्था प्रकृतिमात्र से प्रधान उन्मन्व है। क्योंकि वायु
 और चन्द्रमा दोनों अन्तरीक्ष्य होने से समानरूपानीय बनते हुए समानप्रमाँ हैं। एवं चन्द्रमा ही प्रकृति-
 मात्र का प्रवर्तक माना गया है। अस्मदादि वायव्य जीवों में चन्द्रमानुगत • प्रकृतिमहान् का ही प्रधानरूप से
 विकसित रहता है, एवं गुणत्रयी में से प्रकृतिमात्रानुगत रबोत्पत्त विकसित रहता है। अत्र-वायुगमित, सोमप्रधान
 महानात्मा उत्तगुणप्रधान है। इत्था अहङ्कृतिमात्र से उन्मन्व है। क्योंकि सौर इन्द्र का सोम के साथ घनिष्ठ
 उन्मन्व है। उभर-‘त मामामुरभूतमित्युपास्य’ इत्था श्रीपृथक्भुस्त्वनुसार सौर इन्द्र ही आयुक्त अहंभाव
 है। सौर इन्द्रात्मक आनु का ही अहङ्कृतिमात्र का प्रवर्तक कहा गया है। सौम्य चान्द्र जीवों में सूर्यानुगत
 अहङ्कृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकसित रहता है एवं गुणत्रयी में से अहङ्कृतिमात्रानुगत उत्तगुण
 विकसित रहता है। स्वप्नोपलक्षित आप्य जीव तमोविद्यालक्षण है, पञ्चविध वायव्य जीव रबोविद्यालक्षण है,
 अहनिव सौम्य जीव उत्तविद्यालक्षण है। यही तस्मियास्त का अतुर्दशविध भूतलक्षण है, बिलक आप्य-वायव्य-
 सौम्य, इन तीन जीवतणों में अन्तर्भाव हो रहा है। इत्त दृष्टि से ही गुणत्रयमात्रात्मान महानात्मा का
 जीवमात्रत्व सिद्ध हो रहा है।

११८-महानात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति, तीनों का अत्र-वायु-सोमात्मिका अणुत्रयी से उन्मन्व है। एवं
 अक्षिरात्रयी का पारमेष्ठ्य महात्मा से उन्मन्व है। मार्गेण सोम, आक्षिरत्त अग्नि दोनों के समन्वितरूप त आ
 महान् का अग्नीगोमात्मक अपूर्ण स्वस्म उद्भूत होता है, यही महात्मा नामक महान् है। यही अणुत्रय
 सामकेद में पञ्चग्याह (पञ्चदश अहर्गयात्मक) ‘गोस्र’ यत्त क्यलाया है, किन्ती पार्थिव २२ में अहर्ग
 से १६ में अहर्गया पर्यन्त व्यापित मानी गर्त है। इत्तप्रकार अणुत्रयी, और आक्षिरत्त अग्निमनोत्ता के भद्र न ११८
 ही महान् परमेष्ठी के अहङ्कृति, प्रकृति, आकृति यत्त न चार विषय हो जाते हैं, बिनका पूर्व में उल्लेख
 किया जा चुका है।

संयुक्त ज्योतिर्मय, लोपाधिकरूप का ही हम तादात्त कर सकते हैं। अत्यन्त-‘स्यं ज्योतिषा यि तमो वपव’ (श्रुतमं १।९।१।२।) के अनुसार कृष्णसोम ही खीरप्राणामि में द्रुत होकर ज्योतिर्मय का बनक बनता है।

अस्य का ही नाम चिरात्मा है। अन्नन्द विज्ञान मनोमय चित् विद्यात्मक है मन-प्राण-बाह्यमय चित् अविद्यात्मक है। विज्ञानात्मक खीरप्राण सर्वमना इत उभयपरमक (विद्या-अविद्यात्मक) विद्यात्मा पर व्याप्त रहता है। चिरात्मा के उन दो स्वरूपों के कारण विज्ञान के भी विद्यात्मक, अविद्यात्मक, दो रूप हो जाते हैं। विद्यात्मक विज्ञान ‘अविद्याबुद्धि’ कहलाता है, अविद्यात्मक विज्ञान ‘अविद्याबुद्धि’ कहलाता है। विज्ञानात्मा के इन दोनों स्वरूपों का ‘बुद्धितत्त्वस्वरूपमीमांसा’ नामक अगले परिच्छेदों में विस्तार से निरूपण होने वाला है अतः इस विषय को यहाँ छोड़ केवल महान् की ओर ही पठकों का ध्यान आकर्षित किया जाय है।

महान् सोमपिकर है। अन्ना कीचिद-महान् चन्द्रमा है अस्मत्तज्जल चिदात्मा सूर्य है। विद्यात्मक सूर्य का महत्त्व चन्द्रमा पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। चित्चन्द्रर सूर्यपरिमप्रतिबिम्ब से तन्मय अर्द्ध चन्द्रमा अमक पड़ता है, एवमेव अस्मत्तज्जल महान् भी अमक पड़ता है। चिरात्मा के प्रतिबिम्ब में ज्योतिष्मान् बना हुआ यह महत्त्व ही ‘तत्त्वं’ कहलाता है। चित्-सूर्यक में वञ्चित घुष्टमय तमोमहान् कहलाता है, एवं तन्मयमय खोमदान कहलाता है। इत्यकार एक ही महान् प्रतिबिम्ब के अत्यन्त से अत्यन्त-रज-तमो-माषों में परिणत हो जाता है। अस्मय क्योंकि विद्या अविद्यात्मक है। अत्यन्त तन्प्रतिबिम्बक तत्त्वमहान् के भी विद्यात्मक शुद्धतत्त्व अविद्यात्मक मलिनतत्त्व भेद से दो विभाग हो जाते हैं। इत्यकार विज्ञानात्मक तत्त्व महानात्मा का अत्यन्त भी दो भागों में विभक्त हो रहा है। अन्तर दोनों में केवल नही है कि, विज्ञानात्मा वहाँ चिरात्मा में अर्द्धमना अतोप्रोत है वहाँ महानात्मा अपने अर्द्धमय से ही विरम्येति से युक्त है। अत्यन्त महान् में तमोमाष घुसक बन रहता है। विज्ञानात्मा में चिरात्मा क्योंकि अर्द्धमना अतोप्रोत है। अत्यन्त इतने तम नहीं रहने पाता। इती चित् विद्यनयन सूर्य को वेदान्तिकी में ‘स्वप्नोक्ति’ नाम से स्पष्टत किया है। निष्कर्ष वही निकला कि विद्यात्मा से द्रुत होकर लोपरार्द्र्यांमालयक के अत्यन्त से महानात्मा गुणप्रविष्टिज्ञ बन जाता है वृथिकी-चन्द्रमा-सूर्य-तत्त्व से आकृति-पद्धति-अहङ्कृति-अहम्पन्न बन जाता है एवं अणु-अक्षिरा के अत्यन्त से अत्यन्त रूप में परिणत हो जाता है। ऐत्र वह अणुपरी महान् चिरात्मा अस्मत्, विज्ञानात्मा महानात्मा, भूतात्मा इन इतर लव आत्मविकारों को अपने गर्भ में रक्ता हुआ तन्मय किमु है महान् है। महान् की इती महत्त्व का त्रिभूद्वयन कराती इति भुक्ति करती है—

अणुरिं शरीरपन्नबन्धेष्वनस्थितम् ।

महान्तं विद्यमानमान मत्वा भीरो न शोषति ॥

—कट्योपनिषत् २।२२।

११८-प्राणशरीरनेता अक्षमय महानात्मा—

मार्गं अत्यन्त ही महान् का स्वरुपारम्भ है। अत्यन्त का अपना कई आकृति नही है, अति-‘यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते’ विद्यात्तज्जलर चित् चित् शरीररूप आकृति में वह

प्रसिद्ध होता है, इसका वैद्य वैद्य ही आकार उठी प्रकर हो जाता है, जैसाकि अतसत्त्व पानी भावकन के आकार लहर ही अपना आकार बना लेता है। अतएव वैज्ञानिकों ने अतसत्त्व का लक्षण किया है— 'अशरीरमहृत्पर्य-अतम्'। सोमामय महात्त्व क्योंकि स्वस्वरूप से अत है, अतएव इसे 'अशरीर' (परशरीरी) कहना अन्वर्थ्य बनता है। महानात्मा का स्वरूपज्ञान हमें नहीं होने पाता। मानते अवरम है, परन्तु विज्ञान-प्रज्ञानवात् उल्लेख बोध नहीं है। अतएव 'भस्वा' कहा गया है। महान् का सत्वभाग मनोमय है, रबोभाग प्राणमय है, तमोभाग वाक्मय है। अतएव 'स वा एव आरमा वाक्मया प्राणमयो मनोमय' के अनुसार महान् को 'महानात्मा' कहना अन्वर्थ्य बनता है। तत्त्वगुणापेक्षया मनोमय बना हुआ महान् रजोगुणाद्गुणत प्राणात्मक शरीर का मेवा है, तन्त्रालोक है। साथ ही यह हृदय में अनाधार पर प्रतिष्ठित है। क्योंकि, संमात्मक महान् की स्वरूपरक्षा अन्नाहुत्किय सोमादान पर ही निर्भर है। महान् के संश्लिष्ट विज्ञानात्मा है। विज्ञानात्मा ही इसकी प्राप्ति का अन्यतम द्वार है। तन्मिचानाम्यलक्ष्य विदात्मा को अपने गर्म में रखने वाले अतएव स्वयमपि आनन्दधन बने रहने वाले इस महान् के दर्शन तत्संश्लिष्ट विज्ञान (विद्युद्बुद्धिसत्त्व बुद्धियोग) पर ही निर्भर है। महान् के इसी आत्मभाव का स्पष्टीकरण करते हुए भृति ने कहा है—

मनोमय प्रमथशरीरनेता प्रसिद्धितोऽग्ने हृदयं सभिधाय ।

तद्विद्युनेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यद्विमासि ॥

—सुबहकोपनिषत् २।२२

मनोमयः— स वा एव महानात्मा मनोमयः

प्रमथशरीरनेता— प्राणमय

प्रसिद्धितोऽग्ने— वाक्मयः



१२०—महान् का विद्युद्बुद्धिसत्त्वात्मक स्वरूप—

शास्त्रज्ञानुगत वाक्-प्राण, महान्तमनुगत रश्मि-प्राण, विज्ञानाध्यानुगत विपण्या-प्राण, प्रज्ञानानुगत प्रज्ञा-प्राण, भूतानुगत मूल-प्राण, ये पाँचों प्राण इस अणु महानात्मा में कर्मस्थि हैं। क्योंकि यह शेष चारों को अपने गर्म में प्रतिष्ठित रखता है। मस्तिस्क की वैज्ञानिक निष्पत्ति से अब महान् विद्युद्बुद्धिसत्त्ववर्मा बन जाता है जो तद्गर्भीकृत विदात्मा 'विद्युद्बुद्धे तन् स्वाम्' न्याय से प्रसूयित हो जाता है। महान् के इसी विद्युद्बुद्धिसत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए भृति ने कहा है—

“एपोऽध्यात्मा येतसा बद्धिसम्प्यो यस्मिन् प्राण पञ्चधा संविवेश ।

प्राणैर्धिर्षा सगमोतं प्रदानां यस्मिन् विद्युद्बुद्धे विमन्त्येव आत्मा”

—सुबहकोपनिषत् १।१।६।

भङ्ग-सुमात्रो रक्षितुन्यरूपं संकल्पाद्द्वारसमन्वितो य ॥
 बुद्धेर्गुणैनात्मगुणैश्चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि ह्य ॥१॥

गुर्यान्कयो यः कलाकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपमोक्ता ॥
 स विरवरूपस्त्रिगुर्वास्त्रवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्ममि ॥२॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्षं तमसं परस्तात् ॥
 तमेव विद्विष्यातिमृत्युमेति नान्य पन्था विघतेऽप्यनाय ॥३॥

१२१-महानात्मा की स्वरूपमिनिप्यति, एवं पार्थक्य-

उक्त उपनिषत्-मन्त्रभूतिना विगुराम्बवापन, धाहति-महति-अहह विरम से विरवर्षा के हुए इत महानात्मा का ही स्तोत्रान कर रही हैं। मनुष्य उर्ध्वधराप्रथि क्यो है १, पशु के चार पाद क्यो है १, मनुष्य के छीग क्यो नही १, पशु के छीग क्यो १, मनुष्य समकोरत् क्यो १, शुद्धीमशु एकतोदत् क्यो १ इत्यादि प्ररनों का उभावान क्यो महानात्मा है। विज्ञान (बुद्धि) प्रज्ञान (मन) दोनों की इच्छा का ही (वेदान्त-तैत्ति-प्राज्ञाचार्य कर्मकांडा का) परिहान है। परन्तु महार की इच्छा इन नहीं मानते, केवल उलका कर्म देखते हैं। किना ज्ञान के किन्ही भी कर्म की प्रवृत्ति सम्पन्न नहीं है। तब ही एक समय में एक ज्ञान एक ही कर्म का प्रेरक बनता है। आप किन्ही निरिच्छ स्थान की ओर गमन कर रहे हैं। गमन एक स्वतन्त्र कर्म है। चाहे हुए इन्द्रियों के द्वारा विविध इश्य देखते बना, मार्ग में मिलते हुए हथों का गन्ध महक करते बना, आदि ऐन्द्रियक कर्म छान्द एक स्वतन्त्र कर्म है। अपने अन्तर्बन्ध में किन्ही विचारणीय स्थित की मीमांसा करते बना एक स्वतन्त्र कर्म है। तीनों कर्म एक साथ चल रहे हैं। मानना पड़ेगा कि अकर्म ही तीनों के ज्ञान रूपक रूपक है। वैज्ञानिकों ने इत उक्त्य में यह अवस्था की है कि, शरीरधातुओं का अन्तर्बन्ध, एवं गमन दोनों प्रधानप्रत्यय के ज्ञान से उद्भासित हैं। हरकरान गन्धमहारादि ऐन्द्रियक कर्म प्रज्ञानात्मा (मन) के ज्ञान से उद्भासित हैं। एवं अन्तर्बन्ध में प्रवृत्त विचारधारात्मक कर्म विज्ञानात्मा (बुद्धि) के ज्ञान से उद्भासित हैं। तीनों अपने अपने कर्मों के प्रवर्तक बनते हुए तीनों एक दूसरे के कर्मों के भी आधार बनाव क्ये रहते हैं। यदि तीनों में से कोई भी अज्ञानधारा प्रकण बन जाती है तो शेष दोनों ज्ञानधाराएँ, अत प्रज्ञान ज्ञानधारा में उर्ध्वमना आत्मतन्त्रय करती हुई अपना कर्म छोड़ बैठती हैं। और उक्त दशा में केवल प्रज्ञानज्ञानधारा से उर्ध्वक कर्म ही शेष रह जाता है। यदि गमनकर्मोन्मुख महत्-ज्ञान प्रकण है, तो विज्ञान-महान दना "कर्म किलिं हो करते हैं। इत अवस्था में न तो विज्ञानानुगत विचारधारा ही प्रवृत्त रहती, न प्रज्ञानानुगत ऐन्द्रियक विषयवस्तु ही उपस्थित रहता। केवल गमनमात्र उपस्थित रहता है। मार्ग में कब कबा आशा कबा मिलता इत्यादि कुछ भी भान नहीं रहता। एवमेव यदि प्रज्ञानज्ञानधारा प्रकण है तो महत्तुगत गमनधारा भी अवकट हो जाता है विचारधारा भी अवकट हो जाती है। यह बतल है केवल ऐन्द्रियक व्यापार। एवमेव विज्ञानज्ञानधारा के प्राक्क में शेष दोनों के व्यापार अवकट ही करते हैं। इत्यकार इत विज्ञानधारा के आधार पर मौ तीनों के पार्थक्य का (विभिन्न स्वकीय का) अनुमान लगवना च उक्त्य है।

१२२—मनुष्यजन, और आत्मस्वरूपपर्यन्त—

स्रष्टृ में प्रज्ञान (मन) की स्वर्ग में लीन कर विज्ञान (बुद्धि) पुरीकति नाही में लीन हो जाता है, अतएव स्रष्टृदशा में न तो प्रज्ञानानुगत ऐन्द्रियक विषयकोष रहता, न विज्ञानानुगता विचारकाय ही प्रस्तुत रहती। परन्तु देखते हैं—आप्त प्रयासादि व्यापार और स्रष्टृ में भी आत्मवस्थावत् अनुभवा बने रहते हैं। किन्तु ज्ञान की प्रेरणा से स्रष्टृ में वह व्यापार चलता रहता है, बल्कि अनुभूत विज्ञान, प्रज्ञान, दोनों ही ज्ञान इस अवस्था में एकान्ततः अभिभूत हैं। उच्च बड़ी महत्-ज्ञान है। वह कमी नहीं छाटा। उसकी स्रष्टृ ही बीजतमा की सृष्टि है। इती महत्-ज्ञान को स्रष्टृनुगत शान्तानन्द का अनुभव होता है। इस महत् के अनुभव के व्यापार पर ही प्रतः शय्या छोड़ने पर प्रज्ञान के मुक्त से—सुप्तमहत्वात्मन् ये व्यापार निकलते हैं। इस दृष्टि से भी महानत्मा का विज्ञान-प्रज्ञानावेषाया प्रयगात्मन् सिद्ध हो रहा है।

विनम्रकार मानस-परिपाषा में महानत्मा 'बीजात्मा' कहलाया है एवमेव विज्ञानात्मा 'स्रष्टृत्मा' नाम से व्यवहृत हुआ है प्रज्ञानात्मा 'मन' नाम से एवं वैशानर-वीरव-प्राय-नृषि कर्मात्मा 'भूतत्मा' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। क्षेत्र विज्ञानात्मा कारयिता है, भूतत्मा कर्मकर्ता है, बन्मानुगत मोनिमावी में मुक्त दुःखों का निमित्त करने वाला कारयिता नामक बीजात्मा ही महानत्मा है। बीजसंज्ञक महानत्मा, और कारयिता क्षेत्रज्ञत्मा दोनों भूतत्मा के सम्बन्ध से भूतमाया से संनिष्ठ बने रहते हैं। निम्न लिखित मनुष्यजनों से नर्मी तीनों आत्मविवर्णों का स्वीकरण हो रहा है—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ॥
 य करोति तु कर्माणि स भूतत्मोऽप्यत बुधै ॥१॥
 जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्य महद्ग सर्वदेदिनाम् ॥
 येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च अन्मसु ॥२॥
 तावुमौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ॥
 उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं प्याप्य सिध्यः ॥३॥
 आमस्या मूर्धन्यस्तस्य निप्यवन्ति शरीरत ॥
 उच्चावचानि भूतानि सत्तं येष्टयन्ति या ॥४॥
 सत्त्वं-रज-स्वममैव त्रीन् विद्यात्मनो गुणान् ॥
 येभ्याप्यमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषत ॥५॥
 —मनु १२।१२, १३, १४, १५, २४।

१२३—प्रज्ञानात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

प्राची वैकारिक आमाओं में से शान्तात्मा, महानात्मा दोनों का स्वरूपदिग्दर्शन कथन गया। विज्ञानात्मा का स्वरूप स्वल्प परिच्छेद में प्रतिपादित होगा। भूतत्मा का स्वरूप पूर्व में कला दिया गया। अब केवल मनो रूप प्रज्ञानात्मा शेष रह जाता है। प्रवृत्तोंवाच दो शब्दों में हमका भी दिग्दर्शन कर कर

आध्यात्मिकमीमांसा उन्नत हो गयी है। महानात्मा का पार्थिवप्राणयुक्त भाग ही प्रकृतात्मा है एवं शीर-प्राणयुक्त भाग ही विज्ञानात्मा है। स्वयं पारमेष्ठ्यभाग महानात्मा है वही पारमेष्ठ्य महद्भाग शीरप्राणयुक्त का कर विज्ञानात्मा कहलाने लगता है एवं वही पारमेष्ठ्य महद्भाग आम्बुछेमायुक्त पार्थिव भाग से युक्त होकर प्रज्ञानात्मा कहलाने लगता है। विद्युद् पार्थिव भाग मृत्तात्मा नाम से व्यवहृत होने लगता है। आध्यात्मिक इन्द्रियवर्ग का अधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा कहलाया है। भोज, स्वप्न, जल, शिवा प्राण, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों पर, एवं वाक् पार्थिव प्राण, पामु, उपत्य इन पाँच कर्मेन्द्रियों पर, तथा संकल्प-विकल्पात्मक, मन-पञ्चमीन्द्रियाणि' वांशे इन्द्रियमन पर व्याप्य होने कात्ता प्रज्ञान ही प्रकृतात्मा है। वैज्ञानिक परिग्रहों में मनस्त्वत् चार विकर्तमात्रों में परिचित माना गया है। रक्षकत्वमक, सर्वत्र समानत्व से युक्त आम्बुयमन प्रथम मन है। निष्कामात्मक आगममात्र ही इस आम्बुयमन का प्रातिस्निक रेत है जिसके लिए—'कामस्तयमे समवपत्ताधि मनसो रेतः प्रथमं पदासीत् (ऋक्संहिता) यह किदात्त व्यवस्थित हुआ है। यही आम्बुयमन अपनी—'पक्षां ईहं वदु स्वाम्' इस बहुत्व-आमना से अ-रवः (उपरोपर) कृत्वा कृत्वा 'ज्योवसीयस्' नाम से व्यवहृत हुआ है जिसे महात्मान् सिद्धिदिने—'श्रयोवस्यस् प्रथम' नाम से व्यवहृत किया है। आगमय, तत्त्वता—आगममय यह आम्बुयमन क्षेत्रात्मक मन है ज्वलामन किन्तु स्वयं नियन्त्रात्मक मन है। इस आम्बुयमन के आधार पर महानात्मा का कल्पमात्र प्रतिष्ठित है। महद्भाग का कल्पभाग भी 'मन' कहलाया है। 'येन वेद्यते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु' (मनु १२।१३) के अतुष्टार जीवर्तक महानात्मा का कल्परूप यही महत्तम सुख-दुःखानुभवकर्षण माना गया है। यही मनका वृत्त विकर्त है। महान् के कल्पभाग (कल्पमन) से अतुष्टरित चान्द्ररत्नयुक्त पार्थिवरत्न ही तीव्र प्रज्ञानमन है। आम्बरत रोम है कल्पानुगत विद्वेष्ट से युक्त यही चान्द्ररोम प्रज्ञा है। चान्द्र-आम्बररक्षक इन्द्रप्राण ही प्राण है पार्थिव भूतभाग ही भूत है। इस प्रकार प्रज्ञान मन में चित्त प्राण भूत तीनों भागों की उष्ण स्थिर होबाठी है। चान्द्ररोम पार्थिवभूत दोनों भूतभाग हैं आम्बररक्षक इन्द्र प्राणभाग है महद्भाग चित् चित्प्रमग है। विद्-भाग प्रज्ञामात्रा है, प्राणभाग प्राणमात्रा है भूतभाग भूतमात्रा है। प्रज्ञामात्रा मनोभव ज्ञान है प्राणमात्रा प्राणमयी क्रिया है भूतमात्रा बाह्यमय अर्थ है। इन्द्रप्रभर चित्-प्राण-भूत मेद से उत्पन्नरूप प्रकृतात्मा भी महत्तात्मक मन-प्राणरक्षकत्व कृत्वा हुआ अपनी आत्माभिधा को अन्वय कना रहा है। सभी आत्म-विकर्तों में इस आत्मस्वरूप का अन्वयार्थ समझना चाहिए। सभी में चित्त-प्राण-भूतमयों का सम्मन्वय है। सभी का अपने 'आत्मा' शब्द से व्यवहृत करना अन्वय कना है।

१२४-दासानिक ११ इन्द्रियों, तथा वैदिक ५ इन्द्रियों—

'नियतविययस्वमिन्द्रियस्वम्' ही इन्द्रिय का लक्षण माना गया है। वाक्-प्राण-जल-भोजारि सभी इन्द्रियों युक्तमत् कर्तवी हर्ष अपने अपने निष्ठा विधियों का ही महत्त्व करने में समर्थ हैं। किसी भी इन्द्रिय का काम अन्य इन्द्रिय से नहीं चल सकता। इसी आधार पर इन्द्रियों के सम्मन्वय में—'गुणानां च परापरत्वान् असम्बन्ध समपत्तान् यह श्लोक प्रतिष्ठित हुआ है। चित्त का महत्त्व करना संभव है, स्वीकृत-वेना विरह्य है। लक्ष्य-विकल्पविधिता मन नियतविययानुगामी कृत्वा हुआ इन्द्रियलक्षण में आत्ममूर्त है। अतएव होने 'इन्द्रियमन' कहा जायगा। रचनशास्त्रानुगत ५ कर्मेन्द्रियवर्ग ५ ज्ञानेन्द्रियवर्ग, १-इन्द्रियमन इन ११ इन्द्रियों का वैज्ञानिकों में (वेदशास्त्र ने) वाक् प्राण जल, भोज मन इन पाँच ही इन्द्रियों में अन्तर्भव मान लिया है। पाणि पाण् पाण्, उपरव इन चार कर्मेन्द्रियों का प्राण नामक ज्ञानेन्द्रिय का

एवं वाक् नाम की कर्मेन्द्रिय का 'वाक्' नाम की इन्द्रिय में अन्तर्भाव है। इस प्रकार ११ का ५ में ही अन्तर्भाव होना है, क्योंकि परिलोक से स्पष्ट है—

(१) पाणि	—प्राणः	(६) वाक्	—वाक्	(९) श्चक्षुः
(२) पाद		(७) श्रिद्धा		(१) च्छ्रोत्रम्
(३) पाशु		(८) श्शक्		(११) च्चमनः
(४) उपरथ				
(५) प्राण				

१२५—इन्द्रियपञ्चक का मूलाधार—

वैदिक पञ्चेन्द्रियवर्ग का आधार है पार्थिवस्तोमपञ्चक। त्रिष्टु (९), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१) त्रिखंड (२७), त्रयस्त्रिंश (३३), स्तोम मेरु से महिमाश्रयिणी में पाँच स्तोमप्रदेश माने गए हैं। इन पाँचों स्तोम प्रदेशों में क्रमशः अग्नि वायु, आदित्य भास्वरस्तोम, विश्वस्तोम, ये पाँच अग्नीशोमात्मक प्राणदेवता प्रतिष्ठित माने गए हैं। अर्वांगविक्र उर्ध्वचमन शिरोभाग में इन पाँचों प्राणदेवताओं का प्रत्यक्ष में भाग उपलब्ध हो रहा है। मुख नासिका, श्शु, श्रोत्र, श्शररग्न इन पाँच स्थानों में क्रमशः आग्नेयी-वाक्, वायव्य प्राण, श्चक्षु, विश्वस्तोमय श्रोत्र एवं भास्वरस्तोमय मन, इन पाँच इन्द्रियदेवताओं की प्रतिष्ठा है। अग्नि का प्रथम मुखानुगत वाक् है, वायु का प्रथम नासानुगत प्राण है आदित्य का प्रथम अक्षुर्गोत्रानुगत चक्षु है, विश्वस्तोम का प्रथमभाग श्रोत्र है, भास्वरस्तोम का प्रथमभाग इन्द्रियमन है। लघ्याएँ पान्द्रस्तोम वहीं प्रधानमन का स्वरूपसमर्पक है, वहीं पान्द्रस्तोम का वह प्रवर्षाश्रय को पार्थिव-त्रिवालस्तोमप्रदेश में मुक्त होकर दुष्टा श्रुतिवी की प्रातिविकिक बल बन जाता है—इस संकल्प-विश्वप्यात्मक इन्द्रियमन का प्रथम स्वरूप है। प्रधान और इन्द्रियमन दोनों ही यद्यपि पान्द्रस्तोमात्मक हैं। तथापि दोनों के स्वरूपों में अदोष्यता का अन्तर है। आग्नेयस्तोम प्रधान का आरम्भक है, श्रुतिवीमुख पार्थिवमात्मक पान्द्र-स्तोम इन्द्रियमन का आरम्भक है। इसी तात्त्विक विमति के आधार पर वैज्ञानिकोंने अध्यात्मसंस्था में पाँच ही इन्द्रियों का उपासना माना है। वैदिक अग्नि के शिरोव्यभृति-कन्दर्प से स्पष्ट होने वाला है।

१२६—गुहानिहित सप्त-प्राणचतुष्टयी—

उक्त पाँचों पार्थिव इन्द्रियों में वाक् प्राण-चक्षु-श्रोत्र, इन चार इन्द्रियों का एक स्वच्छ विभाग है एवं मन का स्वच्छ विभाग है। चार इन्द्रियप्राण अग्नि-वायु-आदित्य-विश्वस्तोमात्मक देवता हैं। इन देवताओं से उत्पन्न प्राणप्रणालियों का आविर्भाव होता है। प्राण-श्री सामान्य शब्दा 'श्रुति' है *। क्योंकि इन्द्रियानुगत प्राणप्रणालियों की मूलप्रतिष्ठा अग्नि-वाक् देव है, अतएव इन सप्त-श्रुति प्राणों का 'देवता' वरा

* क त श्रुत्य इति ?, प्राणा वा श्रुत्य । शत० ६।१।१।१।

गया है। इन छोटों में ६ प्राण यमक (जोड़ते) हैं। सार्वर्था एकत्र है एकाकी है। २ भोजपाठ, २ जहृपाठ, २ नाक्षपाठ, इत्यन्तर ६ प्राण यमक हैं। बाष्पगुण गुणपाठ एकत्र है। यही साक्ष्यपाठसकक का शिरोऽंगुण प्रथम विस्तार है। शिरोऽंगुणक उरोऽंगुण उदरगुण, बरितगुण में भी इत सकक का स्थान होता है। दो हाथ दो स्तन दो कुण्डल, इत्ये, यह सकक उरोऽंगुण में प्रतिष्ठित है। २-यकृत्-प्लीहा (मिगद, और किन्ती), २-क्रेम २-इक १-नामि, यह सकक उदरगुण में प्रतिष्ठित है। २-भोजी, २-आरुद, २-मूत्ररेतसी, १-गुद, यह सकक बरितगुण में प्रतिष्ठित है। इत्यन्तर इत प्राणसकक का अन्त-संरूप में बार स्थानों में स्थान हो या है। इत स्थान का भेद इन्द्रियपाठचक्रकी को ही है। निम्न स्थित भुक्तिर्वा इही साक्ष्य-मायसकक का यतोऽंगन कर यी है—

१-साकज्ञानां मत्प्रयमादुरकर्म पश्चिमा श्वपयो दवजा ।

तेषामिष्टानि विहितानि धामशा स्यान्ने रेवन्ते विकृतानि स्मशा ॥

—शकर्स० १।१६।१।२।

२-अथाग्भिलभमस ऊष्णुष्णस्वस्मिन् यशो निहित विश्वरूपम् ।

तस्यासत्सञ्चपय मत्त तीरे पाण्डमी ब्रह्मशा सविदाना ॥

—शकर्स १।१७।१।१।

३-सप्त प्राक्षा प्रमथन्ति तस्मात् सप्तापिपः समिच सप्त होमाः ।

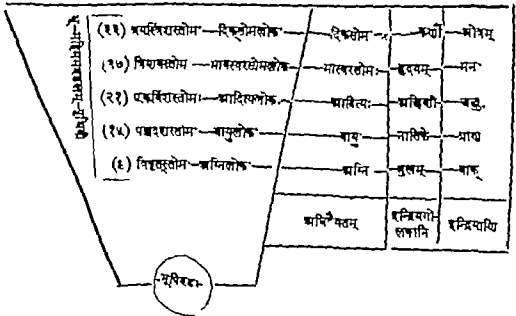
सप्त इमे सोक्य येषु परन्ति प्राया गुहाप्यया निरिता सप्त सप्त ।

—मुक्कको २।१।१

१	२-भोजे	शिरोऽंगुण	३	२-यकृत्-प्लीहानी	उदरगुण
	२-बहुषी			२-क्रेमान्नी	
	२-नासिके			२-यकके	
	१-गुणम्			१-नामि	
०	२-इस्ती	उरोऽंगुण	४	२-भोजी	बरितगुण
	२-स्तनी			२-आरुदे	
	२-गुणगुस्ती			२-मूत्ररेतसी	
	१-इरुप्प			१-गुदम्	

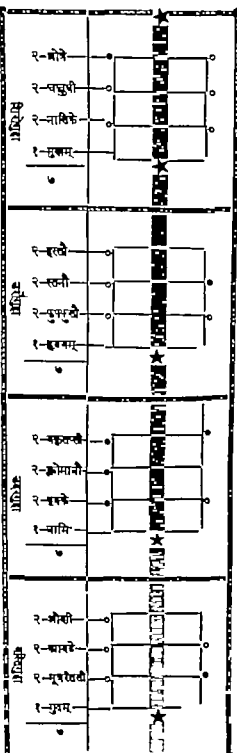
- १-अग्निर्बाणं भूत्वा मुखं प्राविशत्—बाह्
 २-वायु प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्—प्राणः
 ३-आदित्यश्चतुर्भूत्वा ऽबिषयीप्राविशत्—चक्षुः
 ४-दिश भोर्भू भूत्वा कर्णौ प्राविशत्—श्रोत्रम्
 ५-पद्मो मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्—मनः

पितृदेवोपनिषत् २।१।



ब्रह्मरूपानुगामी मात्स्वरष्टोमलोक इन्द्रियमन हृदय से ब्रह्मरूप पर्यन्त शिवरूपानुबन्धु व्याप्त है। एतन्मन्त्रेण सौम्यभरात्मन पर वारो हस्त्रिषो मन्त्रित्वेन, त्वित त्रिषो वा मात्स्वर त्रिष्णक्तान् ने निम्न लिखित शब्दों में लक्ष्मीकरण किया है—

“तस्मै स होवाच—आत्प्रशो ह वा ऽप्य तयो वायुरग्निराप पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रम् । त प्रकथयामि वदन्ति—अपमठन्—माश्वमवष्टम्य विधारयामः” (प्रनोपनिषत् २।१।)



—* गुणपदुष्टयो, एवं वदनुगवप्रासस्यपक्षुष्टयो-परिच्छेद *

♦ अक्षरभ्रम—मन—चन्द्रमा ॥

♦ शर्णी—भोत्रम्—द्विग ५

♦ अक्षिणी—पद्म—आदिम् ३

♦ नासिके—प्राणा—वायु २

♦ मुखम्—वाह्—आदि ३

♦ हृदयम्—मन—चन्द्रमा ॥

१२७-अतीन्द्रिय-अनिन्द्रिय-सर्वान्द्रिय-सुक्ष्म प्रज्ञानमन—

यत्क विवेचन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, शरीरकीयत्तु आन्वयमन मगदायत्तु उत्तमन, आन्त्र प्रज्ञानमन, इन तीन मनोविकारों के अतिरिक्त चौथा लक्ष्य-विकल्पारम्भ इन्द्रियमन भी है। उक्तुत्तु-विकल्परूप नियतविययप्रदद्यातुयामी कनता हुआ यह मन 'तीर्षामिष्टानि विद्वितानि धामरा' इत् इन्द्रिय-लक्ष्य से युक्त है। अतः इसे अक्षरय ही 'इन्द्रियमन' कहा जा सकता है। प्रज्ञानमन में प्रज्ञा (विद्वितिशिष्ट-लक्ष्य) प्राण (आन्तरिक्य मयत्तुत्तु नामक इन्द्रियात्तु) धृत् (वायिभृत्), इन तीन कलाओं की सहा कलार्थ गर्ह है। इन तीनों में से मध्यस्थ इन्द्रियात्तु से सब इन्द्रियों छुट है अतएव इन्हें 'इन्द्रिय' कहना अनुभव कनता है। यह प्रज्ञानमन सब इन्द्रियों में लमानरूप से अनुस्यूत रहता है। किन्ता प्रज्ञानमन के उपयोग के कोर्दे मी इन्द्रिय स्वध्यापार लज्ञानन में लमर्थ नहीं है। लर्नेन्द्रियों में अपने लर्कमात्र से ध्याप्य रहने के कारण इत् यह प्रज्ञानमन 'लर्नेन्द्रियमन' कलताया है। इत्तु इन्द्रियकत् कोर्दे नियत रियत नहीं है। अस्तितु लमी ऐन्द्रियक विभव इत्तुके नियत है।

अतएव यह 'नियतवियययमिन्द्रिययत्तुम्' इत् इन्द्रियलक्ष्य से अतिशान्त रहता हुआ 'अतीन्द्रिय-मन' नाम से मी ध्ययद्वय किया जा सकता है। इत्तुकार यह अनिन्द्रिय मन लर्नेन्द्रिय में ध्याप्य रहने से 'लर्नेन्द्रिय' नाम से एवं नियतवियययमिन्द्रिययत्तुत्तु अतः रहने से 'अतीन्द्रिय' नाम से ध्ययद्वय हो रहा है।

१२८-इन्द्रियों के 'मात्रा'-भाव—

चित्त पार्ष्व मूल भाग का इत प्रदानमन में समावेश रहता है, उन मूल (महामूल) का मूल रेणुमूल है। रेणुमूल का मूल गुणमूल है, एवं वही गुणमूल 'ऊनाना' नाम से व्यक्त हुआ है जो कि ऊनात्राएँ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पार्ष्वमूल तेज-वायु-अग्नि के त्रिवृत्तकण से पृथिवी-अन्न-तेज-वायु-आकाश, इन पाँच मण्डलों में स्थित है। पृथिवी की ऊनात्रा गन्ध है, वायु की ऊनात्रा रस है, तेज की ऊनात्रा रूप है, अग्नि की ऊनात्रा स्पर्श है एवं आकाश की ऊनात्रा शब्द है। पाँचों क्रमशः रजसम्-परमेष्ठी-सूक्ष्म-बन्धना-पृथिवी से सम्बन्ध रखते हैं। आकाशमूलक स्वयम् में कबल शब्दऊनात्रा का विकास है। वायुमूलक-परमेष्ठी में शब्दऊनात्रा स्पर्शऊनात्रा, इन दो ऊनात्राओं का विकास है। तेजोमूलक सूक्ष्म में शब्द-स्पर्श रूप, इन तीन ऊनात्राओं का विकास है। अन्नमूलक बन्धना में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-इन चार ऊनात्राओं का विकास है। एवं मूर्ध्नात्मिका पृथिवी में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, ये पाँचों ऊनात्राएँ विकसित हैं। इसी आधार पर पार्ष्वमूल को हम पञ्चमूलक कह सकते हैं—

१-स्वयम्-आकाशः-शब्दतन्मात्रा (१)

४-परमेष्ठी-वायु-शब्दः, स्पर्शतन्मात्रा च (२)

३-सूक्ष्म-तेज-शब्दः, स्पर्शः, रूपतन्मात्रा च (३)

२-बन्धना-अन्नम्-शब्दः, स्पर्शः-रूप-रसतन्मात्रा च (४)

१-पृथिवी-अन्नम्-शब्दः-स्पर्शः-रूप-रस-गन्धतन्मात्रा च (५)

१२९-मानस ज्ञान-कर्म-अर्थ-का उद्भव—

क्योंकि प्रदानमन में पञ्चऊनात्रात्मक पार्ष्व मूल का समावेश है अतएव तन्निष्ठ प्राणमात्र के एवं तन्निष्ठ प्रदानमन के भी पाँच पाँच विभाग हो जाते हैं। परत्त्वकर्म प्रकाशम मन प्राणरूप प्राण एवं मूलकमा शब्द से मनप्राणशब्दमन को हुए त्रिवृत्त प्रदानरत्ना के प्रज्ञा-प्राण मूल-इन तीनों उच्च बलुओं के पाँच पाँच अर्थ विभाग हो जाते हैं। इन अर्थमण्डलों को ही प्रज्ञामात्रा प्राणमात्रा, मूलमात्रा नामों से व्यक्त किया गया है। उच्चकर्म बलु हैं अर्थकर्म इत त्रिवृत्त अत्मा की महिमा है। इन महिमात्मों से ही प्रदानमन इन्द्रियकर्मों का उत्पत्तिक्रम बनाया है। प्रज्ञामात्रा ज्ञानमात्रा है, प्राणमात्रा चिन्तनामात्रा है, मूलमात्रा अर्थमात्रा है। तीनों परस्पर अभिन्नामूल हैं। अतएव ज्ञान, कर्म अर्थ तीनों में प्रज्ञा-प्राण-मूल,

तीनों उपलब्ध होते हैं। तीनों के समन्वय से ही मानस ज्ञान मानस कर्म, मानस धर्म का उदय होता है। 'पद्यमहं जानामि' इस वाक्य में 'अहं' प्रशामात्रा है, 'पद्यं' मत्प्रामात्रा है, 'जानामि' प्राणमात्रा है। प्रकाशन्तःकरणान्निष्ठस्य चैतन्य है, प्राण्य अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है एवं मत् (पद्यं) विद्यमाननिष्ठस्य चैतन्य है। तीनों के एकत्र (मानस वयवत्त पर) समन्वित होने से ही 'पद्यमहं जानामि' इत्याकारक 'पद्यं'-प्रत्यय (पद्यज्ञान) का उदय हुआ है। प्रत्यय कर्म धर्म, तीनों का स्वरूप चैतन्यत्रयी, प्राणत्रयी, मत्त्रयी से ही नियत होता है।

१३०-प्रशामात्रा, और पद्य ज्ञानेन्द्रियाँ—

वास्तव्यं यही है कि जिसे हम 'ज्ञान' करते हैं, उन्में प्रशामक ज्ञान प्रधान है, प्राणाग्निश्च क्रिया एवं मूत्रमग्न कर्म गौण हैं। पद्यु है ज्ञान में तीनों का समन्वय। एवमेव कर्म में प्राणमाग प्रधान, तथा प्रका, और मूत्रमाग गौण हैं। एवमेव च धर्म में मूत्रमाग प्रधान तथा प्रका, और प्राणमाग गौण हैं। किन्हीं हम पद्य-वद्यदि धर्म करते हैं, उनमें मूत्रमाग प्रधानरूप से निश्चित है। उन्न्तर्गमित प्राण है, यही क्रिया है। इसी से अङ्ग धर्मों में भी अक्षरधापरिवर्तन होता रहता है। प्राणगम में प्रशामक ज्ञान निर्गुण है इसी से प्राणाग्निश्च क्रिया का उत्पन्न होता है। इत्थच्छर मौक्तिक धर्मों में अथाग्निश्च मूत्रमात्रा, क्रियाग्निश्च प्राणमात्रा, जानाग्निश्च प्रशामात्रा तीनों की लया सिद्ध हो जाती है। एवमेव गमन, पाक, शयन आदि आदि क्रिओं भी कर्म हैं उनमें प्राणमाग प्रधानरूप से निश्चित रहता है। प्राणाधारमूत्रा (क्रिया-धारमूत्र) प्रशामात्रा भी कर्मों में विद्यमान है एवं प्राणाधारमूत्रा मूत्रमात्रा भी विद्यमान है। प्राणात्मक कर्मों क्रियात्मक है। क्रियाउत्पन्न निश्चित अर्थात्सम्बन्ध भी अथेषा रहता है। इत्थच्छर प्राणात्मक कर्मों में भी तीनों मात्राओं की लया सिद्ध हो जाती है। एवमेव 'पद्यमहं जानामि' इत्यादि ज्ञानमार्गों में भी तीनों विद्यमान हैं, ब्रैता कि पूर्व में ही रज्जु क्रिया का पुष्प है। तीनों मात्राओं में यदि एक का भी अभाव हो जाता है तो न ही ज्ञान की ही स्वरूपनिष्पत्ति होती, न कर्म का ही स्वरूपप्रिमाण हो पाता, एवं न धर्म का ही विकास होता।

तीनों मात्राओं की परस्पर आहुति होती है इन्में 'ज्ञान-कर्म-धर्म' च तीन माय प्रादुर्भूत हो जाते हैं। 'हम जानते हैं हम कर्म करते हैं कर्मद्वारा किसी भी धर्म का स्वरूप निर्माण करते हैं' इन वाक्यत्रयी में ही प्रका-माद्य-मूत्रमात्रात्मक प्रज्ञानमया का व्यापार विभक्त है। प्रका को अग्नि नामकिर, प्राण और मत् को शेष समकिर। अथाग्निश्च अग्निवाग्नि में अब प्राणम तामक ताम की आहुति होती है तो 'ज्ञानेन्द्रिय' का विराट इन्द्र है। दूसरे शब्दों में प्रका प्राण, मत् तीनों मात्राओं में यदि प्रशामात्रा ध्यापार, एवं प्राण-मूत्रमात्रा अधिय है तो इन तन्मन्वय से ज्ञानप्रधान-उत्पत्ति का प्रादुर्भाव होता। प्राणाग्नि में आहुति होने वाली प्राणपुष्टा मूत्रमात्रा क्योंकि शब्द-पद्य-रूप-रज-मन्व-भेद से पद्यका विभक्त है, अतएव प्रिष्ठमन्वितरूप प्ररान पाँच ही प्रश्नर का उत्तर होता है। यही पद्य ज्ञानधाद्य पद्य ज्ञानेन्द्रियवर्ग है। 'जानो ते मुना है हापो से पुष्पा है, जानो मे देना है, जिहा से स्वाग्नि है, नाकी म रूपा है'। ये ही 'आग्नि-स्व-बहु-जिहा-प्राण' नाम की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। पाँचों में अपदि प्रका-प्राण-मूत्र तीनों माग हैं पद्यु प्रशापात्तचैन माधन्व्य प्ररामरान का ही है, अतएव इन्हें ज्ञानेन्द्रिय करना अक्षय बन्य है।

१२८-इन्द्रियों के 'मात्रा'-भाव—

चित्त पार्ष्वि मूल भाग का इत प्रकानमन में समावेश रहता है, उक्त मूल (महामूल) का मूल रेणुमूल है। रेणुमूल का मूल गुणमूल है, एवं यही गुणमूल 'तन्मात्रा' नाम से व्यक्तित हुआ है, जो कि तन्मात्राएँ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पार्ष्विमूल तेज-अप-अम के विशुद्धरूप से पृथिवी-बल-तेज-बाहु-आकाश, इन पाँच भागों में विभक्त है। पृथिवी की तन्मात्रा गन्ध है, बल की तन्मात्रा रस है, तेज की तन्मात्रा रूप है बाहु की तन्मात्रा स्पर्श है एवं आकाश की तन्मात्रा शब्द है। पाँचों क्रमशः स्वबन्धु-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी से सम्बन्ध रहता है। आकाशमूलक स्वबन्धु में केवल शब्दतन्मात्रा का विद्यत है। बाहुमूलक-परमेष्ठी में शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा इन दो तन्मात्राओं का विद्यत है। तेजोमूलक सूर्य में शब्द-स्पर्श रूप, इन तीन तन्मात्राओं का विद्यत है। बलमूलक चन्द्रमा में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-इन चार तन्मात्राओं का विद्यत है। एवं मूल्मूलक पृथिवी में शब्द-स्पर्श-रस-गन्ध, ये पाँचों तन्मात्राएँ विकसित हैं। इसी आधार पर पार्ष्विमूल को हम पञ्चात्मक कह सकते हैं—

- | |
|------------------------------------------------------------|
| ५-स्वयम्भू आकाश-राष्ट्रतन्मात्रा (१) |
| ४-परमेष्ठी-बाहु — राष्ट्रः स्पर्शतन्मात्रा च (२) |
| ३-सूर्य-तेजः— राष्ट्रः स्पर्श, रूप तन्मात्रा च (३) |
| २-चन्द्रमा-बलम्— राष्ट्रः, स्पर्श रूप-रसतन्मात्रा च (४) |
| १-पृथिवी-गुणम्— राष्ट्रः स्पर्श-रूप-रस-गन्धतन्मात्रा च (५) |

१२९-मानस ज्ञान-कर्म-अर्थ-का उद्भव—

क्योंकि प्रकानमन में पञ्चात्मक पार्ष्वि मूल का समावेश है अतएव तन्मित्र प्रायमाय के एवं तन्मित्र प्रकाशय के भी पाँच पाँच विभाग हो जाते हैं। अतएव मन मानस रूप प्राय एव मूलका शक्ति से मनधातुका मनस की हुए विशुद्ध प्रकानमन के प्रकाश-माय मूल-इन तीनों उद्भव पाठुओं के पाँच पाँच अर्थ विभाग हो जाते हैं। इन अर्थमणों को ही प्रकाशमात्रा प्रकाशमात्रा मूलमात्रा, नामों से व्यक्तित किया गया है। अतएव बाहु है अर्थक इह विशुद्ध आत्मा की महिमा है। इन महिमाक्यों से ही प्रकानमन इन्द्रियमणों का उद्भावन करता है। प्रकाशमात्रा ज्ञानमय है प्रायमात्रा किनामय है, मन-मात्रा अर्थमय है। तीनों परस्पर अविनाशक हैं। अतएव ज्ञान, कर्म अर्थ तीनों में प्रकाश-माय-मूल,

तीनों उपलब्ध होते हैं। तीनों के सम्बन्ध से ही मानस ज्ञान मानस कर्म, मानस कार्य का उदय होता है। 'पटमह जानामि' इस वाक्य में 'अहं' प्रधानता है, 'पट' मूढतात्रा है, 'जानामि' प्राप्तात्रा है। प्रकाशनाकरणवन्धित्व वैक्य है, प्राण अन्तःकरणवन्धित्व वैक्य है एवं मूढ (पट) विपवावन्धित्व वैक्य है। तीनों के एकत्र (मानस चयत्न पर) सम्निवत होने से ही 'पटमह जानामि' इत्यादिक 'पट'-प्रत्यय (पटज्ञान) का उदय हुआ है। प्रत्यय कर्म, कार्य, तीनों का स्वरूप वैक्यत्रयी, प्राणत्रयी, मूत्रत्रयी से ही निष्पन्न होता है।

१३०-प्रज्ञामात्रा, और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ-

शास्त्रमें यही है कि, जिसे हम 'ज्ञान' करते हैं उसमें प्रज्ञात्मक ज्ञान प्रधान है, प्राणात्मिक क्रिया, एवं मूत्रात्मक कार्य गौण है। परन्तु वे ज्ञान में तीनों का सम्बन्ध है। एवमेव कर्म में प्राणमात्र प्रधान, तथा प्रज्ञा, और मूत्रमात्र गौण है। एवमेव च कार्य में मूत्रमात्र प्रधान तथा प्रज्ञा, और प्राणमात्र गौण है। जिन्हें हम पट-व्यति कार्य करते हैं, उनमें मूत्रमात्र प्रधानरूप से विकसित है। अन्तर्गमित प्राण है यही क्रिया है। इती से बहु कार्य में भी अभाव्यापरिवर्धन होता रहता है। प्राणमात्र में प्रज्ञात्मक ज्ञान प्रिय है इसी से प्राणात्मिक क्रिया का सम्भार होता है। इसप्रकार मौलिक कार्यों में अर्थात्मिक मूत्रात्मिक क्रियात्मिक प्राणमात्रा, जानामिका प्रज्ञामात्रा तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एवमेव गमन, वाक्, श्रद्धादि आदि विदों में कर्म हैं उनमें प्राणमात्र प्रधानरूप से विकसित रहता है। प्राणाधारभूत (प्राणधारभूत) प्रज्ञामात्रा भी कर्म में विद्यमान है एवं प्राणाधारभूत मूत्रमात्रा भी विद्यमान है। प्रज्ञात्मक कर्म क्रियात्मक है। क्रियात्मक निष्किय अर्थात्मिक की अपेक्षा रहता है। इसप्रकार प्राणप्रज्ञा मूत्र-तीनों मात्राओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एवमेव 'पटमह जानामि' इत्यादि ज्ञानमें भी प्राणमात्रा प्रधान है, जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है। तीनों मात्राओं में यदि एक का अभाव है तो न तो ज्ञान की ही स्वरूपनिष्पत्ति होती, न कर्म का ही स्वरूपनिष्पत्ति का ही निष्पन्न होता।

तीनों मात्राओं की परस्पर आहुति होती है इन्से 'ज्ञान-कर्म-कार्य' का उदय होता है। 'हम जानते हैं, हम कर्म करते हैं' कर्मोद्धार किसी भी कार्य का सम्भार वाक्त्रयी में ही प्रज्ञा-प्राण-मूत्राधारमक प्रज्ञानप्रज्ञा का अन्तःकरणवन्धित्व है। प्राण और मूत्र का सेन सम्निवत। प्रज्ञात्मिक अग्निबोधि में जब प्राणमूत्रात्मिक दो 'ज्ञानेन्द्रियाँ' का विकास होता है। वृत्त शब्दों में प्रज्ञा प्राण, मूत्राधार-आधार, एवं प्राण-मूत्राधार आवेग है तो इस सम्बन्ध से ज्ञानप्रधान-मूत्राधार में आहुति होने वाली प्राणमूत्रा मूत्रमात्रा क्योंकि शब्द-प्राण-मूत्राधार-अन्तःकरणवन्धित्व प्रज्ञात्मिक प्रज्ञान पाँच ही प्रकार का उदय होता है। यही प्रज्ञा-प्राण-मूत्रा से युक्त है शब्दों से युक्त है, ज्ञानों से युक्त है, विद्या-प्राण-मूत्रा ही 'मौन-स्वप्न-बुद्धि-विद्या-प्राण' नाम की पाँच शब्देन्द्रियाँ हैं। प्राणमात्रा है, परन्तु प्रज्ञाधारत्वेन प्राणान्त प्रज्ञात्मक ज्ञान का ही है, अन्तःकरणवन्धित्व

- १-सङ्गीतमहं शब्दामि—राज्यतन्मात्रा (आक्षरशास्त्रिका)—भोजम्
- २-बाह्यकर्महं शत्रुशामि—स्वराज्यतन्मात्रा (वाय्यात्मिष्व)—स्वक्
- ३-बिभ्रमहं पर्यामि—रूपतन्मात्रा (तेजोमयी)—बभ्रु
- ४-शास्त्ररत्नमहं विद्यामि—रसतन्मात्रा (असमकी)—त्रिह्ला
- ५-गन्धमहं विद्यामि—गन्धतन्मात्रा (मृदमयी)—प्राण

ज्ञानप्रधानवत्कथानि
तानीमानि पञ्च
ज्ञानेन्द्रियाणि

१ प्रज्ञामात्रा—आचारमूर्तोऽग्निः

१ प्राणमात्रा

२ मूत्रमात्रा

आचयमभूतः मामः

समस्यस्यत् प्रज्ञामप्रधानानां ज्ञानेन्द्रियणां पञ्चानां विकसतः
तदिदं ज्ञानतन्त्रम्

१३१-प्राणमात्रा, आर पञ्च कर्मेन्द्रियाँ—

अथ प्राण को आचारमत् ज्ञानि लम्बिष्ट, एवं प्रज्ञा तथा मन दोनों को आवेक लेम मानिए । इस लम्बिकवर्षी से आ प्राणप्रधान अर्थात् पञ्च उदरम होता है वही पञ्च कर्मेन्द्रियवर्ग कहलाया है । मतमात्रापञ्चक के मेष से प्रज्ञाकृत् विद्यारूपा प्राणमात्रा के भी पाँच ही विभाग हो सकते हैं । प्रज्ञा-मूर्त्यमिता पञ्चप्राणमात्रा ही कर्मेप्रधान कर्मेन्द्रियाँ हैं आ वाक्-पाणी-पाद-पात्रु-उपरम इन नामों से प्रसिद्ध हैं । मुख से बोलना, हाथों से काम करना पैरों से चलना, पात्रु से मसाला करना, उपरम से उत्पदि कर्म करना ये सब कर्मेत्कल्प के विधात हैं । यहाँ लक्ष्य 'करने' पर ही विज्ञान है । वाक् का वाक्कमात्रा से पाठी का स्पर्शकमात्रा से, पात्रु का स्पर्शकमात्रा से लम्बक है * । पार्थिव अपानशास्त्रमन्त्रवेन पात्रु का

* स्वर्णगुण वेदामृत की मूलप्रतिष्ठा ही रूपकमात्रा मानी गई है । और मयवा इन्द्र ही 'रूपं रूपं मयवा बोमवीति तिष्ठान्तनुश्वर रूप का प्रवचक है एवं वही-जा न्वा न्वा न्वा वल्लहविरिन्त्र कर्मेव तत' (वा नि) के अनुकार गतिमान का प्रवचक है । उपरार्थन पात्रु से होता है गति पत्नी से लम्बक रहती है । रूप, और गति दोनों और वेदोमव इन्द्र के प्रास्तिवक कर्म हैं । वही रूपकमात्रा की प्रसिद्धा है । अत्यन्त पारगति का भी अवरम ही रूपकमात्रा से लम्बक माना या लब्ध है ।

गन्धतन्मात्रा से सम्बन्ध है। चान्द्र-शुक्रनिर्गमनत्वेन उपस्थ का गन्धतन्मात्रा से सम्बन्ध है। इत्यत्र ज्ञानेन्द्रियपञ्चकबद्द कर्मेन्द्रियपञ्चक में भी पाँचों तन्मात्राओं का उपयोग हो रहा है।

- १-राश्वतमहं धवामि—राश्वतमात्रा (आश्वरात्मिका)-वाक्
- २-कर्ममहं करोमि—स्पर्शतन्मात्रा (वाय्वात्मिका)-वाणी
- ३-स्थानमहं गच्छामि—रूपतन्मात्रा (तेजोमयी)-वाक्
- ४-मस्रोत्सर्गमहं करोमि-गन्धतन्मात्रा (भ्रूमयी)-वासु
- ५-रतिक्रियामहं करोमि-रसतन्मात्रा (जलमयी)-वपस्थः

कर्म्मप्रधानवाक्यानि
तानीमानि पञ्च
कर्मेन्द्रियाणि



१ प्राणमात्रा—आधारभूतोऽग्निः	} समन्वयात् प्राणप्रधानानां कर्मेन्द्रियाणां प्रधाना विक्रमः । तदिदं कर्म्मतन्त्रम्
१ प्रज्ञामात्रा	
२ मूतमात्रा	

आधयमूतः सोम



१३२-इन्द्रियध्यापार, और काममय मन का अनिघार्य सहयोग—

ज्ञान में कृत्वा (प्रज्ञामात्रा) ज्ञान (ज्ञानसाधनमूला प्राणमात्रा) हेय (मूतमात्रा), तीन पुत्रों के समन्वय की अपेक्षा है। अतएव ज्ञानविषय 'त्रिपुत्री' नाम से व्यबहृत हुआ है। भी गन्धानुभव कर रहा है। इस वाक्य में मूत्र रूपात्वात् प्रज्ञामात्रा है यही 'कृत्वा' है। गन्धद्रव्य भी है प्राणोन्द्रिय भी है, परन्तु यदि प्रज्ञामयन इत और अनुगत नहीं है, तो गन्धानुभव अशक्य है। मन भी है गन्धद्रव्य भी है यदि प्राणोन्द्रियरूपा प्राणमात्रा नहीं है तब भी गन्धानुभव अशक्य है। एतदेव मन, और प्राणोन्द्रिय के रहने पर भी गन्धद्रव्यरूपा म तमात्रा के अभाव में गन्धानुभव अशक्य है। तब यही त्रिपुत्रि कर्म्म में समन्वय। वाक्-वाणी-वाधाणि प्राणमात्रा हैं। यदि इनके साथ प्रज्ञामात्रारूप से मन नहीं है तो इनसे कर्म्मसृष्टि अशक्य है। कामरूपा कर्म्म अज्ञानकर्म्म है। एवं अज्ञानभाव में कर्म्मसृष्टि अवश्य है। निम्न लिखित वचन कर्म्म में आकरवचन से अपेक्षित इत काममय मन-सहयोग का ही समर्पण कर रहे हैं—

१-ज्ञानजन्या भवेत्किञ्च, इच्छाजन्यं कृतमिवैव ।

कृतजन्यं भवेत् कर्म, तद्वत् कृतमुच्यते ॥

२-संकल्पमूलं कामो वै यद्वा संकल्पसम्मदा ।

प्रणानि यमममाश्च सर्वे संकल्पजा स्मृता ॥

३-अक्षयस्य क्रिया क्षयित् इत्यते नेह कश्चिद्विद् ।

यद्यदि ह्यस्ते किञ्चित्तत्त्वत् क्षयस्य चेटितम् ॥ (मनु०२।३,४) ।

४-“न ह्युक्तेन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम्”-(शत०६।२।१।१४)।

५-“अन्यत्र मना अमूर्त्-नादशम् । अन्यत्र मना अमूर्त्-नाभौपम्-इति ।

मनसा ह्येव परयति, मनसा शृणोति” (शत०१४।१।१५) ।

हम चाहते हैं तो बुलाया है । रामचन्द्रोच्चारण में इनाय मन प्रकामाश-रूप से कौटिल्य है । निम्न मन-व्ययों के कर्ममिति सर्वथा असम्भव है । यदि शब्द भी मनप्रोत्साह से हम कल्पपूर्वक किये कर्म में प्रवृत्त होते हैं, तो वह कर्म अमूर्त्तम नहीं बनने पाया । कर्ता करता, कर्म, मे- से कर्मकर्म भी ज्ञानकर्म-रूप विम्वय में ही विम्वय रहता है । ज्ञानकर्म कर्मनोदना है, कर्मकर्म कर्मनोदक है । निम्न विम्वय गीतावचन इन दोनों कर्मों के रथे विपुल्येयक का रथीकरण कर रहा है—

ज्ञानं, ज्ञेयं, परिज्ञाता त्रिविधा कर्ममघोडना ।

करणं, कर्म, कर्षति त्रिविधाः कर्मसंग्रह ॥

—गीता१५।१५

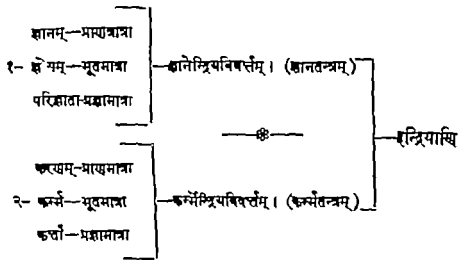
॥ जिसे लोककर्मरूप में कर्म-वेद्य-कृति कहा जाता है उसी मानस-प्राणव्यापाररूप अमूर्त्तकार के लिए वेद्य में ‘कृतु’ शब्द प्रयुक्त है । अतएव-‘इच्छाजन्या कृतिमेवैव’ के स्थान में हमने ‘इच्छाजन्यं कृतुमेवैव’ पाठ कर दिया है । प्राणव्यापाररूप मनोवच ही कृति है, यही कृति है, जैसा कि निम्न किञ्चित् बचनी से प्रमाणित है—

(१)-य पदेन मनसा क्षययते-इदं मे स्यात्, इदं कुर्यात्, इति-स एव कृतुः ।

—शत०५।३।२।१।

(२)-इत्सु-कृतु बरखी विम्वग्निम् । इत्सु ह्ययं कृतुमनोवचः प्रविष्टः ।

—शत ३।३।१।



१३२—दशविध इन्द्रियमात्रविषय—

ज्ञानेन्द्रियपञ्च की ५ प्रज्ञामात्रा ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा है। तीनों पञ्चक अभिनामृत है। एषमेव कर्मैन्द्रियपञ्चक की भी ५ प्रज्ञामात्रा, ५ भूतमात्रा ५ प्राणमात्रा है। तीनों पञ्चक अभिनामृत है। ज्ञान-कर्मैन्द्रिय, दोनों के मात्रापञ्चकों के समन्वय से तीनों के १-१०-१०-विषय हो जाते हैं। तीनों दशक अभिनामृत है। अतः दोनों के मात्राविषय १ ही से शेष छह जाते हैं, जिन दशों मात्राविषयों का विन्म शक्ति भूति से स्पष्टिकरण हुआ है—

“न हि प्रज्ञापेता वाक्-नाम किञ्चन प्रज्ञापयेत्, अन्यत्र मे मनोऽमृत, इत्याह । नाहमेतन्नाम प्राज्ञासिपम्-इति ॐॐॐॐ। वा वा एता दशैव भूतमात्रा अभिप्रश्न, दश-प्रज्ञामात्रा अभिभूतम् । यदि भूतमात्रा न स्युः, न प्रज्ञामात्रा स्युः । यदा प्रज्ञामात्रा न स्यु, न भूतमात्राः स्यु । न अन्यतरतो रूपं किञ्चन सिद्धयेत् । नो एतन्नाना । तद्यथा रयस्यारेषु नेमिरक्ति, नामाबरा अपिता, एवमेवेता भूतमात्रा प्रज्ञामात्रास्वपिता, प्रज्ञामात्रा प्राणेष्वपिता । स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृत । न साधुना कर्मणा भूषान्, नो एषासाधुना कनीयान् । एष ज्ञेयैव (भूतात्मान्) साधु कर्म कारयति तं, यमेभ्यो लोकेभ्य उभिनीपते । एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं, यमभो निनीपते । एष (प्रज्ञानात्मा) लोकात्, एष लोकधिपति, एष सर्वेश । स म आत्मेति विधात्”

अपेयतन्त्रुपनिषत्तान् ।

१३३—भूतमात्रा, और पञ्च इन्द्रियार्थ—

कतथाय मया है कि, प्रज्ञा-प्राण-भूत, तीनों ही आधार करते हैं एवं तीनों ही आपेय करते हैं । तीनों में से प्रज्ञा, और प्राण के आधारभवेत्तव का निरूपण किया, विषय निष्कर्ष बह निकला कि, प्रज्ञा के

आधार बनने से, एवं प्राण के आवेग बनने से तो पाँच ज्ञानेन्द्रियों का विकास होता है। एवं प्राण के आधार बनने से तथा प्रज्ञा के आवेग बनने से पाँच कर्मेन्द्रियों का विकास होता है। अब शेष यह बाती है—भूतमात्रा। इस भूतमात्रात्मक आधापति में जब प्रज्ञा—मात्रात्मक आवेग सोम की आहुति होती है तो अर्धरात्रि का स्वस्व उद्भूत होता है। शब्दात्मक आधापति स्पर्शान्तक वायु स्वात्मक तेष रसस्वक कस मन्दात्मिका प्रथिवी, इन पाँचों में जब प्रज्ञा, प्राण की आहुति होती है तो शब्द—स्पर्श—कस—रस, गन्ध, इन पाँच महा—मौलिक अर्थों का विकास होता है। शब्दादि उन्मात्रात्मक भूत गुणात्मक बनते हुए सम्पन्न हैं। शब्दादि अर्थरूप भूत महाभूतारम्भ होने से व्यक्त हैं। वे व्यक्त भूत ही इन्द्रियों के विषय बनते हैं। अधिदैवकत्वता में भी पञ्चउन्मात्राओं से प्रज्ञा—प्राणाहुति के द्वारा पञ्चमहाभूतारम्भ अर्थ उत्पन्न हुए हैं। एवं आध्यात्मिक काल में भी इन्हीं पञ्चउन्मात्राओं से अर्धरात्रि पञ्च अर्थों का विकास हुआ है। अर्धरात्रि भूतों में क्योंकि प्रज्ञा, और प्राणानावा का अन्वय है अविमल है। अतएव इन मौलिक पदार्थों में प्रकृतगुण ज्ञानेन्द्रियों का, तथा प्रज्ञा—गुण्य कर्मेन्द्रियों का विकास नहीं होने पत्त। अतएव विद्युद्ग मौलिक पदार्थ 'निद्रिन्द्रिय' कहलाए हैं।

१३४—सर्वभूतभूता महत्प्रकृति—

ज्ञान किया अर्थ तीनों की धमति ही 'सर्वम्' है। इस सर्वम् का अन्वय प्रज्ञा—प्राण—भूतगुणिक प्रज्ञान ही है अतएव भूति ने इसे 'सर्वम्' कहा है। 'ज्ञानना' ज्ञान है करना 'कर्म्म' है ज्ञान—किये का आधार जानने और करने का आहात्मन 'अर्थ' है। तीन के अतिरिक्त अर्थ कल्पित का अभाव है। प्राण—भूत दोनों की प्रज्ञात्मि में आहुति से ज्ञान का प्रज्ञा—भूत दोनों की प्राणात्मि में आहुति होने से कर्म्म का एवं प्रज्ञा प्राण, दोनों की भूतात्मि में आहुति होने से अर्थ का स्वस्व निष्पन्न हुआ है। तीनों उन्मात्रा—मात्रा—भूतगुणिक प्रज्ञान की मक्षिमा है। नही प्रज्ञानबद्ध तीन मक्षिमाओं में परिणत होकर अधिदैवक, अध्यात्म, दोनों विधी का उन्मात्रक बन रहा है। यह प्रज्ञान महान् के स्वस्व मन का ही इन्द्रियगुण्य रूप है यह कहा का पुत्र है। अतएव इसे भी हम विज्ञानकर् महत्स्वरूप में ही अन्तर्भूत मान सकते हैं। बहुरिपति तो वाक्य में यही है कि विद्यात्मक विद्यात्मक विज्ञानात्मक विज्ञानात्मक प्रज्ञानात्मक प्रज्ञानात्मक, भूतमात्रा का मूलत्व, एवं कुछ विद्युत्मात्राप्रज्ञा महत्प्रकृति (व्यक्तप्रकृति) पर ही प्रतिष्ठित है। गुणव्यतिथिवा इती महत्प्रकृति के आध्यात्म से निर्गमक अब अध्यात्म को भी सर्वभूमोपपन्न बन कर योगप्राप्तक से जन्म लेना पड़ता है। यही महत्प्रकृति भूतमात्राद्वारा कल्पस्वरूप का निर्माण करती है। निम्न लिखित बचन महत्प्रकृति की इती सर्वप्रकृति का विशेषण कर रहे हैं—

प्रकृतिं स्वामपहस्य विस्तृजामि पुनः पुन ।

भूतधाममिमं हृत्स्नमवशां प्रकृतेर्वशात् ॥१॥

मयाप्यखेद्य प्रकृतिः ह्यते सचराचरम् ।

हेतुननेन क्वैन्तेय ! अगद्विपरिवर्धते ॥२॥ (गीता३।१।१०१)

सर्वकर्त्ता इती महानात्मा की वृत्ति करते हुए श्रुति करते हैं—

यो योनिं योनिमपितिष्ठत्येको विश्वानि रूपास्त्रि योनीष सर्वाः ॥

अपि प्रसृतं अपितं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विमर्षिं नायमानं च परयेत् ॥१॥

एकैक जालं बहुधा विकुर्वन्मस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येव देव ॥

भूय सृष्ट्वा फलयस्तद्येश सर्वाभितत्यं कुर्वन् महात्मा (महानात्मा) ॥२॥

—खे० छप० १२,३,

१३५—कण्वाद् का अणुपरमाणुवाद, और कपिल का गुणवाद—

कपिल से पहिले वैशेषिकों का (कण्वाद् का) परमाणुवाद प्रचलित था । सृष्ट्युपादान के सम्बन्ध में परमाणुसूत्र अणुसूत्रों पर ही विभाम मान लिखा जाता था । महर्षि कपिल ने इस परमाणुवाद का खण्डन कर गुणसूत्रात्मक (पञ्चतन्मात्रात्मक) प्रकृतिवाद स्थापित किया । कपिल ही इस प्रकृतिवाद के प्रथम प्रवर्तक बने । अतएव छद्मत्व की परिमाणतुल्य कपिलवादा यह महर्षिप्रकृति की उसी प्रकार 'कपिल' नाम से प्रसिद्ध हो गई जैसे कि बलिष्ठ-अगत्य-मत्स्यादि मौखिक श्रुतिप्रयोगों के प्रथम परीक्षक विद्वात् बलिष्ठादि नामों से ही प्रसिद्ध हो गए हैं । कपिलवाद् इसी महानात्मा का सर्वमाग इन्द्रियातुगति में परिणत हो कर 'महानात्मा' कहलावे लगता है । शाब्दात् रूप से यह इन्द्रियातुगामी नहीं बनता । अतएव पारमेष्ठ्य महत्त्वचय अपूर्वक पहिले पृथिवी-स्वरूप में परिणत होता है । पार्थिव प्राण पामन्क्यद अग्निप्राण है । अग्निप्राणमुक्त भूयिष्ठ सूर्य के भातों और परिष्कृता सगता है । इस परिष्कृता अग्निप्राण के द्वारा पृथिवी-मुक्त महद्गम्य प्रसृत हो कर चन्द्ररूप में परिणत हो जाता है । अतएव चन्द्रमा की अग्निप्राण एवं पृथिवी का अन्वय माना गया है । पृथिव्युपमहभूत चन्द्रमा रेतः-अग्ना-मृदा-मय है । रेत पार्थिव माग है, मृदा खैर माग है अग्ना स्वयं चान्द्र माग है । 'अग्ना वा अयम्' (श्रुतिः) के अनुसार चन्द्र अग्ना-तत्त्व अप्तोमात्मक है । इसकी आदित्याग्नि में आहुति होती है, इससे अग्ना समकर्म में परिणत हो जाती है । सोम की परम्याग्नि में आहुति होती है, इससे सोम इष्टि (बस) रूप में परिणत हो जाता है । इष्टि की पार्थिव अग्नि में आहुति होती है, इससे इष्टि श्रोत्रिकर्म में परिणत हो जाती है । श्रोत्रिकर्म अन्न की पुष्पाग्नि (वैश्वानरग्नि) में आहुति होती है इससे अन्न रेतोरूप में परिणत हो जाता है । इस रेत की सुसूक्ष्माकृषा ही प्रकानमन है । इसप्रकार पारमेष्ठ्य महत्त्वचय पृथिवी के द्वारा पहिले चन्द्ररूप में परिणत होता है । अनन्तर अग्ना-सोम-इष्टि-श्रोत्रिकर्म-रेतोरूप में परिणत होता हुआ अन्न के द्वारा प्रकानमनोरूप में परिणत होता है । वैश्वकि—'अन्नमयं हि सोमम् ! मना' इत्यादि अन्नोत्पत्ति से प्रभावित है । चिद्विभिन्न अग्ना प्रकामाभा है यदोरूप इन्द्रप्राण प्राणमात्रा है । योरूप पार्थिव माग भूतमात्रा है । तीनों की समष्टि ही 'प्रकानम्' है । अग्ना चाकर प्रकान-प्राण-भूत की परस्परवृद्धि से बड़ी प्रकान प्रकामाष्णमिष भूतमहिमा प्रकामूष्णमिष प्राणमहिमा प्राणभूतमिष प्रकामिष्म में वरिष्ठ होत हुआ अर्ध-कर्म-ज्ञान, इन तीन एत्यों का प्रवर्धक बन जाता है । वैश्वकि पूर्व में एत किय का पुत्र है ।

१३६—आपूर्वाश्लिष्य, एवं प्रतिकृतिश्लिष्य-द्वारा भूतविचर्षा का समन्वय—

ज्ञान कर्म, अर्ध, तीनों में ज्ञान, कर्म दो आत्मा (प्रकानात्मा) के प्रातिविषय रूप हैं निय हैं । एवं अर्ध अल्पद्रव्य है कृत्रिम रूप है । इस लक्षण में एक विप्रतिपत्ति उपरिष्ठ होती है । प्रसङ्गोत्पत्त इत्यथ ही नियन्त्रण कर हीना चाहिए । 'पटमई अन्नमि' इत्यादि अन्नविषयों में प्रकान-प्राण-भूत, तीनों मात्राओं का शाता-ज्ञान-वेद्य रूप से प्रत्यक्ष ही रहा है । एवमेव 'कर्ममई कपोमि' इत्यादि मन्वय कर्म-एत्यों में ही अर्ध-कर्म-कारण-मी के तीनों मात्राओं का प्रत्यक्ष हो रहा है । परन्तु पट-मयदि अर्धतन्त्रों में केवल भूतमात्रा का

कोई श्रेय प्रदान-प्राण नाम की दोनों मात्राओं का प्रत्यक्ष नहीं होता, बल्कि अर्थात्कर्म में भी ज्ञान-कर्म उत्पन्न होने का समन्वय प्रकृतिक्रिय है। ऐसा क्यों ?।

विपरीतपक्ष का नियन्त्रण कौशिल्य। तांत्रिक पर-अक्षर पदार्थों का कोई न कोई कर्ता अवश्य है। किन्तु एक पदार्थों का निर्माण तो स्वयं ईश्वर है एवं पद-पद-व्यतिरिक्त किन्तु एक पदार्थों का निर्माण बीजात्मक है। ईश्वरव्याख्या परमात्मा, एवं बीजात्मक, दोनों का ही लक्षिकर्म अपूर्वशिव्य प्रतिस्मयित्व, मेद से दो मणों में विभक्त है वैश्विक मक्षिपरीक्षा-उत्तरलयाद में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। आचार्य, स्वयं, अक्षरमा प्रह नक्षत्र, पृथिवी, आदि प्राकृतिक पदार्थ ईश्वरकृत अपूर्वशिव्य हैं। कर्त्तव्य अपूर्व अतीतरी है। पृथिवी का एक अक्षरमा शनिमण्डल के आरंभ अक्षरमा, आदि पदार्थ ईश्वरकृत प्रतिस्मयित्व हैं। अमृतपूर्व पदार्थ का नाम अपूर्वशिव्य है निर्मित वस्तु के उद्योग निर्मित पदार्थ का नाम प्रतिस्मयित्व है। आचार्य, परमेष्ठी, स्वयं, पृथिवी आदि प्राकृतिकव्यापारिकव्यापार महामासायन्त्रिम ईश्वर के अपूर्वशिव्य हैं, अमृतपूर्वशिव्य हैं। एवं परमेष्ठी आदि की प्रकृति (नक्षत्र) पर निर्मित अक्षरमादि ईश्वर के प्रतिस्मयित्व हैं। इत्यक्षर ईश्वरीय शिव्य दो मणों में विभक्त ही रहा है।

बीज ईश्वर का अर्थ है। परमात्मा कारण है, बीजात्मक अर्थ है। अक्षरगुण अक्षर ही अर्थ में प्रतिष्ठित रहते हैं। एतत्काल अक्षरगुण ईश्वर के समन्वित शिव्यकर्म का अर्थगुण बीज में भी उपायेत हो जाना प्रकृतिक्रिय बन जाता है। इत्यक्षर ईश्वरकृत अक्षरगुण शिव्य भी अपूर्व-प्रतिस्मय मेद से दो मणों में विभक्त हो जाता है। इत्यर्थ पुण्य आदि विमान किन्तु वैश्विक द्वारा अर्थगुण विनिर्मित हुए, वह उक्त अपूर्वशिव्य माना जाय। एवं इन अपूर्वशिव्यों के आचार पर अर्थ विनिर्मित हो अनेक विमान बना जाते वह उन अर्थशिव्यों का प्रतिस्मयित्व माना जाय। बीजात्मक वह प्रतिस्मयित्व बीजात्मक, ईश्वर गुण, मेद से दो प्रकार का माना गया है। बीजात्मक के अपूर्वशिव्य (विमानादि) की प्रकृति बीजात्मक बीजात्मक प्रतिस्मयित्व कहलाया है। एवं ईश्वरगुण के अपूर्वशिव्य (अक्षर-गो-यत्तयादि) की वस्तु अक्षरगुण प्रतिमापै ईश्वरगुण-बीजात्मक प्रतिस्मयित्व कहलाया है। किन्तु का भी कोई का भी शिव्य हो, उनके प्रकार अपूर्व, प्रतिस्म, मेद से दो ही भागें ग्य हैं।

उक्त समन्वित शिव्य का निर्माण प्रदानात्रा की आक्षरकर्म से अर्थगुण रहता है। कोई भी शिव्यी (अक्षरगुण) वह किन्तु शिव्य (अक्षरगुण) के निर्माण का अर्थगुण कर्त्तव्य है तो अर्थगुण वह अपने प्रदानात्रा मानत अक्षरगुण पर उक्त प्रतिस्मय अर्थात् करता है। प्रकृति शिव्य का आचार उनके प्रदानात्रा अक्षरगुण में अर्थगुण होता है। तदन्तर प्रदानात्रा ज्ञानात्मक उक्त अक्षरगुण शिव्य के अक्षरगुण वह उक्त अर्थ अर्थगुण अर्थगुण का अर्थगुण कर उक्त अक्षरगुण के शिव्य को अर्थगुण का स्वयं अर्थगुण करता है। यदि अक्षर अर्थगुण शिव्य का अर्थगुण भी अक्षर-प्रदानात्रा उक्त शिव्यी के आक्षरगुण अर्थगुण शिव्यगुण से हीनात्र अर्थगुण तो अर्थगुण का अर्थगुण है ही वह उनके अर्थगुण में उक्त अर्थगुण रहता है अर्थगुण कि वह अपने अर्थगुण शिव्य के अक्षरगुण उक्त अर्थगुण शिव्य की अर्थगुण नहीं कर लेता। अर्थगुण शिव्यी का अर्थगुण अर्थगुण उक्त शिव्यी की प्रका [अर्थगुण] का अर्थगुण है। अर्थगुण शिव्य से शिव्यी की प्रका का अर्थगुण अर्थगुण हो जाता है। ईश्वरीय शिव्य दो अर्थगुण अर्थगुण शिव्य। अर्थगुण शिव्य हो, अर्थगुण प्रतिस्मयित्व शिव्य शिव्यी की

प्रज्ञा का प्रतिरूप [नमूना] है। शिस्ती की प्रज्ञा पर ही यह उभयविध शैक्षिक शिष्य प्रथित रहता है। शिष्य में जो शिस्त्वत्त्व [अभिरंगी] है, श्रीराश है वह न प्राणमात्रा है, न मूलात्मा। अपितु वह शिस्ती की प्रज्ञामात्रा है। दर्शन की दृष्टि सर्वप्रथम शिष्य के इस प्रज्ञामात्रा [अभिरंगी] पर ही बाहर टट्टती है। उक्त शिष्य को देख कर छा के मुख से शिस्ती की प्रज्ञा के लिए ही अन्य अन्य निकलता है। इत्यन्तर प्रत्येक शिष्य में, प्रत्येक क्षण में शिस्त्वत्त्व से इन 'प्रज्ञामात्रा' का भी अन्तःकार कर रहे हैं।

१३७—वृद्धमूर्त्ति में प्राणमात्रा का समन्वय—

अन्य क्रमप्राप्त प्राणमात्रा का सम्बन्ध शीघ्रिए। विश्वपदार्थों का पन तरल, विरल, मेद से तीन मान्यों में वर्गीकरण किया जाताहता है। पार्थिव पदार्थ पन मानें गए हैं, आन्तरिक पदार्थ तरल मानें गए हैं, एवं दिव्य पदार्थ विरल मानें गए हैं। इस प्रकार त्रैलोक्य के पदार्थ भुवनेश्वर नितिशिववचन, अर्थात्तरल पदार्थ-वचन, अक्षयवचन काप्यावचन, मेद से तीन जातियों में विभक्त हो रहे हैं। तीनों अक्षयवचनों का कर्त्तव्य में प्रत्यक्ष किस जातहता है। कर्त्तव्य (बली) पनावचन पार्थिव इह्य है। अग्निस्त्वो से हुत (विपला-हुता) कर्त्तव्य तरलावचन आन्तरिक इह्य है। अक्षयवचनस्त्वो से वाप्यक्रम (प्राणक्रम) में परिचित होकर आन्तरिक में क्लीन होबाने बाणा कर्त्तव्य विरलावचन दिव्य इह्य है। यथावात् पदार्थों के ये ही तीन परिचय मानें गए हैं।

१३८—तीनों स्त्रियों का श्वात्मकत्व—

प्रश्न होता है कि इह्यों में यह अक्षयवचनी कैसे उत्पन्न होती है। वैदिकों में 'प्राण' शव को जाने करते हुए ही इस प्रश्न का समाधान किया है। अनन्त-विश्व प्राणों में से भूताकारमूत प्राणविशेष ही ही 'शैम्प्राण' कहलाया है। यह शैम्प्राण भ्रुव-वर्ष-वचन-मेद से तीन अक्षयवचनों में परिचित रहता है। किस पदार्थ में भ्रुवप्राण की प्रचलना रहती है वह निश्चितवचन न आता है अर्थात्प्राणमक पदार्थ तरलावचन, एवं अक्षयप्राणमक पदार्थ वाप्यावचन न आता है। इत्यन्तर शिवरावचनों शैम्प्राण के उत्पन्न से ही पदार्थमूक अक्षयवचन परमात्माओं के संभन में उत्पन्न होता रहता है। अक्षय इस शैम्प्राण-रता प्राणमात्रा का श्वात्मकत्व शैक्षिक कार्य पर अनुभव रहता है। तभी तर्क शैक्षिक धर कृष्ण में परिचित रहते हुए परम्परा (प्राणधर) से सुसंभल कने रहते हैं। इस प्राणमात्रा के उत्पन्न होने ही धर संभन अक्ष होताहता है, शैक्षिक इह्य तीनों-तीनों न कर स्वस्वरूप से उत्पन्न होबाता है। तीनों कनु के लिए लोकमात्रा में—'अक्ष' इस वचन में 'दम' नहीं रहा यह वचन प्रयुक्त होता है। यह 'दम' यही प्राणत्व है, जो अपने शब्द-स्वभाव-रूप-रस-गन्धामयवचन अध्यात्म-धर्म से इन्द्रियातीत बना हुआ हमारे लिए अध्यात्म बना रहता है। इत्यन्तर श्वात्मकत्व का श्वात्मकत्व में भी प्रज्ञामात्राप्रधान ज्ञानत्त्व तथा प्राण-मात्राप्रधान कर्मत्व की शक्ति भूमात्राका शिस्त्वत्त्व से प्रज्ञामात्रा का, तथा विश्वरावचनस्त्वक्रम में प्राणमात्रा का हमें अन्तःकार होबा है। अतएव तीनों स्त्रियों का श्वात्मकत्व सर्वात्मना अनुगत है। तभी तो मुक्ति का—'नशम्यत्तरतो रूप किञ्चन सिद्धयेत्' यह वचन परित्यज्य होता है।

१३९—श्वेतन—अश्वेतन—शुभ्यपरिमाणा—

उक्त कवनानुसार अर्थत्त्व में भी ज्ञान-कर्ममत् पदवि प्रज्ञा-श्वेत-मूत इन तीनों मात्राओं का समावेश है। तथापि एक विशेष हेतु से अर्थत्त्व को ज्ञान-कर्म-कर्त्तावेद्य विश्वतीवधर्मा ही माना जाया।

अर्थात्तत्र में प्रज्ञा-माद्यमात्राएँ भूतमात्रा से उठी प्रकार आत्मनिरूपण से अभिभूत रहती हैं, जैसे सुगावस्व-पटगर्म में प्रतिष्ठित रीतप्रमा द्वारात्म्य से अन्नकण रहती है। इन्द्र का विकल्पितत्व ही प्रहात्मक शनैन्निरवर्ग तथा प्राशात्मक कर्मेन्निरवर्ग के विकास का कारण माना गया है। भौतिक अर्थात्तत्र में प्रहात्मक इन्द्र यथा अन्नकण है परन्तु भूतमात्रादि से इन्द्र परिमप्रधारणक रूपविभक्त अन्नकण रहता है। अथवा प्रतिकल्पक भूत के निग्रह से यथा हुआ भी प्राज्ञ इन्द्र मट-प्यादि अर्थात्तत्रों में इन्द्रियमात्र-विकास करने में अक्षम रहता है। इसी आधार पर अर्थात्तत्र को 'अनिन्द्रिय' माना गया है। अतएव च वेत्तन और अचेतन द्वय का- सेन्द्रिय वेत्तनद्वय, निरिन्द्रियकमचेतनम्' यह शक्य किना गया है। अचेतन-जन्म का स्वस्वस्थापक आत्माभाव-आत्मतत्त्वा नहीं है। 'ईराशास्त्रमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्स्य जगत्' के अनुगार आत्मा (प्रज्ञानात्मा) का तब में है। एवं इत आत्मदृष्टि से मारुतीय विज्ञानकाण्ड तब को 'चेतन' मानता है। इसी आत्मचेतन्य के आधार पर मारुतीय दृष्टिकोण यत्रि में द्रित इत्थी को मूला ठक पाप कर्मभया है। इसी आत्मदृष्टि के आधार पर उल्लेख- 'सुखोत्तु मावाणा'- 'ओपये ! त्रायस्व' इत्यादि कथन का अर्थ बन रहे हैं। अतएव मानना पड़ता है कि, अज्ञ-चेतन तन्में आत्मा अन्नकण है। दोनों के मेल का स्वस्वस्थापक है-एकमात्र इन्द्रिय-अनिन्द्रिय मात्र। किन्तु चेतन इत्थी में इन्द्रियों का विभक्त रहता है वे चेतनद्वय मान लिए जाते हैं। एवं किन्तु चेतन बीबी में भूतमात्रा के द्वारा होने वाले इन्द्रमात्राभिमय से इन्द्रियों का विभक्त नहीं होता, वे चेतन द्वय 'अचेतन' नाम से व्यवहृत कर दिए जाते हैं।

१४०- 'इन्द्रियस्य परा शर्धा' का समन्वय-

निरूप्ये वरी निष्ठा कि प्रहाप्रधान ज्ञानरूप एवं प्राणप्रधान कर्मेत्तत्र दोनों के लय समूह ज्ञान-कर्मेन्द्रियों का सम्बन्ध है एवं दोनों कर्मणो मनोत्तकृश प्रज्ञानात्मा के मना-प्राणमात्रों से अनुपरीय हैं। मन-प्राणरूप से यह प्रज्ञानात्मा नित्य है। मन-प्राण से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान-कर्मेन्द्रियकर्म्य दृक् है एवं वाग्मय से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात्तत्र दृक् है। इत्यन्तर प्रज्ञानात्मविवर्त के मनस्वर ज्ञानरूप कर्मेत्तत्र, अर्थात्तत्र के बार विवर्त होजाते हैं। मनस्वर त्रिषण्डकण्य उक्तकर्म लय प्रज्ञानात्मा है। शेष तीनों लय अर्थात्तत्र महिमाभाव हैं। इन तीनों महिमाभी से ज्ञान-कर्मे, मम की हो महिमाभी का इन्द्रिय रूप एक स्वतन्त्र विभाग है अनिन्द्रिय अर्थात्तत्र का एक स्वतन्त्र विभाग है। इत्यन्तर बार तन्में के मनस्वर इन्द्रियरूप अर्थात्तत्र के तीन विवर्त रह जाते हैं। जब एक अर्थात्तत्र अर्थात्तत्र की बल बना रहता है तब एक मन-इन्द्रिय-अर्थ यह कम है। इन्द्रियकाय भावनावाचनात्कारकम से बर अर्थ (इन्द्रियार्थ अन्तर्भाव की कल्प्य बनते हुए मनोवयक्त पर प्रतिष्ठित होजाते हैं जो 'मन-अर्थ-इन्द्रिय, यह कम होजाता है। अन्तर्भावत्वा में यही कम प्रधान है। इन्द्रिय के प्रवर्धमान से पाञ्चभौतिक स्थल शरीर का स्वरूपनिर्माण हुआ है। वरी से अन्तर्भावत्वा का उपक्रम है एवं पुरुषात्मा पर इत अन्तर्भाव-संस्था का उपसंहार है। कर्मेन्द्रिय स्थल भौतिक शरीर से आन्तर्भावत्वा पर्वो का उपक्रम होता है अतएव इसे पूर्वकर्मव्यवसायप्रवर्धन में जोड़ दिया जाता है। शरीरान्तर प्रथम स्थान ज्ञान-कर्मेत्तत्ररूपक इन्द्रियवर्ग का पड़ता है। तदनन्तर दृश्य स्थान अर्थात्तत्ररूपक शारीरिक आन्तर्भावत्वा अर्थों का पड़ता है तदनन्तर तर्क प्रज्ञानात्मकदृश्य मन का स्थान पड़ता है। इसी स्वाभाविक रूप की लय बनते हुए ममत्वा में क्या है- 'इन्द्रियस्य परा शर्धा' अर्थात्तत्र परं मन। मूत्तत्रात् त-वराविध-माद्यमात्रा इन्द्रियवर्ग है। इनसे परे भूतमात्राप्रधान शक्यात् तन्मात्रारूप पञ्च शारीरिक इन्द्रियार्थ हैं। तत्पर प्रहात्माप्रधान प्रज्ञानमन है।

इन्द्रियाणि प्राणमात्रा हैं अर्थात् मूलमात्रा हैं, मनः प्रज्ञामात्रा है, तीनों क्रमशः कर्म-अर्थ-ज्ञानस्तर हैं। तीनों अविनाशमूल हैं। तीनों त्रिपुटी-भाव से युक्त हैं, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। तीनों का समुचितरूप ही 'प्रज्ञानात्मविकसित' है। 'इन्द्रियेभ्यः परं अर्थात्' इत्यादि वचन से दोनों तात्पर्यों का संग्रह हो रहा है। मूलमात्राप्रधान अर्थस्तर इन्द्रियों से भिन्न है, विनाशीय है, यह एक तात्पर्य है। एवं प्रज्ञा-प्राण-मूल, तीनों की त्रिपुटी है, यह वृषरा तात्पर्य है। -

बतलाया गया है कि, आध्यात्मिक इन्द्रियार्थ संस्काररूप से मन और इन्द्रिय, दोनों के मध्य में प्रतिक्रिया रहते हैं। अतएव 'इन्द्रियाणि अर्थात्-मनः' यही क्रम समीचीन बनता है। परन्तु किन्हीं एक वैज्ञानिकों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि, 'अर्थात्' का स्थान इन्द्रियों से पहिले ही मानना चाहिए। यह ठीक है कि, संस्काररथा में इन्द्रियार्थ इन्द्रियों से परस्परान में एवं मन से अवरन्धान में ही प्रतिक्रिया है। तथापि इन अर्थों के मूलमूल (किनके आधार पर सांस्कारिक अर्थों का अध्यात्मसंस्था में उत्पन्न होता है वे वास्तविक) अर्थ बहिर्बन्ध की वस्तु बनते हुए इन्द्रियों से प्रथमस्थानीय ही माने गए हैं। यदि इन्द्रियाणों को इन भूतों से अनुगत माना जाता है, तो भौतिक शरीर, इन्द्रियार्थ इन्द्रिय, मन, यह निष्कर्ष निकलता है।

१४१-त्रिपुटी प्रज्ञानात्मा से त्रिपुटी भूतात्मा का समतुलन—

स्मरण कीजिए—'पृथिवीमिवत्' के चित्त चित्तनिधेय नामक दो विषयों का पूर्व में विशेषण हुआ है। एवं वही यह भी स्पष्ट किया गया है कि, चित्तपृथिवी भूविषय है, इसके प्रथमभाग से पारम्वैश्विक चित्त (मत्स्य) शरीर का स्वरूप निर्माण हुआ है। वृषरा चित्तनिधेय प्राणभाग अग्नि वायु, इन्द्र मेरु से तीन भागों में परिणत रहता है। अग्निप्रधानभाग वैश्वानरकमा है वायुप्रधानभाग तैक्वलात्मा है, इन्द्रप्रधानभाग विद्विहित प्रज्ञानरूपक सोम से संयुक्त होकर 'प्राणमात्रा' कहलाते लगता है। तीनों की समष्टि ही 'मूलात्मा' नामक वेदकल्पशाब्दक कर्मात्मा है। इस पार्थिव कर्मात्मा के वैश्वानर-तैक्व-प्राण तीनों आत्मपर्य कर्मशः आन्तर प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा-मूलमात्रा, इन तीन आत्मपर्य से अनुपरीत हैं। वैश्वानर, और भूतात्मा, दोनों सजातीय हैं। तैक्व और प्राणमात्रा दोनों सजातीय हैं। प्राण और प्रज्ञामात्रा दोनों सजातीय हैं। वृषरा शब्दों में इसी स्थिति का जो भी सम्भव किम्य वा लक्ष्य है कि, प्रज्ञामात्राप्रधान 'प्रज्ञानमन' और 'प्राणमन', दोनों समतुलित हैं। प्राणमात्राप्रधान ज्ञानकर्मेन्द्रिय और तैक्वलात्मा, दोनों समतुलित हैं। भूतात्माप्रधान इन्द्रियार्थ और वैश्वानरकमा दोनों समतुलित हैं। यही प्राकृतिक स्थिति है—

प्रज्ञानात्रा—तत्प्रधानं प्रज्ञानमना	{ तत्समस्तुक्तिं प्राज्ञात्मा { तत्समस्तुक्तिवस्तीजस्यत्मा { तत्समस्तुक्तितो वैश्वानरात्मा
प्राणमात्रा—तत्प्रधानानीन्द्रियाणि	
मूत्रमात्रा—तत्प्रधाना इन्द्रियाणां	
त्रिपर्वा प्रज्ञानात्मा चन्द्रः	त्रिपर्वा—मूत्रात्मा पार्थिवः

चित्यं पार्थिवमौक्तिकं शरीरम्

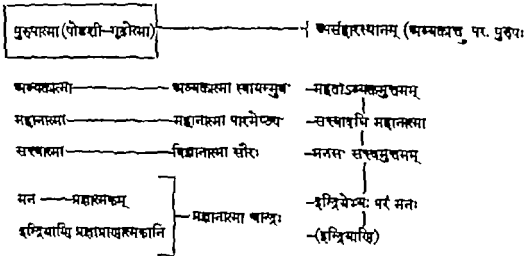
१४२—आत्मोपक्रमस्थान, एवं उपसंहारस्थान—

उक्त क्रमानुसार मूत्रमात्रा वैश्वानरात्मा से उत्पन्न होती हुई इन्द्रियों से अन्नपरिधान में ही प्रतिष्ठित मानी जायगी। अन्नरस वैश्वानर अर्थात्प्रधान है तैजस क्रियाप्रधान है प्राण अन्नप्रधान है। उन्नर इन्द्रियाण्य अर्थात्प्रधान है इन्द्रियां किञ्चिदभिन्नं मन इन्द्रात्मकं है। चित्यं मौक्तिकं शरीर, और अर्थात्प्रधान वैश्वानरात्मा दोनों मूत्रप्रधान हैं, उत्पन्नभावसे प्रज्ञानसुगता इन्द्रियार्थमात्रा का इच्छे ही अन्तर्भाव मानना प्रकृतिसिद्ध होय है। तत्रपर्यं बरी है कि, प्रकृति-इच्छे से इन्द्रियाण्यो का मौक्तिक शरीर में अन्तर्भाव मानना बड़ी ठीक है बर्हा आध्यात्मिक स्थिति-इच्छे से इन्द्रियाण्यो को इन्द्रियों से परे मानना भी सुगुण्य है। इच्छेकोशेभेद से दोनों विद्वान्त सुक्रमस्थित हैं।

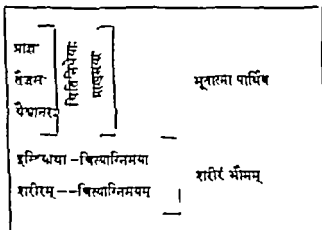
चित्यं मौक्तिकं शरीर, चित्तेभिरेव वैश्वानर-तैजस-प्राणमूर्ति पार्थिव मूत्रप्रमा, मूत्रमात्राप्रधान इन्द्रियाण्य तीनों मूत्रभाव में अन्तर्भाव हैं। तीनों की समष्टि उपक्रमस्थान है। अतएव इत् पार्थिव मूत्रप्रपन्न को भुक्ति में उपक्रमस्थाना कोकते हुए बर्हा से अन्नरसमात्रा की परपरम्पकत्वा आरम्भ करते हुए बर्हा है—इन्द्रियों पर है (शरीर, मूत्रप्रमा इन्द्रियार्थकत्व मूत्रप्रपन्न से परे स्थान में इन्द्रियों प्रतिष्ठित है)। इन्द्रियों से परे स्थान में प्रज्ञानात्मा नामक 'मन' प्रतिष्ठित है। मन से पररवान में विश्वनात्मा नामक बुद्धितत्त्व प्रतिष्ठित है। विश्वनात्मा से पररवान में महानात्मा प्रतिष्ठित है। महानात्मा से पररवान में शान्तरमा नामक अम्पकत्वा प्रतिष्ठित है। अर्थात् में गुणत्वा नामक पुरुषात्मा प्रतिष्ठित है, यही अम्पकत्वा की पररवाप्य (अन्तिम पर) है। क्या पुरुषात्मा से परे अम्पकत्वा में कुछ नहीं है?। गोदशीलस्य अम्पकत्वा से पररवान में मायीतत्त्वर प्रतिष्ठित है। पररवर से पररवान में मायीतत्त्व निष्कतत्त्व प्रतिष्ठित है। इत् इच्छे से ही मायीतत्त्व निष्कत्वा को पररवाप्य मानना बार्दिए वा। फिर भुक्ति में हो भेक्षियों से अन्नरसमात्रा में प्रतिष्ठित रहने वाले पुरुषात्मा को ही पररवाप्य निश्च आचार पर मन लिया।। तत्ररत्वा पद्यनि मन्पटीय, अतएव विश्वान्त निष्कत्वा ही पररवाप्य कता है, परन्तु यद् पररवाप्य नरो कता। गति तत्रार है, तत्रार किवा है

किन्ना विश्व का स्वरूप है, विश्व मायोपायिक है । मायोपायिक—गतिपरन्तान्निष्ठम विश्व का अस्तित्व अश्वयत्तमा (पुरुषात्मा) पर ही हो रहा है, बौद्धिक—परोऽव्यये सर्वं एकीभक्तम् इत्यदि श्रुत्यन्तर से भी प्रमाणात् है । गत्यात्मक आधिभौतिक-आध्यात्मिक-विश्व की पर्यवस्था पुरुष ही बनता है । एकमात्र गतिमात्रापर विरक्तवस्था की दृष्टि से ही श्रुति ने पुरुषात्मा को परावस्था मान लिया है । इसी गतिमात्र को स्पष्ट करने के लिए श्रुति को सा काष्ठा* के साथ साथ—'स्य परं गतिः' करना पड़ा है । गति परिनिष्ठम धम्म है । तब पर विरवादीय निष्कलत्रा अपरिनिष्ठम बनता हुआ गतिरहित है । अतः गत्यात्मक विरक्त की दृष्टि से रिपत्यात्मक निष्कल कभी परावस्था नहीं माना जा सकता । निम्न लिखित पञ्चनों के द्वारा इसी आत्मोपानपरम्पर्य का विश्लेषण हो रहा है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
 सत्त्वाधि महानत्मा, महतोऽन्यत्तमुत्तमम् ॥१॥
 अन्यत्तसु परं पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥
 यद् ज्ञात्वा मुन्यथे अन्तुरमृतर्षं च गच्छति ॥२॥
 —कठोपनिषद् ६, ७ ॥



* महानत्मा का उल्लेख ही सीर इन्द्र (मन्वेन्द्र) से युक्त होकर विद्वानात्मक में परिवर्तित होया है । इस उल्लेख के आत्मानुगत्य, विषयानुगत्य, भेद से ही विपत्त ही भाते हैं । आत्मानुगत्य उल्लेख ही नहीं युक्त उल्लेख है । विषयानुगत्य उल्लेख मन है, नहीं मलिन उल्लेख है । प्रज्ञा में युक्तत्वाभिप्राय से 'मनसः सत्त्वमुत्तमम्' कहा गया है, विलसे विद्वानात्मकत्वा बुद्धि ही आधिष्ठेय है ।



उपक्रमस्थानम्

१४३-भैरवीरुद्रि, श्रीर गीतारुद्रि च ममन्य-

पर हा दुई प्रकृतिरूप्या आत्मनःशरपानमीमन्ता । स्वर् गीताकार्य ने भी हरी का समर्थन किया है । उपनिषद्, श्रीर गीता के उक्तिबोध में अन्तर देखन यही है कि उपनिषद् में बड़ी सरसतापूर्ण विज्ञानात्म (बुद्धि) म पर प्रकृतित्त आत्माओं का महान्-अच्छ-पुनः एक रूप से रूप-रूपक विशेषण किया है वहीं गीता म इन तीनों का केषन 'पर' मान से प्ररुण कर दिया है । 'यो बुद्धः परतन्मु मा' करने हुए गीताकार्य में बुद्धिवेग की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है । गीताकार्य में कहीं बड़ी महान्-अच्छ-पुनः तीनों का हृदक रूपक निर्देष्ट किया है, परन का यही उधार है । समूर्ण विरवदगय 'आत्मा श्रीर विरव इन ही आत्मा में विरक्त है । आत्मा अमृत है विरव मर्त्य है । इन दोनों अमृत-मृत-आधो का विभाजक अविदेष्टन में मर्त्य है + अक्षयम में मर्त्यशमल बुद्धि है । मर्त्य म मीये मीय मर्त्यविरव का प्राधान्य है X, मर्त्य में ऊपर ऊपर अमृतता का प्राधान्य है । मर्त्य में दोनों का अन्तर है । अमृतवशत मर्त्य मर्त्यविरव अमृतता का अन्तर है । मर्त्यवशत मर्त्य तापोरिया मर्त्य विरव का अन्तर है । मर्त्य विरव के मूर्तिरुद्र चित्तिनिषेध विरक्त विरक्तता, कर्म, अन्तमा, मर्त्यरूप, वे ३ पर्य है । अमृतता के अमृतता में परमती रररम् पुनः व बार पर्य है । इन ७-१-१ पत्तों की कल्पि ही आधिष्ठित विरक्तता है । अन्तमा म आधिष्ठित ही आधिष्ठित में भी दोनों पर्य पर्य के लो ध्यरियत है । मूर्तिरुद्रा मूर्तिरुद्रा १ है विरक्तता वेदधान २ है शिवगर्भात्ता वेद ३ है मूर्तिरुद्रा प्रा ४ है अन्तमा मर्त्य ५ है मर्त्यविरव आधिष्ठित ६ है । १ ही की कल्पि मर्त्यविरव है । अमृतमर्त्य विरक्तता है परमविरव महान्ता है परमम अन्तमा आधिष्ठित है पुनः मर्त्य पुनः मर्त्य है यही की कल्पि अमृतता है । मर्त्यविरव का अमृतता के लक्ष विरक्तता के द्वारा वेग है यानी ही बुद्धिवेग है । बुद्धि वे वे रदने बने

+ - "निवापममृत मय्य च" (बहु सं० ३५३१) ।

X - "तद्यत् किंप्रारपीनमादिन्याद्, मर तन्मृत्युना उजम्" (रु० १०५१११) ।

महानात्मा से ही बुद्धियोगसम्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है। एकमात्र इसी दृष्टिकोण से मगधान् ने बुद्धि से परे अवस्थित महान्-अध्वक-पुरुष तीनों अमृतपदों का समष्टिरूप से समझ कर लिया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि योग होता है-परम्परा क्रम-क्रमशः ही। उस से पहिली भौतिकपरीर, मृतत्वा, इन्द्रियार्थ, इन तीनों बाह्यमय मृतपदों का संयम करना चाहिए, इस बाह्यसंयमानन्तर प्रधानमन का संयम करना चाहिए। प्रधानमन का ज्ञानरत्ना नामक बुद्धि में योग करना चाहिए। बुद्धि का महानात्मा में, महानात्मा का अध्वकत्वात्मा में योग करना चाहिए। इस पारस्परिक योग से ही अन्त में पुरुषात्मयोगसङ्घटना बुद्धियोगसम्पत् प्राप्त होती है *। तात्पर्य पकड़ में करने का यही है कि, गीता ने महान्-अध्वक-पुरुष तीनों का अमृतत्वेन परक्रम से ही संयम कर लिया है, वैद्यकि आगे के बचन से प्रमाणित है—

१-पुरुषात्मा	(४)	पुरुषात्मा	अपस्तम्भारत्नानम्	
२-स्वयम्भू	(३)	अध्वकत्वात्मा	यो बुद्धेः परतस्तु म	
३-परमेष्ठी	(२)	महानात्मा		अमृतम्-आत्मा
४-अमृतसूक्ष्म	(१)	विद्याबुद्धिः	मनसस्तु परा बुद्धिः	निवेश्यममृतं मर्त्यं च
५-मर्त्यसूक्ष्म	(६)	अविद्याबुद्धिः		
६-अमृता	(५)	प्रज्ञानात्मा	इन्द्रियेभ्यः परं मनः	
७-सर्वज्ञ	(४)	इन्द्रियाधि	इन्द्रियाधि पराशयात्मा	
८-द्विरयमार्ग	(३)	प्राज्ञात्मा		मर्त्य-विरवम्
९-विराट्	(२)	चेरानरात्मा	अपस्तम्भारत्नानम्	
१०-भूपियङ्ग	(१)	इन्द्रियार्था- शरीरम्		
अपिदेवतम्		अध्वकत्नम्		

* यच्छेदज्ञानमसी प्राप्ति, तच्छेदज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्, तच्छेदज्ञान आत्मनि ॥ (उपनिषत् १।३।१३)।

इन्द्रियाणि परास्याह, रिन्द्रियम्यं परं मन ।

मनसस्तु परा बुद्धि, योऽबुद्धे परस्तु स ॥१॥

एवं बुद्धे पर बुद्ध्या सस्तम्यात्मानमात्मना ।

बहि शत्रु महाबाहो ! कमरूपं दुरसदम् ॥२॥ (गीता१४२,४३,१) ।

येवा कि, पूर्व में बतला बाजुका है स्थितिदृष्टि से इन्द्रियाणों का सर्वत्रेय इन्द्रियों से परत्पान में एवं प्रज्ञानमन से अक्षरत्पान में मानना पड़ता है । श्रीर हत इन्द्रियेण से उपक्रमत्पान में इन्द्रियाणों को छोड़ कर केवल मौक्तिक शरीर, तथा बैरधनर ऐकल-प्राकृति मुख्यमा दो विषय ही शेष रह जाते हैं । दोनों से पर इन्द्रियवर्ष, तानन्तर इन्द्रियाणं तदनन्तर प्रज्ञानमन इत्यादि कम व्यवस्थित है । स्वयं बुद्धि में भी हत स्थितिपूर्वक बूरे व्यक्त्याक्रम का भी समर्पन किया है, यैवा कि निम्न स्थिति बचनों से प्रमाणित है—

इन्द्रियम्यं परा बाधा, अर्थेभ्यश्च परं मन ॥

मनसस्तु परा बुद्धि, बुद्धेरोत्सा महान् पर ॥१॥

महता परमभ्यस्त, मभ्यस्तात् पुरुष पर ॥

पुरुषाम परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति ॥२॥ अत्रोपनिषत् १३।१०,११।

स—एष स्थितिमात्मात्मको इन्द्रियेण —

पुरुष—अभ्यस्तत्त्वं पुरुषत् पठ-उपनिषत्पानम्

अभ्यस्तम्—महताः परमभ्यस्तम्

महान्—बुद्धेः उत्सा महान् परः

बुद्धि—मनसस्तु परा बुद्धि

मन—अर्थेभ्यश्च परं मनः

इन्द्रियाण्यं—इन्द्रियेभ्यः परा बाधा

इन्द्रियाणि—(अत्र—इन्द्रियाणि पराश्रित)

बाधा

उत्सा

महताः

परमभ्यस्तम्

(मूलभाष्यम्)

शरीरम्

१४४—स्रष्टात्मागुता अस्रष्टात्मस्वरूपविभ्रान्ति—

आत्मप्रतिपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले पुत्रवृ-अम्बक-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-आदि सभी आध्यात्मिक आत्मविकर्तों का निर्गमन पूर्व प्रकृत से गतार्थ होता है। यह बात है केवल मतात्मा। दो शब्दों में इस का भी इतिवृत्त घुन लीकिए। यह अनेकपा तरह किया जातुअ है कि मूषिख और मूमहिमा मे से मौक्तिक पार्थिव विवर्त दो मार्गों में विभक्त हैं। इनमें मूषिखशरणाद्य भूतात्मा चित्यत्मा है एवं मूमहिमाशरणाद्य भूतात्मा चित्तेनिष्पत्ता है। महिमात्मक भूतात्मा 'कर्मरत्ना' कहलाया है। यही देवकल्पशरण आध्यात्मिक धीवत्मा है। यही कर्मफलमोक्षा लोकान्तरगामी आत्मा है। प्रज्ञानात्मलक्षण मन, एतां इन्द्रिय कर्मफलमोक्षावनम ता है। इसी फलमोक्तम्ब से इन्द्रिय-मनोयुक्त इस मूतात्मा को- 'आरमेन्द्रियमनोयुक्त मोक्ते-त्याहुमनीपिया' इत्यादिरूप से 'मोक्ततात्मा' कहा गया है।

उक्तशरण भूतात्मा वैश्वानर-तैबत-प्राह मे से विपर्वा है। वैश्वानर अग्निप्रधान अर्थात्मा है, तैबत वायुप्रधान कियत्मा है, प्राह इन्द्रप्रधान ज्ञानत्मा है। इन तीनों का आत्मत्व महागुण लोमगमित विद् ब्रह्म पर ही अवलम्बित है, जैसे कि- 'ब्रह्मणो वा विज्ञये महीषम्बम्' (केनोपनिषत्) इत्यादि बचन से स्पष्ट है। उन्मूर्ण तलबन्धरोपनिषत (केनोपनिषत्) में अग्नि-वायु-इन्द्रविमूक्तियाय इसी व्यापक विज्ञान-विमृति का निरूपण हुआ है। शरीर अल्प-मोक्ष-वधिरादि मूतबलुओं का निर्माण करना निर्माण कर इन मौक्तिक अर्थों को वायुपुमोक्षपन्व स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना अर्थात्किसुत-अग्निप्रधान वैश्वानर-पर्व का कर्म है। अग्निप्रधान वैश्वानर ही मुक्ताभ को रक्तुगति घातुस्वी में परिणित करता है, एवं जब तक वैश्वानराग्नि शरीर में आत्मान्म-आनलाप्रेम्या-भ्याप्य रहता है, तभी तक मौक्तिक शरीर की स्वस्म-रखा है। इत्यकार विपर्वा मूतात्मा का अर्थात्किसुत वैश्वानर एवं आध्यात्मस्व्या के अर्थात्क का सर्वेत्वा बन रहा है। शरीर रक्षाद्यगति तल घातुओं को रक्षादिनी 'शिरा' नामक नाड़ियों के द्वारा आपातमत्क गति-शक्ति बनाए रखना, प्राखायानभ्यानलमोदोनादि वायुविकर्तों को वायुवाहिनी 'धमनी' नामक नाड़ियों के द्वारा प्रवाहित बनाए रखना, उत्पन्न-मादेरमित शिरा की इत रत-वायु-सञ्चार द्वारा अक्षरइति प्रदान करना आदि आदि गत्यत्मक क्यवावृ कियामाव कियारकितवृत्-वायुप्रधान-तैबतर्व का कर्म है। शरीर शर-परमलुओं को (कियाकृत् को) 'इदमभ्याप्यम्' रूप एक (इत्येव) स्वक्य प्रदान करना, शनगाहिनी 'रानु' नामक नाड़ियों के द्वारा शनमात्रा का लर्जाशरीर में संचार करते रहना, प्रज्ञानमनी हाय ज्ञान-कर्मेत्रिओं को भावना-म्यावतनातंस्वर से मुक्त बनाए रखना अग्रत संस्कारों को अपने परतल पर प्रतिष्ठित रख ल्द-हाय करतुकार शुभाशुभ उद्यों का मोग करते रहना, यह उन ज्ञानशक्तिवृत्-इन्द्रप्रधान-प्राह नामक तृतीय पर्व के कर्म हैं। आध्यात्मिक क्यवावृ कर्मप्रपन्न इत्यकार अर्थ-क्रिया-ज्ञान, मेद से तीन मार्गों में विभक्त है। एवं भित्त शरीरावतन में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-न्द्र-इतमूर्ति अर्थ-क्रिया-ज्ञान-शक्तिवृत्, वैश्वानर-तैबत-प्राह लक्ष्य कर्मरत्ना के हाय इस आध्यात्मिक कर्मविकर्त का मसीमपति निर्वाह हो गया है। जब विपर्वा शरीरविशिष्ट मूतत्मा से उन कुल गतार्थ हो जाता है, तो एक बीये व्यापक ब्रह्म (चिदात्मा) की लया और नवी मानी गवे १, यह प्ररन उपरिबत होता है। इसका अनापान पूर्व से मतार्थ है। इन तीनों की भूतप्रतिष्ठा यौवा विद्वत्त ही है। अथिदैक में सर्वेन्द्र, हिरण्यगर्भवायु, विराडभिरूप से, एवं आध्यात्म में प्राञ्ज, तैबतवायु, वैश्वानराग्निरुप से बधपि अग्नि-वायु-न्द्र का ही विभव प्रतीत हो रहा है। तथापि

मनुष्यत्वा इति विषय का मूलधेय उक्त व्यापक विवक्षिता को ही है, जिससे न केवल देवसत्त्वसङ्घण विपरी-
भूतात्मा ही, अपितु ब्रह्मसत्त्वसङ्घण अस्वत्त्व-माहात्-विद्या-प्रदान-भी स्वस्वरत्वा में समर्थ को हुए हैं।
यही तो हमारा मेलवहिष्णु-अभेदवाद है। उपाधिद्वेषा आत्मा अनेक हैं। परन्तु 'तदेव-तदेव' रूप से
चिदात्मापरम्पर्यात्मक अक्षयब्रह्मा आचारपारीत्य है एक है। प्रत्येक सत्त्वब्रह्मा मनःप्राणबाहुस्य से विपरीत
है। विपरीत प्रत्येक सत्त्वब्रह्मा के अथ लब्ध्यापक द्वयीय अक्षयब्रह्मा आचाररूप से प्रकृष्टित है। इसी के सम्बन्ध
से प्रत्येक अक्षयब्रह्मा अक्षयब्रह्म कहलाता है। अक्षयब्रह्म के शिष्य प्रकृत्य भूतात्मा को ही लीविय। मुक्ति
कहती है—

“सर्वं ब्रह्मैवमात्मा । अयमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा श्रुत्वात् । स्थूलसूक्ष्मैस्वानर-
प्रथम पादः । प्रविष्टिस्तुक् तैजसो द्वितीयं पादं । चेतोमुखं प्राञ्चस्त्वृतीयं पादं । एष
सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्व्यामी, एष योनि सर्वस्य, प्रमत्वाप्यसौ हि भूतानाम् ।
नान्तःप्रज्ञ, न बहिःप्रज्ञं, नोम्यतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानचर्नं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञं, अष्ट-मभ्यवहाय्यं-
मग्राह्य-मलक्ष्य-मचिन्त्य-मव्यपदेश्य-मैकस्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमं, शान्तं, शिवं,
अद्वैत, चतुर्थं मन्यन्ते । स आत्मा, स विज्ञेवः” ।

—मातङ्गस्योपनिषत् ।

१४५—त्रिविध बीजात्ममार्ग—

आविर्भावप्रवापति ईश्वर है अर्थात्प्रवापति बीज है। इस बीजात्मा के लक्ष अन्तःलक्ष, अलक्ष
मेर से तीन विध हो जात है। अक्षय-अयुक्त-उत्पन्न-मेर मित्र बीजात्मा लक्ष है। इन में वैशान्त-
लक्ष-प्राण (अर्थ-विद्या-ज्ञान) तीनों का विकास है। अक्षय इन्हें 'आत्मिक बीज' कहा जाता है।
अक्षय-अयुक्त-उत्पन्न-मेर मित्र बीज अन्तःलक्ष है। इनमें वैशान्त-लक्ष, इन दो मूलतत्त्वों का विकास है।
प्राणार्थ इनमें अमिभूत है। लक्ष सम्बन्ध से इन बीजात्मा अन्तःलक्ष बीजों में आकटनद्वि दो हो जाती है
किन्तु प्राणानुगत इन्द्रियविकास नहीं होने पाता। अक्षय इन्हें 'अन्तःलक्ष' कहा अन्वर्थ कनय है।
सुखं माणिक्य, इन्द्रियतामि अमिभूत अलक्ष है। इनमें केवल अर्थप्राण वैशान्त का विकास है।
अक्षय इन्हें 'अक्षयबीज' कहा जाता है। प्राणामिभूत से न तो इनमें इन्द्रियविकास है। एवं तैजस्यमिभूत
से न इनमें अमिभूतद्वि ही होती। 'आमते-अक्षि-विपरिमते-कश्चित्-अपक्षीभते नरवति' बीजात्मानुगत से
पञ्चमविकार तीनों बीजों में उत्पन्न है। लक्षबीज अन्तःलक्ष बीज अन्तःलक्षबीज अक्षयबीज है
अक्षयबीज अन्तःलक्ष बीज है। तीनों में से अन्तःलक्ष अलक्ष दोनों का एक स्वल्प विभाग है यही त्रिवि-
धितमक आविर्भावप्रवापति है। प्राण के अभाव से न इनमें लक्षप्रवृत्ति होती न लोकांतरगमन
होता। लक्षबीज ही प्राणात्वा लक्षप्रवृत्ति को पोषता रहता है। यही 'अध्यात्मम्' है। यही संस्कारात्वा
'यही कर्मगति गत' का पात्र कनय है * । इन्द्रिय अर्थात्प्रिक्त मूलात्मा के वे ती मा पत्नों के

* अक्षयिभूतं पदेकेन यथैककेन गच्छति ।

यथा वृक्षजलान्तेन देही कर्मगति गत ॥

—मातङ्गते

वाक्य से आत्मात्मसंस्था के ही अभ्यास, अभिमूत, ये दो विकृत हो जाते हैं, जिन दोनों की मूलप्रतिष्ठा निरूपित अभिभवप्रवापति (ईश्वर) माना गया है—

१ [भ्रातृजन्त्रीवा — } पश्चिम जरसुजन्त्रीवा — } पराधो-मनुष्यारण कृष्णजन्त्रीवा — } कृमि-मत्स्य-यूक्यदध.	} वैश्वानरवैजसप्राज्ञकृतान्मोःसंज्ञा- म्यात्मकाः चेतनाः
२ [अग्निश्चजीवा — } ओपचिबनस्पतय	} वैश्वानरवैजसकृतान्मोःसंज्ञाः- प्रयात्मका अर्थात् चेतनाः
३ [सनिजन्त्रीवा — } सुषर्णादि घातक	} वैश्वानरकृतान्मोःसंज्ञा- अक्षमकाः-अचेतनाः
१-वैश्वानरवैजसगमिता प्राज्ञजीवा — ज्ञानप्रधाना -संज्ञा.	} अभ्यात्मम् } अभिमूतम्
२-वैश्वानरप्राज्ञगमिता-तैजसजीवा — क्रियाप्रधाना -अन्तःसंज्ञाः	
३-प्राज्ञवैजसगमिता — वैश्वानरजीवा -अर्थप्रधाना -असंज्ञा	

अनेक दृष्टि से आत्मत्वसम की सीमाओं की गई । अब एक प्रासङ्गिक दृष्टि की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । पाठकों को वह स्मरण होगा कि पूर्व में हमने आभ्यात्मिक आत्मपर्वों के १३ ७ ये दो संस्थाविभाग बतलाए हैं— [देखिए पृष्ठ १४४] । आत्मसंस्था-संस्थात्म में महिना [अभ्यात्म], महान् विज्ञान [बुद्धि] प्रधान वैश्वानर [ज्ञिपर्वाम्वात्मा] वायु [ईशान्मा], शरीर से सात पर्व मानी गए हैं । अब प्रकृत प्रासङ्गिक दृष्टि से इन छत को तीन ही आत्मविवर्तों में अन्तम त किया जाता है । मन्थियकालगत शरीर, मन्थायुगलत ईशानकालगत वायु, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, ये पाँच पर्व पार्थिव विवर्त हैं । पौर्णों में शरीर ब्रह्मात्मा है वायु अन्तरत्मा है वे वे प्रा की समष्टि कर्मात्मा है तीनों की समष्टि मूलात्मा है । इस दृष्टि से शरीर-वायु-वैश्वानर, तीनों मिलकर एक कस्तुरकन बन जाते हैं । श्वत्साया गया है कि, कर्मात्मा का प्रादुर्भाव मोक्षा है, एवं इसे योगसाधनम त इन्द्रिययुक्त प्रज्ञानमन का आश्रय लेना पड़ता है । इसी आधार पर कर्मात्मा प्रज्ञानमन इन्द्रियवर्ग तीनों की धमष्टि को मोक्षात्मा कहा गया है जो लक्ष्म मूलात्मा ही है । इत्यन्तर जोये प्रज्ञानकालगत पर्व का सी मूलात्मस्वरूप में ही अन्तर्मात्र हो जाता है । फलतः महान् वैश्वानर, वायु, शरीर, आत्मपर्वलक्ष्म में से इन चार पर्वों की समष्टि का एक 'मूलात्मा' नाम से प्रकृत किया जा सकता है । यही प्रथम मूलात्मा है । इस 'मूलात्मा' का आधार विज्ञानात्मा है जिसे हम वृषी 'प्राणज्योति' कह सकते हैं । इस विज्ञानात्माकालगत प्राणज्योति का आधार महान्मात्मा है जिसे हम वृषी 'प्रज्ञाज्योति' कह सकते हैं । महान्मात्मा प्राणज्योति है यही शतज्योति है । विज्ञानकालगत बुद्धि प्राणज्योति है यही क्रियाज्योति है । मूलात्मकालगत मोक्षात्मा मूलात्मा है यही अर्थज्योति है । अर्थज्योति-कालगत मूलात्मा नाममात्र की प्रतिष्ठा है यही प्रथम वाच्यत्व है । क्रियाज्योतिकालगत विज्ञानात्मा कर्मात्मा

की प्रतिष्ठा है वही द्वितीय प्राणरूप है। ज्ञानम्बोधिर्लक्ष्मण महानात्मा रूपमय की प्रतिष्ठा है, यही तृतीय मनस्कन्ध है। मनोमय महानात्मा, प्राणमय विद्यानात्मा बाह्यमय मूर्च्छात्मा, तीनों की समष्टि ही मनप्राण बाह्यमय लक्ष्मणकी पुरुषात्मा के महिनारूप है, बित महिमा को हमने सातवाँ अक्षरहात्मा कहा है। उन्मुक्त दशा में वही अक्षर है, उद्बुद्धदशा में वही महिमा है। इत्यन्तर आठवाँ षोडशीप्रभापति अपने छठिहाथी मनप्राणवायूरूप के द्वारा कर्मण महान्-विज्ञान-मूर्च्छात्मा-रूप से तीन ज्योतिस्त्रयी में परिकृत हो रहा है। वही मनोऽप्यन्धेरेण महान् है, वही प्राणाज्येदेन विज्ञान है, वही बाह्यज्येदेन मूर्च्छात्मा है। यह स्वयं षोडशी-प्रभापति है ये तीनों उक्त षोडशी के गर्भ में मुक्त प्रतिमाप्रभापति हैं। षोडशीप्रभापति इन्हीं तीनों प्रतिम-प्रभापतिरूपों से रूप-कर्म-नाम-मावी का प्रकर्षक बनता हुआ सर्वत्र विराजते, वैश्वकि—श्रीयि ज्योतीषि सञ्चते स षोडशी' इत्यादि मन्त्रानुसम से प्रमाणित है। यही प्रतिहात अम्भारम्भरूप की संक्षिप्त मीमांसा है, बितके यथातुरूप समन्वय के दिना गीतोक्त-बुद्धिबोग की परीक्षा अक्षरम्भ बनी रहती है। १८, ७, १, सिद्धी मी इति से आत्मस्वरूपमीमांसा कीविषय, उत्पत्ताः समी कित्तै परस्पर समन्वित मिलीये बित्वा परम्परा अरथ है—एक ही अक्षरमन्त्र का नानाविधरभाव—'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' ।

सर्वसंग्रह-

* मायातीतो विश्वातीतो निष्कला

(१४६)-१६-, ७-, ५-, ३-, विभक्त दृष्टिकोशों का समन्वय-

1

१-मासी पक्षरपुरुष (१६)				
२-बीजात्म्यो गूढोत्मा (१८)	}	गूढोत्मा षोडशी गूढोत्मा षोडशी		
३-बीजाक्षरोत्प्रेष्यकारमा (१७)				
१-अन्तर्प्योमी स्वायम्भुव (१३)				
२-सूत्रात्मा स्वायम्भुव (१५)	}	महिमा (७)]-आम्बुकारमा स्वायम्भुवः (५)]	गूढोत्मा-षोडशी	
३-वेदोत्मा स्वायम्भुवः (१४)				
४-चिदात्मा स्वायम्भुव (१९)				
१-अद्वैतत्वात्मा पारमेष्ठि (१२)				}
२-प्रकृत्यात्मा पारमेष्ठि (११)	}	महात् (३)]-महानात्मा पारमेष्ठिः (४)]		
३-आकृत्यात्मा पारमेष्ठि (१०)				
४-यज्ञात्मा पारमेष्ठि (९)				
१-विज्ञानात्मा सौर (८)	}	बुद्धि (५)]-विज्ञानात्मा सौर (३)]-विज्ञानात्मा-विद्याभ्यासिर्मा (२)		
२-देवात्मा सौर (७)				
१-महानात्मा अन्न (६)	}	मन (४)]-महानात्मा अन्नः (२)		
१-मातात्मा ऐन्द्र (५)				
२-वैश्वानरात्मा वायव्यः (४)	}	वैश्वानर (३)	मूलात्मा-अभ्युपविम्बयः (१)	
३-वैश्वानरात्मा आग्नेयः (३)				
१-ईश्वरात्मा वायव्यः (२)				}
२-मूलात्मा मीमा (१)	वायु (२)			
		वायु (२)		
		वायु (२)		

प्रकरणान्तं च—

पुरुषात्मा षोडशी—स वा एव मनःप्राणबाह्मस्यो गृहोत्तमा षोडशी—सृष्टिसाक्षी

अप्यत्प्रमा महिमा]-महिमा (७)]—महान् (१) प्रज्ञागोतिः—अनगोति (मनः)—रुग्म्]—मृत्युः (१) मृतात्मा (१) भूतगोतिः—अर्बुगोतिः (बाह्)—नाम
महानात्मा—महान्]-महान् (१)		
विज्ञानात्मा—बुद्धिः]-बुद्धिः (१)]-विज्ञानम् (२) प्राणगोतिः—किष्कागोतिः (प्राण)—कर्म		
प्रहृष्टनात्मा—मनः]-मनः (४)		
प्राणरात्मा इन्द्रः]—विज्ञानम् (१)	
तैक्कनात्मा—बाहुः		
बेधानरत्मा—अग्निः		
इन्द्रात्मा—बाहुः]-बाहुः (२)		
भूतत्मा—शरीरम्]-शरीरम् (१)		

मृत्युः इत्यस्यैव सृष्टिसाक्षिणः



इत एवैकवर्षी के आचार पर भगवान् मनु ने आध्यात्मिक कथायात् आत्मविषयों का बीचसेवक महानात्मा विज्ञानरत्नसङ्घण चेतनत्मा भूतत्मा इन तीन आत्मरूपों में ही अन्तर्मात्र मन शिष्य है, शेषाणि निर्दिष्ट करने से स्पष्ट है।

योऽस्यसमनः कश्चरपिता तं चोन्नतं प्रपद्यते ॥—विज्ञानात्मा (२)
 यः करोति तु कस्मादि स मृतात्माप्यते पुनै ॥१॥—भूतत्मा

वीरसङ्घोऽन्तरात्मान्य सहजं सर्वदेहिनाम् ॥ } महानात्मा (१)
 येन वेदयते सब सुखं दुःखं च न्नमसु ॥२॥ }

१४७—अभिभूतस्वरूप का सिद्धान्तलोकन—

सोचोअर के तात्त्विक स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिज्ञात छात मीमांसाओं में से केवल अभिभूत-स्वरूपमीमांसा शेष रही है, जिसके सम्बन्ध में स्वतन्त्ररूप से इच्छित्य कुछ भी बक्तव्य शेष नहीं है कि, पूर्व की अभिदैवत-अध्यात्मस्वरूपमीमांसाइवी से अभिभूतस्वरूपमीमांसा खर्वात्मना गठार्थ बन रही है। यहाँ केवल स्वतन्त्र प्रकरणागुणोप से इच्छे सम्बन्ध में सिद्धान्तलोकन कर लिया जाता है।

१४८—त्रिवृत्तमाषापन्न पोडरीपुरुष—

‘एकं वा इदं वि बभूव संयम्’ इस श्रौत सिद्धान्तानुसार एक ही पोडरीप्रजापति अभिदैवत-अध्यात्म अभिभूत, इन तीन विवर्तों में परिलत हो रहा है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। पोडरीप्रजापति मनःप्राणबाह्यमन्त्र बनवा हुआ सृष्टिसृष्टी है, जैसा कि अध्यात्मस्वरूपमीमांसा का उपर्यहार करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है। मनोमय पोडरी प्राण—(ज्ञान)—प्रधान है, यह ज्ञानरूप अन्वय की विकासभूमि है, यही प्रथम ज्ञानतन्त्र है। प्राणमय पोडरी प्राण—(क्रिया)—प्रधान है, यह क्रियात्मक अन्वय की विकासभूमि है, यही द्वितीय क्रियातन्त्र है। वाक्मय पोडरी भूत—(अर्थ)—प्रधान है यह अर्थरूप अन्वय की विकासभूमि है, यही तृतीय अर्थतन्त्र है। तीनों तन्त्र त्रिवृत्तमाष के सम्बन्ध से स्वात्मक बनते हुए क्रमशः अन्वय-अन्वय-अन्वय-प्रधान हैं, जैसा कि परिच्छेद से स्पष्ट है • ।

ॐ ‘तासां त्रिवृत्ताम्-एकैश्च करवाप्ति’ (छान्दोग्य उप०) इत्यादि त्रिवृत्तरणसिद्धान्तानुसार त्रिज-अप्-अप् इन तीन पारिव-मूर्तों के त्रिवृत्तरण की शक्ति सम्प्रसारक मन, अक्षयमक प्राण्य, तथा अक्षयमिः वाक्-इन तीन सृष्टिसृष्टी अक्षयमार्थों का भी त्रिवृत्तरण हो जाता है। इसी त्रिवृत्तरण से तीनों (प्रत्येक) त्रिवृत्तमाषपन्न बने हुए हैं। यही तीनों के स्वात्मरूप का मौखिक रहस्य है जिसके इच्छिकोपमेर मित्र अनेक त्रिवृत्तमूर्तों का ‘ईरोपनिषद्विज्ञानमाष्य’ प्रथमसंख्य में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

१	<p>(१) मन (महा) (ज्ञानम्) अभ्यस्य (२) प्राणः (प्राणः) (क्रिया) अक्षरः (३) वाक् (भूतम्) (अर्थ) अक्षरः</p>	<p>वाक्प्राणमर्षितं मनः गूढप्रवागर्षिता प्रहा अर्थक्रियागर्षितं ज्ञानम् अक्षरगर्षितोऽभ्यस्य</p>	<p>-अभ्यस्यमानं ज्ञानरूपम्</p>
२	<p>(१) प्राणः (प्राणः) (क्रिया) अक्षरः (२) मनः (महा) (ज्ञानम्) अभ्यस्य (३) वाक् (भूतम्) (अर्थ) अक्षरः</p>	<p>मनोऽभ्यगर्षिता प्राणः प्रहागूढगर्षिता प्राणः ज्ञानार्थगर्षिता क्रिया अभ्यस्यक्षरगर्षितोऽक्षरः</p>	<p>-अक्षरप्रधानं क्रियारूपम्</p>
३	<p>(१) वाक् (भूतम्) (अर्थ) अक्षरः (२) प्राणः (प्राणः) (क्रिया) अक्षरः (३) मनः (महा) (ज्ञानम्) अभ्यस्य</p>	<p>प्राणमनोगर्षिता वाक् प्राणप्रहागर्षितं भूतम् ज्ञानक्रियागर्षितोऽर्थः अक्षराभ्यस्यगर्षितः अक्षरः</p>	<p>-अक्षरप्रधानं अर्थरूपम्</p>

१४६-श्रिता-हृदय-पाद-मूला-सृष्टिविवाप्रपी-

अभ्यस्यमानं ज्ञानरूपं ही अक्षररूपम् है अक्षरप्रधानं क्रियारूपं ही अभ्यास्यम् है एवं अक्षरप्रधानं अर्थरूपं ही अभिभूतम् है। हृदयपाद एक ही श्रेणी तीन भागों में परिणत हो रहा है। अभ्यस्यमानं पुरम् है परन्तु अक्षर रूप में ही प्रकृत है। इस प्रकृति के द्वारा ही वयं अभिप्राय भाषी का विनाश हुआ है।

पंच अविद्यारूपों का अन्तर्लोकता महानात्मा, विज्ञानात्मा, भूतत्मा, इन तीन आत्मरूपों में अन्तर्मात्र हो जाता है, ऐसा कि—'श्रीणि श्वोटीषि सद्यते स घोडरी' इत्यादि रूप में पूर्वपरिच्छेदपरवहार में स्पष्ट भिन्ना वा पुनः है। अम्यक्त महान् की समष्टि महानात्मा है। विज्ञानात्मा एकाकी है। प्रज्ञान, वैशानर-सैश-प्राज्ञ-लक्ष्य कर्मात्मा, वायव्य इन्द्रात्मा, मौक्तिक शरीर, इनकी समष्टि भूतत्मा है। वातात्मा अर्थ पोषित है, विज्ञानात्मा क्रियाश्वोषि है महानात्मा ज्ञानश्वोषि है। शिष्टमात्र के कारण यद्यपि अविद्यैवत-अध्यात्म-अधि-मूत-दीनों ही विद्यो में स्वरूपमेव से दीनों ही श्वोषितियों का समन्वय है तथापि दीनों में क्रमशः प्रधानता ज्ञान-क्रिया-अर्थ-उत्तरो की ही मानी गई है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, दोनों की समष्टि आधिभौतिक महानात्मा है, सूर्य विज्ञानात्मा है, उचन्द्रा पृथिवी म ठात्मा है। दीनों में से ज्ञानउत्त्रातुगत स्वयम्भू-परमेष्ठी-लक्ष्य महानात्मा ही ईशरत्न है यही अविद्यैवतम् है। स्वायम्भुव अम्यक्त पारमेष्ठ्य महान्, दोनों की समष्टि आध्यात्मिक महानात्मा है और बुद्धितल आध्यात्मिक विज्ञानात्मा है। चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव महिमांशमूत विषर्वा कर्मात्मा मौम शरीर, दीनों की समष्टि आध्यात्मिक महानात्मा है। दीनों में से क्रियाउत्त्रातुगत और विज्ञानात्मा ही बीज-उत्त है, यही अध्यात्मम् है। स्वायम्भुव गुहामाव पारमेष्ठ्य-आपोमाव, दोनों की समष्टि आधिभौतिक महान् है। और श्वोषिमात्र आधिभौतिक विज्ञान है। पान्द्र अन्तर्मात्र, पार्थिव रत्नमाव, दोनों की समष्टि आधि-भौतिक मूत है। दीनों में से अर्थउत्त्रातुगत पार्थिव मूत ही अम्यक्त है, यही अधिभूतम् है। इस विवेचन में हमें इस निष्कर्ष पर भी पहुँचना पड़ा कि, ईशरत्न शिरोमूला है, बीजत्न हन्तुल है, अगत्तन पान्मूल है। ईशरत्न का उपक्रमस्थान स्वायम्भुव ज्ञाना है, बीजत्न का उपक्रमस्थान और इन्द्र है अगत्तन का उपक्रमस्थान पार्थिव विष्णु है। स्वयम्भू मल्लक है, सूर्य हृदय है, पृथिवी पादस्थान है। सृष्टि का उपक्रम स्थान शिरःस्थानीय स्वयम्भू है, रिपति का उपक्रमस्थान हृदयस्थानीय सूर्य है, लय का उपक्रमस्थान पान्मा नीचा पृथिवी है। इसी आधार पर वैदिक सृष्टिविज्ञान शिरो-हृदय-पाद-मेद से तीन प्रकार से प्रतिपादित हुआ है, जो प्रकार क्रमशः स्वयम्भूमूला सृष्टिविद्या, हिरण्यगम मूला (सूर्यमूला) सृष्टिविद्या पृथिवीमूला सृष्टिविद्या एवं शिरोमूला सृष्टिविद्या हृन्मूला सृष्टिविद्या पान्मूला सृष्टिविद्या तथा बुद्धिमूला सृष्टिविद्या, रिपतिमूला सृष्टिविद्या, लयमूला सृष्टिविद्या, इन नामों से स्पष्ट होत हुआ है।

१५—ईश्वर-जीव, एवं शिपिविद्यात्मक देव-आत्म-भूत-विषर्वा—

स्वयम्भूआत्मक सृष्टिप्रपञ्च अम्यप्रधान आधिभौतिक महानात्मलक्ष्य ईशरत्न है इसी के लिए 'ब्रह्मापतिपुत्र सुवनानि पारम्' कहा जाता है। ब्रह्मातुगत-अध्यात्मिक यही उत्त्रापी 'ईश्वरप्रजापति' कहलाता है। और आत्मक सृष्टिप्रपञ्च अम्यप्रधान आध्यात्मिक विज्ञानात्मलक्ष्य बीजत्न है इसी के लिए 'इन्द्रो म आरमा' कहा जाता है। इन्द्रातुगत-अध्यात्मिक-यही उत्त्रापी 'जीवप्रजापति' कहलाता है। पार्थिव विष्णुमय सृष्टिप्रपञ्च अध्यात्म आधिभौतिक मूतलक्ष्य अगत् तन है, इसी के समन्वय में 'हमे वे लोका विष्णोर्बिक्रमयाम्' (शत ५।१।१।१।) पर कहा जाता है।

पारम्भ-अविद्यैवत की मूलप्रतिष्ठा पुण्यवती में से अध्यात्मपुण्य है प्रकृतिवती में से ब्रह्मा है। अध्यात्म की मूलप्रतिष्ठा पुण्यवती में से अक्षरपुण्य है, प्रकृतिवती में से इन्द्र है। एवं अधिमूत की मूल प्रतिष्ठा पुण्यवती में से अक्षरपुण्य है, प्रकृतिवती में से विष्णु है। अध्यात्मगत ब्रह्मा, अध्यात्मगत इन्द्र अध्यात्मगत विष्णु, किंवा ब्रह्मातुगत अध्यात्म, इन्द्रातुगत अध्यात्म, विष्णुतुगत अक्षर ही क्रमशः ईश्वर-जीव-

शिविच्छिन्नप्रजापति है। ईश्वर-बीज नाम सुपरिचित है। तीसरे अपरिचित शिविच्छिन्न का प्रकृत में वही परिचय पर्याप्त होगा कि, पुष्टिप्रवर्तक पार्थिव भामन्द्यर प्राण ही 'पूया' कलावा है वही 'पशुप्राण' नाम से व्यक्तित हुआ है। पार्थिव मूल पूया-प्राणशुद्ध बनवा हुआ पशु है। अनारम्य-मूर्च्छित-अभिमुखोत्तनाशुद्ध-अनिन्द्य-मर्त्य-पार्थिव मूल ही पूयाप्राणानक पशु है। इन्हीं को 'शिवि' कहा जाता है। इस मूलरतक शिवि में व्याप्त रहन वाला पञ्चमक शिव्यु ही 'शिविच्छिन्न' कलावा है। यैवकि निम्न लिखित निगमनचर्चों से प्रमाणित है—

१-“यज्ञो वै शिव्युः, पशवः शिवि । यज्ञ एव पशुषु प्रतिविष्टति”

—तै० ब्रा० १।१।१३।

२-“शिविच्छिन्नो वै दधानां पुष्टम्”

—तै० ब्रा० १।४।४।

३-“यः पशोर्भूमा, या पुष्टि, तद्विष्णुः शिविच्छिन्नः”

—तै० ब्रा० ४।४।४।

४-“पूया वै प्रजापतेः पशुष्ठा तनुः, यच्छिविच्छिन्नः”

—ता० म० ब्रा० १।२।२।

ईश्वर-बीज-शिविच्छिन्न नामक प्रजापति पोडशीप्रजापति है। तीनों तीन तीन ज्योतिषों से युक्त है। तीनों संस्कारों में पाँच पाँच अविष्कारिता है किन्हीं वैकारिकता मी कहा गया है। इत्यन्तार तीनों संस्कारों में २-३ अक्षररुद्ध हो जाते हैं। बीजरुद्ध और शिविच्छिन्नरुद्ध, इन दोनों में ईश्वररुद्ध का समावेश और रहता है। पञ्चत इन् दोनों में ७-७ अक्षररुद्ध हो जाते हैं। यैवकि पण्डितों से स्पष्ट हो रहा है—

१-अविद्वैकतम्

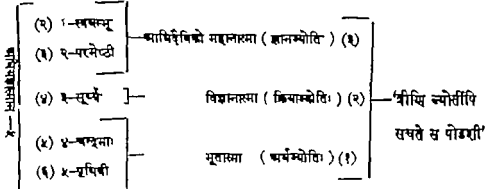
(१) मन-प्रज्ञा-ज्ञानम्-अभ्यव

(२) प्राण-प्राणः-क्रिया-अक्षर

(३) वाक्-मूलम्-अर्थः-अक्षर

} — अक्षररुद्धितो गूढोत्तमोऽभ्यव पोडशी-
(१) गूढोत्तम (ईश्वर)

(१) गूढोत्तम पोडशी-ईश्वरप्रजापति—



२-अध्यात्मम्—

(१)-प्राण-प्राण-क्रिया-अक्षर	}	क्षराव्ययगमित-इन्द्रजुगप्तेऽक्षरः पोडरी- (२) गूढोत्मा (जीव)
(२)-मन-प्रज्ञा-कालम्-अव्ययः		
(३)-वाक्-मूयम्-अर्चो-क्षर		

ॐ ॐ ॐ

● गूढोत्मा-ईश्वरप्रज्ञापतिः—

(१)-गूढोत्मा-पोडरी (जीवप्रज्ञापतिः)

श्रीसिद्धोत्तमः	(२) १-शान्तात्मा	}	आध्यात्मिको महानरमा (प्रज्ञाव्योतिः) (३)	}	‘श्रीसिद्धोत्तमः’ सचते स पोडरी	
	(३) ७-महानरमा					
	(४) ३-विद्वानरमा					विद्वानरमा (प्राणव्योतिः) (२)
	(५) ४-प्रज्ञानरमा					”
	(६) २-मूयत्मा					मूयत्मा (मूयव्योतिः) (१)



३-अधिभूतम्—

(१)-वाक्-मूय-अर्चो-क्षर	}	आध्यात्मिकगमितो विष्णुतुम्भः क्षर पोडरी-गूढोत्मा (अक्षर)
(२)-मन-प्राण-कालम्-अव्ययः		
(३)-मन-प्रज्ञा-कालम्-अव्ययः		

ॐ-गूडोत्मा-ईस्वरप्रजापतिः

(१)-गूडोत्मा पोडशी शिपिविष्टप्रजापति

प्राचिनप्रजापतिः-१	(१)-१-गुरा (स्वार्बभुवी)	}	प्राचिनप्रजापतिः महत् (स्वार्बभुवीः) (१)	" विद्यान्म् (स्वार्बभुवीः)(२)	" मृतम् (नामस्वार्बभुवीः) (१)	" श्रीशिव ज्योतीषि सचते"
	(१)-२-आयः (पारमेष्ठ्या)					
	(५)-३-स्वोतिः (स्वीरम्)					
	(५)-४-अमृतम् (बान्द्रम्)					
	(५)-५-रमा (पारिष्व)					
(नाचरामप्रजापतिः)						

	१ प्राचिनप्रजापतिः	२ नाचरामप्रजापतिः	३ प्राचिनप्रजापतिः
प्राचिनप्रजापतिः-१	गूडोत्मा-ईस्वरः (१)	गूडोत्मा-ईस्वरः (०)	गूडोत्मा-ईस्वरः (०)
	+ + +	गूडोत्मा-वीणाः (१)	गूडोत्मा-शिपिविष्टः (१)
प्राचिनप्रजापतिः-२	स्वर्गम् (५)	शान्तात्मा (५)	गुरा (५)
	परमेष्ठी (५)	महान्तात्मा (५)	आयः (५)
	सूर्यः (१)	विद्यान्तात्मा (१)	स्वोतिः (१)] विद्यान्तात्मा (२)
	बान्द्रमाः (२)	प्रजापतात्मा (२)	अमृतम् (२)
	इषिषी (१)	मृतम् (१)	रमाः (१)
	महान्तात्मा (१)		श्रीशिव ज्योतीषि सचते स-पोडशी
	इन्द्रतात्मा	इन्द्रतात्मा	विष्णुतात्मा
	सूर्य-उपशमकिन्नु	सूर्य-उपशमकिन्नु	इषिषी-उपशमिन्नु
	मरु-मरिचा	विद्यान्-मरिचा	मूर्त्-मरिचा
	ईश्वरोऽम्बक	वीणोऽम्बक	कन्य-कन्य

१५१-योगेश्वरस्वरूपोपसंहार—

योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप-परिचय की स्तम्भरश्मि में उन्धानिका मुख थी। तदनुसार उठी ही प्रेरणा से उन्हे हीनों विषयों का आवागमर परिच्छेदों के द्वारा स्पष्टीकरण किया गया। यद्यपि 'आत्मपरीक्षा' नामक स्वतन्त्र सस्कृत में आत्मतत्त्व की दार्शनिक, तथा वैज्ञानिक, उन्मत्त-दृष्टियों से परीक्षा कर दी गई थी, तथापि प्रसिद्ध 'बुद्धिभोग्य-परीक्षा' सस्कृत में भी आत्मस्वरूपमीमांसा करना इसलिए आवश्यक समझा गया कि, आत्मपरीक्षा-सस्कृत में केवल व्यष्टिरूप से ही आत्मस्वरूपमीमांसा हुई है। एक ही आत्मतत्त्व के विविध विकृतों की दृष्टिकोशमेद से मीमांसा करने के लिए यदि ११११ उपनिषद्बन्धों का समाहर किया जाता है, तो फेरे भरना नहीं, दृष्टिकोश-मेद से होने वाली प्रसिद्ध आत्मपरीक्षा परीक्षाओं की दृष्टि में अनुपयुक्त न मानी जाय। बुद्धिभोग्य ही योगेश्वर की वास्तविक भोग्यभूमि है। अतएव भोग्यभूमि-स्वरूपप्रदर्शन से पहिले योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा आवश्यक समझी गई। अतस्वरूप वागेश्वर की अस्मिन्मूर्ति से उन्मत्त रहने वाले व्यष्टि-भाव क प्रसिद्धरूप निष्कर्ष-योगेश्वरी-प्रतिमा अभिद्वैत-अभ्यन्त-अभिभूत, इन ६ विकृतोंका स्पष्टीकरण किया गया। इन ६ ही विकृतों को स्वर्ग में प्रतिष्ठित रहने वाले शाल्वे अभिभ्यन्तिकाद्वय व्यक्तित्व का ही नाम आत्मस्वरूप-पति है, जिसे मगवान् ने 'ब्रह्मोत्पत्ति' नाम से व्यक्त कर लिया है। ब्रह्मलक्षण आत्मतत्त्व किन विकृत-भावों में परिणत होकर अभिभूत हो रहा है व्यक्तिसंशय नहीं बलविरयति ब्राह्मिरीयति है नहीं योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप है। इस व्यष्टि-रिपति के उन्मत्तपरिणत से शाल्वे के आत्मविषयक बलविरयति होने निहृत होवाते हैं, इत्येव कि मगवान् ने कहा है—

एषा ब्रह्मी स्थिति पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुक्तसि ।

स्थिञ्चास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिपायसृञ्चसि ॥

गीता० २।७२।

इति 'बुद्धिभोग्यस्वरूपनिर्वचनान्तक प्रथमप्रकरणे

'योगेश्वरस्य तात्त्विकस्वरूपनिरूपणम्' नामक-

द्वितीयस्तम्भ-

(१)—२

श्री

‘बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन’ नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत
‘योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूपनिरूपण’ नामक
द्वितीयस्तम्भ—उपरत

(१)—१

श्रीः -

अथ - बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमे प्रकरणे
'योगेश्वरानुगत-योगस्वरूपनिरूपणम्' नामकः

तृतीयस्तम्भ

(१)-३



श्रीः

योगेश्वरानुगत-योगस्वरूपनिरूपणम्

तृतीयस्तम्भ



१-मीमांस्य योगस्वरूप—

‘मक्तियोग-परीक्षा’ के आचारमूल योगेश्वर का तात्त्विक स्वल्प ‘ब्राह्मीरिचयि’ के तात्त्विक विरलेपण पर निर्भर था। अद्यत् एव प्रस्तुत प्रकार में ब्राह्मीरिचयि का स्वल्पविगूर्यन अनिर्वाच्य माना गया। ब्राह्मीरिचयि के आचार पर जब हमें योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का आभाव हो जाता है, तो अनन्तर योगेश्वर के सम्बन्ध रखने वाले ‘योग’ के तात्त्विक स्वरूप की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। प्रकृत स्तम्भ में योगेश्वर के उन्हीं तात्त्विक योगों के स्वरूप-निर्देशन का प्रयास किया जाता किन्तु प्रकृतस्तर से मक्तियोगपरीक्षा में प्राकृतिक योगवर्षी, तथा कृत्रिम-योगवर्षीय से मीमांस्य हुई है। प्रकृत में योगवर्षीयस्वरूप से ही योगस्वरूप की मीमांस्य की जाती।

२-योगानुगता प्ररनावली—

मक्तियोगपरीक्षा-उपकरण में आत्म में ही (५ सं ३ से ५ सं १ १ पर्यन्त) जिस योगवर्षी की मीमांस्य हुई है, प्रत्यक्ष से अनुरोध किया जाता कि, वे प्रकृत योग-स्वरूप अवलोकन से पहिले एक बार उस पर मीमंस्त्रि डालें +। कारण, वही योगसम्बन्ध में जिस दृष्टिकोण का विरलेपण हुआ है प्रकृत दृष्टिकोण का उल्लेख निश्चित सम्बन्ध है। योग के तात्त्विक स्वरूप के सम्बन्ध में कृत्रिम प्ररनी का समाधान सर्वप्रथम अपेक्षित है। ‘जिस योगेश्वर के लिये हमें हमारे आत्मा का योग करना है वह योगेश्वर का क्या स्वरूप है ? वह पहिला प्ररन है। ‘योगेश्वरत्मा के लिये योग करने वाला ‘हम’ पदार्थ क्या है ? वृत्त शब्दों में जिस आत्मा का योगेश्वर के साथ योग करनी मी है ? वह वृत्त प्ररन है। योगेश्वर के साथ आत्मा की युक्त करने के लिये क्या क्या हैं ? वह वृत्त प्ररन है। योगेश्वर के लिये हमें वाले योग का क्या स्वरूप है ? वह वृत्त प्ररन है। पाँच प्ररनों में से आत्म के तीन प्ररनों का, विरलेपण दो प्ररनों का (१, २) समाधान पूर्व के ‘योगेश्वर का तात्त्विकस्वरूप’ नामक स्तम्भ से मता है।

३-योगानुगत नियक्त आत्मवाद, और प्राचीन व्याख्याता—

पूर्व स्तम्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि, ब्राह्मीरिचयि से सम्बन्ध रखने वाला एक ही निरिचयिपद अवलोकनत्मा (किन्तु आत्मा) अमृतस्वरूपता ब्रह्मस्वरूपता, देवस्वरूपता, इन चार विचर्यमयों में

— खण्डव्यात्मिका, अनुमानतः सहस्रपृष्ठात्मिका ‘मक्तियोगपरीक्षा’ (सर्वान्तरव्यम परीक्षात्मक क-ख-नामक गीताभूमिकानुगत ६-७ खण्डरूपा) अमी अप्रकाशित है।

पर्यवस्यति हो रहा है। विद्युत्कण्टक, ऐश्वर्यकण्टक नामक निर्धरोपद्रव्य, एवं सर्वकविशिष्टरत्नसूत्र, शास्त्रकथनार्थनामक परास्परद्रव्य दोनों की छम्बि उत्पत्त्यवस्था है, यही प्रजापतिमन्त्रात् से एकत्रताः अर्थात्, अतएव विद्युत् कण्टक है जो योगीश्वर, योग योग्यापन आदि योगमन्त्रावाची से सर्वथा अर्थात्, अतएव अविद्येय, अनुपास्य, अनिर्वचनीय है अतएव जो उपनिषदों में 'नेति-नेति' शब्दों से निर्वाच्य हुआ है *। निर्धरोप और परास्पर, उत्कृष्टः दोनों अस्मिन् है। अतएव दोनों का एक 'परास्पर' नाम से भी संभव किया जा सकता है। निर्धरोप-परस्परमेकसूत्रि यही 'अतएवकण्टक' है जो विश्वार्थ नाम से भी व्यवहृत हुआ है। अग्निसत्त्वात्मकरी अस्मत्कालाभौर्नी इती अतएवकण्टक को ज्ञानयोग का लक्षण बनाया है जबकि उत्कृष्टः इत्यत्र किन्ती भी कृत्रिमयोग से सम्भव नहीं है। शब्दशास्त्र से इत परस्परकण्टक का कोई सम्भव नहीं है। उपनिषद् अस्मत्कृत मगपद्विषय, टीनों की छम्बिस्य प्रत्यानवधी का इत अस्मत्क विश्वार्थ से क्लृप्त कोई सम्भव नहीं है। प्रत्यानवधी, एवं क्लृप्त इतर इरानि मस्योपधिक् योगीश्वर के निमित्त अस्मत्को ही अपना लक्षण बना रहे हैं। उदाहरण के लिए ईश-केन-कृत-मरन-पुराण-मास्त्र-क-तैत्तिरीय-ऐतरेय-झ-दोष-इहदारयक-आदि उपनिषदों के मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा क्रमशः गृह्यता प्रज्ञानता मोक्षता विज्ञानता वेदकल्याणता ब्रह्मकल्याणता विरम्यकल्याणता, विरम्यकल्याणता विज्ञानता, आदि लक्षणता हैं *। अस्मत्प्रतिष्ठाया से कुछ अस्मत्कण्टक (अस्मत्कल्याणता) अस्मत्कल्याणता का मुख्य प्रतिपाद्य किया है। अस्मत्कल्याणता गीताशास्त्र का प्रधान लक्षण है। मूल्याता वैशेषिक उत्पन्न का, मास्त्रकल्याणता लक्षणकल्याणता लक्षण है अथवा-अस्मत्कल्याणता नामक भूमिकल्याणता के 'दार्शनिक-अस्मत्कल्याणता' नामक अस्मत्कल्याणता में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। मास्त्रकल्याणता अस्मत्कल्याणता के मत्कल्याणता लक्षण 'अस्मत्' शब्द का ही विशेषण है यही विज्ञानकल्याणता के अनुसार यह अस्मत् ही विशेष्य बना हुआ गीता का मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा है। मास्त्रकल्याणता का ही गीता को अतएवकण्टक की प्रतिपाद्यिका मान रहे हैं यही विज्ञानकल्याणता इसे अस्मत्कल्याणताप्रतिपाद्यिका मान रही है जो अस्मत्कल्याणता अतएव विश्वार्थ परस्परकण्टक से सर्वथा निमित्त क्लृप्तकल्याणता है। यद्यपि 'उत्तुं मित्रं वरुणम् + इत्यदि भुविष्यं सर्वं त्व मे उत अतएव परस्पर की ही स्थिति कल्याणता रही

* स विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।

यतो वाचो निवर्षन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

× इत निरव का विद्या विवेचन उपनिषद्विज्ञानमास्त्रमूत्रि-गृहीतकल्याणता में देखना चाहिए ।

— १-इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमादुराणो दिव्यः स सुप्रसौं गुरुमान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति-अग्निं यमं मातरिरिवानमाहुः ॥

— अथ सं १।१५।५५।

२-तदेवाग्निस्तदादित्यस्तनुवापुस्तदु अन्द्रमाः ॥

तदेव शुकं तनुमस तदापस्तत्प्रजापति ॥२॥ (रवेता० ज्य० ५५।२) ।

३-यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिदस्माद्भागीयो न ज्योयोऽस्ति कश्चित् ।

इष इव सप्त्यो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्वां पुरुषस्य सर्वम् ॥ (रवेता ज्य १।६) ॥

है। उत्पत्त. सर्वत्र बही है, सब कुछ बही है। अम्बुक्त-विज्ञान-प्रज्ञान-सब बही है। उसके अतिरिक्त अन्व-
 सदा को अवसर ही कैसे मिला सकता है। तथापि इन्द्र और मित्र का भेद मिय्या है किन्ना अम्बुय और
 परस्पर विभिन्न नहीं है, यह क्यमपि नहीं माना जा सकता। कार्य्यज्ञ का कार्य्यज्ञ के साथ अवसर
 ही अभेद है, परन्तु कार्य्यज्ञों का परस्पर में क्यमपि अभेद नहीं माना जा सकता। कटक-कुम्बल-बन्ध-
 आदि मन्धाकार सुवर्णाभूयों का कार्य्यभूत सुवर्ण के साथ अवसर ही वादात्मकाञ्छ अभेद सम्भव
 है। परन्तु कटक-कुम्बलादि का परस्पर भेदलम्ब्यात्मक असम्भव ही म्यावस्थि माना जायगा। आँख-
 नभ-अन-मुल-सब कुछ 'अहम्' है। परन्तु अलि नाक से, नाक आँख से अन्न दोनों से विभिन्न है।
 अवस्यों का अवस्यों के साथ बही अभेद है, वही अवस्यों का परस्पर आत्मनितक विभेद है। 'इन्द्र मित्र'
 इत्यादि विषु भुक्ति को अभेदपरक लगाबा का रहा है उषी से अवसवनेद का भी समर्पन हो रहा है।
 तभी तो 'इन्द्र-मित्र-बन्धुधर्म-इत्यादि विभिन्न नामों का व्यवहार चरितार्थ हो रहा है। सब कुछ बही है
 यह भी ठीक है। यही सब कुछ है यह भी ठीक है। परन्तु सब परस्पर में सब नहीं है। उत्पत्त्य-सब कुछ
 परस्पर है परस्पर सब कुछ है, परन्तु अम्बुय, अक्षर, धर, अम्बुयत्त, महान्, प्रज्ञान आदि पृथक् पृथक्
 रूप से सब कुछ न कन्वत हुए परस्पर विभिन्न हैं। एवं शास्त्रनिरूपणीत आत्मग्राम इत विभिन्न आत्मज्ञान
 से ही सम्भव है, किन्तु पूर्व में विचार से विरलेषण किन्ना भा जुध है। यही सब प्राचीन व्याख्याताओं
 की, इत सम्भव में वैज्ञानिकों की ओर से 'युद्धास्ते न विचारयोग्यपरिवास्तिष्ठन्तु दु वर्तवाम्
 धमावत ही पर्याप्त है।

४—आत्मस्वरूपसिद्धान्तोक्तम्—

विभागीय अक्षरयत्त अस्त्वस्यत्वात्मा नामक परस्परज्ञान के अन्तर अमृत्कृत्यात्मा की ओर इत्याय
 ध्यान आकर्षित होता है। भागोवाधिक निष्कल परात्पर, पम्बुयत्त अम्बुय पम्बुयत्त अक्षर, पम्बुयत्त-
 आत्मज्ञान, इन चारों की समष्टिक्रम बोधशक्त्य आत्मन्मी (प्रज्ञापति) लत्त ही गृहीता है, यही पुत्रधात्मा है,
 यही अमृत्कृत्यात्मा है। त्वात्मन्भूय विरात्मा पारमेष्ठ्य शिरस्यगर्भात्मा, क्षेत्र सर्वज्ञात्मा, आत्र महानात्मा
 पार्थिव बरह-नित्यात्मा, इन पाँच वैश्विक आत्मनाओं की समष्टि 'ब्रह्मकृत्यात्मा' है। सर्वज्ञ-शिरस्यगर्भा-विरात्-
 समष्टिक्रम पार्थिवता देवकृत्यात्मा है। यही आधिदैविक आत्मग्राम का सिद्धान्तोक्तम् है। आधिदैवत्-
 क्त ही अम्बुयत्त में भी आत्मग्राम सन्निहित है। गृहीता गृह्यता है त्वात्मन्भूय विरात्मात्मा शाब्दात्मा है,
 पारमेष्ठ्य शिरस्यगर्भात्मा महानात्मा है, क्षेत्र सर्वज्ञात्मात्मा विज्ञानात्मा है, आत्र महानात्मात्मा प्रज्ञानात्मा है,
 बरहभित्त्यात्मात्मा शरीर है, पाँचों की समष्टि ब्रह्मकृत्यात्मा है। सर्वज्ञात्मात्मा प्राज्ञ शिरस्यगर्भात्मात्मा वैश्वत्,
 विरात्मात्मात्मा वैश्वानर, छीनो की समष्टि देवकृत्यात्मा है, यही शरीरक है, यही वेही है, यही कर्म-
 मोक्ष्य भीवत्मा है।

रसीकर्मूर्तनिर्विरोधः— निर्विरोधः
 ब्रह्मविनिष्ठा परात्परः— परात्परः

—अक्षरयत्तः परात्परः (सत्यस्यसत्त्वत्वात्)

परमेश्वर हो रहा है। विद्युत्कण्ठम्, एफान्तिवृष्टम् नामक निर्दिष्टपदार्थ, एवं सर्वव्यापित्तरकण्ठि, शारवतवर्त्मनामक परस्परब्रह्म दोनों की समष्टि लक्ष्यस्वरूपता है, यही प्रभावशिवर्षादा से एकमन्त्रक अलंकार, अथवा विद्युत् ब्रह्म है, जो योगेश्वर, योग, योगलक्षण, अथि योगमर्ष्यावाची से लक्षणा अर्थात् अथर्व अथिब्रह्म, अनुपास्य, अतिर्ब्रह्मीय है। अथर्व या उपनिषद् में 'विधि-नेति शब्दों से निर्दिष्ट हुआ है *। निर्दिष्ट, और परात्पर, लक्षणा दोनों अर्थित हैं। अथर्व दोनों का एक 'परस्पर' नाम से भी संकेत किया जा सकता है। निर्दिष्ट-परस्परमेवमूर्ति यही अक्षरब्रह्म है। जो विश्वार्थ नाम से भी व्यञ्जित हुआ है। अग्निव्याप्तवादी व्याख्याकारों ने इसी अक्षरब्रह्म को ज्ञानयोग का लक्षण बताया है जबकि लक्ष्य इत्यत्र किसी भी कृत्रिमयोग से सम्बन्ध नहीं है। शब्दात्पर से इस परस्परब्रह्म का अर्थ सम्बन्ध नहीं है। उपनिषद् व्याकृत, मन्त्रद्वयीय, टीकों की समष्टिरूप प्रस्थानत्रयी का इस व्यापक विश्वार्थ से वस्तुतः अर्थ सम्बन्ध नहीं है। प्रस्थानत्रयी, एवं उपनिषद् इतर दरान मान्योपाधिक योगेश्वर के विभिन्न अक्षरवर्णों को ही अपना लक्षण बना रहे हैं। उदाहरण के लिए ईश-कैत-क-परम-गुरुब्रह्म-मायवृक्ष-तेजोव-येतये-दानयोग-गुरवारयक-अथि उपनिषद् के मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा कर्मण गूढता, प्रधानात्मा, योगात्मा विज्ञानात्मा, देवतात्मा ब्रह्मत्वात्मा दिव्यमत्मा, दिव्यकार्मात्मा, विज्ञानात्मा अथि लक्षणात्मा है *। अन्वयप्रतिपक्षता से मूल अक्षरब्रह्म (अन्वयत्मा) व्यक्तियों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अन्वयत्मा योगात्मा का प्रधान लक्षण है। ध्याता योगार्थक लक्ष्य का, प्राकृतता संकल्पक का लक्षण है। अन्वय-आत्मरूपता नामक सूक्तिब्रह्म के 'दार्शनिक-आत्मरूपता' नामक प्रकरण में विस्तार न निरूपण किया जा चुका है। माय्यक्षर श्रीगुरुव्याप्य के महागुरु गीतेक 'अन्वय' शब्द अर्थात् विद्युत् है अर्थात् विज्ञानवृष्टि के अनुकार यह अन्वय ही विद्युत् बनता हुआ गीता का मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा है। माय्यक्षर अर्थात् गीता का अक्षरब्रह्म की प्रतिपाद्य मान रहे हैं, अर्थात् विज्ञानवृष्टि इसे अन्वयप्रतिपाद्य मान रही है जो अन्वयब्रह्म अक्षरब्रह्म विश्वार्थ परस्परब्रह्म से सर्वथा विभिन्न वस्तुत्त्व है। यद्यपि 'उन्मि' मित्रं वक्ष्यम् + इत्यादि सुविध सर्वत्र लभ्यते उक्त अक्षरब्रह्म परस्पर की ही अन्वय बनता रही

* सं किदन्ति न यं कदा विप्युवेदं न वा विधिः ।

यतो वाचो निवचन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

× इस निबन्ध का अर्थ विवेकन उपनिषद्विज्ञानमाय्यम् मित्र-वृत्तीयलक्ष्य में देवता अथि ।

— १-इन्द्र मित्रं वक्ष्यामिमादुरयो दिव्यः स सुपर्शो गरुमान् ।

एकं सद्रिप्रा बहुधा वदन्ति-अग्निं यमं मातरिरिबानमाहुः ॥

— अक्षर ११२१११११

२-तदेवाग्निस्तदादित्यस्तनुवापुस्तदु चन्द्रमा ॥

तदेव शुक्रं वृषभं तदापस्तत्प्रजापतिः ॥२॥ (रवेता० अ० ११११) ।

३-यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्माभाषीयो न न्यायोऽस्ति करिषत् ।

बुध इव स्वभ्यो विधिं विष्ट्यम्कस्तेनेदं पूर्वं पुरुषाय सनम् ॥ (रवेता ७७ ३११) ॥

है। उत्कृष्ट-सर्वत्र यही है, सब कुछ यही है। अभ्यक्त-विज्ञान-प्रज्ञान-सब यही है। उसके अतिरिक्त अन्य सत्ता को अक्षर ही कैसे मिल सकता है। उपाधि इन्द्र और मित्र का भेद मिथ्या है, किंवा अभ्यस्य और परात्पर विभिन्न नहीं है यह कथमपि नहीं माना जा सकता। अर्थात् अक्षर का अक्षरत्व का साथ अक्षर ही अक्षर है, परन्तु अर्थात् अक्षरों का परस्पर में कथमपि अक्षर नहीं माना जा सकता। अक्षर-सुखदल-वचक-आदि सत्तावात् सुकर्णाभूषणों का कारणमूढ सुकर्ण के साथ अक्षर ही तादात्म्यलक्षण अक्षर सम्बन्ध है। परन्तु अक्षर-सुखदलारि का परस्पर भेदसम्बन्धात्मक असम्बन्ध ही न्यायसिद्ध माना जायगा। अक्षर-नाक-अन-सुख-सब कुछ 'अक्षर' है। परन्तु अक्षर नाक से, नाक अक्षर से अक्षर दोनों से विभिन्न है। अक्षरों का अक्षरों के साथ यहाँ अक्षर है, यहाँ अक्षरों का परस्पर आत्मनिक भिन्न है। 'इन्द्रं मित्रं' इत्यादि कित्त भूमि को अक्षरपरक लगाना जा रहा है, उन्हीं से अक्षरवत्त्व का भी समर्थन हो रहा है। सभी ता 'इन्द्रं-मित्रं-वचकम्'-इत्यादि विभिन्न नामों का व्यवहार अतिरिक्त हो रहा है। सब कुछ यही है यह भी ठीक है। यही सब कुछ है यह भी ठीक है। परन्तु सब परस्पर में सब नहीं है। तात्पर्य-सब कुछ परात्पर है परात्पर सब कुछ है, परन्तु अभ्यस्य, अक्षर, अक्षर, अभ्यक्त, महान्, प्रज्ञान, आदि पृथक् पृथक् रूप से सब कुछ न बनते हुए परात्पर विभिन्न हैं। एवं शास्त्रनिरूपणीय आत्मप्राम इत विभिन्न आत्मवाद से ही सम्बन्ध है, किन्तु पूर्व में विस्तर से विरोधपण किन्ना जा चुका है। यही सब प्राचीन व्याख्याताओं की, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की ओर से 'बुद्ध्यास्ते न विचारणीयपरिवास्तिष्ठन्तु तु वर्षावाम्' समाधान ही पर्याप्त है।

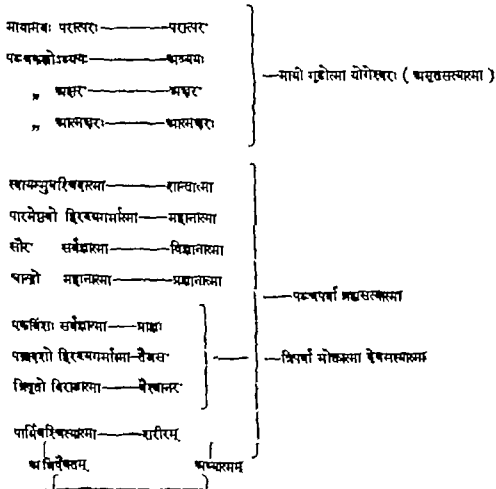
४—आत्मस्वरूपसिंहावलोकन—

विद्यार्थी अक्षरक लक्ष्यस्वरूपात्मा नामक परात्परत्व के अनन्तर अमृतकल्याणता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। मायोपाधिक निष्कल परात्पर, पञ्चकल अभ्यस्य, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल-आत्मक्षर, इन चारों की समष्टिकम बोधराकल आत्मन्वी (प्रकाशित) लक्ष ही गूढोत्पत्ता है, यही पुत्रपात्ता है, यही अमृतकल्याणता है। स्वाभ्यस्य विद्यार्थी पारमेष्ठ्य हिरण्यमार्गता, सौर सर्वज्ञता, आन्त्र महानस्य पार्थिव बराह-विद्यात्मा, इन पाँच वैदिक आत्मार्थों की समष्टि 'ब्रह्मकल्याणता' है। सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-समष्टिकम पार्थिवात्मा देवकल्याणता है। यही आधिरैविक आत्मप्राम का सिंहावलोकन है। अधिरैवक-यत् ही आत्मत्न में भी आत्मप्राम व्यभिच्छि है। गूढोत्पत्ता गूढोत्पत्ता है स्वाभ्यस्य विद्यार्थी शास्त्रात्मा है पारमेष्ठ्य हिरण्यगर्भमार्गता महानस्य है, सौर सर्वज्ञमार्गता विज्ञानात्मा है आन्त्र महानस्य प्रज्ञानस्य है, बराहविद्यामार्गता शरीर है, पाँचों की समष्टि ब्रह्मकल्याणता है। सर्वज्ञमार्गता प्राज्ञ हिरण्यगर्भमार्गता वैश्व, विद्यार्थमार्गता वैश्वानर, तीनों की समष्टि देवकल्याणता है यही शरीरक है, यही देही है, यही कर्म मार्गता बीजात्मा है।

रसिकमूर्तिनिर्दिशोप ————— निर्दिशोप

बलविशिष्ट परात्परः ————— परात्परः

—अक्षरकः परात्परः (सत्यस्यसत्तात्मा)



५-योगातीत, योगेश्वर, योगकर्षा, योगसाधन, और तदाधारभूत आत्मविषय-

उक्त आत्मवर्णों में से निरर्थक परत्परत्वं अक्षरत्वं परत्पर को छोड़ दीजिए । क्योंकि पूर्व कथनानुसार इनके साथ योगस्वरूप का कोई सम्बन्ध नहीं है । परत्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-समस्तिकृत गूढोत्तमा योगेश्वर है योग का लक्षण है, योगज्ञात प्राप्तम् है । वैश्वानर-तीक्ष्ण-मायामूर्ति शरीररूपा योगमार्गास्तु बीज है योगप्रगुहानकर्ता है । शेष छह भाते हैं-शान्दात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा, ब्रह्मत्वा (शरीर) के पाँच वैश्वरिक आत्मा । ये पाँचो विभिन्न योगमार्गों के साधक हैं, योगसाधन हैं । इत्यन्तर आध्यात्मिक आत्मप्राप्त में ही योगातीत, योगेश्वर, योगज्ञात प्राप्तम्, योगकर्ता योगसाधन, इन सब परती का समाधान उचित है । शैलिकि परिवेष्ट से उक्त है—

निर्दिष्ट (२)	}	—प्रत्यक्षः परस्पर-योगतन्त्र (कल्पकप्रपात्ना)
पद्यवट (१)		
पराशर (१)	}	—योगशीलूत्तमा—योगेश्वरयोः लक्षणः (अमृतकप्रपात्ना)
अमृत (५)		
अष्ट (३)		
आत्मवट (५)		
माहा (१)	}	—विपरीत जीवः—योगप्रनुशाता (देवकप्रपात्ना)
शेखर (२)		
बैरववट (१)		

द्यान्वत्तमा (५)—अभ्यवठम्	}	—पञ्चपर्यायकप्रपात्ना—योगताचनानि (ब्रह्मकप्रपात्ना)
महानत्तमा (४)—मरु		
विज्ञानत्तमा (१)—बुद्धि		
प्रज्ञानत्तमा (२)—मनः		
भूतत्तमा (१)—शरीरम्		

६—अधिदेवत, तथा अप्यात्म—अनुगत आत्मग्रामस्वरूपव्यवस्थिति—

योगार्थि अक्षयवृद्धि का रचना न रचना समान है। अतएव आत्मग्रामगणना में वह अनवेक्षित है। ऐलो अक्षरणा में गूढोत्तमा, जीवात्मा पञ्चपर्याय कप्रपात्ना, ये तीन आत्मविवर्ध शेष रह जाते हैं, जिनके लक्षण में योगतन्त्र का उल्लेख किया जा सकता है। मन्त्रियोगपरीक्षा—उत्तरतन्त्र में आत्मपर्यायगणना करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि अधिदेवत (ईश्वरी) संख्या में वहाँ ७ आत्म पर्य है, वहाँ अप्यात्मसंख्या में आठ आत्मपर्य हैं। अधिदेवतसंख्या के लक्ष्यापक (विश्वव्यापक) गूढोत्तमा का नाम ईश्वर (परमात्मा) है उल्लेख भी अप्यात्मसंख्या में मोग रहता है। इसके अतिरिक्त अप्यात्मसंख्या में प्राथमिक गूढोत्तमा की तथा और है। वही 'प्रत्यागात्मा' कहलाता है वही आध्यात्मिक 'अहं' पर्याय है। अतएव अप्यात्म में ईश्वरीय गूढोत्तमा (परमात्मा), अप्यात्मसंख्यालम्बनभूत गूढोत्तमा (प्रत्यग्मात्मा), द्यान्वत्तमा, महानत्तमा, विज्ञानत्तमा, प्रज्ञानत्तमा, शरीरकप्रमा, अभ्यवत्तमा, इन ८ आत्मपर्यायों की तथा सिद्ध हो जाती है। पूर्वोक्तिका में

विन गूटेमा वा 'बेरीबर' कहा गया है, वह ईश्वरीय गूटेमा है। प्रयोगात्मक आध्यात्मिक गूटेमा भी यद्यपि स्वप्नरूप से बेरीबर ही है। तथापि अधिष्ठाताद्वारा ही के कारण ही इच्छा स्वाभाविक योगविभूति मेधावत्त्व सर्व्वान् प्राप्त रह जाती है। अधिष्ठातासे प्रत्याग्रहना के स्वाभाविक अनुग्रह से ब्रह्मिणी शारीरक कीर्त्याया ब्रह्मिणी रक्षा हुआ बुद्धि प्राप्त करता है। परमात्मा (ईश्वरीय गूटेमा) निरव्यय-बुद्धि-मूर्त है। तन्मिनि प्रत्यग्रहना के द्वारा अधिष्ठाताद्वारा है। अतएव तन्मूर्त शारीरक आत्मा का इस प्रत्याग्रहना के साथ योग नहीं होने पाया। योग है और अकारण है। परन्तु प्रतिकूल योग है। प्रतिकूलयोगात्मक योग तत्काल अकारण है। पर अकारणक योग ही इन्द्रियों के द्वारा विरक्तचित्त का कारण बनता हुआ बुद्ध्यानुभूति का प्रवर्धक बनता है। ठीक इसके विरुद्ध इन्द्रियावृत्तित से प्रयुग्म शारीरक अत्रमा आनन्दानिष्पन्नता का कारण बनता हुआ वह प्रत्यग्रहनाविभूति के साथ अनुकूल योग कर लेता है तो ऐसा अनुकूल योग बुद्ध्यानुभव-निष्ठता का कारण बन जाता है विन अनुकूल योग के सम्बन्ध में 'योगो मन्वति दुःखहृत्' विज्ञान स्थिति हुआ है। प्रत्याग्रहना के नाम योग करत ही शारीरक आत्मा परमात्मतन्त्रित से युक्त हो जाता है, जो अनुकूल-मूर्तित्त होने क्लेशकर्मण्य बुद्धिबलमन्त्र प्रदान कर देती है। तन्मिनि होने समे पर निष्कामा वि, अध्यात्मकर्मणा में परमात्मा प्रत्यग्रहना दोनों की मन्त्रि परोक्षर है लक्ष्य है। परी वह 'तु' लक्ष्य अक्षय्यद्वय नानक 'अक्षय्यकर्मणा' है 'अक्षय्यकर्म' है। विरता शारीरक आत्मा परमात्मज्ञानकर्ता है, वही 'दिव्यकर्म' है। एवं पञ्चवा वैश्विक आत्मा योगज्ञान भी है योगविशेष भी है। परी अक्षय्यकर्म'। यद्यपि प्रवृत्ति-रक्षा (लक्षिकर्मरक्षा) इन आठों आत्मवर्तों का काम करता परमात्मा, प्रत्यात्मा शान्तात्म्य महानात्मा, विद्वानात्मा प्रज्ञानात्मा, शारीरकज्ञान अक्षय्यात्मा यही है। परन्तु निमित्तकर्म में शारीरक आत्मा विज्ञानात्मा से पूर्व, तथा महानात्मा से उत्तर, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित माना गया है शेषादि—'अतमिच्छु-मनोयुक्त मोक्षोत्थाहृन्मनीषिण इत्यादि आनन्दित' बचन से प्रमाणित है। महानात्मकत्व मन तथा विद्वानात्मकत्वा मुक्ति दोनों की सम्पत्ती बना कर ही शारीरकमा योगयुक्तवी में प्रवृत्त होता है।

७-योगान्मानुगता योगयष्टयः-

प्राण योग कर्मण बुद्धियोग ज्ञानयोग मन्त्रियोग, कर्मयोग इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। एक ही योग के चार विभक्तियों हो गयीं। प्रश्न का उत्तर 'शुद्धचित्त' पर अवलम्बित है। प्रवृत्ति को 'ज्ञान' कहा जाता है। आध्यात्मिक प्राण आनन्द ही प्रयुक्त प्रवृत्ति है। प्रत्येक प्रवृत्ति मन्त्र में 'तु' रं ब्रह्मणो में परिणत होता हुआ 'शुद्ध' है। मन्त्रिण रं ब्रह्मणो मन्त्रिण 'तु' है। इत्यन्तर प्रवृत्ति के मन्त्रि मन्त्रिण से चार पूर्व हो जाने हैं इसी आधार पर—'अनुग्रह' या 'हृत्' मन्त्र' इन अनुग्रह का सम्बन्ध हुआ है। प्रवृत्ति का 'तु' रूप अक्षय्य' ब्रह्मणा है। 'तु' रूप प्राण ब्रह्मणा है 'तु' रूप 'पशु' ब्रह्मणा है एवं 'तु' रूप अक्षय्य ब्रह्मणा है। अक्षय्य परमात्मवृत्त है परी शक्तिप्राण पर शान्ति है, निरवृत्ति है शान्तात्म्य है। अक्षय्य अक्षय्यगुण अक्षय्य है प्राण्य अक्षय्यगुण अक्षय्य है पशुय्य विचार अक्षय्यगुण पर है। अक्षय्यगुण (विद्युत् अक्षय्य) ही अक्षय्यगुण है जो निरवृत्ति निरवृत्त परमात्मा है अक्षय्यगुण परी विद्युत् अक्षय्यगुण बुद्धियोग का अनुग्रही है। अक्षय्यगुण आध्यात्म अक्षय्यगुण परी अक्षय्यगुण का अनुग्रही है। अक्षय्यगुण प्राण्य अक्षय्यगुण परी अक्षय्यगुण का अनुग्रही है। इत्यन्तर प्रवृत्ति के चारों में एक ही योग के चार विभक्तियों हो गयीं हैं। अक्षय्यगुण ही अक्षय्यगुणों में अक्षय्यगुणों हैं। अक्षय्यगुण ही अक्षय्यगुणों ही अक्षय्यगुणों हैं।

८-भूत-मवत्-मविष्यत्-इति सर्वमोद्धार एव—

आत्म-प्राण-पशुचर्म प्रसात्त्वम्' ही प्रजापति का त्रिपिक लक्षण है। इदमप्य उच्यमान आत्मा है, इदमप्य उच्यमान से सम्यक्ता विनिर्गत चर्म (आत्मरश्मि) प्राणाः' है। प्राणरूप अर्धमण्डल में मूक्त परिग्रह पशु है। इदमप्यविक्षिप्त क्लेशद आत्म्य, मण्डलामुक्त क्लेशद प्राण तत्रमुक्त क्लेशद परिग्रह, तीनों प्रजापतिरत्नविषी लक्षणमत्र के कारण मृत्युमात्रा है। तीनों मृत्युमात्राओं का आपारभूत अक्षयद-अमयवत्त किशुमा अमृतमात्रा है, यही द्वीपमत्र है। यही चतुष्पद्ममत्र का प्रणवत्त है। तृतीय अमात्र-लक्षण अक्षयवत्त अर्धमात्रा है, आत्मा अकार है प्राण उकार है, पशु मकार है, समष्टि ओद्धार है, यही म्ने- है, जिसे सङ्कीर्ण नाममत्र नाम से व्यक्तित किया करते हैं। निम्न लिखित भुक्तिर्वा आत्मप्रजापति की इत परवत्पति का ही स्वीकरण कर ली है—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य' प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्त अनुविप्रयुक्ता ।

क्रियाम् शास्त्राम्पन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते च ॥१॥

श्रग्मिरंश, यजुर्मिरन्तरिंशं, स साममिर्यत् तत्कवयो वेदयन्त ।

समोद्धारैस्त्रैवायतनेनान्वेति विशान्—

यद्यत्-शान्तमज्जरममृतममयं परं (अन्यप) चेति ॥२॥

—प्रनोपनिषत् १६, ७, १

“ओमित्येवद्वारमिदं सर्वम् । तस्योपध्याख्यान-भूत, मवत्, मविष्यदिति सर्वमो-
द्धार एव । वक्षान्यत् त्रिकालाति तदप्योद्धार एव । सव्यं द्वैतज्ञान । अयमात्मा प्रद ।
सोऽयमात्मा चतुष्पात्” ॥३॥

—मायङ्कयोपनिषत् १, २, १

९-आचपन-अभाद, आर अमयद—

भोक्ता ही प्रजापति है। भोक्ता प्रजापति की स्मौललिष्टि के लिए भोग्यपत्न, भोक्ता, भोग्य, इन तीन मातों में परिग्रह होता पड़ता है जो तीनों मात कसण आचपन, अन्ना, अन्न, इन मातों से व्यष्टित हुए हैं। भित पर प्रतिष्ठित होकर भोक्ता भोग करता है, वह आत्मरूप आपत्न ही भोग्यपत्न है। यही आवागतामा 'व' मत्र है, यही प्रजापति का उच्यमानपत्न पहला आत्मरूप है। स्वप्नमायक आपत्न में प्रतिष्ठित होकर अन्न के साथ समय करने वाला अन्ना ही प्राण है। यही अन्नरूप मन्त्राचन से समय करने वाला 'व' मत्र है, यही प्रजापति का अर्धलक्षण दुसरा प्राणरूप है। स्वप्नमायक अन्नामत्र की हीना में प्रतिष्ठित अन्न ही पशु है। अमादमत्र के पुन का आपत्न बना हुआ यही पशु 'म' मत्र है, यही प्रजापति का परवृत्तिलक्षण तीसरा पशुपत्न है। ल-र-क इन तीनों पत्नों को करने पानक परात्म पर प्रतिष्ठित करने वाला अमयमत्र नामक चौथा वपत्नरूप ही प्रजापतिरूप का चौथा पत्न है। इत्यकार प्रजापतिरूप चार पत्नों से मिल चुका रहता है। आपत्निक अट पत्न इत्यकार प्रजापति है। अन्ने के अमय, आत्मा, प्राण पशु इन चारों पत्नों का उपनय है। प्रत्येक प्रजापति के ये चारों पत्न अमय-भुक्ति-दान-मरिद-वर्ध-

योग के आधाररतम है । फलतः अधिदेव गूटेना के गर्न में प्रक्षिप्त आध्यात्मिक गूटेना के अक्षर-
प्राबास्यसंख्याओं के मे से योगवृद्धि के भी बात ही विवत हो बाते हैं । प्रकृत परिच्छेद में इन्हीं आटी
योगविवर्तों का दिग्दर्शन करना है * ।

१०-पुत्रपरिग्रहावच्छिन्न आत्मप्रजापति—

पूर्वतम में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मायादि पुत्रपरिग्रहों के अन्तर्गत् से ही 'लक्ष्मीनामक अक्षर-
विशालीत-परास्यजघ को आत्मन्वी (प्रजापति) बनना पड़ता है । मायापरिग्रहयुक्त बही लक्ष्मी परास्य
है अज्ञानपरिग्रहयुक्त बही मायी परास्यर पोडरी है, गुणपरिग्रहयुक्त बही पोडरी अक्षय्यतगमित महानात्मा है,
विचारपरिग्रहयुक्त बही महानात्मा विज्ञानरूपमित महानात्मा है, अज्ञानपरिग्रहयुक्त बही प्रज्ञानात्मा शारीर-
आत्मा है एवं आचरणपरिग्रहयुक्त बही शारीरआत्मा मूलआत्मा (शरीर) है । मायापरिग्रहावच्छिन्न बही तल
ईश्वरीय गूटेना है अज्ञानपरिग्रहावच्छिन्न बही तल बीजानुगत प्रत्यगात्मा है । गुणपरिग्रहावच्छिन्न बही तल
अक्षय्यतगमित महानात्मा है । विचारपरिग्रहावच्छिन्न बही तल विज्ञानरमित महानात्मा है । अज्ञानपरिग्रह-
वच्छिन्न बही तल शारीरआत्मा है । एवं आचरणपरिग्रहावच्छिन्न बही तल मूलआत्मा है । आचरण मूलआत्मा
विश्वप्रजापति है अज्ञान शारीरआत्मा विरहोपजापति है अविचार विज्ञानरमित-महानात्मा अक्षय्यतगमित है
लक्ष्मी अक्षय्यतगमित महानात्मा लक्ष्मीप्रजापति है लक्ष्मी प्रसन्नता अनृत प्रजापति है, एवं मायी परास्यर
लक्ष्मीप्रसन्नता है । यही आध्यात्मिक पूर्वतमत्व का वृत्त दृष्टिकोण है किन्तु अविद्ययोगपरिष्ठा में भी विस्तार
से विरहोपय हुआ है

११-ब्रह्म, आर कर्म-परिमाणा—

मक्तियोगपरिष्ठा से अन्तर्गत करने वाले दृष्टिकोण के अनुसार अक्षय्यतगत्या में किन बात अक्षय्यतग्यों
का अग्र हुआ है उनका प्रकृत दृष्टिकोण के अनुसार आर ही पक्षों में अन्तर्गत किया जा सकता है । एवं यही
अक्षय्यतग्यों की योगधर की दार्शनिक योगवृद्धि की मूलप्रतिष्ठा है । विद्यन-स्वीकरण से पहिले हमें
प्रज्ञान योग-तल की मौखिक परिमत्या का अन्तर्गत कर लेना चाहिए । 'ब्रह्म का कर्म के लय होने बाता
(यत्न बाता) अन्तर्गत ही योग है । एवं यही दार्शनिक योग की मौखिक परिमत्या है, जिसे आधार मान कर ही
हमें प्रकृत स्वतन्त्र का अन्तर्गत करना है । 'कर्मरमित ज्ञानतन्त्र ब्रह्म शब्द का परिम्याधिक अर्थ है, एवं
'ज्ञानरमित क्रियातन्त्र' कर्मरमित का परिम्याधिक है । पूर्व के किन अक्षय्यतग्यों का अक्षय्यतग्योपल हुआ है
उन तल के लय ब्रह्म-परिमाणा पणित है अक्षय्यतग्य इन तमी अक्षय्यतग्यों को 'ब्रह्म' कहा जा सकता है । 'ब्रह्म'
नामक 'न आत्मपक्षों की को स्वाभाविक क्रिया है बही इतना कर्म है । इन कर्मों के लय बाटी (अक्षय्यतग्यों)
का को स्वाभाविक अन्तर्गत (योग) है बही 'आत्मयोग' (आत्मा के लय-ब्रह्म के लय-क्रिया का योग)
योग है बिल्के अक्षय्यतग्य-आत्मयोग से आर विवत हो बाते हैं ।

* अक्षय्यतग्यों में ईश्वरीय गूटेना का प्रत्यगात्मा में अक्षय्यतग्य का महानात्मा में, विज्ञान का मूल
आत्मा में अन्तर्गत करने हुए अक्षय्यतग्यों में ५ ही योगों का विरहोपय हुआ है । प्रकृत में तल की अक्षय्य-
वृत्त विवद्या हुई है बिल्के लय आर विवत हो बाते हैं ।

१२—सहजसिद्ध कर्मयोग, और कर्मयोगपरिमापा—

यद्यपि आध्यात्मिक कर्म—कृशाप की दृष्टि से सभी आत्मपर्व ज्ञानप्रधान हैं, अतएव उन सभी को 'ब्रह्म' कहना अन्वय्यं बनता है। तथापि इन आत्मपर्वों के आपेक्षिक समतुल्यता की दृष्टि से इनमें ज्ञान—कर्म—मक्ति—बुद्धि—मात्रों का तात्त्विक उपपन्न बन जाता है। एवमात्र इसी आधार पर आत्मपर्वसमूहकी के आधार पर योगसमूहकी का आविर्भाव सुसम्भित बन जाता है। विज्ञानात्मा से नित्य संश्लिष्ट प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रिय-मन) नामक 'प्रज्ञानब्रह्म' का विकासचेत्र इन्द्रियप्रामाणुगत मूक्ष्यम (बाह्य विषय) है। मत्प्राम (संश्लिष्ट विषय) द्रव्य है। गुणसमष्टि द्रव्य है (गुणकूटो द्रव्यम्)। क्रियास्तान ही गुण हैं X। फलतः मूक्ष्यम का कर्ममपत्त्व मज्जीमति सिद्ध हो जाता है। वृत्ते शब्दों में भी कहना चाहिए कि प्रज्ञानब्रह्म के आधारमत्त्व मौक्तिक क्रियों में ज्ञानमात्रा (चिदंश) आत्यन्तिकरूप से अभिभूत है। यहाँ केवल कर्म का ही सात्त्विकत्व है। अतएव मत्त्वगुण प्रज्ञानब्रह्म साध्य, एवं साधनतः उभयथा मत्त्वगुण ही बना रहता है। प्रज्ञानगत चिदंश से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान भी मत्त्व के प्रमथ से प्रभावित होता हुआ आधिभौतिक है एवं प्रज्ञानगत क्रियामाग भी मत्त्वमात्र से सर्वथा आच्छन्त है। प्रज्ञान का ज्ञान (मानस ज्ञान), और प्रज्ञान का कर्म (ऐन्द्रियक कर्म) दोनों मत्त्वगुण बनते हुए आधिभौतिक हैं। साधन भी आधिभौतिक है साधनद्वारा प्राप्तम्ब, एवं प्राप्त फल भी आधिभौतिक ही है। यही कर्मयोग की सुपरिचित परिभाषा है, जिसका 'कर्मयोग-परीक्षा' में अनेकरथा विस्तारपूर्वक किया जा चुका है। इसी आधार पर विज्ञानसम्परिष्कृत प्रज्ञानब्रह्म के साथ पुनः कर्म को हम 'कर्मयोग' कह सकते हैं। यही पहिला प्राकृतिक योग है, जिसे साम्प्रदायिकमतमया मत्त्वप्रधान होने से वैज्ञानिक लोग 'कर्मयोग' नाम से व्यक्तित किया करते हैं। आहार—निद्रा—भय—मैयुनादि प्राकृतिक ऐन्द्रियक कर्म ही प्राकृतिक कर्मयोग है जो सबसाधारण में समानरूप से प्रवाहित है। इस दृष्टि से प्राणिमात्र कर्मयोगी हैं, कर्मठ हैं। ये सब कर्म अत्याक्यकर्म हैं। इनका परिच्छाग सर्वथा अशक्य है। क्योंकि आहादि ऐन्द्रियक कर्मों के बिना कोई भी प्राणी अपना जीवन सुवर्धित नहीं रख सकता। इसी अरथाक्य कर्मों को सब में रखते हुए मगवान् ने कहा है—'अप्यंते ह्यपरा' कम्म सर्पा प्रकृतिजे-सुखे'। कर्मयोग की यही सदा परिभाषा है जिसके आधार पर कृत्रिम (शास्त्रीय) कर्मयोग का मातृमंत्र हुआ है।

१३—मक्तियोग की तात्त्विक परिमापा—

वृत्त मक्तियोग—चेत्र है जिसका अक्षय्यतासमर्गित महानात्मा से सम्बन्ध बतलाया गया है। स्वायम्भुव अक्षय्यकारमा को स्वर्गमें प्रतिष्ठित रखने वाला पारमेष्ठ्य महानात्मा बीजातुगत—पांडुराकृत मूत्रेत्मा की अपेक्षा यद्यपि मत्त्वमिच्छु बनता हुआ आधिभौतिक परिच्छा से वेष्टित माना जायगा। तथापि विज्ञानात्मसम्परिष्कृत प्रज्ञानात्मपरिच्छया चिदंश से अधिक मात्रा से विकसित रहने के कारण इसे आधिभौतिक सम्पत्ति से भी वृत्त न किया जा सकेगा। और इस दृष्टि से महानात्मपर्व में आधिभौतिक (ज्ञान) आधिभौतिक (कर्म) दोनों सम्पत्तियों का सम्बन्ध माना जायगा। ईश्वरीय मूत्रेत्मा, तथा बीजातुगत मूत्रेत्मा, दोनों ही इसी महत्त्व

× गुममूर्त्तरवयो' समूह' क्रमवन्ननाम् ।
 पुदया प्रकम्पिताऽमेद क्रियेति व्यपहृश्यत । (वाक्यनदी)

में सम्मिलित हैं। इष्टीयत् इतमें ईश्वरानुगत आधिदैविक भाव का विकास स्वामाजिक है। इस विकास की मूलप्रवृत्ति काय है मध्यम्वर और विज्ञानात्मा को प्राथमिक विषय के आधिभौतिक प्रपञ्च, तथा आधिदैविक विषयों का विभाजक माना गया है। पार्विय मौरिक विषय, 'बान्द्रविषय' दोनों की समष्टि आधिभौतिक है। पापेक्ष्य, और स्वयम्भुव विषय आधिदैविक हैं। और विषय दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। अथवात्प में स्वयम्भुव अथवात्पत्मा, पारयेक्ष्य महानात्मा, दोनों आधिदैविक हैं। बान्द्र प्रज्ञानात्मा पार्विय शरीर, और मूलात्मा आधिभौतिक हैं। और विज्ञानात्मा दैविक-भौतिक दोनों विषयों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ उभयवर्ण्यमान्य है। प्राणिभूति में से केवल मानवव्यवस्था में ही इस उभयवर्ण्यमान्य विज्ञानबोध (बुद्धि) का विकास रहता है। मनुष्येतर प्राणियों में भी विज्ञानात्मा रहता अल्प है। परन्तु उनका विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा के अन्तर्गत बना रहता है। अतएव उनमें प्रज्ञानात्मानुगत आहार मित्रा मन मैयुन लक्ष्य लक्ष्य कर्म बला का ही विकास रहता है। उनकी बुद्धि प्रज्ञानमन में ही आहुत रहती है। महानात्मात्प से उनकी बुद्धि का उर्वरमान्य आधिदैविक भाव अमिमूत रहता है। इतर मनुष्य-प्राणी में विज्ञानात्मा का प्रज्ञानात्मा पर शक्त रहता है। इस शक्त से इच्छा कर्मात्मा ईश्वरीय गूणानुगत महानात्मा का ही अनुगामी बना रहता है। अतः प्रज्ञानानुगत भौतिक विषय के साथ मानवीय बीजात्मा महानात्मानुगत आधिदैविक विषय का भी मोक्षा बना रहता है। किन्तु मनुष्यों का विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मात्प से केवल भौतिक विषयों का अनुगामी बना रहता है। बुरे शक्तों में किन्हीं बुद्धि महान के प्राकृत्य से केवल भौतिक-ऐन्द्रिय-निरासों में ही अल्पमहामय्य किय रहती है उन लौकिक-महाकाठ मनुष्यों में पशु-पक्षी आदि अल्प प्राणियों की अपेक्षा अल्प क्रोधा नहीं रहती। ऐसे बन्धन मनुष्य 'आहारनिश्रामसमैधुनश्च सामान्यमेतत्-पशुभिर्नर-पशुम्' के अनुसार पशुओं से अल्पकृत रहते हुए केवल आधिभौतिक कर्मबोध के ही अधिकारी बने रह जाते हैं। ऐसे लौकिक मनुष्यों में आधिदैविक ईश्वरीय शक्ति का विकास नहीं होने पत्ता। अतः, वरमात्मा, लक्ष्य अर्थिय ईश्वरव्यवस्था आदि दिव्यभूमि में से ऐसे पशुमानवर्ण्य लौकिक मनुष्य बन्धित रहते हैं। महानात्मा के मम में प्रतिष्ठित ईश्वरीय मम आधिदैविक है। भौतिक लक्ष्यों के द्वारा बीजात्मा का इस ईश्वरीय भाव के साथ रहने वाला स्वाभाविक बला ही महिबोध है। इस बोध का विकास बुद्धिविकास पर ही अल्पकृत है। बुद्धिविकास बुद्धि के उर्वरभाग में प्रतिष्ठित आधिदैविक महत्त्व के लभाव पर ही निर्भर है। इसी आधार पर महिबोध में लक्ष्य आधिभौतिक, तथा लक्ष्य आधिदैविक माने गए हैं। विज्ञानस्यरिष्यत् प्रज्ञानबोध बड़ा कर्मयोग का अनुगामी है वहाँ अल्पकर्मनिष्ठ महत्त्व विज्ञान-विकास-द्वारा उभय मन्वानुगत बना हुआ महिबोध का अनुगामी है वही निष्कर्ष है।

१४-ज्ञानयोगपरिमाया—

लक्ष्य ज्ञानयोग क्षेत्र है किन्तु आध्यात्मिक बीजात्मात्प से लक्ष्य कलात्प गवा है। बोधशक्त-आध्यात्मिक बोधही अल्पव्यवधान है। अल्पव्यवधान किन्तु आधिदैविक है। कर्मात्प यहाँ कर्म अल्पकृतकर्म में अमिमूत है। किन्तु लक्ष्य विज्ञानबोध का इस अल्पव्यवधान के साथ बला हो जाता है उस लक्ष्य विज्ञानबोध का आधिभौतिकानुगतत्व एवात्पत्प अमिमूत हो जाता है। किन्तु आधिदैविक [ज्ञान] लक्ष्य क्षेत्र रह जाती है। ऐसे विज्ञानबोध के लक्ष्य-भाग अल्पव्यवधान के साथ होने पत्ता कर्मयोग का स्वामाजिक बला ही 'ज्ञानयोग' माना गया है। किन्तु लक्ष्य, और लक्ष्य दोनों ही आधिदैविक माने गए हैं। वही शारीरिक परिभाषा में

निवृत्तिमार्ग कहलाता है। गीता के शब्दों में यही सुप्रसिद्धा ज्ञानयोग है। संख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) विशुद्ध निवृत्ति-पथ है, योगनिष्ठा (कर्मयोग) विशुद्ध प्रवृत्तिपथ है, मक्तिनिष्ठा (मक्तियोग) उभयपथ है।

१५—सर्वज्ञेय-श्रेष्ठ-बुद्धियोग की परिभाषा—

मीमांसा करने पर पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, उक्त छीनों ही योगों में अष्टाष्ट-बीवम्बापार समाविष्ट है जो 'वानरशिगु' से सम्बन्धित है। अपने प्रयास से ईश्वरमात्र का अनुगमन करना, एक पथ है। अपने आपको सर्वथा निर्भर्यार बना कर ईश्वरमात्र के आचार पर निरवलम्ब बने रह जाना, एक पथ है। पहिले दृष्टिकोण का 'वानरशिगु' से सम्बन्ध है। वानरी का बच्चा उसकी छाती से प्रयात्पूर्वक संलग्न रहता है। वानरी इत्स्त अनुभावन करती रहती है बच्चा प्रयात्पूर्वक इसे पकड़े रहता है। योड़ी मी अठावधानी करने पर बच्चा अपने सर्वनाश को निमन्त्रण दे सकता है। उक्त छीनों योगों का इसी दृष्टान्त से सम्बन्ध है। कर्म-मक्ति-ज्ञान छीनों ही योगों में बीवत्मा को स्वयं सावधानी रखनी पकती है। योड़ी मी अठावधानी से बीवत्मा का पतन आकर्यमात्री बन जाता है। इस दृष्टिकोण 'मायीरशिगु' से सम्बन्ध रहता है। कित्ती का बच्चा अपनी ओर से सर्वथा निर्भर्यार है। कित्ती अपने मुल में लेकर उसे बड़ी ले जाती है, वही वह बला जाता है। उसे अपनी ओर से कोई ब्यापार नहीं करना पक्या। ठीक एसीप्रकार अपने आपको ईश्वरमात्र के आचार पर निरवलम्ब छोड़ देना वृत्त दृष्टिकोण है। "ज्ञान-मक्ति-कर्म, कित्ती का मी अमिनिवेश नहीं। बैरा ब्र करता है, हो रहा है। जो वह कर रहा है वह कर रहे हैं"—इस बुद्धि से अपने समस्त आर्य्यकषाप का उठ पर छोड़ देना ही वृत्त दृष्टिकोण है। न बर्ही प्रवृत्ति है, न निवृत्ति। न इस पथ को ज्ञानयोग कहा जा सकता न कर्मयोग माना जा सकता, एवं नारी मक्तियोग ही कहा जा सकता। यदि कहा जा सकता है, तो सभी कुछ। क्योंकि ईश्वरमात्र के प्रति अनन्यनिष्ठा से अक्षमसम्पण करने वाले ऐसे योगी को ज्ञान-मक्ति-कर्म सभी सम्पत्तिवाँ स्वतः प्राप्त हो जाती है। मायी परत्परत्तब्रह्म ईश्वरब्रह्म ही इस सर्वज्ञेय-श्रेष्ठ-योग की आचारम सि है। ईश्वरब्रह्म 'समग्रह' है। प्रवृत्ति-निवृत्ति-पथों से सम्बन्ध रखने वाली विपत्तया का इस ध्येय में आत्यन्तिक आभाव है। अपनी बुद्धि को इस समग्रह के प्रति समर्पित कर देना ही सम-ब्रह्म है। यही समत्त्वयोग गीताशास्त्र का सर्वगुण्य, 'बुद्धियोग' है। यही चौथा बुद्धियोगवेद है। बिस्ने कोर्य छाजन नहीं, कोर्य छाप्य नहीं। यदि है तो सभी छाजन और सभी छाप्य—'सत्साधोयोगी भवार्जुन'। यही कर्मकोशाल है यही मक्तिकोशाल है यही ज्ञानकोशाल है। कोशाल ही बुद्धियोग है। बिना इसके विशुद्ध प्रवृत्तिपथ (कर्मयोग) बनन का कारण है, उभयपथ (मक्तियोग) अमिताजनक है, निवृत्तिपथ (ज्ञानयोग) आनन्दशास्त्रक है, छाप ही शोकधर्महृत्वन अतएव भाग्याचार्य की दृष्टि से सर्वथा स्वान्य।

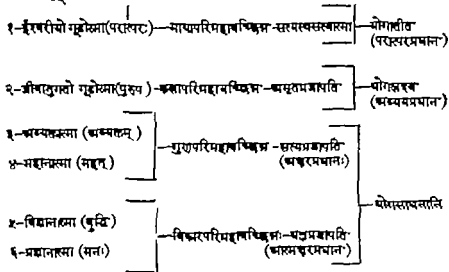
१६—योगानुगत अवधेय दृष्टिकोण—

निष्कर्ष यही हुआ कि मायीपरत्तर (ईश्वरब्रह्म) योगमात्री बीवाम्य, आर्य्यकर्मित महानात्मा विज्ञानसम्पत्तिप्रकृत महानात्मा, इन चार आम्भोशिमक ब्रह्मी के आचार पर कर्मया बुद्धि-ज्ञान-मक्ति-कर्म, प चार योग प्रतिष्ठित है। ब्रह्मचरुष्टका के आचार पर प्रतिष्ठित योगचरुष्टकी का यही प्राकृतिक दृष्टिकोण है। बिस्ने के लक्ष्य और इत्थिम, दो दृष्टिकोणों का प्रवृत्त में होने विभ-पण करना है। बिस्नेपल से पहिले पाठकों को इस दृष्टिकोण पर मी विरोपरूप से आलस हो जाना आर्य्यक बुद्धियोग का प्रधानतः महामात्री परत्तर से ज्ञानयोग का योगमात्री बीवाम्य से मक्तियोग का आचर से, एवं कर्म योग का आचार से सम्बन्ध है। विज्ञानसम्पत्तिप्रकृत

प्रज्ञानब्रह्म आत्मसङ्ग्रहणान है, यही विकारपरिग्रह के द्वारा 'वक्ष्यप्रजापति' बनता हुआ चक्रियारूपप्रति है, यही कर्मयोगप्रतिष्ठा है। अल्पकर्ममित महद्ब्रह्म अक्षरप्रधान है यही गुणपरिग्रह के द्वारा 'कल्पप्रजापति' बनता हुआ कल्पप्रजापति है यही मक्तिभोगप्रतिष्ठा है। योगमाहात्म्यिदम अल्पकर्म अल्पप्रधान है, यही कलापरिग्रह के द्वारा 'अमृतप्रजापति' है यही ज्ञानभोगप्रतिष्ठा है। महामाहात्म्यिदम परस्परब्रह्म परस्पर (विभ्रातीत परस्पर) प्रधान है, यही मायापरिग्रह के द्वारा 'कल्पस्य कल्पान्मा' (केवल आत्मा, ननु आत्मन्वी) है, यही बुद्धियोगप्रतिष्ठा है। अत्मा, और आत्मन्वी के स्वरूप में क्या अन्तर है? परन्तु वा क्माभान पूर्व में किञ्च वा युध्य है। मक्तिपरीक्षागुण इष्टिकोष्ठ के अनुसार यहाँ आध्यात्मिक आत्मपर्व ८ भागों में विभक्त है, यहाँ मद्ध बुद्धि-योगपरीक्षागुण इष्टिकोष्ठ के अनुसार आध्यात्मिक पर्वों को ४ भागों में विभक्त कर इनके आचार पर चार भोग प्रतिष्ठित मानों का लक्ष्य है। प्रत्येक ब्रह्म में परस्पर-अध्यय अक्षर-आत्मसङ्ग्रह, चारों का उपभोग है। अतएव प्रत्येक प्रधान योग के गर्भ में चारी योगों का अन्तर्भाव होता है। क्लृप्त चार के टोलह भोग हो जाते हैं। योगेश्वर योग्यकल है तो उसके भोग भी १६ ही हैं, किन्तु मक्तिभोगपरीक्षा में क्मान्तर से भिन्नोपय हुआ है। लोह योगों के आगे आकर छद्म, कृत्रिम से से दो विकल्प हो जाते हैं। दोनों में से स्वयंभोग उपदेश है, एवं कृत्रिमभोग त्याग्य है। दोनों विकल्पों के स्पष्टीकरण से पहिले परिशोध-द्वारा प्रतिपादित इष्टिकोष्ठों को हृदयकर्म कर लेना चाहिये। क्योंकि इन्हीं के आचार पर भोग का दार्ष्टिक स्वरूप अवलम्बित है।

मक्तिभोगपरीक्षागुणो इष्टिकोष्ठ—

“तत्”



७-शरीरकल्मा (शरीरी)]—असुखपरिमहावच्छिन्न-विराट्प्रजा- पति (भिकारिकसरप्रधान)	} योगानुष्ठाना योगाभवनम्
८-मूलात्मा (शरीरम्)		



“तत्”

१-परस्पर]—अमृतत्मा “तदेवामृतमुच्यते”
२-गुरुणा	

१-अव्यक्तम्]—प्रकाशमा-“तत्प्रकाशम्”
२-माहत्	
३-बुद्धिः	
४-मनः	

१-शरीरी]—शुक्लत्मा-“तदेव शुक्लम्”
२-शरीरम्	



प्रकारान्तरेण प्रकृतदण्डिकोशाजगत परिच्छेदाः—

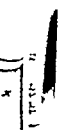
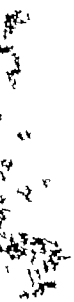
१	पठकः	पद्मसूत्रा	पठकसूत्रान्तः	+	+	+	+	(पठकपठकः)	—दुष्टियोगाव्ययः (५)
२	अपठकः	"	"	+	+	+	+	(अथवापठकः)	—ज्ञानयोगाव्ययः ६ (१)
३	अध्यापकः	"	"	+	+	+	+	(अध्यापकः)	—मनिसंयोगाव्ययः ७ (२)
४	आत्मबोधः	"	"	+	+	+	+	(आत्मबोधः)	—कर्मयोगाव्ययः ८ (१)
१	पठकः	दीक्षाया	अथवापठकः	+	+	+	+	(पठकपठकः)	—दुष्टियोगाव्ययः ९ (५)
२	पठकः	"	"	+	+	+	+	(अथवापठकः)	—ज्ञानयोगाव्ययः (१)
३	अपठकः	"	"	+	+	+	+	(अध्यापकः)	—मनिसंयोगाव्ययः ८ (२)
४	आत्मबोधः	"	"	+	+	+	+	(आत्मबोधः)	—कर्म योगाव्ययः ८ (१)
१	सोपान	अथवापठकः	अथवापठकः	+	+	+	+	(सोपानपठकः)	—दुष्टियोगाव्ययः ९ (५)
२	अथवापठकः	"	महात्मा	"	"	"	"	(अथवापठकः)	—ज्ञानयोगाव्ययः ६ (१)
३	अथवापठकः	"	सौम्यशला	"	"	"	"	(अथवापठकः)	—मनिसंयोगाव्ययः (२)
४	अथवापठकः	"	सुख-योगः	"	"	"	"	(आत्मबोधः)	—कर्म योगाव्ययः ८ (१)
१	पाठ्यपुस्तकः	विज्ञानसूत्रा	अथवापठकः	+	+	+	+	(पाठ्यपुस्तकः)	—दुष्टियोगाव्ययः ९ (५)
२	विज्ञानसूत्रा	"	अथवापठकः	"	"	"	"	(अथवापठकः)	—ज्ञानयोगाव्ययः ६ (१)
३	अथवापठकः	"	अथवापठकः	"	"	"	"	(अध्यापकः)	—मनिसंयोगाव्ययः (२)
४	अथवापठकः	"	अथवापठकः	"	"	"	"	(आत्मबोधः)	—कर्म योगाव्ययः (१)

—विद्ययापठकः सा पठकपठकः पुराणः
—दुष्टियोगाव्ययः (५)

—विद्ययापठकः सा पठकपठकः पुराणः
—ज्ञानयोगाव्ययः (६)

—मनिसंयोगाव्ययः (२)
—अथवापठकः सा पठकपठकः

—अथवापठकः सा पठकपठकः
—कर्मयोगाव्ययः (१)



(● कर्मात्मिकाकर्मयोगचतुष्टयी प्रथमा)

१७-ब्राह्मय अर्थयोगानुगत लौकिक कर्मयोग-(अमकर्म)-(१)-

मक्तियोग-परीक्षा पूर्वलयक के-प्राकृतिक योगत्रयी के आधार पर व्यावहारिकी योगत्रयी का विच्छेद पामक परिच्छेद में ज्ञान-मक्ति-कर्मयोगी का विस्तार से विच्छेदय किया जासुका है। इसके अतिरिक्त मक्तिपरीक्षा-उत्तरपरक के-उपासनास्वरूपनिर्बचन' (१-१४८) नामक प्रकरण में उदाहरणों के द्वारा योगत्रयी के सहज तथा कृत्रिम मार्गों का स्वीकरण किया जासुका है। पाठकों से अनुरोध है कि प्रकृत प्रकरण-समन्वय के लिए वे एक बार मक्तिपरीक्षा के उक्त दोनों स्थलों पर अवश्य दृष्टि डालें।

कहाया गया है कि विज्ञानसम्परिष्कृत महानात्मा के आधार पर कर्मयोग प्रतिष्ठित है। विज्ञान-नात्मा के आत्मचरानुगत व्योक्तिर्माण से सम्प्लित रहतु हीर गीमाय से सम्प्लित अद्याभाग को मूल बना कर मनुष्य को कर्म करता है, वही विज्ञानमाया में अम' बदलाया है। शास्त्रविद्या से वञ्चित, यथावत लौकिक मनुष्य अपनी जीवनमात्रा के निर्वाह के लिए अम' संकट इसी लौकिक कर्म के अनुगामी बने रहते हैं। अहोरात्र के २४ घण्टों में ८-१० पक्ष्य शारीरिक अमहाय अर्थोपात्रन करना तद्द्वारा आहारदि की चिन्ता से त्राण पाना शेष समय में निद्रा, पहरकर्मसंलग्नता, आदि का अनुगमन करना ही देने लौकिक पुरुषों का परम पुरुषार्थ है। सहजमायानुसार इन अमबीवियों को हम 'अमिक' (मजदूर) कह सकते हैं। इनके जीवन में विद्युद आधिभौतिक होते हैं एवं व्यथ-नल-मी विद्युद आधिभौतिक ही रहता है। 'अपना, और अपने परिवार का पेट पालना' ही इनके जीवन का मुख्य उद्देश्य है। व्यक्तिगत स्वार्थ से सम्बद्ध अमलक्षक ऐसा कर्म विद्युद पशुधर्म माना गया है। क्योंकि इस कर्म में पशुधर्म की अपेक्षा कोई वैशिष्ट्य नहीं है। जो महापुरुष अपने आप को शिक्षित समझते हुए अमलक्षक कर्म के अनुगामी बनते हुए आत्मा गमाव उद्गम्युक्त की माधनाओं से वञ्चित रहते हैं, उनके कर्म का मुख्य लक्ष्य आहार-विशरामात्र रहता है जैसे शिक्षित माण्ड्याली। मी इसी कोटि में अन्तमुक्त है। मूर्खतमात्र की भाँति इनका कर्मकलाप मी पशुधर्म से ही सम्प्लित है। हाँ दोनों में यह अन्तर अवश्य है कि, मूर्ख अमबीवी सहज आत्मानुग्रह से बर्दा लक्ष्य-बर्दिगदि पुरुषमार्गों का प्रेमी, तथा अकल्प-रिच्छसि पाप्मामार्गों का भिद्येपी अन्ता हुआ अन्तः अनुगत रहता है वहाँ हमारे ये शिक्षित-सम्बद्ध अमबीवी स्वार्थसिन्धा की चरमसीमा पर पहुँचाने के लिए ध्यादि षिष्य मर्गों की अनुमात्र मी अपेक्षा नहीं रखते। इनके लिए वही लक्ष्य है, अलिके द्वारा वे परवहना-द्वारा स्वार्थताधन में संकलता प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से इन शिक्षित कर्मयोगियों! (अम-बीवियों) का स्थान अशिक्षित अमबीवियों की अपेक्षा निम्न धरज पर ही ठहरता है। विज्ञानसम्परिष्कृत महानात्मा के आत्मचरभाग से सम्बद्ध व्योक्तिर्गामित रहतु-अद्या के आधार पर प्रतिष्ठित कर्मात्मक कर्मयोग तथा कर्मयोगियों का वही संक्षिप्त विच्छेदय है। इसी को आत्मकला की दृष्टि से मन्वितयोगपरीक्षा में 'ब्राह्मय-अर्थयोग' माना गया है।

१८-प्रासमय क्रियायोगानुगत लौकिक मक्तियोग (संवाधम्म) (२)-

अदर का मक्तियोग से सम्बद्ध कलाया गया है। विज्ञानात्मा का आधुनिकय प्राण, तथा प्रशान-पारमा का यशोलाक्ष्य प्राप्त, दोनों आधुनिकय हैं। आयुप्राणगमित यथाभाय को मूल बनाकर मनुष्य को कर्म करता है, वही विज्ञानमाया में 'अप' बदलाया है। शास्त्रज्ञान से वञ्चित, किन्तु शास्त्रनिर्भी

के लक्षण से अंशतः ज्ञानमात्रा से कुछ लौकिक मनुष्यों का वह कर्म,—जिसमें शारीरिक इन्द्र के साध-स्य प्रत्यात्मिका अवस्थानाद्य (खरपानी) का भी समावेश रहता है—'तप' कहलाया है। विशुद्ध अमबीनी वहाँ मन्वुर हैं वहाँ तप कर्मनिवासी विभाग को 'सेवक' कहा जाएगा। सेवाधर्मपरायण व्यक्ति को आधिरैतिक ज्ञान का भी उपयोग करना पड़ता है। आधिमौलिक कर्म और आधिरैतिक तप, दोनों के समन्वय से ही होने इन्द्र 'मन्त्रियोग' कह सकते हैं। तत्काल उपयोग में भी धारण-सम्पन्न दोनों मौलिक ही हैं। अतः इसे कर्मात्मक मन्त्रियोग ही माना जाएगा। सुसम्पन्न-शिषित-सम्पन्न महातुमाओं की सेवा करने वाला मानवकर्मी एवंविध कर्मयोग का ही अनुवासी माना जाएगा। पुरुषार्थ वहाँ भी वैयर्थितक स्वार्थ ही रहेगा। कर्ममय युग में अधिशिषितों के अधिरिक्त कर्ममानशिष्या से शिषित महातुमाओं का पुरुषार्थ भी नहीं सेवाकर्म रह गया है। यदि एक पात्रर होने वाला मन्वुर दिनभर के परिभ्रमणफल अपना पारिभ्रमिक मानता है तो सेवाधर्मपरायण का मुख्य लक्ष्य भी मातृक वेदन ही बना रहता है। जिस सेवा का वह अनुष्णमी बना रहता है उस सेवाकर्म का सञ्चालक ही इन्द्र सेवक का उपास्य है इन्द्र शिष्य कि उल्टे अनुष्ण से इसके आहार-विहार मञ्चालित हैं। जो अन्तर अधिशिषित शिषित अमबीनी में बल्लामा गया है, वही अन्तर अधिशिषित-शिषित सक्क कर्म में समन्ता आहिए। शिषित सेवक की अपेक्षा अधिशिषित सेवक का ही शिष्य महत्व है। क्योंकि, वह आत्मसमर्पण-प्रक्रिया में शिषित सेवक की अपेक्षा शिष्योक्त से उच्छ्र हो जाता है। शिष्यसम्परिष्कृत प्रज्ञानात्मा के अक्षरमाग से सम्बद्ध आनुष्णिकमन्त्रित मन्त्र्याद्य के आचार पर प्रतिष्ठित कर्मात्मक मन्त्रियोग, एवं मन्त्रियोगियों का यही संक्षिप्त विवेक है। इसी को आत्मकलाशक्ति से मन्त्रियोग में 'प्राणमय-विष्णुभाग' माना गया है।

१६—मनोमय ज्ञानयोगानुगत लौकिक ज्ञानयोग (निरीक्ष्य)—(३)—

अध्यय का ज्ञानयोग से सम्बन्ध माना गया है। विज्ञानात्मा का उक्तकालक विदेशक विज्ञानमाग एवं प्रज्ञानात्मा का उक्तकालक विदेशक विज्ञानमाग दोनों विष्णु अध्यय से अनुपलब्ध हैं। विज्ञानगर्भित प्रज्ञान को मूल बना कर पुरुष को पुठवार्थ कहा है वही विज्ञानमाग में 'ज्ञान' कहलाता है। कर्मसम्पूत ज्ञान-शिष्यादि लौकिक कर्मों का वह परिकला, जो इन्द्रकर्म से कर्मों (मन्वुरों) का निरीक्षण करता है, तत्क्षिपक तत्क्षिपक ज्ञान से सुकत रहता हुआ जो स्वर्ग कर्म नहीं करता, अधिष्ठा कर्मकर्तारों का उच्चा-ज्ञक बनता है वही इन्द्र 'ज्ञान' नामक कर्म का अनुष्णक कहलाता है। इन्द्र धारण भी ज्ञानरूपेण ही अध्यय भी ज्ञानरूपेण है। ज्ञान आधिरैतिक तप है। अतएव कामप्रलक इन्द्र कर्मयोग को 'ज्ञानयोग' कहा जासकता है। आधिमौलिक आधिष्ठा करने वाले लौकिक ज्ञान-शिष्यादि का स्वहन से उच्चाज्ञान करने वाले लौकिक न्यायकाली का उच्चाज्ञान करने वाले इन्द्रादि लौकिककर्ता इसी अमलक्षण कर्मयोग के अनु-गामी माने जायेंगे। यद्यपि इनके निरीक्षण से अनेकों का स्वार्थरचन होता है तथापि इनका निरीक्षण-कर्म भी तत्काल कदाचि अधिष्ठात अधिष्ठात से ही सम्बन्ध रहता है अतएव पुरुषार्थरचना में ज्ञानयोगी भी अमबीनी, तथा सेवकर्म से ही सम्बन्धित हैं। वर्तमान 'निष्' पद का भी इसी योग में अन्तर्भाव है। आदेशमात्रों के सञ्चालक, लौकिकज्ञान (बाह्य) से विष्णुित नेतृर्ग विरोधता एवंविध ज्ञानयोग का ही उपासक है। विज्ञानसम्परिष्कृत प्रज्ञानात्मा के अध्ययमाग से सम्बद्ध विज्ञानगर्भित प्रज्ञान के आचार पर प्रतिष्ठित कर्मात्मक ज्ञानयोग का तथा ज्ञानयोगियों का यही संक्षिप्त विवेक है। इसी को आत्मकलाशक्ति से मन्त्रियोग में 'मनोमय-ज्ञानयोग' कहा गया है।

२०-आर्यदृष्टि, और मानव का वर्गीकरण—

पूर्वप्रदर्शित योगतयी का विस्तृत प्रत्यक्षदृष्टि, एवं तदनुगत बहिर्बंगत् से सम्बन्ध है। वैज्ञानिक-प्रत्यक्षदृष्ट मोक्षिक पदार्थों के आचार पर उन्हें ही खन्य बना कर मम-तपो-आम-शुद्धय कर्म्मसमक कम्म-मक्षि-हान-नामक लौकिक तीनों योग प्रतिष्ठित हुए हैं। मानवदृष्टि वहाँ तक टोक लगा सकती है, वहाँ तक शिवाय इन तीन मार्गों के किसी अन्य मार्ग का मानवमार्ग के सामने उपस्थित हो जाना अशक्य है। विज्ञानसम्परिव्यक्त प्रज्ञान से सम्बद्ध इन्द्रियों के द्वारा जीवकामना केवल बहिर्मुख ही बन सकती है। क्योंकि इन्द्रियों का आमिषुष्य बहिर्मुख बनना हुआ बाह्यबंगत् का ही अनुगामी है। जीवकामना का विनिगम हुआ प्रज्ञानसङ्कृत इन्द्रियों के द्वारा। इन्द्रियाँ बहिर्मुख थीं। उनके द्वारा जीवकामना को प्राप्त हुए बाह्य मोक्षिक विषय। इनके द्वारा इसकी जीवतयाथा का पशुधर्म की भाँति मशीमति सन्चालन होता रहा। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक-परोक्ष-अन्तर्बंगत् की ओर इसका ध्यान न गया, तो इसमें कीनता आरम्भ है। मानवदृष्टि के आरम्भकाल से आरंभ तक अधिक संख्या ऐसे ही मनुष्यों की है जो बाह्यदृष्टि के ही अनुगामी बने हुए हैं। 'परोक्षप्रिया इह हि देवाः प्रत्यक्षद्विप सिद्धान्तासुधार दिव' नामक प्राकृत प्राण प्रकृत्या परोक्षप्रिय हैं। प्राकृत-अन्तर्बंगत्-सो वैज्ञानिक बहिर्बंगत् का मूलाधार है-सर्वाथा परोक्ष है, अन्तमु ल है। बहिर्मुख इन्द्रियों के बाह्य विषयबाल में आरम्भ लौकिक मनुष्य अपनी लौकिक दृष्टि-हान-अनुभव से उसे जैसे देख सकता है।। देख सकते हैं वे सिकले पुरुषधर्म ही, बिन्दुओं अपने ऐन्द्रियक जीवन के संयम से इन्द्रियों को अन्तमु ल बना लिया है। ऐसे ही विष्णुव्या पुरय 'अग्नि कहलाये हैं, उन्हीं की दृष्टि आर्यदृष्टि' कहलाई है। यही आर्यदृष्टि 'परोक्षदृष्टि' मानी गई है। परोक्षदृष्टि के अनुग्रह से ही आर्यों की बुद्धि पर अन्तमु ल प्रयत्नता के परोक्षज्ञान का अनुग्रह हुआ है। प्रवगात्मा के स्थान होने वाले बुद्धि के अन्तर्वोग-शुद्धय बुद्धिवोग के प्रभाव से ही उन महामहर्षिर्षीं प्राणियों के अन्तमु ल परोक्षभाव का साक्षात्कार किया है। उसी साक्षात्कार के आचार पर उन्होंने उत्त-रत्त-स्तमोसुण-तारतम्य के द्वारा उत वर्धितव्य का परिचय प्राप्त किया है जो प्रकृतिभेद से व्यवस्थित है। यही वर्धित-वास्तविक भेद है जिसके आचार पर मानवतमाम का वर्गीकरण अपेक्षित है।

२१-अम्मसुगत सर्वमय लौकिक बुद्धिवोग (प्रवृत्तिप्रधान कर्म्म)—(४)

उक्त परोक्षदृष्टि के प्रभाव से उपनृत महर्षिर्षीं आधिभौतिक-प्रत्यक्ष-प्रपञ्च के मूलमूल आध्यात्मिक एवं आध्यात्मिक प्रपञ्च के मूलमूल आधिदैविक-परोक्ष-प्रपञ्च का साक्षात्कार किया। उसी के आचार पर उन्होंने मानवतमाम की परोक्ष प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले वर्ण-अवय-उत्त के आचार पर वर्ण-अवय-व्यवस्था स्थापित की। एवं तदनुगत ही मानवतमाम के लिए बुद्धिसङ्कृत विभिन्न कर्म्म-कर्म्मों की व्यवस्था की। आर्यदृष्टि के द्वारा सुम्भरिमत यही प्राकृतिक नियमवर्धित-वर्धित-कर्म्म 'तनस्तन-मानवकर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ जो सत्या प्रकृति के नित्य नियमों पर व्यवस्थित रहता हुआ उदात्त है उदात्त है शाश्वत है, अपरिषर्तनीय है। प्रकृति का ही नाम अन्तर्व्यापी है, अन्तर्व्यापी इत्य प्रहापति है, महापति

अपने हृ-द-य-मात्र से 'सत्य' है। इस सत्य का स्वनिष्पन्न ही धर्म है। अतएव सत्य और धर्म समिध हैं, यैत्रकि-‘यो य धम्म सत्यं वै’ इत्यादि शास्त्रोपमी भूति से प्रमाणित है * ।

परन्तु इस बुद्धियोग से सम्बन्ध कठनाया गया है। विज्ञानात्मा का स्वयंजन्य बाह्यपुण्यमय, एवं प्रज्ञानात्मा का स्वयंजन्य तान्त्रसद्भाषित भाग, दोनों परस्परपुनःगत हैं। बाह्यपुण्यपरामित स्वयं-स्वयंभूत को नृश बना कर आत्मयोगलक्ष्य बुद्धियोग के शाय स्वयंभूति के अनुकूल मनुष्य का धर्म करता है। यही विज्ञानमाया में ‘स्वधर्मो’ कहलाया है। यही स्वधर्म शास्त्रीय वर्णानुमानुगत प्राकृतिक धर्म है। यही वेदोक्त विद्यास्वपेक्ष यह-गया-दान-सद्व्यय स्वधर्म एवं विद्यानिरपेक्ष हृद-आशूत-वत-लक्ष्य स्वधर्म है। बुद्धितपेक्ष होने से यह बुद्धियोग है। स्वगति मूर्खिक वक्त पुराणशास्त्रि मूर्खिक साधन-दृष्टया यह भी पूर्णव्यतिरिक्त धर्मयोगात्मक धर्म-मक्ति ज्ञान-योगी की मोक्ष उन्मत्तया आधिभौतिक कला बुद्ध्या निरपेक्ष धर्मयोग ही है।

२२-लौकिक धर्म-मक्ति-ज्ञान-योग्यता का धर्मयोगात्—

शास्त्रोपमी यही है कि मानवीय इष्टि को वैदिकी लौकिकी मे-से दो मानों में विभक्त माना गया है। लौकिक इष्टियपेक्ष लौकिक धर्म (जिनमें केवल स्वयंभूति का सम्बन्ध है अतएव जिनका स्वयं सत्य आहार-विहारदि लक्ष्यशास्त्रियोगात्मा-मात्र है) योग्यता मे-से ही भौतिकी में विभक्त है। मनःप्राणबाह्यमय आत्म्या के मनःप्राणपरामित बाह्यमय का धर्म अतिरिक्त-सामान्य मानवधर्म से सम्बन्ध रखता है जो धर्म-बाह्यमय धर्मधर्म का अनुगामी बनता हुआ ‘अधर्मी’ कहलाया है। इसी धर्म को आत्मबाह्यमय से धर्मधर्मो, तथा इसके अधर्मात्मा बाह्यमय-शारीरिक धर्म को अधर्मात्मक धर्मयोग कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ शान्तलक्ष्य आधिभौतिक तत्त्व एवम्भूत अतिरिक्त रहता है। मनोप्राणपरामित प्राणमय का धर्म सामान्य-विशेष अतिरिक्त मानवधर्म से सम्बन्ध रखता है जो धर्म प्राणमय तपः-धर्म का अनुगामी बनता हुआ ‘सिद्ध’ (नीचर) कहलाया है। इसी धर्म को अधर्मात्मक से अधर्मात्मो, तथा इसके तपोरूप प्राणमय धर्म को अधर्मात्मक अधर्मात्मो कहा जा सकता है। प्राणबाह्यमय मनोभाग का धर्म लौकिक विद्यानादि (मूर्खिक विद्यानादि) उन्मत्तिका-विमूर्खित मानवधर्म से सम्बन्ध रखता है, जो धर्म मनोमय आत्म-धर्म का अनुगामी बनता हुआ ‘आधिभौतिक-लौकिकी-विद्यानादि-व्याधर्मी’ आदि विभिन्न उपाधियों से विभूत हुआ है। इसी धर्म को अधर्मात्ममय से अधर्मात्मो, एवं इसके अधर्मात्मक धर्मधर्म धर्मधर्म को अधर्मात्मक धर्मयोग कहा जा सकता है। धर्म-मक्ति-ज्ञानात्मक विद्यानादिपरिच्छिन्न प्रज्ञानात्मा के धर्म-अधर्मात्मक मय से उन्मत्तिका अधर्मात्मो की कर्म-मात्र-मन-कलाधी से अधर्मात्मक-धर्म

* यहाँ धर्मों प्रकृतिक अनात्मधर्म (अधर्मात्म) को ‘शाधतधर्म केवल तन्मत्तधर्म’ से ही बर्णित है। अतएव आवात्मलक्ष्य विविध धर्म प्रतीकधर्म है यही प्राकृतिक धर्म है जो शास्त्र धर्मलक्ष्य आत्मधर्म के आचार पर प्रकृतिक है। एवं इस इष्टि से धर्म तत्त्वः अधर्मात्म प्रकृतिकधर्मलक्ष्य ही है। शाधतधर्म का धर्मधर्म (गीता) लक्ष्य अनात्म आत्मधर्म को आत्मधर्म बनाने कला प्रतीकधर्मलक्ष्य विधि-निवर्तक धर्म ही ‘मानवधर्म’ माना गया है। स्वयंभूतप्राणमय ‘भारतीय हिन्दू मानव आर उच्चैः मानुष्या निरूप के शिष्टीय-पूर्वीय-तरङ्गों में इस धर्मतत्त्व की विचार संभारण है।

योगवित्तय का विगुह्य बाधरुष्टि से सम्बन्ध है । वर्तमान युग के सामाजिक-राष्ट्रीय-राष्ट्रीय-आदि इतर लौकिक कर्मों का भी इन्हीं चीनों में से किसी न किसी में अन्तर्मात्र किया जा सकता है । तीनों लौकिक कर्म बाधेन्द्रिय-स्वाप्न-सोपेक्ष है । इन्द्रियसम्बन्धालोक प्रज्ञानात्मा (सचेन्द्रिय मन) है जो विशानात्मा से नित्य संश्लिष्ट है । विशानात्मासम्परिणतक प्रज्ञानात्मा आत्मस्वरूपप्रधान है आत्मस्वर का कर्मयोग सं सम्बन्ध है । अतएव इस प्रयी को कर्म योग कहना ही अन्वयर्ष बनता है ।

२२-काम्य-लौकिक-बुद्धियोग का आधिभौतिकत्व—

पूरी है वैदिकरुष्टि त्रिसे हमने अधिपट्टि करा है । वैदिक यज्ञादि कर्मकलाओं के अतिशय का परोक्ष प्राणदेवताओं से सम्बन्ध है । यज्ञजनित कर्मसिद्धय से कर्मकला को एहलाकिक सुभाविक्त पारलौकिक अम्युन्य नामक स्वर्गशुभ भी प्राप्त होता है । स्वर्गलोक महिमा-शुभिवी के १७ में अहण पर प्रविष्टित है । स्थूलशरीर के अकलानानन्तर यज्ञकर्त्ता का मानुषात्मा यज्ञात्म्यरूप दयामा के आकृषण से आकर्षित होता हुआ इसी स्वर्गस्थान में याक्-अस्ति यद्यमाप्ति-रन्ध्र प्रसिद्धि रहता है । अतिशय-अमापनन्तर पुनः इसे इसी मन्वसक (प्राणिकन्म) का अनुगामी बनना पड़ता है । आधिभौतिक भूषियदापेक्षया अथपि अहणायत्निक शुभिवी आधिदैविकी है, तथापि तत्सत सपूर्ण पापिक निवृत्त आधिभौतिक ही माना गया है । अतएव स्वर्गप्रप्त्यरूप साध्य को भी आधिभौतिक ही कहा जायगा । और 'य इष्टि से इसे भी लौकिक रूप ही कहा जायगा । अतएव महात्मान् ने अस्तिस्वार्थ से सम्बन्ध रखने वाले अतएव विगुणभावमय इन वेदोक्त कामनामय कर्म के प्रति विद्वत्प्रादुरता पार्थ - 'कामात्मन स्पगपरा' - 'प्रैगुणकपियया येदा' भोगैरपर्यप्रसन्ननाम इत्यादि शब्दों में अन्वि ही प्रकट की है । विशानात्मासम्परिणतक प्रज्ञानात्मानुगता कर्म-अस्ति-ज्ञान-बुद्धियोगारिम्भ प्रथमा योगकनुष्ठी का यही संश्लिष्ट इतिवृत्त है, किञ्च आगे के परिश्लेषों से स्पष्टीकरण हो रहा है ।

२४-परम्परया उद्बुद्ध योगानुगत आत्मा—

स्पष्टीकरण से परिते प्रसन्नोपाय यह भी स्पष्ट कर लेना आवश्यक होगा कि अनानुज्ञाता को कर्मरूमा उक्त योगवस्तुस्थिती में से किसी योग में योग्यतुल्य प्रकृत होता है उक्त कर्मात्मा में भी बड़ी पर्वविभाग है जो प्रज्ञानात्मादि आत्माओं में कलाए गए हैं । प्रत्येक अत्मा प्रकृतमूर्ति है । किञ्च तात्पर्य यही है कि, प्रत्येक अत्मा अहंकार-लक्षण परापर, अकारलक्षण अम्यय उच्चारलक्षण अहंकार महारलक्षण आत्मस्वर, चारों पदों में युक्त है । ताप ही चारों पदों अज्ञान-अज्ञान-अन्तर्मन-रूप अन्वयद पदों तथा मन-प्राण, वायु रूप 'य हीन लक्षण पदों से युक्त रहते हैं । य' अनुष्णरूप ही आत्मा का अज्ञानलक्षण सामान्य धर्म है । कर्मरूमा में भूतत्मा प्राण, तेज, परवानर य चार पद हैं । चारों पदों क्रमशः अज्ञानात्मासम्परिणतक परापर अकारलक्षण अम्यय, उच्चारलक्षण अहंकार, महारलक्षण आत्मस्वर से एक अज्ञान-अज्ञान-अज्ञान-अज्ञान अन्वयद पदों, मन प्राण वाक् इन चारों पदों के अनुष्णरूप हैं । कर्मात्मक लौकिक कर्मयोग (भन) के अनुष्णमन में कर्मरूमा का आत्मस्वर-वाग्नुष्णरूप अर्थप्रधान वैरवानरमाग उद्बुद्ध रहता है । कर्मरूमाके लौकिक अतिशय (लय) के अनुष्णमन में कर्मरूमा का अहंकार-प्रज्ञानुष्णरूप विद्यात्मन तेजसभाव उद्बुद्ध रहता है । कर्मरूमाके लौकिक शानभाव (शन) के अनुष्णमन में कर्मात्मा का अम्यय-मनोष्णरूप शानभाव परमाण उद्बुद्ध रहता

१। कर्मात्मक वैदिक बुद्धियोग (ब्रह्मकर्म) के अनुगमन में कर्मात्मा का परात्परधानन्दविज्ञानअन्तर्मनो-
ज्जुष्यते भूतत्वमाग उद्भूत रहता है ।

२५-योगानुगत प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर-आत्मा—

तात्पर्य यह हुआ कि, मन्त्ररत्नस्य आत्महर, अर्थप्रधाना वाक्, अर्थप्रधान वैश्वानर, उच्चरत्नस्य
अक्षर, क्रियाप्रधान माण्ड क्रियाप्रधान तैजस अक्षररत्नस्य अक्षय, ज्ञानप्रधान मन, ज्ञानप्रधान प्रज्ञान इन
सबको अपने गम में मुक्त रखने का वाक्य मन्त्ररत्नस्य परात्पर, आनन्दविज्ञानअन्तर्मनोस्म त्वमाग्य अक्षरस्य
अक्षयपर्व से अनुपदीत भूतत्मा वैदिक कर्मात्मकज्जुष्यते में प्रधान बना रहता है जिसे प्रकृत में हमने बुद्धियोग
कहा है ।

आत्महर, वाक् वैश्वानर, अक्षय मन प्राज्ञ, परात्पर आनन्दविज्ञानम्मा, भूतत्मा इन सबको
अपने गम में मुक्त रखने का वाक्य उच्चरत्नस्य अक्षर, क्रियाप्रधान प्राण से अनुपदीत तैजसत्मा लौकिक-
कर्मात्मक मन्त्रियोग (वन) के अनुगमन में प्रधान बना रहता है ।

आत्महर, वाक् वैश्वानर, अक्षर, प्राण तैजस परात्पर, आनन्दविज्ञानअन्तर्मनोस्म अक्षरस्य
आत्मपर्व भूतत्मा, इन सबको अपने गम में मुक्त रखने का वाक्य अक्षररत्नस्य अक्षय, ज्ञानप्रधान मनः पर्व से
अनुपदीत प्राज्ञात्मा लौकिक-कर्मात्मक-ज्ञानयोग (अम) के अनुगमन में प्रधान बना रहता है ।

परात्पर, आनन्दविज्ञानमन भूतत्मा अक्षय, मन, प्राज्ञ, अक्षर, प्राण तैजस, इन सबको अपने गम
में मुक्त रखने का वाक्य मन्त्ररत्नस्य आत्महर, अर्थप्रधाना वाक् से अनुपदीत वैश्वानरत्मा लौकिक-कर्मात्मक
कर्मात्मक (अम) के अनुगमन में प्रधान बना रहता है ।

२६-भूत-देव-ब्रह्म-आत्म-मेरुमिन्ना अग्निश्चतुष्टयी, एवं त्वनुगता योगश्चतुष्टयी—

कर्मात्मकानुष्टयी में त्वचन अग्नि तत्त्व कथ्य है तात्पर्य विज्ञानतत्त्वमग्निश्चतुष्टयप्रज्ञानात्मा कता है त्वचक
भूतत्मा कता है । त्वचकस्य तापनभूत अग्नि तत्त्व के भूतसत्त्वाग्नि, देवसत्त्वाग्नि, ब्रह्मसत्त्वाग्नि,
आत्ममत्त्वाग्नि ये चार विधों में भेदे गए हैं वेदार्थ 'चतुर्धा विहितो ह वा अग्ने अग्निरास' इत्यादि
अनुगम वचन से प्रमाणित है । अग्नि के ये चारों पर्व कर्मणः मूल्या के आत्मरत्नस्य भूतत्मा, अक्षर
उच्चरत्नस्य प्रज्ञानत्मा सुकर्मणोत्तमस्य तैजसत्मा, अक्षररत्नस्य वैश्वानरत्मा, इन चार पर्वों से सम्बद्ध
हैं । कर्मात्मकानुष्टयी में वह अग्निश्चतुष्टयी ही त्वचन कर्ता है । अथ आत्मपर्वों की मूर्ति त्व
नाचनार्थश्चतुष्टयी मी परात्परदि चारों पर्वों से कर्मणः अनुपदीत है । ईश्वरीय गूढेत्मा बीजात्मक गूढेत्मा,
अक्षरप्रधाना, महानत्मा विज्ञानप्रधाना, अक्षयप्रधाना भूतत्मा, अक्षयप्रधाना, इन चार आत्मपर्वों का महिद्योग-

परीक्षा में मलीमांति विभेदपण किया जासुका है। आठों में से ईश्वरीय गूनेमा परस्पर से, बीजाभुगत गूनेमा अभ्यसे, अभ्यक्त-महान् आक्षरसे, विज्ञान प्रशान आरमक्षर से, भूतत्मा विभरक्षर से एवं अभ्यक्तमा वैभारिक क्षर से अनुपस्थित है। इस विभेदपण को लक्ष्म में रखते हुए ही प्रसूत योगचतुष्टयी का समन्वय करना चाहिए। अल्पव्यं इस विभेदपण का यही हुआ कि—

२७-कर्मरत्मक कर्मयोग का अविष्टाता वैश्वानरात्मा (१)-

(१)-कर्मरत्मक कर्मयोग में साधनभूत अभ्यक्तमा के परस्पर-अभ्यम-आक्षर-भाग से सम्बद्ध आत्मस्वयानि, ब्रह्मस्वयानि देवस्वयानि, ये तीनों पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के चाक्षुपपुरष, विज्ञान, आशु प्राण, ये तीन पर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्भारिशिष, प्रज्ञान मया प्राण, ये तीन पर्व एवं साधकभूत भूतत्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतत्मा, मनोमय प्रज्ञात्मा, प्राणमय वैभक्तत्मा ये तीन पर्व उन्मुग्धभावमा में परिणत रहते हैं। साधनभूत अभ्यक्तमा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत अभ्यक्तमा के शीघ उद्भुद भूतस्वयानि नामक पर्व में साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के शीघ उद्भुद स्वयानि नामक पर्व में साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के शीघ उद्भुद रेतः-भद्रा नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतत्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतत्मा के शीघ उद्भुद आक्षर 'वैश्वानरात्मा' नामक पर्व में अन्तर्भूत रहते हैं।

२८-कर्मरत्मक भक्तियोग का अविष्टाता वैजसात्मा (२)-

(२)-कर्मरत्मक भक्तियोग में साधनभूत अभ्यक्तमा के परस्पर-अभ्यम आक्षर-भाग से सम्बद्ध आत्मस्वयानि ब्रह्मस्वयानि, भूतस्वयानि ये तीन पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के चाक्षुपपुरष विज्ञान वैभेदशिर्गी व तीन पर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्भारिशिष, प्रज्ञान, रेत-भद्रा व तीन पर्व एवं साधकभूत भूतत्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतत्मा मनोमय प्राणात्मा वाहमय वैश्वानरात्मा, व तीन पर्व उन्मुग्धभावमा में परिणत रहते हैं। साधनभूत अभ्यक्तमा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत अभ्यक्तमा के शीघ उद्भुद देवस्वयानि-नामक पर्व में, साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के शीघ उद्भुद आशु प्राण नामक पर्व में साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के शीघ उद्भुद पयाःप्राण नामक पर्व में एवं साधकभूत भूतत्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतत्मा के शीघ उद्भुद प्राणमय वैजसात्मा नामक पर्व में अन्तर्भूत रहते हैं।

२९-कर्मरत्मक ज्ञानयोग का अविष्टाता प्राज्ञात्मा (३)-

(३)-कर्मरत्मक ज्ञानयोग में साधनभूत अभ्यक्तमा के परस्पर-आक्षर-आ मक्षर-भाग से सम्बद्ध आत्मस्वयानि देवस्वयानि भूतस्वयानि ये तीनों पर्व, साध्यभूत विज्ञानात्मा के चाक्षुपपुरष आशु प्राण पयाःशिर्गी, ये तीनों पर्व प्रज्ञानात्मा के साम्भारिशिष, पयाःप्राण रेतः-भद्रा ये तीनों पर्व एवं साधकभूत भूतत्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतत्मा प्राणमय वैभक्तत्मा आक्षरय वैश्वानरात्मा व तीनों पर्व उन्मुग्धभावमा में परिणत रहते हैं। साधनभूत अभ्यक्तमा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत अभ्यक्तमा के शीघ उद्भुद देवस्वयानि नामक पर्व में साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के शीघ

उद्बुद्ध विज्ञान नामक पत्र में, साध्यमत् प्रज्ञानात्मा के तीनों उद्बुद्ध पूर्व साध्यमत् प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्रज्ञान नामक पत्र में एवं साध्यमत् मूलात्मा के तीनों उद्बुद्ध पूर्व साध्यमत् मूलात्मा के चौथे उद्बुद्ध मनोमय प्राज्ञरत्ना नामक पत्र में अन्तर्मुक्त करते हैं।

३०—कर्माम्बुद्धिबुद्धिबोग का अविच्छिन्ना समष्ट्यात्मा (४)—

(४)—कर्माम्बुद्धिबोग में साध्यमत् साध्यमत्मा के साध्यम-साध्यम-साध्यम माग से सम्बद्ध अक्षय्याग्नि देव्याग्नि मूल्याग्नि व तीनों पूर्व साध्यमत् विज्ञानात्मा के विज्ञान आहु-माय श्योक्तिगी, ये तीनों पूर्व प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञान परा-आहु रेश-अह्रा, ये तीनों पूर्व एवं साध्यमत् मूलात्मा के मनोमय प्राज्ञरत्ना प्राणमय तैजसरत्ना, वायुमय वैश्वानरत्ना ये तीनों पूर्व उद्बुद्धात्मा में परिणत करते हैं। साध्यमत् साध्यमत्मा के तीनों उद्बुद्धपूर्व साध्यमत् साध्यमत्मा के चौथे उद्बुद्ध साध्यमत्माग्नि नामक पत्र में साध्यमत् विज्ञानात्मा के तीनों उद्बुद्धपूर्व साध्यमत् विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध साध्यमत्पुत्र नामक पत्र में साध्यमत् प्रज्ञानात्मा के तीनों उद्बुद्धपूर्व साध्यमत् प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध साध्यमत्पुत्र नामक पत्र में एवं साध्यमत् मूलात्मा के तीनों उद्बुद्ध पूर्व, साध्यमत् मूलात्मा के चौथे उद्बुद्ध साध्यमत्-विज्ञानमनोमय 'मूलात्मा' नामक पत्र में अन्तर्मुक्त करते हैं और कि परिशेषों से रखे हैं।

कर्मयोगाग्निप्र प्रस्तुत योगबुद्धि में किन विज्ञान-प्रज्ञान-पूर्वों को साध्यमत् प्रज्ञानात्मा कहा है वे ही मक्तियोगाग्निप्र योगबुद्धि में साध्यमत् बन जाते हैं, वैशक्ति तद्विरुद्ध में साध्यमत् बनने वाला है। एवमेव मक्तियोगाग्निप्र योगबुद्धि के साध्यमत् साध्यमत्-साध्यमत् ज्ञानयोगाग्निप्र योगबुद्धि में साध्यमत् बन जाते हैं। एवं ज्ञानयोगाग्निप्र योगबुद्धि का साध्यमत् साध्यमत् गुरुत्वा बुद्धिबोगाग्निप्र योगबुद्धि में साध्यमत् बन जाता है। इसप्रकार पूर्व पूर्व योग के साध्यमत् उत्तर उत्तर योग में साध्यमत् बन जाते हैं। साध्यमत् होने उन साध्यमत्ओं के गर्म में पूर्व पूर्व योगों के साध्यमत् भी अन्तर्मुक्त करते हैं। उदाहरण के लिए मक्तियोगाग्निप्र योगबुद्धि को ही लीजिए। विज्ञान-प्रज्ञानात्मापूर्व कर्मयोगाग्निप्र योगबुद्धि में साध्यमत् हैं, एवं साध्यमत्-पूर्व साध्यमत् हैं। मक्तियोगाग्निप्र योगबुद्धि में विज्ञान प्रज्ञान साध्यमत् बन जायेंगे जो विज्ञान प्रज्ञान कर्मयोगाग्निप्र योगबुद्धि में साध्यमत् होने लगे। साध्यमत् ही कर्मयोगाग्निप्र योगबुद्धि में साध्यमत् होने लगे साध्यमत्-पूर्वों में मक्तियोगाग्निप्र योगबुद्धि में साध्यमत् बनने वाले विज्ञान प्रज्ञानपूर्वों में अन्तर्मुक्त रहेंगे। यही वस्तुसाध्यमत् साध्यमत् के पत्रों में सम्बन्धी बाहिए, किन्ता साध्यमत्-पूर्वों में भी साध्यमत्-पूर्व कर दिखे जायगा।

(२) - स एष - कर्म्मालोकमसि-

योगपरिच्छेदो द्वितीयः -

२

कर्म्मालोकमसि कियोगालुपुला

प्राश्नमयो भूतत्मा वैजसः (२)

स एष - अग्निप - वायव्य - विद्यानरमा - भूतनरमा - भूतसंपन्नानि - अद्भुत - वायव्य - विद्यानरमा - भूतनरमा - भूतसंपन्नानि - भूतनरमा - कर्म्मालोक - सावित्रीनादिनां मयान्म

वेदी भूतारमा - सायका	मृतास - पर्वाशि अमुग्व - सायका	अनाश्वि विद्यानमनोमयो भूतारमा	मनोमव - शक्यारमा	बाह्ययो - वैश्वानरत्मा	भूतारमापर्यै अद्भुतसायका	प्राणमय - वैजसारमा
विद्यानरससम्परिवृक्तः प्रदानारमा साभ्यम्	विद्यानरसपर्याशि अमुग्वसायकानि	पाण्डुपुङ्गव साम्यवशरित्	विद्यानम्	रेतः - अक्या ३	विद्यानरसपर्यै अद्भुतसायकम्	परा - प्रायका १
आग्नेयसायनम्	आग्नेयसायनम् अमुग्वसायकानि	१ आग्नेयसायनम्	२ - अद्भुतसायनम्	३ - भूतसम्पन्नानि स्योदित्यौ. ३	आग्नेयपर्यै अद्भुतसायनम्	४ - वैश्वानरसम्पन्नानि
आग्नेयसायनम्	आग्नेयसायनम् अमुग्वसायकानि	१ आग्नेयसायनम्	२ - अद्भुतसायनम्	३ - भूतसम्पन्नानि स्योदित्यौ. ३	आग्नेयपर्यै अद्भुतसायनम्	४ - वैश्वानरसम्पन्नानि

स एष कर्मात्मिकज्ञानयोगागुच्छता मनोमयो भूतात्मा प्राश्नः (३) ।
 विज्ञानात्मसम्परिचयकः प्रज्ञानात्मा साम्यं
 विज्ञानात्मसम्परिचयकः प्रज्ञानात्मा साम्यं
 विज्ञानात्मसम्परिचयकः प्रज्ञानात्मा साम्यं

अम्यत्सपर्व	विज्ञानात्मसम्परिचयकः प्रज्ञानात्मा साम्यं	वेदी भूतात्म-साधकः
अम्यत्सपर्व	विज्ञानात्मसम्परिचयकः प्रज्ञानात्मा साम्यं	भूतात्म-पर्वसिद्धि
अम्यत्सपर्व	विज्ञानात्मसम्परिचयकः प्रज्ञानात्मा साम्यं	अमुग्ध-साधकः
१-अम्यत्सपर्व	सायबसधारीष	आत्मव्यविकल्पान्तमनोमयो भूतात्मा
२-वेदसत्यनि	आप्तु प्राश्नः	प्राणमया-नेत्रसारता
३-भूतसत्यनि	आतिगौ	वाक्ययो-वैशानरत्मा
अम्यत्सपर्व	विज्ञानात्मसम्परिचयकः प्रज्ञानात्मा साम्यं	भूतात्मपर्व
अम्यत्सपर्व	विज्ञानात्मसम्परिचयकः प्रज्ञानात्मा साम्यं	अमुग्धसाधकः
४-अम्यत्सपर्व	विज्ञानात्मसम्परिचयकः प्रज्ञानात्मा साम्यं	मनोमया-प्राज्ञात्मा

(४)स एषः कर्मात्मक्युद्धियोग

परिलेख्यस्तुर्षः

४

कर्मात्मक्युद्धियोगानुष्ठवा
बालन्दविद्वानमनोमयो यत्वात्मा-

भूवात्मा (४)

स एषः कर्मात्मक्युद्धियोगानुष्ठवा बालन्दविद्वानमनोमयो यत्वात्मा-
भूवात्मा (४) कर्मात्मक्युद्धियोगानुष्ठवा बालन्दविद्वानमनोमयो यत्वात्मा-

१-अथकामासाधनम्	विद्यानामसम्परिवर्तकः प्रदानात्मासाधनम्	वेदी भूवात्मा-साधकः
अभ्यासनामसाधनम्	विद्यानात्मपर्यायि अनुग्रहसाधनानि	भूवात्म-पर्यायि अनुग्रह-साधकः
१-अज्ञसत्याग्नि	विद्यात्मम्	मनोमय-प्राकारमा
२-वेदसत्याग्नि	आयुः प्राणः	प्राणमयः-वैजसत्या
३-भूतसत्याग्नि	स्वोद्विगैः	वाक्मयो-वैश्वानरत्मा
अन्यसत्य	विद्यानात्मपर्यं	भूवात्मपर्यं
अद्भुतनाशनम्	अद्भुतसाधनम्	अद्भुतसाधकः
२-आत्मसत्याग्नि	वास्तुपुराण	बालन्दविद्वानमनोमयो भूवात्मा

	१	२	३	
१	(१) मकारः	उच्चारः	अक्षरः	इत्येताम् गर्भे मुक्त्वा-अक्षर-अन्वय-परत्पर-ज्ञानन्व- विज्ञान-मनोऽनुगृहीतो भूतात्मा मूतात्मा विज्ञान- सम्परिवृक्तः-कर्मरामके बुद्धियोगानुष्ठाने प्रधानम्
	(२) आत्मक्षरः	अक्षरः	अन्वयः	
	(३) वाक्	प्राण	मनः	
	(४) वैश्वानरः	तैजसः	प्राण	
२	(१) मकारः	उच्चारः	अक्षरमात्रा	इत्येताम् गर्भे मुक्त्वा-अक्षर-अन्वय-मनोऽनुगृहीत- प्राणो भूतात्मा विज्ञानसम्परिवृक्तः-कर्मरामके ज्ञानयोगानुष्ठाने प्रधानम्
	(२) आत्मक्षरः	अक्षरः	परत्परः	
	(३) वाक्	प्राण	आ०वि० मनीसि	
	(४) वैश्वानरः	तैजसः	मूतात्मा	
३	(१) मकारः	अक्षरः	अक्षरमात्रा	इत्येताम् गर्भे मुक्त्वा-उच्चार-अक्षर-प्राणानुगृहीत- तैजसो भूतात्मा विज्ञानसम्परिवृक्तः कर्मरामके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्
	(२) आत्मक्षरः	अन्वयः	परत्परः	
	(३) वाक्	मनः	आ०वि० मनीसि	
	(४) वैश्वानरः	प्राणः	मूतात्मा	
४	(१) अक्षरः	उच्चारः	अक्षरमात्रा	इत्येताम् गर्भे मुक्त्वा-मकार-आत्मक्षर-बागनुगृहीत- वैश्वानरो-मूतात्मा विज्ञानसम्परिवृक्तः कर्मरामके कर्मयोगानुष्ठाने प्रधानम्
	(२) अन्वयः	अक्षरः	परत्परः	
	(३) मनः	प्राणः	आ०वि० मनीसि	
	(४) प्राणः	तैजसः	मूतात्मा	

१	अद्द भाषा	अक्षरः	व्ययः	इतिहास - म. शक्यानि कोशिकीय - भद्राया शतुगठ - भा. मयो वैशानथमा कर्मयोगस्यै कर्मयोगतुलने प्रथमम्	१ भूतमा-भैरवानर कर्मयोगस्यै - कर्मयोग (१)
२	परपर	अक्षरः	अक्षरः		
३	आननक्यापिः	व्ययः	देवक्यापिः		
४	आनुतुपुप	विधानम्	आनुतुपुप		
५	आननक्यापिः	प्रथमम्	यथा - भागः		
६	भूतमा	मनस्य - प्रथमा	आनुतुपुपस्यै		
७	आननक्यापिः	मनः	आनुतुपुप		

१	अद्द भाषा	अक्षरः	व्ययः	इतिहास - म. शक्यानि कोशिकीय - भद्राया शतुगठ - भा. मयो वैशानथमा कर्मयोगस्यै कर्मयोगतुलने प्रथमम्	२ भूतमा-संभ्रम कर्मयोगस्यै - मन्त्रियोग (२)
२	परपर	अक्षरः	अक्षरः		
३	आननक्यापिः	व्ययः	भूतक्यापिः		
४	आनुतुपुप	विधानम्	यथा - भागः		
५	आननक्यापिः	प्रथमम्	यथा - भागः		
६	भूतमा	मनस्य - प्रथमा	आनुतुपुपस्यै		
७	आननक्यापिः	मनः	आनुतुपुप		

१	अद्द भाषा	अक्षरः	व्ययः	इतिहास - म. शक्यानि कोशिकीय - भद्राया शतुगठ - भा. मयो वैशानथमा कर्मयोगस्यै कर्मयोगतुलने प्रथमम्	३ भूतमा प्रातः कर्मयोगस्यै - दानयोग (३)
२	परपर	अक्षरः	अक्षरः		
३	आननक्यापिः	व्ययः	भूतक्यापिः		
४	आनुतुपुप	विधानम्	यथा - भागः		
५	आननक्यापिः	प्रथमम्	यथा - भागः		
६	भूतमा	मनस्य - प्रथमा	आनुतुपुपस्यै		
७	आननक्यापिः	मनः	आनुतुपुप		

१	अक्षरः	व्ययः	व्ययः	इतिहास - म. शक्यानि कोशिकीय - भद्राया शतुगठ - भा. मयो वैशानथमा कर्मयोगस्यै कर्मयोगतुलने प्रथमम्	४ भूतमा-भूतमा कर्मयोगस्यै - वृद्धियोग (४)
२	अक्षरः	व्ययः	अक्षरः		
३	व्ययः	व्ययः	भूतक्यापिः		
४	विधानम्	विधानम्	यथा - भागः		
५	प्रथमम्	प्रथमम्	यथा - भागः		
६	मनस्य - प्रथमा	मनस्य - प्रथमा	आनुतुपुपस्यै		
७	मनः	मनः	आनुतुपुप		

प्रकारान्तरथा—

- (१) प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर-गर्भित-भूतह्मा—बुद्धियोगह्मा बुद्धियोगानुष्ठाना
- (२) तैजस-प्राज्ञ-भूतह्म-गर्भित-प्राज्ञह्मा—ज्ञानयोगह्मा-ज्ञानयोगानुष्ठाना
- (३) प्राज्ञ-भूतह्म-वैश्वानरगर्भित-तैजसह्मा-भक्तियोगह्मा-भक्तियोगानुष्ठाना
- (४) तैजस-प्राज्ञ-भूतह्मगर्भित-वैश्वानरह्मा—कर्मयोगह्मा-कर्मयोगानुष्ठाना

त्रिज्ञानसम्परिव्यक्तप्रज्ञानात्मानुगता योगचतुष्टयी—

- | | | | |
|--------------------|---------------------|----------------|--|
| १ | २ | ३ | |
| विज्ञानात्मपर्याधि | प्रज्ञानात्मपर्याधि | भूतात्मपर्याधि | |
- (१) ब्राह्मपुरुषः—साम्बसदाशिषः—भूतह्मा—बुद्धियोगी (परत्परानुगत)
 - (२) विज्ञानम्—प्रज्ञानम्—प्राज्ञह्मा—ज्ञानयोगी (अभ्ययानुगत)
 - (३) ब्रामु-ब्राम्ण—पराः प्राण्य—तैजसह्मा—भक्तियोगी (भक्तियानुगत)
 - (४) श्योतिर्गी—रेतः, भद्रा—वैश्वानरह्मा-कर्मयोगी (ब्रह्मचरानुगत)

- (१) ब्राह्मपुरुषगर्भितः साम्बसदाशिषः—तदनुगतो भूतह्मा—ब्रह्मा (बुद्धियोगप्रतिष्ठाम्नि)
- (२) विज्ञानगर्भितं प्रज्ञानम्—तदनुगतः प्राज्ञह्मा—करणरारीरम् (ज्ञानयोगप्रतिष्ठाम्नि)
- (३) ब्रामु-ब्राम्णगर्भिता पराः प्राण्य—तदनुगतस्तैजसह्मा—सुरभरारीरम् (भक्तियोगप्रतिष्ठाम्नि)
- (४) श्योतिर्गीगर्भितं रेतः, भद्रा—तदनुगतो वैश्वानरह्मा—स्युषरारीरम् (कर्मयोगप्रतिष्ठाम्नि)

- (१) वैदिककर्ममोनुष्ठानम्-तदनुगता-साम्बसदाशिषोपजीविनो वैदिकाः (बुद्धियोगिनः)
- (२) शौकिकज्ञानानुष्ठानम्—तदनुगता-ब्रह्मोपजीविनो ज्ञानिनः (ज्ञानयोगिनः)
- (३) शौकिकसेवानुष्ठानम्—तदनुगता-पराः प्राण्योपजीविनः सेवकाः (भक्तियोगिनः)
- (४) शौकिककर्ममोनुष्ठानम्—तदनुगताः-रेतः भद्रोपजीविनः भनजीविनः (कर्मयोगिनः)

सैषा त्रिज्ञानात्मसम्परिव्यक्त प्रज्ञानात्मानुगता भूतात्मनो योगचतुष्टयी प्रथमा—

- १-वह्निमुक्ताः भनजीविनः—कर्मयोगिनाः शौकिक
- २-वह्निमुक्ताः सदाभ्रमपराम्पराः—भक्तियोगिनो "
- ३-वह्निमुक्ताः-भूतविज्ञाननिष्ठा—ज्ञानयोगिनो "
- ४-अन्वयुक्ता-वैदिककर्मोपासकता-बुद्धियोगिनो वैदिकाः

●—भक्त्यात्मिका भक्तियोग चतुष्टयी द्वितीया

३१—'परिचय्या' भावतुगत बाह्यमय भक्तियोग (१)—

(१)—यत्र कर्मप्राप्त दूषरी भक्तियोगचतुष्टयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाय है। इस क्रिया का बुझ है कि, बाह्यकृत्यवर्गित महानत्मा के आचार पर भक्तियोग प्रतिष्ठित है। योगानुष्ठाय नहीं भूतत्मा है। केवल वाचन इति में अन्तर है। कर्मयोगानुष्ठान में भूतत्मा बाह्य विद्वानात्मतत्परिष्कृत प्रधानात्मा का अनुगामी बना रहता है, बाह्य भक्तियोगानुष्ठान में नहीं भूतत्मा विद्वानात्मतत्प्राप्त प्रधानरूप (बुद्धियुक्त मन) को ताय होता हुआ बाह्यकृत्यवर्गित महानत्मा की ओर प्रधान रूप से अनुगत रहता है। भूतत्मा की इस महद्ब्रह्मानुगति का ही नाम भक्तियोग है, जिसके महानात्मतत्प्राप्त-मेद से कर्मयोगका स्वर निकल हो जाते हैं। उन्हीं का अन्तर-सोदाहरण स्वीकारण किया जा रहा है।

बाह्यकृत्यवर्गित महानत्मा के आत्मव्यवहारगत शरीरगुहामात्र से सम्प्रतिष्ठित महानात्मता के आत्मव्यवहारगत इह-उर्ध्व-मीमांसा की मूल बना कर विद्वानात्मतत्परिष्कृत प्रधान के कर्मेतिहासपरिष्कृत रीत-शब्दा वाचन-द्वारा भूतत्मा अपने आत्मव्यवहारगत वैश्वानरप्राप्त से जो कर्म करता है उसे ही विद्वानात्मता में 'परिचय्या' कहा गया है। उपात्मतात्मकत्वान से बलिष्ठ यथावत्, लौकिक मनुष्य ही इत परिचय्यात्मिका भक्ति के अनुगामी बन रहते हैं। स्वीकारण के लिए भी समझिए कि उपात्म तत्त्व महानत्मा के चतुर्विध से चार मार्गों में विभक्त है। महानत्मा का लक्षणात्मक बाह्यकृत्यवर्गित से परोरण माग से सम्प्रतिष्ठित होता हुआ परस्परप्रधान है इसकी उपात्मता 'आत्मोपासना' है। महानत्मा का महद्भय बाह्यकृत्यवर्गित से सम्प्रतिष्ठित होता हुआ बाह्यप्रधान है इसकी उपात्मता सगुणेश्वरोपासना है। महानात्मता का लक्षणात्मक बाह्यकृत्यवर्गित से सम्प्रतिष्ठित होता हुआ अक्षयप्रधान है इसकी उपात्मता 'वैशोपासना' है। महानात्मता के इह-उर्ध्व-मीमांसा-भय बाह्यकृत्यवर्गित की शरीरगुहा से सम्प्रतिष्ठित होते हुए अक्षयप्रधान है इसकी उपात्मता 'भूत-उपासना' है। अक्षय-कर्म-गुणहीन आदि इन्हीं का पूजन राम-कृष्ण आदि तायुष्यों की प्रतिमाओं का पूजन आदि आदि-बहिर्-हितपेक्ष किन्हीं भी मन्त्रिप्रकार हैं किन्हीं इन 'आत्मदात्मिकभक्ति' नाम से संबद्ध कर लक्ष्मी उन लक्ष्मी आत्मव्यवहारगत भूत-उपात्मता में ही अन्तर्भाव है। यक्ष-राक्षस-भूत-मेधादि की उपात्मता का भी इसी में अन्तर्भाव माना जायगा। अक्षयप्रधानों की उपात्मता अर्ध-गुरुप्रतिमाओं की उपात्मता आदि प्रकार भी इसी पथ के अनुगामी माने जायेंगे। माय्यातिरेक इतर शरीरों के विभिन्न भक्ति-मार्ग, विनया तन्मन्त्रविशेषप्रवचन उत्तम महागुरुओं से (ईशानसिद्ध-गुरुमन्त्र-अखिल-आदि आदि तन्मन्त्रप्रवचन मान्य आचार्यों से) सम्पन्न है-का इसी भूतोपात्मता में अन्तर्भाव माना जायगा। इत मार्ग में वाचन प्रत्यक्ष ही आधिभौतिक है तो उपात्म प्रत्यक्ष ही भक्तिमार्ग द्वारा परीक्षा आधिभौतिक है इत्यपि तो इसे 'भक्तियोग' कहा जायगा। ताय ही लक्षणात्मक-कर्म-रूप का भूत-उपात्म होने से अक्षयप्रधान कर्मयोग माना जायगा। इह (अक्षयप्रधान) उर्ध्व (मनीषा) भोग (आन्तरिक भौतिक लक्षण) , इन तीन कामनाओं में अक्षय कामना अन्तर्भाव है। भूतोपात्म इन्हीं कामनाओं को लक्ष्य में रखकर ही एतद्विध भक्तिमार्ग में प्रवृत्त होता है। इच्छादि पूजन से स्वरूप कामना की जाती है भक्तियोगियों में पुत्र-कलापदि कर्म-परिष्कृत की वाचना की जाती है। भूत-मेधादि की उपात्मता के द्वारा भी वैश्वीक कामनाओं का ही स्वीकारण किया जाता है। इन्हीं लक्ष्यप्रकार से इत भक्तियोग को भक्तियोगात्मक कर्मयोग ही कर्वा

अन्वय बनाता है। अथर्वस्तावमपरिप्लवत महानात्मा के अक्षरमात्र भाग से सम्बद्ध शिष्टेयुहागमित इन्द्रके योग भागों पर प्रतिष्ठित यज्ञोत्थानगमित रेतु-अर्धा द्वारा संश्लिष्ट मत्स्वात्मक कर्मयोग, तथा कर्मयोगियों का यही संक्षिप्त विरोध है। इसी को अक्षरमत्ता दृष्टि से 'माह्वमय अथर्वयोग' कहा जा सकता है, जो लौकिक-कर्मयोग-कर्मयोग से अंतरतः सम्प्लुत है।

३२—'मक्ति'—मावानुगत प्राणमय भक्तियोग (२)—

(२)—अक्षर भक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अथर्वस्तावमा के अक्षरानुगत श्रुतअक्षरमत्त से सम्प्लुत महानात्मा अक्षरानुगत सौम्यप्राण को मूल बना कर, विज्ञानसम्परिप्लवत महानात्मा के आध्यात्मिक गमित यज्ञप्राणरूप स्थापन द्वारा भूतस्वमा अपने अक्षरमत्तान तैवत भाग से जो कर्म करता है उसे ही विज्ञानमत्ता में 'मक्ति' कहा गया है। प्राकृतिक प्राणदेवता ही इस भक्तिमार्ग की मूलप्रतिष्ठा है। अपनी आध्यात्मिक संस्था में मूल प्राणायामक (शस्त्रपरात्मक) अग्नि-वायु-आशिरव-वसु-इन्द्र-अथर्वमा-रक्षा-आग्नि आदि देवताओं का उपासनात्मक एक मिश्रण प्रणाली के द्वारा प्राकृतिक प्राणदेवताओं के आकर्षण से स्वप्राणों को मुख्यस्थित बनाते हुए अपने आश्रय निरूपण बनाए रखना ही इस उपासना का फल है। देवप्राण के सम्बन्ध से इस उपासना को 'देवोपासना' कहा जा सकता है जिस उपासना का 'अर्धा' रसमुद्वेगीयमुपासीत • 'उद्वेगीयाध्वरायमुपासीत'—'अनुमसमुद्वेगीयमुपासीत' इत्यादि रूप से विरोध होता है। अथर्वस्तावमा-नुगत श्रुत-अथर्वमत्त द्वारा आधिदैविक प्राणदेवताओं का आकर्षण होता है, एवं महानात्मानुगत सौम्य प्राण अथर्वमात्र में आश्रय प्राण देवताओं की प्रतिष्ठा करता है। यह उपासनामार्ग केवल भारतीय मानववर्ग में ही अर्थात् में प्रथित पल्लवित हुआ है। यही स्थापनरूप से अधिमृत साध्यरूप से अधिदैवत (प्राणदेवता), देवी का समान रूप से सम्प्लुत है। अतः इसे मन्त्रित्तत्त्वानुसार मकरपारमक भक्तियोग कहा जा सकता है। अथर्वस्तावमपरिप्लवत महानात्मा के अक्षरभाग से सम्बद्ध श्रुतअक्षरमत्तमित सौम्य प्राण पर प्रतिष्ठित, आध्यात्मिकगमित यज्ञप्राण के द्वारा संश्लिष्ट मत्स्वात्मक भक्तियोग, तथा भक्तियोगियों का यही संक्षिप्त विरोध है। इसी को अक्षरमत्ता दृष्टि से 'प्राणमय क्रियायोग' कहा जा सकता है जो लौकिक-कर्मयोग-भक्तियोग से अंतरतः सम्प्लुत है।

३३—'प्रपथि'—मावानुगत मनोमय भक्तियोग (३)—

(३)—अथर्व अक्षरयोग की मूलप्रतिष्ठा बताया गया है। अथर्वस्तावमा के अथर्वानुगत अन्तस्वामी से सम्प्लुत महानात्मा के अथर्वानुगत महत्त्व को मूल बना कर, विज्ञानसम्परिप्लवत महानात्मा के विज्ञानगमित महानरूप स्थापन द्वारा भूतस्वमा अपने अथर्वमत्तान प्राणभाग के द्वारा जो कर्म करता है, उसे ही विज्ञानमत्ता में 'प्रपथि' कहा गया है। मूत-देव-इन्द्र-समात्मक, विज्ञानभाग में 'साक्षीमुपार्थ' नाम से प्रतिष्ठित देवत्वपरात्मक ईश्वरत्व ही इस भक्तिमार्ग की मूलप्रतिष्ठा करता है। अपने आश्रय इत लघुत्वमत्त के प्रति समर्पित कर देना ही ईश्वरपथि है जिसका अधिभार 'प्रपथिमत्त' नाम से व्यक्तित्व हुआ है। इस भाग में आधिभौतिक शक्ति का आधिदैविक लघुत्वमत्त के प्रति समर्पण है। अथर्व अथर्विकारनेन इसे अक्षर ही मत्स्वात्मक अक्षरयोग कहा जा सकता है। अपने अक्षरमात्र को लघुत्वमत्त से जिस समस्त का अक्षर-उपासक रूप से उसके प्रति अक्षरमत्तपण करना ही इस अथर्विकपथ भक्ति का मुख्य दृष्टिकोण है।

कालोक्त्य-धर्मोप्य ही इत मन्त्रित के मुख्य फल है। देवमन्त्रित अपने इत्यानुगामिनी थी, यह ईश्वरमन्त्रित एकत्वानुगामिनी है। अस्मत्कृतनस्मपरिष्कृत महानत्मा के आत्म्यभाग से सम्बद्ध अ-वर्ण्यमिगर्भित महद्ब्रह्म पर प्रतिष्ठित विज्ञानगर्भित-प्रज्ञानद्वारा संश्रवित भक्त्यात्मक ज्ञानयोग तथा ज्ञानबोधिनी का बड़ी लक्षित विरलोग्य है। इसी को आत्मकलादृष्टि से 'मनामय ज्ञानयोग' कहा या कहता है, जो लौकिक कर्म्ममन्त्रक ज्ञानयोग से अश्रुत सम्पुणित है।

३४-‘उपासना’-मानानुगत सर्वमय मन्त्रियोग (४)-

(४)-परस्पर बुद्धियोग को आचारमूर्ति माना गया है। अस्मत्कृत्मा के परस्परानुगत परोरहात्म्य से सम्पुणित महानत्मा के परस्परानुगत कर्त्त (विद्युदत्सव) का मूल बना कर, विज्ञानसम्परिष्कृत प्रज्ञानात्मा के आद्यपुद्गलगर्भित सात्त्विकाशिरूपक तापन द्वारा भूतत्वा अपने परस्परानुगत प्रथम भूतत्वा द्वारा जो कर्म्म करता है उसे ही विज्ञानमया में ‘उपासना’ कहा गया है। विद्युदत्सवानुगत, अतएव निरुपाधिक अतएव निष्कल आत्मतत्त्व ही इत उपासना का मूलाधार है किन्तु सम्बन्ध में ‘तत्सु तं निष्कलं ध्यायमानं शिवात् स्वच्छिप्यत बुद्ध्या है। ‘विज्ञानेन परिपरमन्त्रित धीराः के अनुसार इत आत्मदर्शन में विद्युदत्सव महत्-इत्यानुगत विद्युदत्सव विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही प्रधान कारण बनता है। अतएव इत उपासनात्मक मन्त्रितार्थ को अन्वय ही अस्मत्कृत्मा ‘बुद्धियोग’ (विज्ञानात्मयोग) कहा या कहता है। प्रथममन्त्रित में हीतबुद्धिपूर्वक आत्मकमर्षण था। इत उपासनात्मिका-उपासनात्म्यपरकारणा-मन्त्रित में ‘अधर्मसर्वं सर्वम् मान्नालक्षणा अहोतयावना है। अस्मत्कृत्मा के द्वारा लक्ष्य ही इत उपासनात्मिका बुद्धिमन्त्रितार्थ मन्त्रित (उपासना) का अन्वय है। अतएव इते अहोतया (अस्मत्कृत्मा ज्ञानयोग) में सम्पुणित माना गया है। अस्मत्कृत्मासम्परिष्कृत महानत्मा के परस्परभाग से सम्बद्ध परोरहात्म्यक कर्त्तनाम पर प्रतिष्ठित आद्यपुद्गलगर्भित सात्त्विकाशिरूपक द्वारा संश्रवित भक्त्यात्मक बुद्धियोग, तथा बुद्धियोगियों का बड़ी लक्षित विरलोग्य है। इसी को आत्मकलादृष्टि से आत्मबुद्धिज्ञानमनोमय आधिदैवतयोग कहा या कहता है जो कर्म्ममन्त्रक बुद्धियोग से अश्रुत सम्पुणित है।

भक्त्यात्मक जिन चार बोगों का पूर में कर्मिक विरलोग्य हुआ है वे कर्म्मोत्पन्न योगबन्धुत्वी की मन्त्रित विद्युदत्सवार्थ के पत्रक बन रहे हैं। परिष्कृतधर्मिका मन्त्रित भक्त्यात्मिका मन्त्रित प्रपंचितब्रह्मा मन्त्रित एवं उपासनात्मिका मन्त्रित चारों के बीच योगानुगतकर्त्ता की स्वन्विततया का ही उद्धार है। इन चारों ही मन्त्रितार्थों में कामनात्मक अन्त्रिमिगुण है। लालसंदह का इत बन्धुत्वी में भी अत्यन्तमय है। अतएव इत बन्धुत्वी की उपासनात्मिका न लक्ष्य में लक्ष्यः बुद्ध ही नहीं कहा या कहता। विज्ञानात्मकसम्परिष्कृत महानत्मा से सम्बन्ध रखने वाली पत्राबन्धुत्वी का बोधा बुद्धियोगात्मक वैदिकधर्मयोग बड़ी मुख्यरूप से शास्त्रीय कर्म्म योग माना जायगा बड़ी आध्यत्मकगर्भित महानत्मा से सम्बद्ध योगबन्धुत्वी का बोधा बुद्धियोगात्मक उपासनात्मिक मुख्यरूप में शास्त्रीय मन्त्रियोग कहा जायगा। कर्म्मयोग ‘योगनिष्ठा’ कहलाएगी, उपासनात्मिक उपासनात्मिक मन्त्रि बोधा। महानात्मानुगत उक्त योगबन्धुत्वी का काम के परिशेरी में मन्त्रिततत्त्व लक्ष्यरूप हा जाय है। लक्ष ही पर भी ध्यान में लक्षः बाधिए कि भक्त्यात्मक कर्म्मयोग में महानात्मक आत्मदर्श है अनुबद्धीय मन्त्रित गां शत बड़ा व विज्ञान-प्रशस्तनाम तापन करने है। शरीरानुगत इत-उक्त-भोग लक्ष्य बनने है आत्मबुद्धिज्ञानमनोमय भगवता, प्राणाया उद्धारना इत ठीनी स्वार्थों का करने गर्भ में मुख्य

रखने वाला वैश्वानरप्रधान बाह्यमय मूलात्मा सापक बनता है। मन्त्र्यात्मक मन्त्रियोग में उच्चारण, अक्षर से अनुपहृत आधुः प्राण, और यशः प्राण, ये विज्ञान-प्रज्ञानमाय सापक बनते हैं। एवं श्रुतस्त्व-धृतागुगत सौम्यप्राण साध्य बनता है। आनन्दविज्ञानमनोमय तृतीय मूलात्मा, प्राज्ञात्मा, वैश्वानरात्मा, इन तीनों स्वपदों को अपने गर्भ में मुक्त रखने वाला वैश्वानरप्रधान प्राणमय मूलात्मा सापक बनता है। मन्त्र्यात्मक ज्ञानयोग में अक्षरसाक्षर अर्थात् से अनुपहृत विज्ञान और प्रज्ञान, ये विज्ञान-प्रज्ञानमाय साधन बनते हैं। अन्तर्म्यान्तगुगत महत्त्वका साध्य बनता है। आनन्दविज्ञानमनोमय मूलात्मा वैश्वानरात्मा, इन तीनों स्वपदों को स्वर्ग में मुक्त रखने वाला प्राज्ञप्रधान मनोमय मूलात्मा सापक बनता है। मन्त्र्यात्मक शुद्धियोग में अक्षरमात्रसाक्षर परात्पर से अनुपहृत चाक्षुषपुरुष, और साम्बुद्धाश्रित, ये विज्ञान प्रज्ञानमाय साधन बनते हैं। प्राज्ञात्मा वैश्वानरात्मा, वैश्वानरात्मा, इन तीनों स्वपदों को स्वर्ग में मुक्त रखने वाला आनन्दविज्ञानमनोमय तृतीय मूलात्मा सापक बनता है। एतन्म्यं इह विरलोपणं च परी है कि—

(१) मन्त्र्यात्मक कर्मयोग में साधनमत्त विज्ञानात्मा के परात्पर-अर्थात्-अक्षरमाय से सम्बद्ध चाक्षुषपुरुष विज्ञान, आधुः प्राण ये तीनों पद प्रज्ञानात्मा के साम्बुद्धाश्रित, प्रज्ञान यशःप्राण ये तीनों पद साध्यमूत अर्थात्सात्मा के परात्पर, अन्तर्म्यामी, श्रुतस्त्वधृत्, ये तीनों पद, महानात्मा के त्व, महान्, सौम्यप्राण ये तीनों पद, एवं सापकमूत मूलात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय मूलात्मा मनोमय प्राज्ञात्मा, प्राणमय वैश्वानरात्मा ये तीनों पद उन्मुखावरणा में परिणत रहते हैं। साधनमूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुख पद साधनमूत विज्ञानात्मा के बीच उद्बुद्ध श्रोत्रियैकसाक्षर पद में, साधनमूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुखपद साधनमूत प्रज्ञानात्मा के बीच उद्बुद्ध रेशभद्राक्षर पद में साध्यमूत अर्थात्सात्मा के तीनों उन्मुखपद साध्यमूत अर्थात्सात्मा के बीच उद्बुद्ध शरीरगुहा पद में, साध्यमत्त महानात्मा के तीनों उन्मुखपद साध्यमूत महानात्मा के बीच उद्बुद्ध इहृक्-भोगपद में, एवं सापकमूत मूलात्मा के तीनों उन्मुखपद साध्यमूत मूलात्मा के बीच उद्बुद्ध वैश्वानरपद में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

(२) मन्त्र्यात्मक अभियोग में साधनमूत विज्ञानात्मा के परात्पर-अर्थात्-अक्षरमाय से सम्बद्ध चाक्षुषपुरुष, विज्ञान श्रोत्रियः। ये तीनों पद, प्रज्ञानात्मा के साम्बुद्धाश्रित, प्रज्ञान, रेशभद्रा, ये तीनों पद, साध्यमूत अर्थात्सात्मा के परात्पर अन्तर्म्यामी, शरीरगुहा ये तीनों पद महानात्मा के त्व, महान् इहृक् भोग ये तीनों पद, एवं सापकमूत मूलात्मा के आनन्द विज्ञानमनोमय मूलात्मा, मनोमय प्राज्ञात्मा, बाह्यमय वैश्वानरात्मा ये तीनों पद उन्मुखावरणा में परिणत रहते हैं। साधनमूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुख पद साधनमूत विज्ञानात्मा के बीच उद्बुद्ध आधुःप्राण नामक पद में साधनमूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुख पद साधनमूत प्रज्ञानात्मा के बीच उद्बुद्ध यशःप्राण नामक पद में, साध्यमूत अर्थात्सात्मा के तीनों उन्मुख पद साध्यमूत अर्थात्सात्मा के बीच उद्बुद्ध श्रुतस्त्वधृत् पद में साध्यमूत महानात्मा के तीनों उन्मुख पद साध्यमूत महानात्मा के बीच उद्बुद्ध सौम्यप्राण पद में एवं सापकमूत मूलात्मा के तीनों उन्मुख पद साध्यमूत मूलात्मा के बीच उद्बुद्ध वैश्वानरपद में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

(३)-मत्स्यसूत्रक ज्ञानयोग में वाचनभूत विज्ञानरत्ना के परात्पर-आत्पर-आत्मपर से सम्बद्ध वाच्य पुरुष्य आद्या प्राण, ज्योतिर्गो, ये तीनों पर्व प्रज्ञानरत्ना के साम्प्रदायिक, यथा प्राण रक्षा अद्या, ये तीनों पर्व, साध्यभूत आत्मज्ञानात्मा के परोरथा अतत्कल्पयन्, शरीरगुहा, ये तीनों पर्व, महानात्मा के लक्ष्य, योग्याद्य, इहूक् भोग, ये तीनों पर्व, एवं वाचकभूत भूतत्मा के ज्ञानन्दविज्ञानमनोमय भूतत्मा प्राणमय वैश्वरूपा वाचमय वैश्वानररत्ना ये तीनों पर्व, उन्मुखास्त्रमा में परिच्छिद्य रहते हैं। वाचनभूत विज्ञानरत्ना के तीनों उन्मुखापर्व वाचनभूत विज्ञानरत्ना के शीघ्र उद्बुद्ध विज्ञान नामक पर्व में वाचनभूत प्रज्ञानरत्ना के तीनों उन्मुखापर्व वाचनभूत प्रज्ञानरत्ना के शीघ्र उद्बुद्ध प्रज्ञान नामक पर्व में वाच्यरूप आत्मज्ञानरत्ना के तीनों उन्मुखापर्व वाच्यरूप आत्मज्ञानरत्ना के शीघ्र उद्बुद्ध अन्तर्व्यापी नामक पर्व में वाच्यभूत महानात्मा के तीनों उन्मुखापर्व वाच्यभूत महानात्मा के शीघ्र उद्बुद्ध महान् नामक पर्व में, एवं वाचकभूत भूतत्मा के तीनों उन्मुखापर्व वाचकभूत भूतत्मा के शीघ्र उद्बुद्ध प्राणमय वैश्वरूपा नामक पर्व में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

(४)-मत्स्यसूत्रक बुद्धियोग में वाचनभूत विज्ञानरत्ना के सम्बन्ध, आत्पर, आत्मपर से सम्बद्ध विज्ञान, आद्या प्राण, ज्योतिर्गो, ये तीनों पर्व, प्रज्ञानरत्ना के महान् यथा प्राण रक्षा अद्या ये तीनों पर्व, वाच्यभूत आत्मज्ञानरत्ना के अन्तर्व्यापी, अतत्कल्पयन् शरीरगुहा ये तीनों पर्व, महानात्मा के महान् योग्याद्य इहूक् भोग, ये तीनों पर्व एवं वाचकभूत भूतत्मा के मनोमय प्रज्ञानरत्ना प्राणमय वैश्वरूपा, वाचमय वैश्वानररत्ना, ये तीनों पर्व उन्मुखास्त्रमा में परिच्छिद्य रहते हैं। वाचनभूत विज्ञानरत्ना के तीनों उन्मुखापर्व वाचनभूत विज्ञानरत्ना के शीघ्र उद्बुद्ध वाच्यपुरुष्य नामक पर्व में वाचनभूत प्रज्ञानरत्ना के तीनों उन्मुखापर्व वाचनभूत प्रज्ञानरत्ना के शीघ्र उद्बुद्ध साम्प्रदायिक नामक पर्व में, वाच्यभूत आत्मज्ञानरत्ना के तीनों उन्मुखापर्व वाच्यभूत आत्मज्ञानरत्ना के शीघ्र उद्बुद्ध परोरथा नामक पर्व में, वाच्यभूत महानात्मा के तीनों उन्मुखापर्व वाच्यभूत महानात्मा के शीघ्र उद्बुद्ध साम्प्रदायिक नामक पर्व में, एवं वाचकभूत भूतत्मा के तीनों उन्मुखापर्व वाचकभूत भूतत्मा के शीघ्र उद्बुद्ध ज्ञानन्दविज्ञानमनोमय भूतत्मा नामक पर्व में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

निष्कर्ष वही निकला कि, चारों ही बोलों में तभी वाचन-वाच्य-वाचक अज्ञानपर्व विद्यमान हैं। केवल उन्मुखा-उद्बुद्धास्त्रमा में अन्तर है। जो अन्तर्व्यापीरत्ना कर्मात्मिका कर्मयोग्यरूपरत्नी में है, वही मत्स्यरत्ना रत्नी है। अन्तर वही है कि उत्तर-उत्तर-के योग में पूर्व-पूर्व योग्यरूपरत्नी आश्रयण में वाचनरूप से उन्मुखा-विद्य रहते हैं। वही पूर्व-पूर्व योग्यरूपरत्नी उत्तर-उत्तर रत्नी के अन्तर्व्यापी, तथा पूर्वत्व का मौलिक रहस्य है। वही कि प्रथमयोग्यरूपरत्नी में स्वयं विद्य रत्ना है कर्मात्मिका योग्यरूपरत्नी में वाचन कने हुए विज्ञानरत्ना प्रज्ञानरत्नपर्व इत बुद्धी मत्स्यरत्निका योग्यरूपरत्नी में वाचन कने करते हैं। वाच ही ये विज्ञान-प्रज्ञानरत्नक वाचन कर्मात्मिका कर्मात्मिका योग्यरत्नी में वाचन कने हुए वाच्यरत्ना के चारों पर्वों को भी स्वयं में मुक्त रहते हैं वही कि परिच्छिद्य से स्पष्ट है।

(२)-स एषः-मन्वत्यात्मकमक्ति-
योगपरिलिखो द्वितीयः-

२

-मन्वत्यात्मकमक्तियोगानुसृता
प्राथम्यो मृतत्वा वैकसः (२)

स एषः-मन्वत्यात्मकमक्ति-योगपरिलिखो द्वितीयः-मन्वत्यात्मकमक्तियोगानुसृता-प्राथम्यो मृतत्वा वैकसः (२)

१	२	३
आत्म्याला साधनम्	विद्यानात्मसम्परिपक्वः प्रदानात्मना सम्बन्धम्	देही मृतत्वा-साधकः
अभ्यन्तरपर्यायि प्रमुपसाधनानि	विद्यानात्मपर्यायि रमुपसाधनानि	मृतत्वा-पर्यायि रमुप-साधकः
१ आत्मसत्त्वार्थिनः	शाश्वतपुरुषः	आत्मन्विधिकानमनोमयो मृतत्वा
२-अद्वैतसत्त्वार्थिनः	विद्यानम्	मनोमय-भाषात्मना
३-मृतत्वसाधनानि	स्योविर्गा	बाह्यमयो-वैश्वानरत्वा १
आत्म्यलापर्ये अनुसृतापन्म	विद्यानात्मपर्ये अनुसृतापन्म	मृतत्वपर्ये अनुसृतासाधकः
४-वैश्वसत्त्वार्थिनः	आकु प्राणा	प्राथम्यो-वैश्वसत्वा १

३-स एष ध्यानयोगोत्पत्तक-
मक्तियोग-परिलेखस्त्वृण्य

३

ज्ञानयोगोत्पत्तकमक्तियोगोत्पत्तता
मनोमयो भूतस्मा प्राश्नः (३)

अन्तर्मु क्यर्थायि	१-आत्मसत्त्वानिः २-वेद्यसत्त्वानि ३-मूत्सत्त्वानि ४-असत्त्वानि	विज्ञानसत्त्परिष्कृता प्रज्ञानात्मा साध्यम् विज्ञानात्मासाध्यः	३-स एष ध्यानयोगोत्पत्तक- मक्तियोग-परिलेखस्त्वृण्य
अन्तर्मु क्यर्थायि	१-आत्मसत्त्वानिः २-वेद्यसत्त्वानि ३-मूत्सत्त्वानि ४-असत्त्वानि	विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः	३-स एष ध्यानयोगोत्पत्तक- मक्तियोग-परिलेखस्त्वृण्य
अन्तर्मु क्यर्थायि	१-आत्मसत्त्वानिः २-वेद्यसत्त्वानि ३-मूत्सत्त्वानि ४-असत्त्वानि	विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः	३-स एष ध्यानयोगोत्पत्तक- मक्तियोग-परिलेखस्त्वृण्य
अन्तर्मु क्यर्थायि	१-आत्मसत्त्वानिः २-वेद्यसत्त्वानि ३-मूत्सत्त्वानि ४-असत्त्वानि	विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः	३-स एष ध्यानयोगोत्पत्तक- मक्तियोग-परिलेखस्त्वृण्य
अन्तर्मु क्यर्थायि	१-आत्मसत्त्वानिः २-वेद्यसत्त्वानि ३-मूत्सत्त्वानि ४-असत्त्वानि	विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः विज्ञानात्मासाध्यः	३-स एष ध्यानयोगोत्पत्तक- मक्तियोग-परिलेखस्त्वृण्य

(४)स ए।-सुद्वियोगात्मकमिच्छा

योग-परिलेखधतुर्थाः

४

-सुद्वियोगात्मकमिच्छायोगानुष्ठाना

मानन्दविज्ञानमनोमयो भूतत्मा-

भूतत्मा (४)

स ए।-सुद्वियोगात्मकमिच्छायोगानुष्ठाना		स ए।-सुद्वियोगात्मकमिच्छायोगानुष्ठाना	
१-यन्त्राणां साधनम्	विज्ञानात्मपरिष्कारः प्रज्ञानात्मना साध्यम्	३-भूतत्मा साधकः	३-भूतत्मा साधकः
२-व्यक्त्यानि	विज्ञानात्मपरिष्कारः अयुगपत्साधनानि	भूतत्मा-व्याधि	भूतत्मा-व्याधि
३-व्यक्त्यानि	विज्ञानात्मपरिष्कारः अयुगपत्साधनानि	अयुगपत्साधनानि	अयुगपत्साधनानि
४-व्यक्त्यानि	विज्ञानात्मपरिष्कारः अयुगपत्साधनानि	मनोमय-शाश्वतात्मा	मनोमय-शाश्वतात्मा
५-व्यक्त्यानि	विज्ञानात्मपरिष्कारः अयुगपत्साधनानि	प्राणमय-तैजसतात्मा	प्राणमय-तैजसतात्मा
६-व्यक्त्यानि	विज्ञानात्मपरिष्कारः अयुगपत्साधनानि	वाचमय-वैश्वानरतात्मा	वाचमय-वैश्वानरतात्मा
७-व्यक्त्यानि	विज्ञानात्मपरिष्कारः अयुगपत्साधनानि	भूतत्मा	भूतत्मा
८-व्यक्त्यानि	विज्ञानात्मपरिष्कारः अयुगपत्साधनानि	मानन्दविज्ञानमनोमयो भूतत्मा	मानन्दविज्ञानमनोमयो भूतत्मा

१	अक्षरमात्रा	अक्षरः	उच्चारः	इत्येकान् गर्भे मूलत्वात्-मूलकल्पानि एवोद्विगच्छि-अक्षरमात्रायात्-आक्ष- मयो वैशानखमा-कर्मयोगमके प्रक्रियोगमुद्यते प्रधानम्	१ मूलात्मा-वैशानख- भक्तियोगमक- कर्मयोग (१)
२	परत्वरः	अक्षयः	अक्षरः		
३	अक्षरकल्पानि	अक्षरकल्पानि	देवकल्पानि		
४	बाहुपुत्रयः	विज्ञानम्	बाहुः प्राणः		
५	ताम्बकदाशिवः	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः		
६	मूलात्मा	मनोभवः प्राज्ञतामा	प्राणमयस्त्वैश्वर्यत्वात्		
७	अज्ञानन्दविज्ञानमनोति	मनः	प्राणः		

१	अक्षरमात्रा	अक्षरः	मकारः	इत्येकान् गर्भे मूलत्वात्-देवकल्पानि- आयुः-प्रण-प्राण-मात्रायात्-मूल- प्राणमयस्त्वैश्वर्यत्वात्-मूलकल्पानि- मूलकल्पानि-प्रधानम्	२ मूलात्मा-वैश्वर्य- मूलकल्पानि- मूलकल्पानि (२)
२	परत्वरः	अक्षयः	अक्षरः		
३	अक्षरकल्पानि	अक्षरकल्पानि	भूतकल्पानि		
४	बाहुपुत्रयः	विज्ञानम्	क्वाशिर्योः		
५	ताम्बकदाशिवः	प्रज्ञानम्	रैत-अक्षरः		
६	मूलात्मा	मनोभवः प्राज्ञतामा	बाहुमया वैशानखमा		
७	अज्ञानन्दविज्ञानमनोति	मनः	बाहुः		

१	अक्षरमात्रा	उच्चारः	मकारः	इत्येकान् गर्भे मूलत्वात्-अक्षरकल्पानि- प्राण-प्रण-मात्रायात्-मूल- प्राणमयस्त्वैश्वर्यत्वात्-मूलकल्पानि- मूलकल्पानि-प्रधानम्	३ मूलात्मा-प्राणः- मूलकल्पानि- प्रधानयोग (३)
२	परत्वरः	अक्षरः	अक्षरः		
३	अक्षरकल्पानि	अक्षरकल्पानि	भूतकल्पानि		
४	बाहुपुत्रयः	बाहुः प्राणः	क्वाशिर्योः		
५	ताम्बकदाशिवः	यशः प्राणः	रैत-अक्षरः		
६	मूलात्मा	प्राणमयस्त्वैश्वर्यत्वात्	बाहुमया वैशानखमा		
७	अज्ञानन्दविज्ञानमनोति	प्राणः	बाहुः		

१	अक्षरः	उच्चारः	मकारः	इत्येकान् गर्भे मूलत्वात्-अक्षरकल्पानि- प्राण-प्रण-मात्रायात्-मूल- प्राणमयस्त्वैश्वर्यत्वात्-मूलकल्पानि- मूलकल्पानि-प्रधानम्	४ मूलात्मा-मूलात्मा- मूलकल्पानि- प्रधानयोग (४)
२	अक्षयः	अक्षरः	अक्षरः		
३	अक्षरकल्पानि	अक्षरकल्पानि	भूतकल्पानि		
४	विज्ञानम्	बाहुः प्राणः	क्वाशिर्योः		
५	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः	रैत-अक्षरः		
६	मनोभवः प्राज्ञतामा	प्राणमयस्त्वैश्वर्यत्वात्	बाहुमया वैशानखमा		
७	मनः	प्राणः	बाहुः		

(४)स ए १-युदियोगात्मकमस्ति-

योग-परिलेख्यतुर्थः

४

-युदियोगात्मकमस्तियोगानुष्ठावा

मानन्दविद्वाननोमयो भूतात्मा-

भूतात्मा (४)

स ए १-युदियोगात्मकमस्तियोगानुष्ठावा मानन्दविद्वाननोमयो भूतात्मा-मानन्दविद्वाननोमयो भूतात्मा (४)

१	२	३
भगवन्पद्मा साधनम्	विद्वानात्मपरिष्कलः प्रज्ञानात्मा साधनम्	श्रेणी भूतात्मा-साधकः
१-भगवत्सपरिष्कलि तन्मुग्धसाधनानि	विद्वानात्मपरिष्कलि तन्मुग्धसाधनानि	भूतात्म-परिष्कलि तन्मुग्ध-साधकः
१-भगवत्सपरिष्कलि	विद्वानात्मपरिष्कलि	मनोमय-प्रज्ञात्मा
२-श्रेयसस्वरिणः	प्राप्तुः प्राप्तः	प्राक्तमया-श्रेयसात्मा
३-भूतात्मपरिष्कलि	व्योविर्गोः	वाक्यमयो-श्रेयसात्मा
४-भगवत्सपरिष्कलि	विद्वानात्मपरिष्कलि	२
५-भूतात्मपरिष्कलि	पशुपुत्रसाधनम्	भूतात्मपरिष्कलि
६-भगवत्सपरिष्कलि	प्राप्तुः प्राप्तः	मानन्दविद्वाननोमयो भूतात्मा

१	अदमात्रा	अकारः	उकारः	इत्येव गते मुक्त्वा-य उक्त्यानि स्वीकृतिश्च-अदमात्रागतः-आद- मयो वैशानरमा कर्मयोगत्वे मक्तियोगतुष्टाने प्रधानम्	१ मृतत्मा-वैशानर मक्तियोगत्वे कर्मयोग (१)
२	परस्पर	अभ्यय	अक्षरः		
३	आत्मक्यानिः	ब्रह्मक्यानि	देवक्यानि		
४	बाहुपुरुषः	विज्ञानम्	बाहुध्यायः		
५	ताम्बुशिव	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः		
६	मृतत्मा	मनोमय प्राज्ञरमा	प्राणमयसैब्रह्ममा		
७	आनन्दविज्ञानमनासि	मनः	प्राण		

१	अदमात्रा	अकारः	मकारः	इत्येव गते मुक्त्वा-देवक्यानि- आ-प्राण-यशःप्राणमयबाहुगतः- प्राणमयसैब्रह्ममा-मक्तियोगत्वे मक्तियोगतुष्टाने प्रधानम्	२ मृतत्मा-वैजस मक्तियोगत्वे- मक्तियोग (२)
२	परस्पर	अभ्यय	आत्मकृत		
३	आत्मक्यानि	ब्रह्मक्यानि	भूतक्यानि		
४	बाहुपुरुषः	विज्ञानम्	स्वीकृतिः		
५	ताम्बुशिव	प्रज्ञानम्	देव-अदमा		
६	मृतत्मा	मनोमयः प्राज्ञरमा	बाहुमया वैशानररमा		
७	आनन्दविज्ञानमनासि	मनः	बाहु		

१	अदमात्रा	उकारः	मकारः	इत्येव गते मुक्त्वा-अभ्ययानि विज्ञान-यशः-प्राण-मनोमयः- प्राणत्मा ज्ञानयोगत्वे मक्तियोग- तुष्टाने प्रधानम्	३ मृतत्मा-प्राज्ञः मक्तियोगत्वे- ज्ञानयोग (३)
२	परस्पर	अक्षरः	आत्मकृतः		
३	आत्मक्यानिः	देवक्यानिः	भूतक्यानि		
४	बाहुपुरुषः	बाहु प्राण	स्वीकृतिः		
५	ताम्बुशिव	यशः प्राण	देवः-अदमा		
६	मृतत्मा	प्राणमयसैब्रह्ममा	बाहुमया वैशानररमा		
७	आनन्दविज्ञानमनासि	प्राण	बाहु		

१	अक्षरः	उकारः	मकारः	इत्येव गते मुक्त्वा-आत्मक्यानि- प्राण-यशः-प्राण-मनोमयः- प्राणत्मा ज्ञानयोगत्वे मक्तियोग- तुष्टाने प्रधानम्	४ मृतत्मा-भूतत्मा मक्तियोगत्वे- पुष्टियोग (४)
२	अभ्यय	अक्षरः	आत्मकृतः		
३	ब्रह्मक्यानि	देवक्यानिः	भूतक्यानिः		
४	विज्ञानम्	बाहु प्राण	स्वीकृतिः		
५	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः	देव-अदमा		
६	मनोमय प्राज्ञरमा	प्राणमयसैब्रह्ममा	प्राणमया वैशानररमा		
७	मनः	प्राण	बाहु		

प्रकरणान्तरण—

(१)—ब्रह्म-देव-मूढ-संशयिन विज्ञानासुःप्राणासाक्षिणो—वैशानपरशुप्राण—रैत-ब्रह्मा—अन्तर्ध्यामि—श्रुतकर्मपरशुप्राण—
महत्प्रोक्तप्राण—इहूर्कं मना प्राप्तेवैशान-वैशानरगमितः—आत्मसंशयिन—बाह्यपुष्प-साम्प्रदायिक-परशु-
बाह्यमाधुगताः—

(४) ज्ञानन्तर्विज्ञानमनोमये भूतात्मा—बुद्धियोगारमक—भक्तियोगानुष्ठाना १

(२)—आत्मदेवमूढसंशयिन—बाह्यपुष्पप्राणप्राणस्योक्तिर्गो—साम्प्रदायिकपरशुप्राणरैतः ब्रह्मा—परशुबा—श्रुतकर्म-
शरीरगुहा—कर्मसोमप्राण—इहूर्कं मना—महत्प्रोक्तवैशानरगमितः—साम्प्रदायिक—विज्ञान—महान—अन्तर्ध्यामि-
महत्प्रोक्तप्राण—

(१)—मनोमय-प्राणात्मा—ज्ञानयोगारमक—भक्तियोगानुष्ठाना २

(१)—आत्मनसमूढसंशयिन—बाह्यपुष्पनिज्ञानस्योक्तिर्गो—साम्प्रदायिकपरशुप्राणरैतः ब्रह्मा—परशुबा—अन्तर्ध्यामि-
शरीरगुहा—कर्मसोमप्राण—इहूर्कं मना—महत्प्रोक्तवैशानरगमितः—वैशानरगमितः—बाह्यप्राण—साम्प्रदायिक—श्रुतकर्म-
प्राणमाधुगताः—

(२)—प्राणमयवैशानरमा—भक्तियोगारमक—भक्तियोगानुष्ठाना ३

(४)—आत्मब्रह्मवैशानरसंशयिन—बाह्यपुष्पविज्ञानासुःप्राण—साम्प्रदायिकपरशुप्राणप्राण—परशुबा—अन्तर्ध्यामि-
श्रुतकर्मपरशुप्राण—मूढप्रोक्तप्राण—मूढप्रोक्तप्राण—मूढप्रोक्तप्राण—सोक्तिर्गो—रैत—ब्रह्मा—शरीरगुहा—इहूर्कं—
मनामाधुगताः—

(१)—बाह्यस्यो वैशानरपत्ना—कर्मयोगारमक—भक्तियोगानुष्ठाना ४

- | | | | | | |
|-------------------|--------------------------|---------|-------------------------|------------------|------------|
| (१)—आत्मब्रह्मस्य | अभिसमावेनात्मसमर्पणम्— | तदनुगता | सत्त्वोत्पत्तिम्— | आत्मवादिन | (परिचारक) |
| (२)—अन्तर्ध्यामि | —अन्तर्ध्यामि— | तदनुगता | महत्प्रोक्तप्राणम्— | कर्मयोगारमकवादिन | (मन्त्र) |
| (३)—आधिभौतिकप्राण | वैशानरमनम— | तदनुगता | जीवप्राणोत्पत्तिम्— | वैशानर | (प्रपञ्चा) |
| (४)—आधिभौतिकप्राण | प्रतिमाप्रधानासुप्राणम्— | तदनुगता | —इहूर्कं मोगोत्पत्तिम्— | मूढवादिन | (उपासका) |

सैषा अभ्यक्तात्मगमितमहान्माधुगता भूतात्मनो भक्तियोगस्तुष्टयी—द्वितीया—

- | | | | | | |
|------------------|---------------|--------------|---------------|--------------|------------|
| (१) अन्तर्ध्यामि | —विशुद्धवादिन | —आत्मनिष्ठा | —बुद्धियोगिनो | उपासका | (उपासका) |
| (२) अन्तर्ध्यामि | —कर्मयोगारमक | —कर्मयोगारमक | —कर्मयोगारमक | —कर्मयोगारमक | (प्रपञ्च) |
| (३) अन्तर्ध्यामि | —कर्मयोगारमक | —कर्मयोगारमक | —कर्मयोगारमक | —कर्मयोगारमक | (भक्ति) |
| (४) अन्तर्ध्यामि | —कर्मयोगारमक | —कर्मयोगारमक | —कर्मयोगारमक | —कर्मयोगारमक | (परिचर्या) |

अमन्यात्मपर्वीणि विद्यानात्मपर्वीणि प्रद्यानात्मपर्वीणि अव्यक्तात्मपर्वीणि महानात्मपर्वीणि भूतात्मपर्वीणि

(१) आत्मसत्त्वमि- भातुपुरुष- सम्बन्धशक्ति- परोरत्ना- सत्त्वम्- भूतात्मा- असासकः (परस्परानुगतः)

(२) ब्रह्मसत्त्वमि- विद्यात्म- प्रज्ञानम्- अन्तर्व्यामी- महान्- ब्रह्मात्मा- प्रपञ्चः (अव्ययानुगतः)

(३) देवसत्त्वमि- आतुआणः- यथाःआणः- अजसत्ये- सौम्यप्राणः- वैजसत्मा- सक्तः (असुरानुगतः)

(४) भूतसत्त्वमि- ज्योतिर्गोः- रेतःभक्षः- शरीरपुत्रः- शङ्कभोगा- वैश्यानरत्ना- परिचारकः (आत्मसङ्गानुगतः)



[१]-पातुपुरुषसम्परिप्यक्त-साम्बन्धशक्तिबानुगत-परोरजगभित्तसत्त्वप्रधानो भूतात्मा-भूतारमा-आत्मा [बुद्धियोगात्मकमभित्तयोगप्रतिष्ठासूक्तिः]

[२]-विद्यात्मसम्परिप्यक्त-प्रज्ञानानुगत-अन्तर्व्यामिगमित्तब्रह्मप्रधानो भूतात्मा-ब्रह्मात्मा-ब्रह्मक्षरारीरम् [ज्ञानयोगात्मकमभित्तयोगप्रतिष्ठासूक्तिः]

[३]-भातुप्राणसम्परिप्यक्त-यथाःप्रणानुगतः-अजसत्त्वगमित्तसौम्यप्राणप्रधानो भूतारमा-वैजसत्मा-सुरशरीरम् [भित्तियोगात्मकमभित्तियोगप्रतिष्ठासूक्तिः]

[४]-ज्योतिर्गोःसम्परिप्यक्त-रेतः-शरीरपुत्रगमित्त शङ्कभोगप्रधानो भूतात्मा-वैश्यानरत्ना-स्यूसुरारीरम् [कर्मयोगात्मकमभित्तियोगप्रतिष्ठासूक्तिः]



●—ज्ञानयोगात्मिक ज्ञानयोगचतुष्टयी तृतीया

३५—जीवानुगत पोद्दशीपुरुष, और ज्ञानयोगचतुष्टयी—

अब जगत्मात ठीकठी ज्ञानयोगचतुष्टयी का स्वस्मविभेदपत्र पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है। कठशाखा गया है कि, जीवानुगत गूढोत्स (जीवानुगत पोद्दशीपुरुष) के आचार पर ज्ञानयोग प्रतिष्ठित है। जीवानुगता नहीं पाठकों का सुपरिचित 'भूतत्मा' है, जिसके परस्पर-अन्वय-अक्षर-आत्मक्षर भाषी से अनुगत भूतत्मा-प्राज्ञत्मा-तैजस्यत्मा-बैशानरत्मा-ये चार पूर्व कल्पित गए हैं। मक्तिभोगानुज्ञान में भूतत्मा का विज्ञानात्मपरिष्कृत प्रज्ञानात्मा को स्वयं में भूत करने वाले अस्मकत्मागति महानात्मा का अनुगामी बना रहता है। वहीं प्रसूत ज्ञानयोगानुज्ञान में यह भूतत्मा विज्ञान-प्रज्ञान-अस्मक-महान्-इन चारो आत्माओं को स्वयंभवाया के गर्भ में भूत करने वाले भोगामयी जीवानुगत पोद्दशीपुरुष का अनुगामी बना रहता है। भूतत्मा की इस जीवोद्दशीपुरुषावृत्ति का ही नाम 'ज्ञानयोग' है। जिसके पोद्दशी-पूर्व मेर से मक्तिभोगम् चार विभक्त हो जाते हैं। जहाँ का अन्वय उद्दशरूपक स्वयंभवरूप किया जा रहा है।

३६—ज्ञानयोगाधिष्ठत्री आत्मचतुष्टयी—

बैशानरत्मा के आत्मचतुष्टय आत्मक्षर पूर्व की मूल (स्रष्ट) बना कर अन्वयत्मा के आत्मचतुष्टय मूठकशाखि विज्ञानात्मा के आत्मचतुष्टय ज्योतिषी। प्रज्ञानात्मा के आत्मचतुष्टय 'रत' अर्था, अस्मकत्मा के आत्मचतुष्टय शरीररुद्रा, महानात्मा के आत्मचतुष्टय इहर्क भोग, इन खपनों के द्वारा भूतत्मा अपने आत्मचतुष्टय बाह्यम वैशानर भाग से जो कर्म करता है। वहीं विज्ञानात्मा में 'विति' नाम से स्पष्टत हुआ है। इन्द्रियादी अलौकिक पदार्थ ज्ञान से वृद्धि उमान्य लौकिक प्रत्यक्ष-ऐन्द्रियज्ञान के अनुगामी मनुष्यों का ज्ञानात्मक कर्म ही 'विति' कहलाता है। लोकज्ञानकुशल ऐन्द्रिक प्रत्यक्षज्ञानपरम लौकिक पुत्र ही इस विदितज्ञान ज्ञानयोग के अधिकांसी मार्ग गए हैं। विति का पी स्वयंभवरूप किया जा उक्त है कि वैशानर गूढोत्स के चतुर्विध से चार भागों में विभक्त है। गूढोत्स का आत्मक्षरमात्र प्रथम रूप है। इस रूप से आत्मक्षरमात्र बाह्यम चर-मौलिकप्रपञ्च अनुपरीत रहता है। चरमात्र उन्नत भौतिक ज्ञान का मूलभूत नहीं आत्मक्षरमात्र ज्ञान है। इसे आत्मक्षर कर लेना ही 'विति' लक्षण ज्ञानयोग है। जिसे भूतप्रधान से हम ज्ञानबोध्यात्मक कर्मयोग कह सकते हैं। गूढोत्स का आक्षरमात्र द्वितीय रूप है। इस रूप से आक्षरमात्र माध्यमका अनुपरीत रहता है। अक्षरमात्र उन्नत माध्यमिक का मूलभूत नहीं आक्षरमात्र ज्ञान है। इसे ही विज्ञानात्मा में 'निविति' कहा गया है। इसे आत्मक्षर कर लेना ही 'निविति' लक्षण ज्ञानयोग है। जिसे आधिदैविक प्रपञ्च के उन्नत से हम ज्ञानबोध्यात्मक मक्तियोग कह सकते हैं। गूढोत्स का अस्मकमात्र तृतीय रूप है। इस रूप से अस्मकमात्र मानप्रपञ्च अनुपरीत रहता है। अस्मकमात्र उन्नत मानविक उन्नत मनोविकृत का मूलभूत नहीं अस्मकमात्र ज्ञान है। इसे ही विज्ञानात्मा में 'अनुमृति' कहा गया है। इसे आत्मक्षर कर लेना ही 'अनुमृति' लक्षण ज्ञानयोग है। जिसे विशुद्ध ज्ञानप्रधान से ज्ञानबोध्यात्मक ज्ञानयोग कहा जा सकता है। गूढोत्स का परास्परमात्र (भोगमात्राधिज्ञान हीमिष परास्परमात्र) अस्मकमात्र चतुर्थ रूप है। इस रूप से परास्परमात्र ज्ञानान्विज्ञानानन्दनिमित्त अस्तबैश्व अनुपरीत रहता है। उन्नत अस्तबैश्वी का मूलभूत नहीं परास्परमात्र ज्ञान है जो कर्म उन्नत से प्रतिष्ठित रहता हुआ 'उन्नत' नाम से स्पष्टत हुआ

है। इसे ही विज्ञानमाया में 'विमृति' नाम से व्यवहृत किया गया है। इसे आत्मछात्र कर लेना ही विमृति-लक्षण ज्ञानयोग है, जिसे सर्वतमन्त्रेष्टद्वि से ज्ञानयोगरमक बुद्धियोग कहा जा सकता है।

३७- 'विधि'-सावानुगत बाह्य मय ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग—

(१) इष्टप्रकार गूत्रेमा के परत्पर-अभ्यस-अक्षर-आत्मछर-मत्रों से सम्बद्ध 'विमृति, अनुभूति नियति चिन्ति' मे से तदनुगत ज्ञानयोग क्रमच 'बुद्धि-ज्ञान-मक्ति-कर्म', इन चार योगों में निम्नत हो जाता है। वास्तविक से सम्बद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक चिन्तन भी लौकिक ज्ञान है, उनमें आसक्त रहना ही ज्ञानयोगात्मक कर्मयोगप्रतुष्टन है। विश्व के उस मानव वर्ग को, जो शिष्य-कहा-वाणिस्य-प्रत्यक्षद्वय मद्र-नक्षत्र-पञ्चमहाभूत आदि आदि भौतिक अन्वेषण कर्मों में रत रहता है अन्वेषण के द्वारा तदस्मक 'विधि' लक्षण भौतिक ज्ञान सम्पादन करता रहता है हम ज्ञानयोगात्मक कर्म योग का अनुगामी करेंगे। इस ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग का आधार मक्तियोगात्मक कर्म योग की मति लौकिक अभिमान ही कनी रहती है। गूत्रेमा के विधि-लक्षण अस्मद्वयपर्य पर प्रतिष्ठित मूत्रक्यानि-अप्योक्तियाँ-शैत-अज्ञा-पर्यमित शरीरगुहा-इहकर्मयोगपर्य के द्वारा संघाषित, ज्ञानयोगात्मक कर्म योग, तथा तथाविध कर्म वागियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविरलोपण है। इसी को आत्मकलाद्वि से 'बाह्यमय अययोग' कहा जा सकता है, जो मन्त्रियोगात्मक कर्म योग से अग्रत सम्पुष्टित है।

३८- 'नियति'-सावानुगत प्राणमय ज्ञानयोगात्मक मक्तियोग—

(२) अक्षरक्या मक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव तदनुगत ज्ञानयोग को अक्षर ही ज्ञानयोगात्मक मक्तियोग कहा जा सकता है। गूत्रेमा के अक्षरतुगत अक्षर पर्य को मूत्र बना कर अन्व्यात्मा के अक्षरतुगत देवक्यानि, विज्ञानात्मा के अक्षरतुगत आनुभाष्य महानात्मा के अक्षरतुगत बध्याष्य अन्व्यात्मा के अक्षरतुगत श्रुतकल्पसूत्र, महानात्मा के अक्षरतुगत शैष्यभाष्य, नन लापनों के द्वारा भूतात्मा अपने अक्षरप्रधान प्राणमय वैश्वमाग से जो कर्म करता है यही विज्ञानमाया में 'नियति' कहलाया है। उपनिषदों में अक्षरक्या को 'शास्ता कलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि, सम्यक् अक्षर प्रयत्न अक्षर के शास्त्ररचय से ही स्व-स्व नियत कर्म में आसक्त है। तत्कल्पयार्थों का नियत कर्माक्षरण ही तत्कल्पयार्थों की 'नियति' है। प्राकृतिक-परौष-अभ्याहणशिक्षाद्वय-उत्पादन नियम ही नियति है। बन्वबाह्य पर्य अक्षर के इत नियति-ज्ञान से ही स्थापित है। इसी के लिए 'मीयात्मादास्तपते मीयोदेवि सूर्ये' (तैत्ति २।७।) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। इसी निश्चिन्तित्वान को 'प्राणविज्ञान' 'देवताविज्ञान' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है किन्तु एकमात्र भावीय वैदिकविज्ञान से ही सम्भव है। परौषद्विषयपेक्ष इस प्राणविज्ञान (तत्त्वविज्ञान) में रत रहने वाला मानवक्या ही ज्ञानयोगात्मक मक्तियोग का अनुगामी कहलाया है। जो विज्ञान अक्षरपर्य-तप-अक्ष-नेत्रानुपासन-अज्ञा-पर्य उपनिषदादि वेनेस्त व्याखनों के द्वारा मनोनात्मकाम्युद्धि पूर्वक तत्त्वविज्ञानान्वेषण में प्रवृत्त रहते हैं वे ही इस ज्ञानयोगात्मक मक्तियोग के अनुयायी माने गए हैं। गूत्रेमा के 'नियति लक्षण अक्षरपर्य पर प्रतिष्ठित, देवक्यानि आनुभाष्य यथाप्याय अक्षरक्य शैष्य-प्राणपर्य के द्वारा संघाषित, ज्ञानयोगात्मक मक्तियोग तथा तथाविध मक्तियोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूप-विरलोपण है। इसी को आत्मकलाद्वि से 'प्राणमय क्रियायोग' कहा जा सकता है जो मक्तियोगात्मक मक्तियोग से अग्रत सम्पुष्टित है।

धरणा विमृतिरिति से यह एकमात्रात्मक है और यही परात्परत्व के विमृतिरक्षण ज्ञान का स्वरूपविकीर्ण-
 य है। ज्ञानयोगात्मक ज्ञानभाग के अन्वयाधी क्रमिक अन्वयाच्छाया जब इस व्यापक विमृतिज्ञान के अनुवासी
 धरते हुए—'तर्क-व्यक्ति-ब्रह्म'—भावना को वरिताय बना लेते हैं, तो उस दशा में उनका अन्वयातुल्य ज्ञान-
 योगात्मक ज्ञानयोग परात्परतुल्य ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोगात्मक में परिणत हो जाता है। साम्यावस्थापन
 ज्ञानयोगिणी का सिद्धांतरथा में पहुँच जाना ही इनका ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोगात्मक है। गूणत्मा के 'विमृति'
 लक्षण परात्पर पर प्रतिष्ठित, आत्मतत्त्वानि, चातुर्यपुरुष, साम्यशक्ति परात्पर उत्त, इन पक्षों के द्वारा
 संस्थापित ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग का, एवं तन्मात्रिक बुद्धियोगिणी का यही संक्षिप्त स्वरूपविकीर्णय है। इसी
 को अक्षरमहादिति से 'आनन्दविज्ञानमनोमय अन्वयात्मयोग' कहा जासकता है, जो मकर्यात्मक बुद्धियोग त
 अक्षरतः सम्प्रतिष्ठित है।

ज्ञानयोगात्मक जिन चारों ओरों का अब तक क्रमिक विरलेपण हुआ है, उनमें स्वयं कर्मयोगात्
 न वा संकुचित स्वार्थ है नाहीं मन्त्रियोगात् आमान्य स्वार्थ है, तथापि उन्हें भी स्वार्थ-मर्यादा से एकान्तक
 रूपक नहीं किया जासकता फिर वह स्वाध परमार्थमावापन ही क्यों न हो। अक्षर स्पष्ट है। मूलमन्त्रि-
 मूलप्रलोमन न उर्यी, आत्मोद्धारकामना इस ज्ञानयोगात्मक में ही सुरक्षित है। अक्षरमात्रमात्र के अति-
 रिक्त ज्ञानयोगात्मक इन चारों ही मानी में कर्म-मन्त्रियोग-चतुष्टयी की मूर्ति लोकसंग्रह का अभाव हो
 सुरक्षित है। विविक्तज्ञान नियमितज्ञान अनुमतिरक्षण ज्ञान एवं विमृतिरक्षण ज्ञान, चारों से
 प्रधानतः योगानुष्ठानकर्ता की विमृतिरक्षण अन्वयात्मकता का ही उपधार होता है जिसके मूल में काममात्र
 निहित है। फलतः मन्त्रियोगात्मक की मूर्ति इस ज्ञानयोगात्मक की उपयोगिता के सम्बन्ध में भी मान-
 भाव ही श्रेय-पन्था प्रकृत हो रहा है। मन्त्रियोगात्मक-निरूपण में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, पूर्व पूर
 योगात्मक के साम्य उत्तर-उत्तर योगात्मक में साधन बन जाते हैं। इस दृष्टि से प्रकृत की ज्ञानयोगात्मक
 में इसके पहिले की मन्त्रियोगात्मक में कार्य बन हुए अक्षरमात्र-महानात्मक साधन बन जाते हैं, वीथ
 कि निम्नलिखित विरलेपण से स्पष्ट है।

४१-ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग के साधन-साधक-साध्य-साध—

(१)-ज्ञानात्मक कर्मयोग में साधनमय अन्वयात्मा के परात्पर-अन्वय-आत्मदरमात्र से सम्बद्ध
 आत्मतत्त्वानि ब्रह्मत्वानि वेदत्वानि—ये तीनों पक्ष विज्ञानात्मा के चातुर्यपुरुष विज्ञान आनुष्ठाण-म
 तीनों पक्ष, प्रज्ञानात्मा के साम्यशक्ति प्रज्ञान वराध्याण-व तीनों पक्ष अन्वयात्मा के परात्पर अन्वयात्मा,
 अक्षरत्व-ये तीनों पक्ष एवं साधकमूल मत्तमा के आनन्दविज्ञानमनोमय मूलत्मा, मनमय प्राज्ञमा
 प्राज्ञमय वैशद्यत्मा, ये तीनों पक्ष अन्वयात्मकता में परिणत रहते हैं। साधनमय अन्वयात्मा के तीनों उद्गुण-
 पक्ष साधनमूल अन्वयात्मा के बीच उद्गुण मत्तत्वानि नामक पक्ष में विज्ञानात्मा के तीनों पक्ष बीच उद्गुण
 व्यापिणी नामक पक्ष में प्रज्ञानात्मा के तीनों पक्ष बीच उद्गुण वेदत्वानि नामक पक्ष में अन्वयात्मा के तीनों
 पक्ष बीच उद्गुण वरीरयुगात्पक्ष में, महानात्मा के तीनों पक्ष बीच उद्गुण इहर्कमोक्ष नामक पक्ष में, व्यापनमय
 गूणत्मा के तीनों पक्ष बीच उद्गुण आत्मदर नामक पक्ष में एवं साधकमूल मूलत्मा के तीनों पक्ष बीच
 उद्गुण वाचस्प वैश्वानरत्मा नामक पक्ष में अक्षरमुक्त रहते हैं।

४२-ज्ञानयोगात्मक मक्तियोग के साधन-साधक-साध्य-भाव-

(२)-ज्ञानात्मक मक्तियोग में साधनमूल अर्थात्मा के परस्पर-आभ्य-आत्मपर मान से उत्पन्न आत्मस्वामि ब्रह्मस्वामि, मूलस्वामिपर्व विज्ञानरत्ना के चातुर्यपुरुष, विज्ञान, श्रोत्रिणीपर्व, प्रज्ञानरत्न के साम्बन्धाधिक प्रज्ञान रत्न-महात्मा अस्मत्प्रज्ञा के परस्पर, अन्तर्मर्मी शरीरगुण, महानत्मा के स्व महान्, इहर्कमोग पर्व साध्यमूल गूढेत्मा के परस्पर आभ्य, आत्मपरपर्व, एवं साधकमूल मूलत्मा के मूलत्मा, माह बैरवानरपर्व अनुष्णावरणा में परिणत रहते हैं। साधनमूल अर्थात्मा विज्ञानरत्ना, प्रज्ञानात्मा अस्मत्प्रज्ञा महानत्मा के, साध्यमूल गूढेत्मा के, साधकमूल मूलत्मा के तीनों अनुष्णपर्व क्रमशः साधनमूल अर्थात्मा के वैकल्यवामि विज्ञान के चातुर्यपुरुष प्रज्ञान के महाप्राण अस्मत् के श्रुतस्व महान् के धौमन्दाय नामक चौथे उद्बुद्ध पर्वों में साध्यमूल गूढेत्मा के तीनों पर्व साध्यमूल गूढेत्मा के चौथे उद्बुद्ध आधर नामक पर्व में एवं साधकमूल मूलत्मा के तीनों पर्व मूलत्मा के चौथे उद्बुद्ध आत्मपर वैकल्यपर्व में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

४३-ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग के साधन-साधक-साध्य-भाव-

(३)-ज्ञानात्मक ज्ञानयोग में साधनमूल अर्थात्मा-विज्ञानरत्ना-प्रज्ञानात्मा-अस्मत्प्रज्ञा-महानत्मा, साध्यमूल गूढेत्मा, साधकमूल मूलत्मा के क्रमशः परस्पर-आभ्य-आत्मपरमान से उत्पन्न आत्मस्वामि-वैकल्यवामि-मूलस्वामि चातुर्यपुरुष-चातुर्यपुरुष-श्रोत्रिणी साम्बन्धाधिक-महाप्राण-रत्नात्मा, परस्पर-श्रुतस्व-शरीरगुण स्वधौमन्दाय-इहर्कमोग परस्पर-आभ्य-आत्मपर, मूलत्मा-वैकल्य-वैरवानरपर्व में तीन तीन पर्व अनुष्णावरणा में परिणत रहते हैं। साधन-साध्य-साधक-मूल इन अर्थात्माओं के अनुष्ण विज्ञान इन सबके चौथे उद्बुद्ध-ब्रह्मस्वामि, विज्ञान, प्रज्ञान, अन्तर्मर्मी, महान्, अस्मत्, मनोमय प्राज्ञरत्ना इन पर्वों में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

४४-ज्ञानयोगात्मक बुक्तियोग के साधन-साधक-साध्य-भाव-

(४)-ज्ञानात्मक बुक्तियोग में उक्त अर्थात्माओं के क्रमशः ब्रह्मस्वामि-वैकल्यवामि-मूलस्वामि-विज्ञान-चातुर्यपुरुष-श्रोत्रिणी-महान्-महाप्राण-रत्न-महा-अन्तर्मर्मी-श्रुतस्व-शरीरगुण-महान्-धौमन्दाय-इहर्कमोग आभ्य-आभ्य-आत्मपर, एवं माह-वैकल्य-वैरवानर, ये विज्ञान अनुष्णावरणा में परिणत रहते हैं। ये सब विज्ञान रत्न चौथे उद्बुद्ध आत्मस्वामि चातुर्यपुरुष साम्बन्धाधिक परस्पर स्व, परस्पर आत्मस्वामि-विज्ञानरत्न मूलत्मा इन पर्वों में अन्तर्मुक्त रहते हैं। आगे के परिशोनी से यह अनुष्ण-उद्बुद्ध आत्मपरपर्वपरपर्व शरीरगुण स्वधौमन्दाय वैकल्य हो रही है।

म एत-समुप्य श्रम्याम-शिक्षनाम-प्रदानाम-प्रवृत्तम-महात्म-गुणान्-भूतामार्थगर्भित-
 मत्तुव श्रम्याम शिवात्मन प्रदानाम-शापकम-महात्म-गुणान्-गुणान्-रूपो पेशानरप्रगतो

भूतामा ज्ञानामः कर्मयोगानुष्ठाने प्रधान

म ण्य -ज्ञाना मरःस्मयोग-
 परिलेग प्रथम

?

-ज्ञाना मरःस्मयोगानुष्ठाना-
 पाठमयो भूता मा वैश्वानर (?)

(२२३ क म प्र म)

प्रकरणान्तरेषा—

(१)—ब्रह्म-ज्ञान-मूत्र-रूप्यानि, विज्ञानायुःप्राणश्चोक्तिर्गौ, प्रज्ञानयशःप्राणरैतःभद्रा, अन्तर्ध्यामि श्रुतकृत्वरारीरुहा, महत्सौम्यप्राण इहूर्कं भोग-अभ्यसाचरत्नमचर प्राणतैबकवैरवानरगमितः आत्मरूप्यानि, चाञ्जुपपुरष, धम्म-छदाशिव-परैरदा, सत्त्व परत्पर-भावानुगत-

(४) -आनन्दविज्ञानमनोमयो मूत्रारमा—युक्तियोगात्मक-ज्ञानयोगानुष्ठाना १

(१) -आत्मदेवमूत्ररूप्यानि, चाञ्जुपपुरषायुःप्राणश्चोक्तिर्गौ -साम्बुद्धाशिवप्रज्ञानरैतःभद्रा, परैरबाश्चरूप-शरीरुहा -सत्त्वसौम्यप्राण इहूर्कं भोग-परत्परत्नमचर-मूत्रप्रकृतैबकवैरवानरगमितः-प्रकृत्यानि, विज्ञान, प्रज्ञान, अन्तर्ध्यामि, महत्, अभ्यस्य-भावानुगत -

(१) -मनोमयः प्राज्ञरमा-ज्ञानयोगात्मक-ज्ञानयोगानुष्ठाना २

(१) -आत्मब्रह्ममूत्ररूप्यानि, चाञ्जुपपुरषविज्ञानायुःप्राणश्चोक्तिर्गौ -साम्बुद्धाशिवप्रज्ञानरैतःभद्रा, परैरबा-अन्तर्ध्यामि-शरीरुहा, -सत्त्वमहद्दिहूर्कं भोग-परत्परत्नमचर-मूत्रप्रकृतैबकवैरवानरगमितः-देवक्यानि, आमुःप्राण, प्श्राप्राण, श्रुत्कृत्, सौम्यप्राण, अचरमावानुगतः-

(२) -प्राणमयस्तैबकृतमा-भक्तियोगात्मक-ज्ञानयोगाधिष्ठाना ३

(४) -आत्मब्रह्मदेवक्यानि, चाञ्जुपपुरषविज्ञानायुःप्राण, साम्बुद्धाशिवप्रज्ञानयशःप्राण, परैरबा-अन्तर्ध्यामि-श्रुतकृत्, सत्त्वमहत्सौम्यप्राण-परत्परत्नमचर-मूत्रप्रकृतैबकवैरवानरगमितः-मूत्ररूप्यानि, चोक्तिर्गौ, रैतःभद्रा, शरीरुहा, इहूर्कं भोग-अत्मचरमावानुगत-

(१) -नाकमयो वैश्वानरमा-कर्मयोगात्मक-ज्ञानयोगाधिष्ठाना ४

- (१) -परत्परानुगते-विशुद्धिज्ञाने-आत्मधर्मपंकम्-सर्वगुणा-परत्पररीपत्रीपिनो-महापादिना (ब्रह्मयोगिनः)
- (२) -अभ्ययानुगते-अनुम विज्ञाने-आत्मधर्मपंकम्-सर्वगुणा-अभ्ययोगीपिनो-आत्मपादिना (ज्ञानयोगिनः)
- (३) -अचरानुगते-नियतिज्ञाने-आत्मधर्मपंकम्-सर्वगुणा-अचररीपत्रीपिनो-नियतिज्ञानपादिना (नियतियोगिनः)
- (४) -आत्मचरानुगते-विशुद्धिज्ञाने-आत्मधर्मपंकम्-सर्वगुणा-अचररीपत्रीपिनो-अचरविज्ञानपादिना (कर्म योगिनः)

मैषा-जीवानुगतगुणोत्मानुगता भूतारमा तातायागपुण्यी कृतीया—

- (१) अस्तु ता—विशुद्धातिगता—ब्रह्मनिष्ठा—युक्तियोगिना—विम विमयावना (विमूि)
- (२) अस्तु ता—सर्वरबागुरवता—आत्मनिष्ठा—ज्ञानयोगिनी गुण विमयावना (अमूि)
- (३) अस्तु र्दिमु ता—सर्वरभो-सुखता—नियतिज्ञानिष्ठा—भक्तियोगिना नियतिज्ञानवना (नियति)
- (४) बहिमु ता—सर्वोत्पुण्यता—सुखविज्ञाननिष्ठा-कर्म योगिना-नियतिज्ञानवना (विमि)

अन्यात्मपराधि विद्वानात्मपर्वाधि प्रज्ञानात्मपर्वाधि अव्यक्तात्मपर्वाधि महानात्मपर्वाधि गुहोत्मपर्वाधि भूतात्मपर्वाधि

(१) आत्मस्य चाग्नि- बाहुपुरुषः- साम्बसदाशिरिषा- परोरजा- सत्यम्- परस्तरा- भूतस्मा- विमूर्तिमान् (परस्तरातुलगता)

(२) अद्वैतत्वमग्नि- विद्यात्मम्- प्रज्ञानम्- अन्तर्व्यामी- महत्- अच्यम्- प्राणात्मना- सत्त्वात्प्रेपकः (अव्ययतुलगता)

(३) देवसत्त्वमग्नि- आधुनाद्यः- यथा प्राणाः- अतस्तस्ये- सौम्यप्राणा- अक्षर- शैवसत्त्वा- सत्त्वस्येपकः (अक्षरतुलगता)

(४) मूर्तसराग्नि- श्येतिर्गो- रेत भव्या- शरीरगुण- इहकं मोगा- आत्मक्षर- वैश्वानरत्वा- एवंयित् (आत्मक्षरतुलगता)

—०००—

[१]-बाहुपुरुषस्यरिष्यक्त्वं-साम्बसदाशिरिषातुलगता-परोरजागमिर्तसत्त्वपुरुक्त्वं-परस्तरप्रधानो भूतस्मा-भूतात्मा-अत्मा [बुद्धियोगप्रत्यक्षज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[२]-विद्वानात्मस्यरिष्यक्त्वं-अज्ञानतुलगता-अन्तर्व्यामिर्गमिर्तमहत्पुरुक्त्वं-अन्वयप्रधानो महत्त्वा-प्राणात्मना-अक्षरत्वा-अक्षरत्वा-अक्षरत्वा-अक्षरत्वा-अक्षरत्वा [ज्ञानयोगप्रत्यक्षज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[३]-आधुनाद्यस्यरिष्यक्त्वं-यथा-आणदुलगता-अतस्तत्त्वमग्निर्गमिर्तसौम्यप्राणपुरुक्त्वं-अक्षरप्रधानो भूतस्मा-वैश्वानरत्वा-सत्त्वसरीरम् [भक्तियोगप्रत्यक्षज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[४]-श्येतिर्गो-सत्त्वरीष्यक्त्वं-रत-महत्तुलगता-शरीरगुह्यमग्निर्गमिर्तमहत्पुरुक्त्वं-मोगपुरुक्त्वं-आत्मक्षरप्रधानो भूतस्मा-वैश्वानरत्वा-सत्त्वसरीरम् [अन्वययोगप्रत्यक्षज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः]

●-बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगचतुष्टयी चतुर्थी

४५-लोकप्रचलिता योगत्रयी का गीताद्वारा सशोधन—

आज हम प्राप्त अन्तिम (चौथी) उक्त योगचतुष्टयी की ओर गीताप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है जिसका तात्त्विक स्वरूप आस-सर्वथा क्लृप्त है। अतएव मानवसमाज संरक्ष, एवं सुख बना हुआ है। यही योगचतुष्टयी गीता-परिभाषा में 'बुद्धियोगचतुष्टयी' नाम से सम्बद्ध हुई है, जिसका अगले परिच्छेदों में, एवं प्राकरणी में विस्तार से निरूपण होने वाला है। प्रस्तुत बुद्धियोगचतुष्टयी के निरूपण से पहिले इत से पूर्व हमारा निरूपित कर्म-मक्ति-ज्ञानयोग-चतुष्टयी का स्वरूप मलीमति हृदयहम कर ज्ञेना चाहिए। तभी इसकी सम्यक्सा पूर्णता-अपूर्वता एवं क्लृप्तता का मलीमति परिचय प्राप्त हो सकेगा। कर्मयोगचतुष्टयी का चौथा कर्मयोगपरम बुद्धियोग 'वैदिक कर्मयोग' है। मक्तियोगचतुष्टयी का चौथा मक्तियोगत्मक बुद्धियोग 'शास्त्रीय ज्ञानयोग' है। एवं ज्ञानयोगचतुष्टयी का चौथा ज्ञानयोगत्मक बुद्धियोग 'शास्त्रीय ज्ञानयोग' है। तात्पर्य इत किशोपय का यही है कि, वचमान युग में पुरुष के शास्त्रीय पुरुषार्थ क्रमशः कर्मयोग, मक्तियोग, ज्ञानयोग, ये तीन योग मानें जा रहे हैं। चाय ही कर्मयोग को प्राथिमार्ग्य मक्तियोग को उभयमार्ग्य, एवं ज्ञानयोग को निहृदिमार्ग्य कहलाया जा रहा है। परिभाषा तीनों योगों की यह की जा रही है कि वेद के आश्रयमान में निरूपित वैदिक यज्ञ-उपो-दान-स्रावण विद्याखण्ड प्रवृत्ति-कर्मों में आश्रयभजन रत रहते हुए स्वर्गाधिकार प्राप्त करना ही 'कर्मयोग' है, जिसे गीता ने 'योगनिष्ठा' नाम से सम्बद्ध किया गया है। इस निष्ठा में कर्मकलाप का अन्तर्निष्कर्म से संहर हुआ है। वेद के आश्रयकाल में निरूपित वैदिक उपासनामार्ग में यज्ञशरीरक प्रवृत्त रहते हुए सगुणत्व के साथ लघुपुण्यमान प्राप्त कर लेना ही 'मनितयोग' है, जिसे गीता ने 'काम्यभक्तिनिष्ठा' नाम से सम्बद्ध किया है। वेद के उचनित्यमान में निरूपित वैदिक ज्ञानमार्ग में उत्तम रहते हुए नियुक्त मध्य में तीन हो जाना ही 'ज्ञानयोग' है। कर्मयोग में बर्हा कामनापूर्वक सर्वकर्म का संहर है बर्हा इत ज्ञानयोग में सर्वकर्मों का आत्यन्तिक परित्याग समीपित है। कर्मत्यागस्रावण यही ज्ञानयोग मीलापरिभाषा में 'सांख्यनिष्ठा' नाम से सम्बद्ध हुआ है। तीनों की उपादेयता-अनुपादेयता के सम्बन्ध में क्रमशः कर्म-मक्ति-ज्ञान-परीक्षाएषों में विस्तार से विरोधपय किया जा चुका है। प्रकृत में हमें कहलाना पकत यही है कि-कर्म-मक्ति-ज्ञान तीनों योगचतुष्टयी में से तीनों के बुद्धियोगात्मक चतुर्थ-चतुर्थ योग ही शास्त्रीय कर्म-मक्ति-ज्ञानयोग कहलाए हैं। तीनों ही योग आत्यन्तिक पुरुषार्थरक्षण में आश्रय हैं। यथानिष्ठा नामक वैदिक कर्मयोग कामना के सम्बन्ध से आत्यन्तिक का बनक बना हुआ आश्रयक बन रहा है। वैदिक उपासनायोग मी कामनाकर्म से इतमान का सम्बन्ध बन रहा है। एवं वैदिक ज्ञानयोग कर्मपरिहारापाराकत्वेन काम्यब्रह्मर्ष बन रहा है। अतएव कहा जा सकता है कि, गीता की दृष्टि से तीनों ही शास्त्रीय योग अनुपादेय हैं। आत्यन्तिक का प्रकृत सम्बन्ध गीता-शास्त्र का इन शास्त्रीय योगों की ऐसी उदेक्षा कर सकता है। नही, गीता शास्त्रीय योगत्रयी का विरोध नहीं करती, अपितु शास्त्रीय योगनिष्ठाओं में जो ब्रह्म बीजकर्म का प्रवृत्ति है उसे निकालना अनिवार्य मानती है। गीता तीनों ही योगों के सम्बन्ध में बुद्धियोगात्मक-प्रवेश द्वारा यही संशोधन आरती है।

४६-योगों के अवनचन, एवं सम्बन्धन-भाव—

पाठकी को समरक होगा कि आश्रयमर्स्या में मुक्त आश्रयनों की गठना करते हुए हमने आश्रय आश्रयनों का विरोधपय किया है। वे आश्रय आत्यन्तिक क्रमशः ईश्वरीय गूणेश, वेद गूणेश, आत्यन्तिक,

महानात्मा विहानात्मा, प्रज्ञानात्मा, मूर्च्छना अन्वयात्मा, इन नामों से व्यञ्जित हुए हैं । इन आत्में ईश्वरीय गुणोत्तमा का एक स्वच्छन्द स्वरूप है एवं यह पर-अपर सर्वत्र समकालोपावस्थित है । अतएव यह गीता में 'समप्रज्ञ' नाम से व्यञ्जित हुआ है । शेष सातों आत्मपर्यों की समष्टि एक स्वच्छन्द स्वरूप है वही बीजस्वरूप है । ईश्वरस्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली कामना 'उद्विगताश्चक्षुः' है । वही निष्प्रममाद्यप्रिय प्राकृतिक कामना है । अपने स्वाम्याधिक 'सम' धर्म' के कारण ईश्वरस्वरूप स्वेच्छियताश्चक्षुः के द्वारा एक मुक्त करता हुआ भी, उन में प्रविष्ट रहता हुआ भी अक्षरता है अप्रविष्ट है पुष्करपलाशवर्षितोप है । बीजस्वरूप स्वभावतः अद्वैतवर्धित है । अतएव इस से सम्बन्ध रखने वाली कामना भी अद्वैतमहात्मा है जो बीजधर्मना 'ज्योत्स्नाश्चक्षुः' नाम से व्यञ्जित हुई है । यह कामना मनोऽनुगता है । मन चान्तरत से निष्प्रम होने के कारण लोहगुणक है । अतएव उत्प्रेषणा-उत्प्रेषिका बीजकामना में लोहधर्म का उद्वेग हो जाता है । इसी लोहधर्म का नाम गीतापरिभाषा में 'आधकित' है । इसी आधकित से बीजस्वरूपानुगत धर्म' इसके अन्धन का कारण बन जाता है । सद्यो पर्वो का क्रमशः वैश्वरूपोत्तमा, अन्धकामित महानात्मा विहानात्मा समपरिष्कृत प्रज्ञानात्मा, अन्धकामितस्यपरिष्कृत भूतात्मा इष्टप्रकार विमानन हुआ है । इनमें अन्धकामना धामान्य ध्वजन है । मूर्च्छना योगानुगता ध्वनक है । शेष वैश्वरूपोत्तमा अन्धकामित महानात्मा विहानात्मा समपरिष्कृत प्रज्ञानात्मा ये तीनों पर्व क्रमशः शानयोग-महितयोग-धर्मयोग, इन तीनों योगों की मूर्त्तप्रकृत बनते हुए साम्यकाल में प्रविष्ट हैं । अन्धकामितस्यपरिष्कृत भूतात्मा विहानात्मास्यपरिष्कृत-प्रज्ञानात्मानुगत धर्म योग का, अन्धकामित महानात्मानुगत भूतात्मा महितयोग का एवं वैश्वरूपोत्तमानुगत मूर्च्छना शानयोग का अनुगुण बन रहा है । निष्पर्ययः इस योगत्रयी में मुक्त स्वतो आत्मनर्ष बीजस्वरूप से उत्पन्नित है । अतएव बीज-अमानुगत तीनों ही योग सम्बन्धन बने हुए हैं । इस शक्ति के आभार पर ही महात्मा का इनमें आवेश होता है कि—

४७-गीतासिद्धान्त, और बुद्धियोगचतुष्टयी—

जबि तुम योगत्रयी में प्रवृत्त रहते हुए भी ईश्वरस्वरूप सम्बन्धित रहना चाहते हो, तो अपनी बीजकामना को अद्वैत बनाओ । इसके लिए तुम्हें बीज को मन के आकर्षण से विमुक्त करना पड़ेगा । इसके लिए किसी अद्वैतभाव का आश्रय लेना पड़ेगा । जैसे अद्वैतभाव का जो समप्रज्ञाश्चक्षुः ईश्वरस्वरूप से सम्बन्धित रहता हुआ अन्धन से भी मुक्त हो, धाप ही अद्वैत भी हो । अन्धकामना बीज, आपकी अन्धकामना में मुक्त लक्षणात्मपर्यों में पैदा बीजकामना है, जो समभाव से भी मुक्त है, एवं अद्वैत धर्म' से ही मुक्त है । वैश्वरूपधर्म अन्धकामना के आभार पर क्रमशः स्वाभाविक अन्धकामना वालोत्प्रेष महानात्मा, लोह विहानात्मा, चान्द्र प्रज्ञानात्मा भीम अन्धकामना के बीच लक्षणात्मपर्य प्रविष्टित

—वेदिय, ४ वं १२५

— इहैव संश्रितः सर्गो यथा माम्य स्थित मनः ॥

मिदं हि 'समं प्रज्ञ' तस्मान्महाशक्ति ते स्थिता ॥

—गीता ११.१५

है। वैश्विक ज्ञानते है कि प्रत्येक वस्तु उसके केन्द्र पर समनुचित रहती है। कारण केन्द्रस्थान उक्त वस्तुमार के लिए कम बना रहता है। पृथ्वी गण्डवामपरी का केन्द्र विज्ञानात्मा (बुद्धि) है। अतः पृथ्वी में से इस ही सममायापन माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त वायु मन एतद्व्ययम के कारण बर्ही उन्नत था, बर्ही स्वर्गत्व मे उन्नत रह बिज्ञानात्मा और अग्नि के स्वाभाविक अतद्रूपम से अतद्रूपम भी है। इसी कारण, और अतद्रूप के कारण अन्धकारमग्या के गण्डवामपरी में से अन्धकारमग्या पर विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही कम-अतद्रूप-वर्मावच्छिन्न ईश्वरकेन्द्र के साथ सम्बन्ध करने में समर्थ बनता है। इसी आधार पर बुद्धि के 'वद्विज्ञानन परिपरयन्त्रि धीराः'—'यन्मु विज्ञानयात् भवति मुक्तं मनसा सदा इत्यादि विज्ञान् अन्विष्टं ह्ये'। पृथ्वी भूतया अयनी मान्य कामना का इस विज्ञानात्मा में समर्थ कर देता है, ता विज्ञानात्मावराय अन्धकारमुत्तित ईश्वरीय गूणता की निष्कामभाविकम 'उचितव्यवस्था-रूपा अन्धकारमना का बीजमना में प्रवेश हो जाता है। इनके शब्दों में बुद्धि के साथ मुक्त भूतया ईश्वरमना से मुक्त हो जाता है। इस बुद्धिमन के द्वारा प्राप्त ईश्वरमना का परिणाम यह होता है कि बीजकारानुगत मनःअन्धकारमना अन्धकारमना ज्ञानना का ही स्वाभाविकरूप से उन्मूलन हो जाता है। ऐसे इसी अन्धकारमना में मुक्त ईश्वर का ही प्राधान्य रह जाता है। ईश्वरानुगत-बुद्धिअन्धकारमना-अन्धकारमना-निष्काम-मायात्मिका इस कामना के आधार पर बीजमना का भी काम करता है, जिसकी भी मक्ति करता है जैसी भी अन्धकारमना (शान्तमग) का अनुगमन करता है, कार्य भी करने का कारण नहीं बनते। अन्धकारमना में इस अन्धकार का ही प्रतिकरण किया जा सकता है कि अन्धकार में ईश्वर बीज का उन्मूलन है। बीजकार मनःप्रधान है ईश्वरकार बुद्धिप्रधान है। बुद्धिकारानुगत ईश्वर समभावमन एवं अन्धकार है। मनःकारानुगत बीज विरमभावमन एवं अन्धकार है। अन्धकार ईश्वरकामना से अन्धकार वागवनी प्रकल्पना है, अन्धकार बीजमना से अन्धकार वागवनी प्रकल्पना है, एक ही का अन्धकार न विराध किया है।

बीजकारानुगता वागवनी में दो प्रधान दोर है। आधारमिथित न रमा पहिला दोर है। इस दोर में ब्रह्म का लक्षण है कि, बीज न राखीव मार्ग का अनुगमन की किया परन्तु अन्धकार की निश्चित न हुए। ब्रह्म अन्धकारार्थ दोर है। द्विज कर्मण-अन्धकार-एवं ज्ञानी में लोकाकार न हुआ हो, अन्धकार रहना न रहने के समान है। लोकाकारक अन्धकार की दोर में यह लक्षण बना होर है। कर्मण की लक्षण से लक्षण भिन्न मना, अन्धकार के अन्धकार भिन्न मना, ज्ञानी मुक्त हो गया। अन्धकार लक्षण। विगुणमायापन समप्रधान विषय के लक्ष्मी प्राणी व्यक्तिगत एम स्वार्थी में भिन्न है। पशुधर्म से समनुचित ऐसे मानवधर्म का मूल्य ही क्या है!। पुरुषाय ही बर्ही बालविक्र पुरुषार्थ है, जिसमे अन्धकार अन्धकार-निष्काम के साथ साथ सर्वकारण का भी अन्धकार भिन्न होता हो। बीज के अन्धकार में अब तक अन्धकार-अग्नि की विस्तृति में स्थित न ही, अब तक यह अन्धकार का अग्नि देत कर सकता है। इसका यदि उपाय है-दो एकात्म नही कि यह बुद्धिवागवनी (बुद्धिवागवनी) अपने अन्धकार अन्धकारमन अन्धकारमनुचित ईश्वर के प्रति समर्थ करदे। इसके उन्धकार अन्धकार का इन्धकारमना हो वागवनी। इसप्रकार अन्धकार की आधार बना कर अन्धकार-प्रकार से वागवनी में प्रकृत होने वाला बीजमना वरमपुरुषार्थ-अन्धकार में भी अन्धकार ही वागवनी, एवं ईश्वरवत् करने से भी विमुक्त रोगे बीजमना निम्न किमिध वचनो में प्रमाणित है—

१-ब्रह्मण्याघाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्या करोति यः ।

सिष्यत न स पापन पद्मपत्रमिन्द्राम्मसा ॥

—गी ११२०।

२-बुद्धियुक्तो ब्रह्मसीद् उभे सुकृत-दुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युजस्व योग कर्मसु कौशलम् ॥

—गी० ११४०।

३-योगस्य कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।

सिद्धयप्रित्तपो समो भूत्वा, समर्धं योग उच्यते ॥

—गी० ११४८।

४-दूरस्थ क्षयर कम्म बुद्धियोगाद्दनञ्जय ! ।

बुद्धौ शरसमन्विच्छ कृपया फलाइतरं ॥

—गी ११४९।

५-तस्मादुक्तं सततं कार्यं कम्म समाधर ।

असक्तो ह्याधरन् कम्मं परमाप्नोति पूरुषम् ॥

—गी० ११९१।

६-यस्य सर्वे समारम्भा कामसकम्पवर्जिता ।

ज्ञानान्निद्राग्निकर्मार्या समाहुः पण्डित बुधा ॥

—गी ११९१।

७-योगयुक्तो विशुद्धात्मा विज्जितात्मा जितन्द्रियः ।

सर्वभूतारममूढात्मा ह्यव्ययः न सिष्यते ॥

—गी १२०१।

८-इहैव तैर्जितं मार्गं यथां ध्याम्ये मनः स्थितः ।

निर्दोषं हि मम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मसि ते स्थिताः ॥

—गी १२११।

९-मयभूतम्यमात्मानं मयभूतानि चान्मनि ।

इदं च योगयुक्तात्मा मयत्र समदर्शनः ॥

—गी १२११।

उक्त विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि ईश्वरीय गूढरत्ना को हास्य बनाने वाला योग ही गौडाराजान्वित बुद्धियोग है। ईश्वरीय गूढरत्ना (ईश्वरानुगत पोडरी) के आभार पर ही बुद्धियोग प्रतिष्ठित है। योगानुष्ठाना भूतत्त्वा है। ज्ञानयोगानुष्ठान में वहाँ भूतत्त्वा विज्ञानसम्परिष्कृत प्रज्ञात्मातानुष्ठान-अभ्यस्त-गमित महानात्मा को स्वर्गमें प्रतिष्ठित रखने वाले शैवगूढरत्ना का अनुगामी बना रहना है, वहाँ इस बुद्धि योगानुष्ठान में वही भूतत्त्वा शैवगूढरत्ना, अक्षय्यकात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, इन सब आध्यात्मिक स्वरूपावस्थाओं को स्वर्गमें मुक्त रखने वाले महामायी ईश्वरीय गूढरत्ना का अनुगामी बन जाता है। भूतत्त्वा की इस ईश्वरीय पोडरीपुत्रपानुगति का ही नाम बुद्धियोग है जिसके ज्ञानयोगक पांडरीपरबैन्द से बार विवर्त हो जाते हैं। इन्हीं का क्रमिक स्पष्टीकरण पठकों के सम्बन्ध उपस्थित हो रहा है।

४२—'धर्म'-भावानुगत वाङ्मय कर्मयोगात्मक बुद्धियोग—

(१) ईश्वरीय गूढरत्ना के आत्मघराणुगत आत्मघर पर्व को मूल बना कर, अक्षय्यकात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञा-नात्मा अक्षय्यकात्मा-महानात्मा-शैवगूढरत्ना-इन आत्माओं के आत्मघराणुगत सूक्ष्मस्वप्नि, ज्योतिर्गीः, रेत-प्रज्ञा, शरीरगुहा, इन्द्रक योगाः, आत्मघर, इन साधनों के द्वारा भूतत्त्वा अपने आत्मघराणुगत वाङ्मय वैधानरम्या से किंच वैज्ञानिक-प्रकृतिविज्ञ-धर्म का अनुष्ठान करता है, वही विज्ञानमया में 'धर्म' नाम से सम्बन्धित हुआ है। बुद्धि से युक्त योगात्मा स्वयं भी पर्ववतुष्टय में विमक्त है, एवं योगतन्त्रविष्णोद्विष्ट स्वयं बुद्धि भी पर्ववतुष्टय से सम्बन्ध है। योगात्मा के चारों पर्व सुपरिचित 'परस्पर अक्षय्य-अघर-आत्मघर' है। बुद्धि के चारों पर्व 'धर्म-परधर्म-ज्ञान-वैराग्य' है, जिनका अगले परिच्छेदों में विस्तार से विस्लेषण किया जाने वाला है। अग्नी प्रकरणवृत्ति के लिए इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्याप्त इच्छा कि, विद्याबुद्धि के धर्म-परधर्म-ज्ञान-वैराग्य, नामक चारों पर्व योगात्मा (ईश्वरीय गूढरत्ना) के आत्मघर-अघर-अक्षय्य-परस्पर, इन चारों पर्वों से सम्बन्ध है। वैधानरम्या भूतत्त्वा आत्मघराणुगत धर्मपर्व से उत्पन्न रहता है। वही बुद्धियोगात्मक धर्म योग की मूलप्रतिष्ठा बनता है। निष्कामभाव से लक्षणधुरधर्म ज्ञान वाला वैदिक धर्म कृपा ही श्रुतिरहित धर्ममार्ग है। इसी का नाम धर्मात्मक बुद्धियोग किंवा धर्मबुद्धियोग है जिसे आत्म घराणुधर्म से हम 'धर्म योग' कहेंगे। बर्तमानसम्पर्कानुसार पुत्रप का वाच्यवचन निष्कामभाव से वेदरहित धर्म मार्ग में प्रवृत्त रहना ही बुद्धियोगात्मक धर्म योग है, जो विज्ञानरतसम्परिष्कृत प्रज्ञानात्मा से सम्बन्ध धर्म योगबन्धुपत्तियों के बीचे धर्म पतात्मक-आत्म-वैदिक बुद्धियोग का संश्लेषित रूप है। ईश्वरीय गूढरत्ना से धर्मलक्षण आत्मघर पर्व पर प्रतिष्ठित, भूतस्वप्नि-ज्योतिर्गीः-रेत-प्रज्ञा शरीरगुहा-इन्द्रक योगपर्वगमित शैवगूढरत्ना के आत्मघराणुगत से सम्बन्धित, बुद्धियोगात्मक धर्म योग, एवं तथाविध धर्मयोगियों का यही नैमित्तिक स्वरूपविरलोग है जिसे आत्मकधारण से 'वाङ्मय धर्मयोग' कहा जा सकता है वा। धर्म योगधर्मिक धर्म पतात्मकपत्तियों के धर्म योगात्मक बुद्धियोग से संश्लेषित समनुमित है।

४६—'श्रवण'-भावानुगत प्राणमय भक्तियोगात्मक बुद्धियोग—

(२)—अपराधमा मस्तिशेन ही मन्त्रवृत्ति माता पया है। अक्षय्य तदनुगत बुद्धियोग का ही अक्षरय ही बुद्धियोगात्मक मस्तिशेन कहा जायगा। ईश्वरीय गूढरत्ना के अक्षरयुक्त अक्षरपर्व की मूल बना कर, अक्षय्यकात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-अक्षय्यकात्मा-महानात्मा-शैवगूढरत्ना-इन आत्माओं के अक्षरयुक्त

देवस्थानि-आनुभाष-वराणां-शुक्ल-धर्म-प्राण अन्न इन शब्दों के द्वारा भूतत्मा अपने अक्षरप्रधान प्राणमय तैलत भाग से बिल कम्म का अनुगमन करता है वही विज्ञानभाषा में 'प्रेष्यम्यं कृत्वाया है। वयाभमवर्मानुगमनपूर्वकं पुत्र्य का वाक्यहीन अल्पविकास-सदृश ऐश्वर्य्यं पत्र में आरूपा रहना ही बुद्धियोगात्मक मन्त्रियोग है जो अल्पव्यक्त्यात्मिक महानात्मा से सम्बद्ध मन्त्रियोगानुष्ठयी के शीघ्र मन्त्रियोगात्मक-काम्य-शास्त्रीय बुद्धियोग का (मन्त्रिमित्रा का) ही संशोधित रूप है। इसे ही गीता परिभाषा में-'प्रेष्यम्यं बुद्धियोग नाम से व्यञ्जित किया गया है। ईशरीय गूटेन्मा के ऐश्वर्य्यलक्षण अक्षरपर्यं पर प्रसिद्धित देवस्थानि आनुभाष वराणां शुक्लर धर्मप्राण अक्षरपर्यं के द्वारा संशोधित, बुद्धियोगात्मक मन्त्रियोग एवं तपाविष मन्त्रियोगियों का यही संशोधित स्वरूपविरलेपण है जिसे आत्मकसादृष्टि से 'प्रणामय क्रियायोग' कहा जा सकता है जो कि मन्त्रियोगात्मिका योगानुष्ठयी के मन्त्रियोगात्मक-बुद्धियोग से अंतःकः सम्प्रतिष्ठित है।

५०-'ज्ञान'-मावानुगत मनोमय ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग-

(४)-अभ्यव्यक्त्या का ज्ञानयोग से सम्बन्ध है। अतएव तदनुगत बुद्धियोग ज्ञानयोग नाम से व्यञ्जित किया जाका। ईशरीय गूटेन्मा के अभ्यव्यक्त्यानुगत अभ्यवर्ष्यं को मूल बना कर, अभ्यव्यक्त्या-विज्ञानभाषा-अज्ञानभाषा-अभ्यव्यक्त्या-महानात्मा-वैश्वानुतेमा-इन आत्माओं के अभ्यव्यक्त्यानुगत अक्षरक्यात्मिक-विज्ञान-अज्ञान-अल्पव्यक्त्यामी-महान्-अभ्यव-इन शब्दों के द्वारा भूतत्मा अपने अक्षरप्रधान मनोमय प्रकाशमाग से बिल कम्म में प्रवृत्त होता है, वही विज्ञानभाषा में 'ज्ञान कृत्वाया है। वयाभमवर्मानुगमनपूर्वकं पुत्र्य का वाक्यहीन शीघ्र-मन्त्रियोग का पद्यात्मक अनुगमन करते हुए, ज्ञानलक्षण आध्यात्मिक कर्मों में प्रवृत्त रहना ही बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग है जो वैश्वानुतेमा से सम्बद्ध ज्ञानयोगानुष्ठयी के शीघ्र कम्म लागतलक्षण ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग का ही संशोधितरूप है। वही गीता में-'ज्ञानबुद्धियोग नाम से व्यञ्जित हुआ है। ईशरीय गूटेन्मा के ज्ञान-सदृश अभ्यव पर्यं पर प्रसिद्धित-अक्षरक्यात्मिक-विज्ञान-अज्ञान-अल्पव्यक्त्यामी-महान्-अभ्यव पर्यं के द्वारा संशोधित बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग एवं तपाविष ज्ञानयोगियों का यही संशोधित स्वरूपविरलेपण है। इसे आत्मकसादृष्टि से 'मनोमय ज्ञानयोग' कहा जा सकता है, जो कि ज्ञानयोगात्मिका योगानुष्ठयी के ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग से अंतःकः सम्प्रतिष्ठित है।

५१-'वैराग्य'-मावानुगत सर्वमय बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग-

(५)-परस्परलक्ष्य बुद्धियोग की प्रकृति है। अतएव तदनुगत बुद्धियोग अभ्यव ही 'बुद्धियोग नाम से व्यञ्जित किया जा सकता है। ईशरीय गूटेन्मा के परस्परानुगत परस्पर पर्यं को आधार बना कर अभ्यव्यक्त्या-विज्ञानभाषा-अज्ञानभाषा-अभ्यव्यक्त्यामी-महानात्मा-वैश्वानुतेमा-इन आत्माओं के परस्परानुगत अक्षरक्यात्मिक आक्षरपुत्र्य-आभ्यव्यक्त्यात्मिक-परस्पर-वराणां-शुक्ल-धर्म-प्राण अन्न इन शब्दों के द्वारा भूतत्मा अपने अक्षरप्रधान आनन्द-विज्ञानमनोमय भूतममाग से बिल वैश्वानुतेमा शीघ्रमय में प्रवृत्त होता है वही विज्ञानभाषा में 'वैराग्य' नाम से व्यञ्जित हुआ है। वयाभमवर्मानुगमनपूर्वकं पुत्र्य का वाक्यहीन तद्विषयकाक्षरक्यात्मक वर्य्य मातों में प्रवृत्त रहना ही बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग है। वही गीता में 'वैराग्यबुद्धियोग' नाम से व्यञ्जित हुआ है। ईशरीय गूटेन्मा के वैराग्यलक्षण परस्पर पर्यं पर प्रसिद्धित, आभ्यव्यक्त्यात्मिक-आक्षरपुत्र्य-आभ्यव्यक्त्यात्मिक-परस्पर-

६ भूतात्मा-सायकः	गोत्रस्य भूतात्मस्य पर्यवेगभिस्त- कृत्स्नो वैश्यान्तरप्रधानो
८ गुरुम-पषाणि	
सुरग्यानि	

स एष - बुद्धियोगात्मककर्मयोग-
परिलेख प्रथम

सर्ववैभवात्म्य-रत्न पर्वों के द्वारा संवर्धित बुद्धियोग का, तथा एवंविध बुद्धियोगियों का स्वीकार ही इसका निमित्त है। इसी का अन्तर्भाव ही से 'आत्मबुद्धिज्ञानमनोमयमर्त्ययोग' कहा जा सकता है, जो कि 3 अक्षरों से संवर्धित न होया हुआ अन्वेषणयोगप्रदया अर्ध-विलक्षण-रत्न पूर्व योग है जिसके निमित्त का प्रकाश ही वीणायात्रा को ही प्राप्त हुआ है। पृथक्प्रतिपादित कर्म-भक्ति-ज्ञान, तीनों योगप्रदों की संवर्धनात्मक एवं अल्प-मात्रों का निम्न लिखित त्रयीकरण है।

१२-बुद्धियोगात्मक कर्मयोग के साधन-साधक-साध्य-भाव-

(१)-बुद्धियोगात्मक-‘धर्म’बुद्धियोग नामक कर्मयोग में परस्पर अस्वभाव-साधक है स्वीय आत्मा के तीनों पर्वों से अनुपरीत साधनभूत-अन्यात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-अपराधात्मा-आहावकमा-अगूनात्मा-अन्य आत्माओं के आत्मरूपाग्नि-अज्ञरूपाग्नि-देवरूपाग्नि-सर्वप्रथमी, पाशुपतुष्प विद्याय आत्मापर्यवर्तनी, साम्प्रदायिक-प्रज्ञान-वरा-प्राणपर्यवर्तनी, परेशवा-सन्तारयोगी-श्रुतारूपपर्यवर्तनी, सत्वादाय-अप्राणपर्यवर्तनी-परस्पर-अभ्यय-अहरपर्यवर्तनी, साध्यभूत-स्वीय आत्मा के परात्पर-अपरा-अधर से तीनों पर्व एवं साधकभूत आत्मा के भूतत्मा-प्राज्ञात्मा-तीक्ष्णरमा, ये तीनों सर्वत्र अभासना में परिणत होते हैं। ये सब अन्तर्गम त्रिक शेष बीजे अष्टब्रह्म भूतत्वयाग्नि, ब्रह्मिणी, शिव भद्रा, शरीरगुहा इत्येवम् आत्मभर, विकारभर, वैशानर, रत्न पर्वों में अन्तर्भूत रहते हैं।

१३-बुद्धियोगात्मक भक्तियोग के साधन-साधक-साध्य-भाव-

(२)-बुद्धियोगात्मक-‘दिव्यधर्म’बुद्धियोग नामक भक्तियोग में उक्त आत्माओं के काशा-अभास मन्त्र पृथक्पृथक्-आद्युपपुष्प विज्ञान-ब्रह्मिणी, साम्प्रदायिक-प्रज्ञान-वरा-अपराधा, परेशवा-अन्य गीर्वाणी शरीरगुहा, अज्ञ-सहान्-इत्येवम् आत्मा परात्पर-अभ्यय-आत्मभर, भूत प्रात-मीशानर, ये त्रिक अगूणावस्था में परिणत रहते हैं। ये सब त्रिक बीजे अष्टब्रह्म देवत्वयाग्नि-आद्यु-प्राण-वरा-प्राण श्रुतारूप विद्यायात्रा साधक आत्माओं के अन्तर्भूत रहते हैं।

प्राक्प्रान्तरैश्च—

- (१) अक्षयैकमूलक्यानि, -विज्ञानपुत्रप्राणस्योक्तिर्गो, -प्रज्ञानपुत्रप्रारोहः प्रज्ञा, -अन्तर्धर्मिभ्युत्कृष्टपरापरगुण, -महत्त्वोन्मयात्वा -इहर्षं भोग, -बीजातुगलपरात्मवाच्यपरमेश्वर -ईश्वरपुत्रपरात्मवाच्यपरमेश्वर -शास्त्रैकत्ववैश्वानरगमिता, -आत्मक्यानि -बाह्यपुत्रपुत्र -आत्मक्यानि -परोरवा -कृष्ण -बीजापरापर -ईश्वरपरापर भावतुगल -
- (४) आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतत्वा - बुद्धियोगात्मक - बुद्धियोगानुष्ठाना १

- (२) अक्षयैकमूलक्यानि, -बाह्यपुत्रपुत्रप्राणस्योक्तिर्गो -आत्मक्यानिभ्युत्कृष्टपरापरारोहः प्रज्ञा, -परोरवाभ्युत्कृष्टपरापरगुण, -महत्त्वोन्मयात्वे इहर्षं भोग, -बीजातुगलपरात्मवाच्यपरमेश्वर, -ईश्वरपुत्रपरात्मवाच्यपरमेश्वर -मूत्र-तैकत्ववैश्वानरगमिता, -आत्मक्यानि, विज्ञान प्रज्ञान अन्तर्धर्मि, महत्त्व, बीजात्म्य, ईशात्म्यवाच्यतुगल -
- (१) मनोमयो भूतत्वा - ज्ञानयोगात्मक - बुद्धियोगानुष्ठाना २

- (१) अक्षयैकमूलक्यानि, -बाह्यपुत्रपुत्रविज्ञानस्योक्तिर्गो, -आत्मक्यानिभ्युत्कृष्टपरापरारोहः प्रज्ञा, -परोरवा -अन्तर्धर्मिभ्युत्कृष्टपरापरगुण, -कृष्णमहत्त्वोन्मयात्वे -बीजातुगलपरात्मवाच्यपरमेश्वर, -ईश्वरपुत्रपरात्मवाच्यपरमेश्वर -मूत्रप्राणवैश्वानरगमिता -बैकत्वक्यानि, आनुयाय्य पदाप्राण अक्षयैक्योन्मयात्वे बीजात्वात्, ईशात्वात्परापरतुगल -
- (२) मायामकत्वैक्यत्वा - मत्तियोगात्मक - बुद्धियोगानुष्ठाना ३

- (४) अक्षयैकमूलक्यानि -बाह्यपुत्रपुत्रविज्ञानस्योक्तिर्गो -आत्मक्यानिभ्युत्कृष्टपरापरारोहः प्रज्ञा, -परोरवा -अन्तर्धर्मिभ्युत्कृष्टपरापरगुण, -कृष्णमहत्त्वोन्मयात्वे -बीजातुगलपरात्मवाच्यपरमेश्वर, -ईश्वरपुत्रपरात्मवाच्यपरमेश्वर -मूत्रप्राणवैश्वानरगमिता -अक्षयैक्यानि, ज्योतिर्गो एत-प्रज्ञा, धारैगुणा इहर्षं भोग, वैश्वानर, ईशात्वात्परापरतुगल -
- (१) बाह्यमयो वैश्वानरत्वा - कर्मयोगात्मक - बुद्धियोगानुष्ठाना ४

- (१) ईशात्मक्यपरापरतुगल - ईशान्ये आत्मकर्मपराम् - उदतुगल - परापरपरापरिनिने वैश्वानरदिन (बुद्धियोगिनः)
- (२) ईशात्मक्यपरापरतुगल - ज्ञाने आत्मकर्मपराम् - उदतुगल - अक्षयैक्यपरापरिनिने ज्ञानवादिनः (ज्ञानयोगिनः)
- (३) ईशात्मक्यपरापरतुगल - परमार्थे आत्मकर्मपराम् - उदतुगल - अक्षयैक्यपरापरिनिने वैश्वानरदिन (मत्तियोगिनः)
- (४) ईशात्मक्यपरापरतुगल - कर्म आत्मकर्मपराम् - उदतुगल - आत्मकर्मपरापरिनिने - कर्मवादिनः (कर्मयोगिनः)

सैषा-ईश्वरपुत्रपुत्रगोतामूढानुगता भूतत्वा मनो बुद्धियोगात्पुत्रपुत्री चतुर्वर्षी—

- (१) अक्षयैक्यानि - अक्षयैक्यानि - अक्षयैक्यानि - बुद्धियोगिनः - वैश्वानरपरापर (वैश्वानर)
- (२) अक्षयैक्यानि - अक्षयैक्यानि - अक्षयैक्यानि - ज्ञानयोगिनः - ज्ञानपरापर (ज्ञानम्)
- (३) अक्षयैक्यानि - अक्षयैक्यानि - अक्षयैक्यानि - मत्तियोगिनः - वैश्वानरपरापर (वैश्वानरम्)
- (४) अक्षयैक्यानि - अक्षयैक्यानि - अक्षयैक्यानि - कर्मयोगिनः - कर्मपरापर (कर्मम्)

ईश्वरसुगत-गुरोत्सादुक्ता योमाच्छुष्टयी—

अभ्यासनापवाधि विद्यानात्मपवाधि प्रधानात्मपवाधि अस्मत्कल्पपवाधि गार्हपत्यपवाधि अश्विनसुगतगुरोत्सापवाधि ईश्वरसुगत गू० प० मू० प०

(१) आत्मकल्पानि—यासुपुत्रा—आत्मकल्पानि—यरोरक्षा—फलम्—परसरोज्ज्मयादुगत—इत्यत्र परात्पठ०—यूक्तस्मा—योगनिष्ठा—(परस्परसुगत)

(२) अस्मत्कल्पानि—विद्यानाम्—यज्ञानम्—अतर्प्यमी-यज्ञान्—आत्मकोज्ज्मयादुक्ता—अस्मका परात्पठ०—अज्ञानम्—अज्ञाननिष्ठा—(आभ्याससुगत)

(३) ईश्वरकल्पानि—आसुपुत्रा—यथाप्याका—अतर्प्ये—शेम्पयाथा—आश्विनोज्ज्मयादुगत—अज्ञान परात्पठ—शैब्यकाला—शैब्यशाली—(आश्विनसुगत)

(४) यूरकल्पानि—स्वोदिगी—शेवाश्रवा—उपेयुशा—इहक योगा—आत्मकोज्ज्मयादुक्ता—आत्मकपठ पर यैभानरात्मा-वर्गमिष्ठः—(आत्मकल्पसुगत)

श्लोक

(१) यासुपुत्रासम्पत्कल्पानि—यरोरक्षागमितकल्पकृता—शैब्यकल्पानिमित्तोपपरात्पठयानो भूक्तस्मा—यूक्तस्मा—आत्मा—(शुद्धियोगात्मकशुद्धियोग

(२) शैब्यकल्पानि—अतर्प्यमिदमिदमपुत्रा—शैब्यकल्पानिमित्तोपपरात्पठयानो भूक्तस्मा—याज्ञानम्—आश्विनोपेयम्—अनन्ययोगात्मकशुद्धियोग

(३) आसुपुत्रासम्पत्कल्पानि—अतर्प्यकल्पानिमित्तोपपरात्पठयानो भूक्तस्मा—शैब्यकल्पानि—यूक्तस्मा—यूक्तस्मा—(मनिकयोगात्मकशुद्धियोग

(४) स्वोदिगी—असम्पत्कल्पानि—उपेयुशागमिते इह योगा—शैब्यकल्पानिमित्तोपपरात्पठयानो भूक्तस्मा—शैब्यकल्पानि—यूक्तस्मा—यूक्तस्मा—(कर्मयोगात्मकशुद्धियोग

श्लोक

(१) यासुपुत्रासम्पत्कल्पानि—यरोरक्षागमिते इह योगा—शैब्यकल्पानिमित्तोपपरात्पठयानो भूक्तस्मा—यूक्तस्मा—यूक्तस्मा—(मनिकयोगात्मकशुद्धियोग

(२) शैब्यकल्पानि—अतर्प्यमिदमिदमपुत्रा—शैब्यकल्पानिमित्तोपपरात्पठयानो भूक्तस्मा—याज्ञानम्—आश्विनोपेयम्—अनन्ययोगात्मकशुद्धियोग

(३) आसुपुत्रासम्पत्कल्पानि—अतर्प्यकल्पानिमित्तोपपरात्पठयानो भूक्तस्मा—शैब्यकल्पानि—यूक्तस्मा—यूक्तस्मा—(कर्मयोगात्मकशुद्धियोग

(४) स्वोदिगी—असम्पत्कल्पानि—उपेयुशागमिते इह योगा—शैब्यकल्पानिमित्तोपपरात्पठयानो भूक्तस्मा—शैब्यकल्पानि—यूक्तस्मा—यूक्तस्मा—(कर्मयोगात्मकशुद्धियोग

५६-योगेश्वरप्रजापति के षोडश (१६) योगविवर्ध—

‘योगेश्वर’ नाम है—‘ईश्वरानुगत षोडशीपुरुष’ का। इस योगेश्वर के अधिदैवत—आप्यात्म-अधिभूत, मेद से तीन विक्तों मुख्य मानी गयी हैं। अधिदैवत विक्त ‘ईश्वर’ नाम से, आप्यात्म विक्त ‘जीव’ नाम से एवं अधिभूत विक्त ‘अणु’ नाम से व्यञ्जित हुआ है। तीनों विक्तों का वैज्ञानिक विश्लेषण पूर्व के—‘योगेश्वर का तारिक्तिक स्वरूप’ नामक स्तम्भ में विस्तार से किया जा चुका है। वृष्टय महत्त्वपूर्व प्ररन वा योगेश्वर के तारिक्तिक योगों से सम्बन्ध रखने काशा। प्रकृत स्तम्भ में इसी प्ररन के उभाधान की चेष्टा की गई है, किन्तु निष्कर्ष यही है कि, योगेश्वर के आप्यात्मिक ‘जीव’ नामक विक्त में क्रमशः ईश्वरानुगत—गून्ना, बीजानुगत गून्ना, अणुनामा महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रहानात्मा, मूढात्मा, अणुनामा, इन न आत्मविक्तों का सम्बन्ध हो रहा है। आठों में से श्रेष्ठ आप्यात्मा सर्वत्र योगक्षयन है। पार्थिव मूढात्मा सर्वत्र योगक्षयक है। चान्द्र प्रहानात्मा, शौर विज्ञानात्मा पारमेष्ठ्य महानात्मा, स्वात्म्य अणुनामा, बीजानुगत गून्ना, ये आत्मविक्तों योगक्षयक से खचन भी हैं और लाभ भी हैं। तर्जात में प्रतिष्ठित, उभाचार नियधारमत्—ईश्वरानुगत गून्ना केवल लाभ ही है। आठों आत्मविक्तों के प्रधानतः ६ विक्त बन जाते हैं। ईश्वरानुगत गून्ना स्वच्छ विक्त है, बीजानुगत गून्ना स्वच्छ विक्त है अणुनामापरिमित महानात्मरूप से दो आत्माओं का स्वच्छ विक्त है किन्तुनात्मपरिष्कृत प्रहानात्मारूप से दो आत्माओं का स्वच्छ विक्त है मूढात्मा का स्वच्छ विक्त है एवं अणुनामा का स्वच्छ विक्त है। इन ६ श्रेष्ठों में पूर्व के चार स्वच्छ विक्त क्रमशः पशुतर—अणुतर—अणुतर—आत्मेश्वर प्रधान बनते हुए क्रमशः बुद्धि—ज्ञान—मनित कर्म—योग, इन चार योगों के तात्त्व बन रहे हैं। तर्जात का आप्यात्मविक्त खचन है, ५ वाँ मूढात्मविक्त क्षयक है। अणुनामापुरुष मूढात्मा विज्ञानरूपपरिष्कृत प्रहानानुगत आत्मेश्वर का अनुगामी बनता हुआ कर्मयोग का साधक बदलाया है। अणुनात्मक मूढात्मा अणुनामापरिमित महानात्मानुगत अणुतर का अनुगामी बनता हुआ कानयोगसाधक माना गया है। अणुनात्मक मूढात्मा बीजानुगत गून्नाप्रदायक अणुतर का अनुगामी बनता हुआ कानयोगसाधक माना गया है। एवं यही अणुनात्मक मूढात्मा ईश्वरानुगत गून्ना—अणुतर पशुतर का अनुगामी बनता हुआ बुद्धियोगसाधक बदलाया है। इत्यणुतर आप्यात्मिक योगेश्वर (ईश्वर) छत्र से सम्बद्ध आप्यात्मिक ईश्वर—जीव—अणुनामापरिमित महाना—विज्ञानरूपपरिष्कृत प्रहान इन चार स्वच्छ छत्रों के आचार पर अणुनामापुरुष से युक्त मूढात्मक के बुद्धि—ज्ञान—मनित-कर्म से चार योग व्यक्तियत हैं। यही योगेश्वरानुगता आप्यात्मिकी योगबन्धुही है। प्रत्येक योगसाधक आत्मा अनुगामी है। अतएव प्रत्येक योग के आगे आकर चार चार विक्त हो जाते हैं, किन्तु उपरिलेख पूर्व में क्रमशः उचीकरण किया जा चुका है। इत्यणुतर योगेश्वरानुगत चार योगों के १६ योग हा जाते हैं। इनमें से ईश्वरानुगत गून्ना से सम्बद्ध, बुद्धियोगपरिमिता, पशुतरानुगता योगबन्धुही ही उपोद्घा है यही गीताशास्त्र का ‘बुद्धियोग’ नाम है। ‘बुद्धियोग’—प्रतिष्ठिता बुद्धि का क्या स्वरूप है, अगला स्तम्भ इसी प्ररन—उभाधि के लिए प्रष्ट हो रहा है।

- १-ईश्वरानुगतो गूढात्मा-साध्य एव-बुद्धियोगस्य
- २-जीवानुगतो गूढोत्मा-बुद्धियोगस्य साधनं, ज्ञानयोगस्य च साध्यम्
- ३-स्थायम्मुषोऽध्यत्मरत्ना-ज्ञानयोगस्य साधनं, भक्तियोगस्य च साध्यम्
- ४-पारमेष्ठ्यो महानात्मा- " "
- ५-सीरो विज्ञानात्मा-भक्तियोगस्य साधनं, कर्मयोगस्य च साध्यम्
- ६-चन्द्र प्रज्ञानात्मा- " "
- ७-पार्ष्णिबो भूतत्मा-सर्वेषां योगानां साधक एव
- ८-भूमोऽग्न्यात्मा-सर्वेषां योगानां साधनमेव



- १-ई० गूढोत्मा]-(१)-ई० गूढोत्मा (परत्परप्रधान-बुद्धियोगसाध्यम्)
- २-जी० गूढोत्मा]-(२)-जी० गूढोत्मा (अभ्यस्यप्रधान-ज्ञानयोगसाध्यम्)
- ३-अध्यत्मरत्ना } (३)-अध्यत्मरत्नाभिषेको महानात्मा (अक्षरप्रधान-भक्तियोगसाध्यम्)
- ४-महानात्मा }
- ५-विज्ञानात्मा } (४)-विज्ञानात्मसम्परिष्कृतः महानात्मा (आत्मक्षरप्रधान-कर्मयोगसाध्यम्)
- ६-प्रज्ञानात्मा }
- ७-भूतत्मा]-(५)-वैश्वानरवैश्वसाराङ्ग-भूतत्पमूर्तिर्भूतत्मा (बिम्बक्षरप्रधान-योगसाध्यः)
- ८-अग्न्यात्मा]-(६)-महा-वैव-भूत-आत्मसत्प्राग्निमूर्तिरग्न्यात्मा (बिम्बारिक्क्षरप्रधान-योगसाधनम्)



- १-परत्परप्रधानरागूढात्मानुगतो योग-भूतत्पमप्रधानस्य भूतत्पमन-बुद्धियाग
- २-अभ्यस्यप्रधानजीयगूढात्मानुगतो योग-प्राज्ञात्मप्रधानस्य भूतत्पमन-ज्ञानयागः
- ३-अक्षरप्रधानाध्यत्मरत्नाभिषेक महानात्मानुगता योग-वैवसात्मप्रधानस्य भूतत्पमन-भक्तियोगः
- ४-आत्मक्षरप्रधान-विज्ञानसम्परिष्कृत-प्रज्ञानात्मानुगतो योग-वैश्वानरप्रधानस्य भूतत्पमन-कर्मयागः



योगशुद्धं वा इदं सर्वमित्याहुराचार्याः—

बुद्धियोगः ५	१-ईशापत्यराजुगतो बुद्धियोग-धैर्याग्ये प्रतिष्ठित (वैराग्यबुद्धियोग) (१)
	२-ईशाम्बराजुगतो ज्ञानयोगः-ज्ञाने प्रतिष्ठित (ज्ञानबुद्धियोग) (२)
	३-ईशाक्षराजुगता मद्धियोग-प्रेरप्रत्ये प्रतिष्ठितः (ऐश्वर्यबुद्धियोग) (३)
	४-ईशात्मक्षराजुगत कर्मयोग-धर्म्ये प्रतिष्ठित (धर्मबुद्धियोग) (४)

ज्ञानयोगः ५	१-बीजापत्यराजुगतो बुद्धियोग-विमूढो प्रतिष्ठित (विमूढिज्ञानयोग) (५)
	२-बीजाम्बराजुगतो ज्ञानयोग-अनुमूढो प्रतिष्ठित (अनुमूढिज्ञानयोगः) (६)
	३-बीजाक्षराजुगतो मद्धियोग-निमग्नो प्रतिष्ठित (निमग्निज्ञानयोगः) (७)
	४-बीजात्मक्षराजुगत कर्मयोग-विप्लो प्रतिष्ठित (विप्लिज्ञानयोगः) (८)

मक्तियोगः ५	१-परोरबागमित्तत्वाजुगतो बुद्धियोगः-उपासनायां प्रतिष्ठित (उपासनामक्तियोग) (९)
	२-अन्तर्ध्यामिगमित्तमहरजुगता ज्ञानयोग-प्रपत्नी-प्रतिष्ठित (प्रपत्नीमक्तियोगः) (१०)
	३-अन्तर्ध्यामिगमित्तसौम्यप्राणाजुगतो मक्तियोग-मत्तरे-प्रतिष्ठितः (मक्ति-मक्तियोग) (११)
	४-शरीरगुहामितिर्बुद्धि-योगजुगतः कर्मयोगः-परिचर्यायां प्रतिष्ठित (परिचर्यामक्तियोग) (१२)

धर्मयोगः ५	१-बाहुपुष्पकपर्वक-काम्बराजुगत-बुद्धियोगः-‘स्यधर्म्ये’ प्रतिष्ठितः (स्वधर्मधर्म योग) (१३)
	२-विज्ञानकर्मपरिवक-प्रज्ञानजुगतः-ज्ञानयोगः-‘धर्म-प्रतिष्ठितः (धर्म-धर्म योग) (१४)
	३-बाहुपुष्पकपर्वक-पराप्राणाजुगतः-मक्तियोग-‘तपसि’ प्रतिष्ठित (तप-धर्म योग) (१५)
	४-म्योविगोत्रपरिवक-‘त-अज्ञानजुगतः-धर्म योग-‘धर्म’ प्रतिष्ठितः (धर्मधर्म योग) (१६)

इति बुद्धियोगस्वरूपनियमना मक प्रथमप्रकरण
‘योगश्वरानुगत-योगश्वररूपनिरूपणम्’ नामक

अथ- बुद्धियोगस्वरूपनिर्^{भी!}च^०नात्मके प्रथमे प्रकरणे
'बुद्धि'-तत्त्वस्वरूपदिग्दर्शनम्' नामक
चतुर्थस्तम्भ

(१)-४

श्रीः

‘बुद्धियोगस्वरूपनिर्बचन’ नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

‘योगेश्वरानुगत-‘योग’ का स्वरूप’ नामक

तृतीयस्तम्भ-उपरत

(१)-३

अथ - बुद्धियोगस्वरूपनिर्वच^{नी}नात्मके प्रथमे प्रकरणे

‘बुद्धि’-तत्त्वस्वरूपदिग्दर्शनम्’ नामकः

चतुर्थस्तम्भ

(१)-४

श्री :

‘बुद्धि’-तत्त्वस्वरूपादिगद्गर्जनम्
चतुर्थस्तम्भ

कोटि में प्रसिद्ध है। अतएव—“इमानि ध्याति पञ्चेन्द्रियाणि मनःपदानि मे हृदि” (अथर्वसं १४।८।५) इत्यादि अथर्वशिखास्वातुषार इति संस्कारविक्रमस्वात्मक मन को ‘इन्द्रिय’ ही माना गया है। वैदिकविज्ञानतुषार वाक्-श्रावण-चक्षु-श्रोत्र-मन इन विभिन्न-नियतकर्मा पाँचों इन्द्रियों में, एवं दर्शनतुषार ५-ज्ञानेन्द्रियों, ५-कर्मेंद्रियों, १ मन, इन ११ इन्द्रियों में यह छैन्द्रिय नामक प्रधानमन अपनी प्रज्ञामात्रा से अनुस्यूत रहता है। सब इन्द्रियों में अनुस्यूत रहने से जैसे यह ‘सर्वेन्द्रिय’ कहलाया है, एवमेव इन्द्रियसङ्घातक नियतवियतप्राक्निष्कम्भ्यां से पृथक् रहने के कारण ‘अनिन्द्रिय’ नाम से भी सम्बद्ध हुआ है। इसप्रकार ‘अतीन्द्रिय-सर्वेन्द्रिय-अनिन्द्रिय’ नामों से प्रसिद्ध ‘प्रज्ञानमन’ की प्रधानमात्रा का आशय लेकर ही इन्द्रियवर्ग स्वव्यापार करने में समर्थ है, यह मल्लीमूर्ति प्रमाणित हो जाता है। (वेदिए. ६ सं १०१)।

शास्त्र में भी किस्वद शब्दों में कर्म मात्र में प्रज्ञान का सर्वभोग अनिवार्य बतलाया है। किंतु प्रकार एक तथा हुआ चरपी प्रभ (सगम) द्वारा रथाओं का सञ्चालन किया करता है एवमेव चरपी-मृत प्रधानमन प्रभहमृत सब ज्ञान-कर्म-रश्मियों से चरपीरथ में जुते हुए इन्द्रियाओं का सञ्चालन किया करता है। सर्वत्र भास्वतुषार मन किंतु और कम्पना करता है, इन्द्रियों को उठी और मुक्तता पड़ता है। निम्न स्थिति यन्मन्त्र प्रज्ञानमन की इसी ऐन्द्रियक कर्ममात्र कर्मसहयोगिता, एवं इन्द्रियसङ्घातकत्व का समर्थन कर रहे हैं—

१-येन कर्माप्यपतो मनीषिषो यद्दे कृषन्ति किदयेषु धीरा ।

यदपूर्वं यद्यमन्त प्रजानां तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

२-यत्प्रज्ञानमृत चेतो वृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृत प्रजासु ।

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

३-सुपारयिरस्थानिब यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽमीशुभिर्बाजिन इव ।

इत्प्रतिष्ठं यदजिरं जषिष्ठं तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

—यजु सं० ३१।० ३ ६ । (मनसूक्त)

३-नामि, अर, नेमि, और रथचक्र—

इन्द्रियों अनेक, और उनके व्यापार भी अनेक धाय ही विभिन्न भी। उपर प्रज्ञानमन एकचक्र। जैसे एकाधी मन इन सब विभिन्न इन्द्रियों के विभिन्न व्यापारों का सञ्चालन करने में समर्थ होता है। परन्तु अपरिच्छिन्न होता है। ‘इत्प्रतिष्ठं यदजिरं जषिष्ठम्’ वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। इदमस्थान में प्रज्ञानमन उक्तकल्प से प्रतिष्ठित रहता है। उक्त अर्कसापेक्ष है। किंतु प्रकार उक्त (किन्) रूप एकजली सूर्य अर्क (रश्मि) रूप से समूर्वा मौलिक पदार्थों में व्याप्त रहता है एवमेव उक्तप्रज्ञान अर्करूप से समूर्वा इन्द्रियों के सञ्चालन में समर्थ हो जाता है। इसके अर्कमात्र इदमस्थ प्रायात्मक वेदवत्त्व से अनुपहृत रहते हुए अजर बर्मा-भाषामन बने हुए है। इन्द्रियवर्ग स्थिति हो जाता है इन्द्रियों उपरत हो जाती है। किन्तु मन के अममात्र अजुवरण बने रहते हैं। अरथ इन्द्रियवर्ग वहाँ वरसहयोग से मरउकर्मा है, वहाँ मन

मी :

‘बुद्धि’-तत्त्वस्वरूपादिगुद्दर्शनम् चतुर्थस्तम्भ

—ॐ—

५७-सर्वत्रिविध योगों का इन्द्रियव्यवहारसापेक्षत्व—

‘बुद्धियोग’ एक ऐसा अपूर्व-अमृतपूर्ण-योग है जिसका उक्तता अति प्रबल है, किन्तु वक्त मान में अति गहन इच्छा से सम्पन्न है। कर्म ही, ज्ञान ही, अथवा तो मति ही। लोकाप्रचलित तीनों ही सुप्रसिद्ध योगों में बुद्धि का सहयोग आवश्यक रूप से अपेक्षित रहता है। अथवा स्पष्ट है। कर्मात्मक कर्म, ज्ञानात्मक कर्म, मत्स्वात्मक कर्म, ये तीनों शास्त्रीय कर्म एवं गिरन-कर्म-वाणिस्य-मौक्तिक आदिभ्यः, तथा अन्यान्य लौकिक उपायव्यवहार कृपाणि कर्म, सभी सर्वप्रथम ‘मृतात्मा’ नाम से प्रसिद्ध उस कर्मात्मा की अपेक्षा रखते हैं जो कर्मात्मा ‘अन्वयमा’ नामक पञ्चमौक्तिक देह (शरीर) रूप आनन्दन में प्रविष्टित रहता हुआ ‘विहीनशरीर’ आदि नामों से प्रसिद्ध है। शरीरप्रसिद्ध कर्मात्मा ही लौकिक वैदिक सर्वत्रिविध योगों का साधक है, अनुकूलता है, बैठा कि पूर्व स्तम्भ में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। कर्मात्मा का लौकिक कर्म ही, अथवा शास्त्रीय तीनों योगों में कोई सा बाधा हो सर्वप्रथम अवन रूप से उभरते इन्द्रियव्यवहार की आवश्यकता रहती है। लौकिक-प्रत्यक्ष फलप्राप्ति-शिवकलादि बाध कर्मों में तो इन्द्रियव्यवहार का उपयोग प्रत्यक्ष ही दृष्ट है। बाध प्राण अस्तु। अत्र इन्द्रियमन दृष्ट, वादादि के व्यापार से ही तो इन बाध कर्मों का स्वरूपनिर्माण होता है अथवा व्यापार को इन अवन ही ऐन्द्रियव्यवहार कर सकते हैं। शास्त्रीय कर्मात्मात्मक वैदिक कर्मों की प्राप्ति भी प्रथमतः इन्द्रियव्यवहार की ही अपेक्षा रखती है। अथवा, होता उद्गाता, मन्त्रा, चारों दक्षिणा मीत अतिवर्षों के कर्मका यजुर्वेदानुष्ठीय महकर्म अथवा वेदानुष्ठीय शस्त्रकर्म, तामवेदानुष्ठीय स्तोत्रकर्म, एवं ऋग्वेदानुष्ठीय ब्राह्मणकर्म चारी यजुःकर्म साधक कर्म चारी अतिवर्षों के चारों वेद के मन्त्रों के प्रयोग से सम्पन्न रखते हुए अथवा ही इन्द्रियव्यवहार है। आहुतिकर्म, पुरोहारकर्मप्राप्तकर्म वेदिनिर्माण कुम्भ निर्माण, अग्निमन्त्रन, अनुष्ठापना, पुरोऽनुष्ठापना याग्य कष्टकार, आदि आदि सभी तो अत्यन्त काम इन्द्रियव्यवहार है। यद्यमान, यद्यमानकाली, इन दोनों के कर्म ही इन्द्रियव्यवहारसापेक्ष ही हैं। इत्यन्तर यह शास्त्रीय काम का ही लौकिक कर्मों की मति सर्वथा इन्द्रियव्यवहारसापेक्ष बना रहता है, अथवा इन परीक्षा माना गया है। इनका शास्त्रीय योग है-‘मक्तिपोग। यह ठीक है कि, वैदिककर्म योग की मति इन नक्षत्रयोग में अथवा अतिवर्षों के व्यापार की अपेक्षा नहीं रहती। स्वयं यद्यमान (उपाय) ही उपाय में इन बाधा के अनुष्ठापन में समर्थ है तथापि इसे भी माना जायगा इन्द्रियव्यवहारसापेक्ष ही। प्रथिमोपायानि साम्प्रदायिक बाध मक्तिपोगों में तो स्नात-धूप-दीप-नैवेद्य-अर्घ्यादि रूप से इन्द्रियव्यवहार स्पष्ट ही है। एतेष्वुपायानिमात्रा प्राणवेदानुष्ठापना में ही (योगश्रीमात्रा उपायाना में ही) इन्द्रियव्यवहार का उपयोग रहता है। इत्यन्तर शास्त्रीय मक्तिपोग ही इन्द्रियव्यवहार की अपेक्षा रख रहा है। अथवा ज्ञानयोग क्या जाता है दिग्दर्शन

अस्मात्किञ्च सर्वं कर्मोऽप्यव्यभिक्तं किञ्चिद्व्यभिक्तं समन्वयेऽपि, तत्र निवृत्तियोगे न मी कल्पनया नैव कथं ही इन्द्रियव्यापार प्रवृत्तः ख्यातः । इन्द्रियों को विषयसम्पर्क से छुड़ाना मी वो इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही है । इसके अतिरिक्त इस वैकान्तिक ध्यानयोगात्मक ज्ञानयोग में मी वो इन्द्रियकर्मा अन्तमुक्त बना हुआ स्वव्यापार करता ख्यात है । 'किञ्चिद्गीतः प्रत्यगात्मानमेव वाच्यं चक्षुरसुतस्वमिच्छन्' इत्यादि रूप से स्वयं उपनिषद् ने मी अन्तमुक्त ज्ञानयोग में मी इन्द्रियव्यापार का निवृत्त्यात्मक व्यवयोग स्वीकार किया है । इत्यन्तर शास्त्रीय ज्ञानयोग मी इतर योगों की भाँति इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही बन रहा है ।

५—सर्वविध योगों का प्रधान (मन) व्यापारसापेक्ष—

'इन्द्रियव्यापार' का अर्थ है इन्द्रियों का स्व स्व किनामियों के प्रति अनुगमन । आँसों का देखना, कर्णों का सुनना, नासिका का सूँघना, त्वक्का का स्पर्श लेना हाथों का हस्तस्पर्श, वहना आदि तत्त्व-ज्ञान-कर्मोन्द्रिय का तत्त्व किनामियों में परिचय ख्यात ही 'इन्द्रियव्यापार' है । मरन होय है कि ज्ञानकर्मोन्द्रियों का अपनी ही शक्ति से इन स्व-स्व किनामियों का व्यवहृत करने में समर्थ है । अथवा स्वव्यापार-प्रवृत्ति के लिए इन्हे किसी अन्य शक्तिपन के लक्ष्य का अपेक्षा ख्याती है । शास्त्रीय दृष्टि और अनुभव दृष्टि दोनों दृष्टियों से यह प्रमाणित है कि, इन्द्रियों को स्वव्यापारप्रवृत्ति के लिए किसी बूझ ही शक्तिपन तत्व का आशय लेना पड़ता है । यही शक्तिपन तत्व शास्त्रीय मत्वा में 'प्रधानात्मा कल्याण है, एवं यही लोकमत्वा में 'मन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । यदि कोई व्यक्ति किसी सुन्दर आकर्षक दृश्यदर्शन में ललित ख्यात है तो लीन ही होने वाला व्यक्तनाम तब उसे सुनाई नहीं पड़ता । परन्तु निवारणनिमित्त, किंवा वाच्यताप करने वाले दो व्यक्तियों में से कोई वा व्यक्ति यदि ख्यात अपनी दृष्टि किसी सुन्दर दृश्यवेक्षण में संलग्न कर देता है तो उत दृश में वह उत अन्य व्यक्ति के शब्दों का तत्पर्य समझने में असमर्थ हो जाता है । जैसे उत कथा से ख्यात पड़ता है कि, 'धमा कीर्तिर । मेघ मन् वृष्टी शोर तथा मन् वा मी नहीं सुन लका धामने क्या क्या वा । कृपाकर पुन कदने का क्व क्वै' * । मानना पड़ेगा कि, इन्द्रियव्यापार के लक्ष 'मन' (प्रधान) नाम का लक्ष्य मी आकर्षकत्व से अपेक्षित ख्यात है किञ्च व्यवयोग प्रयत्न करके ही इन्द्रियकर्मा स्वव्यापार-व्यवहृत में समर्थ हो लकता है । किन्तु प्रधान-व्यवयोग के क्षेत्र मी इन्द्रिय अपना कर्म नहीं कर लकती । क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियव्यापार में प्रधानमन का व्यापार अस्तिष्ठण ख्यात है, अथवा इसे 'सर्वेन्द्रियमन' (लक्ष इन्द्रियों में ख्यात वाला मन) नाम से व्यवहृत किया गया है । 'सिक्तविषयस्व मिन्द्रियस्वम्' ही इन्द्रिय का इन्द्रियत्व (इन्द्रियत्वत्व) है । 'तेषामिन्द्रानि विद्वितानि धामशाः (अक्षरं १।१७।१५) के अनुसार इन्द्रियों के इन्द्रिय (विषय) स्थानत्व निश्चल है । अक्षर का अर्थ है-केवल यज्ञना नाँक का अर्थ है केवल सूँघना अर्थ का अर्थ है केवल सुनना-इत्यादि । 'गुणानां च परब्रह्माद् सम्बन्ध समस्वात्' इस अर्थपरिच्छेद म्यास के अनुसार गुणरत्नानीय लीम इन्द्रियों के व्यापार पदार्थ (गुणी भूतत्वा के लिए) हैं । अथवा इनका परन्तु कोई लक्ष्य नहीं है । अक्षर्य (विषयव्यवहृत)-विषय (विषयविषय) लक्ष्य इन्द्रियमन मी अक्षर्य-विषयत्व निश्चल कर्म से आश्रयत ख्यात हुआ इन्द्रिय-

*—'न हि प्रधाना वाङ्-नाम किञ्चन प्रधानवेत्-अन्यत्र मे मनोऽभूत्' इत्याह' ।

कांति में प्रविष्ट है। अतएव—“इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःपद्मानि मे हृदि” (अथर्वसं १८।८।५) इत्यादि अथर्वसिद्धान्तानुसार इत संकल्पविकल्पात्मक मन को ‘इन्द्रिय’ ही माना गया है। वैदिकविज्ञानानुसार वाक्-श्रावण-बुद्धि-भोजन-मन इन विभिन्न-निष्कल्पात्मकों पर्यन्त इन्द्रियों में, एवं दर्शनानुसार ५ श्रोत्रियाँ, ५-कर्म-न्द्रियाँ, १ मन, इन ११ इन्द्रियों में यह सर्वेन्द्रिय नामक प्रज्ञानमन अपनी प्रज्ञामात्रा से अनुस्यूत रहता है। सब इन्द्रियों में अनुस्यूत रहने से जैसे यह ‘सर्वेन्द्रिय’ कहलाया है, एवमेव इन्द्रियलक्षणकम निवृत्तविन्यासाहितमन्मन्दा से प्रयुक्त रहने के कारण ‘अग्निन्द्रिय’ नाम से भी व्यवहृत हुआ है। इत्यन्यत्र ‘अतीन्द्रिय-सर्वेन्द्रिय-अग्निन्द्रिय’ नामों से प्रसिद्ध ‘प्रज्ञानमन की प्रज्ञानमात्रा का आभाव लेकर ही इन्द्रियवर्ग स्वभावात् करने में समर्थ है, यह प्रतीति प्रमाणित हो जाता है। (वेत्तिपृष्ठ सं १०१)।

शास्त्र में भी किस्के शब्दों में कर्ममात्र में प्रज्ञान का सर्वयोग अग्निवर्ष्य कहलाया है। किंतु प्रकार एक तथा हुआ धारणी प्रमह (लगाम) द्वारा रथाशौं का उद्यालन किया करता है एवमेव धारणी-भूत प्रज्ञानमन प्रमहभूत सब ज्ञान-कर्म-परिमर्षों से शरीररथ में कुतः कुतः इन्द्रियाशौं का उद्यालन किया करता है। तब भाषानुसार मन किंतु और कम्पना करता है, इन्द्रियों का उशी और मुकुटा पक्ष है। निम्न लिखित मनुमन्त्र प्रज्ञानमन की इसी ऐन्द्रियक यथायाक् कर्मसहभागिता, एवं इन्द्रियसञ्चालकत्व का उपादन कर रहे हैं—

१-येन कर्माप्यपमो मनीषिषो यद्वे कृषन्ति विद्वद्यु धीरा ।

यदपूर्वं यद्यमन्तं प्रजानां तन्म मन शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

२-यत्प्रज्ञानमुत चेतो श्रुतिष यज्ज्योतिरन्तरमुत प्रज्ञासु ।

यस्मान्न श्रुतं किञ्चन कर्म क्रियते तन्म मन शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

३-सुपारधिरस्थानिष यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽमीशुभिर्षाजिन इव ।

इत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

—यशु सं० ३४० ३ ६ । (मनसूक्त)

३-नामि, अर, नेमि, अर रयचक्र—

इन्द्रियों अनेक और उनके व्यापार भी अनेक अथ ही विभिन्न भी। उपर प्रज्ञानमन एककी। जैसे एकाकी मन इन सब विभिन्न इन्द्रियों के विभिन्न व्यापारों का उद्यालन करने में समर्थ होता है?, प्रश्न अपरिचित होता है। इदप्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं नामक इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। इदस्थान में प्रज्ञानमन उक्तकर्म से प्रतिष्ठित रहता है। उक्त अर्थसापक्ष है। किंतु प्रश्न उक्त (विन्म) रूप एकाकी सूर्य अर्थ (रश्मि) रूप में नमूर्त शैतिक पदार्थों में व्याप्त रहता है एवमेव उक्तप्रज्ञान अर्थकर्म से संपूर्ण इन्द्रियों के उद्यालन में समर्थ हो जाता है। इसके अर्थसापक्ष इदस्थान प्राणात्मक देवतत्त्व से अनुपपन्न रहते हुए अर अर्ध-आधान बन हुए है। इन्द्रियवर्ग शिथिल हो जाता है इदस्थान में इन्द्रियों उपर्य हा जाती है। किन्तु मन के अयमात्र अस्तुरण बने रहते हैं। नाश इन्द्रियवर्ग बर्हि अरुधयोग न मरुतधर्मा है, वही मन

‘तस्मादेतदेवोक्त्वमुपासीत’ वाक्यानुसार इतप्रतिष्ठ प्रहागमित प्राणमूर्ति प्रज्ञानत्मा उक्थरूप से शरीररूप रथ के हृदय में प्रतिष्ठित है। उधर रथद्वान्त में ‘नामि’ उक्थरूप से रथरूप शरीर के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। अतएव उक्थरूप प्रहा-प्राण-मूर्ति प्रज्ञान को हम ‘नामि’ कह सकते हैं। प्रहागमित प्राणमूर्ति उक्थ प्रज्ञान से चारों ओर प्राणगमित प्रज्ञामात्राएँ निकलती हैं। ये ही अर्क (श्रियवर्ग) हैं। ये अर्करूप प्रज्ञामात्राएँ प्रज्ञान में उठी प्रहार अर्पित हैं, जैसे अार नामि में अर्पित रहते हैं। अतएव इन अर्कार्मिका प्रज्ञामात्राओं को ‘अर रथानीय माना जा सकता है। ज्ञानकर्मोन्निवर्ण इस प्राणारमिका प्रज्ञामात्रा-से अभिन्न हैं। अत प्रहा मात्रा से ज्ञानकर्मोन्निवर्ण का संग्रह क्रिया जा सकता है। ज्ञान-कर्मोन्निवर्णों के अन्त में अयप्रधान मौक्तिक विषय रहते हैं। जो रथान रथ में बहिरुत्थकालक नेमि का है, वही रथान वहाँ मौक्तिक विषयों का है। अतएव भूत-मात्रा को नेमिरथानीय माना जा सकता है जो नेमिरथानीया भूतमात्रा अररथानीया प्रज्ञामात्रा (इन्द्रियवर्ग) में अर्पित है।

प्रहारान्तर से जो समन्वय कीविद्य कि, प्रज्ञानत्मा एक प्रज्ञापतिरंस्था है। एक प्रज्ञापति के वैज्ञानिकों ने—‘आत्म-प्राण-पशुस्थं सक्यो-र्क-शीतित्वं प्रज्ञापतिरत्वम्’ इत्यादि लक्षण मारें हैं। इत्यवस्थ माव आत्मा है वही उक्थ है। परिधिरथ माव पशु है, वही अर्क है। इदम्, और परिधि, दोनों के मध्याकाष्ठ में स्थित, परिधिरथ माव को इदयरथ माव में आहुत करने वाला माव प्राण है वही अर्क है। प्रज्ञानविवर्त में प्रज्ञान इन्द्रियवर्ग, किय भेद से तीनों वर्गों का समन्वय हो रहा है। प्रज्ञानमन इत्यवस्थ आत्मरूप उक्थ है। इन्द्रियवर्ग मर्यादाशरथ प्राणरूप अर्क है। कियवगत परिधिरथ पशुरूप अरशीति (अन्त) है। ये तीनों कर्मरा प्राण प्रहा, भूत-मात्राप्रधान हैं। ये ही तीनों कर्मरा नामि अर, नेमि है। भूतमात्रारूप नेमि प्रज्ञामात्रारूप आर में अर्पित हैं। प्रज्ञामात्रारूप अर प्राणमात्रारूप नामि में अर्पित हैं। प्रज्ञान, इन्द्रियवर्ग, किय, तीनों ही ज्ञान-क्रिया-अर्करूप प्रज्ञामात्राभूत-मात्राओं से युक्त हैं। परन्तु त्रिमूर्ति प्रज्ञानमन खेम्यशाशप्रधान कनता दुष्ठा कैवल ‘प्राण कइलावा है। त्रिमूर्ति इन्द्रियवर्ग प्रज्ञाप्रधान कनता दुष्ठा ‘प्रज्ञामात्रा नाम से स्पन्दित दुष्ठा है। एव त्रिमूर्ति किरक भूतप्रधान कनता दुष्ठा भूतमात्रा कइलावा है। भूत-प्रज्ञागमित प्राण ‘प्रज्ञान’ है भूतप्राणगमित प्रहा इन्द्रियवर्ग है एव प्रहा-प्राण-गमित अत किय है। कियेन्द्रियप्रज्ञानकृतरूप प्रज्ञान प्रज्ञापति का वही संक्षिप्त स्वरूपविरलेपर है बिलक निम्न लिखित शब्दों में गिगलेपर दुष्ठा है—

“तद्यथा रथस्यारेपु नमिरर्पितं, नामाचरा अपिता, एवमवैता भूतमात्रा
प्रज्ञामात्रास्वपिता, प्रज्ञामात्रा प्राणोऽपिता । स ण्य प्राण एव प्रज्ञात्मा
(प्रज्ञानात्मप्रज्ञापति) आनन्दोऽजरोऽमृत । न साधुना कम्मया भूयान्,
नो ण्यमाधुना कनीयान्” ।

—श्री शान्ता

प्रज्ञानविषयपरिच्छेद—

१	१-माख (क्रिया)-प्राणमात्रा	भूत-प्रज्ञा-गर्मित' मयुःश्रित्मूर्ति-प्रज्ञानं मनः (उत्पद्यम्) भाविः
	२-प्रज्ञा-(ज्ञानम्)-प्रज्ञामात्रा	
	३-भूतम् (अर्थ)-भूतमात्रा	
२	१-प्रज्ञा-(ज्ञानम्)-प्रज्ञामात्रा	प्रत्य भूत-गर्मिता प्रज्ञा-प्रज्ञा-इन्द्रियवशा (अर्थ)-भवा
	२-प्राण-(क्रिया)-प्राणमात्रा	
	३-भूतम्-(अर्थ)-भूतमात्रा	
३	१-भूतम्-(अर्थ)-भूतमात्रा	प्राण-प्रज्ञा-गर्मित' भूत' प्रज्ञा-इन्द्रियवशा (अर्थ)-नेमि
	२-प्राण-(क्रिया)-प्राणमात्रा	
	३-प्रज्ञा-(ज्ञानम्)-प्रज्ञामात्रा	

४-प्रज्ञानस्वरूपविर्भाव—

इन्द्रियवशात् के लिये प्रज्ञानमन में प्रज्ञा-माख-भूतस्वरूप ज्ञान-क्रिया-अर्थ-भावी का उदय होने हुआ है, प्राथमिक प्रश्न उपस्थित होता है। प्रकृतियों ही शब्दों में इत उपस्थिति का ही विवक्षित कर लीजिए। 'अप्रमथं हि सोम्य' मन' अप्रमथं प्राणं, तजोमयी वाक्' (ज्ञानोन्म-उपनिषद्) इत्यदि श्रीपनिषद् विद्वान् के अनुसार मन का उपादानकारण 'जल' माना गया है। इसी आधार पर लोक में 'जिसा अन्न विसा मन' यह किन्तु प्रचलित है। अन्न के निर्माण में नीच मिट्टी, कल पात्र, वे बार से प्राण्य निमित्त सर्वकारण के लिए परिश्रम है। वह गोधूम आदि बीजों को हल से चूर्ण बना कर कर्णों म्युक्त कर दिए जाते हैं। ऊपर से प्राकृतिक (बर्ष) पानी, और कृत्रिम (नृपादि) पानी का एक किना चला है। पानी से शीतलपेराकच्छिन्न भू-पेरा आर्द्र हो जाता है। इसकारण नीच मिट्टी, पानी, दोनों इन्द्रियवशा से बन जाते हैं। नीच के मृत् में प्रकृतिकारण तथा प्रतिष्ठित रहते हैं। 'प्रज्ञा है सर्वस्य प्रतिष्ठा'

(शत १।१।१२) के अनुसार दृष्टिमान का मूलाकार 'सम्' लक्षण स्थितिमात्रात्मक यही बाह्यमय नया माने गए हैं जिसे विज्ञानपरिभाषा में हम 'स्वायम्भुवतल' कह सकते हैं। इस प्रतिष्ठा के आधार पर प्रतिष्ठित श्रीरामभ्यन्त्रानेय आपोमय विष्णु तथा श्रीरामभ्यन्त्रानेय इन्द्रात्मक रुद्र, दोनों प्राणदेवताओं का व्यापार आरम्भ होता है। विष्णु आगतिरूपा गति के एवं इन्द्र गतिरूपा गति के प्रपञ्च बनते हैं। आगतिरूपा गति-आदान की अविद्याही बनती है, गतिरूपा गति विसर्ग (उत्क्षेपण) की अविद्याही बनती है। आहरणधर्मा, अतएव 'हृ' (हृति) नामक विष्णु मिट्टी मिले हुए पानी का आदान करते बाते हैं। विसर्गधर्मा, अतएव 'द' (दति) नामक इन्द्र मिट्टी मिले हुए पानी को बाहिर ऊपर की ओर ले बाते हैं। अतएव पर होने वाली इस स्थिति से इन्द्रविष्णु की आदान-विष्णुआत्मिक प्रतिस्पर्धा से बन्नाई मूल का ऊर्ध्व प्रयेह्य हो जाता है और यही बीच की अङ्कुरवस्था में परिणति है। इतनाकर बीच केन्द्रम्य ह-द-बम्-के स्थिति आगति-गति-लक्षणा व्यापारप्रयी से मिट्टी-पानी-बीज, तीनों परस्पर संश्लिष्ट होकर अङ्कुररूप में परिणत हो बाते हैं।

बीजव्यय विष्णु पारमेष्ठ्य तत्व है, बीजव्यय इन्द्र खैर तत्व है। लगेत में अन्द्रमा पारमेष्ठ्य होमातुगत्त बनता हुआ विष्णुधर्ममा है। स्वर्ग अन्वयगुत्त बनता हुआ इन्द्रधर्ममा है। तारस्वर्ग-खैर अग्नि का इन्द्र से आन्द्र होम का विष्णु से सम्बन्ध है। श्रीरचित विष्णु के द्वारा अङ्कुरावस्थापत्र बीच में आन्द्र होम का आगमन होता है श्रीरचित इन्द्र के द्वारा खैर अग्नि का आगमन होता है। दिन में खैर अग्नि का, रात्रि में आन्द्र होम का आगमन होता है। इस आगमन के द्वार बनते हैं-'सुष्मणा' नाम की पान्नाड़ी, और उर्ध्वमूर्ध्त्त वायु। खैर अग्नि भी वायु के द्वारा इसी नाड़ी से बीच में मुक्त होता है, एवं आन्द्र होम का इस नाड़ी से मुक्त होना स्वाभाविक ही है। बीच ओपधि, वनस्पति, मे' से दो मार्गों में विभक्त माने गए हैं। वनस्पतियों के बीच में आकृति-प्रकृति-अदृष्टि-माबन्धक बोधित महान् के वैशिष्ट्य से खैर अन्वयगुत्त इन्द्रतत्व प्रधान रहता है, एवं आन्द्र होमातुगत्त विष्णुतत्व गौण रहता है। अतएव वनस्पतियों में आन्द्रनाड़ी के द्वारा वायु के उर्ध्वोत्त से मुक्त होने वाले खैर-आन्द्र-रथों में से खैर अग्नि प्रधान रहता है, आन्द्र होम गौण रहता है। खैर शब्दों में आन्द्र होमार्गित खैर अग्नि ही वनस्पति-स्वरूप का उपादान करता है। ठीक इसके विपरीत ओपधियों के बीचों में बोधित उरी महानत्ता के विवेकलक्ष्य वैशिष्ट्य से आन्द्र होमातुगत्त विष्णुतत्व प्रधान रहता है एवं खैर अन्वयगुत्त इन्द्रतत्व गौण रहता है। अतएव ओपधियों में आन्द्रनाड़ी के द्वारा वायुसम्बन्ध से मुक्त होने वाले खैर-आन्द्र-रथों में से आन्द्र होमतत्व प्रधान रहता है एवं खैर अग्निगौण रहता है। खैर शब्दों में खैर-अग्निगर्भित आन्द्र होम ही ओपधियों का स्वरूप-निर्माणक बनता है। आन्द्र-नारदी-अग्नि वनस्पतियों के गर्भ में होम है अग्निगर्भ में अग्नि है। पर ओपधियों फलजाकाल्य ओपधियों के गर्भ में अग्नि है, अग्नि-रथा में होम है। अतएव 'ओप' (उष्ण-अग्नि स्वरूप) पधे निर्बनानुसार हर्दें 'ओपधि' नाम से व्यवहृत करना अन्वय बनता है। तारस्वर्ग-ओपधिरूप अङ्क ही 'अग्रमयं हि सौम्यं । मन' इत्यादि पूर्वमुद्रित 'अन' शब्द से परिणत है। क्योंकि सौम्य मन का निर्माण ओपधिरूप-होमरत्त-प्रधान अन से ही होता है।

उक्त ओपधि-स्वरूपपरिचय का निष्कर्ष यह निश्चय कि, पार्थिव मूर्ध्मय नल बीच मीयमिनगर्भित आन्द्र रत्त, अन्वयधर्म वायु, इन तत्वों के समिन्धण से ओपधि का स्वरूप निष्पन्न होता है जिसे हम 'अन्व'

प्रज्ञानविवर्धपरिच्छेदः—

१	१-प्राण (क्रिया)-प्राणमात्रा २-प्रज्ञा-(ज्ञानम्)-प्रज्ञामात्रा ३-मृतम् (अर्थः)-मृतमात्रा	मृत-प्रज्ञा-गर्मितः प्राणस्त्रिमूर्तिः-प्रज्ञानं मनः (उक्तम्) नाभिः
२	१-प्रज्ञा-(ज्ञानम्)-प्रज्ञामात्रा २-प्राण-(क्रिया)-प्राणमात्रा ३-मृतम्-(अर्थः)-मृतमात्रा	प्राण-मृत-गर्मिता प्रज्ञा-त्रिलक्षणा-इन्द्रियवर्गः (अक्षः)-अरा
३	१-मृतम्-(अर्थः)-मृतमात्रा २-प्राण-(क्रिया)-प्राणमात्रा ३-प्रज्ञा-(ज्ञानम्)-प्रज्ञामात्रा	प्राण-प्रज्ञा-गर्मितं मृतं त्रिलक्षणं-विषया (अशीतिः)-नेभिः

४-प्रज्ञानस्वरूपाविभावः—

इन्द्रियव्यवहार के लक्ष्णालोक प्रज्ञानमन में प्रज्ञा-प्राण-मृतारम्भ ज्ञान-क्रिया-अर्थ-भावों का उदय है। प्रत्यक्षिक मन उपनिषत् होता है। प्रत्यक्षोपात्त दो शब्दों में इस उपरिपठि का भी निरूपण कर लीकिए। 'अप्रमथं हि सोम्य मनः, आपोमथं प्राणः, तेजोमथी वाक् (ज्ञानदोष्य-उपनिषत्) इत्यादि ओपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार मन का उपादानकारक 'अप्र माना गता है। इसी आधार पर लोक में 'जैसा अम वैसा मन' का किन्दवती प्रचलित है। अत्र के निर्माण में बीच मिट्टी, कल वायु, के पार दो प्रत्यक्ष निर्मित सर्वकारक के लिए परिचय हैं। यह गोधूम आदि बीजों को इस से भूर्म बना कर कर्मों न्युत् कर दिए करते हैं। ऊपर से प्राकृतिक (कर्ष) पानी, और कृत्रिम (कृपादि) पानी का सेक किया जाता है। पानी से बीजप्रवेशान्द्विध प्रवेश आर्ष हो जाता है। इत्यन्तर बीज, मिनी, पानी, टीनी एकाधर से बन करते हैं। बीज के मूल में प्रविष्टशब्द तथा प्रविष्टिण करते हैं। 'प्रज्ञा वै सर्वस्य प्रविष्टा'

(शत ११११११) के अनुसार लक्ष्मिमात्र का मूलाधार 'बम्' लक्ष्मि स्थितिमावात्मक यही बाह्यमम ज्ञान मर्त्तं गय है, जिसे विज्ञानपरिमाणो में इन 'स्वात्ममुक्तत्व' कह लखते हैं। इस प्रतिष्ठा के आचार पर प्रतिष्ठित दीधमप्यस्थानीय आपोमय विष्णु तथा बीजऊर्ध्वस्थानीय इन्द्रात्मक हृद्, दोनों प्राणदेवताओं का स्थापार आरम्भ होता है। विष्णु आगतिक्रमा गति के एवं इन्द्र गतिक्रमा गति के प्रवर्तक बनते हैं। आगतिक्रमा गति-आदान की अभिज्ञानी बनती है, मतिक्रमा गति विकर्ण (उत्क्षेपण) की अभिज्ञानी बनती है। आहारकषमर्मा, अतएव 'हृ' (हृदि) नामक विष्णु मिट्टी मिले हुए पानी का आगमन करते जाते हैं। विसर्गधर्मा, अतएव 'द' (दति) नामक इन्द्र मिट्टी मिले हुए पानी को बाहिर ऊपर की ओर हो जाते हैं। अतएव पर इत्ने पानी इत रफ्तार से इन्द्रविष्णु की आदान-विकारमिच्छा प्रतिष्पद्धा से बजाया मूल का ऊर्ध्व प्रवेक्षण हो जाता है और यही बीज की अहङ्काररूपता में परिणति है। इसकारण बीज केन्द्रिय हृ-द-बम्-के स्थिति आगति-गति-लक्षणा स्थापारक्षयी से मिट्टी-पानी-बीज, तीनों परस्पर संश्लिष्ट होकर अहङ्काररूप में परिणत हो जाते हैं।

बीजस्य विष्णु पारमेष्ठय क्तव है, बीजस्य इन्द्र खैर क्तव है। स्वर्ग में चन्द्रमा पारमेष्ठय सोमानुगत बनता हुआ विष्णुसुखधर्मा है। सूर्य अल्पनुगत बनता हुआ इन्द्रसुखधर्मा है। तारम्य-खैर अग्नि का इन्द्र में, चन्द्र सोम का विष्णु से सम्बन्ध है। बीजरियत विष्णु के द्वारा अहङ्कारावस्थापन बीज में चन्द्र सोम का आगमन होता है बीजरियत इन्द्र के द्वारा खैर अग्नि का आगमन होता है। दिन में खैर अग्नि का रात्रि में चन्द्र सोम का आगमन होता है। इस आगमन के द्वार बनते हैं-हृद्युग्मा नाम की चन्द्रनाड़ी, खैर कर्गमीभूत बायु। खैर अग्नि भी बायु के द्वारा इसी नाड़ी से बीज में मूक्त होता है, एवं चन्द्र सोम का इत नाड़ी से मुक्त होना स्वाभाविक ही है। बीज ओषधि, बनस्पति, मेद से दो मार्गों में विभक्त मर्त्तं गय है। बनस्पतियों के बीज में आकृति-सकृति-आहङ्कृति-स्यक्तमक बोनिभूत महान् के वैशिष्ट्य से खैर अल्पनुगत इन्द्रत्व प्रधान रहता है एवं चन्द्र सोमानुगत विष्णुत्व गौण रहता है। अतएव बनस्पतियों में चन्द्रनाड़ी के द्वारा बायु के स्रवण से मुक्त होने वाले खैर-चन्द्र-रसों में से खैर अग्नि प्रधान रहता है चन्द्र सोम गौण रहता है। दूसरे शब्दों में चन्द्र सोमगमित खैर अग्नि ही बनस्पति-स्वरूप का स्थापन करता है। ठीक इसके विपरीत ओषधियों के बीजों में बोनिभूत उसी महानरमा के विमोदलक्षण वैशिष्ट्य से चन्द्र सोमानुगत विष्णुत्व प्रधान रहता है एवं खैर अल्पनुगत इन्द्रत्व गौण रहता है। अतएव ओषधियों में चन्द्रनाड़ी के द्वारा बायुस्रवण से मुक्त होने वाले खैर-चन्द्र-रसों में से चन्द्र सोम प्रधान रहता है, एवं खैर अग्निरा गौण रहता है। दूसरे शब्दों में खैर-अग्निगमित चन्द्र सोम ही ओषधियों का स्वरूप-निर्माणक बनता है। आन्न-नारद्री-आदि बनस्पतियों के गर्भ में खैर है बहिर्मग में अग्नि है। जब गोपूमाणि पल्लवाकान्ता ओषधियों के गर्भ में अग्नि है बहिर्लया में खैर है। अतएव ओष (ऊर्ध्व-अग्नि स्वर्गमें) यद्ये निर्बन्तानुसार इन्दे 'ओषधि' नाम से स्वकृत करना अन्वय बनता है। तात्पर्य-ओषधिरूप अन्न ही 'अन्नययं हि खीम्य' मन' इत्यादि पूर्वकृतितठित 'अन्न' शब्द से परिणत है। क्योंकि खीम्य मन का निर्माण ओषधिरूप-सोमगम-प्रधान अन्न से ही होता है।

उक्त ओषधि-स्वरूपपरिचय का निष्कर्ष यह निकला कि, पार्थिव मृदाग, जल बीज, खैरअग्निधर्मित चन्द्र रस, अन्तरिक्ष बायु, इन तत्त्वों के समिश्रण से ओषधि का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिसे हम 'अन्न'

क्या करते हैं। इन निमित्तों में पार्थिव मूर्त्तमाग, बल, वीर्य, वे तीन ही शैलिक हैं। और प्राणानि चान्द्र सौम्यप्राण चान्तरित्त्व वायु, वे तीन तत्त्व प्राणप्रधान हैं। प्राण बिना मृत के अनुपपन्न है। अतएव तीनों प्राणविकृतों के आचारमृत और-भूतानि चान्द्र मूलोम, चान्तरित्त्व मृतवायु, इनका संबन्ध स्वतः सिद्ध है। और भूतानि का वायुमय से, चान्द्र मूलोम का शीत (शैलिक) रूप से चान्तरित्त्व वायुमृत का स्पर्शरूप से इमें प्रत्यक्ष हो रहा है। दिन की गर्मी रात की शीत स्पर्शभर्मा वायु, तीनों मृत ही मिट्टी-बल की शक्ति प्रत्यक्ष हैं। तीनों के आचारमृत प्राणतत्त्व गन्ध-रस-रस-स्पर्श-शब्द-स्पर्शाशरीरित, अतएव अशामप्युद्धर करते हुए प्रत्यक्ष से परे की वस्तु हैं। "नहं इमं त्पुलकसि से देखने में अन्तर्भव है।

ओषधित्वरूप-निर्माणक सोमतत्त्व 'बीज' (प्रतिबिम्बप्रकृत्योपपन्नानुपपन्न) पदार्थ है। अतएव इसके साथ और ओषधिसर्ग का प्रत्यक्षरूप से सम्बन्ध ही बताया है। चन्द्रमा की चन्द्रिका (प्रकाश) उसका अपना प्रकाश नहीं है। अर्थात् 'अत्राह गौरमन्वत'-'ओषधिरित्त्व' इत्यादि शब्दार्थानुसार और ओषधिसर्ग के प्रतिबन्धन से ही चान्द्र सोम चक्र पड़ता है। सोममृतानुगत सौम्यप्राण ओषधिसर्ग का बन जाता है, जो कि ओषधिसर्ग विनाश स्वर्ग की बरोहर है। वह चन्द्रिका ही प्रत्यक्षरूप शैलिक पदार्थ है जिसका मूलाकार शान्त्योषधि की हुई है। ओषधिसर्ग मृत्योषधि है, इसके गर्भ में विद्यान्योषधिसर्ग ज्ञानओषधि (आत्म-वर्षित) प्रतिबिम्बित है जो कि अनुपपन्न में ही अन्तर्भाव जाने वाले विद्यान्योषधिसर्ग से उत्पन्न होने वाला है। और मृत्योषधि के साथ उत्पन्नमृत विद्यान्योषधि ही चन्द्रमा में मूला ही जाती है। अतएव चान्द्र सोममूलोमक सौम्यप्राण ही चन्द्रोषधिसर्ग का बन जाता है। चान्द्र सोम मृत (रूपममृत) है सौम्यप्राण प्राण है चन्द्रमाग ज्ञान है। तीनों की समष्टि चान्द्र तत्त्व है। इतना ओषधित्वरूप-निर्माणक में भोग होता है। इत्यकार मृत-वायु-प्राणतत्त्व चान्द्रतत्त्व, मृत-वायुप्राणतत्त्व वायुतत्त्व पार्थिवमूर्त्तमाग-पार्थिव बल-वीर्यरूप पार्थिवतत्त्व, तीनों के सम्बन्ध से ओषधि का निर्माण हुआ है। पार्थिव बल हम लाले हैं। मलमाग का निर्गमन हो जाता है। शेष रसमय पार्थिवमाग से रस-असुक्त-मालि-मोद-अरिय-मन्ना-शुक्र इन पार्थिव लक्ष-बलधर्मों का विकल्प होता है। वायुतत्त्व से 'ओषध' का विकास होता है। एवं सोममृत-सौम्यप्राण-रूपमृत सौम्य चिद्रात्ममण्डिकरूप शेष बने हुए, चान्द्रतत्त्व से 'प्रधानमन' का स्वरूपनिर्माण होता है। इत्यकार ओषधिरूप अशरीरमा में प्रकृत विमूर्ति चान्द्रतत्त्व, वायुतत्त्व, पार्थिवतत्त्व तीनों दिव्य-चान्द्रित्त्व-पार्थिव तत्त्वों से अन्तर्भाव आश्रय मूलप्रधान अर्थरूप लक्षबलधर्मों प्राणमय प्राणप्रधान क्रियारूप ओषधित्व, मनोमय प्रधानप्रधान ज्ञानरूप प्रधानमन तीन विकृतों का विकल्प हो जाता है। प्रधानमन में ज्ञान-विद्या-वर्ष-धर्मों का उदय कैसे हुआ, प्रणोपतिवृत्ति का यही उद्दिष्ट वैज्ञानिक नियन्त्रण है, शेष कि पवित्रोत्पत्ति से उत्पन्न है।

श्लोपधिरूप-अभ्यानुगत-प्रज्ञानत्रिविधापरिलेखः—

१	१-१-चान्द्रवीप्रसोमगर्मिता-चिग्म्योतिम् तद्योतिस्मयी—प्रज्ञा	-द्विव्यञ्चान्तरसः (मनोमयः)
	२-२-चान्द्रसोमप्राणः—प्राणः	
	३-३-चान्द्रसोमः (सौराग्निगर्मित) —मूतम्	
२	१-४-वायव्यप्राणः—प्राणः	-आन्तरिक्षो वायव्य- रसः (प्राणमयः)
	२-४-वायुमूतम्—मूतम्	
३	१-६-पार्थिवं जङ्गम्—मूतम्	-पार्थिव्या भौतिकरसः (वाह्मन्याः)
	२-६-पार्थिवी मृत्—मूतम्	
	३-६-पार्थिवं बीजम्—मूतम्	

समष्ट्या-श्लोपधिरूपनिष्कर्षम्

१-अज्ञगतो मनोमयः प्रज्ञा-प्राण-मूतमकरचान्द्ररसा द्विव्यञ्च-इतः प्रज्ञानमन्त्रस्वरूपनिष्पत्तिः ।

२-अज्ञगतः प्राणमयो वायव्यरस-आन्तरिक्षः—इतः-आज-स्वरूपनिष्पत्तिः ।

३-अज्ञगतो वाह्मन्यः पार्थिवरस-मौम-इतः-सत्यशत्रुस्वरूपनिष्पत्तिः ।

४-केनैषित पतति प्रेषित मन' का वैज्ञानिक समन्वय—

प्रकृष्टासक्त-ज्ञानधर्मद्विरूप-उत्प्लावक 'प्रज्ञानमन' का वैज्ञानिक स्वरूप पाठकों के समुच्चय करा गया। प्रकृत में इस खर्चा से उत्पन्न इनका पूरी था कि, जहाँका के ब्रिहती की योग है, तब में इन्द्रियबर्ग की शक्ति इन्द्रियबर्गमय प्रज्ञानमन की अथवा भी आकरयदकम से अत्रिपार्थ दे। इन्द्रियबर्ग योगमाय में इन्द्रियबर्गम् प्रज्ञानमन का लक्षणा भी वर्गमना सिद्ध हो जाता है, जिसका सुप्रसिद्ध 'तल्लक्षणाद्येनियम्' (केनोनिष्) में विस्तार में प्रतिपादित हुआ है। निम्न विहित तल्लक्षणाद्येनियम् प्रज्ञानमन के इसी लक्षणाद्येनियम्-वर्ग का समर्थन कर रहे हैं—

१-केनैषित पतति प्रेषित मन, कन प्राण प्रथम प्रेषित युक्त ।

केनैषिता पाचमिमा बदन्ति, चक्षु श्रोत्र क उ द्बो युनक्ति ॥

२-श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो यद्वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीरा प्रत्यास्मात्स्लोकाद्मृता भवन्ति ॥

—कनोपनिषद्-१।१,२।

कनोपनिषद् के उक्त दोनों मन्त्रों में 'कनोपि' पृथक् प्रेषितं मना ' इत्यादि प्रथम मन्त्र में प्रत्ययसिद्ध उत्तरप्रणाली के द्वारा प्रका-प्राण-मूत्रप्रसक्त प्रज्ञानमन के त्रैलोक्यपर्यवहक शर्म का निरूपण किया है एवं 'आश्रयस्य आश्रय' इत्यादि द्वितीय मन्त्रद्वारा प्रज्ञानमनोमूक्त उक्त विद्यात्मा की धार भूतत्त्वा का स्थान आदर्शन कराया गया है जिसका विकास (वृद्धि) द्वारा प्रज्ञान में आत्ममन हुआ है। प्रजापतिवत्त्व स्थानपरिमाणुकार मध्य वृक्षीय अग्निवृक्ष, मेद में तीन श्रेणियों में विभक्त माना गया है। द्वय प्रजापति अग्निवृक्ष है महिमाप्रकाशति सर्व है दोनों का मध्यम प्रजापति उद्गीष है। हृदय, पितृ पितृमहिमा में प्रत्येक बन्धु में तीन विभाग रहते हैं। बलुपितृ का केन्द्र हृदय है वही हृद्यवृक्ष है, वही अन्तःवृक्ष है। वही हृत्प्रियवति आश्रय है। अतएव हल्का अम्बुशाय निर्बन्धन नहीं होकरवा। अतएव वह अग्नि-पञ्चनीरा ह-य-कथ-हृदा शक्ति 'अग्निवृक्षा' का शरीर है। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमान' इत्यादि वसुधैवकुशाग इती अग्निवृक्ष-हृद्य-प्रकाशति का स्वरूपविस्तारण हुआ है। बलुपितृ एवं बन्धुपितृ में संशय बन्धुमहिमा, दोनों वही हृद्य प्रजापति से उत्पन्न हैं, एवं वही के आधार पर प्रकृतित है वीता कि- 'बहुधा विजायते तस्मिन् तस्युमुपनाति विरथा' इत्यादि मन्त्रभाग से स्पष्ट है। बलुकेन्द्र से उत्पन्न तणावगत प्रकृतित भूतप्रज्ञान सूर्यप्रसक्त पितृ ही बलुपितृ है। वही अन्तःवृक्ष नामक वृक्षवृक्ष है। सूर्यवृक्ष के केन्द्र में संशय ११ में अर्द्धांग पर्यन्त स्यात् प्राणप्रज्ञान महिमाप्रवहक ही बन्धुमहिमा है जिसके गर्भ में तीन अग्निवृक्ष एवं दो अम्बुवृक्ष प्रकृतित हैं। ६-१५-२१ तीन अग्निवृक्ष हैं। १०-११, २१ अम्बुवृक्ष हैं। अग्निवृक्षवृक्षों में स्यात् अग्नि प्राणानि है अम्बुवृक्षवृक्षों में स्यात् लेप प्राणलेप है। अतएव बन्धुमहिमाप्रवहक प्राणप्रवृक्ष लेपान्धप्रज्ञान है। हृत्में २१ पर्यन्त स्यात् प्राणानिमय महिमाप्रवहक ही वृक्ष अन्त है। इती आधार पर- 'यच्च किञ्चिद्दार्ष्टिक्यवद-अग्निस्त्रयैश्च तन्मर्मम् पर वैगमिक विज्ञान स्थानित हुआ है। वृक्षवृक्षवृक्ष बन्धुपितृ ही है वा अग्नि-लेप-प्रज्ञान ही। परन्तु वही भूयान्त्रिक का प्रज्ञान है। पर विज्ञान की सामर्थ्य परिष्कार है कि, प्राणान्त्रिकप्रवृक्षवृक्ष भूयान्त्रिकप्रवृक्ष ही बन्धुपितृ की प्रवृक्षप्रवृक्ष का वृक्षी है एवं वही पितृ वृक्ष अन्त है। भूयान्त्रिकप्रवृक्ष प्राणान्त्रिकप्रवृक्ष बन्धुमहिमा की प्रवृक्ष-प्रवृक्ष का वृक्षी है एवं हृत्में प्रवृक्षान्त्रिकप्रवृक्ष ही वृक्ष अन्त है। अतएव बन्धुपितृ तथा बन्धुमहिमा वृक्ष-वृक्ष-प्रवृक्ष दोनों अन्त-प्रवृक्ष अग्निप्रवृक्ष-प्रवृक्ष बन रहते हैं। भूयान्त्रिकप्रवृक्ष प्रवृक्ष का प्राणान्त्रिकप्रवृक्ष प्रवृक्षप्रवृक्ष है। बन्धुकेन्द्र में प्रकृतित अग्निवृक्ष प्रकाशति ह-य-कथ-हृदा शक्ति इत्यु-हृदा-प्रवृक्षवृक्ष ही अन्त है। इती वही के आधार पर अग्नि अन्तमय वृक्षमहिमा प्रकृतित है। ११ अर्द्धांगप्रवृक्ष बन्धुमहिमाप्रवृक्ष का केन्द्र १० वा अर्द्धांग है। वही प्रकृतित महिमाप्रवृक्ष का केन्द्रप्रवृक्ष प्रवृक्ष प्रवृक्षप्रवृक्ष वृक्षप्रवृक्ष है। वही 'वृक्षप्रवृक्षप्रवृक्ष' नाम से प्रवृक्ष हुआ है २ बन्धुप्रवृक्षप्रवृक्ष अग्निवृक्ष तथा बन्धुमहिमाप्रवृक्ष निरवृक्ष अन्त हुआ 'निरवृक्षप्रवृक्षप्रवृक्षप्रवृक्ष' है।

५१
इत ५ वृक्षों के कारण ही बन्धुकेन्द्र में ११ पर्यन्त १११ महिमाप्रवृक्ष वृक्षप्रवृक्ष प्रवृक्षप्रवृक्ष है व वृक्षप्रवृक्ष वृक्षप्रवृक्ष वृक्षप्रवृक्ष नाम से प्रवृक्ष हुआ है। इत वृक्षप्रवृक्ष

मयबल की परिधि से संलग्न ३४ वें अर्धगोचरपर्यन्त व्याप्त महिमास्मृति वही हृद्य प्रभापति वस्तुकेन्द्र-वस्तुपरिवह वस्तुमहिमा, इत्यादि सम्पूर्ण विषयों को अपने गर्भ में मूक रखता हुआ 'सर्वप्रजापति' कहलाया है। यही निरुक्त प्रभापति नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु 'प्रजापते न त्पदेवान्यन्यो' इत्यादि मन्त्रद्वारा स्वीकृत हुआ है। वास्तव्यं वही हुआ कि वस्तुकेन्द्र, महिमाकेन्द्र, महिमापरिधि-संघट्ट - २७-३४-इन संज्ञित स्थानों में उक्तस्मृति से प्रतिष्ठित हृद्य उत्तरी क्रमशः अनिरुक्त-उद्गीय-सर्वप्रजापति नामों से व्यक्त हुआ है। पर्यमावृत्ता में 'क' कार अनिरुक्त (अज्ञेति) मात्र का वाचक है। अतएव उत्तम वस्तुकेन्द्रानुगत अनिरुक्त प्रजापति 'क' कार व्याहृति (नाम) से सम्बोधित हुआ है। 'म' कार निरुक्त (शत) मात्र का वाचक है। अतएव उत्तम वस्तुपरिष्कारानुगत सर्वप्रजापति 'स' कार व्याहृति से सम्बोधित हुआ है।

एतल पाश्चात्त्य शरीर, इन्द्रियवर्ग, निरुक्त है, सर्वलक्षण है। इनका सम्बन्धन बिना प्रज्ञानमन से होता है, यह हृद्य में प्रतिष्ठित होने के कारण (उक्तस्मृतिसे) अनिरुक्त है। अतएव हृद्यप्रति-अभिरुक्ति प्रज्ञानमन को अक्षर ही 'क' कारव्याहृति से मुक्त माना जा सकता है। इसी व्यस्य को लक्ष्य बना कर मन्त्रार्थ का समन्वय कीर्ति। मुक्ति प्रश्न करती है—बाह्य, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, मन [संस्य-विद्वत्साधक इन्द्रियमन], किन्तु प्रेरणा से प्रेरित होकर स्वभाषाओं में प्रवृत्त होते हैं?। इस 'केन्द्र' प्रश्न का उत्तर भी 'केन्द्र' ही माना जायगा। प्रश्नात्मक 'केन्द्र' का अर्थ होगा—'किससे'। उत्तरात्मक 'केन्द्र' का अर्थ होगा 'किससे'। किन्तु वास्तव्यं होगा 'क' कारस्मृति अनिरुक्तव्याहृति नाम से व्यक्त प्रज्ञानमन से। इसप्रकार केनेपित् पति प्रेरित मन' का उत्तर भी 'केनेपित् पति प्रेरित मनः ही जायगा। अतः मन्त्र प्रश्नार्थित उत्तर के द्वारा प्रज्ञानमन के इसी सर्वेन्द्रियप्रेरक 'धर्मा' का निर्णय सिद्ध होगा।

यह एक प्रज्ञान मन पर मनस्वेन दृष्टि है तब एक इन्द्रियारम्भ है एवं तब एक अमृत-प्राप्ति [अमृतविद्योक्त-आसक्तिव्यहित] अस्मत्त्व है। विज्ञानरामद्वारा से सब प्रज्ञानमन में विज्ञान के द्वारा अमृत विद्योक्त को दृष्टि कर सकने प्रति मूलतः अपना अस्मत्त्व कर देता है, तभी अमृतपद प्राप्त होता है। विद्युक्त विद्योक्त तभी मूलतः का परम्परया अवलोक्यं अर्थ है। इसी दृष्टि से प्रज्ञानराम की उपस्थिति अपेक्षित है। इतनी मात्र से इसी उपाय विद्वान् की ओर उपाय का ध्यान आकर्षित किया गया है।

६-प्रज्ञान-विज्ञान के प्रसङ्ग, प्रतिष्ठ, योनि, आश्रय, विद्वर्ष—

इन्द्रियव्यापारारम्भ प्रज्ञानमन के कर्मसंयोग का इच्छित कलाया गया। अब क्रमशः विज्ञानात्मा के अनिर्वाच्य संयोग की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। आध्यात्मिक विज्ञानात्मा जैसे 'दुष्टि' नाम से प्रसिद्ध है प्रज्ञानात्मा 'मन' नाम से प्रसिद्ध है, तथैव आध्यात्मिक विज्ञान प्रज्ञानात्मा 'सर्व-बन्धन' नाम से प्रसिद्ध है। यह सिद्ध विषय है कि बन्धन की प्रसिद्धा सर्व ही है। बन्धन का बन्धन उत्तरी अन्धकार पर अक्षरान्वित है, एवं पूर्वकर्मनुसार बन्धन की अन्धकारावस्था पर अक्षरान्वित है। किन्तु सर्वसंयोग के संयोग के बन्धन निबन्धनस्थापना है, अन्धकारान्वित है अभावान्वाप्ति से मुक्त है। अतएव शुरुआत की प्रसिद्ध बन्धन का अस्मत्त्व माना गया है, शुरुआत ही वास्तव्यं पूर्वमात्र हुआकत्या कृष्णार्थी इच्छाकत्या एवं अभावस्था निबन्धनस्थापना मानी गई है। वास्तव्य-बन्धन का जीवन स्वरूपविधि स्वरूपका एकमात्र अक्षरान्वित संयोग पर ही निर्भर है। इसी परिधि का अध्यात्मविषय के साथ

उत्पन्नव्यं चक्षिण । आधिदैविकं सूर्यं से आध्यात्मिकं विज्ञानात्मा [बुद्धि] च, तथा आधिदैविकं चन्द्रमा से [सूर्यप्रदीप्तं ओजविरूपं अन्नं मे मुक्तं चान्नरत्नसङ्घातः] आध्यात्मिकं प्रज्ञानात्मा (मन) का स्वरूप निम्नाहं हुआ है । जैसे सूर्य, चन्द्रमा आधिदैविक बुद्धि मन हैं तैसे बुद्धि-मन आध्यात्मिक सूर्य, चन्द्रमा हैं । जैसे आधिदैविक में सूर्यज्योति के आकार पर चन्द्रमा प्रतिष्ठित है एवमेव आध्यात्म में बुद्धि के आकार पर मन प्रतिष्ठित है ।

प्रमथ प्रतिष्ठितं योनि, आराध्य, मेद से प्रत्येक आध्यात्मिक तत्त्व का चार प्रकार से उत्पन्न होया है । प्रज्ञानात्मा (मन) का प्रमथ [मूल उपादान] चन्द्रमा है प्रतिष्ठा इत्यम है योनि [आगमनद्वार] ओजविरूप अन्न तथा प्रपञ्चवान है, आराध्य [आधिस्थान] उवाङ्गरीर है । एवं विज्ञानात्मा (बुद्धि) का प्रमथस्थान सूर्य है प्रतिष्ठानस्थान इन्द्राद्यष्टिद्युक् प्रज्ञानात्मा है योनिस्थान 'नान्दना' (द्वार) नाम से प्रतिष्ठ [वैशान्त्यक्षय शिवात्त्वानीय] इन्द्रात्त्र, और वनस्पतिकरूप अन्न है, आराध्य (आधिस्थान) उवाङ्गरीर है । प्रपञ्चोत्पत्त एक विपन्न च सतीत्यत्त और चर लीक्षिण । किन्तु आधिदैविक-आध्यात्मिक द्वार चर्चों का 'येनोपर च तात्त्विक स्वरूप' नामक स्थान में स्वीकारण हुआ है वे आठों ही आत्मपर्यं 'प्रजापति' नाम से सम्बोधित हुए हैं । जैसाकि प्रज्ञानात्मास्वरूपनिरूपण करते समय कहा गया है 'आत्मा-मातृ-पुत्र' अमरि-लक्षणा, जन्म-मर्त्य-अतीति-मातृकी की समष्टि ही 'प्रजापति' का प्रजापतित्व है । आत्मलक्ष्य सकल्पवर्ण मनप्रधान है प्राणलक्ष्य अर्धवर्ण किराप्रधान है, एवं स्युलक्ष्य अतीतिवर्ण मृत्युप्रधान है । इत एहि से आठों ही प्रजापति-त्वाद्यो में प्रत्येक में आत्मा प्राण, मूल, तीन तीन चर्चों का उपयोग सिद्ध हो गया है । आठों के वे त्रिक मूल मूल नामों से व्यञ्जित हुए हैं । लक्ष्मि पहिला, तथा प्रधान आत्मपर्यं है-परमपर्ययान ईश्वरपुण्य गृहेत्मा त्रिसे हमने अन्त्यात्मपुण्य लक्ष्य मृत्युत्मा की बुद्धियोगात्मिक बुद्धियोगात्मिकी का मूल लक्ष्य (शाश्व) कहलाया है । इत प्रथम प्रजापति का आत्मभाग 'परमपर्ययान 'गृहेत्मा' है प्राणमय 'सत्यस्यसत्यम्' है एवं मृत्युमय 'सत्यम्' नाम से व्यञ्जित हुआ है । दूसरा आत्मपर्यं है-अन्त्यात्मप्रधान शीतपुण्य गृहेत्मा त्रिसे लक्ष्य मृत्युत्मा की ज्ञानयोगात्मिक योगपुण्यी का लक्ष्य माना गया है । इत्ना आत्मभाग अन्त्यात्मप्रधान 'गृहेत्मा' नाम से प्राणभाग 'शीत' नाम से एवं मृत्युभाग 'पाप्मा' नाम से व्यञ्जित हुआ है । तीसरे अन्त्यात्मप्रधान के तीनों पर्यं अन्त्या शान्तात्मा, अन्त्यात्त, आत्मता, नाम से, शीते महानात्मा के पर्यं अन्त्या महानात्मा, सत्य बायु नाम से पाँचवें विज्ञानात्मा के पर्यं अन्त्या 'विज्ञानात्मा' चिपण्या तेज नाम से छठे प्रज्ञानात्मा के तीनों पर्यं अन्त्याः प्रज्ञानात्मा, प्रज्ञा, लक्ष नाम से लक्ष्मि चार्थिक मृत्युत्मा के तीनों पर्यं अन्त्याः अन्त्यात्मा मूल सृष्टित्री, नाम से तथा आठवें भीम अन्त्यात्मा के तीनों पर्यं अन्त्या मूलसत्यत्मा प्राण रस नामों व्यञ्जित हुए हैं । लक्ष्मि के प्रमथ-प्रतिष्ठ-योनि-आराध्य भी इत्यहं इत्यहं किन्तु अन्त्या किन्तु ने विभिन्न कह हुआ है । ॥

॥ देविण-नपरमपुण्यत्मात् 'अन्त्यात्मा' अन्न का प्रमथपरमपुण्यत्मात्-आत्मविज्ञानात्मानिपर्यं नामक प्रमथपरम

	आत्मा (उक्तयम्)	प्राण (वर्कः)	पशु (अपीति)
१-परस्परप्रधानो गूढोत्सा-ईश्वरप्रजापति—	ज्ञानम् ईश्वररत्ना	क्रिया उत्पत्त्युक्तयम्	अर्थ- उत्पत्त्यम्
२-अध्ययप्रधानो गूढोत्सा-जीवप्रजापति—	जीवात्मा	जीव	पाप्मा
३-अक्षरप्रधानोऽव्यक्तस्मप्रजापति—	ज्ञानात्मा	अव्यक्त	आक्षर
४-अक्षरप्रधानो महानात्मप्रजापति—	महानात्मा	सत्त्वम्	बाहु
५-आत्मक्षरप्रधानो विज्ञानात्मप्रजापति—	विज्ञानात्मा	वियथा	तेज
६-आत्मक्षरप्रधान-प्रज्ञानात्मप्रजापति—	प्रज्ञानात्मा	प्राज्ञः	बलात्
७-विक्रमक्षरप्रधानो भूतस्मप्रजापति—	कर्मात्मा	भूतम्	शुचिषी
८-वैश्वरिक्क्षरप्रधानोऽग्न्यात्मप्रजापति—	भूतउत्पत्त्या	प्राण	रत्न



७-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थापरिचय—

कल्पनाया गया है कि अभिदेकैकत्वात् आध्यात्मसंस्था में भी विज्ञानज्योति ही प्रज्ञानज्योति की मूलप्रतिष्ठा बनती है। इसका प्रत्यक्षरूपि से प्रत्यक्ष कर लीजिए। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, मेद से आध्यात्मिक भूतत्मा तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। इन तीनों अवस्थाओं का क्रमशः प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मा अव्यक्त-गर्भित महानात्मा इन तीन आत्माओं से सम्बन्ध है। महान्-विज्ञान-प्रज्ञान, तीनों की सामप्रकृत्या भूतात्मा की सामप्रकृत्या है। महान्-विज्ञान दोनों की सामप्रकृत्या भूतत्मा की स्वप्नावस्था है। एवं महान् की सामप्रकृत्या भूतत्मा की सुषुप्त्यवस्था है। तात्पर्य यही हुआ कि, महान्-विज्ञान से अनुस्यूत प्रज्ञान (मन) जब तक इन्द्रियो के द्वारा ऐन्द्रियक कर्मों का सम्प्राप्तक बना रहता है जब तक वाक प्राण-बहुः-ओहादि ज्ञान-कर्मैन्द्रियों स्वप्नावार-उत्पत्त्यात्म में प्रवृत्त रहती है तबतक भूतात्मा जाग्रत्-वस्था का अनुगामी माना जाता है। इन्द्रियव्यपार-उत्पत्त्यात्म का अर्थ है-इन्द्रियों के साथ प्रज्ञानमन का सद्व्योम। जब प्रज्ञानमन उपरत हो जाता है तो इन्द्रियवर्ग अपना काम छोड़ देता है। यही प्रज्ञानमन की सुषुप्ति है। प्रज्ञानमन का (अन्तमु ल कनतं हुए इत्का) विधाम ही प्रज्ञान की सुषुप्ति है यही स्वप्नावस्था है। प्रज्ञानमन अन्तमु ल कनो बना ? इसके दो उपाधान हैं। इन्द्रियव्यपार की तीव्रता से (अधिक ऐन्द्रियक व्यपार से) प्रज्ञानमन का ज्योतिर्भांग क्षीण हो जाता है। अतएव तत् क्षीणाकृत्या में पहुँचने पर प्रज्ञानमन

बुद्धि मी विज्ञानात्मा को प्रज्ञानात्मा के साथ सम्परिवृत्त कृतज्ञाती हुई दोनों के अनिवार्य व्यवोग का ही समर्थन कर रही है ।

उक्त इन्द्रियवर्ग, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा, तीनों की पारस्परिक व्यवोग-मीमांसा से यह मलीमति सिद्ध हो जाता है कि, लौकिक ज्ञान-मनिस-कर्मबोग हो, अथवा तो शास्त्रीय ज्ञान-मनिस-ज्ञानयोग, सर्वत्र विज्ञानपरिमित प्रज्ञानानुगत इन्द्रियव्यापार अपेक्षित है । ऐसी स्थिति में योगमात्र को इन्द्रियव्यापार अपेक्ष होने से 'इन्द्रिययोग', इन्द्रियव्यापार के प्रज्ञानमन-अपेक्ष होने से 'मनोयोग', एवं प्रज्ञानमनोव्यापार के विज्ञानबुद्धिअपेक्ष होने से 'बुद्धियोग' तीनों में से किसी भी नाम से व्यबहृत किया जा सकता है । बार बार हमारी ओर से यह आग्रह हो रहा है कि, गीताशास्त्र उक्त बुद्धियोग का निरूपण कर रहा है, जो शास्त्रीय ज्ञान-मनिस-कर्म, तीनों योगों से सर्वथा अपूर्व-विलक्षण-एवं पूर्ण योग है । परन्तु जब 'बुद्धियोग' शब्द के अर्थ की मीमांसा करने लगते हैं, तो हमारा यह आग्रह बुराप्रहमूला केवल कल्पना से समुत्पन्न प्रतीत होने लगता है । "बिना योगानुष्ठान में योगानुष्ठाता अल्पवयस्युक्त भूतत्मा के साथ बुद्धि का योग रहे, पुस्तकबुद्धि-पूर्वक भूतत्मा बिना योग का अनुगमन करे, बुद्धिसुप्त भूतत्मा का बुद्धिपूर्वक अनुष्ठित नहीं योग बुद्धियोग है" यही तो 'बुद्धियोग'-शब्दार्थ है । इस शब्दार्थ की दृष्टि से तो देखते हैं-लौकिक वैदिक जमी योग 'बुद्धियोग' है । बिना इन्द्रियों के कोई योग सम्भव ही नहीं हो सकता, बिना मन के इन्द्रिययोग असम्भव है, एवं बिना बुद्धि के योग के मनोयोग असम्भव है । इस दृष्टि से इन्द्रिय-मन-अपेक्ष योगमात्र को जब 'बुद्धियोग' कहा जा सकता है, तो गीताशास्त्र ने इस सम्बन्ध में कौनसा अपूर्व पुनर्पार्थ किया ? यह प्रश्न हृदय के अन्त हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है । केवल 'बुद्धियोग' शब्दोच्चारण से ही तो बुद्धियोग की अपूर्वता-विलक्षणता सिद्ध नहीं हो जाती । यही वह अद्विष्ट समस्या है, जिसका निराकरण लौकिक मनुष्यों से तो क्या, शास्त्रनिष्ठ निर्भ्रियशक्तियों से भी नहीं हो सक्ता है । ओर इही अद्विष्ट समस्या के कारण गीताशास्त्रप्रतिपादित अपूर्व बुद्धियोग उक्त 'बुद्धियोग' शब्दार्थ के अन्त से योगप्रदी के स्वरूप में ही अन्तर्भूत माना जा रहा है । साधारण मनिस से पूँछ बलिय, अथवा तो किसी विद्वान् से प्रश्न कर लीबिय, गीताप्रतिपादित विषय के सम्बन्ध में दोनों का यही उत्तर होगा कि-गीता में अपिब्रवी के नेत्र से ज्ञान-मनिस-कर्म इन तीनों ही योगों का प्रतिपादन हुआ है । उत्तर इसलिए तथ्यपूर्ण मी मान लिया जाता है कि, सामान्यदृष्टि से विचार करने पर तीन से वृत्त कोई 'बोधा' 'बुद्धियोग' नामक योग उपलब्ध नहीं होता । अतः गीतेस्त 'बुद्धियोग' शब्दों का समन्वय भी यही मान लिया जाय है कि-'मगवान् आदेश कर रह है कि, 'हमें ज्ञान-मनिस-कर्म-योगों का बुद्धिपूर्वक अनुगमन करना चाहिए' । इस आस्थानिक, अतएव बलुक्त तथ्यशून्य तथ्यपूर्ण माने जाने वाले उत्तर से उन्मुक्त हो जाने वाले विद्वान् में वह प्रश्न मी तो नहीं उठने पाता कि 'जब बिना बुद्धि के योग के योगप्रवृत्ति असम्भव है, जब प्रत्येक योग का अनुष्ठान बुद्धियोगपूर्वक ही होता है, तो फिर मगवान् ने इस प्रकृतिविद्ध बुद्धियोग का विवेचण क्यों किया ? । अपिब्रवोपेक्ष्य के प्रनुत्तर अत्र न बिना किसी भी योग में प्रवृत्त होता वह प्रकृत्या 'बुद्धियोग' स्थिति से अवरसमेव बलुक्त मान लिया जाय । इस प्रकृत्यप्रवृत्त बुद्धियोग के लिए मगवान् ने 'ब्रह्मि बुद्धियोगो हं' 'बुद्धि योगमुपार्भिस्य'-'बुद्धिसुप्तो अहस्तीह' 'ममे सुकृतबुज्जते'-'बुद्धी शरयामन्विष्य-रूपणाः फलहेतय शरयारिष्म से बड़ आशेष के साथ अभिनय क्यों किया गया ? ।

परन उठना चाहिए था परन्तु नहीं उठ्य, क्यों ?। व्याख्याकारों की विशेष कृपाशक्ति के अतिरिक्त इस क्यों ? का और क्या उत्तर हो सकता है । प्रस्थानत्रयी के सर्वमूर्द्धन्य व्याख्याता मगधान् शङ्कर से परिलो परिलो ऐसे प्ररनों का उद्धान हुआ । क्योंकि, एकदक कठमत्त ने आर्यधर्म पर विशेषरूप से आक्रमण नहीं किया था । यही कारण था कि उठ युग में आर्यधर्म की इत विहाय का अंततः उद्धान करने वाले व्याख्याता भी उत्पन्न हुए, जिनका काम व्याख्यापन भी लुप्त हो जाता है । मगधान् शङ्कर ने जिस निर्बिरोध-अनिर्वचनीय-लक्ष्य को गीता का प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व मानते हुए वैरोन्मत्त कर्म मार्ग का व्यवहन, तथा सर्वकर्मत्व्यागस्तद्वय हानयोग को अन्तिम पुरुषार्थ माना है महामाहेश्वर श्रीमन्नमिनबगुप्ताचार्य ने वही कर्म मार्ग का लक्ष्यमान समर्पन किया था । इती आचार पर अमिनबगुप्ताचार्य की विद्वानों में मगधान् शङ्कर का प्रतिस्पर्धी माना है ० । ऐरा के बुद्धिम्य से आत्मे बाहर लक्ष्यदायिक भक्तिवाद पुनिक-प्लवित हुआ । जिन कलाकन वैदिक-ज्ञानगमित वैज्ञानिक तर्कों के आचार पर कलाकन आर्यधर्म प्रतिष्ठित था, उनका अप्यकनाप्यपन किलाप हो जाता । व्यप्यवेदमूलक निर्वाति आत्म-देव-मृत-मायादि लक्ष्यवाद का लयव्यवहार की उक्ति में यह निष्पत्ता । लयी वैदिकतत्त्व कलाप्रयोगपूर्वक एक ही अलप्यव्यवहार की कलैटी पर कसे थाने लगे । और इत्यन्तर गीता का निर्गुण बुद्धिप्रेमलक्ष्य लुप्त हो पया । आर्यप्रतिमा का स्थान कठमतामिनिवेश ने लीन किया । राजनैतिक पठनप्रता के लय आत्मप्रतिमा भी परलक्ष्य बन गई । वैदिकलयाप्रवृत्ता मायवीम प्रता के आत्मा में यह शक्ति ही नहीं रही कि, वह लय अपनी आत्मप्रतिमा का भी लुप्ययोग कर लके । और आर्य ! ।

६-बुद्धिप्रांगलुगामी महामाहेश्वर अमिनबगुप्ताचार्य—

आर्य लो, जिनल शताब्दियों में व्याख्याकारों के हाथ लो लीगलपेठी हो चुकी है उनके विरुद्ध खोलना भी महापय समझ का रहा है । शास्त्रमिदिक परमाधरकक है यह मानते हैं । शास्त्र ही हमारे कक अ्यवर्ध-निर्वाय में मुख्य प्रमाय है यह भी अनुभव कर रहे हैं । परन्तु शास्त्र कौन से ? । बुद्धि-लुटिशालक ?, अथवा लो जिन किली भी लंकुलम्यपामातविक परिष्ठत के हाथ संस्कृत-मयप्रमाय में लिखे गय पत्रमार ? । यदि 'प्राचीन' नाम से ही प्रेम है लो अमिनबगुत्त ने क्या अयवयप किया है ? । क्यों नहीं बुद्धिगम्य जयी आर्य का हम अनुकरक करें, लो आर्यधर्म का अनन्वयेपक सिद्ध हो रहा है । क्यों नहीं मूलमूल स्वर्न वेदशास्त्र के आचार पर ही गीतालक्ष्य का समन्वय करने की चेष्टा करें, जिन वेदशास्त्र की मायप्रता में किली को आपत्ति नहीं हो सकती, लो वेदशास्त्र लयप्रधान बनवा हुआ-बुद्धिपूर्वा 'आत्मयकलितिवेदे' के अनुकार बुद्धिगम्य शास्त्र है जिलके लय पूर्व परीक्षित है व्यप्यनियत है । यज्ञा के आचार पर ही आत्मविक्रमल सम्यक है अन्वययज्ञा के आचार पर नहीं ।

० बारमीरकमा अमिनबगुप्ताचार्य रोक्कप्रयायलुगामी थे । आर्य शङ्करलनप्रसिद्ध थे । आपने 'गीतासर्वसंग्रह' नाम की एक संक्षिप्त व्याख्या गीता पर लिखी है । उपलक्ष्य ककवाक्य मायों तथा व्यप्यवाधों में यही एक ऐसी व्याख्या है जिलमें अंततः बुद्धिबोग की अर्पूर्वा का लयीकरण उपलक्ष्य हुआ है । यह व्याख्या उपलक्ष्य व्याख्याओं में लय से प्राचीन मानी गई है ।

१०—विषयविभागानुगता गीतायोगचतुष्टयी—

विश्व बुद्धियोग का अर्थयुगारम्भ में अन्व शरीर से मगवान् में सर्वप्रथम विकल्पान् को उपदेश दिया, आगे चलकर जो योगविद्या चर्चपरम्परा में प्रचलित रही अज्ञानव्यवच्छेद से बिल्का स्वरूप महाभारतयुग में पुनः विलुप्त हो गया शत्रुदेवशरीर के द्वारा पुन बिल्का अस्तुन के प्रति उपदेश हुआ, विश्व योग के लिए मगवान् ने धामनिवेश 'अपना प्रातिस्विक मठ' कहने में कोई संकोच न किया, वह बुद्धियोग का अज्ञानव्यवच्छेद से, वेदवत्परिष्कृतामात्रमूला व्याख्याओं के दोष से, परराजनीतिमूला आत्मदाक्य के दोष से स्वार्थमूला प्रवृत्तमा धर्मप्रतिबन्धके अनुग्रह से विघातव्यवच्छेद भूषणों के वेदान्मठ-आचारपरिभाषा-आत्मस्व-आप्त-परिग्रहमहाकनित दिव्यप्रतिमावर्णयदेश से आश्रय पुनः स्मृतिगर्भ में विहीन हो गया है। वही कारण है कि, गीताशास्त्र के प्रति अनन्व निष्ठा रखता हुआ भी आश्रय का गीतामूक समाश्रय गीतार्थवम्बन में अपनी कल्पनाओं का विस्तार करता हुआ नहीं आया था।

जिसे लक्षधारण क्रम योग करते हैं, जिसे सर्वमान्य 'ज्ञानयोग' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं, वे दोनों मगवान् की दृष्टि में 'लोकनिष्ठा' हैं, यैककि—'लोकोऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा' इत्यादि मगवद्वचन से प्रमाथित है। लोकप्रचलित तीसरी भक्तिनिष्ठा ज्ञान-कर्मनिष्ठाओं के मध्य में है। अतएव उन्मत्तप्रतिष्ठाम्य से दोनों के प्रवृत्त से इस मध्य निष्ठा का प्रवृत्त स्वतः सिद्ध बन रहा है। अतएव मगवान् ने लोकनिष्ठा-परिगच्छन में केवल दो निष्ठाओं का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त मान लिया है। इतएव सर्वसामान्य में प्रतिष्ठित अम्यकर्मनिष्ठा योगनिष्ठा (कर्मयोग) कर्मव्यगलक्षणा अस्मिनिष्ठा (ज्ञानयोग), फलानुगता अम्य भक्तिनिष्ठा (भक्तियोग), तीनों ही निष्ठार्थ लोकनिष्ठा बन रही हैं। इन्हें 'लोकनिष्ठा' नाम से व्यवहृत करते हुए मगवान् वही अभिप्राय सूचित कर रहे हैं कि सामान्यबुद्धिपरवण, त्रिगुणमाहाफल मनुष्यों की दृष्टि में पुत्रकार्य के ये तीन मार्ग ही विरकाल से प्रचलित हैं। शौरस-माहात्म्य चौथा बुद्धियोग सर्वसाधारण के लिए अनिहित है। वही वास्तविक शास्त्रनिष्ठा है, जो अपने अम्यवाक्यानुगत, अतएव अज्ञानमाहात्म्य बुद्धिमात्र के प्राधान्य से लोकनिष्ठावृत्त को भी स्वश्रेयसप्रदान के द्वारा बुद्धियोगस्वरूप में परिणत कर रही है। वही चौथी बुद्धियोगनिष्ठा गीता की प्रधान निष्ठा है, जिसे के समावेश से मगवान् ने लोकप्रचलित निष्ठावृत्तों का भी बुद्धियोगत्वम्यप्रदानद्वारा स्वशास्त्र (गीता) में संभव कर लिया है। वही संशोधित तीनों योग गीतापरिभाषा में ज्ञान-भक्ति-कर्म योग न कहला कर ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्यबुद्धियोग-धर्मबुद्धियोग इन नामों से व्यवहृत होंगे। एव मूलसूत्र बुद्धियोग 'वैराग्यबुद्धि' योग माना जायग, बिल्का गीता में—'योग'—'बुद्धियोग' आदि नामों से उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से गीताशास्त्र में चार योगों का प्रतिपादन सिद्ध हो जाता है जो लोकप्रचलित निष्ठावृत्तों से सर्वथा अलग एवं विकल्प है। इसी आधार पर गीताको केवल 'बुद्धियोगशास्त्र' कहना ही उमीचीन बनता है। इसी दृष्टि से १-२-३-४-इस क्रम से चारों योगों के प्रतिपादन के लिए २८ अध्यायों का विभाजन किया गया है। वही विभाग विज्ञानतन्त्र है बिल्का गीतामूकवाहिररूपीसूत्रमक प्रथमअध्याय के—'विषयविभागानुगता' नामक प्रकरण में विस्तार से उल्लेख किया जा चुका है। उपर निष्ठावृत्तों के अभिनिष्ठों में लोकनिष्ठावृत्तों के आवेश में पड़ कर गीताध्यायों का १-२-३-इस क्रम से विभाजन करते हुए तीनों का अम्य 'कर्मोपनिष्ठावृत्तक, अज्ञानमाहात्म्यवृत्तक ज्ञानमाहात्म्यवृत्तक' यह नामकरण किया है, जो इत्यन्त अविभाजन, तथा नामकरण गीतावत्सर्वव्याख्या सर्वथा विपरीत जाता हुआ उल्लेखणीय है।

विज्ञानसम्का-योगविभागः—

- १-वैराग्यबुद्धियोगः (बुद्धियोगो भगवन्मतम्)-निष्कामसवकमातुरातिः— १-६ (४)
 २-ज्ञानबुद्धियोगः (ज्ञानयोगः संशोधितः)-निष्कामज्ञानवर्ष्या— ७-८ (१)
 ३-प्रेरकव्यंष्टुद्धियोगः (मक्तिव्योगः संशोधितः)-निष्कामोपासना— ९-१२ (४)
 ४-धम्मबुद्धियोगः (धर्मयोगः संशोधितः)-निष्कामधर्मयोग— १३-१८ (४)

x १८

प्रज्ञान (सोक) सम्मत्तयोगविभागः

- १-धम्मयोगः—धम्मधम्मवर्ष्या—प्रथमविभाग— १-६
 २-मक्तिव्योगः—मक्तिव्यवर्ष्या—द्वितीयविभाग— ७-१२
 ३-ज्ञानयोगः—ज्ञानधम्मवर्ष्या—तृतीयविभाग— १३-१८

x १८

११-बुद्धियोगसम्पत्प्रदाता गीताश्लेष—

विद्युत्-तर्जनक किण्वदाकार में न बाकर यदि हम गीता के शब्दी पर बहुतमात्र से दृष्टि डालेंगे तो हमें स्पष्टरूप से यह अनुभव होगा कि, गीता में तीनों ही योगों के उपर्यक्त बचन प्राप्त होते हैं • । तीनों के अतिरिक्त 'बुद्धियोग'-'योग'-उत्पत्तयोस इत्यदि नामों से एक योगे अष्टोत्सर्ग योग के उपर्यक्त बचन भी प्राप्त होने हैं । इत्यन्तर गीताशास्त्र में स्पष्टतः चारों योगों के बचन उपलब्ध हो रहे हैं । इस प्रत्यक्षोक्तस्य शास्त्रप्रमाण्य को देखते हुए भी गीताशास्त्र को केवल लोकनिष्ठाव्ययी का प्रतिपाद्य मानते हुए उपर्युक्त ही निरवधिमान्य मान लेना कैसे प्राभाषिक माना जा सकता है ? । इसके अतिरिक्त योगवर्षी का उक्तान्तरूप से उपर्यक्त भी बड़ी प्रतिपादन कर रहा है कि, अक्षर ही भगवान् किसी जैसे अष्टोत्सर्ग-योग (बुद्धियोग) की धीरे अष्टु न का ध्यान कावर्षित करना चाहते हैं, जो तीनों विभिन्न योगों में अतिरिक्तरूप से व्याप्त होता हुआ तीनों को सम्मत्त बना रहा है । किन्तु इस सम्मत्तन के तीनों योगों की सम्मत्तयोगिता कथमपि अस्मिन् नहीं कर सकता । तीनों विभिन्न योगों को सम्मत्तव्यक्ति-प्रदान करने वाला बड़ी सुप्रसिद्ध 'बुद्धियोग' है किन्तु सुप्रसिद्ध 'वैराग्यबुद्धि' से सम्मत्त है परन्तु वैराग्यबुद्धि ज्ञान, प्रेरक्य, धर्म-धर्मों के द्वारा लोक-निष्ठाव्ययी को भी बुद्धियोगसम्पत् प्रदान कर रही है ।

वैराग्यबुद्धियों के बनेक नामों में से एक नाम 'वैराग्य' नाम से प्रसिद्ध है किन्तु गीताभूमि-द्वितीयखण्ड के 'अ' विभाग में-'वैराग्यवर्ष्या' नामक प्रकरण में वैराग्य विवेचन किया जा चुका है ।

• गीताभूमिप्रथमखण्ड में इन उपर्यक्त बचनों का संग्रह किया जा चुका है ।

सृष्टि किम्बद्धा है, इस प्रश्न के समाधान के लिए वैज्ञानिकों की ओर से परस्पर धर्मया विभिन्न अहोरात्रवाद, अमोवादा अमोवादा अपरवादा, रबीवादा, अपरवादा, आदि १ वाद उपस्थित हुए हैं। सृष्टिमूलकारणता के सम्बन्ध में उपस्थित इन दलों का निर्विरोध समन्वय तभी सम्भव हो सकता है, जब कि दलों का आचार कोई एक अविभिन्न तत्त्व मान लिया जाय। इसी आचार आगे जाकर इस सम्बन्ध में दलों में अविभिन्नरूप से व्याप्त 'ब्रह्मवादा' स्थापित हुआ है, जिसे—'सिद्धान्तवादा' माना गया है, एवं विरुद्धा—'ब्रह्मव्यतिष्ठन्—सुखतानि धारयन्'—'उपसृतसम्महिना आयतैकम्'—'तस्मान्मान्यन्त परः किञ्चिन्नास' इत्यादिरूप से स्वीकारण हुआ है। ठीक यही परिस्थिति इन लोकनिष्ठाओं के सम्बन्ध में समझिए। पुरुष का पुरुषार्थ क्या?, प्रश्न के समाधान के लिए तीन मार्ग खमने उपस्थित होते हैं, जो एक दूसरे से स्वरूपता एवं अनुष्ठानप्रकारता—धर्मया विभिन्न हैं। इन विभिन्न तीन पुरुषार्थों का समन्वय तभी सम्भव है, जब कि तीनों को समानकालानुगामी बनाने वाला ब्रह्मकर् कोई वैद्य अविभिन्न तत्त्व स्वीकार कर लिया जाय, जो तीनों का अविभिन्न सहयोगी बन रहा हो। वही गीताशास्त्र का चौथा अध्यायप्रधानुपयत बुद्धियोग है। बिना इसे लक्ष्य बनाए तीनों वेग परस्पर एक दूसरे से विभिन्नधर्मा बनते हुए एकत्वमूला अमृतमाभविष्णति के स्थान में नानामावमूला मूलुमावप्रवृत्ति के कारण बन जाते हैं विरुद्धा मत्सङ्गमाया एक ही गीताशास्त्र को प्रमाणभूत मानने वाले धर्मवैयक्तिक आचार्यों का प्रवृत्त संघर्ष बन रहा है। ज्ञानवागाभिविष्ट गीता को विशुद्ध 'ज्ञानयोगप्रत्य' मानते हुए यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि, पुरुष का आस्त्यन्तिक पुरुषार्थ ज्ञानयोग ही है। गीताशास्त्र में संश्लेषित कर्म, शौर मङ्गियोग गीत ही। निम्न अधिधारियों के लिए ही भगवान् ने इनका संग्रह कर लिया है। वस्तुतः गीता मुख्यरूप से ज्ञानयोग का ही समर्पण कर रही है। अतएव गीता विशुद्ध 'ज्ञानयोगप्रत्य' है। मङ्गियोगाभिविष्ट धर्मवैयक्तिक गीता का मङ्गियोगप्रत्य मानने के लिए उन्नत हैं। उन्नत करना है कि—ज्ञान, वैयक्त्युक्त मङ्गियोग ही पुरुष का आस्त्यन्तिक पुरुषार्थ है। गीताप्रतिपादित कर्म, और ज्ञान गीत ही, बिनाका लाकलप्रवृत्ति से भगवान् ने संग्रहमात्र कर लिया है। वस्तुतः गीता मुख्यरूप से मङ्गियोग का ही समर्पण कर रही है। अतएव गीता विशुद्ध 'मङ्गियोगप्रत्य' ही है। कर्मयोगाभिविष्ट कर्मठ निष्कामकर्मयोग को ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मान रहे हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान—मङ्गि—योग गीत बनते हुए हैं। फलतः उनकी दृष्टि में गीता विशुद्ध 'कर्मयोगशास्त्र' बन रहा है। इस बन्धनगता तत्त्वज्ञान्य विभिन्न दृष्टि का ही यह अनुभव हुआ है कि एक ही भगवान् के मुख से विनिर्गत एक ही शास्त्र के अधिन तत्त्वप्रतिपाद्यक बचन परस्पर गीत—अज्ञान बन गए। स्वमतवैयक्तिक बचन भगवत्सिद्धान्त क प्रतिपाद्यक बन गए, स्वमतिरिक्तबचन लोकप्रवृत्तक बन गए। और इसप्रकार अधिनतत्त्वव्यवस्थान्या निष्ठाप्रती के अनुभव से एक शास्त्र तीन विभिन्न शास्त्रों का बनक बनता हुआ पारस्परिक संघर्षद्वारा शास्त्र के स्थान में अन्ति का प्रवृत्तक बन गया। मोहनारा और स्युक्तिगाम के स्थान में मङ्गप्रवृत्ति तथा स्युक्तिवित्ति का कारण बन गया। वायुदेवावधार से पहिले तत्त्वज्ञानबहिष्कार प्रभा के व्यापार से लोकनिष्ठाओं की विभिन्नता के आचार पर का तर्पण उपस्थित हुआ था जिसके निराकरण के लिए वायुदेवद्वारा मङ्गियोगमूलाक—'यत् सांख्यं यं योगं यं यं परस्परि-स परस्परि 'यत् सांख्ये प्राच्येने स्वानं, तद्योगैरपि गम्भिरत' 'एकमप्यास्थित सम्यगुमुया विन्वते फलम्' इत्यादि रूप से तीनों का सम समन्वय हुआ था कालम्यवच्छं स आद्य पुन' वही संघर्ष पुनगृह्यत बन रहा है। आद्य पुन' भगवान् य—'स कालन महदा योगा नष्टः—परन्तप!' अस्तिार्थ हा रहा है।

१२-व्याख्याताओं की संप्रपञ्चि—

संभव केवल विद्वत्-तया में ही प्रचलित था। वृन्दे शब्दों में संपर्प उन परिमणित व्यक्तियों तक ही सीमित था जो संस्कृतभाषा के बानधर थे। सामान्य प्रथा अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति के अनुसृत बिच वर्ग के आकर्षण से आकर्षित की उस मन्तव्य का अनुगमन करना श्रेयस्फला समझ रही थी। इसप्रकार अन्वयवियतक से ही सही, शास्त्रमूर्ति कथाकथयित् पुरवित थी। सम्भवतः इसी अन्वयवियत में वाग्ययी का संपर्प भी ही प्रवाहित रह ही शक्य। परन्तु वचमान युग में एक ऐसी घटना घटित हो गई जिससे संपर्प सुदृष्ट न रह सका और संपर्प एक ऐसे नवीन मास में परिवर्त हो गया जिसने शास्त्रनिष्ठा सर्वत्रैव विनाशोन्मुक्त प्रतीति होने लग गई। घटना यी दो सम्बन्धों का परस्पर सम्मिलन। सम्मिलन न कर कर इसे भी पारस्परिक संपर्प ही करना उचित होगा। विदेशीयता के अनुग्रह से लता के घाव स्वय ही तृ-नम्रता-तृ-वृत्ति-आश्रित-आचार-व्यवहार-निष्ठ सम्मान्य आश्रितियों में भी हमाय आश्रित्य स्वीकार किया। आश्रित के रूप में नहीं, जिन्हे शास्त्र के रूप में। उल्लेख करते ही आते हमारी सम्बन्ध-संस्कृति-व्यक्ति पर आक्रमण किया। इत आक्रमण का फल बड़ी दुष्का जो होना शक्य था। यदि वैदिकत्व हमारे हाथ में होता यदि हमाय पर सांस्कृतिक संपर्प से विनुरत रहता तो निश्चयन प्राय-शक्य-सम्बन्ध-सम्बन्धों के इत अग्रव्यथित संपर्प में प्राय-शक्य ही बनता। परन्तु तत्कालीनशास्त्रा अन्वयवियतगण पतनमुक्ता कश्चित्शास्त्रनिष्ठा से बर्गवित-व्यथितव्य बन हुआ प्राय-शक्य श्रेष्ठ-व्यथितवाद (विज्ञान) पूर्ण, लोकमद्वल्य गण संवरोन्नतिमुक्ता लोकनिष्ठ के प्रभाव से अपने आचल्यरूप से प्राय-शक्य लक्ष्य को हुए प्रतीत्य के आक-मल को न रख लक्ष्य। नत मल्लक होकर होने प्रतीत्य की उच्छिष्ट का शर अविधान करना पड़ा। संपर्प से पहिले लोकनिष्ठिमुक्ता जो अग्रव्यथित प्राय-शक्य के अविधान में थी, इस संपर्प में पड़ कर वह भी शास्त्रनिष्ठा के स्वय लक्ष्य ही रहने दिन गई अथवा तो अग्रव्यथ-अग्रव्यथ-प्राय-शक्य से योग्य-समर्थ प्रतीत्य ने लक्ष्यपूर्वक हीन थी। न राम मिले न रहीम। न उबर के रहे, न हार के रहे। जो न होना या वह हो गया। परन्तु प्राय-शक्य के मूर्तों का उच्छोषन न हुआ न हुआ। अश्रित ठीक इसके विपरीत अपने आपसे स्वय आत्मनिष्ठा के निविध पाश में आक्रम करने करते इन पुरुकारिणों में-गुणानां व परावै-व्याप्त-असम्बन्ध-समस्या को ही अपना आश्रय बना लिय किन्तु आत्मव्यथ ही है कि, एक स्वामी के दलों सेवक स्वामी के सेवक हैं परन्तु कोई एक वृन्दे का सेवक नहीं है, अथवा दलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो लक्ष्य। श्रेष्ठ उनके बात कथीक बन गए थे फिर परस्पर मैत्रीभाव हीने सुदृष्ट रह लक्ष्य था। उनके लिए हम श्रेष्ठ 'जो आश्रय के अनुमत्त। परन्तु परस्पर में श्रेष्ठ बाध से भी म्यानक। मुना है-बल शक्ति की जो आश्रय नहीं मिलता तो वह अपनी कठति का ही निगत्य करने लगती है। ठीक यही दशा हमारी हो गई। हम आश्रय में ही अन्व-अन्वय बन गए। और इसप्रकार उत अग्रव्यथ-अश्रित-व्यथित का हमने उपक्रम कर डाला किम इतिहास का अनुमत्त करने वाली अग्रव्यथ आश्रित स्मृतिगर्प में विनीत हो चुकी है।

पुरवपुमि-आत्मक, वह आत्मक-कितनी सम्बन्ध का मूल आचार आदर्शवर्ग है वह आदर्शवर्ग कितनी मूलमतिवा वेदशास्त्र है वह वेदशास्त्र-कितनी मतिवा प्रकृतिविज्ञ-निव-लनावनल्ल है वह लनावन ल्ल-कितना मूल अन्वय वरुणन में आत्मक है आदर्शवर्गमात्र से उल्लेख बाध, वह अन्वय है। इतिहास कथी है वर्तमान संपर्प से भी बड़ी म्यानक संपर्प इच्छे पहिले भी आत्मक में हुए। परन्तु वे लक्ष्य संपर्प

इसके मूलोद्देश में असमर्थ ही रहे। यही क्यों, आक्रमण करने वालों का अक्षय ही नामरोप रह गया, परन्तु इसके मूल पर कोई प्रहार न हो सका। बिन्हीं इसके मूल का पता पा लिया वे स्वयं आत्मतन्मयण कर बैठे। मानते हैं—आत्र का संघर्ष भी सामान्य नहीं है। यही क्यों, इसके सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि शिक्षापाठकमूलक आत्मसाक्षात्कार ज्ञानात्म की आसक्ति बना कर आक्रमण करने वाला यह संघर्ष अपेक्षाकृत कहीं भवानक है। परन्तु श्रुतियों क पुण्य से अभी प्राप्य का मूल सुरक्षित है। इसी आधार पर आत्मसाक्षात्कार की चरमसीमा पर पहुँचते ही प्राप्य का उद्घाटन हुआ। इस यह बात होने लगा कि मैं यस्तु करता हूँ। आत्मसाक्षात्कार के अनुभव से देश में पुन—'स्वतन्त्र' शब्द का विकास आरम्भ हुआ। देश या वह युग मुदत। यदि देश के विद्वान् उस मुदत का मूल्य समझते, तो। किन देशद्वैतियों में आत्मसाक्षात्कार का बीजवनन किया था, अर्थात् प्रधानतः य तो वे भी प्रतीत्यशिक्षापाठक ही। तथापि उनका प्राप्यसंस्कृति के प्रति स्वाभाविक आकर्षण था। इनमें दो एक तो देने भी व्यक्ति य किनको प्राप्यसाक्षि में भी गति थी। श्रित जग में इन्होंने प्राप्य के प्रतिनिधय का पन्थबाध किया, उठी चार देश के विद्वान भी यदि तन्मिलित हो जात तो क्या हो जाया, 'य यपुष्पकल्पना का आभाजन विघोचन अत्र अर्थ है। शताब्दियों में एतन् संघर्ष ही किनकी आर्थात्मिका का साधन बन रहा हो मला य विद्वान यह भूल 'कर्म का मूल्य व। किन विद्वानों क कर्मों पर प्राप्यसंस्कृति का उदरगतिवक था, उनकी न केवल उन्मथता न ही अतितु विराध न देश क उत देश का मनोनाय प्राप्यसंस्कृति की आर में तो नया, प्राप्यसंस्कृति के वास्तविक स्वरूप में पराकर्षित कर दिया। य यह अनुभव करने लगे कि क्या यही प्राप्यसंस्कृति है? यही हमारा धार्मिक सम्बन्ध है? या आत्मसाक्षात्कार का विरोध करना ही अपना प्रधान कर्तव्य मान रही हैं। य वृद्धते लग अवन अन्तर्गत से कि क्या इन्हीं विद्वानों के आदेश-उपदेश प्राप्यगत सुरक्षित रख सकेंगे? उतर यही मिथना या वा मिथना चाहिए था। यस्तु विद्वानों में अपने विर-अम्बस्त संघर्ष क अनुभव न यही शास्त्रनिष्ठा उपादेय मान रक्खा थी किन्हीं कृपा से प्रतीत्य अपने पति देलाने में समर्थ हो गया था। परिणाम मरता क्या हुआ?, क्या सामान्य विद्वान् मुनना चाहते हैं। 'आम्बियेत्'।

प्रतीत्यशिक्षाप्रदित-अग्रगामी दल ने विद्वानों की उपेक्षा की, उनके मन्त्रियों की अचलना की उनकी संघमूला शास्त्रनिष्ठा का बनाना-र किवा संस्कृतमात्र के प्रति उदासीनता मूल की प्राचीन माध्य-व्याख्याओं के प्रति गत्रनिमीलिका की आर प्राप्यकार्यगानुभव में एव अथनी उम प्रजाबुद्धि ये-को परिवर्तनी शिक्षा-संस्कार में सुसंस्कृत? थी-उपनिषद् गीता आदि परिगणित प्राप्य मन्त्रों का अन्वेषण आरम्भ किया। प्रतीत्य शिक्षासंस्कार से उत्पन्न होने वाली 'बुद्धिमानी' ही इस अन्वेषण का मूल कर्ता, किन्तु विरलेपल इन शब्दों में किवा जा सकता है कि 'शास्त्र के प्रस्ताव श्रुति ही अथवा तो योगी, तत्त्वत. वे मनुष्य थे। मनुष्य बुद्धिपूर्वक ही कर्म करता है। चलत उन बुद्धिमानी में बुद्धिबल न ही यह माध्यमता की है। क्यों नहीं, मानवतुल्य-बुद्धिवाच इस भी अर्थनी बर्ण से ही उन मन्त्रों का अन्वेषण कर। यह जाग्य नहीं कि, हम प्राचीन व्याख्याकारों, माध्यमियों की शोधी का ही अनुकरण कर। सम्भव है उनमें मूल हो गई हो। तभी तो शास्त्रव्याख्यानिष्ठ विद्वान्मात्र की ऐसी मनाहति हमारे सामने आगई है। हमें बुद्धिपूर्वक स्वकी प्राप्य मन्त्रों के तात्पर्य का अन्वेषणके करना चाहिए। अन्वेषणकहाग बर्ण त्रिये स्वीकार कर यही तात्पर्य वाचक में तात्पर्य मानन और मनवाना चाहिए। स्वीकार्य न इसलिए कि सर्वमूल्य कीताया य का ही देशद्वैतिका न निदोष-वामासिक-स्वावहारिक-उपा उपदेय शास्त्र मान कर दुःसाय से इसलिए कि उम गीताशास्त्र का आधार

आपकी यह संकुचित दृष्टि—‘स्त्री-वैश्य-शूद्र’ सरीखे जिन्हें अक्षरज्ञान योद्धा ही है, जिन्हें मूल संस्कृत में गीता समझने का समय नहीं है न इच्छा है, परन्तु जिन्हें गीतारूपी संहारे की आवश्यकता है, जन्ही के लिए यह अनुवाद है’ क्यों, और कैसे कनी ?। वह लेते हैं आपकी इस दृष्टि का भी आक्रमण । परन्तु आपको यह तथ्य किस बमदीश्वर ने प्रदान किया कि—‘यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, युद्ध को रोक्क बनाने के लिए गड़ी हुई कल्पना है’ । आस्ता वाक्त् ।

गीतारत्न, गीता के मुख्य भोता अर्जुन, उपवेशक पुराणकार भगवान् कृष्ण गीता की बन्म—कर्मो-मप्यतुगता कर्णान्यवस्था कर्णबन्म गीतोपवेशकलखरुम अर्जुन की युद्ध में प्रवृत्ति आत्ति मौलिक तथ्य—पूर्व पटनाई ही जिनकी दृष्टि में कर्मना है उनकी व्याख्या का आस्तिक प्रभा कर्तविक समादर करोगे ! कल्पनाप्रसूता यह व्याख्या स्त्री-वैश्य-शूद्रों का पैसा उपकार कर जालोगी !, इन सब प्ररनों का किया गुप्तरक्ष्यों ! का उच्चर तो व्याख्याकार से ही सम्बद्ध है ! हम अपने शब्दों में तो इस व्याख्या के लिए बही अभि-मन्दन कर सकते हैं कि—परमात्मा करे, यह व्याख्या व्याख्याकार के ज्ञानज्ञेन—परम्यंत ही सीमित रहे, इसी में आर्षप्रभा का अन्वय है ।

स्वतन्त्रता के इस स्वच्छ युग में जो न बेसना—सुनना पड़े, स्वयं है । ऐता भी एक गीतामूक समाज हमारे सम्मुख उपस्थित होता है जो गीता का प्रथम लक्षण ‘साम्प्रदाय’ मान रहा है । यह करता है—गीता उक्त ‘साम्प्रदाय’ का ही प्रतिपादन करती है जिसमें क्षत्रिय—ब्रह्म—अग्नीर—गरीक—राजा—प्रभा—आदि कक्षाविभाग सर्वथा विसृष्ट हो रहे हैं । सब प्राणी समान, सबके समान कर्म समान अपिचार, यही गीतारत्नान्त है । इसप्रकार विद्वानों की उस प्रारम्भ की मूलने देखादितैयियों के द्वारा गीतारत्न के अनेक कल्पित—हानिकर—अनुपादेन—नतबादों की सृष्टि करायी । दुःख है कि, यह सब कुछ जानते हुए भी, मानते हुए भी आज भी विद्वत्समाज की ओर से उठी मूल की पुनरावृत्ति हो रही है । एट निडापूर्वक यह कहा जासक्य है कि जब एक मारतव्य विद्वत्समाज साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का अनुगामी बना रहेगा, तबतक उक्त आर्षबन्ममूलक वैदिक तथ्यवाद की ओर प्यान आकर्षित न होगा । बल्लक विज्ञान—निकषा पर पूर्ण परीक्षित वैदिक तथ्यों के आधार पर शास्त्रों का समन्वय—प्रवास उपकल्पित नहीं होगा तब तक प्रतीष्ण के सम्पर्क से प्राप्त होने वाले पाठक दृष्टिकोणों का निराकरण अंतमम बना रहेगा । एवं बल्लक इस दृष्टिकोण का निराकरण नहीं हो जायगा, तबतक आर्षप्रभा वास्तविक शास्त्रि—सुख की अपिचारिणी नहीं बन सकेगी ।

१४—गीतासिद्धान्तविमर्श—

‘सर्वोपनिषदा गावो बोग्धा गोवाहननन्दना’ इस वाक्य के आधार पर हमारा यह आत्मविरक्त दृष्टमूल बन चुका है कि, मन्त्रब्राह्मणसमक वैदिक अस्तित्व में जिन तथ्यों का विरादरूप से वैज्ञानिक निरूपण हुआ है गीतारत्न उन सब तथ्यवादों की सर्वतत्त्वसंग्राहिका एक दृष्टिका है । गीता में प्रतिपादित तथ्यवाद का किसी भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से सम्बन्ध न होकर यीथा वैदिक तथ्यों से सम्बन्ध है । अतएव जिन वैदिक तत्त्वज्ञान को आधार बनाए, अन्य प्रयत्नसहस्रों से भी गीता के वास्तविक तथ्यत्व का समन्वय नहीं किया जासक्य । उदाहरण के लिए गीता के प्रथम निरूपणमिषुत् ‘जुष्टियेला’ सिद्धांत को ही लक्षण बनाए । वैदिक दुःखितल के, एवं उनके आत्मानुगत तथ्य योगसम्बन्ध के परिज्ञानाभाव का ही यह परि-

एवम् इत्यादि किं चात्र बुद्धियोग का स्वस्मृति सर्वथा विलीन होयुका है। वैया किं प्रारम्भ में स्थित किया जायुका है—शास्त्रीय दृष्टि से 'बुद्धियोग' का अर्थिक में अर्थिक यह अर्थ मान कर उत्तीर कर शिवा बाता है कि 'शास्त्रज्ञान से तात्पर्य कनी हुई बुद्धि के द्वारा ही कर्म-प्रति-ज्ञान-योग में प्रवृत्त होना चाहिये'। लोकदृष्टि से इसी का—'कर्मभट्टारी से काम करना चाहिये इन वाक्य पर विचार कर लिया जाता है। वही दुरवस्था अनादिक—'निष्काम' 'पञ्चकामत्याग' आदि सिद्धान्तों के दृष्ट्य में पठित हुई है। वैदिक तत्त्वज्ञान का यह पूर्वा परीक्षित सिद्धान्त है कि विज्ञानात्मकपरिष्कृत प्रज्ञानात्मा (बुद्धि-पुरुष मन) का व्यापार ही कर्म मात्र का प्रथम मूलाकार करता है। कर्म का प्रथम मूल मन की कामना है अर्थात्—'कर्मस्तवमे ममवर्षाधि मनसो रेण प्रथमं यथासीन' इत्यादि अद्वैतपरिचय से प्रमाथित है। कर्मकर्ता अर्थात् 'स वा एव आत्मा बाह्यस्य प्राथम्यो मनामस इत्यादि बुद्धारवक सिद्धान्तानुसार मनस्यव्यवहारमत्र है। आत्मपरिचय की व्यापारवशी कर्मणः 'काम-उप-भ्रम' नामी से स्पष्टतः हुई है। 'इदं कुर्वन्—इदं मे त्याज्' इत्यादि रूप से सर्वप्रथम मनोव्यापाररूप काम (कामना का उदय इत्यर्थ है। तदनन्तर प्राक्व्यापाररूप तप होता है जो अन्तर्भाव्य पर्यायभवा में 'कृति—'कल—वेदा' आदि नामी से स्पष्टतः हुआ है। सर्वज्ञ में वागव्यापार (शरीरव्यापार) होता है जिसे 'भ्रम' कहा गया है। इत्यन्तर काम-उप-भ्रम तीनों के सम्मेलन से ही कर्मस्वरूप निष्पन्न होता है। स्पष्ट है कि बिना कामना के कर्म-प्रवृत्ति असम्भव है। ऐसी स्थिति में गीता के 'निष्काममात्र का क्या अर्थ है। कामना छोड़ दी करने मात्र से ही वा इत्यादि काम्यकर्म निष्काम नहीं बन सकता। फिर तत्काल कामना छूट सकती भी नहीं। कामना के आध्यात्मिक उपयोग से तो कर्म प्रवृत्ति का ही उच्छेद हो जायगा। ऐसी स्थिति में वर्तमान व्याख्या-कार 'निष्कामकर्म' कबे अपनी इत परीक्षा का कबे समर्थन कर लेंगे ?। क्या बिना वैदिक तत्त्वज्ञान के वे समाधान कर लेंगे ?। वही स्थिति क्या की है। कलहोदय ही कामना का मूल करता है। यदि किसी का यह निश्चय हो जाय कि अयुक्त कर्म निष्काम है तो उक्त कोर कामना ही नहीं हो सकती। 'पञ्च का परि-त्याग करदो' करने मात्र से ही तो कलकामना का परित्याग सम्भव नहीं बन सकता। प्राकृतिक सिद्धान्तानुसार कामना अनिवार्य तत्त्वज्ञानित पञ्च अनिवार्य, कर्मजनित तत्त्वज्ञानित अनिवार्य, फिर कबे गीता के निष्काम-उत्तरदित-केवलज्ञान का सम्भव किया जाय ?। वैदिकतत्त्वज्ञान के अनिर्दिष्ट पक्षे में क्या बुद्धिमान् भी विद्वान् भी, मेधा भी इन विमतिपरिचयों का निराकरण नहीं कर सकता। गीता में उक्त तत्त्वज्ञान-शास्त्रतत्त्वज्ञान-ज्ञान-अध्ययन-ऐक्यनिष्ठतत्त्वज्ञान-अध्याय-आदि शब्दों के अर्थों का वैदिक तत्त्वज्ञान के अभाव में कबमपि सम्भव सम्भव नहीं है। एक श्लोक में प्रतिपादित उपायक-दक्षिणामनूला आत्मगति के स्वरूप का क्या बिना वैदिक आध्यात्मिकविज्ञानपरिचय के सम्भव सम्भव है ?। क्या वैदिक 'पञ्चास्यवस्ति' (कर्त्त-मातृव्यविज्ञान) परिचय की अपेक्षा कर 'अक्षरमात्मकाराऽस्मि' का तात्पर्य सम्भव किया जायक है ?। क्या आध्यात्मिक में प्रतिपादित परमविज्ञान में परिचय प्राप्त किए बिना 'यद्वाहूमवति परमेश्वर' इत्यादि गीता-प्रतिपादित अक्षरव्यव का निराकरण सम्भव है ?। गीताशास्त्र की इसी गभीर-गभीरतर-गभीरतया वैदिकतत्त्वज्ञान गति के माहात्म्य को स्पष्ट करने के लिए ही—सम्यग्ज्ञानानि वे कृण्वन्—'सञ्जयो वेदि का म का' इत्यादि अर्थेनात्मक स्पष्टतः हुए हैं। गीतासूत्रिक का हम अभिनन्दन करते हैं। यह भी मान रहे हैं कि गीताशास्त्र बल से 'शास्त्रज्ञानविज्ञान' की अपेक्षा से पुनरुत्थान होता है। परन्तु एतावता ही गीतासूत्र-ने गीतासूत्र किन्हे वैदिक तत्त्वज्ञान की क्या तो दूर रही अक्षरव्यव का भी शोच नहीं है—गीता पर व्याख्या किन्हे। उन्की तया

लोचना करें, कल्पना के द्वारा उठने का स्यान्तक आर्हिववाद साम्यवाद आदि धारों के अन्वेषण की चेष्टा करें, जैसे सुक्तिवद्भूत कहा जा सकता है। प्रसिद्ध है कि अनधिकारी का अनधिकृत कार्य में हाथ डालना उस कार्य का ध्वंस ही करना है। दुःख है कि गद्य शब्दाभिरुचि में विद्वानों की ओर से भी गीता पर जो साम्य-व्याख्याएँ हुईं, किसी ने गीता के इस वैदिकतत्त्वानुगत दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाया। यही कारण है कि, गीता पर ज्यों ज्यों आधिकाधिक व्याख्याएँ होती गईं, ज्यों ज्यों यह शास्त्र दुरधिगम्य, अतएव अर्थव्यवहारी ही बनता गया। और इसप्रकार वेदतत्त्व-बहिष्ता व्याख्याओं के अनुग्रह से गीतातत्त्व सर्वथा विभूत हो गया। यह माना जा सकता है कि, साम्य-वायिक व्याख्याओं को भी गीताशास्त्र के आश्रय से स्वयन्वेषण की सामग्री निकल सकती है। परन्तु इतना यह धर्म ही नहीं है कि महात्मान् ने सम्प्रदायवात्तपोषण के उद्देश्य से ही गीताशास्त्र को जन्म दिया है। व्याख्याताओं की एक कल्पे बढ़ी मूल कहिए, अथवा ता स्वार्थसाधकता मानिए यही है कि, पहिले वे अपनी कल्पना से एक साम्यवायिक सिद्धान्त की कल्पना कर लेते हैं। और उक्त अपने कल्पित सिद्धान्त की दृष्टि से शास्त्र की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं। शास्त्र का प्रकृत-सिद्ध अर्थ क्या है, शास्त्र के शब्दों का उपक्रमोपसंहार-आदि मीमांसाखम्मत प्रणाली से क्या प्राकृतिक अर्थ निकल रहा है, इत्यादि प्रश्नों की उपेक्षा कर व व्याख्याता शास्त्र को अपने कल्पित सिद्धान्त की दृष्टि से लोभने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि, वहाँ जो वे सिद्धान्त हैं अपने सम्प्रदायसिद्धान्त के विरोधी प्रतीत होते हैं, उन्हें गीता मानते हुए व सौपापोती का पुरुषाय बना डालते हैं। यही तो कारण है कि ज्ञानयोगात्मक दृष्टिकोण को अग्रणी बना कर गीताव्याख्या में प्रवृत्त व्याख्याओं में ज्ञानयोगात्मक बचनों को ही प्रधान बतलाया गति-कर्म-योग के समर्थक बचनों का गौणत्व सिद्ध करने की चेष्टा की। यही स्थिति कर्म्मामिनिषिद्ध तथा मक्त्यमिनिषिद्ध व्याख्याताओं की रही। इस सबसे बढ़ी मूल नै ही गीता की सर्वमोमिद्धता का अपहरण कर अपौरुषेय वेदशास्त्र से सम्प्रतिष्ठित रहने वाले ईश्वरीय ज्ञानात्मक गीताशास्त्र को एक साम्यवायिक मतवाद का पोषक ग्रन्थ बना डाला। 'हम मानते हैं यही गीता में है', इस मोहनाय का परित्याग कर 'जो गीता कहती है, वह हमें मानना चाहिए' इत दृष्टि को अपनाए बिना गीतातत्त्व का सम्भव अध्ययन है। और वह असम्भव तभी सम्भव बन सकता है जबकि हम तत्त्वानुगत आर्हदृष्टि (अधिदृष्टि) से सम्बद्ध वैदिक तत्त्ववाद-संज्ञा सहबुद्धपनुगत सहजज्ञानमूलक वेदशास्त्र का आचार बना कर ही गीताव्यवस्थाय की चेष्टा में प्रवृत्त हों। वास्तविक ज्ञान कृत्रिम ज्ञान है यही बीजज्ञान है जो कभी परमस्तः निर्गन्त नहीं हो सकता। प्राकृतिक ज्ञान सहजज्ञान है, यही ईश्वरीय ज्ञान है जो कभी भ्रान्त नहीं हो सकता। निर्गन्त ईश्वरीय ज्ञानदर्शन के लिए बुद्धियोग अर्पेक्षित है। अधिदृष्टि में ही योग-प्रमाद से उक्त सहजज्ञान के दर्शन किए। सहजज्ञान के द्वारा शब्दमय्यांता से सुसंप्रतिष्ठित यही ईश्वरीय ज्ञानकोष 'वेदशास्त्र' कहलाया। वेदशास्त्र ने क्योंकि सहज-अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान का विधेयण किया, अतएव यह शास्त्र भी आगे जा कर 'अपौरुषेय' ही मान लिया गया, शिवदा इतिवत् उपनिषदज्ञानमाध्यभूमिका-द्वितीकम्बट के—'क्या वेद अपौरुषेय है' ? नामक प्रश्नमीमांता में विचार से निरस्त हुआ है। उक्त वेदानुगत तत्त्ववाद के आचार पर आकर हमें गीता के 'बुद्धियोग'न्यरप का अन्वेषण करना है त्रिगुणा अन्य विनी भी साम्यवायिक व्याख्या से बोर भी सम्भव नहीं है।

ॐ 'विमेत्यन्यभुताद्देो मामयं प्रहरिष्यति' ।

१३-वेदशास्त्र-और 'बुद्धि' शब्द—

इसी सम्बन्ध में एक प्रायश्चित्त स्वीकार्य और कर लीजिए। गीता के 'बुद्धियोग' लक्ष्य की हमें नीमांश करनी है। साथ ही हमारा यह भी अभिनिवेश है कि गीता का प्रत्येक सिद्धान्त वेदसिद्धान्त से समुत्पन्न है। इस सिद्धा में गीतोज्ञ 'बुद्धियोग' के सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। उपलब्ध ऋग-यजुः-साम-अथर्व, पार्वी मूल उद्दिष्टों में (मन्त्रात्मक वेद भाग में) कहीं भी 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। सूत्र्य है ब्राह्मणात्मक वेद भाग में इसके विभिन्न आरव्यवह, उपनिषत्, वेदों का एक मार्ग है। शक्य-पैतरेय-आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मण भाग ब्राह्मणात्मक वेदभागा का विविधप्रय है, पैतरेयायणक, ठी आ आदि आरव्यवहमा आरव्यवह का एक है एवं ईश-केन-कृत-प्रनादि उपनिषद्भागा उपनिषद्प्रय है। ब्राह्मणात्मक वेदभागा के इन दोनों अर्थों में से आरम्भ के विधि (ब्राह्मण) और आरम्भक, इन दो भागों में भी 'बुद्धि' शब्द इसलिए अस्मृत-माय ही है कि, केवल 'मन्त्रात्मक' नामक ब्राह्मणभागा में, यी भी एक अर्थ-'बुद्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है—(मं ब्रा २।१।१४)। ऐसी स्थिति में वेदमूलक गीताशास्त्र में 'बुद्धि' शब्द से सम्बन्ध रखने वाला 'बुद्धियोग' सिद्धान्त के वेदशास्त्रसम्बन्ध ब्रुन गया है, यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की बातकही है किञ्च प्रायश्चित्त नियुक्त कर होना आवश्यक होय।

१४-शास्त्रों के प्रतिपाद्य विभिन्न विषय—

गीता में प्रायश्चित्त यज्ञ आत्मगति विमूर्ति अथवा आदि विषयों के निरूपण के साथ साथ प्रबान्तः आत्मशुद्धि ब्रह्मविद्या तथा वेद्यमनुगत बुद्धियोग, इन दो विषयों का ही निरूपण हुआ है। अतएव गीता शास्त्र-ब्रह्मविद्यानुगत-योगशास्त्र (अभ्ययानुगत बुद्धियोगशास्त्र) नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है और कि गीताशास्त्रोत्तरा में ब्रह्म-ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे इत्यादि वाक्य से प्रमाणित है। 'गीतासूत्रिका-आत्मपरीक्षा-क विमर्श' नामक भूमिकाप्रयत्न में यह स्पष्ट किया गया है कि, भारतीय शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है-ब्रह्मकर्मव्यवहारपूर्वक ब्रह्मकर्मानुष्ठानावेष्टाया अन्मुख्य-निःशेष-प्राप्ति की अनुष्ठानब्रह्मविद्या शिक्षा प्रदान करना। ब्रह्म नाम है 'आत्मा' का अर्थ कर्म नाम है 'आत्मव्यापार' का। व्यापारवर्तना में अनेक आत्मा हैं किन्तु ओपाधिकरूप परस्पर विभिन्न हैं। अतः आत्मव्यापारब्रह्मकर्म भी विभिन्न बन रहे हैं। इसीलिए आत्मा, और उपलब्ध कर्म, के मेल से एक ही भारतीय शास्त्र के अनेक विभाग हो गए हैं, किन्तु प्रथमतः विज्ञानशास्त्र अर्थ दर्शनशास्त्र इन दो स्पष्ट भागों में विभक्त किया जा सकता है। केवल शान्दिक ज्ञान के आधार पर ब्रह्मकर्म-परीक्षा करने वाला शास्त्र 'दर्शनशास्त्र' है एवं शब्दात्मक तर्कों के आधार पर परीक्षा करने वाला शास्त्र विज्ञानशास्त्र है। मन्त्रात्मक वेदशास्त्र विज्ञानशास्त्र है वैशेषिक-प्राचिनिक-शारीरकज्ज्ञ दर्शनशास्त्र है। परस्परव्ययान ईश्वरीय-गूढतमा अभ्ययप्रधान बीजानुगत गूढतमा, दोनों विषयों की समष्टि 'योगशुद्धि' है यही व्यक्तित्वव्यवस्थापित पुष्पात्मा है यही अक्षरब्रह्म का एक मूलमूल 'अमृतम्' (अमृतत्ववर्तना) है। पुष्पात्मगमित अक्षरप्रधान अभ्ययप्रधान तथा महानतमा, दोनों की समष्टि 'अभ्ययप्रयत्न' है यही अभ्ययप्रयत्नशास्त्र है यही अक्षर-प्रयत्न का विषयमूल 'ब्रह्म (ब्रह्मत्ववर्तना) है। पुष्पात्म-प्राकृतत्वगमित आत्मव्ययप्रधान विज्ञानतमा-महानतमा विक्षरब्रह्मप्रधान वेदव्यवहारव्यवस्थापितबीजप्रयत्नमूर्ति पुष्पात्मा वैशेषिक अक्षरप्रधान अभ्ययप्रयत्न इन चार आत्मवर्तनों की समष्टि व्यक्त विह्वल है यही व्यक्ततमा है, यही अक्षरब्रह्म का विषयम्

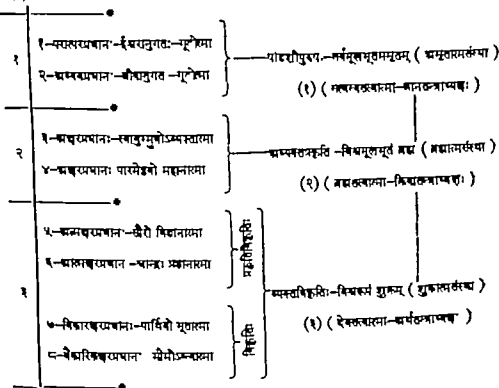
‘शुक्लम्’ (शुक्लवर्णत्वात्) है। इत्यकार पूर्वपरिच्छेदोपवर्णित आठ आत्मपदों का १, २, ३, इत कम से तीन भागों में विभाजन किया जासकता है।

शुक्लप्रधान देवस्त्यस्या दोडशीपुरुष-विषय का चरविवर्त है ब्रह्मप्रधान ब्रह्मस्त्यस्या पुरुष का अक्षर विषय है, एवं अमृतप्रधान उत्पन्न स्त्यात्मलक्षण अमृतस्त्यस्या पुरुष का परात्परगमित अम्यय विवर्त है। ज्ञानतन्त्राभ्यस्य अम्यय विवर्त क्रियातन्त्राभ्यस्य अक्षर विवर्त से संश्लिष्ट है एवं क्रियातन्त्राभ्यस्य अक्षर अर्थात्तन्त्राभ्यस्य चर विवर्त से संश्लिष्ट है। अक्षर से संश्लिष्ट चरत्वा कर्मयोग की प्रतिष्ठा है, यही वेद के ‘विधि’ नामक ब्राह्मणभाग का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविवर्त है। वियुद्ध अक्षरत्वा (परत्वं अम्यय, तथा अपरत्वं चर, दोनों से युक्त रहता हुआ अम्ययानुगत अविदेवत, चरानुगत अविमृत धर्माक्रान्त बन कर) मक्तियोग की प्रतिष्ठा है, यही ‘आरयवक’ नामक ब्राह्मणभाग का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविवर्त है। अम्यय से संश्लिष्ट अक्षरत्वा ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा है यही वेद के उपनिषत् ‘नामक’ ब्राह्मणभाग का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविवर्त है। प्रत्यक्षता तत्त्व विज्ञानात्मक वेकस्तुतिद्वारा तत्त्वविज्ञानात्मक, इतिहासद्वारा तत्त्वविज्ञानात्मक, श्रुग्-स्तुः-साम-आर्य-संहितात्म्य मन्त्रात्मक विज्ञानप्रधान वेदभाग उक्त तीनों आत्मतन्त्रों की मूलमण्डिता है। इत्यकार संहितानुगत विधि, आरयवक, उपनिषत्, तीनों तन्त्र क्रमशः अक्षरसंश्लिष्ट चरत्वा, अक्षरत्वा, अक्षरसंहितलक्षणात्वा इत तीन आगमविवर्तों की कर्तव्यानुगति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। संहिताभाग शातम् है, ब्राह्मणभाग कर्तव्य है। शातम् विषय मी विज्ञान-सृष्टि-इतिहास भेद से तीन ही हैं कथम् विषय मी ज्ञान-मक्ति-कर्म-भेद से तीन ही हैं। ज्ञानात्मक कर्तव्य शातव्यात्मक विज्ञान से मत्स्यात्मक कर्तव्य शातव्यात्मिका सृष्टि से, एवं कर्मात्मक कथम् शातव्यात्मक इतिहास से प्रधानरूपेण समझ हैं। कर्मविद्याश्रीराल इतिहास से पुण्यित प्रस्तावित है, मक्तिविद्याश्रीराल सृष्टि से, एवं ज्ञानविद्याश्रीराल विज्ञान से विकसित है। ‘कर्मयोग हि संसिद्धिमास्थिता जनकव्यक्तः’ इत्यादिरूप से मगवान् ने मी कर्मयोग के समकथ में इतिहास का समरक किया है। ‘स्तुवन्ति त्वां स्तुविमि पुण्ड्र्याभिः’ (गी ११।२१) इत्यादि रूप से मक्तियोग के साथ सृष्टि का समकथ कलावा है *। एवं ‘ज्ञानं तेजहं सविज्ञानमिदं ब्रह्माम्यश्रापेत’ इत्यादिरूप से ज्ञान योग के साथ विज्ञान का समकथ स्वीकार किया है। वस्तुतः यही है कि, आठ आत्मपदों का ३ संस्थाओं में समन्वय, तीनों क्रमशः अम्ययवाच्य, अक्षर, अक्षरपरमक्षररूप तीनों क्रमशः विज्ञान-सृष्टि-इतिहासानुगत ज्ञान मक्ति-कर्मयोग की प्रतिष्ठा तीनों क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थात्तन्त्रात्मक तीनों के प्रतिपाद्य क्रमशः संहितानुगत उपनिषत्-आरयवक-विधि-तन्त्र, क्रमशः तीनों तन्त्रों की समष्टिरूप एक वेदशास्त्र और यही विज्ञानशास्त्र का तत्त्वानुगत विरोधय।

शैथिलिकृष्ण ने इतिहासानुगत, विधिभागोपवर्णित अक्षरसंहितलक्षण चरमविवर्त का, प्राधानिक ने स्तुत्यनुगत आरयवकभागोपवर्णित अक्षरपरमविवर्त का, एवं शारीक ने विज्ञानानुगत उपनिषद्भागोपवर्णित अक्षरसंहितलक्षण अम्यय को (अक्षरत्वात्मक अम्यय को) शब्दइतिहास अपना प्रतिपाद्य बनाया। तीनों तन्त्रों की समष्टिरूप एक दर्शनशास्त्र का यही शब्दानुगत विरोधय है बल्कि परिशेष ने स्पष्ट है।

* ६-से १२ अण्व्याय पर्यन्त मक्तियोग का निरूपण हुआ है इती प्रकरण का नव उद्देश्य है।

(१)



- (२) १-अमृतारमा (अक्षरतरिण्योऽप्यारमा) — ज्ञानरूप-मनोमयम् (ज्ञानयोगप्रतिष्ठा)
 २-ब्रह्मरमा (अक्षय्यवृत्तिसंयुक्तोऽक्षरारमा) — विद्यारूप-प्रथममयम् (मन्त्रयोगप्रतिष्ठा)
 ३-शुक्लरमा (अक्षरतरिण्योऽक्षरारमा) — अक्षररूप-बाह्यमयम् (कर्म्मयोगप्रतिष्ठा)

(३) मन्त्रतरिण्यनुगत-विद्यानरकृतिः-उपनिषत्प्रमाण-अक्षरतरिण्योऽप्यारमाभारिण्य ज्ञानयोगप्रतिष्ठा
 मन्त्रतरिण्यनुगत-व्यक्तिकृतिः-आरक्षकप्रमाण-अक्षरारभारिण्य मन्त्रयोगप्रतिष्ठा
 मन्त्रतरिण्यनुगत-वैद्यारकृतिः-विद्यारमा-अक्षरतरिण्योऽप्यारमाभारिण्य कर्म्मयोगप्रतिष्ठा

- (४) १-उपनिषत्प्रमाणम् (उक्तिगर्मितम्) — उक्तुमत्तं वाच्यरूप-ज्ञानयोगप्रमाणम्
 २-आरक्षकप्रमाणम् (उक्तिगर्मितम्) — उक्तुमत्तं प्राधानिकर्म्म-मन्त्रयोगप्रमाणम्
 ३-विद्यारूपम् (उक्तिगर्मितम्) — उक्तुमत्तं वैद्यारूप-कर्म्मयोगप्रमाणम्

(५)-

१-विज्ञानम्	ज्ञानम्	अक्षररत्मक-अभ्युपगमा	उपनिषत्	शारीरकतन्त्रम्
२-सुखिः	मक्तिः	अक्षररत्मा	आरण्यकम्	प्राधानिकतन्त्रम्
३-इतिहासः	कर्म	अक्षररत्मकः-ध्वररमा	ब्राह्मणम्	वैशेषिकतन्त्रम्
ज्ञातव्यविरचयत्री	कर्तव्यविरचयत्री	आत्मवरी	विज्ञानशास्त्रवरी	दर्शनशास्त्रवरी

* संहितानुगतानि श्रीसि विध्यारण्यकोपनिषद् पाणि तन्त्राणि, एकं वेदशास्त्रम्-संख्यानगतम्
वेदशास्त्रानुगतानि श्रीसि वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरकतन्त्राणि, एक दर्शनशास्त्रम्-शब्दानुगतम्

(६)-

१-अक्षरमाहात्म्यमध्यखण्ड (ब्रह्मविद्या)	कर्मसिद्धिरो ज्ञानवाचः (योगशास्त्रम्)
२-अभ्युपगमध्वररनुषंगितमध्वररखण्ड (ब्रह्मविद्या)	कर्मसिद्धिरो मक्तिवोगः (योगशास्त्रम्)
३-अक्षररमितं ध्वररखण्ड (ब्रह्मविद्या)	कर्मसिद्धिरो कर्मवोगः (योगशास्त्रम्)
तेषां ब्रह्मवरी, आत्मवरी वा,	तेषां वागवरी, कर्मवरी वा



१७-उपनिषदों की विद्या, और योग-

विद्यमानानुगत वैशेषिकदर्शन में अक्षररमित ध्वररखण्ड का विशेषत्व क्या आरण्यकभागानुगत प्राधानिक (क्षेत्रम्) दर्शन में अक्षररखण्ड का प्रतिपादन क्या, एवं शारीरक (वेदान्त) दर्शन में अक्षररतो ब्रह्मब्रह्मणो इत्यादिरूप से अक्षरररत्मक अभ्युपगम की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। इन तीन ब्रह्मों (आत्माओं) में क्रमशः अक्षरर-कर्म-मक्ति-ज्ञान-वाचों का हमें विद्यमान प्राप्त हुआ, यह उक्त विवेचन से मनी मति सिद्ध हो जाता है। उक्त विवेचन से पताक चल सिद्धर्य पर पहुँचने कि किस बुद्धियोग की गीता का प्रथम सिद्धान्त कथनाया जाता है एवं किस बुद्धियोग का आधार प्रबान्त-पत्पर-प्रधान ईरवरीय गूणमा माना जाता है उक्त योग, और ब्रह्म का एतद्वः विवेचन नहीं मिलता। एकी रिपति में अभ्युपगम, एवं

•-देविद गी म् आत्मवरीषा क विभाग-गर्शनिक आत्मरुमन्वर ।

तदनुगत बुद्धियोग का प्रतिपादन करने वाला गीताशास्त्र कैसे वैशाखसम्मत बन गया ? यह एक स्वाभाविक विप्रतिपत्ति उपस्थित हो जाती है ।

विप्रतिपत्ति का निराकरण वैशाख के उपनिषद्-भाग के द्वारा ही सम्भव है । उपनिषदों में सर्वप्रथम म्या में सङ्केतरूप से आत्म्यव्यवहार एवं तदनुगत बुद्धियोग का निरूपण हुआ है । उस गुप्ततम आत्म्यव्यवहार, तथा तदनुगत गुणधर्म ही बुद्धियोग को संपूर्ण उपनिषदों में से सारसङ्घट्टा निकाल कर उसे विसृष्ट रूप प्रदान करना एवं उसे शिष्यपरम्परा के द्वारा प्रकाशयुक्त बनाना महात्मान् का ही कर्तव्य है । यही कारण है कि उपनिषदों में शीबकम से खटौ हुई भी आत्म्यव्यवहारविद्या, तथा तदनुगत बुद्धियोग के प्रथमाभिर्भाव का ज्ञान मगवान् ने ही सम्बद्ध मान लिया गया है । अतएव मगवान् विसृष्ट शब्दों में इस ब्रह्मविद्यासङ्घट्टा योग के सम्बन्ध में—'य मे मतमिदं निरुपम इत्यादिशब्दों से मन्त्र प्रकट कर रहे हैं । क्योंकि गीतार्थ श्रीनिपार पुराण (आत्म्य) एवं तदनुगत बुद्धियोग का गान (विस्तार) किया है, श्रीनिपार सर्वप्रथम ज्ञान को विसृष्ट रूप प्रदान किया है । अतएव वह शास्त्र 'मगवान् श्रीनिपारसु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इस उपसंहारवचन का अधिष्ठापक बन गया है । तथा उपनिषदों का इस दृष्टि से तो गीता वैशाखसम्मत शास्त्र । विष्णुसंस्थान महात्मान् का मार्तण्डिक शब्द, इस दृष्टि से गीता अपूर्व-किञ्चन—तथा पूर्ण शास्त्र । उ निषदों में ही प्रथमः आत्म्य, तथा बुद्धियोग का प्रतिपादन हुआ है । अतः गीता का बुद्धियोग शब्द उपनिषदों के प्रामाण्य पर ही अद्वैतमित्तक बन रहा है । कुछ एक श्रीनिपारवचन ऐसे उपस्थित किए जा रहे हैं किन्तु वे स्वयं आत्म्यव्यवहार, एवं तदनुगत बुद्धियोग का धर्मन हो रहा है ।

आत्म्यव्यवहारसमर्पक वचन—

१—'यमूढान् सामशिरा असाहृद मूर्खिरध्वयः ।

स ब्रह्मेति हि विद्येयं अस्मिन्नसमयो महानिति ॥”

—श्री० अ० ४५० ११५

२—'अज्ञानमस्यशमरूपमध्वय तथाऽरतं नित्यमगन्धवन्ध यत् ।

अनाधनन्तं महत् परं शुभं निषाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रवृण्यते ॥”

—श्री० ११११११

३—'गता कृता पञ्चदश प्रतिष्ठा द्वावश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।

कृमाणि, विद्यानमयश्च आत्मा परऽप्यय मथ एधीमवन्ति ॥”

—सुखक १११११

४—'यत्तद्-अत्रैश्वर्य, अघ्राण, अमोर्ष, अकर्ष, अजह्नुःभोर्ष, तदपाधिपाद,

नित्यं, विदुः, सबगत, सुखवर्ष, तदध्वयम्—

तन्मृतयोनिं परिपश्यन्ति धीमाः”

—सुखक १११११

बुद्धियोगसमर्थक प्रचन—

१—आत्मानं रचिनं विद्धि शरीरं रयमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

—ऋ० १।३।३।

२—यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा ह्यधि ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूमयो न जायते ॥

—ऋ० १। ३।

३—एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।

इत्यते त्वग्रथया बुद्ध्या घृत्तनया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

—ऋ० १।३।१२।

४—यो देवानां प्रभवोद्भवस्त्व विस्वाधिपो स्तो महर्षि ।

हिरण्यगर्भ अनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

—श्वे० ३।४।



येन का मन्त्रमाग विज्ञान—स्तुति—इतिहास—परक है, अतएव उक्तं कर्तव्ययोगज्ञान बुद्धियोगस्वरूप का मत है। वेद के ब्राह्मणपरमक विधिभाग, तथा आर्यवक्त्रमार्गों में अक्षरप्रमाणों का प्राधान्य है, अतएव हममें भी गीता के बुद्धियोग का मूल अनुपसंख्यक है। वेद के उपनिषत्—भाग में अक्षर ही अम्बुजस, एवं तदनुगत बुद्धियोग का उल्लेख प्राप्त है। गीता इस औपनिषद् तत्व का ही विस्तार से प्रतिपादन कर रही है। अतएव यह 'मगकगीतसंहितायु—मगकगीतब्राह्मणेषु—आर्यवक्त्रेण म कइला कर 'मगकगीतसं-
निषत्सु' इह उपनिषत्—नाम से ही मण्डित हुई है। एवं इसी दृष्टि से (येन के उपनिषत् माग की दृष्टि से) गीता अक्षरयमेव वेदशास्त्रमूलक अपूर्व शास्त्र है। यही पूर्वविप्रतिपत्ति का संक्षिप्त निराकरण है, दिव निराकरण से एक नवीन विप्रतिपत्ति हमारे सामने और उपस्थित हो रही है।

१८—पूर्वापरविरोधनिराकरण—

'योगबतुष्टयी का तात्पर्यक स्वरूप' नामक पूर्व खण्ड में यह स्पष्ट किया गया है कि, परस्पर ममान ईश्वरवतुगत गूढत्वा बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगवतुष्टयी का, अम्बुजप्रधान बोधानुगत गूढत्वा ज्ञानयोगात्मिका ज्ञानयोगवतुष्टयी का, अक्षरप्रधान अम्बुजात्मगमित महानत्वा भक्तियोगात्मिका भक्तियोग-
वतुष्टयी का, एवं अक्षरप्रधान विज्ञानात्मगमित महानत्वा कर्मयोगात्मिका कर्मयोगवतुष्टयी का मूल सत्यतामक शास्त्र बनता है। चारों के लक्षक क्रमशः ज्ञानभक्तिज्ञानमनप्रधान भूतत्वा प्राज्ञप्रधान भूतत्वा, सेवकप्रधान भूतत्वा, एवं वैश्वानरप्रधान भूतत्वा बनते हैं। इस स्पष्टीकरण के अनुसार गीताप्रतिपादित बुद्धियोग का ही परस्पर से, ज्ञानयोग का अम्बुज से, भक्तियोग का अक्षर से, एवं कर्मयोग का धर से ही

उत्कृष्ट सिद्ध हो रहा है। प्रकृत में यह कहा जा रहा है कि, बुद्धि-ज्ञान-मक्ति-कर्मा पायीं लोगों का सम्पन्न सम्पन्न, अक्षरप्रभक्त सम्पन्न, अक्षर, धर, से सम्पन्न है। इस कथन से पूर्व स्थितिपरक के धरप्रदान कर्मायोग अक्षरप्रदान मक्तियोग, ये दो योग दो निर्बिरोध सम्मिलित हो रहे हैं। परन्तु वहाँ बुद्धि-ज्ञानयोग-इयी का परस्पर, सम्पन्न से सम्पन्न कल्लाना, और वहाँ इनका सम्पन्न-अक्षर से सम्पन्न कल्लाना विरोधी बन रहा है। यही एक प्राकृतिक विप्रतिपत्ति और है, अितक्य निराकरण में आवश्यक है।

परस्पर तत्त्व बाल्क्य में विरवातीय तत्त्व है। उस अमायी, विरवातीय व्यापक परस्पर का भी गीता में 'प्रवापतिप्रभर्मा' नाम से स्पष्टत हुआ है जो उपनिषदों में अक्षरक, निराकरण, अमृत, आदि लक्ष्यों के द्वारा अनिर्बन्धीय पोषित हुआ है। यान्त्रानधिकृत-अक्षरकाल-माधवतीय-उत् परस्पर का 'अक्षरणी' का 'प्रवापति' मात्र से अक्षरमात्र भी सम्पर्क नहीं है। योग का आधार 'प्रवापति' कथा है प्रवापति अक्षरणी ही कहाया है, एवं उसके अक्षर-माय-पशु-लक्षण उक्त-अक्षर-अक्षर-अक्षरि, ये तीन कलाविभाग अक्षरकर्म से अनिवाच्य बनते हैं। अक्षरविभाग योगमाया-अक्षरक ३। क्योंकि अक्षरमात्र ही कलामात्र है, एवं यह अक्षरप्रति योगमाया के सम्पन्न पर ही निर्भर है। योगमाया महामायेय के अनन्तर प्राप्तात् होती है। अक्षर विरवातीय परस्पर महामाया से भी अतीत है तो उक्तें योगमायाप्राप्ती कलामात्र का समावेश कैसे सम्भव हो सकता है। अक्षर कलामात्र नहीं, तो प्रवापतिमात्र नहीं। प्रवापतिमात्र नहीं, तो अक्षरणीमात्र नहीं। अक्षर-मायातीय परस्परतत्त्व का योगातीतत्व मत्तीमति सिद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से एवमिध मावातीय परस्पर को किसी भी योग का लक्षण नहीं माना जा सकता।

मावातीय परस्पर का अक्षरिद्ध यह प्रवेश अितमें मिलिमात्र (सीमाभक्त) प्रवर्तक मावाक्त का उदय हो जाता है सीमित कथा हुआ 'मायी' कहलाने लगता है। अयी कलामात्र का उदय नहीं हुआ है केवल महामाया का उदय हुआ है। इस प्राथमिक अक्षरका को ही हमने 'परस्पर' नाम से स्पष्टत कर दिया है। क्योंकि अब तक योगमाया के द्वारा कलापरिभ्र का उदय नहीं हो जाता अब तक महामायेय हो जाने पर भी उस मायीतत्त्व में कलात्मक वैविध्य का समावेश नहीं होने पाता। अक्षरक यह मावाेतत्त्व उस अमायी निष्कल परस्पर से सम्पन्नित माना जा सकता है माना गया है। मायायुक्त किन्तु योगमायाविभक्त अक्षरक निष्कल अक्षरक विविधमाधवतीय, अक्षरक मावातीय-निष्कल परस्परतत्त्व से सम्पन्नित इस तत्त्व को 'अक्षरक' कहा गया है। मावापुर के सम्पन्न से यही 'पुरुष' कहाया है। यह अक्षरकपुरुष अपनी निष्कलता से उस मावातीय परस्पर से सम्पन्नित है अक्षरक अति ने- 'परस्पर' पुरुषमुपैति विविध्यम्' इत्यधिक्य से इसे 'पुरुष' करने के लय लय ही परस्पर नाम से भी स्पष्टत कर दिया है। अक्षरकय यह पुरुष कलात् अक्षरि 'पर' नामक अक्षर ही है। तथापि अपनी मारमिध निष्कलता से यह परस्परकम बना हुआ है। पूर्वपरिच्छेद में अित परस्पर को हमने बुद्धियोग का लक्षण कल्लाना था, यह परस्पर यह मावाविभक्त निष्कल अक्षरकपुरुष ही है। अक्षरकय वहाँ परस्पर को बुद्धियोगानुगत कल्लाना और वहाँ अक्षरक की बुद्धियोगानुगत कल्लाना निर्बिरोध सम्मिलित हो जाता है।

अक्षरकानुगतपुरुष अक्षरक का लक्षण कीकिए। मायी अक्षरक (परस्परकय निष्कल अक्षरक) का ह-र-म-लक्षण इत्यक्षर ही 'मृष्टि' कहाया है जो मावेय के अक्षरकहितोत्पन्न में ही उदय

होता हुआ—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वेषनादी उभाद्यपि' को चरितार्थ कर रहा है। इत्यस्तात्मिका यही प्रकृति तान्त्रिकों की योगमाया है, वैशानिकों का अक्षरतत्त्व है, दार्शनिकों का 'चितना' तत्त्व है। इस चेतना—तत्त्वया प्रकृति के अन्तर्गत रसप्रधान, रसगर्भित बलप्रधान मेद से दो विभक्त हो जाते हैं। अन्तर्गर्भित—रसप्रधाना यही प्रकृति अमृता प्रकृति है, यही अम्यक्त अक्षर है। रसगर्भित—बलप्रधाना यही प्रकृति मर्त्वा प्रकृति है, यही व्यक्त अम्यक्षर है। अक्षरबलगर्भित अम्यक्षर अक्षर के व्यापार से उच महामायी निष्कल अम्यक्षर पर एष—बल की वित्तिर्वा होती है। इस वित्तिभाव से वह निष्कल अम्यक्षर आनन्द—विज्ञान—अन्तर्मन, बहिर्मन—प्राण—वाक्—इन्द्र कलात्मकों में परिणत हो जाता है। आनन्दविज्ञानमनोमय यही अम्यक्षर विद्याम्यक्षर कहलाया है मनप्राणवाक्मय यही अम्यक्षर कर्मात्म्य कहलाया है। विद्याम्यक्षर निष्कल अम्यक्षर से समतुलित है कर्मात्म्य योगमायात्मक अक्षर से समतुलित है। अतएव इस लक्ष्मिवाची कर्मात्म्य को हम अक्षर ही अक्षरत्वक कह सकते हैं। यही अक्षरत्वक अम्यक्षर—'इत्यस्तस्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां—जीवमूर्तां महाबाहो! यथेवं चार्थ्यते जगत्' सिद्धलघानुष्ठान जीवानुष्ठान गून्नेमा की मूलप्रतिष्ठा बनता है। परत्परसमतुलित—आनन्दविज्ञानमनोमय विद्याम्यक्षर निष्कल अम्यक्षर ईश्वरानुष्ठान गून्नेमा है, यही बुद्धियोगप्रतिष्ठा बनता है। मनप्राणवाक्मय—कर्मात्म्य से समतुलित मनप्राणवाक्मय अक्षर जीवानुष्ठान गून्नेमा है, यही ज्ञानयोगप्रतिष्ठा—तत्त्व है।

आनन्दविज्ञानमनोमय विद्याम्यक्षर वहाँ अक्षर है वहाँ मनप्राणवाक्मय कर्मात्म्य जीवमूर्ता योगमाया—श्रिया अक्षरप्रकृति के द्वारा बनानुष्ठान बनता हुआ—'सम्प्राप्तस्य यथा' को चार्थक बना रहा है ॥ परत्परसमतुलित निष्कल महामायी का अक्षरतार असम्भव है। अक्षरतार होता है अक्षरत्वक लक्ष्मि मनप्राणवाक्मय योगमायावच्छिन्न अम्यक्षर का शेष कि—'नाहं प्रकृताः सप्तस्य योगमायासमायुता' बीदस्य रन्तु मनश्चाहो योगमाय्यमुपाश्रित' (रसप्रधानमायी) इत्यादि बचनों से प्रमाश्रित है। इत्यप्रकार वहाँ जीवानुष्ठान अम्यक्षर को ज्ञानयोगानुष्ठान कलाना, एवं वहाँ अक्षरवच्छिन्न अम्यक्षर को ज्ञानयोगानुष्ठान कलाना निर्विरोध सुसम्पन्नक होता है।

१६—बुद्धियोगप्रतिष्ठामूर्ति (१)—

(१) अक्षर एक अम्यक्षर से योगबलवृद्धि के चारों शास्त्रों का स्वरूप पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाय है, किन्तु सर्वत्रिषु पूर्वपरविरोधों का आध्यात्मिक उन्मूलन होबायगा। बुद्धि—ज्ञान—मक्ति—कर्म चारों योगों के सम्बन्ध में इस परिमाणा को उदा लक्षण में रखिए कि, कित्त योग में आधिदैविक—आध्यात्मिक—आधिभौतिक, तीनों शासन हों, एवं तीनों ही शास्त्र हों यही सर्वसम्बन्ध—सर्वसम्पन्नकक्षय सर्वयोग 'बुद्धियोग' है। कित्त योग में आधिदैविक ही शासन हो, आधिदैविक ही शासन हों वह आधिदैविक 'ज्ञानयोग' है। कित्त योग में शास्त्र आधिदैविक ही शासन आधिभौतिक ही, वह आधिभौतिक आधिभौतिक योग 'मक्तियोग' है। एवं कित्त योग में शासन—शास्त्र, दोनों आधिभौतिक हों, वह आधिभौतिक योग 'कर्मयोग' है। चारों में प्रथम

ॐ—अद्वोऽपि सन्नम्यपत्सु भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्मवात्म्यात्ममायया ॥

गीता ७।१।

गीतायोग है शेष तीनों योग लोकनिष्ठात्मक हैं, किन्तु हमारा कर्म-ज्ञान-मक्ति-योगपरिष्कारपूर्वी विस्तार से उपर्युक्त हुआ है। सर्वोत्तम (दैविक, आत्मिक भौतिक) वही उत्तम हो सकता है, जो निरवधारक हो। निरवधारक है-परस्परसम्बन्धित ईश्वरचतुष्टय, जिसके महामासाद्विभक्त अर्द्धमात्रिक परस्पर, अन्वय, अक्षर, आत्मक्षर, ये चार पर्व माने गए हैं। अक्षरपरपर्व से यह ईश्वर भौतिकपरपर्व में अक्षर पर्व से आत्मिक परपर्व में आत्मविज्ञानमनोमय अक्षर पर्व से दैविकपरपर्व में, एवं लम्बित परस्पररूप मानी निष्कल अन्वयपर्व से सर्वप्रथम में व्यक्त हो रहा है। चारों पर्व ही स्वयं ईश्वरचतुष्टयमय बनते हुए बुद्धि बांगलुमय हैं तथापि ४ में से पूर्वा सर्वोत्तम परस्परसम्बन्धित निष्कल अन्वयपर्व से ही सम्बन्ध है। इत्यक्षर परस्परसम्बन्धित निष्कल अन्वय का विभूतिकर निष्कल अन्वय (परस्पर) आत्मन्विज्ञानमनोमय विद्यात्मक, मनःसाक्षात्कृत अक्षर, वाक्-आप-अग्नि-मय आत्मक्षर, इन ईश्वरचतुष्टय गूढेष्वा अन्वय के चार पर्वों से क्रमशः वैराग्य ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म-सङ्घरा चारों बुद्धियोग सम्बन्धित हैं। यही लक्ष्मण-सर्वोत्तमरूपता गीता-प्रतिपादित्य पश्चिमी बुद्धियोगात्मिक बुद्धियोगचतुष्टयी है। चारों ही लक्ष्मण से सम्बन्ध रखते हुए निष्कलयोग है। इसे ही हम 'ईश्वरयोगचतुष्टयी' नाम से सम्बोधित करेंगे, जो सर्वोत्तम अक्षर-सङ्घरा बनती हुई परम-पुरुषार्थताके मानी गई है। परस्परसम्बन्धित अन्वय, अन्वयपरपर्व अन्वय, अक्षरपरपर्व अन्वय, आत्मक्षरपरपर्व अन्वयमय ये चारों ईश्वरपर्वों का अन्वय उत्कृष्ट। सर्वोत्तम ईश्वरचतुष्टय परस्परसम्बन्धित अन्वय ही बना हुआ है, किन्तु पदार्थिक विद्याबुद्धियों से अधिक सम्बन्ध है।

(१) परास्परसमस्तुलित-निष्कलान्वयचतुष्टय-ईश्वरीयगूढोत्तमानुगतता योगचतुष्टयी प्रथमा
(बुद्धियोगचतुष्टयी)

- | | | |
|---------------------------|-----------------------------------------|--------------------------|
| १-परस्परसम्बन्धित-निष्कलः | वैराग्यबुद्धिबांगलुगतः | (सर्वम्) — |
| | | स्विकृतमृता-बुद्धिनिष्ठा |
| २-अक्षरपरपर्व-अन्वय | आत्मन्विज्ञानमय-ज्ञानबुद्धियोगचतुष्टयः | (मनः) — आत्मसाक्षात्कृत |
| | | (संशोधित लक्ष्मणनिष्ठा) |
| ३-अक्षरपरपर्व-अन्वय | मनःसाक्षात्कृत-ऐश्वर्यबुद्धियोगचतुष्टयः | (वाक्) — विज्ञानात्मक |
| | | (संशोधितनिष्ठा) |
| ४-आत्मक्षरपरपर्व-अन्वय | वाक्-आप-अग्निमय-धर्मबुद्धियोगचतुष्टयः | (वाक्) — अन्वयमनोमयी |
| | | (संशोधितनिष्ठा) |

२०-ज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमि (२)-

(१) किन्तु अन्वय पारिभाषिक दृष्टि से दैविक आत्मिक-भौतिक-समस्तित्व 'सर्वम्' है एकमेव-मनः साक्षात्कृत अन्वयपरपर्व अक्षर 'आधिदैविक' उत्तम है। इत अन्वयपरपर्व अक्षर की भी चार ही लक्ष्मण हैं। मनःसाक्षात्कृत अन्वयचतुष्टय अक्षर 'सर्वम्' की प्रतिष्ठाका से उक्त बनता हुआ मनःसाक्षात्कृत अक्षर है। इसी लक्ष्मण की लक्ष्मण (ज्ञानमय), लक्ष्मण (विद्यामय) लक्ष्मण (अर्थमय) मन्ना गया है। इसी लक्ष्मण सम्बन्ध से प्रतिष्ठाका अक्षर अन्वयपरपर्व नामक, एवं लक्ष्मण अक्षर इन तीन लक्ष्मणों

से शुरु सृष्टिचर्चन हुआ है X । मनप्राणवाङ्मय अथवा सर्वरूप वही अन्वयचर ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग की प्रतिष्ठा बनता है । मनोमय, स्पष्टिलक्ष्य अथवा मनोमय अन्वय से अनुपरीत रहता हुआ आधिभौतिक है । तदनुगत योग आधिभौतिक साध्यलक्षनत्वेन ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग है । प्राणमय स्पष्टिलक्ष्य अथवा प्राणमय अक्षय्यज्ञान बनता हुआ मध्यम होने से पूर्वस्थानीय मनोमय अन्वय के आधिभौतिक वर्ग से, परस्थानीय चर के आधिभौतिक वर्ग से दोनों से आक्रान्त रहता हुआ आधिभौतिकआधिभौतिकोन्मयमूर्ति है । अतएव यह उभय-माद्यानुगत ज्ञानयोगात्मक मूर्तियोग की प्रतिष्ठा है । वाङ्मय स्पष्टिलक्ष्य अथवा वाङ्मय आत्मचर बनता हुआ आधिभौतिक है । तदनुगत योग आधिभौतिक साध्यलक्षनत्वेन ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग है । चारों यामों में प्रधान लक्ष्य अभ्यस्तमक अथवा है इसलिये छे चारों ज्ञानयोग हैं । साथ ही चारों क्रमशः सर्व, देव देवभूत, सृष्ट लक्ष्य अन्वय-अभ्यस्तमगत अथवा-अथवा-अथवा बनत हुए बुद्धि-ज्ञान-मूर्ति-कर्मयोग हैं । इत्यन्तर अभ्यस्तमगत आधिभौतिक अथवालक्ष्य से ज्ञानयोगात्मक प्रतिष्ठित है ब्रह्म चतुष्टयी का सर्वानुगत बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग ही शास्त्रीय ज्ञानयोग (साध्यनिष्ठा) माना गया है—ब्रह्म सर्वोपिठरूप ही ज्ञानबुद्धियोग है ।

(२) अन्ययसमस्तुस्ति-कम्माभ्ययानुगत-त्रैवगुडोत्पलुगता योगचतुष्टयी त्रितीया—

(ज्ञानयोगचतुष्टयी)

- | | | |
|--------------------------------------|------------------------------------|----------------------------------------|
| १-अभ्यस्तमकअथवा-कम्माभ्ययानुगतः | (सर्वम्)-ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग | } साध्यप्रतिष्ठा
} स्ववहारनिष्ठावयी |
| २ मनोमयोऽथवा-मनोमयाभ्यस्तमकअथवाः | (देविक)- " ज्ञानयोग | |
| ३-प्राणमयोऽथवा-प्राणमयाभ्यस्तमकअथवाः | (उभय)- " मन्त्रयोग | |
| ४-वाङ्मयोऽथवा-वाङ्मयाभ्यस्तमकअथवाः | (मूर्तिक)- " कर्मयोग | |

२१-मक्तियोगप्रतिष्ठाभूमि—(३)

(१) परिमाणरूप्या अक्षरगमित आत्मचर दैविक एवं भौतिक है ; अतएव इन मक्तियोगानुगत माना जा सकता है । इच्छा भी अन्तर चर ही योग हो पाते हैं । मनप्राणवाङ्मय अथवानुगत वाङ्-आप-अग्नि-मूर्ति अक्षय्यलक्ष्य आत्मचर 'लक्ष' क्षाया म शुरु बनता हुआ मूर्तिवागात्मक बुद्धियोग का साध्य है । मनोमय अथवानुगत स्पष्टिलक्ष्य वागरूप अक्षरचर आधिभौतिक-मनोमयेन मक्तियोगात्मक ज्ञानयोग का साध्य बन रहा है । प्राणमय-अथवानुगत स्पष्टिलक्ष्य आपोत्पन्न मध्यम आत्मचर पूर्वस्थानीय वागनुगत दैविक अक्षरचर से परस्थानीय अभ्यस्तमगत भौतिक आत्मचर से उभययुक्त बनता हुआ मक्तिवागात्मक मक्तियोग का साध्य बन रहा है । एवं वाङ्मय अथवानुगत स्पष्टिलक्ष्य अक्षरचर अक्षरचर आधिभौतिकत्वेन मक्तियोगात्मक कर्मयोग का साध्य बनता हुआ है । अक्षरयुक्त अक्षरमन्त्रेण यह वागचतुष्टयी वहाँ अथवानुगत दैविक अथवानुगत भौतिक-मेरेन उभययुक्तमन्त्रेण बनती हुई मक्तिवागचतुष्टयी कहला रही है वहाँ समष्टि स्वर्ग-मादानुगत मन दैविक

X-यं मयप्रः सुर्षपित्-यस्य ज्ञानमय तप ।

तस्मादतद् मद्र-नामरूप-मभ च वापत ॥

—मुद्राक्षरनिष्ठा २११५

उभय, मीतिक-माबानुगति से इत मन्दिठयोगचतुष्टयी के चारी योग क्रमशः बुद्धि-ज्ञान-मन्दिठ-कर्मयोग-नामों से स्पष्ट हो रहे हैं। चारों में से सर्वानुगत बुद्धियोगात्मक मन्दिठयोग ही शास्त्रीय मन्दिठयोग (उभयनिष्ठ) माना गया है किन्तु संशोधितरूप 'द्वैतकर्मबुद्धियोग' है।

(३)-अध्वरसमनुसिद्ध-अभ्युत्थगमित-महानात्मानुगता योगचतुष्टयी चतुर्था-

(मक्तियोगचतुष्टयी)

१-नवरूप अध्वर-अभ्युत्थध्वररत्मकः-आत्मध्वरः(सर्वम्)-मक्तियोगात्मको बुद्धियोग	} उभयनिष्ठा	
-बाणरूपः अध्वर-मनोमयाध्वररत्मकः-आत्मध्वरः(वैदिक)		ज्ञानयोगः
३-आवायुध्वर-अध्वर-आवायुध्वररत्मकः-आत्मध्वरः(उभय)		मक्तियोगः
४-अग्निरूप अध्वर-आत्मध्वररत्मकः-आत्मध्वरः(भौतिक)		कर्मयोगः

—ॐ—

०२-कर्मयोगप्रतिष्ठामूमि—(४)

(४) आत्मध्वरगमित विध्वरध्वर मीतिक ठल है। अतएव इसे कर्मयोगचतुष्टय माना जायगा। एवं इसके भी अन्तर चार ही विध्वर माने जायेंगे। बाण-आवायु-अग्नि-रूप आत्मध्वर से अनुगत बाण-आवायु-अग्नि-रूप उभयनिष्ठ विध्वरध्वर सर्वानुगत बना हुआ कर्मयोगात्मक बुद्धियोग का साध्य है। बाणरूप आत्मध्वरचतुष्टय-अध्वरध्वर बाणरूप विध्वरध्वर आधिदैविकत्वेन कर्मयोगात्मक ज्ञानयोग का साध्य है। आवायुध्वर आत्मध्वरचतुष्टय-अध्वरध्वर-आवायुध्वर पूर्वस्थानीय बाणरूप है किसे परास्थानीय अध्वरचतुष्टय मीतिक से उभयनिष्ठ बनाया हुआ कर्मयोगात्मक मक्तियोग का साध्य माना गया है। एवं अग्निरूप आत्मध्वरचतुष्टय-अध्वरध्वर-अग्निरूप विध्वरध्वर आधिभौतिकत्वेन कर्मयोगात्मक कर्म योग का साध्य माना गया है। आत्मध्वररत्मक विध्वररत्मक से यह योगचतुष्टयी बड़ी आत्मध्वरचतुष्टय मीतिक, विध्वरध्वरचतुष्टय मीतिकत्वेन कर्म योगचतुष्टयी कहला रही है। बड़ी समष्टि मीतिक-माबानुगति से इतके अन्तर चार योग क्रमशः बुद्धि-ज्ञान-मन्दिठ-कर्म योग नामों से स्पष्ट हो रहे हैं। चारों में से सर्वानुगत बुद्धियोगात्मक कर्म योग ही (वैदिक कर्मकर्म योग ही) शास्त्रीय योगनिष्ठा मानी गई है किन्तु संशोधितरूप कर्म बुद्धियोग माना गया है।

(४) आत्मध्वरसमनुसिद्ध-विज्ञानात्मगमित-प्रहानात्मानुगता योगचतुष्टयी चतुर्थी-

(कर्मयोगचतुष्टयी)

१-सर्वरूपो विध्वरध्वर-आत्मध्वररत्मकः (सर्वम्) कर्मयोगात्मको बुद्धियोग	} योगनिष्ठा	
२-बाणरूपो विध्वरध्वर-बाणरूपध्वररत्मक (वैदिक)		ज्ञानयोगः
३-आवायुध्वर विध्वरध्वर-आवायुध्वररत्मक(उभय)		मक्तियोगः
४-अग्निरूपो विध्वरध्वर-अग्निरूपध्वररत्मक(भौतिक)		कर्मयोगः

२३-मनःप्राणवाक् का त्रिवृत्मात्र, और आत्मसंस्था-विभाजन--

उक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध में एक विपत्तिविधि और उपरिष्ठ की या उकठी है। वर्गीकरण का मूलनिक है अथवा प्रामाणिक। निराकरण इत्यस्य कठिन हो रहा है कि, विज्ञानदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला पदविधि वर्गीकरण आद्य शास्त्रज्ञ विद्वानों के लिए भी एक बट्टिल समस्या बन सकता है। कारण-विज्ञान पारिभाषिक-विज्ञानानुगत-वैशेषिकत्व के आधार पर वर्गीकरण प्रसिद्ध है वह उत्सवद आद्य सर्वथा विलुप्त है। फिर भी परिवेश के लिए इस सम्बन्ध में ही दो शब्द कह देना समीचीन प्रतीत होता है। 'महा वे त्रिवृत्' (अथर्ववेद २।१६।४) इस अनुगमभूति के अनुसार महापतिलक्षण आत्मब्रह्म विद्वत् माना गया है। 'तीन संस्था का त्रिवृत्' ही त्रिवृत्मात्र है। आत्मा उ परकः सन्नेतवन्नयम्' (शत १।४।४।३।) के अनुसार सृष्टि से पूर्व एकाकी रहने वाला आत्मब्रह्म सृष्टिदशा में त्रिपदा बन जाता है। आत्मत्व के दो तीनों पर्व क्रमशः 'ज्ञान, क्रिया अथ' इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। तीनों शक्तिपुञ्जी के क्रमशः 'मनः प्राण वाक्' ये तीन नाम रख लिए गए हैं। वैशेषिक स वा प्य आत्मा वाह्यस्य, प्राणमयो, मनोमयाः (बु अपनिपत्) इत्यादि उपनिषद्भूति से प्रमाणित है। तीनों नाम अनुगमभाषात्प्र है। अथएव ज्ञानप्रधान मन्वाक्त् तत्त्व मनो नाम से क्रियाप्रधान मन्वाक्त् तत्त्व प्राण नाम से एवं अथप्रधान मन्वाक्त् तत्त्व वाक् नाम से स्पष्टित हुए हैं। 'आत्मब्रह्म के इन तीन पर्वों का त्रिवृत्तर्पण ही त्रिवृत्-वाच्यार्थ है। त्रिवृत्तर्पण ९ शक्त्या पर विभाज्य है। 'स परिमाया को लक्ष्य बना कर ही उक्त वर्गीकरण की प्रामाणिकता का सम्बन्ध कीजिए।

महाभाषाविद्वान् निष्कल अथ्य सृष्टि से पूर्ववस्था में स्थित एक आत्मब्रह्म है। वैशेषिक-'तस्मात्प्रा-
भ्यस परा किञ्चनास' इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। इस एक का योगमाया के सम्बन्ध में त्रिधा व्याकरण्य हुआ, एक तीन विभक्त भाषों में परिणत हुआ। वे ही आरम्भ के तीनों पर्व क्रमशः ज्ञान-प्राण-वाक् नामों से स्पष्टित हुए, किन्हीं क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ-प्रधान होने से हम मन-प्राण-वाक् नामों में स्पष्टित करेंगे। यही आत्मब्रह्म का परित्या मनःप्राणवाक्प्रधान माना जायगा। मनोरूप वाक्-नामक तीनों पर्वों का पुनः त्रिधा व्याकरण्य हुआ, वाक्प्रधानत्व मन तीन भाषों में परिणत हो गया। यही आत्मब्रह्म का तृतीय मनःप्राण-वाह्यस्य रूप माना गया। वाक् नामक तीनों पर्वों का पुनः व्याकरण्य हुआ वाक्प्रधान वाक्-प्राण-अर्थ-प्रधान-प्य से तीन भाषों में विभक्त हो गया। त्रिसे पूर्वपरिमाणुनुसार हम मन-प्राण-वाक् नामों में स्पष्टित कर लक्ष्य हैं। इसप्रकार एक ही निष्कल अथ्यब्रह्म रचकवृत्ति के शास्त्रज्ञ से तीन विभक्त भाषों में परिणत हुआ हुआ मनःप्राणवाह्यस्य ज्ञानक्रियावार्थभाषों के स्वाभाविक त्रिवृत्करण से ९ भाषा में परिणत हो गया जो त्रिवृत्मात्र-वाच्य त्रिवृत्तर्पण करवाणि (शत ०७ १।३।१) 'त्यानि बुद्धिहरमत्र विद्वानो के लिए स्य वा परिणत ही माना जायगा।

एक तत्त्व सर्वप्रथम तीन भाषों का प्रवर्णन बना। तीनों को उपरिष्ठ कर 'तत्त्वत्प्राया तद्भाषानुभाषितान् क्रियानुभाषितान् उन् तीनों भाषों में प्रसिद्ध इत्यथा। तीनों भाषों अथवा शरीर बहलाप्य कह स्वयं ह्य शरीरगुणों में प्रसिद्ध आत्म्य बहलाप्य-आत्म्यार्थ जन्तानिद्वयो गृह्यन्ताम्। अथवा आर शरीर ० तीनों की शक्ति ही आत्मस्वी महापति नाम से प्रसिद्ध हुआ विभक्त द्वितीय अथमपर्व अथमभाषा बहलाप्य, शप तनों पर्व 'त्रिस्तो

(१) - परास्परसमतुलितस्य - निष्कलाव्ययपुरुषस्य - त्रिवृद्भाषपरिलेखः

• महामायावच्छिन्नो निष्कलोऽव्ययपुरुषः (स्वोषस्यसं प्रकृत-मनः) तस्यैते विवर्णमात्राः

२	१	१	ज्ञानम्	ज्ञानधनत्वात्-मनः	ज्ञानधन-मनः-मनः	मन-मनोमयम्	हरि-मनसुक्कम् मनसुक्किसामानुक्तम्
	२	२	विज्ञानम्	क्रियाधनत्वात्-प्राणः	विज्ञानधन-मनः	प्राण-मनोमयाः	
	३	३	अन्तर्मनः	अर्थधनत्वात्-वाक्	अन्तर्मनोधन-मनः	वाक्-मनोमयी	
२	४	१	बहिर्मनः	ज्ञानमयत्वात्-मनः	बहिर्मनोमयाः प्राणः	मन-प्राणमयम्	हरि-प्राणसुक्कम् प्राणसुक्किसामानुक्तम्
	५	२	प्राण	क्रियामयत्वात्-प्राणः	प्राणमय-प्राणः	प्राण-प्राणमयः	
	६	३	वाक्	अर्थमयत्वात्-वाक्	वाक्मय-प्राणः	वाक्-प्राणमयी	
३	७	१	अमृतवाक्	ज्ञानानुगतत्वात्-मनः	वाक्मया-वाक्	मन-वाक्मयम्	हरि-वाक्मयाः वाक्मयाः सामानुक्तम्
	८	२	अमृतप्राण	क्रियानुगतत्वात्-प्राणः	प्राणोक्त्या-वाक्	प्राण-वाक्मया	
	९	३	अमृतोऽग्निः	अर्थानुगतत्वात्-वाक्	अग्निक्त्या-वाक्	वाक्-वाक्मयी	
३	१०	१	मर्त्योऽग्निः	ज्ञानरहितत्वात्-मनः	वाक्मयी-वाक्	ॐ	ॐ ५
	११	२	मर्त्यप्राण	क्रियारहितत्वात्-प्राणः	प्राणमयी-वाक्	ॐ	
	१२	३	मर्त्यवाक्	अर्थरहितत्वात्-वाक्	वाक्मयी-वाक्	ॐ	

(३)—सृष्टानुप्रविष्टमावानुगतप्रजापतिपर्वचतुष्टयी-प्रदर्शनपरिलेखः—

१	● निष्कलोऽम्बयपुरयः—आत्मा	कर्त्तव्यः]	प्रविष्टात्मा—आत्मा	१	१ आत्मन्वी—प्रजापति
	१—आनन्दात्मा—कारणराशेरम्	मनोमय]—सृष्टात्मा—राशेरम्	२	
	२—विज्ञानात्मा—सूक्ष्मराशेरम्	प्राणमयम्			
	३—मानसात्मा—सूक्ष्मराशेरम्	वाङ्मयम्			
२	● प्रथम—आत्मन्वीप्रजापति—आत्मा	कर्त्तव्यः]	प्रविष्टात्मा—आत्मा	१	२ आत्मन्वी—प्रजापति
	१—मनोमयात्मा—कारणराशेरम्	मनोमयम्]—सृष्टात्मा—राशेरम्	२	
	२—प्राणमयात्मा—सूक्ष्मराशेरम्	प्राणमयम्			
	३—वाङ्मयात्मा—सूक्ष्मराशेरम्	वाङ्मयम्			
३	● द्वितीया—आत्मन्वीप्रजापति—आत्मा	कर्त्तव्यः]	प्रविष्टात्मा—आत्मा	१	३ आत्मन्वी—प्रजापति
	१—अमृतवाङ्मयात्मा—कारणराशेरम्	मनोमयम्]—सृष्टात्मा—राशेरम्	२	
	२—अमृतप्राणमयात्मा—सूक्ष्मराशेरम्	प्राणमयम्			
	३—अमृतमनमयात्मा—सूक्ष्मराशेरम्	वाङ्मयम्			
४	● तृतीया—आत्मन्वीप्रजापति—आत्मा	कर्त्तव्यः]	प्रविष्टात्मा—आत्मा	१	४ आत्मन्वी—प्रजापति
	१—मर्त्यमनमयात्मा—कारणराशेरम्	मनोमयम्]—सृष्टात्मा—राशेरम्	२	
	२—मर्त्यप्राणमयात्मा—सूक्ष्मराशेरम्	प्राणमयम्			
	३—मर्त्यवाङ्मयात्मा—सूक्ष्मराशेरम्	वाङ्मयम्			

२४-शब्दपर्यायसम्बन्ध की अज्ञानिकता—

के शास्त्र के उपनिषद्भाग में अम्बपञ्च एवं लुम्बिवातुस्त को बुद्धियोग उपनिषदों की स्वामिनी की दक्षिण-गर्भगत्य-गर्भिका माया के कारण सर्वसाधारण के लिए अज्ञात बना रहा जिस योग का अम्बपञ्च के पूर्वाधार काणाईकर (श्रीकृष्ण) ने उपायकर होकर अज्ञान के प्रति उपदेश किया, उस बुद्धियोग का स्वल्प यदि आत्र भी सर्वसाधारण के लिए अज्ञात बना रहे, तो हममें कोई आश्चर्य नहीं है। बल्कि, आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है बर्षके कोई भी योग-बारे वह लौकिक हो, अथवा शास्त्रीय, विज्ञानात्मक-उपरिष्कृत प्रदानागुप्त इन्द्रियसंयोग की अपेक्षा रखता हुआ परम्परया बुद्धिबोधसम्पत्ति से सम्बन्ध नहीं है तो देखी बरा में मीमांसा ने क्या पुनर्धार्य किया है, इस विषयितति के निराकरण के लिए सर्वप्रथम बुद्धितत्त्व हमारे लिए विभिन्नत्व बन बाता है। प्रासंगिक अन्वय विप्रसिद्धियों के निराकरण के अनन्तर उभी मुख्य प्रतिपाद बुद्धितत्त्व की आर बुद्धियोगियों का स्थान आकर्षित किया जाता है।

‘बुद्धियोग’ शब्द के ‘बुद्धि’-‘योग’ से दो विभाग हैं। पहिले क्रमलिङ्ग ‘बुद्धि’ शब्द का तात्त्विक अन्वेषण कीजिए, अनन्तर ‘योग’ शब्द का। संस्कृतशास्त्र में ‘बुद्धि’ शब्द के सम्बन्ध में “बुद्धि-मनीषा-विपणा-मी-प्रज्ञा-शेमुपी-मति-प्रज्ञा-उपलब्धि-चित्-संविन्-प्रतिपत्-इष्टि-पतना-विज्ञान-” इत्यादि शब्द उपलब्ध होते हैं। साम्प्रदायिक दक्षिणयानुशास्त्री मायैत विद्वानों की दृष्टि में ये सब शब्द अविभार्य के (एक ही अर्थ के) वाचक बनते हुए परस्पर एक दूसरे के पर्याय हैं। वही कारण है कि वर्तमान संस्कृत-भाष्य व्याख्या, निरूपणों में बुद्धितत्त्व के लिए उक्त शब्दों में से किसी भी शब्द का प्रयोग उपलब्ध हो रहा है। किसी लेखकसम्बन्ध वह पर्याय सम्बन्ध मान्य कहा जा सकता है। परन्तु निश्चयदृष्टि होने लगता रही है कि, प्रत्येक शब्द अविभार्य का ही वाचक है। प्रत्येक शब्द का अर्थव्यापार-अपारसंयत-व्यवहारकन जब एक दूसरे में सर्वथा विभिन्न है तो वह एकदृष्टि ही यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हेतु है कि, परस्पर विभिन्नवाचक शब्द कभी समानार्थक नहीं बन सकते। उदाहरण के लिए लौकिक वास्तु पर ही दृष्टि शालिए। ‘जल रं-‘बल्ल’-‘बल्लिए’-‘पचारिए’ शब्दों का तात्पर्य है बल्लने से। बल्लनार्थक सब वास्तु का स्थान अर्थ है और इस हीमा पर्यन्त इन शब्दों को अविभार्यक कहा भी जा सकता है। इस हीमावह समानार्थकता के खने पर भी उन शब्द विभिन्न उद्देश्य बना रहे हैं। उन के लिए अविभार्यक से इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। अपने सेवकवर्ग के लिए ‘जलरं’ निष्पत्त है। अपना से निम्नविचार में प्रतिष्ठित शिल्प, पुत्रादि के लिए ‘जल’ निष्पत्त है। उपा-वेष्टव्य वाणी के लिए ‘बल्लिए’ निष्पत्त है। एवं शिल्प-मानव-वर्ग के लिए ‘पचारिए’ शब्द निष्पत्त है। क्या ‘पचारिए’ के स्थान में ‘बल्लिए’ कहना शिष्टता होगी? क्या इस क्षेत्र में ‘जल -‘जलरं’ शब्दों का प्रयोग किया जा सकेगा?। क्या सब शब्दों को ‘बल्लिए’ ‘पचारिए’ शब्दों से उन्वेषित करना मर्यादागत माना जायगा?। नहीं। रसैलिए करना और मन्त्रदा वेदों कि, शब्दों का परस्पर पर्याय सम्बन्ध स्थापित करना असंभव है। संस्कृतशास्त्र के शब्दों को उदाहरण बनाए। ‘वृषभम्-परमेष्ठी-द्विरण्यार्थ-पद्मम्-निघन’ आदि शब्द केन्द्रपरिच्छि-लक्षण ब्रह्मत्व (ब्रह्म) के लिए निष्पत्त हैं। उन शब्दों में समान्यकरण से व्याप्त ब्रह्मत्व-दृष्टि य किसी हीमा पर्यन्त इन्हें अविभार्यक माना जा सकता है। परन्तु आचार्यमन्त्रब्रह्मत्वक माणस्य अन्ध, वासुदेवनायक आत्मैव विरह वेदोन्मत्तब्रह्मत्वक वादुस्य सिद्ध ब्रह्मवदस्तामक अममय विरह एवं मृत्यवदस्तामक

/

7

/ 2 2 1

२४-शब्दपर्यायसम्बन्ध की अवैधानिकता—

वेदशास्त्र के उपनिषद्भाग में ब्रह्मव्यवहारात्
 लक्षित-गामीत्यर्थ-गर्मिता यात्रा के अर्थ सर्वत्राचार-
 पृथक्त्वात् साक्षात् ईश्वर (श्रीगुरुः) ने उमाशिम्य
 एवम् यदि आब भी सर्वत्राचार्य के लिए अहात
 आरम्भ में ही एतत् कर विना गया है-बशकि कोई
 उम्भरिच्छत् प्रकानानुयत इन्द्रिययोग्य भी अवेद्या
 है वो ऐसी दशा में यीश्वर ने क्या पुरुषार्थ किया
 हमारे लिए विविधात्म्य बन बाया है । प्राथमिक
 मुख्य प्रतिपाद्य बुद्धितत्त्व की अत्र बुद्धिये मितो वा

‘बुद्धियोग’ शब्द के ‘बुद्धि’-‘योग’ के
 अन्वेषण कीविषय, अन्तर ‘योग’ शब्द प
 “बुद्धि-मनीषा-धिपत्या-धी-धैर्या-योग्य-
 अतना-विद्वान्-” इत्यादि शब्द उपलब्ध हो
 में वे लव शब्द अतिशार्थ के (एक ही अर्थ के
 अर्थ है कि वर्तमान संस्कृत-साम्य व्याख्या
 शब्द का प्रयोग उपलब्ध हो रहा है । किसी लः
 निदानइति इमें कहता रही है कि, प्रत्येक शब्द
 अक्षरार्थवत्-लक्षणरूप अथ एक वृत्ति से म
 शिप्य पर्यन्त हेतु है कि, परस्पर विभिन्न
 लौकिक वाक्यों पर ही इति वाक्यिप । ‘अथ न
 से । अतनार्थक अथ वाक्यों का अमान अर्थ से
 लक्ष्य है । इत सीमावद्ध अमानार्थक्य के रर
 अमितकर्म से इत्यत्र प्रयोग नहीं किया जा
 निम्नाशिक्षर में प्रलक्षित शिम्भ, पुत्रादि के (
 नियत है । एवं शिद्ध-मान्य-वर्ग के लिए ‘प
 अना शिद्धता होती । । क्या इत क्षेत्र में
 पुत्रादि को ‘अक्षिप्य’ ‘पत्रारिप्य’ शब्दों से ल
 अना और मानना पड़ेगा कि, शब्दों का
 शब्दों की उदाहरण बनाय । ‘स्वसम्भू-पर
 लक्ष्य प्रकृतत्वं (लक्ष्य) के लिए नियत
 सीमा पर्यन्त इन्हीं अतिशार्थक माना जा ल
 आपोत्रय विरह वेवेमयप्रकृतत्वं वाद्भूप

अन्नदमय विषय, इन स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-भू-पिण्डों के केन्द्रानुगत ब्रह्मचर्यों के भेद से ही क्रमशः 'स्वम्भू-परमेष्ठी-दिरत्यवर्ग-पद्मभू-निघन' शब्द नियत हैं। चन्द्रमा पर सृष्टिक्रम का अवलोकन है, प्रखन का अविहाता 'वृषाद्यमोऽवसानं पूषिष्ठ्या'-'यमो वै अथसानस्येष्टे' इत्यादि मन्त्र-भाषण-भूतियों के अनुकार 'यम' है यही निघनलाक्षण मूल्य का प्रवर्तक है। अतएव चान्न ब्रह्मचर्य 'निघन' कहलाया है। क्या और-पारमेष्ठ्यादि का भी 'निघन' कहा जा सकेगा ? नहीं। वेदमाया-शब्दों को उदाहरण कराए। वर्षाधिकारमर्यादानुसार स्वयं भेद ने भी लोकमापावत आह्वानार्थक शब्दों में भाषण-बुद्धि-वैर-शब्दों के लिए क्रमशः 'ग्रहि' (पवारिण)-'आगाहि'-(आहण)-'आद्रव' (बलिण) 'आघाव' (दौह-पल) ये शब्द मर्यादित करते हुए पर्याय सम्बन्ध की अवैज्ञानिकता पोषित की है * । इसी प्रकार 'स्वाहा-स्ववा-वौषट्' आदि वैदिक शब्द अन्नदान-उपम में प्रयुक्त हुए हैं। तत्पर्यन्त सत्य ही है कि- 'आप इत् प्रवत् अन्न का ग्रहण कीजिए'। इस सामान्य-अन्नप्रदान-इष्टि से किसी सीमा पर्यन्त तीनों शब्दों को अग्निनार्थक कहा जा सकता है। परन्तु तत्पश्चात् तीनों शब्द क्रमशः आप्त्येय वेववेवता पितृ, तथा इन्द्र के लिए ही नियत हैं। कृमी इनमें पर्याय सम्बन्ध का समावेश नहीं किया जा सकता।

एवमेव मयका मरुत्वान् वासव, इन्द्रहा, आदि शब्द इन्द्रार्थक माने गए हैं। गतिसामान्यवर्त्म स्थापित से इत् सीमापर्यन्त ये इन्द्रार्थक शब्द परस्पर अग्निनार्थ के समर्थक करते हुए भी तत्त्वदृष्ट्या परस्पर सर्वथा विभिन्न अर्थों में ही नियत हैं। और आहवनीयान्निमय स्वस्मोतिर्षण इन्द्र को ही 'मयका कहा जायगा। अन्तरिक्ष विष्ण्वान्निमय अस्मोतिर्षण वाक्स्मेन्द्र को ही 'मरुत्वान्' माना जायगा। पार्थिव गार्हपत्यानिमय वपस्मोतिर्षण बस्वनिस्सु इन्द्र को ही 'वासव नाम से व्यकृत किया जायगा एवं परस्मोतिर्षण चान्न इन्द्र को ही 'इन्द्रहा' कहा जायगा। इत्यकार विज्ञानानुगता तत्त्वदृष्टि के अनुसार प्रत्येक शब्द विभिन्नार्थ का ही वाचक माना जायगा। इस दृष्टि का निष्कर्ष यही निकलता है कि, "एक शब्द एक ही अर्थ का वाचक है प्रत्येक शब्द अपना स्वतन्त्र अर्थ रखता है"। फलतः अनुगममावात्मक शब्दों को जोड़ कर नियममावात्मक एक एक शब्द के अनेक अर्थ लगा लेना उचित ही इन शब्दों का परस्पर पर्याय-सम्बन्ध मान बैठना सर्वथा विज्ञानविरुद्ध है। 'सर्वे सर्वाववाचका-वाणीपुत्रस्य पाणिने' सृष्टि का सामान्यवर्त्मानुगता समानस्थापित के आकार पर सम्भव हो जाता है। शब्द का अर्थ के साथ उत्पन्नसुद्ध सम्बन्ध नहीं, अपितु उत्पत्तिवृत्त (औपेक्षिक) सम्बन्ध है निम्ब सम्बन्ध है। 'सर्वे सर्वाववाचका सृष्टि केवल इत् निम्ब सम्बन्ध में ही उपयुक्त है। उपापि का सम्बन्ध ही आगे जाकर इत् विभिन्न शब्द एवं तदनुगत विभिन्नार्थ का विभाजक बन जाता है कि औपेक्षिक भेद को 'अवरयामेद' कहा गया है। यही अवरयामेद शब्दार्थविभिन्नता की प्रतीका बनता है। अन्न और मल एक ही अन्न की दो विभिन्न-वस्तुएँ हैं। अतएव अन्न और मल दोनों शब्द विभिन्नार्थों में नियत हैं। एक ही अन्न अवरयामेद से नानातर्यों में परिणत हो रहा है। अवरय ही योगानुष्ठान में वह अवरयामेद सर्वथा मान्य है। नहीं तो मन ही बुद्धि क्यों न मान सी जाय, बुद्धि को मन का पर्याय क्यों नहीं कह दिया जाय ?।

*-"तानि वा ऽतानि चन्वारि वाचः-‘ग्रहि’ इति ब्रह्मण्यस्य, ‘आगाहि’ इति रात्र्यवन्धो (चतुरियस्य), ‘आद्रव’ इति वैरयस्य, ‘आघाव’ इति शूद्रस्य”।
—रात० भा० १।१।१।१।१।

२५—'बुद्धि' शब्दनिर्वचनोपक्रम (१)—

अथगमनार्थक 'बुध' ('बुध' अथगमने-दिवाणि) धातु से—'क्षिप्यं क्तिन्' (पा व १।१।६५) वृत्त से 'क्तिन्' प्रत्यय के द्वारा 'बुद्धि' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका निर्वचनाय है—'बुद्धयतेऽनया सा बुद्धिः' (बिठते जाना जाता है, वह बुद्धि है)। आभ्याससंस्था में जो तत्त्व किन्हीं निश्चय स्थान में प्रतिष्ठित हो कर स्वभावात् से विषयों का ज्ञान प्राप्त करता रहता है वही तत्त्वविशेष विषय को अथगत करता हुआ जानता हुआ—'बुद्धि' नाम से अभ्यहृत हुआ है। जिसप्रकार मन का मूलप्रभव चन्द्रमा माना गया है एवमेव बुद्धि का मूलप्रभव सूर्य माना गया है। अतएव आभ्यासिक बुद्धितत्त्व की तार्किक स्वरूपमीमांसा के लिए सत्प्रभवमूल आधिदैविक तत्त्व की मीमांसा का ही अनुगमन करना चाहिए।

२६—बुद्धिप्रवचक विश्वमध्यस्य सूर्य—

ब्रह्मविद्या (लगोल) विज्ञानानुसार सूर्य ब्रह्मविद्या नामक ब्रह्मविद्या के केन्द्र में प्रतिष्ठित है, वहाँ वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार यही सूर्य विश्व का हृदय बना हुआ है, यैष्ये—'नेत्रोदेता नास्तमेता, एष्य एव मन्मे म्धाता' (सा उप १।१।१।१) 'बृहद् तस्यां भुवनेष्वन्त' (सूर्यो बृहती मध्यहृदस्यपि 'आदित्यो मे विश्वस्य हृदयम्' इत्यादि मन्त्र-जादयः श्रुतियों में प्रमाणित है। प्रत्यक्ष दृष्टि से भी यही प्रमाणित है। विश्व भूतप्रधान है। वे भूत, आकाश वायु तेज बल मूत, मेद से पाँच भागों में विभक्त हैं, एवं यही इनका रियलिक्रम है। पाँचों में आकाश—वायु ऊर्ध्वभूत है बल-मूत अधोभूत है तेज मध्यभूत है। आकाशातुल्य-आकाशात्मा स्वयम्भू, वायुतुल्य वाय्वात्मा परमेष्ठी, दोनों ऊर्ध्वरिपि के कारण विश्वपर पोद्दरी-विश्वकर्मा के 'परमधाम' कहलाए हैं। तेषांऽनुगत-तेजोलक्षणात्मा सूर्य मध्यमिति के कारण 'मध्यमधाम' माना गया है। एवं बलानुगत बलात्मा चन्द्रमा, मूदानुगत मूदात्मा भूपिण्ड दोनों अधोमिति के कारण 'अधमधाम' कहलाए हैं यैष्ये—'या ते धामानि परमाणि 'यवमां' इत्यादि यजुर्मन्त्र से प्रमाणित है। स्वयम्भू-परमेष्ठी की तमसिक्रम-परमधाम प्रकृतिकला की दृष्टि से प्राक् आपोमव है। चन्द्रमा-भूपिण्ड की क्षमिक्रम अधमधाम अध-अधमव है। एवं सूर्यरूप मध्यमधाम मादमव है। अभ्यवलयद्वय ज्ञानत्मा अनुत्तप्रधान है अमृतत्मा है। स्वयम्भू-परमेष्ठी इन दोनों परमधामों में इली का प्राधान्य है अतएव इसे 'असुतसंस्था' माना गया है। असुतसंस्था भूतत्मा मृदुप्रधान है, मत्स्यत्मा है। चन्द्रमा-भूपिण्ड इन दोनों अधमधामों में इत्या प्राधान्य है अतएव इसे 'सस्यसंस्था' माना गया है। असुतसंस्था पर ० दोनों अन्वयानुपदीत हैं एवं असुतनुपदीत हैं चन्द्रमा-भूपिण्ड—दोनों अद्यनुपदीत हैं। अन्वयत्मा मनःप्रधान है, असुतत्मा प्राणप्रधान है, चतुत्मा वाक्प्रधान है। बलतः तनुगत स्वयम्भू-परमेष्ठी मनःप्रधान है, सूर्य प्राणप्रधान है, चन्द्रमा-भूपिण्ड वाक्

०—प्रज्ञा इ तिष्ठो अत्यापमीयुन्यन्या अर्द्धमभितो विविध ।

बृहद् तस्यां भुवनेष्वन्त पबमानो हरित आविषश ॥

—शुक्लं० पा१०१।१४।

प्रधान है। तीनों क्रमशः ज्ञान क्रिया-अर्थ-तत्त्वों की मूलप्रतिष्ठा करें हुए हैं। ज्ञान ज्ञानस्वप्ने निर्भाषार रहता हुआ एतद्विद्युत्स्वप्न से अर्धतत्त्व है अर्ध अज्ञानेन एतद्विद्युत्स्वप्न में अद्यतन्य है। एतद्विद्युत्स्वप्न क्रियात्मक मन्त्रस्य अद्यतनुगत स्वप्न का ही प्रादिरिक्त अर्थ है। वही हिरण्यवर्गमूला स्वर्गानुस्य, इदमद्यतनुगता एतद्विद्युत्स्वप्न का मीलित रहस्य है, किन्तु हिरण्यवर्गमूलापतिपातिष्ठ सुबहकोपनिक्त में विलार से विकल बल हुआ है। इत प्राकृतिक विधारिपति को लक्ष्य बना कर ही हमें बुद्धितत्त्व का समन्वय करना है।

१	१-स्वयम्भू (प्राकृतमय)-आकाशः	-परमधाम (अध्वयवर्गमा-ज्ञानतत्त्वा)-मनोमय-ज्ञानप्रधानः।
२	२-परमज्ञो (आपोमय)-वायु	
३	१-सूर्यः (वाक्मय)-तेज	-मध्यमधाम (अद्यतनुगता-अध्वयवर्गमा)-प्राणमय-क्रियाप्रधानः।
४	१-अनुमा (अन्नमय)-ब्रह्म	
५	२-भूपियङ्गा (अभारमय)-सूत	-अधमधाम (अद्यतनुगता-अध्वयवर्गमा)-वाक्मय-अर्थप्रधानः।

२७-वराधराभ्यधात्मक-सर्वात्मक अक्षर, अक्षर सूर्य—

अमृततरणानुगत-अध्वयप्रधान-मनोमय-आकाशनाम्नात्मक-ज्ञानतन्त्र 'ब्रह्मतन्त्र' है। अमृततरण-ानुगत-अक्षरप्रधान-शशमय-तेजोसहस्रतन्त्र-क्रियातन्त्र विष्णुतन्त्र है। एवं सर्वतरणानुगत-अक्षरप्रधान-वाक्मय-बल-सुरात्मक-अर्थतन्त्र 'शिवतन्त्र' है। ज्ञाना ज्ञानपति है विष्णु क्रियापति है, शिव भूतपति है। मध्यम अक्षर अक्षर और अक्षर से मध्यम प्राण मन और वाक् से मध्यम क्रिया ज्ञान और अर्थ से, मध्यम विष्णु ज्ञान और शिव से मध्यम तेज आकाशवायु, और बल-सूत से मध्यम सूर्य स्वप्न-परमेश और अन्नमा-भूपियङ्ग से अनुस्य है। इत्यन्तर मध्यम सूर्य मध्यम होने से त्वरितक बना हुआ है। एतद्विद्युत्स्वप्न है क्रिया से। परन्तु क्रिया केवल निमित्त बनती है। उपधान अर्थ बनता है आत्मन् ज्ञान बनता है। मध्यम सूर्य अक्षरक ज्ञान से अक्षरप्रतिपत्त अर्थ से ज्ञानक्रियार्थमय बनता हुआ एतद्विद्युत्स्वप्नकी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-तत्त्व-आत्मन्-निमित्त-उपासन तीनों अर्थों से युक्त है। इत एतद्वि से कहा का लक्ष्य है कि, अर्थप्रधान 'ब्रह्म' (अद्यतनु), ज्ञानप्रधान 'पर' (अध्वयवर्गमा) दोनों का इत क्रियाप्रधान और अक्षरप्रधान में समन्वय है। अक्षरक प्रति से अक्षरप्रधान से लक्ष्य की प्राप्ति का समन्वय कर दिया है, क्योंकि निम्न शिल्पित बचन से अर्थप्रधान है—

“एतद्दृष्टे वाचर ब्रह्म (चरात्मा)—एतद्दृष्टे वाचर पर (अन्ययात्मा) ।
एतद्दृष्टे वाचर ह्यात्वा यो यदिच्छति तस्य सत्” ॥

—छन्दोपनिषत् ११।२।१६

२८—त्रयीमयाय त्रिगुखात्मने नम —

‘मध्ये वामनमासीत् सर्वे देवा उपासते’ के अनुखर स्वरिचमूर्ति मम्मस्य स्यं ही ईश्वर—जीव-
बन्त’ तीनों तन्त्रों का प्रवचक बनता है। यद्यपि तीनों ही तन्त्र—‘पूणमव’ पूणोमिर्त् पूखात् पूणोमुवकयते’
इस श्रीपनिषद् विद्वान्त के अनुखर पूर्णतमक हैं, सर्वतमक हैं, अभ्यवाचरतमकतमक हैं मनःप्रसपाबमव
हैं पद्मसूतात्मक हैं। तथापि तीनों में क्रमशः ईश्वरतन्त्र में मनोमय ब्रह्मव, बीजतन्त्र में प्राणमय अक्षर,
अक्षरतन्त्र में वाक्यमय अक्षर का ही प्राधान्य है। तीनों तन्त्र ही क्रमशः आधिदैवत—आध्यात्म—आधिसूत—नामों से
अभ्यवृत्त हुए हैं। ‘पर’ नाम से प्रसिद्ध आत्मव, ‘अक्षर’ नाम से प्रसिद्ध अक्षर, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित होने से,
अतएव पर—अक्षर, दोनों धर्मों से आक्रान्त रहता हुआ ही अक्षरत्मा ‘परअक्षर’ नाम से अभ्यवृत्त हुआ है।
इस परअक्षर के ज्ञान से वास्तव में तब मुक्त गतार्थ है ॐ। अक्षरतन्त्रमिर्त् अभ्यवप्रधान ईश्वर, अक्षरतन्त्रमिर्त्
अक्षरप्रधान बीज, एवं अभ्यवाचरतन्त्रमिर्त् अक्षरप्रधान बगल, तीनों श्री प्रथमप्रवृत्ति का, दूसरे शब्दों में तीनों तन्त्रों की
प्रवृत्ति का प्रधान भेद मम्मस्य वीर तन्त्र को ही प्राप्त है। अभ्यवधर्म्मनुगति से तन्त्रमूर्ति बनता हुआ यही
आधिदैविक ईश्वरतन्त्र का प्रवचक बनता हुआ है। स्व (अक्षर) धर्म्मनुगति से रबोमूर्ति बनता हुआ यही
आध्यात्मिक बीजतन्त्र की प्रतिष्ठा बना हुआ है। एवं अक्षरधर्म्मनुगति से तन्त्रमूर्ति बनता हुआ यही आधिमीतिक
अक्षरतन्त्र की प्रतिष्ठा बना हुआ है। अतएव वैज्ञानिक लोग इस अक्षरप्रधान, विश्वमम्मस्य, गायत्रीमात्रिक—
वैदमूर्ति, त्रिगुखमाणापत्त तन्त्र की—‘त्रयीमयाय त्रिगुखात्मने नमः’ कर्म से श्रुति किया करते हैं।

* —‘मिषते हृदयप्रन्थिरिद्वयन्ते सर्वसशयाः ।

वीयन्ते वास्य कर्म्मसि तस्मिन् दृष्टे परादरे ॥ (अक्षर)

—मुण्डकोपनिषत् २।२।८

१	अक्षयः (मन) अक्षरः (प्राण) अक्षरः (बाह)	-अक्षरगर्मितोऽक्षयः—ईश्वरः (सत्त्वानुगतः)—परधर्माक्रान्तः
२	अक्षरः (प्राण) अक्षयः (मन) अक्षरः (बाह)	-अक्षयक्षरगर्मितोऽक्षर जीवः(रजोऽनुगतः)—स्वधर्माक्रान्तः सर्वधर्मा- क्रान्तः
३	अक्षरः (बाह) अक्षरः (प्राण) अक्षयः (मन)	-अक्षयक्षरगर्मितः अक्षर-ज्ञातुः (तमोऽनुगतः)—अक्षरधर्माक्रान्तः

२६-प्रगङ्गोपाया 'म्यधर्म', तर्क उगक तीन विरर्धभाव—

स्वधर्मा शब्द की अपनी उपरिच्छा हो गई। अतः प्रगङ्गोपाय एक सम्बन्ध में ही ही शब्द कह देना समान्यतः प्रमाण था। स्वधर्मी शब्द की व्यापार बना कर काम करने के प्रकार के निर्णय लक्ष्य हो रहे हैं। इन निर्णयों का उपाय का नाम है स्वधर्म शब्द के वैश्विक धर्म का परिणाम। त्रिणी की दृष्टि में मन्वन्त-व्या-वर्धित अक्षरगर्मात्मान स्वधर्म न धर्म ही स्वधर्म है। त्रिणी की दृष्टि में वेदशास्त्रोपरिष्ठित धर्म का नाम अक्षर, मान ही स्वधर्म है। त्रिणी की दृष्टि में धर्मधर्मा ही स्वधर्म है। इन त्रि निर्णयों के परिहार के लिए स्वधर्म ही निध। अथ परधर्मा भयापहः इत्यभावात्कर्मक अथान-स्वधर्मो विगुणः, पर-धर्मोऽनुभवतुःप्रियात् एतौ कर्मतुःप्रियात् वीभक्तुःप्रियात् का ही सम्बन्ध बनना चाहिए। यहाँ तो प्रगङ्गोपाय कर्म का अर्थ लक्ष्य ही न होत ही। 'मन' का अर्थ है-अज्ञान। और 'धर्म' का अर्थ है-धारक। तदवस्था के अनुगत हीनी विभागी का नहीं का निवृत्तता है कि जो तत्त्व का धर्म, का शान को मरिक् का मरिक् का। अतः ही स्वधर्म न ही धारण विर रहता है, स्व की धारण विर रहता है वही उन स्व' का अर्थना लक्ष्य है वही स्वधर्म है। धर्म की धारण ही ही धर्म। धर्म-स्वधर्मो अपेक्षा ले 'धर्म' बन रहे हैं। अथ ही ही धर्म (धारण) धारण विधि है। विभिन्न स्वधर्मो को

१	अभ्ययाः (मनः) अक्षर (प्राणः) अक्षर (वाक्)	-अक्षराक्षरार्मितोऽभ्यया-ईश्वरः (सत्त्वानुगत)-परधर्माक्रान्तः
२	अक्षर (प्राणः) अभ्ययाः (मनः) अक्षर (वाक्)	-अभ्ययाक्षरार्मितोऽक्षरः बीजः (रजोऽनुगत)-स्वधर्माक्रान्तः सर्वधर्मा- क्रान्तः
३	अक्षर (वाक्) अक्षर (प्राणः) अभ्ययाः (मनः)	-अभ्ययाक्षरार्मितः अक्षर-जगत् (तमोऽनुगत)-अधरधर्माक्रान्तः

२६-प्रसङ्गोपाय 'स्वधर्म', एवं उसके तीन विधर्षमात्र-

'स्वधर्म' शब्द की जहाँ उपस्थित हो गई। अतः प्रसङ्गोपाय इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनापेक्षक न माना जायगा। 'स्वधर्म' शब्द की व्याख्या करना कर आब अनेक प्रकार के विवेकात् सङ्गे हो रहे हैं। इन विवेकाओं का एकमात्र आधार है 'स्वधर्म' शब्द के वैज्ञानिक अर्थ का परिचयानामात्र। किसी की दृष्टिमें लय-दय-महिता-आत्मेयादि स्मात् स्वमान्य धर्म ही स्वधर्म है। किसी की दृष्टि में भेदात्प्रत्येकचित्त काय्य धर्म मरि, ज्ञान ही स्वधर्म है। किसी की दृष्टि में वर्णधर्म ही स्वधर्म है। इन सब विवेकाओं के परिहार के लिए 'स्वधर्म' निघर्त श्रेष्ठः परधर्मो मयाबद्ध इत्याम्बुदभूलक के शब्द-स्वधर्मो विद्युत्ः पर-धर्मात् स्वनुष्ठितात् इत्यादि कोऽनुगत योतामूलात्मन का ही आकलन करना चाहिए। यहाँ तो प्रसङ्गवत् इत्यत्र स्वधर्मोऽतमात्र ही पर्याप्त होगा। 'स्व' का अर्थ है-अपना। प्रीर 'धर्म' का अर्थ है-धारक। स्वधर्म्या के अनुसार दोनों धर्मों का यही अर्थ निकलता है कि, 'जो लय, जो दय, जो ज्ञान, जो मरि, जो बोल, अपने आपको स्वधर्म में धारण किए रहता है स्व की धारण किए रहता है वही उक्त 'स्व' का अपना धर्म है वही स्वधर्म है। ईश्वर-बीज-जगत्, तीनों ही अपने अपने स्वधर्मों को धारण करे हैं। यद्यपि तीनों का स्वधर्म- (स्व-धर्म-अपनात्म अपनात्म) परस्पर विभिन्न है। विभिन्न स्वधर्मों को

अध्वयगुरु ही एकत्वानुगत महामात्रा के समूह से किर में एक आत्मत्व है। अध्वयगिरिक त्रिगुणाक्षर जो योग्यात्मनस्य से अनेक ही सिद्ध हो रहे हैं। अतएव अनन्ताक्षरानुगत अक्षरमूत्र बीजवर्ग के लिए 'अक्षरी-नानास्वात्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। अक्षरी ही एक होता है। अक्षर ज्ञा अनेक होते हैं। बीज ईश्वर का अक्षर है, एतावता ही बीजनातात्व सिद्ध है। प्रत्येक बीज का अपना आत्मा अक्षर है, प्रत्येक अक्षर गुण-मेय से विभिन्न है। क्लृप्तः प्रत्येक बीज के स्व-धम्म (अक्षरधम्म) का विभिन्नत्व सिद्ध हो रहा है। किन्तु बीज, उनके उलने ही धम्म। जो बीज अक्षरानुगत उल्लस्य उदक्षर-गुणानुगत ही धम्म एवं वही उल बीज का 'स्वधम्म' है। इस स्वधम्मविरिक्त कथनात् धम्म परधम्म-अधम्म-विधम्मदि में से अर्थ ली भी धम्म। इस दृष्टि से एक बीजविरिक्त अन्य कथनात् बीजों के धम्म इस बीज के लिए परधम्म अगधम्म भी परधम्म और ईश्वरधम्म भी परधम्म। इन परधम्मों में से जो धम्म बीजस्वरूप के विनाशक है, वे इसके लिए अधम्म'। एवं किन परधम्मों से इस एक बीज के स्वधम्म का स्वधम्म निकल हो बाव ने विकल धम्म' इसके लिए विधम्म'।

३२-प्रकृतिसिद्ध स्वधम्म-परधम्म-मात्रों की स्वरूपव्यवस्था—

परधम्मों में से किन्तु एक धम्म' ऐसे भी हैं, किन्तु बीजवर्ग का विकल भी सम्यक् है। वे उपावेश परधम्म' भी स्वधम्मोपाकारक अनेक हुए स्वधम्मकोटि में ही प्रविष्ट माने जायेंगे। निष्कर्ष यह निकला कि- ईश्वरधम्म' क्योंकि स्वधम्म'लक्षण है। अतएव बीजानुगत, तथा अध्वयगुगत स्वधम्म' धम्म' इसके लिए स्वधम्म' ही बन रहे हैं। यह केवल स्वधम्म'लक्षणी है। अतएव उल्लस्य धम्म-परधम्म-अधम्मविरिक्त स्व धम्मों में रहता हुआ भी स्वधम्म'विरिक्त है। बीजधम्म' क्योंकि निवतगुण-धम्म'ानुगत निपटा-क्षयानुगामी है। अतएव बीजधम्म' के लिए ईश्वरधम्म' तथा अगधम्म' साथ ही स्थापित कथनात् अन्य बीजधम्म' परधम्म ही बन रहे हैं। वही अधस्ता निवतगुण-धम्म'ानुगत निवत अक्षरानुगामी अगधम्म' की है। अक्षरानुगत अक्षर का स्वधम्म' है निम्न स्थान में प्रबोधित होना अक्षरानुगत धम्मि का स्वधम्म' है-अध्वयगुय की अक्षर धाना। आप धम्मि का स्वधम्म' है शीव अक्षर का स्वधम्म' है। अक्षर में धम्मोय आप का उपावेश हुआ। इच्छा धर्म हुआ अक्षर के स्वधम्म'भूत शीव में धम्मि के स्वधम्म'भूत आप का उपावेश होना। क्लीय स्वधम्म (शीव) की दृष्टि से उपावेशित यह धम्मोय धम्म उस शीव धम्मोय तो केवल 'परधम्म' ही माना जायगा किन्तु शीव धम्मोय इच्छे अक्षरस्वरूप की क्षति नहीं होती। आप ने अक्षर के शीव पर धम्मोय अक्षर का दिया अक्षरस्वरूप के लिए मन् उपरिष्ठ कर दिया इसी आधार पर 'परधम्मो' मध्यस्थ' सिद्धान्त में धम्म सिद्ध। यदि प्रह्व आप ने अक्षर को बीज अक्षर धारण कर लिया, तो अक्षरधम्म के विकल भावा हुआ वही धम्मोय आपधम्म' अक्षर के लिए 'विधम्म' (विधम्म-धम्म) बन गया। यदि अक्षरधम्मोय प्रह्व आपधम्म' ने अक्षर को धम्मधम्म में परिणत कर उल्लस्य स्वधम्म ही उच्छिन्न कर दिया, तो इस धम्मोय में मे अधक्षर वही धम्मोय आपधम्म' अक्षर के लिए 'अधम्म' बन गया। परधम्म' मध्ये ही स्वधम्म' मन् न हो। परन्तु अपने मायी विधम्म'-अधम्म' स्वधम्मों से यह मयावह (मन् का आधान करने वाला) अधक्षर ही है। उपावेशमात्र है। कथनात् अक्षरानुगत-अगधम्म' तथा बीजधम्मों के समूह में वही स्वधम्मोय धम्मोय है।

३३-स्फोट-स्वर-वर्ण-निबन्धना पञ्चधर्मसृष्टि—

ईश्वरानुगत स्वभाव 'आत्म्य' प्रधान है, यही शब्दमध्याद्या 'अस्फुरत्स्फोट' कहलाया है। बीजानु-
गत स्व-भाव 'अक्षर' प्रधान है, यही 'स्फोटोऽक्षरम्' इस प्राटिशास्य सिद्धान्तानुसार 'स्वर' कहलाया है। बग-
नुगत स्वभाव 'आत्मक्षर' प्रधान है जो विघ्नरक्षर से नित्य संश्लिष्ट है। आत्मक्षर 'वर्ण' कहलाया है, विघ्नर-
क्षर 'व्यञ्जन' कहलाया है। विघ्नरक्षरगमित आत्मक्षर 'वर्णसृष्टि' का प्रवर्तक बनता है, आत्मक्षरगमित
विघ्नरक्षर अक्षरसृष्टि का प्रवर्तक बनता है। दोनों सृष्टियों का निमित्त बनता है अक्षर, जिसके वर्णानुगत
स्वरविषय के 'अ-इ-उ-ऋ-ऌ' ये पाँच विषय मारने गए हैं। इन पाँचों स्वरों में से 'अ-इ-उ' तीनों
विशुद्ध स्वर हैं, व्यञ्जन (मार्ग) धर्म से आत्मवृत्तिकरूप से विमुक्त हैं अक्षरानुगत से अक्षरानुगत हैं। 'ऋ'
स्वर 'ल' की अपेक्षा अक्षर किन्तु स्वरवही की अपेक्षा उन्नत बनता हुआ उन्नत है। 'ऌ' स्वर
दन्तस्थान से संश्लिष्ट बन कर आत्मवृत्तिकरूप से उन्नत है। आत्मक्षरानुगत इन पाँचों स्वरविषयों के इस
दृष्टि से 'अ-इ-उ-ऋ-ऌ' ये तीन विभाग होजाते हैं। प्रथम विभाग व्यञ्जनाव्यसृष्ट स्वरप्रधान बनता
हुआ अक्षरप्रधान है। द्वितीय विभाग व्यञ्जनगमित वर्णप्रधान बनता हुआ आत्मक्षरप्रधान है। तृतीय विभाग
व्यञ्जनगमित व्यञ्जनप्रधान बनता हुआ विघ्नरक्षरप्रधान है। इस दृष्टि से अक्षरानुगत बीजविषय तथा आत्म-
क्षरसंश्लिष्ट विघ्नरक्षरानुगत बगद्विषय, दोनों के पाँच पाँच मुख्य विषय होजाते हैं। बीजसृष्टि का भी प्रत्येक
प्राणी पाँच मार्गों में विभक्त है बगद्विषय का भी प्रत्येक भूत पाँच ही मार्गों में विभक्त है। अनन्तविषय
दोनों का, तथा अनन्तविषय भूतों का इन पाँचों में ही अनन्तमात्र होजाता है। अतः दोनों विभागों का (बीज-
नुगत बीजधर्म, बगद्विषय बगद्विधर्म दोनों का) पाँच-पाँच धर्मों में ही अनन्तमात्र होजाता है।

३४-ब्रह्मवर्णधर्मस्वरूप की व्यवस्थिति—

स्वरप्रधान अक्षर अनिच्छित ब्रह्मक्षर से संश्लिष्ट बनता हुआ 'ब्रह्मक्षर' है यही ब्रह्मवर्ण है, यही
बीजभूतानुगत ब्रह्मक्षर की मूलप्रतिष्ठा बनता है उन्नत स्व-धर्म ही 'ब्रह्मवर्णधर्म' है। स्वरप्रधान 'उकार'
किरबेदेवत्वसृष्ट विषयक्षर से संश्लिष्ट बनता हुआ 'ब्रह्मक्षर' है यही ब्रह्मवर्ण की प्रतिष्ठा बनता है उन्नत स्व-
धर्म ही 'ब्रह्मवर्णधर्म' है। स्वरप्रधान 'उकार' नाम्यात्मक मरुत्तानिन्दितहृत् इन्द्राक्षर से संश्लिष्ट बनता हुआ
'ब्रह्मक्षर' है, यही ब्रह्मवर्ण है यही बीज-भूतानुगत ब्रह्मवर्ण की प्रतिष्ठा बनता है, उन्नत स्व-धर्म ही
'ब्रह्मवर्णधर्म' है। 'ब्रह्म-वि-ब्रह्म' तीनों में सृष्टिक्रम ठा 'ब्रह्म-वृत्-वि' यह है किन्तु त्रिपतिक्रम
'ब्रह्म-वि-ब्रह्म' है। 'अ-इ-उ' रूप से इस त्रिपतिक्रम का ही समर्थन होजाता है। इस अक्षर ब्रह्म है, उन्नत
अक्षर ब्रह्म है मध्य में वि' है। ब्रह्मवर्णधर्म(ब्रह्म)धर्मरूप रक्षक बनता हुआ धर्मानु है, ब्रह्मवर्णधर्म(ब्रह्म)धर्मरूप
रक्षक बनता हुआ 'धर्मानु' है दोनों से सुरक्षित मध्यस्थ शरीररूप वि' सुगुण (सुरक्षित) यथा हुआ 'गुण' है।
व्यञ्जनगमित ब्रह्मप्रधान 'ऋ' पृथाप्रमाणिक वर्णानुगत विषय भूमागने संश्लिष्ट बनता हुआ 'तच्छ्रु' (सुरक्षित
गुण) यथा है यही 'तच्छ्रु' धर्मधर्म' है। वर्णगमित व्यञ्जनप्रधान, अक्षर अक्षरानुगत लक्ष्य अक्षरानुगत-
विषयनुगत आशुत्र भूमागने धर्मगण से संश्लिष्ट बनता हुआ 'अक्षर' यथा है यही अक्षरानुगत-अक्षरानुगत (अक्षरानु-
गत) है यही बीजभूतानुगत अक्षरानुगत की प्रतिष्ठा बनता है उन्नत स्व-धर्म ही 'अक्षरानुधर्मधर्म' है।

३५-स्वधर्मात्तुगत सामान्य-विशेषभाव-

इस प्रकार स्रोतस्थानीय धर्मग्रन्थालम्बन पर प्रविष्टित स्वरस्थानीय गुणात्मक अक्षर, कर्वास्थानीय धर्मग्रन्थ अक्षरमण्डल, धर्मग्रन्थस्थानीय अक्षर्यात्मक-भूतमय-विकाररूप, इन तीन विधियों से अक्षर-अक्षरमुक्त धर्म-अक्षरविधियों के द्विधाति लब्ध अक्षररूप, ये तीन विधित हा जाते हैं । आद्य-अक्षर-वैरव, तीनों द्विधातिधर्म, लब्धकर्वा पाठे कर्वात्मक धर्म एवं भूत हैं । अक्षर-अन्वाक्यापी-दस्तु-मोक्ष, पार अक्षर-अक्षररूप हैं । प्रत्येक धर्म की, प्रत्येक अक्षर की मूलप्रतिष्ठा उसका 'त्व-धर्म' ही है जो अक्षर-अक्षरि मेद से परस्पर लक्षणा विभिन्न है । ताप ही प्रत्येक कर्वा तथा अक्षर के स्वधर्म की अपेक्षा धर्म अन्वाक्या कर्वा-अक्षरों के स्वधर्म पूर्वपरिष्ठातुनार परधर्म-विधर्म-अधर्म ही बन रहे हैं । बही प्राकृतिक-अन्वयिष्ठ-गुणधर्मात्तुगत कर्वाकर्वात्मक स्वधर्म का संक्षिप्त इतिहास है, किन्तु गीतामूढिष्य-धर्मयोगपरीक्षा-लक्ष्मिण्य में विस्तार से निरलेपण हुआ है । धर्मो बाहर स्वीत्य-अक्षर-अक्षर-अक्षर-अक्षर-अक्षर-अक्षरि विष्णु-धर्मों से इस स्वधर्म के अक्षररूप अनेक मेद हो जाते हैं । पूर्व पूर्व धर्म सामान्य अक्षररूप हैं उतर उतर धर्म क्रिये अक्षररूप हैं । क्रिये स्वधर्म क्रियेधर्मों के संरक्षक हैं, सामान्य धर्म सामान्यधर्मों के संरक्षक हैं । दोनों में अर्थ उपरिष्ठा होने पर क्रियेधर्म प्रथम बन जाते हैं सामान्य धर्म स्वधर्म हो जाता है । क्योंकि सामान्यधर्मन की अपेक्षा क्रियेधर्मरूप स्वधर्मरूप में क्रियेधर्म से प्रधान माना गया है ।

उदाहरण के लिए यों स्पष्ट कीजिए कि, लक्ष्मण्य, अहिंसा आदि मनुष्यसामान्य के स्वधर्म हैं । जब ही विभिन्न राष्ट्रों के देश-अक्षर-शिक्षा-उद्योग-उद्योग-आचार-आदि में से लक्ष्मण्य रखने वाला राष्ट्रधर्म प्रत्येक देश का राष्ट्रीय धर्म (स्वधर्म) विभिन्न है । बही विभिन्न राष्ट्रीय स्वधर्म प्रत्येक राष्ट्र का अपना प्राकृतिक क्रिये-स्वधर्म है । यदि कोई राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र-गुणधर्म राष्ट्र पर आक्रमण करता है उतकी भी का अपहरण करना चाहता है, तो उत देश में लक्ष्मण्य-अहिंस्य लक्ष्मण्य स्वधर्मों की अपेक्षा कर उत राष्ट्र को अपने क्रिये राष्ट्रीय स्वधर्म की आठवारी के आक्रमण से बचना पहिना, एवं प्रधान कर्तव्य होगा । अक्षर जाने पर परिचयि के अनुसर इस क्रियेधर्मप्रधान, अक्षर्य प्राकृतिक स्वरूपभूत लक्ष्मण्य की रक्षा में इसे अक्षर-अहिंस्य-आदि का भी अनुगमन करना पड़ेगा । बहीनापल करके भी स्वधर्मधर्म की रक्षा करना इतका कर्तव्य होगा । और 'स्वधर्म' निधन होय, परधर्मों प्रथम' की बहिर्धर्म करना पड़ेगा । मान कीजिए उत राष्ट्र में कर्वाका भी निवास करती है किन्तु अक्षर-अक्षर-वैरव धर्मवि स्वधर्म राष्ट्रधर्म की अपेक्षा क्रियेधर्म को हुए हैं, एवं इन क्रियेधर्मों की अपेक्षा राष्ट्रीय धर्म एक सामान्यधर्म । धर्मों से राष्ट्रधर्मधर्मों में यदि इन कर्वाधर्मों पर आक्रमण कर दिया तो पहिले इनकी रक्षा करना अनिवार्य होगा । स्मरण रहिये, व्यक्ति-धर्म ही कुटुम्बधर्म की, कुटुम्बधर्म ही जातिधर्म की व्यक्तिधर्म ही देशधर्म की, एवं देशधर्म ही राष्ट्रधर्म की मूलप्रतिष्ठा करता है । व्यक्ति के गुणों का ही परम्परा राष्ट्रीय गुणरूप में विगत होता है । व्यक्तिधर्म ही परम्परा राष्ट्रधर्म की मूलप्रतिष्ठा है । क्रियेधर्म ही सामान्यधर्म का रक्षक है । बही कारण है कि, किन राष्ट्र का व्यक्तिधर्म नुसरिष्ठा होता है बही राष्ट्र नु-धर्म बनता है । ठीक इसके विरुद्ध किन राष्ट्र की व्यक्तिधर्म अपरिष्ठा करती है उत राष्ट्र का भी राष्ट्र की कैसी अपेक्षा प्रथम के

आन्दोलनों का क्षेत्र महत्त्व नहीं रह जाता, बिल्का प्रत्यक्ष प्रमाण हमारा वह वर्तमान राष्ट्रीय आन्दोलन है, बिन्दुने व्यक्तिविकासमूलक आत्मसंशुद्धि की, समाजविकासमूलक वर्गसंशुद्धिरूप विशेषधर्मों की न केवल उपस्था ही कर रखी है, अपितु प्रत्यक्षरूप से आक्रमण करते हुए अपने आपको निस्तृत बना लिया है। निम्नधर्म-विशेषधर्मों का प्रधान रहता है, एवं सामान्य धर्म इसकी तुलना में छाया गौण बना रहता है। विश्वधर्म विश्व के लिए स्वधर्म है, राष्ट्रीय धर्म राष्ट्रधर्म के लिए स्वधर्म है, देशधर्म देश का, जातिधर्म जाति का, समाजधर्म समाज का, कुटुम्बधर्म कुटुम्ब का, एवं व्यक्तिधर्म व्यक्ति का स्वधर्म है। एवं पूर्व स्वधर्म उत्तरीतर के स्वधर्मों की अपेक्षा सामान्य बनते हुए गैरलोकित में प्रविष्ट हैं। एवं उत्तर उत्तर स्वधर्म पूर्व पूर्व के स्वधर्मों की अपेक्षा विशेष बनते हुए प्रधानलोकित में निविष्ट हैं।

३६-स्वधर्मनिर्गम स्वतन्त्र्य, एवं परधर्मनिर्गम पारसन्ध्य—

'स्व' का प्रधान अर्थ है—'आत्मा', बिल्का व्यक्ति से सम्बन्ध है। आत्मतन्त्रत्वक व्यक्तित्व ही स्व-तन्त्र है। इसकी रक्षा-विकास से ही आगे के सामान्य-परतन्त्र स्व-तन्त्र में मुक्त रहते हैं। जब हम ही स्व-तन्त्र में प्रतिष्ठित नहीं, तो अन्य तन्त्र जैसे हमारे तन्त्र बन लगे, एवं उस दशा में उन परधर्मों का हम जैसे स्वधर्म बना लगे? यह उन्हीं स्वतन्त्रताप्रेमियों से पूछना चाहिए, जो स्वतन्त्रतामूलक स्वधर्म का तात्त्विक स्वरूप न जान कर व्यक्तित्व की उपेक्षा कर अपना, और अपने साथ राष्ट्र का भी सर्वस्व नष्ट करने के मनीष्य प्रयास में लगे हैं। निम्न लिखित परिणामों से निरूपित स्वधर्मों के स्वरूपों का मशीनीति स्पष्टीकरण हो रहा है।

अखण्डस्फोटरूपात्म्यपाधारण-अक्षरानुगतगुण, -अक्षरानुगतधर्मभ्यां समुत्पन्ना
 वर्णवर्णसृष्टि, तदनुगता स्वधर्मवर्ण
 चतुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुण-धर्मविभागश्च ।
 तस्य कर्तारमपि मां विद्वयकर्तारमव्ययम् ॥

१- (अव्ययानुगत) — अखण्डस्फोट — सार्वभौमिक — वर्णवर्णसृष्टेरालम्बनम् (१)

२- (अक्षरानुगताः)	स्वरा	संज्ञा	} — वर्णसृष्टिः प्रतिष्ठामूमिः (२)	
३- (आत्मक्षरानुगताः)	वर्णा	परिभाषा		
४- (विकारसुखानुगतानि)	व्यञ्जनानि	भौमानि		— अवर्णसृष्टिः प्रतिष्ठामूमिः (३)

- (1) 'अ' अक्षर-ब्रह्मानुगताऽग्निः-----तदनुगतं ब्रह्म }
 (2) 'इ' अक्षर-विश्वानुगता विश्ववेद्या-----तदनुगतो विश्व } -- ब्रह्मप्रधाना ब्रह्मसृष्टिः (1)
 (3) 'उ' अक्षर-इन्द्रानुगत-इन्द्रा-----तदनुगतं इन्द्रम् }
 (4) 'ए' अक्षर-दिव्यमृतम्-----तदनुगतं मन्त्रम् }-दिव्यमृतमन्त्रमन्त्रप्रधाना ब्रह्म-
 सृष्टिः (2)
 (5) 'ओ' अक्षर-आधुनमृतम्-----तदनुगत-असंख्यम् }-आधुनमन्त्रमन्त्रविश्वप्रधाना
 ब्रह्मसृष्टिः (3)



1	ब्रह्मण (अ)-ब्रह्म-अग्निः-----तदनुगतो ब्रह्म-ब्राह्मणवातेः स्वब्रह्मः			
2	1-अग्नि (उ)-इन्द्र-मन्त्रवान्	"	-अग्निब्रह्म	-विश्वकर्मः } -ब्रह्मसृष्टि
	2-वेदवः (इ)-विष्णुः-इन्द्र	"	-वेदब्रह्म	
	3-मन्त्रम् (ए)-अग्नि-मृगा	"	-मन्त्रब्रह्म	
3	4-अन्ववाहः (उ)-सोम-मृतम्	"	-अन्ववाहो	-ब्रह्मसृष्टिः } -ब्रह्मसृष्टि
	5-अन्ववाहो (उ)-सोम-मृतम्	"	-अन्ववाहो	
	6-इन्द्र (उ)-सोम-मृतम्	"	-इन्द्रब्रह्म	
	7-सोमः (उ)-सोम-मृतम्	"	-सोमब्रह्म	

३७-मत्स्य ब्रह्म-माहात्मिका श्रीवसंस्था-

महामाया की लक्ष्मीवर्ति के कारण देवता को स्वब्रह्मसृष्टि करता है। यही ब्रह्म देवता सृष्टि है। ब्रह्मण स्वयं ब्रह्म ही ब्रह्म, दोनों ब्रह्मसृष्टि ही 'पूर्वतः पूर्वमनुगच्छते' मित्रानुगच्छते पूर्व ही है। तथापि ह्य पूर्वतः का पूर्व विद्यमान ब्रह्मसृष्टि ही ही ब्रह्म है। कारण पूर्व में ब्रह्म-माया का प्रकाश है। जो मन्त्रमन्त्र ही है। उन्ही दोनों ब्रह्म के ब्रह्म ही पूर्व ब्रह्मण देवता है। विष्णु-ब्रह्मण ही ब्रह्म मन्त्रमन्त्र है। ब्रह्म का ब्रह्मण स्वयं ब्रह्मण देवता है। ब्रह्मण देवता ब्रह्मण ब्रह्मण-ब्रह्मण देवता ब्रह्मण ही का भी ब्रह्मण देवता है। एवं ब्रह्मण ब्रह्मण ब्रह्मण ब्रह्मण ही का भी ब्रह्मण देवता है। ब्रह्मण के ब्रह्मण ब्रह्मण-ब्रह्मण में ब्रह्मण ब्रह्मण देवता है कि, जो ब्रह्मण ब्रह्मण-

विभाग ईश्वरानुगत है, उन सबका बीच में भी समन्वय है। इस पूर्णता-सम्पत्ति का प्रधान साधन है विज्ञाना-
भ्या नामक बुद्धितत्त्व। मध्यस्थ, अतएव अक्षरानुगत स्वयं से प्रभूत बुद्धितत्त्व भी मध्य में प्रतिष्ठित है।
इसने ऊर्ध्वभाग में अस्मकतर्गमित महानामनुगत अक्षरानुगत ईश्वरतत्त्व प्रतिष्ठित है, एवं अधोभाग में
प्रधानतर्गमित भूतसमानुगत मर्त्यतत्त्व अक्षरानुगत प्रतिष्ठित है। मध्यस्थ अक्षरानुगत बीचतत्त्व मध्यस्था बुद्धि
से सुक्त रहता हुआ दोनों सत्त्वों से अनुपहृत होया है। बुद्धिगत अमृतसम्पत्ति से अस्मकानुगत ईश्वरभाव
का, बुद्धिगत मर्त्यसम्पत्ति से अक्षरानुगत अस्मकभाव का इस उन्मत्तात्मिका बीचसंस्था में समावेश हो रहा है।

३८-मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-सर्ग, और बुद्धितारतम्य—

उक्त विवेचन से एक निष्कर्ष और निकल आया। बिन बीजों में बुद्धि का विकास रहगा, उनमें ही
एक उन्मत्तविषय पूर्णतः का विकास रहेगा। कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य, इन पञ्चविध-रजोविशाल-आध्यात्मिक बीच वर्गों
में बुद्धिविकास तारतम्य से प्रतिष्ठित है। कृमिबीजों में बुद्धितत्त्व प्रधानतः से सर्वथा अमिश्रित है। इनकी
उपेक्षा कीटबीजों में शोका विकास है, तदपेक्षया पक्षीबीजों में उपेक्षया पशुबीजों में बुद्धि उत्तरोत्तर अविष्कामात्रा में
विकसित है। इस क्रमिक विकास का पूर्ण विमाम मनुष्यबीज पर हो रहा है। अतएव बीचसर्गोत्तम में पुरुषविषय
बीज ही बुद्धिमान् माना गया है। बुद्धिगत चिदंश का विकसित रहता ही बुद्धि का विकास है। चिदंश उस
पुरुषात्मा (अध्यात्म) का अंश है, जो 'यो बुद्धे परतस्तु सा' सिद्धान्तानुसार बुद्धि से पर प्रतिष्ठित है। बुद्धि से
परे अस्मकतर्गमित पारमेष्ठ्य महानात्मा प्रतिष्ठित है। सर्वव्यापक, अस्मकप्रधान चिदात्मा (ईश्वर) का इस
अस्मकतर्गमित बीच महानात्मा पर ही अक्षरप्रधान प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित होता है, जैसा कि 'मम योनिर्महद्
ब्रह्म तस्मिन् गर्भे ब्रह्मन्महद्म्' इत्यादि गीतायज्ञान्त से प्रमाणित है। महद्गर्भित चिदात्मा ही 'प्रत्यगात्मा'
करलाभा है यही अस्मकप्रधान पुत्रपारमा है, यही आप्यारम्भक ईश्वरपारमा है। सर्वप्रथम इसके चिदमात्र का
अनुपम बुद्धि पर होता है। कर्मी-बुद्धि, मन, भूतत्मा, आदि स्वरूपात्माओं में बुद्धि ही उसके लक्ष्यक है।
बुद्धिवाचक विज्ञानात्मा के अमृतविज्ञानात्मा, मर्त्यविज्ञानात्मा, वे दो विषय हो जाते हैं। अमृतविज्ञान
विद्याबुद्धि नाम से, मर्त्यविज्ञान अविद्याबुद्धि नाम से व्यपद्यत हुआ है जैसा कि अनुपम में ही स्पष्ट होने
जाता है। इस बुद्धि से अमृतसम्पत्तिगत विद्याप्रधान विज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि) मर्त्यसम्पत्तिगत अविद्याप्रधान
विज्ञानात्मा (अविद्याबुद्धि), चान्द्र प्रधानात्मा पार्थिव भूतत्मा, सौम्य अध्यात्मा, वे पाँच स्वरूपात्मा हो जाते
हैं। अध्यात्मतत्त्वा में ईश्वरीय गुणत्वा बीच गुणत्मा, अध्यात्मत्वा महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रधानात्मा, सूक्ष्मात्मा,
अध्यात्मा बिन इन आठ पर्वों का पूर्व में अनेकधा स्वरूपविरलेपण हुआ है उन आठों में से पाँचवाँ
विज्ञानात्मा उन्मत्तविषय का रहा है। कलतः ८ के १ आत्मपर्व हो जाते हैं। इन १ आत्मपर्वों में से आरम्भ
के चार आत्मपर्वों का ही अध्यात्मप्रधान ईश्वरतत्त्वविकसित में मोला हो रहा है। शेष रह जाते हैं पाँच आत्मपर्व।
इन पाँचों का क्रम मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, कृमि, इन पाँच बीचवर्गों में प्रापण्य रहता है। जिसका अर्थ
यह होता है कि विद्याबुद्धिस्व अमृतविज्ञानात्माप्रधान मनुष्य में खीर जैतन्य तदपेक्षया अधिक है। अतएव यह
धीमा लड़ा रहता है। अविद्याबुद्धिस्व मर्त्यविज्ञानात्माप्रधान पशुवर्ग में मनुष्यपेक्षया खीर जैतन्य कम है।
तदपेक्षया प्रधानप्रधान पक्षी में, तदपेक्षया भूतप्रधान कीट में एवं तदपेक्षया अध्यात्मप्रधान कृमि में खीर
जैतन्य अध्यात्मा से प्रकृत है। स्वप्नोपलब्धिता एव बुद्धि का स्थान है, पृथिवी माता है। इस धाराबुद्धिस्व
रह से ही बीचवर्ग प्रकृत हुआ है। धाराबुद्धिस्व रह के व्यवस्थ से ही बीचवर्ग पाँच मार्गों में विकसित हो रहा

है। किन्तु भीमों में शौरत स्वस्वदित्यस्यमात्रा में प्रविष्ट है। पार्ष्णिबल का ही किन्तमें प्राधान्य है। विद्वान्माया में शौम आन्वयमा ही किन्तमें प्रधान है, पार्ष्णिबलप्रधान के ही बीच 'हृदि' कहलाए हैं। क्योंकि इनमें पार्ष्णिबल का ही प्राधान्य है। अतएव वे भूलत को नहीं छोड़ सकते। दुष्टिणी पर रेंग रेंग कर ही इनकी शौचनवाचा का निर्वाह होता है। यही प्रथम बीजवर्ण है। शौर तत्त्व कुछ अधिक मात्रा में आद्य, पक्षस्वरूप पार्ष्णिबल कर्णक अंशक शिथिल हुआ। यही विद्वान्माया में पार्ष्णिब भूतलप्रधान 'की' नामक बीज कहलाए है। शौर रक्षाभिन्व से ही इनमें भूलत को छोड़ कर उड़ने की भी शक्ति का उभावैद्य हुआ। शौर अधिक शौर तत्त्व का आम्पन हुआ। इसमें आम्न प्रदानानुगत पक्षी नामक बीजवर्ण का विद्यत हुआ। प्रदान-विवात के उम्पक से ही इस बीजवर्ण में प्रदानानुगत-प्रेमिद्वन्द्व-आहार-निद्रा-मय-मैयुन-शम्भों का स्वस्व से विद्यत हुआ। आगे चल कर शौर पार्ष्णिब रणों का उम्पुत्तन हुआ। किन्तु ही शौर रत्न, उतना ही पार्ष्णिब रत्न। पक्षक शिष्टेमाग और पुच्छमाग, दोनों उम्पुत्तित हो गए। वे ही मर्त्यशौरविद्वान्मायाप्रधान 'पयु' नामक बीज कहलाए। अब आगे चल कर शौर रत्न तो प्रकृत हुआ और पार्ष्णिब रत्न क्षिप्यु बना। यही अमृतशौरविद्वान्मायाप्रधान 'मनुष्य' नामक बीज कहलाए। क्योंकि इसमें शौर रत्न पार्ष्णिब रत्नपेक्षया अधिक मात्रा में प्रविष्ट हुआ। अतएव पराकर्णक मस्तक-पुच्छ भागों से उम्पुत्तित म रह कर यह शौरमायानुगत मस्तक भाग से लड़ा ही गया। शौरप्रे-बीजवर्ण का उपकमस्थान स्वर्ण है जो स्वर्ण मन्मथ्य बना हुआ मन्मथ्य आक्षर से अनुपदीत है। अमृतमयक शौर रत्न, मर्त्यशौर रत्न, आम्न रक्षकशिरःपट शौर रत्न, पार्ष्णिबलरक्षकशिरःपट शौर रत्न, एवं शौम भूत-शिरःपट शौर रत्न, मेरु से इनकी पाँच आकरमा हो गईं। इन पाँचों से ही अमरा उक्त पाँच बीजवर्णों का विवात हुआ। इसी आचार पर-**'नूनं जनां सूर्येण प्रसूता'**-**'प्रण'** प्रजानामुद्भवस्येव सूर्यः'-**'सूय'** आत्मा जगत्प्रस्तस्युपाद्य' इत्यादि त्रैगुणिक किञ्चित् उवाचिष्ट हुए।

- १ १-ईश्वरत्वगूढेयमा (कर्णम्पारकः)
- २ २-त्रैदगूढना (शरीरपरिधिन्व)
- ३ ३-अम्पुत्तमा (लावन्मुषः)
- ४ ४-महानात्मा (पारमेष्ठ्या)

—अम्पुत्तप्रधानः—ईश्वरत्वात्

- ५ ५-अमृतविद्वानात्मा (शौरः)]-(मनुष्या)
- ६ ६-मर्त्यविद्वानात्मा (शौरः)]-(पयु)
- ७ ७-शकनामा (आम्न)]-(पक्षी)
- ८ ८-भूतनामा (पार्ष्णिब)]-(कीटः)
- ९ ९-शौचनामा (शौम)]-(हृदि)

—अम्पुत्तप्रधानः—बीजवर्णः

१-मूर्ध्नि

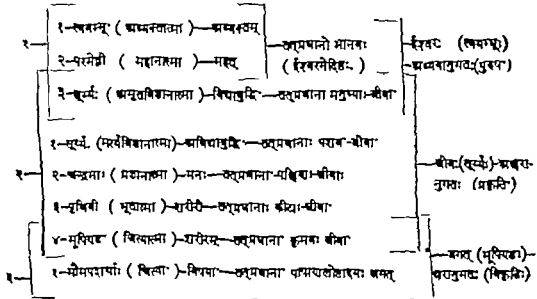
—]—उपधानं—अम्



१-अमृतविज्ञानात्मप्रधाना	बीजा-शरीररूपप्रधानाः	-विद्यायुक्ति	-मनुष्याः
२-मर्त्यविज्ञानात्मप्रधाना	बीजा-शरीरपार्थिवरसमद्रुशित्वा	-मुक्तिमन्त्र	-पराब
३-प्रधानात्मप्रधाना	बीजा-शरीररुग्णमित्तचन्द्ररुग्ण	-प्रज्ञेयबीजिन	-पक्षिणः
४-भूतात्मप्रधाना	बीजा-शरीररुग्णमित्तपार्थिवर	-अक्षयपण्याः	-श्रीटाः
५-अम्बतमप्रधाना	बीजा-शरीररुग्णमित्तमौमरस	-शरीररूपण्याः	-ह्रस्वः



प्रकारान्तरस्य समन्वयः—



३६-गुरुपार्थी मानव, एवं मोगार्थी बीव-

उक्त समन्वय-परिच्छेद को लक्ष्य बना कर प्रकृत विषय का समन्वय कीजिए । परिच्छेद में पाठक देखेंगे कि, पञ्चविध बीजतन्त्रों में से बुद्धि का पूर्ण विद्यमान भी अमृतविज्ञानात्मप्रधान मनुष्यविषय ही है।

में ही है, साथ ही विद्वत्प्रज्ञा—पुरुष (ईश्वर) के निकटतम मी पौषों में मनुष्य ही है। इसी आधार पर कृति का—'पुरुषो (मानवो) वे प्रजापतेर्नेविष्टम्' यह विश्रान्त स्थापित हुआ है। इसी निकटतम सम्बन्ध के कारण अक्षररूप प्रकृतितत्व को अपनी मूलप्रतिष्ठा रखता हुआ भी मनुष्य अक्षररूप प्रकृतिसम्बन्धी-रूपति से 'पुरुष' नाम से संबोधित होने लगा है। पुरुष (मनुष्य) के अतिरिक्त शेर पर्यादि चारों वर्ग विशुद्ध प्राकृतिक जीव हैं। प्रकृति ही इनका सम्भालन करती है। वे स्वतन्त्र पुरुषार्थ करने में अक्षम हैं। पुरुष (अक्षर) गत पौरुष (कृति) ही पुरुषार्थ करता है। प्रकृतितत्व-साधन्य से वे प्राकृत जीव पुरुषार्थ नहीं कर सकते। इन्हें प्रकृति किस जीवनधारा में प्रवाहित रखती है, उठी धोर इन्हें प्रवाहित रहना पड़ता है। पुरुष (मनुष्य) विश्वसृष्टि के अनुग्रह से, साथ ही पुरुष (अक्षर) सम्मिलित से पुरुषार्थशास्त्री बनता हुआ स्वयमेतदपान्थेय में समर्थ हो जाता है। पुरुष (मनुष्य) ही पुरुषार्थ (अक्षरार्थ) सम्पादन कर सकता है। पर्यादि जीव पुरुषार्थसाधन में अक्षम रहते हुए केवल 'मोक्षजीव' ही माने गए हैं।

४०—प्राकृत-मोक्षार्थी जीवों की प्राकृत-सम्मिलित-

उक्त विवेचन ने बड़ी आकर स्वर्ग की परिभाषा अंशतः करवा डाली। जीव का 'स्व भाव (आत्मा) अक्षररूपान है। अक्षर प्रकृति है। प्रकृतिभर्म ही जीव का 'स्वभर्म' है। एवं अक्षररूपत जीव-रूपों की अपेक्षा से 'स्वभर्म' का अर्थ जीवभर्म ही माना जाय। क्योंकि अक्षररूपत ईश्वरभर्म तथा अक्षररूपत स्वभर्म' दोनों इस अक्षररूपमिथ्या 'परभर्म' ही बन रहे हैं। शरत्पौष के अक्षर ही जीव, न कि ईश्वर, और अक्षर। अक्षर 'स्वभर्म' निर्धर्म भेष्य ब्रह्म में पठित 'स्वभर्म' का अर्थ निष्कर्म है एकनाम-अक्षर-भर्म', प्रकृतिभर्म'। शुक्राश्रित के मितुनक्य में भर्म'भोक्त-भोपातिक जीवता प्रथि ही कर नवमाद्यनस्तर भूमिज बनता है कम होता है। प्रत्यक्षत इतने इन्द्रियां रहती हैं। अक्षर स्वभर्म इन्द्रियसाधारण-अक्षर दर्शन बन, इतने इतपत्सम्भालनादि इतके प्राकृतिक भर्म' करते हैं। मनुष्योत्कर्ष, कुमुधा विपाद्य निरा उन्ना मय, केव अक्षरत्व आदि मी इसी प्रकृतिसम्बन्ध में प्रथि है। समय पाकर वह कम होता है। मातृकम्ब होने पर शुक्र-शोषित (इति में शुक्र, एवं भेष्य में शोषित) का वेग प्रवृत्त होता है। 'आत्मा मे स्यात् अमना से सम्भ्रमात् होता है। अक्षरि होती है। उतके पालन-पोषण के लिए इमती उद्योग में प्रवृत्त होते हैं। सम्भ्रम करते हैं, आप काते पीते हैं अक्षरि कर पालन करते हैं। इत्यक्षर पायापुमोर्गपर्यन्त यही तब कुछ होता रहता है। अक्षर में जीवता शरीर से उत्पन्न हो जाता है। (आत्मा क्या होता है? इत प्रश्न को छोड़ते हुए) वे ही तो तब कुछ जीवप्रकृति के प्राकृतिक भर्म हैं। यही तो स्वभर्म' है। जीव प्राणी इत स्वभर्म से सम्भ्रम है। तभी तो एवम्बि स्वभर्म' का पालन करते करते ही एक दिन निवृत्तता को प्राप्त हो जाते हैं। और इत दृष्टिकोण से जीवमात्र भेष्यमात्र का ही तो अनुग्रह कर रहे हैं। अक्षर-स्वभर्म' निर्धर्म भेष्य' का बिना आदेश के ही पालन सिद्ध हो रहा है। इन्द्रियेन्द्र। जीवमात्र का वह स्वभर्म' है वह निर्धर्म, साथ ही शरत्सम्भ्रम मी। ऐसे स्वभर्म' का अनुग्रहण ऐसे स्वभर्मनियमन के बोधे ज्ञान प्राणिमात्र में है। इत जीवमात्रभेष्य के लामात्र स्वभर्म-की मूल प्रतिष्ठा अक्षररूपत निरा अक्षररूपत वह भेष्यमात्र है बिना अक्षररूपत मी इत्यक्षर के अक्षर प्राणिमात्र को एवम्बि स्वभर्म' में नियम कर सकता है किन्तु अक्षररूपत में निम्न स्थिति शर्तों में एवम्बि अक्षर हुआ है।

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचर ॥
 विषयश्च महामाग ! याति चैवं पृथक् पृथक् ॥१॥
 दिवान्धा प्राणिनां केचिद्राश्रावन्धास्तथापरे ॥
 कचिदिषा तथा राश्रौ प्राणिनस्तुन्यदृश्य ॥२॥
 ज्ञानिनो मनुजा सत्यं, किन्तु ते नहि क्वलम् ॥
 यतो हि ज्ञानिन सधै पशु-पक्षिमृगदय ॥३॥
 ज्ञान च तन्मनुष्याणां यत्रोपां मृगपक्षिणाम् ॥
 मनुष्याणाञ्च यत्रोपां तुन्यमन्यत्रयोमयो ॥४॥
 ज्ञानेऽपि सति पर्येतान् पतङ्गान्स्वावचन्सुषु ॥
 कर्ममोहादतान् मोहात् पीड्यमानानपिष्ठुवा ॥५॥
 मानुषा मनुजव्याघ्रा सामिलाया सुवान् प्रति ॥
 लोभात् प्रत्युपकाराय नन्वतान् किं न पर्यसि ॥६॥

❀ ❀ ❀

तथापि ममतावर्षे मोहगर्से निपातिता ॥
 महामायाप्रमावेशे संसारस्थितिकारिणा ॥७॥
 तथात्र विस्मय क्लृप्त्यो योगनिद्राजगत्पत ॥
 महामाया हरश्चैषा तथा संमोहत जगत् ॥८॥

❀ ❀ ❀

ज्ञानिनामपि चेतामि दधी भगवती हि सा ॥
 पलादाकृप्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥९॥

❀ ❀ ❀

४१-प्राकृत-धम्मातिक्रान्त स्वतन्त्रप्रज्ञ भोगार्थी मानव-

बलमान दृष्टिकोण के अनुसार-यों का सीधिर कि, 'माना-मीना-मोत्र उद्धाना ऐना करते करते एक
 निर मर जाना' यही अर्थमात्र का बह अनापनन्त प्राकृतिक स्वधर्म है, जिसका ज्ञान धम्मता मर को प्राप्त है।
 एवं विधे बलमानसिद्धा पुणित-पन्सविगतमात्र कर देती है। लभी ता हम दृष्टि म धर्मात्मा है। लभी ता
 स्वधम्म के लिए बलि खोर मरते है। क्या यही बह 'स्वधम्म' है, जिसका पूजापकार मगनान् भीष्ट्य के
 द्वारा गौतापमत्र में लक्ष्मीकरण हुआ है? क्या यही बह स्वधम्म है, जिसका स्वधीकरण क लिय मम्मार्थि धर्म
 शास्त्रीका महाराम प्रयाग प्रवृत्त हुआ है? वहाँ हाँ ता शास्त्र अनावरणक है। पशु-पक्षी कर शास्त्र पन्ते है,

क्या सिद्धा प्राप्त करते हैं !। फिर भी मे स्वधर्मापासन तो करते ही हैं। फिर मनुष्य नामक जन्तुविद्योने जिसे 'ज्ञानिनो मनुजा' सत्यम् के अनुष्ण इतर प्राणियों की अपेक्षा कमतर अधिक ज्ञानसम्पत्ति मिलती है क्या वह मनुष्य बिना शास्त्र के स्वधर्म का पालन नहीं कर सकता ।। कर सकता है करता है मनुष्य में भी करता रहेगा। अपने बर्थाबाट ज्ञान से पश्चादि कित स्वधर्म का पालन जैसे लक्ष्यमय से करते बने प्रारंभ है जैसे ही मनुष्य भी बिना शास्त्र के केवल अपने लक्ष्यज्ञान से ही इस स्वधर्मापासन में बंध है। किन्तु ।

इस 'किन्तु' में बोझी विप्रतिपत्ति उपरिपठ कर दी। बीजलामाय के बीजत्वानुगत उक्त सामान्य-मायात्मक स्वधर्म के हाथ हाथ प्रत्येक जाति के बीजों की प्रकृति विभिन है। इसी प्रातिरिक्त प्रकृति के अनुरोध पर उक्त बीज को चलना पड़ता है। वही प्रातिरिक्त प्रकृति उस बीजका का 'स्वधर्म' है। अथ एक जाते हैं परन्तु प्रकृतिमेव से सभी अथ एक बगों के लिए निवत नहीं है। पशु जात कार्यों पक्षी अथकथ्य कार्यों कीट अथपि-बनस्पतिरुध का पान करेंगे, हृदि मिही-मलमयगदि कार्यों। इसी प्रकृतिमेव के अनुपगत से मनुष्यकथ्य के भी आहारविहायदि निवत है। कव्याक प्राणी स्व-स्व-मङ्गलानुगत निवत स्व-स्व आहा-यदि लघल स्वधर्मापासन में ही प्रवृत्त रहते हैं। परन्तु मनुष्य इस प्राकृतिक निवत का अपवाद बन जाता है। क्यों !, ज्ञानमात्रा को इसको अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक मिलती है। इसी से यह स्वतन्त्रपत्र बन कर प्राकृतिक बन्धना का उन्मथन कर जाता है। 'न देवा अतिश्रमन्ति न असुराः न पराशः न पितरः मनुष्या एवैके अतिश्रमन्ति' (शत० ब्रा०) इत्यादि मुति ने भी मानवीय मन की इस अमर्य्या का ही उन्मथन किन्तु है। मनुष्य पशु लालेगा पक्षी का बाग्या की-हृदि लाबाग्या लव दुःख लाबाग्या पी बाग्या न करने का क्रम कर लेगा, और इत्यन्तार अपने ज्ञानविकल का दुरुपयोग करता हुआ वह स्वधर्म का अतिश्रम कर जातेगा। इत्यन्तार यह श्रेष्ठ मानव स्वधर्म सूत मानवधर्म की उन्मथ कर पशुधर्मादि अन्य परधर्मों का अनुगामी बनता हुआ 'मनुष्या एवैकेऽतिश्रमन्ति' को लार्क बना देगा।

४२-आधिकारिक, कर्मानुगत, भोगानुगत विविध बीज, एवं मानव का बुद्धियोग-

वैदिकियों ने इसे कलताया है कि-आधिकारिक कर्मानुगत भोगानुगत, मेव से बीजका तीन शर्तों में विभक्त है। प्रकृतिजन्य की ओर से विभिन लक्षिकर्माधिकारी पर आरुख स्वर्ण-धन-राहादि बीज आधिकारिक बीज है। 'पञ्चबधिकरमसर्बितिराधिकारिकधर्मम्' (वेदान्तधर) सिद्धलक्षणर-कार्मिनाक-धम से आरम्भ कर निवतधर्मवत् अपने अधिकृत कर्म में निवततः आरुख रहने बाते ये बीज कर्मकणन से अक्षर्य है। कर्मात्वात्मन में अक्षम केवल पलाभोक्ता पश्चादि बीज भोगबीज है। आधिकारिक, तथा भोगबीज, दोनों के स्वधर्म पालन का उत्तरदाकित्व ईश्वरीय प्रकृतिजन्य पर अनलमिक्त है कित लक्ष का भीक्षारमाहात्वापवते, मोषादेति सूच्यः इत्यादि बन्धन से लमर्षन हुआ है। शेष रह जाता है-कर्म बीजकर्म जिसे 'मानव' उपाधि प्राप्त है। अतः के प्रथमक होने के गौरव से विभूषित इस मानवबीजकर्मका में ईश्वरकर्म बीज भी लक्ष्यी बन जाता है। अपने लक्ष का त्यागलक्ष्य ही इसे प्रकृतिधर्म से बहिष्क कर देता है। और इस राजता का मूलहार बनता है-अनुमत्त प्रकृतमन। प्रकृतमन इन्द्रियों के हाथ बँधेन बन जाता है। भोगानुगत स्वधर्मपालन का मन्थन्या विद्वानादिना विद्याबुद्धि से अक्षय कलताया गया है। यदि मन स्वतन्त्र बन जाता है तो बुद्धिकर्म स्वधर्म को मन के प्रति अक्षयलमर्षन कर देना पड़ता है। मन अक्षयबन होने

से मृत्युमावापन्न है। इसके प्रति आत्मसमर्पण करत ही बुद्धि का ऊपस्थानीय अक्षयवर्त्म से वृषद् हाकर अविद्या (मर्य) भावापन्ना होजाती है। बुद्धि का स्वामाधिक लक्ष्यविशेषणचरण प्रथम अमिमृत होजाता है, जिसके बन पर भी स्वधम्म पावन में समर्पण हुआ करता है। बुद्धि के प्रति यदि बीजसत्ता का आत्मसमर्पण रहता है, तो इस याम से अक्षयवृत्तार बुद्धि का स्वामाधिक विद्यामाग विकसित रहता है। ऐसी विद्याबुद्धि पर मन विषय प्राप्त नहीं कर सकता। अपितु बुद्धि मन पर विषय प्राप्त कर लेती है। बुद्धि मन के साथ रहे यह एक दृष्टिकोण है। मन बुद्धि के साथ रहे, यह एक दृष्टिकोण है। 'बुद्धियोग' शब्द दोनों स्थानों में प्रयुक्त होलाकता है। और इसी आचार पर मनुष्य के यथावाक् बोलों का 'बुद्धियोग' कहा जासकता है। परन्तु बुद्धिगर्भित मन से युक्त बुद्धियाग आत्मयोग में भी बद्धित है साथ ही सद्वचन का विरोधी बनता हुआ योगविरोधी भी है। अक्षयवात्मा से बुद्धि युक्त है, बुद्धि में मन, मन से इन्द्रियबन्ध इससे कर्म, युक्त है। एवं यह ही सद्वचनप्रयुक्त लक्ष्य बुद्धियोग। अक्षयवात्मा मन से, मन के गम में बुद्धि बुद्धिगर्भित मन का इन्द्रिय-बन्धवर्तित्व, इन्द्रियों की विषयारामता यह दृष्टि परम्परा है। यहाँ भी बुद्धि युक्त अवश्य है, परन्तु अपने रूप में नहीं, अपितु मन-प्राप्यत्व में। यही अयोगसत्तम बुद्धियाग है वा स्वधम्म मर्यादा में एकान्ततः बहिष्कृत है। स्वधम्मयुक्त तात्त्विक यत्न प्रकृतित्वपरिज्ञानप्रापेक है। इसे प्राप्त कर तदनु रूप कर्माणुष्ठान करना ही मानवधर्म है, यही दृष्टका स्वधम्म है। स्वमाग से प्रकृतित्व-परिज्ञान प्राप्त करने योग्य विद्याबुद्धि भी इस में प्रकृत्या प्राप्त है। परन्तु दृष्टका स्वधम्म में उपयोग न कर यह परधम्म (मनोऽनुगत इन्द्रियाणि धर्म) में उपयोग कर इसे अविद्यामात्र में परिणत कर देता है। यही इसके पतन का मूल कारण है कि कारण के निगमन के लिए ही गीतारारण श्रुत हुआ है जिसका मूलवृत्त है यह बुद्धियोग, जिसका अन्वयानुगति में सम्मन्वय है। यह बुद्धितत्व विषय प्रथम आधिदैविक बुद्धितत्व है। उसी (सूर्य) की ओर पात्रकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

४३-सूर्यं क वनमगाता परमष्ठी—

प्रतज्ञोवाच 'रत्नधर्म' का स्वधम्मविरलोपाय किया गया। बुद्धिराज-निषपनोरधम में कहा गया है कि आधिदैविक बुद्धितत्व (सूर्य) विरवनेन्द्र में प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार बुद्धि का प्रथम सूर्य है, वैसे सूर्य का प्रथम अंश १, प्रथम के उत्तर में क्षिति-आरोमक 'परमेष्ठी' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है। क्षिति में बतगाया है कि पारमेष्ठ्यमरदल यह मरदल है जिसके गर्भ में पारमेष्ठ्य अणतत्व से सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ है। 'ध्यातो सूर्यवद्विरोत्पम' सिद्धान्तातुकार अणतत्व ध्यु-अक्षिग मे- में दो मार्गों में विभक्त है। ध्याता-बाधु-जन्म-कर्मणि सगुणवी है, ध्यानि-वम-आशिय-ममणि आशियारवी है। ध्याता-बा-ध्यातिय से, बाधु का यम से एवं जन्म का ध्यानि से सम्बन्ध है। पारमेष्ठ्य जन्म भी श्रुत है, पारमेष्ठ्य ध्यानि भी श्रुत है। इस श्रुत जन्म की श्रुतध्यानि (परमाणुरूप से ध्यातिय लभुत्र में प्राप्त ध्यानि) में ध्यातुति हुई, ध्यानि बनजाती बन कर पुत्रीयुत होने लगा। विरहात्मिक इव ध्याता से परमेष्ठ्यमरदल के गर्भ में बनवान् श्रुतध्यानि धनतियदहन में परिणत हो गया। प्रत्ययदह रास्यैतिरिन यही लक्ष्यमागमक केन्द्रिय ध्यानि विरह 'सूर्य' नाम से प्रतिष्ठ हुआ।

जानामि' इत सामान्य ऐन्द्रियक घट ज्ञान का ही नाम 'भूतोपलम्बि' है। इन्द्रियद्वारा यह भूतोपलम्बि मन पर संस्काररूप से प्रतिष्ठित हो जाती है। इसी को दर्शनमाया में—'पार्थिवान्' कहा गया है। 'पथमहं जानामि, इत्यपि जानामि यही इस पाण्डिज्ञान का स्वरूप है। 'मिं बद्धा जानता हूँ' यह भूतोपलम्बि है, 'जानता हूँ—यह भी जानता हूँ,' यह ज्ञानोपलम्बि है। विद्ययाबन्धिन्न अवगम (बोध) भूतोपलम्बि है, संस्कारबन्धिन्यन्न अवगम ज्ञानोपलम्बि है। इत ज्ञानोपलम्बि का मग्न भी परम्परया सूर्य्यम्बोति ही है। 'पञ्चग्योतिरस्य पुरुष' सिद्धान्तानुसार हमारा अहमता सूर्य्य चन्द्रमा अग्नि, वाक् (विद्युत्) आत्मा (संस्कार) इन पाँचों ज्योतिषों में से स्वप्रतिष्ठा के लिए अवश्य ही किसी एक ज्योति की अपेक्षा रमता है। इनमें आत्मज्योति का ही नाम संस्कार ज्योति है, यही ज्ञानज्योति है। संस्कारों का आगमन सूर्य्यद्वारा ही होता है। अतएव ज्ञानज्योतिर्लक्षण संस्कार ज्योति (अहमज्योति) का भी परम्परया सूर्य्यात्मक भूतज्योतिमूलकत्व ही सिद्ध होनाता है। भूतज्योतिर्मय सूर्य्य में ज्ञानज्योति को बलमान करने का कर्म कहाँ से आया !, यह प्रश्न है। श्रुतिधर्मों ने समाधान किया है कि भूतज्योतिर्जन सूर्य्य जिस क्षोभमय पारमेष्ठय तत्व से उत्पन्न हुआ है, उत महर्गोम' के गर्भ में 'उत्पद्यता म्याम से ज्ञानज्योतिपन विदग्धा प्रविष्ट रहता है। यही—'योऽसावावित्स्ये पुरुष' क अनुसंधान अभिदेवत में 'आपित्युत्पद्य' कहलाया है। इसी के सम्मुख से भूतज्योतिर्जन इत्य सूर्य्य ज्ञानज्योतिर्गमित बना हुआ है। इसी ज्ञानज्योतिर्गम—भाव से भूतज्योतिर्जन—सूर्य्य अपने वाक् भूतज्योतिमाग से भूतोपलम्बि का एवं आत्मन्तर ज्ञानज्योतिमाग से ज्ञानोपलम्बि का अकार बना हुआ है। तात्पर्य्य—स्वबन्धु रूप अत्यन्तगमित परमेष्ठिरूप महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित सूर्य्य में महर्गमित विद्यामा भी प्रतिष्ठित रहता है। यही कबो पारमेष्ठय यह क्षोभमान बना हुआ 'सुत्वा' है। यहाँ विद्यामा विद्युत्कित नहीं होता अग्नि अनोत रहता है। और यह अग्निप्रधान बना हुआ 'वित्वा' है। अत्यन्तगता चिति के अन्तर्गत से यहाँ अकार महर्गमित विद्यामसंलग्न पोडरीपुरुष का पूर्ण विद्युत् हो जाता है। अतएव अत्र इन्द्र तत्त्व—इन्द्रो ह्यै पोडरी के अनुसार 'पोडरी' कहलाया है। भूतोपलम्बि का अकार इत्य मायिक सूर्य्य आधिभौतिक सूर्य्य है, एवं ज्ञानोपलम्बि का प्रकृत क पोडरी—इन्द्र प्राणायामक शिरस्यगमरूप अत्यन्त सूर्य्य आधिभौतिक सूर्य्य है। वैदिक अत्यन्त सूर्य्य आत्मा है जिसे लक्ष्य बना कर 'सूर्य्य आत्मा जगतस्वरूपम्' 'योऽसावावित्स्ये पुरुष' सो 'हम' इत्यादि भूतियाँ व्यपेरित हैं। भौतिक इत्य सूर्य्य अत्यन्त वैदिक सूर्य्य का शरीर है जिसे लक्ष्य बना कर—'नूनं जना सूर्य्येण प्रमृता जयमय कृत्यमप पसि'—'हिरण्यमयेन सञ्चिता रथन इर सि भूतियाँ व्यपेरित हैं।

४६—ज्योति—गी—आयु—र्मनोतामय, बुद्धिप्रमत्त सूर्य्य—

परमेष्ठि के गर्भ में अनुत्पन्न सूर्य्य ही उभयोरपलम्बि का अकार बना हुआ 'बुद्धयत अतया' निर्वचन म समनुमित है। अवगमन उपलम्बिभूलक है उपलम्बि बोधवृत्ता है शब्द सूर्य्यमूलक है। अतएव उर लक्ष्यधारभूत आत्मज्योतिर्गमित भूतज्योतिर्मय सूर्य्य का अवश्य ही आधिभौतिक 'बुद्धि' तत्व का अकारता है। बुद्धिरूप इत आधिभौतिक सूर्य्य में ताप, प्रकाश व हो तत्र प्रत्यक्ष दृष्ट है। ताप अग्निगत है प्रकाश इन्द्रगत है। प्रकाश का मूल है—क्षोमादृति। जगत क्षोभमय की वया भी तत्र सिद्ध है। वायु बिन्धु की वया का रसही-करण पूर्व में चिता ही का पुत्र है। इत्यकार सूर्य्य में प्रधानतः—पितृ क्षोभ अग्नि इन्द्र इन चार तत्वों का सम्मन्वय सिद्ध हो जाता है। क्षोभ अग्नि दीर्घ भूत है। इन्द्र प्राण है बिन्धु मन है। भूत अक्षयमान है प्राण विद्याप्रधान है मन ज्ञानप्रधान है। अक्षयमान सूर्य्य म ऊपर आध्यत्मिक मानस ज्ञानात्मा का

ही संप्राप्त्य है जो अमृतत्वा कदाहा है । सूर्य से नीचे सूर्यबल बाह्यमय मृतत्वा का ही संप्राप्त्य है जो—'तद्यत्किञ्चात्राचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम् के अनुनाद मर्त्यात्मा कदाहा है । किन्तु अक्षयबल-शक्तमक-शेर कर्मात्मा मर्त्यस्य होने से उमरुवर्माजान्त कदाहा हुआ मनव्यायस्यमपत्नेन कर्वात्मक है । यही पूर्वकथनामुत्तर बोधरी का पूर्ण विघ्न है । अक्षय-सूर्य्य अरमा जगतत्सुप्य' के अनुनाद इसे ही 'आत्मसृष्टि की प्रकृति माना गया है । शेर अरमा जब तक खरित न था तब तक तब कुछ अक्षय्य खटा हुआ नानात्वेन अनुभवात्थ था । उक्त समय तो 'आसीदित् तमोमूलमप्रज्ञातमक्षयस्यम्-अप्रत कर्मनिर्हैर्यं प्रसूतमिष सर्वतः तद्यत् अविज्ञात तम का ही संप्राप्त्य था । सूर्याज्ज्ञाप ही नानात्मो-पलम्बिणी का अक्षयीमात्र हुआ । अर्च सूर्य्य, अर्च चन्द्रमाः इयं पृथिवी, अतो घो, इत्यादि विभिन्न-विभिन्न शक्तों का उदय कर्वाकै तन्मोतिर्न अक्षय्य सूर्य्य के द्वारा हुआ है अतएव बुद्धिस्म इत सूर्य्या की इत विभव शानावेक्षया 'विज्ञानप्रभा' नाम से अक्षय्य करना भी अक्षय्य कता है । सामान्य नाम बुद्ध्यात्मा है, विभिन्न-अनपेक्ष्य नाम विज्ञानात्मा है । दोनों ही नामों का 'उक्त्य' (मूलसूर्य्यविभ्र) से सम्बन्ध है । आगे किन नामों का निर्बन्धन होने वाला है वे एक अक्षय्य मर्त्ये कार्यो वैज्ञा कि तत्रापि स्थ कर दिया समय । विभ्र-शेर मनोमय शानभाग 'आनुर्मय' है प्रक्रमरुम शेर प्राकामय क्रियायाग ज्योतिर्मय है लौम गर्भित अग्निस्तक्ष्य काहमव अर्धमाग गीर्ध्व है । मनोमय आनुर्मय का आत्मसृष्टि से प्राकामय ज्योतिर्माग का देवसृष्टि से तथा बाह्यमय शोर्माग का मृतसृष्टि से सम्बन्ध है । ज्योति-गो-आनुर्मय के ही दोनों तत्त्व 'शेरमनोता' कदाहा है किन्तु आभार पर क्रमशः ज्योतिर्माग, गोर्माग आनुर्मय नामक तीनों शोमकत विद्यत होते हैं । बराह्मण शेर आत्मविभव बर्दा 'देवशरमा कदाहा है बर्दा तद्वत्पुत्र शेर आत्मा 'विज्ञानात्मा नाम से प्रकृति हुआ है, वैज्ञा कि आदिविज्ञानादि' निकषों में विचार से प्रतिपादित है । आत्म-सूत-देव-कर्मात्मकमृत, विरवैन्द्र में प्रतिष्ठित, विरवाभ्यन्त इती शेर विज्ञानात्मा का निम्न विस्तित राश्री में स्थलीकरण हुआ है-

१-अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विरवस्य स्रष्टारमनेकरुमम् ।

विस्वस्यैकं परिवेष्टितार्तं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सवपारौ ॥

—रवे० ४।१७।

२-यथा सुपया अमृतस्य मामामनिमेर्षं निदधामिस्वरन्ति ॥

इतो विस्वस्य भुक्नस्य गोषाः स मा धीरः पान्कमत्राविवेश ॥

—श्रु सं १।१६।२१।

३-यज्ञे इतो भुवनस्यास्य मध्ये स ण्वाग्निः सलिले सभिषिष्टः ।

तमेव विदित्वास्मृत्युमेति नान्याः पन्थाः सिषतेऽपनाय ॥

—रवे० १।२४।

४-यदा तमस्तथ दिवा न रात्रिं सप्त चासञ्चिव एव केवचः ।

क्षयं चरं तत्सचितुर्षेर्यं श्वा च तस्मात् प्रसूता पुराणी ॥

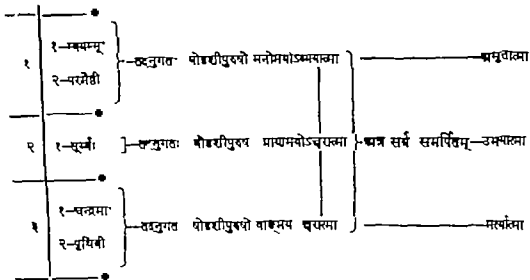
—रवे० ४।१८।

५-विज्ञानात्मा सह डेवैश्च सर्वै प्राप्सा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदचरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ॥

—मरुतोप० ११।१।

६-मनोमयं प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदय सभिषाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विमात्रि ॥

—सुरहको० २।२। ७।



सूर्यविषयभावा —

१-चित्]-(१) मनोमयं कालविषयम्—अम्बयात्मा । आधुः—तत्—अलमसिद्धिः—आनुष्ठेयवितानश्च
२-इन्द्र]-(२) प्राणमयं क्रियाविषयम्—अचरत्मा । अस्तिः—तत्—वेदसृष्टिः—अनुष्ठेयवितानश्च

३-सोम]-(३) वाङ्मयमयं विषयम्—चरत्मा । गौः—तत्—भूतसिद्धिः—गोष्ठेयवितानश्च
४-अग्निः]

४७-योगस्वर की भगवत्कालचक्रा 'मग' विभूति—

बुद्धियोगनिर्बन्धनपूर्वक आध्यात्मिक बुद्धि (सूर्य) तत्त्व का स्वरूप अज्ञानता गवा । क्या जाता है कि, बुद्धितत्त्व आत्मा भगी दे विमल है । इनमें चार विधाबुद्धियाँ हैं चार ही अविधाबुद्धियाँ हैं । परन्तु

होता है कि एक ही बुद्धितत्त्व के अष्ट विचर बने हो गए। प्रकृताभाव हो शब्दों में प्ररन का समाधान कर बुद्धिरामनिर्वचनप्रकरण समाप्त किया जा रहा है। समाधान श्रुतपूर्व है, केवल समस्य कर देना है। विरवापिडाता विरवेश्वर ही 'योगेश्वर कहलाए हैं वे ही सर्वत्रपारण में 'मगवान्' नाम से प्रसिद्ध हैं जिस शब्द का अर्थ होता है—'मगपुत्र'। आत्मविभूति का ही नाम 'मग' है जिसका महिमारूप ताहसीमएडल से सम्बन्ध माना गया है। उदाहरण के लिए बीर्मा (लौ) को आत्मा समझिए, वहाँ एक दीपप्रना (प्रकण्ठ) ब्याप्त है उस बहिर्मयडल को 'महिमाप्रबल' समझिए। महिमाप्रबल में ब्याप्त प्रग (क्योति) को 'विभूति समझिए। विभूति का शास्त्रा मूलविचर होता है उक्तप्रकण्ठ मूलविचर से ही अर्थात्विचर विभूति का स्थान होता है। अतएव आपनी अर्थात्विचर विभूति का उक्तप्रकण्ठ मूलविचर ईश्वर का ऐश्वर्य है। उदा ईश्वर है उक्तप्रकण्ठ महिमाप्रबल है, तन्मूल परिग्रह इच्छा विम्वित्तप्रण ऐश्वर्य है। आदरा आदित्यो में एक प्राणविशेषरूप आदित्य के द्वारा यह मगादिमक विभूति प्राप्त हो जाती है। अत उक्त आदित्य-प्राणविशेष को भी 'मग' कह दिया जाता है। अतएव यही मगवान् (योगेश्वर) की मगवच है। स्पष्ट विभूति का विचर आदित्यपन स्वप्नद्वारा ही हुआ है जैसा कि पूर्व में कहा था चुका है। अत एव को ही प्रधानतः 'मग' करना आवश्यक बनता है। अतएव स्वप्नप्रमगलना में—'इनो मगा पामनिधि हत्वात्ति स्म से मग नाम का भी उपादेश हुआ है *। योगेश्वर का विभूतितत्त्व ही मग है, तद्गुण होने से ही योगेश्वर 'मगवान्' कहलाए हैं वही अर्थात्विचर है।

४८—उपाधिभेदमिष पद्विच मग—विभूतिचग—

उपाधिभेद से योगेश्वरगुण मग (विभूति) १ मायों में विभक्त हो जाता है। विभक्त्यात्क योगेश्वर ही विभेश्वर भगवान् है। इत मगवचर के विचर श्रीर उरीश्वर भेद से दो विभाग स्वत सिद्ध हैं। विचर पदवर्षा है ईश्वर विपरीत है इन तीन-पाँच के समन्वितस्म का ही नाम विभेश्वर है। अर्थात्—आश्वर-आत्मप्रणुगुण मनःप्राणवाडमय विरेश्वर आत्मा (पौडरीपुदव) ही विचरप्रतिष्ठा आत्मा है एवं स्वकम्प परमेष्ठी, स्वप्न, अत्रमा पृथिवी, इन पाँच पदों की समष्टि उक्त विरेश्वरप्रतिष्ठा आत्मा का शरीरगत विचर है। इत दृष्टि से योगेश्वर के आरम्भ के आत्मा शरीर, ये दो विभाग हो जाते हैं। विचर के पाँच विभाग हो जाते हैं। आत्मा के भी पचास तीन पद हैं परन्तु इनकी स्वच्छ गणना न होकर तीनों की समष्टि एक 'आत्मा' नाम से ही ब्यक्त हुई है। कारण प्राणमय आश्वर-वाडमय-श्वर को गर्म में रखते हुए मनोमय अर्थात् आश्वरप्रतिष्ठा बनाता हुआ 'विमर्यैभ्यव ईश्वरः सिद्धन्तानुश्वर लभ्यते' विचर का एक आत्मा बना हुआ है। उपर विरेश्वरगुण पाँचों पदों अर्थात्प्राण वाडमय-श्वर पाँच ही हैं। इत दृष्टि से आत्म-विरेश्वरप्रतिष्ठायोग योगेश्वर के इन पौडरीपुदव, स्वकम्प परमेष्ठी स्वप्न अत्रमा पृथिवी, ये च विभाग ही विज्ञानगुण मानेंगे। आत्मरूप स्वर्ग पौडरीपुदव विरेश्वर में उक्तप्रकण्ठ से ब्याप्त है। इच्छा विभूतिस्वरूप अर्थात्स्म से लभ्यते विचर में ब्याप्त है। वही पुण्यविभूति, विवा अर्थात्विचरप्रतिष्ठायोग विरेश्वर

* मग एव मगर्वा अस्तु देवास्तेन वयं मगवन्तः स्याम।

तं त्वा मग सर्व इन्द्रोहवीमि न नो मग पुर एता मवेह ॥

—ते० ब्रा० २।१।१।१२

मंगलान् का विभूतिराज्य प्रथम 'मग' है, जो 'वैराग्य' नाम से व्यक्त हुआ है। उक्त आत्मा अतएव है रागमूत्र्य है। फलतः इच्छा अर्कत्वा विभूति भी अतएव ही है। अतएव आत्मविभूति का 'वैराग्य' कहना अन्वय्यं कता है।

इस विभूतिविभूति का सम्भव भीरिण। विश का पहिला पर्व अत्यन्त स्वयम्भू है। उक्तरूप से यह परमेष्ठी के ऊर्ध्वमाय में प्रकृतिवत् रहता हुआ 'परोरबा' नाम से प्रसिद्ध है। इस स्वयम्भू उक्त से विनिर्गत प्राथम्य अर्क सम्पूर्ण विश में स्थापित है। इस स्वायम्भुव प्राथम्यपदक का ही नाम स्वायम्भुव विभूतिमयक है, जिसके गर्भ में परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी-वायु विभूतय (समहिम) प्रकृतिवत् हैं। यही स्वायम्भुवी विभूति स्वायम्भुव 'मग' है यही 'ज्ञान' नामक पुरुष मग है। ज्ञानप्रधान अज्ञपरमा के प्रथम तन्मय में जाने के कारण ही स्वायम्भुव मग को 'ज्ञान' कहना अन्वय्यं बन रहा है।

स्वयम्भू से नीचे और सूर्य से ऊपर आपोमय परमेष्ठीपिण्ड उक्तरूप से प्रकृतिवत् है। इस परमेष्ठी उक्त से विनिर्गत आपोमय अर्क सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी-वायु सम्पूर्ण रोषछेत्रलोक में स्थापित है। इस पारमेष्ठ्य आपोमयक का ही नाम पारमेष्ठ्य विभूतिमयक है, जिसके गर्भ में समहिम सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, तीनों पर्व प्रकृतिवत् हैं। यही विभूति पारमेष्ठ्य 'मग' है, यही 'धर्म' नामक तीसरा मग है। अतएव निरतिरिक्त्य धर्म की प्रथम प्रकृति पारमेष्ठ्य अस्तित्व ही माना गया है। अतएव इच्छा विभूति को 'धर्म' नाम से व्यक्त करना अन्वय्यं बन रहा है।

परमेष्ठी से नीचे और चन्द्रमा से ऊपर वाक्मय सूर्यपिण्ड उक्तरूप से प्रकृतिवत् है। इस सूर्योक्त से विनिर्गत वाक्मय अर्क सौर-वायु-पार्थिव-तीनों मरुतलों में स्थापित है। इस सौरमयक का ही नाम सौर-विभूतिमयक है, जिसके गर्भ में समहिम चन्द्रमा, पृथिवी, दोनों विषय प्रकृतिवत् हैं। यही सौरी विभूति सौर 'मग' है यही 'ऐश्वर्य' नाम का चौथा मग है। विभूति ही ईश्वर का ऐश्वर्य्य है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। ईश्वर (योद्धवी आत्मा) का पूर्ण विकास चित्तिलक्षण सूर्य में ही होता है। अतएव सौर इन्द्रत्व 'योद्धवी' कहलाता है। इसीलिए सौरी विभूति का 'ऐश्वर्य्य' कहना अन्वय्यं कता है। अतएव विभूतिरूप ऐश्वर्य्य का अस्तीमान् व्यक्त सूर्य पर ही अवलम्बित है। अतएव सूर्य ही अस्मत्-स्वयम्भू-परमेष्ठी, तथा अस्त-चन्द्रमा-पृथिवी, वायु का अस्मत्क कता है। इसीलिए भी सौरविभूति को ऐश्वर्य्य कहना अन्वय्यं कता है।

सूर्य से नीचे (इच्छामूला छत्रविद्यानुसार) अज्ञमय चन्द्रपिण्ड उक्तरूप से प्रकृतिवत् है। इस चन्द्रोक्त से विनिर्गत अज्ञमय अर्क चान्द्र और पार्थिव मरुतल में स्थापित है। इस चान्द्र-अज्ञमयक का ही नाम चान्द्रविभूतिमयक है जिसके गर्भ में समहिम पृथिवीमयक मुक्त है। यही चान्द्री विभूति चान्द्र मग है यही 'मर्यादा' नाम का पांचवां मग है। चान्द्रमनोता रेश-बद्धा-परा-नाम से प्रसिद्ध है। रेशोमनोता का चान्द्र रोमरूप घूटमाय से अज्ञमनोता का चान्द्र सौम्य प्रकामाग से तथा चरोमनोता का चान्द्र सौम्यपाश-मग से सम्भव है। चान्द्रप्राण ही यह कहलाता है। मातृ ही विभूति है। अतएव विभूतिराज्य चान्द्र मातृरूप मग को अक्षर्य ही 'मर्यादा'-नाम से व्यक्त किया जा सकता है।

विभूति सञ्चिन्विता के अनुगार अर्थात्सम भूषण स्वरूप से स्वान्त में प्रतिष्ठित है । इत भूषणस्वरूप से विनिर्गुण अर्थात्सम अर्थ पार्ष्णिमवद्वल में, तथा अस्मदादि पार्ष्णिमवद्वल में व्याप्त है । इत पार्ष्णिम अर्थात्समवद्वल का ही नाम पार्ष्णिम विभूतिमवद्वल है बिलके गर्म में स्त्रीस्वरूपसे प्रतिष्ठित है । यही पार्ष्णिम विभूति पार्ष्णिम 'मग' है, यही श्री नाम का व ठा मग है । अथविभूति ही विद्वानमया में 'श्री' अर्थात् है वैदिक-बहिर्द्वेष वं श्री' (वै उ० ब्रा १।४।१।) इत्यादि कथन से प्रमायित है । अथविभूति ही 'श्री' अर्थात् है । पृथिवी आपोमयी होने से अस्म-श्री भाव से युक्त है । इतलिए श्री इत विभूति को 'श्री' अर्थात् अन्वर्थ बनाता है । तथा ही वैदिक्यादि पाँचों विभूतियों का वहाँ अर्थात्समवद्वल के अन्तःपूर्वों से सम्बन्ध है वहाँ इत पार्ष्णिम श्री विभूति का अन्तःपूर्व (शरीर) से सम्बन्ध है । इतलिए श्री इसे 'श्री' अर्थात् अन्वर्थ बनाता है ।

४६-पद्मविष विभूतिमार्गों के समर्थक कथन—

इत्यन्तर स्वातुगल (योडशीपुस्तानुगल) वैराग्य, अस्मत्स्वरूपम्-किरणानुगल ज्ञान अस्मत्स्व-परमेष्ठी-विषयानुगल धर्मो अस्मत् सूर्यकिरणानुगल पेरुषर्ष्य, अस्मत् अन्तःविषयानुगल 'मग' अस्मत् भूषणानुगल श्री, इन ६ विभूतिलक्षण मर्गों से अस्मत्की विरुद्ध 'मगवान्' बन रहा है । पद्म-युक्तता ही मगवान् की मगवाय है ॥ वैराग्यस्य सादृशी पुनःपुन महिमा विभूति, मग, वे स्व शब्द अर्थतः समानार्थक है । उक्त ६ श्री विभूतियों के ६ श्री विभूतिमवद्वल विद्वानमया में अमराः 'स्वमहिमा, परमाकाश महासमुद्र सम्बन्ध, नक्षत्र, अस्मत्' इन नामों से अस्मत्सु रूप है, किन विभूति-मवद्वलों में अमराः वैराग्य-ज्ञान-धर्मो-पेरुषर्ष्य-मग-श्री' ये ६ मग प्रतिष्ठित हैं । इन ६ श्री की क्रमिक प्रामाणिकता का अन्वर्थन करने वाले कुछ एक कथन इतलिए वहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक है कि, विद्वानपरम्परा के विद्वान् हो जाने से अस्मत्नास्तिक विद्वान् इन वैदिकिक विषयों को भी अस्मत्नास्तिक करने का इत्साह कर बैठते हैं ।

(१)-योडशीपुस्तानुगल विभूतिमवद्वल-'स्वमहिमा'-उत्र 'वैराग्य'-मगः प्रतिष्ठितः—

१-“स मगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? । 'स्ये महिम्नि' प्रतिष्ठित । नाह मेवं प्रथमि । प्रथमीति होषाच-अन्यो अन्यस्मिन् प्रतिष्ठित” ।

—ब्रा० उ० ७।२।१२।

२-“अथातो 'वैराग्य'-संस्कृते शरीरे ब्रह्मपद्मनिष्ठो मवेत्, अप पुनसृष्ट्यु-क्षयति । तदु ह वा आत्मा इष्टव्याः, श्रोतव्यो, यन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः” ।

—शाङ्गस्मारण्यक १।१।

॥-पेरुषर्ष्यस्य च समग्रस्य, धर्मस्य, यशसः, श्रियः ।

ज्ञान-वैराग्ययोरथैव पयसां 'मग' इतीरथा ॥

(२)—स्वयम्बनुगतं विभूतिमण्डलं—‘परमाकाश’—तत्र ‘ज्ञान’—मगः प्रतिष्ठित —
१—‘योऽस्याध्यक्ष ‘परमे ध्योमन’ सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद’ ।

—श्रुत्सं० १।१२।१७

२—‘ज्ञानेना’—काशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान् ।

द्वेषामिन्नेन सम्बद्धं वन्दे त्रिपदा वरम् ॥

—गौडपाटीयधरिष्य ४।१।



(३)—परमेष्ठयनुगतं विभूतिमण्डलं—‘महासमुद्र’—तत्र ‘धर्म’—मगः प्रतिष्ठितः—

“१—परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपस्यत् । स आपोऽभवत् । आपो वा इदं सर्वम्
(शत० १।१।१।१६।) । आपः स्य समुद्रे भिता ”—तै० ब्रा० ३।१।१।१।५।

“२—यो वै धर्मः, सत्यं वै” (शत १।५।१।२।२६) —आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्”
(तै० ब्रा० १।१।३।१।) —“तद्यत्—तत् सत्यं—आप—एष तत् । आपो हि वै सत्यम् ।
(शत० ७।४।१।१।) —“वरुण धर्मर्यां पते” (तै० ब्रा० ३।१।१।४।१।)



(४)—सूर्यानुगतं विभूतिमण्डलं—‘सम्बत्सर’—तत्र—‘ऐश्वर्य’—मगः प्रतिष्ठित —

१—“बृहती हि सम्बत्सर ” (शत ६।४।२।१०।) —“एष वै सम्बत्सरो—य एष—तपति”
(शत० १।४।१।१।२७) ।

२—“मध्ये ह सम्बत्सरस्य स्वर्गो लोकः (सूर्यात्मकः)” (शत० ६।५।४।११।)

“सर्वैर्यज्ञैरुन्नमान स्वर्गं लोकमभिवाहन्ति । तद्यत्रास्त्यैश्वर्यं स्यात्, यत्र वै नममिषद्वेषुः,
एवंविदमेव तत्र प्रभाषं वृणीयात्” । (गो० ब्रा० ५० १।३।१०।)



(५)—चन्द्रानुगतं विभूतिमण्डलं—‘नक्षत्रम्’—तत्र ‘यशो’—मगः प्रतिष्ठितः—

१—“तस्मात् सोमो राजा (चन्द्रमाः) सर्वाणि नक्षत्राण्युपैति” (पञ्चमि० ब्रा० ३।१२।) —
“नक्षत्राणि स्य—चन्द्रमसि भित्तानि” (तै० ब्रा० ३।११।१।१३।)

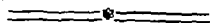
२—“यशो वै सोमो राजा” (पे० ब्रा० १।१३।) —“यश उ वै सोमो राजा—अभाषम्”
(ब्र० ब्रा० ३।६।)



(६) — पृथिव्यनुगतं-विभूतिमण्डलं-‘ध्यान्वम्’-तत्र ‘श्री’-मगः प्रतिष्ठितः—

१-“पुरुषो ह वा अय सर्वं ‘ध्यान्वम्’-इ विदले मण्ड-इत्याहुः । तस्येदमेव पृथिव्या रूपम्”-पे आ०श०११७)।

२-“पृथिव्यप्सु प्रतिष्ठिता” (पे आ०श०११)। “समुद्रो हीमाममिठः पिन्वते” (शत० जा०श०१३)।
 “आपो बरुवास्य पत्न्य आसन्” (वि०आ १।१।३।२)। “श्री-ईं बरुवा”-
 (श्री० आ० १-२६) ।



विरवेदबरो मगवान्—(विशुद्धविभूतिलक्षणः)—

(१) अम्यवमवानो विरवेदबट-मनःप्राणबाह्मवः	-स्वमहिमा	-वैराग्यम्	} आत्मा-ईश्वर] विरवेदरो मगवान्
(२) अम्यकृत्वपम्म्	-यावमया (ब्रह्मा)	-परमात्मनः		
(३) अम्यकृत्वपमेटी	-आपोमयः (विष्णुः)	-महाकमुद्रा	-वर्मा	
(४) अम्यकृत्वम्	-बाहमया (इन्द्रः)	-उग्रशक्त	-देवयम्	
(५) अम्यकृत्वमा	-अधमयाः (सोमा)	-नक्षत्रम्	-मरा	
(६) अम्यकृत्वमिबः	-अमादमयः(अग्निः)	-अन्नम्	-मीः	



३०-विरवेदवर क चतुर्धाश से जीव का स्वरूप निम्नाद्य—

‘ममेवरो जीवकोक जीवमूयः सजातम’ लिहास्यनुसार शरीरर जीव विरवेदर मगवान् का रूपात्मक अर्थ है। अतएव जो कलाविभाग जो विभूतिमण्डल, एवं जो सङ्कल्पविर्ण उक्त हैं, वे कलाएँ ये विभूतिमण्डल से मग इत्में भी प्रतिष्ठित हैं और यहाँ तक-‘योऽसौ-सोऽहम्’ के अनुसार जो वह है वही वह है। वही स्वरूप उक्त है, वही ही स्वरूप उक्त है। इतनी में एक ऐसा अन्तर प्रविष्ट हो रहा है बिना केतों अमिष अठे हुए भी विभिन्न हो रहे हैं। वह अन्तर है-पूर्वोत्पत्त और अर्द्धोत्पत्त। विरवेदर कांठ परिपूर्ण होने से शक्तिः परिपुष्पाधिधिपिष्टेष्टुर अथा हुआ स्वयम्भुव परमाकारमण्डल से कर्तव्य ध्यान्त यद्य हुआ इहनाकारमण्डलका कर्त्तृ है। इस पूर्णविभूति के कारण इत्में काया का कर्मन्त यही होने वाला। इसर नीचर्ण अर्द्धाशय से सम्बन्ध रखत हुआ अर्द्धोत्पत्त है। अर्द्धाशय से ही कथा, अर्द्धाशय के भी अर्द्धाशय से अर्धम् एक चतुर्धाश से इतकी प्रकृति पूर्ण है। परमाकारात्मक स्वयम्भु-मण्डल चतुर्धाशय से युक्त माना गया है इही आधार पर विरवेदर मगवान् चतुर्भुव बतकार है।

इस आकाशात्मक महाप्रकाश का विभाजक मध्यस्थ सूर्य है। सूर्यकिन्तु से इस ब्रह्माण्ड के दो विभाजन हो रहे हैं। वे ही दोनों विभाग पुरुषपरिमात्या में 'अरबक्याह' नाम से व्यक्त हुए हैं। स्वयम्-परमेष्ठी, इन दो विक्रों का कर्षक्याह से सम्बन्ध है, यही अमृताप्रधान अमृतक्याह है। चन्द्रमा-भूसिद्ध, इन दो विक्रों का अपक्याह से सम्बन्ध है। यही मर्त्यप्रधान मर्त्यक्याह है। पूर्णाकार (पूर्णब्रह्माण्ड) के इन अमृत-मर्त्य-क्याहों का विभाजक मध्यस्थ सूर्य है। अमृतक्याह से अश्लेष शोधक अमृतप्रधान बनता हुआ अमृतात्म संस्था में मुक्त है। मर्त्यक्याह से अश्लेष अंतरतम मर्त्यप्रधान बनता हुआ मर्त्यप्रधान संस्था में मुक्त है। इसप्रकार कर्षक्याहकर्म अर्द्ध अमृताकार में स्वयम्, परमेष्ठी, अमृत सूर्य इनकी, तथा अपक्याहकर्म अर्द्ध मर्त्यकार में मर्त्य सूर्य चन्द्रमा, भूसिद्ध इनकी प्रधानता सिद्ध हो जाती है। इन दोनों में से मर्त्यप्रधानगुण मर्त्य-सूर्य-चन्द्र-भूसिद्ध ही बीजसर्ग के उपादान बनते हैं शेष तीनों अमृत भाग गर्भाभूत रहते हैं। भूसिद्ध योनि बनता है मर्त्य और चन्द्ररस रेत बनते हैं, और इस वातायुषिय रस्की आहुति से बीजसर्ग उत्पन्न होता है यही इन्की पहिली अर्द्धव्रता है। श्या-शोभा के भेद से इस बीजसर्ग दो मार्गों में विभक्त है। अर्द्धाकाशात्मक मर्त्य और मरुहल 'सम्बन्ध' कहलाता है। अहोरात्र के भेद से इस अर्द्धाकाशात्मक सम्बन्धकर्म के भी दो खण्ड हो रहे हैं। अहस्तक चन्द्ररसगमित अंतरतमप्रधान है, रात्रिक चन्द्ररसगमित चान्द्ररसप्रधान है। अंतरतम आग्नेय है इसी से पुरुषवृत्ति होती है। चान्द्ररस शीम है, इसी से स्त्रीवृत्ति होती है। इसप्रकार केवल और अर्द्धाकार के भी अर्द्ध और अर्द्धाकार (अहस्तक) अर्द्ध चान्द्र आकाश (रात्रिक) से बीज का निर्माण हुआ है। यही इन्का दूसरा अर्द्धव्रत है, बिल्का निष्कर्ष यह निकलता है कि, पूर्णाकार के चतुर्पार्श्व से बीजसर्ग का विकास हुआ है अर्थात्- 'त्रिपायुष्य उद्वैतपुरुष पादोन्मेषाभवात् पुन ' (यत्रः) इत्यादि मन्त्रमुक्ति से प्रमाणित है।

५१-अर्द्धव्रतात्मक बीज की दु खप्रवृत्ति क मूलकारण —

अर्द्धव्रतागुणता अपूर्णता के अगुण से बीज स्वाभाविक बुद्धिवोस्तगति से बधित होता हुआ इन्द्रिय-यम बन जाता है। यही पाप्मा का प्रवेशद्वार है। इस पाप्मा के उभावेण से इसका स्वाभाविक विभूतिपृष्ठ उठी प्रकार अमिम त हो जाता है जैसे कि मेघावरण से आहत सूर्य प्रकाश-विकार से अमिम त हो जाता है। केवल आश्चर्य है—चित्तमें विमूढिकम मग हैं उतने ही पाप्माकप 'क्लेश' हैं। इनसे आत्मा निकरपति, अतएव य क्लेश कहलाए हैं। चित्त प्रकाश क्लेशनिवृत्ति, आर म्नायिकात का मूलबुद्धितत्व है, तथैव म्नामि-मव, एवं क्लेशप्रवृत्ति का मूलद्वार विन्यातकत मन है। १ भगों के कर्मणः रगहोपारिमिअ आसक्ति, अज्ञान लक्षणा अविद्या अनैरवर्षताक्षरा अस्मिता अजर्मलक्षणा अमिनिवेश अप्यरलक्षणा अकीर्ति, एव दारिद्र्य लक्षणा अलक्ष्मी, य १ निष्कर्ष है। इन्ही पाप्माओं के अगुण से बीज उल ईश्वरगुणता विशुद्ध विमूढिकता पूर्णता से बधित रहता हुआ क्लेश के द्वारा दुःखी बन रहा है।

शरीरेश्वरो बीज — विभूति-पाप्मा-लक्षणा —

- (१)-प्रवृत्तात्मा-बीजात्मकः -पुरुष -वेरागम् -आवृत्ति
- (२)-अध्यात्मध्या -अध्यात्म -दानम् -अविद्या

- (२)-महानात्मा -मृत्यु -धम्म -अग्निवेद्य
 (३)-विद्वानात्मा -बुद्धि -ऐश्वर्यम् -अग्निना
 (४)-प्रधानहृत्परिष्कृता मूर्तानामनोऽनुगत्य दही-परा -अपरीति-
 (५)-मृतम् -रागीम् -श्री -अनघनी

१०-बुद्धियोगानुबन्धिनी मगधतुष्टयी-

इश्वरक के अतिरिक्त हमें अग्निरात्रि-आद्यार्या अन्वय्य और भी राज्याओं का उल्लेख रहता है किन्तु 'बगीचर का तात्त्विक स्वप्न नामक नाम में प्रियदर्शन करा दिया गया है। प्रकृत में इस विवेचन से यही प्रकृताना है कि बुद्धियोग के सम्बन्ध में बराबर ही चार विभूतियाँ ही संघटित हुई हैं। कारण यही है कि मनाऽनुगत मृत्यु एवं शरीरऽनुगत श्री, 'न न' मनों का प्रधानतः बीजतन्त्रा से सम्बन्ध है। कारण ईश्वरकतक अमृतमगधना है बीच मयकतमगधना है। वैराग्य, ज्ञान धर्म, तीन का ता अमृतान्त से सम्बन्ध सिद्ध ही है। सोया सूक्तानुगत ऐश्वर्य मी अपन अमृतमाय म अमृतान्तकारि में ही अमृतमृत हो रहा है। अमृतविद्यामगधना अमृतमय्य अमृतमय्यानुगत है तात्त्विकान्तकतक तात्त्विक मय्यमय्यानुगत है। इत एहि म वैराग्य ज्ञान धर्म अमृतमय्य, इन चार का ता ईश्वराचार्यक सिद्ध हो जाता है। एवं तात्त्विक, मृत श्री, इन तीन का बीजतान्त्रिक सिद्ध हो रहा है। तात्त्विक का मृत में अमृतमाय है। जलत. बीजतुष्टय मग कत और श्री, न हा ही शप रह करते हैं। चार मग ईश्वरानुगत अमृत हुए अमृतबुद्धियोगन हैं। अतएव बुद्धियोग में चार ही मनों का संघट्ट किानसम्पन्न माना गया है। केवल सूक्तानुगता बुद्धि के ताव ही चारों का सम्बन्ध नहीं मान लिया गया ? अतः का भी उपाधान कर लीजिये।

३३-अमृतमय्यानुगता विद्याबुद्धिस्तुष्टयी, एवं तन्मिमा मगधतुष्टयी-

कल्पनाय गया है कि, मृत्यु ही (अमृतमगधना होने में) हमारा प्रथम बनता है। सूर्य में विष्णु सोम, इन्द्र अग्नि, इन चार शरीरों का सम्बन्ध कल्पनाय गया है। योद्धीपुत्रपञ्चक वैराग्यमगधना विद्याया का और विद्याया में सम्बन्ध होता है। म्वापन्नक-क्याधिनकतक अमृतमगधना अमृतमय्य का और अग्निमगधना से सम्बन्ध होता है। पारमपत्र-मेजककक-धम्ममगधना-महानात्मा का और तन्मगधना में सम्बन्ध होता है। एवं अमृतशरीर-अमृतकक-अमृतमय्यमगधना-विद्यानाया (विद्याबुद्धि) का और अमृतमगधना में सम्बन्ध रहता है। इत्यन्तर मय्यक अतएव तन्मूर्ति और विद्वानात्मा में ही योद्ध-स्वात्मसुन-पारमपत्र-शरीर-चारा मनों का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। 'न चार मनों के कारण ही और विद्वानात्मा क वैराग्यबुद्धि कानुष्टि धम्मबुद्धि ऐश्वर्यबुद्धि, न चार विद्यत हो जाते हैं। इन चारों में अमृतमगधना के अमृतविद्या-मनोमगधना विद्यामगधना का उल्लेख रहता है इत्यन्तर, तथा 'न चारों में अमृतमगधना का विद्यानाय विद्यन्त होता है इत्यन्तर इन्-विद्याबुद्धि (अमृतविद्यामगधनाऽनुगताऽऽत्मा अमृतविद्याविद्यामगधनाऽऽत्मा) बनना अन्वय्य बनता है।

५४-विज्ञानात्मिका एक हा बुद्धि क आठ विषय—

लोकेश्वर्यप्रधान मर्त्यसूर्य, वराग्रवान चन्द्रमा, भीमवान सूर्यरश्मि, तीनीं अर्थात्महत्त्वा क्रमशः अविद्याबुद्धि, प्रहानमन, शरीर है। तत्पर्य्य इत्यत्र नही हुआ कि हमारी बुद्धि में वैयम्वादि चारों मग सूर्य से आते हैं। दूसरे शब्दों में सूर्य से आगता मगचतुष्टयी बुद्धि में प्रतिष्ठित होती है। चन्द्रमा से आगत वरा मन में प्रतिष्ठित होता है, एवं पृथिवी से आने वाला भीमाग शरीर में प्रतिष्ठित होता है। प्रहानमन के द्वारा पाप्माओं का समावेश होता है, जो पाप्मा 'केश' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन ९ पाप्माओं में से अलक्ष्मी का शरीर से सम्बन्ध रहता है, अपकीर्ति का मन से सम्बन्ध रहता है। एवं धार्ष्ट्यलक्षणा आशक्ति, अज्ञान-लक्षणा अविद्या अधर्मलक्षणा आमिनिवेश, एवं अनेश्वर्यलक्षणा अस्मिता इन चारों का मर्त्य विज्ञानात्मा (अविद्या-बुद्धि) से सम्बन्ध रहता है। इन चारों में अर्थात्मा के मनःप्राणवाहस्य अविद्यामाग (कर्म) का समावेश रहता है, इत्यत्र, तथा इन चारों से अर्थात्मा का अविद्यामाग उपकृत होता है, इत्यत्र इन्हें 'अविद्याबुद्धि' (अर्थात्-अविद्यामागानुपहीतत्वात्, अर्थात्-अविद्यामागोपकारकत्वात्) कहना अन्वय्यं बनता है। इत्यकार एक ही बुद्धितत्त्व के विद्यात्मिका मगचतुष्टयी, अविद्यात्मिका केशचतुष्टयी सम्बन्ध से आठ विषय हो जाते हैं। उक्तरूपता बुद्धि इन मग-केशोद्योगियों के सम्बन्ध से आठ विषयों में परिणत हो रही है। यदुपाधिक उक्त रहता है इतने यदुपाधिक ही अर्थ निकलते हैं। एक ही बुद्धितत्त्व के ये आठ योपाधिक उक्त विषय हैं, जिनके लिए प्राधानिकशास्त्र में-अर्थात् बुद्धयः सिद्धान्त स्थापित हुआ है। बुद्धि एक ही है एक ही रहती है। आठ योपादिका के सम्बन्ध से इन एक ही आठ ही अर्थकार्यें हो जाती हैं।

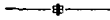
अर्थात्मा—

- | | | | |
|----------------|----------------|------------------|----------|
| १-सुख्यात्मा | -मत्सगात्मा | -वेद्यम्पापत | -सुरप |
| २-स्वयम्भू | -अभ्यस्ततात्मा | -हानोपेतः | -अभ्यस्त |
| ३-पद्मेही | -महानात्मा | -धम्मोपेत | -महान् |
| ४-अमृतसूर्यः | -विहानात्मा | -आग्नीश्वर्योपेत | } बुद्धि |
| ५-मर्त्यसूर्यः | -विहानात्मा | -लोकेश्वर्योपेत | |
| ६-चन्द्रमा | -महानात्मा | -वरा उपेतः | -मनः |
| ७-सूर्यरश्मि | -अर्थात्मा | -भीमुक्त | -शरीरम् |



अष्टौ बुद्धयः—

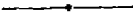
- | | |
|------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------|
| (१) अमृत-सौरभद्रमाग-पुरुषानुगत-—वैराग्योपेता बुद्धिः—वैराग्यबुद्धिः— | }—विद्याबुद्धिचतुष्टयी
अमृतसौरानुगता |
| (२) अमृत-सौरानिमाग-अभ्यस्तानुगतः—ज्ञानोपेता बुद्धिः—ज्ञानबुद्धिः— | |
| (३) अमृत-सौरतोममाग-महदनुगत-—वर्त्मोपेता बुद्धिः—वर्त्मबुद्धिः— | |
| (४) अमृत-सौरैन्द्रमाग-विद्यानानुगतः—आत्मैश्वर्योपेता बुद्धिः—ऐश्वर्यबुद्धिः— | |



- | | |
|-------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------|
| (१) मर्त्य-सौरभद्रमागः-पुरुषानुगतः—आत्मतत्त्वोपेता बुद्धिः—आत्मतत्त्वबुद्धिः— | }—अविद्याबुद्धिचतुष्टयी
(मर्त्यसौरानुगता) |
| (२) मर्त्य-सौरानिमाग-अभ्यस्तानुगतः—अविद्योपेता बुद्धिः—अविद्याबुद्धिः— | |
| (३) मर्त्य-सौरतोममाग-महदनुगतः—अमिनिवेशोपेता बुद्धिः—अमिनिवेशबुद्धिः— | |
| (४) मर्त्य-सौरैन्द्रमाग-विद्यानानुगतः—अस्मितोपेता बुद्धिः—अस्मितबुद्धिः— | |

- | | |
|----------------------------------------------------|-----------------------------|
| १—वैराग्यबुद्धिः—तद्विपर्ययः—(२)—आत्मतत्त्वबुद्धिः | }—अवस्थाश्लेषोपेता बुद्धिः— |
| १—ज्ञानबुद्धिः—, (२)—अविद्याबुद्धिः | |
| १—वर्त्मबुद्धिः—, (२)—अमिनिवेशबुद्धिः | |
| १—ऐश्वर्यबुद्धिः— (२)—अस्मितबुद्धिः | |

इति—'बुद्धि'—शब्दनिवचनम् (१)



४३—'मनीषा'—शब्दनिवचनम् (२)—

मन की दृष्टा (गति) का ही नाम 'मनीषा' है जो मनीषा अमरअपठारण बुद्धितत्त्वका एक शक्ति मन्त्र किता गया है। एतत्पर्यं वही है कि इन्द्रियों के द्वार से मन अक्षर की ओर गमन किता करता है। इस गमन में—बुद्धितत्त्व कार्यरूप से लक्ष्य बनता है। लक्ष्यरूप से एकत्र प्रतिक्रिया बुद्धि से निकलने वाले कार्यरूप मन्त्र का वर्णन है 'वृत्ति'। मानसतत्त्व लक्ष्योपेता बनता हुआ वही विचक्षणत्व है, वही बुद्धितत्त्व अग्निवर्धित

इन्द्रियवान बनता हुआ गतिप्रधान है। स्नेहलक्ष्य लोमात्मक मन विषय से संरिहाड होना (विषयका) धानवा है। वेदोक्तचक्षुषा अन्व्याश्रित्य इन्द्रक्या बुद्धि के सहयोग से ही स्वयं गतिमात्र का उदय होता है। मानसगति वस्तुता बुद्धिगति है। गतिमावाश्रितका बुद्धिरिमगर्मिता मानसगति ही 'मनीया' है, एवं यही 'मनीया' शब्द का पारमिर्क निर्घचन है।

परिबंगत् में प्रतिष्ठित काय मीसिक विषयों का इन्द्रियों के द्वारा सर्वप्रथम इन्द्रियाध्यक्ष-सर्वेन्द्रिय-प्रधान मन से (संस्काररूप में) सम्बन्ध होता है। शानबतित भावनासंस्कार, एवं कर्मजनित वाचनासंस्कार, दोनों वैषयिक संस्कार मनाभवयत्न पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। संस्कारबन्धित इस मन का बुद्धि अपने अर्कैरूप से मौग करती है। साध्यव्य-इन्द्रियद्वारा मन पर आए हुए विषयों का बुद्धि से सम्बन्ध होता है। यही आकर संस्कारात्मक मन बुद्धि का ध्यान बन जाता है। "अन्ने वा इह" (ऐ वा २।१।) इस सिद्धान्तानुसार अन्न 'इत्' (इत्) कहलाया है। संस्कारबन्धित मन बुद्धि का 'इत्' बना रहता है। यही बुद्धि न कहला कर 'मनीया' कहलाई है। निर्विषयकचक्षुषा, स्वस्थाने प्रतिष्ठिता उच्यतेमिका विद्युदा बुद्धि बुद्धि है। एवं सक्रिया, अकल्पेण मनसि प्रतिष्ठिता उपेयसिक्ता बुद्धि 'मनीया' है। मनकी बुद्धि अपना अन्न बना लेती है, यह एक पक्ष है। इस पक्ष में मन बुद्धि का क्यवची है। अतएव बुद्धिसदृकत ऐसा मन कमी कल्पन का कारण नहीं बनता। यही मन 'विज्ञानवान्' कहलाया है। यही मनोनामिता विद्याबुद्धि है, जो स्वयत्कारिकेक में समर्थ रहती है। यह कत्र सम्भव है, बरकि इन्द्रियसंयमपूरक मन को विषयबन्धित से सुरक्षित रक्ता जाता है। संस्कारिक सुख को ही प्रधान मानने वाले मयाबाव मनुष्य इन्द्रियसंयम में असमर्थ रहते हुए विषयात्मक बन जाते हैं। विषयात्मक मन बुद्धि से प्ररक्त बनता हुआ उसे अपना अन्न बना लेता है। बुद्धि मन के प्रति अन्नसम्पर्षण कर देती है। ऐसा मन ही अविज्ञानवान् कहलाया है। ऐसी बुद्धि ही अविद्याबुद्धि कहलाई है। इन्द्रियसंयम बुद्धिसंपन्न है। बुद्धि के आत्मसम्पर्षण कर देने पर मन प्ररक्त हो जाता है, इन्द्रियसंयम टूट जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियवर्ग उन्मूलक बन जाया है, जैसे किना सारथि के रथाश्व। यदि मन का बुद्धि के प्रति अन्नसम्पर्षण है, तो बुद्धिरूप सारथि रररव है। फलता इन्द्रियारव मी लम्बागुणगामी हैं। शास्त्रज्ञान, शुभसंस्कार, सुखइति उपायना आदि के द्वारा विनयी बुद्धि मन को अन्न बना लेती है। उन्नी की बुद्धि 'मनीया' है व ही मनीया ही विवेकरथि है। युक्ततमा है। अज्ञान, कुटलकार, कुपइ, नास्तिक्य, आदि के द्वारा विनका मन बुद्धि को अन्न बना लेता है वे ही मयाबाव-भूत हैं। विवेक्यत्व है, अयुक्ततमा है। निम्न लिखित दो मात्रों से अक्षि ने इन्ही दोनों कर्णों का स्वरूपविरणोरण किया है—

युक्तात्मा-अनीपी—यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्ततन मनसा सदा ।

तस्यन्द्रियासि धरयानि सदशवा इव सारथे ॥

—छोप० १।३६।

अयुक्ततमा-मूढ—यस्त्वविज्ञानवान् भवति, अयुक्तेन मनसा सदा

तस्यन्द्रियापवशयानि दुष्टाशवा इव सारथे ॥

—छोप० १। ५

वास्तव्यं यही हुआ कि, मनोमर्दिता बुद्धि ही मन को इट् बनाती हुई 'मनीषा' कहलाई है। यही इट् शब्द का वैज्ञानिक निर्वचन है, किलञ्च-मना-इट्-यस्याः सा-मनीषा इट् वाक्य से अभिनव क्रिया का लक्षण है।

इति-‘मनीषा’-शब्दनिर्वचनम् (२)

५६-‘धिपया’-शब्दनिर्वचनम् (३)-

इन्द्रियधारा प्रमानमन पर प्रतिष्ठित होने वाले संस्कार सामान्य विशेष देह से हो माओं में विद्यत रहते हैं। शास्त्रीय, तथा सौक्तिक किशों का जो कितना अधिक ब्रह्म-मन्ता-भोवा होता है उतना संस्कारिक ज्ञान उही अनुपात से प्रवृत्त रहता है। सामान्यदर्शी के संस्कार सामान्य रहते हैं बहुदर्शी के संस्कार विशेष रहते हैं। सामान्य की अपेक्षा विशेष की बुद्धि अधिक उत्कृष्टों से युक्त रहती है। विशेषसंस्कार मनीष्य की विशेष उत्कृष्ट बनाते हैं। सामान्य संस्कारयुक्तता बुद्धि यहाँ 'मनीषा' कहलाई है यहाँ विशेषसंस्कारयुक्तता-प्रवृत्ता-यही मनीषा बुद्धि 'धिपया' नाम से व्यक्त हुई है। सामान्य व्यक्तियों का इट् प्रवृत्ता मनीषा से बर्षा हो जाता है। बहुदर्शी अतएव बहुकिं की धिपयाबुद्धि स्वभ्यतिम् के पक्ष से जन्म सामान्य विचारकों का वास्तव में बर्षा कर डालती है। एतदुपायानुसार यो कश्चि कि किना विद्याभ्यास के भी मनीषा का उद्गम हो जाता है। ऐसा गया है कि किठन एक किना पत्रे लिले साधारण मनुष्यों की भी ध्यत-भूत अव्युत्त होती है। उनके विचार, उनकी सम्पत्ति निबन्धनी होती है। इही सामान्य विचारयुक्तता बुद्धि का नाम 'मनीषा' है किलञ्च प्रचलित प्राचीन शुभ संस्कारों से सम्बन्ध है। डीक इटके विपरीत मन्ता-मन्ता परिहृतपत्र पुस्तकधर्म-भी ध्यत-भूत से वञ्चित बने गए हैं। परन्तु इनमें किना-पत्रे लिले मनीषी के बर्षा करने की शक्ति रहती है। किनाभ्य से कर्षणमात्रयुक्त बनी हुई इनकी धिपयाबुद्धि मनीषिणी का मुक्त अवकाश कर देती है। पुस्तकज्ञानात्मिक विद्या के संस्कार से बर्षावर्षावर्षी बनी हुई बुद्धि ही 'धिपया' कहलाई है। अतएव धिपया का 'धिपया ये धिपया' (ठे० भा० १।१।२।) पर लक्षण क्रिया गया है। 'धिप्योति-धर्मति-भया सा ही इट् शब्द का निर्वचन है। धिपयानुक्त कर्षणवृद्धि ही 'प्रणमना' कहलाई है जो शास्त्रिक विद्वानों में ही प्रमानरूप से प्रतिष्ठित रहती है।

इति-‘धिपया’-शब्दनिर्वचनम् (३)

५७-‘धी’-शब्दनिर्वचनम् (४)-

बुद्धितत्त्वयुक्त शब्दों में 'धी' शब्द विशेष महान् रचना है। कवी कि वह शब्द स्वभाव से उच्चरणा बुद्धि के कर्षणों का वाचक बन रहा है। उदाहरण के लिए, कृतीमन्त्र में प्रतिष्ठित स्वर्गकिन्ध का उच्चरणा बुद्धि मानिए। इन उच्चरिन्ध के केन्द्र से बाएँ ओर ध्योतिर्धवी धर्मिणी निकल रही है। इन धर्मिणी का ही नाम 'धर्मरचरति' निर्वचन से 'धी' है। उच्चरिन्ध एक है अर्थात्तः प्रथम धर्मिणी अनेक है 'साहस्यया महिमान् साहस्यम्' है। इही अर्थों का 'धी' कहा गया है। कई कवी कि इट्

नहीं अन्तर्क है अतएव इस शब्द का प्रयोग 'चित्त' इत चतुर्वर्ण्य से ही हुआ है, वैश्विक-पुनस्तु मनस्ता चित्त" तस्याऽऽ मन्त्रब्रह्मण मे प्रमाणित है। उक्त्यरूपा बुद्धि आत्मा है, अक्षरूप धीमात्र प्राण है। इसी आधार पर 'प्राणो चित्त' (शत १।१।१।११।) विद्वान्त स्यात् इत्यादि है। इन्द्रियशाय प्रज्ञान मन पर आण हुए संस्कारिक विषयों का ग्रहण और आधार स्वयं उक्त्यरूप बुद्धिस्वरूप पर न होकर इसके विनिर्गता प्राणान्तरिक्ष बुद्धिरश्मियों पर ही होता है। अतएव 'धीयते अन्तया' निवचन से इन प्राणान्तरिक्ष बुद्धिरश्मियों को 'धी' कहना अन्वय कनया है। मनीषा-धिपणा-प्रज्ञा-आदि यन्त्रधाम्क बुद्धिविषयों की मूलप्रसिद्धा यही 'चित्त' रूपा भी कनती है। अपनी किणुद रश्म्यवस्था में वहाँ यह 'धी' नाम से व्यवहृत होती है, वहाँ मनोऽप्य को गर्भ में लेकर यही 'मनीषा' नाम से, चित्तामंकारानुगत धन कर यही 'धिपणा' नाम से, प्रज्ञानमनाऽनुगत प्रज्ञाभाव से संश्लिष्ट होकर यही 'प्रज्ञा' नाम से, इत्यान्तरूप से तत्तद्दिशोपाभिर्धो से तत्तद्दिशोप नामों से व्यवहृत होने लगती है। अतएव इस सर्वव्याप्तिक्या धी का मनीषादि की अपेक्षा हम विशेष महत्त्व मान रहे हैं। धर्म्य हमारी उक्त्यरूपा बुद्धि का प्रमक कनया है यह बतलाया गया है। क्या धर्म्य उक्त्यरूप से आम्प्रात्मिक विज्ञानात्मा (बुद्धि) के रूप में परिणत होता है? नहीं। अपिधु धर्म्योक्त्यरूप बुद्धि की अर्धरूपा रश्मि ही वेदभूदनप्रक्रिया से प्रज्ञानचक्रण पर आकर उठी प्रकार उक्त्यरूप बुद्धिरूप में परिणत हो जाती है जैसे कि-ब्रह्म-दर्शन-स्फुटकादि बीज परात्कों पर आगत धर्म्य-रश्मि धर्म्यप्रतिबिम्बरूप उक्त्यभाव में परिणत हो जाती है। तत्तत्तत्त-बुद्धिस्थानीय धर्म्य से विनिर्गता धी-स्थानीया रश्मि ही हमारी उक्त्यरूपा बुद्धि का प्रमक कनती है। औररश्मि से बुद्धि बन गई उक्त्यरूप से हृदय में प्रतिष्ठित हो गई। अब इसमें भी उठी प्रकार रश्मियाँ निकलनें लगती हैं, जैसे कि ज्ञानि में प्रतिबिम्बित धर्म्य से रश्मियाँ निकलनें लगती हैं। क्या धर्म्यगत धविद्याप्राण से हमारी उक्त्यरूपा बुद्धि को प्रेरणाकण मिलता है? नहीं। अपिधु औररश्मिरूपा धी का उक्त्यरूप हमारी बुद्धिरश्मिस्थानीया धी के साथ ही होता है। अर्ध से अर्ध का ही प्रेरणाकण मिलता है। इसी आधार पर 'धियो यो न' प्रभाध्वयान् विद्वान्त स्यात् इत्यादि हुआ है। तात्पर्य करने का यही है कि, उक्त्यबुद्धि से विनिर्गता, किणुद माहातवा, प्राणान्तरिक्ष बुद्धिरश्मियाँ ही 'धी', किंवा 'चित्त' है।

इति-‘धी’-शब्दनिबन्धम् (४)



५८-‘प्रज्ञा’-शब्दनिबन्धनम् (५)

गीतेश्च बुद्धिभाग की दृष्टि से 'प्रज्ञा' शब्द की अर्थना एक महत्वपूर्ण स्थान रख रहा है। जिस प्रकार 'विज्ञान' बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है एवमेव 'प्रज्ञान' मन का स्वाभाविक धर्म माना गया है। विज्ञान के लक्ष्य से वहाँ बुद्धि 'विज्ञानात्मा' कहलाई है वहाँ प्रज्ञान के लक्ष्य से मन 'प्रज्ञानात्मा' कहाया है। और इत दृष्टि से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'प्रज्ञा'-उक्त्यरूप बालतन में मनव्ययान उत्तक है। ऐसी स्थिति में मानसभाववाचक 'प्रज्ञा' शब्द बुद्धिभाव का संवाचक जैसे मान लिया गया है, वह प्रज्ञान उदरिणत होता है बिलम्ब सिधतप्रक-आवाच्यों में धी उवाधान किया है।

प्रज्ञानात्मा मामक तन्त्रिब मन का लक्ष्य से युक्त चिद्व्यय प्रज्ञानात्मक ज्ञान है प्राणमात्र किंचा है, कोम प्राण भूत है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियशाग को नियन्त्रणशायन प्रज्ञा-प्राण-भूतमव मन पर प्रतिष्ठित रहते

है वे भी सूत्रनाम में ही अन्तर्भूत है। प्रधानमन के हान-क्रिया-अर्थ-गन्तिप्रधान प्रकाश-प्राण-भूत, तीन पर्व क्रमशः बुद्धि-मन-इन्द्रिय, इन तीन आत्मपक्षों से प्रधानतया उद्भव करते हैं। प्रधानतमक हान वस्तुप्रया बुद्धि का हान है। सोम बीज वपुतज है इस पर विद्विभिराशा विद्याबुद्धि का उठी प्रकार प्रविभिन प्रविष्टित हो जाता है जैसे कि चन्द्रमा पर सूर्यमोक्षेति प्रविष्टित होजाती है। अतः प्रकार वापुतजोति तत्कत खेरजोति होने में परजोति है एकमेव वापुतजानीय-मनोमोक्षिलीषणा प्रकाशमिति सूर्यरथानीया विज्ञानमोक्षेति ही है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर 'स वा एव प्रधानात्मा विज्ञानात्माना सम्परिप्लवतः' इत्यादि विज्ञानत स्थापित हुआ है। यह मानस प्रकाश भाग प्रधानमन की स्वर्ण की तन्मति नहीं है अतः विज्ञानात्मा का प्रथम भाग है। विज्ञानात्मा का विद्वय अन्वयकर्ममित महानात्मा की देन है। महानात्मानमर्मीभूत जिन्य विद्वयना का गर्मीभूत स्वरूप है। इसप्रकार परमतरका प्रकाशमात्र का विद्वयमोक्षित्व सिद्ध होजाता है। अतएव इस विद्वय मानस प्रकाशमात्र को 'पुराणी प्रजा' नाम से व्यक्त करना अन्वय बनता है जैसा कि-'प्रजा वा तस्मान् प्रसृता पुराणी' (श्वे ४१२८) इत्यादि बचन से प्रमाथित है। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है मन्वय विज्ञानात्मा (बुद्धि) में ही अन्वयभूत विद्वयमर्मा से विज्ञानात्मा पूर्वरूप से विद्यमान होता है। अतएव बुद्धि से परे रहने वाले महान् लक्ष्य अन्वयत, और अन्वयत से भी परे रहने वाले विद्वयमर्मा पुरुष को बुद्धियोगविरहोपक गीताशास्त्र ने- 'या बुद्धेः परतस्तु स' इत्यादिक्रम से बुद्धि से ही परे मान लिया है। इसी आधार पर यह कहा जासकता है कि मानसतया बुद्धि के द्वारा प्रविभिनरूप से आगत विज्ञानमात्र ही है। अपने इस प्राथमिक रूप से मानस प्रकाश तर्कवा विपर रहती है। ऐसी स्थितिसे के बुद्धियोगी ही 'स्थित-प्रज्ञ' कहलाया है। मानस प्रकाश भाग उनी तक विपर रहता है जब तक कि यह स्वप्रमथभूय विद्याबुद्धि की ओर अनुगत रहता है। अतएव बुद्धियोग को ही स्थितप्रज्ञता का बन्ध माना गया है। प्रजा का प्रस्तव वस्तुतः विद्याबुद्धि है एक मात्र इसी हेतु से प्रजा को हम 'बुद्धि' स्वरूप में अन्तर्भूत मान लकते हैं। वास्तव्य-वह माननी प्रजा का अपने विद्वय रूप से बुद्धि की ओर अनुगत है बुद्धिकरात्मिका बनती हुई बुद्धि-स्वरूप में ही अन्तर्भूत है। प्रजाबुक्तय बुद्धि ही प्रजाबुद्धि है, किंवा बुद्धिबुक्तय प्रजा ही प्रजाबुद्धि है जो गीता के शब्दों में 'ध्वजप्रपत्तिका बुद्धि' कहलाई है।

यदि प्रविभिनकाहक पात्र विपर रहता है तो प्रविभिन मो विपर रहता है। उत दशा में प्रविभिन एकत्र में परिणत रहता है। पात्ररथ पानी के दिसते ही प्रविभिन दिस पड़ेगा। उसके अनेक विभिन हो जाईगे। यही स्थिति बहाँ कमनिय। अतः पात्र में खेनरूप पानी मय है, जिनमे हम 'मन' कहते हैं। अविद्याबुद्धि से लक्षित विज्ञानीय तन्वयगतमन्वरूप धरके ने अन्वयत मन दिस पड़ता है। इसके दिसते ही प्रविभिनरूप प्रकाशमय दिस पड़ता है। प्रजा लक्षितप्रमथमय बनती हुए अपने विद्याबुद्धिपनुगत स्वाभाविक विपरमय का परिषय करती है अन्वयतमय में परिणत होजाती है। यदि मनोपल्लव शान्त है विपर है तो तत्र प्रविभिनरूपके प्रविभिन प्रजाबुद्धि एकत्र में परिणत रहती हुई अपने स्वभाविक ध्वजप्रपत्तम में विद्यमान रहती है। अन्वयतमयबुद्धिरूप प्रजाबुद्धि लक्ष्य बनती हुए बहाँ लक्ष्यत वत मयतत व का निर्बन्ध कर जासकती है बहाँ अन्वयतमय प्रजाबुद्धि लक्ष्यमयप्राय निर्बन्ध बनती है इत्यन्तः अनुपान्न करती रहती

है। जिसे लोक में 'सम्भ' कहा जाता है, वही प्रहासुद्धि है, जो मानसमात्र बनता हुआ भी तत्त्व बोद्ध-
मात्र ही है। 'नहि प्रहापता पञ्चन पी' सिद्धयेत, न प्रहातन्म्यं प्रहासत्' (श्री उप) इत्यादि क अगुहार
प्रहासिमात्र बुद्धि, जिंजा प्रहासुद्धि ही नियन्त्रण की प्रविष्टि बनती है। मूलरमा जब इस बुद्धियोगलक्षणा स्वर-
ण्यबुद्धिरूपा प्रहा से मुक्त होजाता है, तो यह कर्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी अतद्ध बना रहता है—'निःसङ्ग
प्रहाया मनेत्'।—'यदात्मा प्रहायात्मानं सम्भरो का तात्पर्य भी यही है कि, मूलात्मा जब प्रहासुद्धि के द्वारा
बिरामता में सम्भ्रम कर लेता है, तो उस दशा में यह कथन से विनियुक्त होजाता है। 'प्रहां कुर्वति प्राहाया'
इत्यादि आवेश से भी इती प्रहासुद्धि की आरम्भ होजाता है। तत्पर्य करने का यही है कि, प्रहा-प्राण मूला-
त्मक मन का बुद्धयनुगत-उत्पन्नममूत-सिपर-स्वभावसङ्घ-प्रहासमात्र ही 'प्रहासुद्धि' है। प्रतिबिम्बत्व ही
इतना बुद्धिरव है। अतएव इसके मानसमात्रात्मक होने पर भी इसे बुद्धिस्वरूप में अन्तर्भूत मान लिया
गया है। मनोया-विषया-बी-आदि विषय' अर्थात्प्रक है। किन्तु यह 'प्रहा-तत्त्व स्वतन्त्र उक्त्य है। पी
का प्रतिबिम्ब ही प्रहासुद्धि में परिणत होकर स्वतन्त्र उक्त्य बनता है। ठीकी ता इस-प्रहासनात्मा' रूप से स्वतन्त्र
आत्मा माना गया है। उक्त्यात्मिक बुद्धि के बीरूप अर्थ से अनुभूत स्वतन्त्रात्मकमानसमात्रात्मा ही
बुद्धयनुगत रहता हुआ 'प्रहासुद्धि' है। यही 'प्रहा' शब्दनिर्बचनार्थ का संक्षिप्त स्वरूप किरलोपण है किन्तु-
'प्रकरोपण-स्वयसायरूपस्य-जानाति-या-सा -प्रहासतऽनया सा' यह स्वरूप है।

इति-'प्रहा'-शब्दनिवचनम् (१)



५६-शेमुपी-शब्द निर्बचनम्(६)-

विद्यासुद्धि के वैराग्य ज्ञान कर्म, एतर्प्य, य वाग विवत बननाए गए हैं। यगद पात्मिक आश्रित,
माहात्मिका आशिवा (अज्ञान), पापसमक अमिनिवेश (अधर्म) तमीरूपा अग्निता (अनैश्वर्य) व चारी
उक्त चारी विद्यासुद्धियों के आचरण अविद्यासुद्धिविषय' है। किन्तु प्रकार निदानिमन मनुष्य अपने आप
का मूल जाता है एवमेव इन चारी अविद्यासुद्धियों के आक्रमण व चारी विद्यासुद्धियों का स्वरूप आहत हो
जाता है। फलतः मूलरमा स्वसम्भ्रम में मुक्त रहन जाता है। क्योंकि अविद्यासुद्धिचतुष्टयी ही आत्म-
स्वरूपावरणलक्षण शम्भ का कारण बनती है। अतएव इस अचरण ही 'साम्प्रथ्यात्माच्छुद्धयम् म्याप से
'शे' कहा जातजाता है। 'शेते' ही 'श'-भाव है। अविद्यासुद्धिमात्र आत्मा 'शत' है विद्यासुद्धिमुक्त आत्मा
'जानति है। 'शेते' की प्रवृत्ति का मूलकारण अविद्यासुद्धि-चतुष्टयी है। एत एम पी-'शत' कहा जायगा।
तात्पर्य-शे-मुपी' में-शे अविद्यासुद्धि का संश्लेष है। विद्यासुद्धिचतुष्टयी एत 'श' का अचरण पर
लेती है अतएव-'श'-अविद्या, तां मुष्णाति' निवचन से एत विद्यासुद्धि का अचरण ही-'शमुपी' कहा

० 'प्यवसायान्मिका सुद्धिरकद कुलन्दन ॥

बहुशाखा अनन्ताथ सुदयोऽप्यवसायिनाम् ॥'

—गीता २।११।

ब्रह्मज्ञा है। तात्पर्य—'बुद्धि' शब्द वहाँ उक्तमात्रानिश्चय विज्ञा-अविद्यास्त्रिभया आगे बुद्धियों का संघारक है वहाँ 'अनुदी' शब्द उक्तमात्रानिश्चय विद्याबुद्धिबहुवचनी का ही संघारक बन रहा है।

इति—'शमुषी'—शब्दनिबन्धनम् (६)



६०—'मति'—शब्दनिबन्धनम्—

पृथक्प्रतिपादित प्रया शब्द के अन्तर्गत 'मति' शब्द का निबन्धन में यात्रा ही सम्भव है। प्रया-शब्द-निबन्धन में कथनाया गया है कि, प्रया-प्राण-भूत-सन्धि का ही नाम प्रयानमन है एवं प्राण ही तन्मो पर्यन्तमया बुद्धि-मन-इन्द्रियवर्ग के अनुसाराह है। इत्यादि तात्पर्य यही है कि, प्राण-भूतगमिता मानस-प्रया विद्याबुद्धि के प्रति आत्मजननय कर्मो हुए प्रयाबुद्धि है। प्रया भूतगमिन मानस प्राण मन के प्रति आत्म-सन्धि बनता हुआ 'प्राणमयक मन' है। एवं प्रया-प्राण-गमिन् मानसभूत इन्द्रियवर्ग के प्रति आत्मसन्धि बनता हुआ 'प्राणमयक इन्द्रियवर्ग' है। इसप्रकार एक ही मन अपनी तीन पक्षों में विभक्त्य बन रहा है। बुद्धिरूप मन प्रयाप्रधान है मनोरूप मन प्राणप्रधान है एवं इन्द्रियरूप मन भूतप्रधान है। इनमें बुद्धिरूप प्रयाप्रधान मन वहाँ 'प्रया' ब्रह्मज्ञा है वहाँ मनोरूप प्राणप्रधान मन 'मति' नाम से व्यवहृत हुआ है। मन बुद्धि के प्रति आत्मजननय बनता हुआ बुद्धिरूप में परिणत होकर 'प्रया' है। वहाँ मन का स्वात्म्य उचित है। वही प्राणगमिन् प्रया है। मन के आत्मजननय नहीं किया अविद्यासन्धि में ही प्रतिष्ठित रहत हुए हमने बुद्धि के विद्याधर्म का आत्मसात् कर लिया। ऐसा ही मन 'प्रयामय प्राण' है। यही मान 'मति' है। प्राणमय मन में बुद्धि का प्राधान्य है प्राणमय मन में मन का प्राधान्य है। बुद्धिप्रधान मन प्रया-प्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है मन-प्रधान मन प्राणप्रधान बनता हुआ विद्याप्रधान है। प्राणरूप में ज्ञानमय, प्राणरूप में विद्यामय बनता हुआ यह मन 'उत्तमपत्तक' है—'उत्तमपत्तक' मन । प्रया यही प्राण में प्रया है या मनन है। प्राण यही प्रया में ज्ञान है या ज्ञान है। प्रयाबुद्धि में ज्ञान का प्राधान्य है मनन बुद्धि में विद्या का प्राधान्य है। मनन-प्रयाबुद्धि वही बुद्धि प्रया है मननप्राणगमिन् प्रया वही बुद्धि मति है।

अन्तमृत मान ली गई है। प्रज्ञान, और मनन सभी सम्भव है, जबकि प्रशाखाणमूर्ति मन विद्याबुद्धि से सम्भव रहता है, यही निष्कर्ष है।

इति-‘मति’-शब्दनिबचनम् (७)-



६१-‘प्रेक्षा’-शब्दनिबचनम् (८)-

ब्रह्मव्यापार की प्रेक्षण कहलाया है, एवं इस व्यापार का प्रवर्धक पदु मी-‘प्रेक्षते-परस्वनेन’ निबचन से ‘प्रेक्षण’ कहलाया है। यह प्रेक्षणव्यापार प्रकृत में सबबाह्य इन्द्रियव्यापारों का उपलक्षण समझना चाहिए। इन्द्रियव्यापार विषयप्रधान बनता हुआ मूढप्रधान है। दर्शन भरण, ग्रन्थग्रहण, रक्षणहण, स्वर्ण, आदि सभी इन्द्रियक व्यापार मूढप्रधान हैं। इन सब व्यापारों को ‘प्रेक्षणम्’ कह लीजिए। इन प्रेक्षणव्यापार (इन्द्रिय व्यापार) की जो मूलप्रतिष्ठा है, यही ‘प्रेक्षा’ है। मूलप्रतिष्ठा ध्येन है, यही प्रज्ञा-प्राण-मूढप्रधानक त्रैविध्य मन। सर्वेन्द्रियमन का इन्द्रियाणुगत व्यापार ही ‘प्रेक्षा’ है। यदि ऐसा है, तो ‘प्रेक्षा’ शब्द का बुद्धिस्वरूप में समावेश कभी माना गया है, उक्त पूर्व के प्रज्ञा-मति-शब्दनिबचनों से पत्रपि यथाार्थ है, तथापि स्पष्टीकरण के लिए यहाँ भी दो शब्द कह दिए जाते हैं।

मूलश्रोत को लक्ष्य बना कर विषय का समन्वय लीजिए। ‘नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य’ शिवात्त का निष्कर्ष यही निकलता है कि, बिना बुद्धिलक्ष्यता के न इन्द्रियों का विषयों के साथ पत्र सम्भव है, न मन का इन्द्रियों के साथ। कारण ऐन्द्रियक शान कम्म मन से आगत है, एवं मानस ज्ञान कम्म बुद्धि की देन है। इसीलिए ता स्वप्नारम्भ में हमने सर्वविध (लौकिक, वैदिक) योगमात्र को ‘बुद्धिबोध’ कहा है। बुद्धि में चित्-प्राण-मूढ तीनों का समावेश है। सोममुक्त आधुःप्रवर्तक आरमताव चित् है। मचनेत्रलक्षण व्यातिर्मग प्राण है। आतिनाभिलक्षण गोर्मग मूढ है। बुद्धि की ये तीनों लक्ष्यविषय विद्रुस्वप्नेन-न्द्रवेन-आधित्वेन आरह है। अतएव शानविषयमूर्ति विज्ञानात्मा अतएवपुत्र्य माना गया है। वैनाकि-‘असन्नोक्षयं पुरुषः-‘न सज्जते न व्यथते, न रिप्यति’ इत्यर्थ उपनिषद्बुद्धि से प्रमाश्रित है। विज्ञानात्मा की इन्हीं तीनों अगद-लक्ष्यविषयों के प्रवर्धक भाग को लक्षर प्रज्ञानात्मा अपने स्वरूपनिर्माण में लभ्यं हुआ है। चित्तप्रकार शुद्ध मी बल अशुद्ध चेत में बाहर मक्ति हो जाता है। एवमेव लभप्रधान अतएव लक्षर नत हुए मन-वेद्य में आगत अतएव मी बुद्धि-लक्ष्यविषय लक्षप्रधान में परिणत हो जाती है। फलतः बुद्धिबोधों का ही अंशावतार प्रज्ञानात्मा लक्ष बन जाता है। इस प्रज्ञानमन की प्रज्ञानिका चित्, मानसनिन्द्रियगुस्तलक्षण प्राण, समन्वयका मन भागों के प्रवर्धक का लक्षर शानकम्मोन्द्रियां स्वस्वरूपकमान में लभ्य होती है। अतएव इनमें भी (परदेक इन्द्रिय में प्रधानता-अप्रधानता रूप से) प्रज्ञा-प्राण-मूढ तीन मानाओं का समावेश रहता है। इन विरलेपत्र में निष्कर्ष यही निकलता है कि विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा इन्द्रियमन तीनों ही चित्-प्राण-मनमव है। साथ ही तीनों का मूढाधार विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही है।

विज्ञानरत्ना-आप्तु-प्रवर्त-का-अरत्ना

(चित्)

प्रज्ञानरत्ना-प्रज्ञानरत्ना चित्

इन्द्रियाणि-प्रज्ञानात्रा चित्

मपचेन्द्रतत्त्वार्णं अपोषिः

(प्राणः)

महत्त्वानिन्द्रतत्त्वार्णं प्राण

प्राणमात्रा-प्राण

धावित्रायिलक्षणं मूत्रम्

(मूत्रम्)

सोमसत्त्वार्णं मूत्रम्

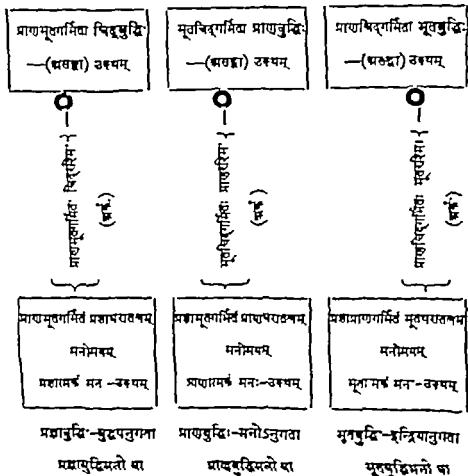
मूत्रमात्रा-मूत्रम्

मूलाधारमूत्र विज्ञानरत्ना में चित् का प्राणात्म्य है तत्त्व रूप प्रज्ञानरत्ना में प्राण का प्राणात्म्य है एवं तत्त्व रूप इन्द्रियार्ण में मूत्र का प्राणात्म्य है। इत्यादि तत्त्वार्ण यह हुआ कि-प्राणमूत्रार्णमिता चित् विज्ञानरत्ना है चित्मूत्रार्णमित प्राण प्रज्ञानरत्ना है एवं चित्प्राणार्णमित मूत्र इन्द्रियार्ण है। इत्यादि वह भी तत्त्वार्ण निष्पत्ता कि, तीनों में प्राणप्रधान प्रज्ञानरत्ना (मन) क्योंकि मन्मथ है अतएव इत्ये तीनों रत्नों का सम्बन्ध रहता है। बुद्धिबर्माकर्मत बही मन बुद्धिकर्म में परिणत है इन्द्रियबर्माकर्मत बही मन इन्द्रियकर्म में परिणत है। इत्ये एव भी निष्कर्ष निष्पत्ता कि मन का उच्छेदकार कोई निश्च स्वकर्म-आधार-मही है, जैसे कि पानी का अपना कोई निश्च आधार नहीं है। अग्नि-वायु, रूप रसादि यद्यत् आद्यतन का पानी अनुगमन करता है वह तद्यत् आधार में ही बैठे परिणत हो जाता है एवमेव सोमसत्त्वार्ण प्रश्नमन बुद्धि इन्द्रिय दोनों में से कित् रूप का आधार हो लेता है तद्यत् में ही वह परिणत हो जाता है। इती रहस्य का महात्म्य है- अज्ञानमयोऽयं पुरुषः (प्रज्ञानरत्ना), यो यच्छुद्धः स एव सः। इन शब्दों में निरूपण किया है। अज्ञान का अज्ञान (ते मा० १२। ११) विज्ञानानुसार भ्रमा अपवृत्त हो है, एवं मही प्रज्ञानमन की स्वकर्मार्णित है किन्तु 'अज्ञानविज्ञान में विस्तार से उक्त हुआ है। 'यद्यत् स्वकर्ममाहुरे, तेम तेम स पुण्यते- 'तं यथा यद्योपासते-तद्यथ मभवति' इत्यादि बचन भी प्रज्ञानमन की इत परकृतानुगमनता का ही उद्घरण कर रहे हैं। पुण्यपुण्य बही मन योगपुण्य बनता हुआ मुक्तिप्रदाता है इन्द्रियपुण्य बही मन योगविपुण्य बनता हुआ अचनमवर्तक है ०। मन की इत परकृत्य को लक्ष्य बना कर ही 'मिथा' शब्द का उद्घरण कीजिए।

बुद्धिपुण्य मन बुद्धिरवकर्मपुण्य चित्-प्राण-मूत्र मेर से तीन मार्गों में परिणत हो जाता है। यदि प्रज्ञानमन बुद्धि के चित्-प्राण से अनुगम्य है, तो ज्ञानप्रधान बही मन 'प्रज्ञानमन' कहलाने लगता है, बही 'प्रज्ञाबुद्धि (हानबुद्धि) है किन्तु विकाररूपेण बुद्धि ही बनती है। क्योंकि हमने बुद्धि को चित्प्रधान कहाया है। यदि प्रज्ञानमन बुद्धि के प्राणप्राण से अनुगम्य है तो प्राणप्रधान बही मन 'प्राणमन कहलाने लगता है बही प्राणबुद्धि (कियबुद्धि) है किन्तु विकाररूपेण स्वयं मन ही बनता है। क्योंकि मन को प्राणप्रधान कहाया गया है। इती आधार पर बुद्धि का 'प्राणबुद्धि' ही सौम्य ! मन' वह विज्ञान प्रतिष्ठित है। यदि प्रज्ञानमन बुद्धि के यत्प्रमाण से अनुगम्य है तो मूत्रप्रधान बही मन 'मूत्रमन' कहलाने लगता है बही

०—न ददौ, न च जीवात्मा, नन्द्रियाणि परन्तप ॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः ॥

मूत्रबुद्धि (अर्थबुद्धि) है बिल्का विकासक्षेत्र इन्द्रियवर्ग ही बनता है। क्योंकि इन्द्रियवर्ग को मूत्रवधान ब्रह्मलाया गया है। प्रधानमनोव्यवस्था के तीन विभाग हैं। प्रज्ञाव्यवस्था से यह बुद्धि के चिदांग से, प्राणव्यवस्था से बुद्धि के प्राणमांग से, तथा मूत्रव्यवस्था से बुद्धि के मूत्रमांग से युक्त रहता है। तीन मानवक्षेत्र, तीनों पर बुद्धि के तीनों मांगों का प्रतिबिम्ब, ये ही मनोऽनुगत तीन स्वरूप उच्यते, तीनों उच्यते इत्येव बुद्धि-मन-इन्द्रियवर्ग के उपकारक, यही निष्कर्ष है।



यह विवेचन से स्पष्ट है कि, बुद्धियुक्त (बुद्धिपतुगता-युक्त) एक ही मन बुद्धि-मन-इन्द्रिय-उपेक्षाग रूपः प्रधान-प्राण-मूत्र त्रय से तीन उच्यतेमात्रों में परिणत हो जाता है। प्रधानमन के विद्या बुद्धियुक्त ये ही तीनों रूप रूपः 'प्रज्ञा-मति-ब्रह्म' नामों से व्यक्त हो गए हैं। बुद्धियुक्त मन का ज्ञान 'प्रज्ञा' है मनोऽनुगत मन का कर्म 'मति' है एवं इन्द्रियानुगत मन का परिष्कार 'ब्रह्म' है। प्रधानमन रूपः प्रधान है, प्रोधाप्यकार रूपः प्रवर्तन है। प्रोधात्मक मन को आपार बना कर इन्द्रियों का प्रवर्तन करता है।

एसा निरुक्तिव बना रहता है। निवेकदृष्टि ही प्रेक्षा है, तत्पूर्वक कर्म में प्रवृत्त होने वाला ही 'प्रेक्षापूर्वकरी' प्रकृत्याय है। अविवेकदृष्टि इन्द्रियानुगत मन का स्वरूप है। यही सामान्य-लोकादृष्टि है जिसमें पदे पदे स्पर्शन है पकन है कचन है। प्रवर्ण-रचन ही प्रेक्षा है। यह बुद्धि का ही कर्म है। तत्पक्ष प्रेक्षाधरी मन को आचार बना कर ही इन्द्रियप्रेक्षण वास्तविक प्रेक्षण बन सकता है। एक प्राथमिक विकल्पका दौर। प्रका-मति-प्रेक्षा तीनों अवस्थाबुद्धि के चित् प्राण-अभिज्ञानिभूत से अनुपदीत हैं। अतएव तत्पक्ष प्रका-मति-प्रेक्षामय प्रहानमन इस अवस्थाबुद्धिसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ प्रका-मति-प्रेक्षा-बुद्धिमें के द्वारा तत्पक्ष कर्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी निर्मित्य बना रहता है। ठीक इसके विपरीत यही प्रहानमन यदि अविद्याबुद्धि सहित कलङ्क इन्द्रियवर्णमांशर में परिणत हो जाता है तो यह बुद्धयनुगत प्रका-मति-प्रेक्षा सम्पत्तिमें से वञ्चित रहता हुआ कचनपाद्य से निरपेक्ष हो जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि प्रका-मति-प्रेक्षा तीनों पक्षयि मानवभाव हैं तथापि तीनों के बुद्धिपर्यानुगत रहने से तीनों शब्द बुद्धिस्वरूप में अन्तर्भूत मान लिए गए हैं। इनमें 'प्रका' शब्द मनोवर्गिता बुद्धि का, किंवा बुद्धिचेतानुगामी मन का वाचक है। 'मति' शब्द बुद्धिवर्गित मन का किंवा मन चेतानुगता बुद्धि का वाचक है। एवं 'प्रेक्षा' शब्द बुद्धि-मनोवर्गित इन्द्रियात्मक मन का किंवा इन्द्रियचेतानुगता बुद्धि का वाचक है। दूसरे शब्दों में मनोऽनुगता प्रकाबुद्धि 'प्रका' है मनोऽनुगता प्राणबुद्धि 'मति' है, मनोऽनुगता सूत्रबुद्धि 'प्रेक्षा' है। 'प्रेक्षा' बुद्धि इन्द्रियाधिष्ठात्री है प्राणबुद्धि मनोऽधिष्ठात्री है, प्रकाबुद्धि स्वस्वरूपाधिष्ठात्री है। तीनों शब्द अद्यत-अमानार्थक बनते हुए भी तत्कतः विभिन्नार्थक ही सिद्ध हो रहे हैं।

इति-‘प्रेक्षा’-शब्दनिवचनम् (८)



६२-‘उपलम्बि’-शब्दनिवचनम् (९)-

इन्द्रियद्वारा प्रहान मन पर संस्काररूप से विषय प्रविष्टित हुए, इसी को 'विप्लवम्बि' (विप्लवप्रति) कहा गया है। यह प्राप्ति सामान्य, विरोधरूप से दो मांगों में विभक्त है। मार्ग में चलते दिखते हम इन्द्रियों के द्वारा विविध विषयों का ग्रहण किया करते हैं। प्रहानमन संस्काररूप से उन्हें अल्पवर्ण भी करता रहता है। आगे बढ़ते जाते हैं, सिद्धि के विषयों के संस्कार मिटते जाते हैं। यही सामान्य प्राप्ति है जिसका अर्थिक संस्कार से सम्बन्ध है। कल पड़ा, आत्र भूल गए। इस दृष्टिक संस्कारविन्या प्राप्ति को केवल 'लम्बि' ही कहा गया है। ऐश कर्षी होता है। परन का उत्तर है-बुद्धिस्वभावभाव। बुद्धि का व्यवहार नहीं रहता यह ता नहीं कहा जा सकता। सर्वथा बुद्धिस्वभाव के अभाव में तो मन का स्वरूप ही अव्यक्त हो जाता है। और उक्त दशा में इन्द्रियस्वभाव ही ही नहीं करता। जलता बुद्धि का व्यवहार है अव्यक्त, परन्तु इस दशा में बुद्धि का मन के साथ 'व्य' भाव रहता है। ऐन्द्रियक स्वरूप के साथ साथ बुद्धि अपने अन्तर्बन्ध में किसी अल्प विनय को लक्ष्य बनाए रखती है। प्रहान कल उक्त अल्प आम्बन्धर लक्ष्य भी और लगा रहता है। अतएव इस दशा में मन केवल बुद्धि की प्रतिष्ठाया से युक्त रहता है। यही 'उपेक्षाबुद्धि' कहलाई है। उपेक्षाबुद्धिसहस्र मन से होने वाला ऐन्द्रियक स्वरूप विन संस्कारों को मन पर लम्बित करता है वे दृष्टमूल नहीं बनने पाते। क्योंकि दृष्टय-विपरता-अपेक्षाबुद्धि के व्यवहार पर ही निर्भर है। यदि हम आम्बन्धर विषय की धार से बुद्धि को दृष्ट कर मन में पूर्णरूप से उठे मिश्रण कर देते हैं तो

उम समय आने वाले ऐन्द्रियक संस्कार विरकार के लिए दृढमूल बन जाते हैं। इसी स्थिति का 'अवधान पूर्वक देखो, गौर करो, तबियत लगा कर पढ़ो नहीं भूल जाओगे' इत्यादि वाक्यों से अभिनय हुआ है। प्रज्ञानमन के सर्वथा समीप (उप) देती हुई बुद्धि पश्यत सांस्कारिक लम्बि (विषयप्राप्ति) का पहुँच कर उत्कथ दृढमूल बन जाना ही उपलम्बि है यही विशेषप्राप्ति है। सामान्यप्राप्ति मनोऽनुगता बनती हुई केवल 'लम्बि' है। विशेषप्राप्ति बुद्धभंगुगता बनती हुई 'उपलम्बि' है। संस्कारिकविषयवच्छिन्न प्रज्ञानमनोऽनुगता बुद्धि ही विषयोपलम्बि के कारण 'उपलम्बि' कहलाई है। विषयसंस्कारतन्त्रेद से यही बुद्धितत्त्व 'उपलम्बि' नाम से व्यक्त होना, यही वास्तव्य है। विषयसंस्कारादि का अग्रवामुद्धि मी 'उपलम्बि' है क्योंकि 'उपलम्ब्यते-ऽनया' निर्बंधनानुसार अग्रवा बुद्धि ही 'उपलम्बि' रूपा लम्बि का कारण बनती है। एवं विषयतत्कार संस्कृत-विषयप्राप्ता बुद्धि मी 'उपलम्बि' नाम से ही व्यक्त की जाती, क्योंकि विषयोपलम्बि से यह स्वयं मी विषयप्राप्ति (विषयोपलम्बिरूपा) बन जाती है। यही उपलम्बिशब्द का संक्षिप्त निर्बंधनार्थ है।

इति—'उपलम्बि'—शुद्धविवनम् (६)



६३—'चित्' शब्दनिर्बंधनम्—(१०)

'चित्ता भवति या सा चित्'—निर्बंधनानुसार 'चित्' होने वाला तत्त्वविशेष ही 'चित्' है। आधि-दैविक-भौतिक-आरिभक बन्धवाक्य पदार्थों का स्वरूप चित्-प्रक्रिया से ही सम्पन्न हुआ है। विषयकार इच्छा पर इच्छा की चित्ति (चयन-वेष्टा) से एक प्राप्त करवा हा जाता है एकमेव रक्षणित विभिन्न शक्तों की चित्ति से ही चित्ति विषयों का स्वरूप निम्नमात्र हुआ है। और इस दृष्टि से विरक्तमौल्यक सभी पदार्थों को सब 'चित्' कहा जा सकता है तो फिर 'चित्' शब्द बुद्धितत्त्व का संघाटक किन आधार पर माना गया है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। उत्तर बुद्धि के प्रथम आधिदैविक बुद्धिरयानीय स्वयं से रूँदिए। यत्रप्रक्रिया सयन सयन मे' से दो मागों में विभक्त मानी गई है। अग्नि में होमाहुति होना मी यह है। इन यत्न से आदतन की दृष्टि नहीं होती। क्योंकि अन्वतोम को अग्नाद् अग्नि आत्मकार्य कर होता है। यही 'चयनयत्न' है, जिसे 'मुखा मी कहा गया है एवं किलके अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास पातुम्मांस, अन्न सौमयग मे' से पाँच वितर्त मारें गए हैं। अग्नि में अग्नि की आहुति होना मी यह है। इस यत्न मे आदतन की दृष्टि होती है, क्योंकि आग्नाद् अग्नाद् को आत्मकार्य नहीं कर सकता। स्वयं से ऊपर परमेष्ठी है, परमेष्ठी से ऊपर स्वयम् है। स्वात्मयत्न यत्न के गर्भ में तनन-सयन सयनयत्न यत्न प्रतिष्ठित हैं अतएव उसे मुखा-चित्ता दोनों ही कहा जा सकता है। अतएव स्वात्मयत्न ब्रह्मयत्न 'सर्वदुतयत्न' कहलाया है। इत सर्वदुतयत्नमुक्ति स्वयम् के विश्वरूप (मर्दिमासदत्त) में प्रतिष्ठित आग्नेय परमेष्ठी के आधार पर तननयत्न प्रतिष्ठित है। एवं ब्रह्मयत्न स्वयं के आधार पर सयनयत्न प्रतिष्ठित है जो क्षेत्रतन्त्रतपतिनमय सयनयत्न पार्ष्व-आन्तरिक्ष-दिग्भूविष्णुविराट्पि-अन्तरिक्ष-तुल्यभंग अग्निमा' से होमयत्न पश्यवित्तिक बनता हुआ प्रचरार्थ ही माना गया है। चारमहप तन्त्र में अतएव मे इतन्त्रतः ब्रह्मयत्न आग्नेयऽग्निहोत्र व्याप्त रहते हैं। इनवा परमेष्ठी की मर्दिमा के गर्भ में चिन्ना होने लगता है। अन्तर में इन अग्निहोत्रों की चित्तियों मे अग्नि बुद्धि अग्नि (स्विदाग्नि) रूप में परिणत हो जाता है। अग्निचित्तियों से कृतरूप यही अग्निचित्तियत्न

एक निःसंशय बना रहता है। निवेद्यवृत्ति ही प्रवेद्या है, तत्पूर्वक कर्म में प्रवृत्त होने वाला ही 'प्रवेद्यापूर्ववृत्ति' कहलाता है। अनिवेद्यवृत्ति इन्द्रियानुगत मन का व्यापार है। यही सामान्य-लोकावृत्ति है किन्तु पचे पचे स्मरण है फलन है कथन है। प्रकर्षवर्तन ही प्रवेद्या है। वह बुद्धि का ही धर्म है। तत्पुत्र प्रवेद्याधरी मन का आचार बना कर ही इन्द्रियप्रवेद्य वास्तविक प्रवेद्या बन सकता है। एक प्रावर्तिक विशेषण और। प्रज्ञा-मति-प्रवेद्या तीनों अणुबुद्धि के चित्त-शाय-आविशानिभूत से अनुपरीत है। अतएव तत्पुत्र प्रज्ञा-मति-प्रवेद्यामय प्रज्ञानमन इत अणुबुद्धितमति से पुत्र रहता हुआ प्रज्ञा-मति-प्रवेद्या-इतियों के द्वारा तत्पुत्र कर्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी निःश्लिष्ट बना रहता है। ठीक इसके विपरीत यही प्रज्ञानमन यदि अविद्यतुद्धि लक्ष्य लक्ष इन्द्रियमार्गाकार में परिणत हो जाता है तो वह बुद्ध्यनुगत प्रज्ञा-मति-प्रवेद्या-धर्मियों से बन्धित रहता हुआ कथनपाठ से निपरीत हो जाता है। निष्पर्यं यही हुआ कि प्रज्ञा-मति-प्रवेद्या तीनों कथि मानवभाव हैं, तथापि तीनों के बुद्धिबलानुगत रहने से तीनों शब्द बुद्धितत्त्व में अन्तर्भूत मान लिए गए हैं। इनमें 'प्रज्ञा' शब्द मनोसंश्लिष्ट बुद्धि का, किंवा बुद्धिचेत्रानुष्मयी मन का वाचक है। 'मति' शब्द बुद्धिसंश्लिष्ट मन का किंवा मनःचेत्रानुष्मिता बुद्धि का वाचक है। एवं 'प्रवेद्या' शब्द बुद्धि-मनोसंश्लिष्ट इन्द्रियात्मक मन का किंवा इन्द्रियचेत्रानुष्मिता बुद्धि का वाचक है। दूसरे शब्दों में मनोऽनुष्मिता प्रज्ञाबुद्धि प्रज्ञा है मनोऽनुष्मिता प्राणबुद्धि 'मति' है, मनोऽनुष्मिता मूर्तबुद्धि 'प्रवेद्या' है। 'प्रवेद्या' बुद्धि इन्द्रियाधिष्ठात्री है प्राणबुद्धि मनोऽधिष्ठात्री है, प्रज्ञाबुद्धि स्मृत्यरूपाधिष्ठात्री है। तीनों शब्द अंततः उमानार्थक बनते हुए भी तत्ततः विभिन्नार्थक ही सिद्ध हो रहे हैं।

इति-‘प्रवेद्या’-शब्दनिर्वचनम् (८)



६०-‘उपसम्पि’-शब्दनिर्वचनम् (९)—

इन्द्रियद्वारा प्रज्ञान मन पर संस्काररूप से विषय प्रतिष्ठित हुए, इसी को 'विषयसम्पि' (विषयप्राप्ति) कहा गया है। वह प्राप्ति सामान्य विशेषरूप से दो भागों में विभक्त है। मार्ग में चलते फिरते हम इन्द्रियों के द्वारा विविध विषयों का प्रवेद्य किया करते हैं। प्रज्ञानमन संस्काररूप से उन्हें अस्मत्प्रवृत्त भी करता रहता है। आगे बढ़ते जाते हैं, विद्ये के विषयों के संस्कार मिटते जाते हैं। यही सामान्य प्राप्ति है किंतु धार्मिक संस्कार से तत्कल्प है। कल पढ़ा आरंभ भूत गए। इस धार्मिक संस्कारविमका प्राप्ति को केवल 'सम्पि' ही कहा गया है। ऐश्वर्य कभी होता है, प्रयत्न का उत्तर है-बुद्धिच्छायाभावात्। बुद्धि का लक्ष्य नहीं रहता वह ता नहीं कहा जा सकता। सर्वथा बुद्धिच्छाया के अभाव में तो मन का व्यापार ही अवश्य हो जाता है। और उत दशा में इन्द्रियव्यापार ही नहीं चलता। कलतः बुद्धि का लक्ष्य है अस्मत्प्रवृत्त, परन्तु इस दशा में बुद्धि का मन के साथ 'उप' भाव रहता है। ऐन्द्रियक व्यापार के साथ साथ बुद्धि अपने अन्तर्भाग में किसी अन्य नियम को लक्ष्य बनाए रहती है। प्रज्ञान कल उत शब्द आम्बन्धर लक्ष्य की ओर लगा रहता है। अतएव इस दशा में मन केवल बुद्धि की प्रतिच्छाया से पुत्र रहता है। यही 'उपेद्याबुद्धि' कहलार्थ है। उपेद्याबुद्धिलक्ष्य मन से होने वाला ऐन्द्रियक व्यापार किन संस्कारों का मन पर लक्षित करता है वे दृश्य नहीं बनने पाते। क्योंकि दृष्टता-रिचरता-अपेद्याबुद्धि के लक्ष्य पर ही निर्भर है। यही हम आम्बन्धर नियम की ओर ले बुद्धि को हटा कर मन में पूर्णरूप से उतें नियुक्त कर देते हैं तो

उस समय जाने वाले ऐन्द्रियक संस्कार चित्रकार के लिए दृढमूल बन जाते हैं। इसी स्थिति का 'अवधान पूर्वक देखो, गौर करो, सम्मिश्र लगा कर पढ़ो नहीं मूल जाओगे' इत्यादि वाक्यों से अभिन्न हुआ है। प्रधानमन के सर्वथा समीप (उप) बैठे हुए बुद्धि पर्यन्त सांस्कारिक लम्बि (विषयप्राप्ति) का पूर्ण कर उक्त दृढमूल बन जाना ही उपलम्बि है यही विशेषप्राप्ति है। सामान्यप्राप्ति मनोऽनुगता बनती हुई केवल 'लम्बि' है। विशेषप्राप्ति बुद्धयनुगता बनती हुई 'उपलम्बि' है। सम्भारिकविषयवन्धुन प्रधानमनोऽनुगता बुद्धि ही विषयोपलम्बि के कारण 'उपलम्बि' कहलाई है। विषयसंस्कारवच्छेद से यही बुद्धितत्त्व 'उपलम्बि' नाम से संबद्ध होगा, यही वास्तव्य है। विषयसंस्काराहित अवस्थाबुद्धि भी 'उपलम्बि' है क्योंकि 'उपलम्बिते-ऽनस्य' निर्वाचनानुसार अपेक्षा बुद्धि ही 'उपलम्बि' तथा लम्बि का कारण बनती है। एवं विषयसंस्कार संकृता-विषयप्राप्ता बुद्धि भी 'उपलम्बि' नाम से ही संबद्ध की जायगी क्योंकि विषयोपलम्बि से यह स्वर्ण भी विषयलम्बिका (विषयोपलम्बिकता) बन जाती है। यही उपलम्बियत्वं का संक्षिप्त निर्वाचनार्थ है।

इति—'उपलम्बि'—शब्दनिर्वाचनम् (६)



६३—'चित्' शब्दनिर्वाचनम्—(१०)

'चित्ता मन्ति या ए चित्'—निर्वाचनानुसार 'चित्' होने वाला तत्त्वविशेष ही 'चित्' है। प्रायः दैविक-भौतिक-आहितक बन्धवावत् पदार्थों का स्वस्म चिति-प्रक्रिया से ही सम्पन्न हुआ है। चित्रकार हस्त पर हस्ता की चिति (चक्र-बेजा) से एक प्राणत स्त्रा ही जाता है। एतमेव स्फूर्ति विभिन्न क्लों की चिति से ही विविध विषयों का स्वस्म निर्माय हुआ है। और इस दृष्टि से विश्वसीमायुक्त सभी पदार्थों को ब्रह्म 'चित्' कहा जा सकता है तो फिर 'चित्' शब्द बुद्धितत्त्व का सम्राट् किस आधार पर माना गया है, यह प्रश्न उपरिष्ठत होता है। उत्तर बुद्धि के प्रथम आध्यात्मिक बुद्धिरयानीय स्वर्ण से पूर्णित्व। ब्रह्मक्रिया सचन, जयन, भेद से दो भागों में विभक्त मानी गई है। अग्नि में सोमाद्भुति होना भी यह है। इस मह से आद्यतन की बुद्धि नहीं होती। क्योंकि अन्तरोम को अन्तर् अग्नि आत्मसात् कर लेता है। यही 'सप्तयज्ञ' है जिसे 'स्रुया' भी कहा गया है एवं जिसके अग्निहोत्र, षडंबुध्यांसात् आत्मसात्त्व, जयन सोमसाग भेद से पाँच विधार्थ माने गए हैं। अग्नि में अग्नि की आद्भुति होना भी यह है। इस मह से आद्यतन की बुद्धि होती है, क्योंकि अज्ञान अन्तर् को आत्मसात् नहीं कर सकता। स्वर्ण से ऊपर परमेष्ठी है, परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू है। स्वयम्भू मह के गर्भ में जयन-जयन बधवावत् यह प्रतिष्ठित है अतएव उसे स्रुया-विषय दोनों ही कहा जा सकता है। अतएव स्वयम्भू ब्रह्मक 'संबुधुतयत्' कहलाया है। इस संबुधुतयत्प्रति स्वयम्भू के विश्वस्म (महिमायज्ञ) में प्रतिष्ठित आपोमय परमेष्ठी के आचार पर जयनयत् प्रतिष्ठित है। एवं ब्रह्मव स्वर्ण के आचार पर जयनयत् प्रतिष्ठित है। और सत्यतमिन्मय जयनयत् धार्मिक-आन्तरिक-दिग्भूषितरिद्यत्तमिन् अन्तरिद्य-यु लम्बित अग्निमेद से सोमब्रह्मत् पञ्चवितिक कता हुआ परचरवा ही माना गया है। पारमेष्ठय स्रुय में अतएव से हस्तक्य दग्धमयाय अज्ञिरोऽग्निव्य व्याप्त रहते हैं। इनका परमेष्ठी की महिमा के गर्भ में जितान होने लगता है। अज्ञान्तर में इन अग्निव्यत्तों की चित्तियों से अज्ञानि-पुत्र अज्ञानि (विद्यमानि) रूप में परिणत हो जाता है। अग्निचित्तियों से अतएव यही अज्ञिरोऽग्निव्यत्त

उत्पत्ति 'सूर्य' कदाया है वेद्य कि बुद्धिवाचनिर्बचनप्रकार में त्वत् किंवा वा बुद्धि है। इत्यन्तर 'चिति माव वा कर्त्तृप्रथम आधिर्माव खेरकम्पा में सूर्यस्व से ही बुद्धि है। यही विश्व में प्रथम 'चित्' है। इती प्राथम्य से यह 'चित्' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। आगे शैलोक्य में कितनी चितियाँ उभय होती हैं उन सब का मूलप्रथम भी यही चित्-सूर्य्य करता है। इत्यन्तर भी इसे 'चित्' करना अन्वर्थ करता है। बुद्धि इती चित्सूर्य्य का प्रत्यय है। अथएव इसे भी 'चित्' करना अन्वर्थ बन रहा है। इत्यन्तर 'चित्' शब्द बुद्धि की अग्नि-अनुगता चित्ति-अवस्था का ही वाचक बन रहा है। बुद्धि का यह मूलतत्त्व स्वरूप किन्का खैर आधिर्मावचिति से सम्बन्ध है 'चित्' शब्द से लयद्वित्य बुद्धि है।

बुद्धा निर्बचन 'चिदात्मा' से सम्बन्ध रखता है। आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाक् इन पाँच अन्तः प्राण-चितियों से कृत्स्न, सृष्टिकर्ता अथवाप्राणा ही 'चिदात्मा' कदाया है। यही अस्मत्प्रकृतत्व चितियों के सम्बन्ध से 'चित्' है। कदाया गया है कि—'इन्द्रो इ वे पोषशी के अनुत्तर सूर्य्य ही इव चिदात्मा की चित्तवृत्ति है। 'यो बुद्धे परतस्तु स' के अनुत्तर अस्मत्प्रकृतत्वा बुद्धि ही आन्ध्रवृत्ति चिदात्मा की चित्तवृत्ति है। इती आचार पर प्रेषा' शब्दनिर्बचनप्रकार में हमने विज्ञानप्रकृतत्वा बुद्धि को चित्प्रकृतता कदाया है। चित् शब्द बुद्धि की इव चिदात्मवैभाष्यत्वा का भी सम्बन्ध कर रहा है। 'चित्' स्या वा सा चित् ही इव द्वितीय निर्बचन का स्वरूप है।

इति—'चित्'—शब्दनिर्बचनम् (१०)



६४—'संचित्'—शब्दनिर्बचनम्—(११)

'समित्येकीमात्रे' इति मीमांसिक चिदात्तुत्तर 'स्य उत्पत्ती एकीमात्र का वाचक है। 'संचित्' शब्द के 'सम्-चित्' के विभाग हैं। चित्तु-सामे, चित्-सामे, चित्-सामे— तैनीं प्रकृतों से 'चित्' का सम्बन्ध है। सार्वभ्य इत्यन्तर यह है कि, 'चित्' का अर्थ 'ज्ञान' भी है, लय भी है, लाम भी है। लय 'अस्ति' मय है यही 'सत्' है। ज्ञान 'चित्' है। लय 'संज्ञान' है। ज्ञ-चित्-ज्ञान-की समष्टि ही 'संज्ञान-अज्ञ' है। शारीरिक परिणामानुत्तर ज्ञ 'अस्ति' है चित् 'माति' है आनन्द 'मिब' है। अस्ति-माति-पिय-नाम-रूप, इन पाँच चित्तों में अस्ति की यही 'अत्मा' है अन्तिमशरीर विश्व है। अस्ति का चित्तवृत्त पर प्रथम से 'माति' का विकास 'अज्ञ' प्रथम से, एवं पिय का चित्तवृत्त 'अज्ञ' प्रथम से सम्बन्ध रखता है। आनन्द विज्ञान, मनः प्राण वाक् अस्मत्प्रकृतत्वा की वे पाँच कर्त्तारों मानी गई हैं। इनमें आनन्द 'आनन्द' है यही उक्तवृत्त 'मिब' है। विज्ञान चित् है, यही 'माति' है। मनःप्राणवाक्प्रकृतत्वा 'ज्ञ' है यही 'अस्ति' है। आनन्दप्रधान यही अस्मत्प्रकृतता 'अज्ञ' है विज्ञानप्रधान यही अस्मत्प्रकृतता 'अज्ञ' है एवं मनःप्राण-वाक्प्रधान यही अस्मत्प्रकृतता 'अज्ञ' है। इत्यन्तर आनन्द-प्राण-रस-स्पर्श-निष्कल यही अस्मत्प्रकृतत्वा की चित्तवृत्तों के द्वारा अस्मत्प्रकृत-अज्ञ-प्रकृत में परिणत होकर प्रसिद्ध बना हुआ है। आरम्भ में 'सत्' का हुआ अस्मत्प्रकृतत्वा में 'चित्' बन रहा है। निम्न शिरोत पक्षिण को लय बन कर ही 'संचित्' शब्द की मीमांसा करनी चाहिए।

समासाभास, सर्वस्मन्पल्लवस्य 'समस्त' नामक अर्थव्यपुक्त ही मानव का मुख्य 'आत्मा' है जो व्योक्तिरा व्योक्तिर्विन कता हुआ 'स्वयंप्रमा'—त्यक्त माना गया है। वैराग्यबुद्धि के द्वारा ही इस समस्त का अनुभव प्राप्त हुआ करता है। अतएव अर्थव्यपुक्तका स्वतंत्रकारणत्ववाचा 'संक्ति' का सम्बन्ध वैराग्यबुद्धि के साथ ही मान लिया गया है। अतर्विन विद्याबुद्धियों में संक्षिप्त-अर्थव्यपुक्तता से अतिरिक्त बनी रहने वाली 'वैराग्यविद्याबुद्धि' ही इष्टी हेतु से संक्ति कहलाने लगती है। विश्वभार 'शरीर के आचार पर 'आवेरा' प्रतिक्रियित है मत के आचार पर 'उपवेरा' प्रतिक्रियित है, समस्त बुद्धि के आचार पर 'अनुरासन' प्रतिक्रियित है एकमेव वैराग्यबुद्धिविद्यकृत अर्थव्यपुक्त के आचार पर 'संक्ति' प्रतिक्रियित है। शरीर-मनो-बुद्धिभूत आवेरा उपवेरा-अनुरासन मन्त्र ही निष्कल प्रमास्थित हो चार्य, विद्यु अर्थव्यपुक्तमातृगता 'संक्ति' कदापि निष्कल नहीं बन सकती। वैराग्यबुद्धिव्योक्तिव्योक्ति चार्य मानव प्रधानरूप से इस 'संक्ति' की ही उपलब्धि क्रिया करते हैं किन्तु 'मा हिंसा मा क्थे मातृकता' नामक लक्ष्यव्युत्पन्नरूपक सामयिक-निरूपक के अनुसंधानरूप में विस्तार में विस्तार हुआ है। निम्न लिखित कथन इष्टी 'संक्ति' का स्पष्टान कर रहे हैं।

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्यस्वनेकम् ॥
 नोदति नाम्तमत्वेति 'सविदे' वा स्वयंप्रमा ॥१॥
 क्तारश्च क्रियां तद्वत् व्यावृत्तविषयानपि ॥
 स्फोरपठेक्यत्नेन योऽसौ संवित् स्वयं वपुः ॥२॥

- १-आत्मा-तदनुगता—'संक्ति' (वैराग्यबुद्धिभूतानुगता) ।
- २-बुद्धि—तदनुगत—'अनुरासनम्' (सामान्यबुद्धिभूतानुगताम्) ।
- ३-मनः—तदनुगत—'अवेरा' (प्रधानमनोऽनुगताः) ।
- ४-शरीरम-तदनुगत—'आवेरा' (मौक्तिकशरीरानुगताः) ।

इति—'संवित्'—शब्दनिर्वचनम् (११)

६५—'प्रतिपत्'—शब्दनिर्वचनम् (१२)—

'प्रतिपत्' शब्द 'अनुचर' शब्दत्वपेक्ष है। आम्बुपृष्ठ—एव 'प्रतिपदनुचरी' भी वैदिक विश्वन का एक महत्त्व पूर्ण विषय है। मूलाधार 'प्रतिपत्' कहलाया है क्योंकि मूल से विनिर्गत तूना मूलाधार में ही प्रत्यक्ष (आभित) रहते हैं। लौकिक उदाहरण के लिए राजा प्रतिपत् है प्रजा अनुचर है। परमात्मी प्रतिपत् है तत्तनविचार अनुचर है। गुरु प्रतिपत् है शिष्यवर्ग अनुचर है। न्यायार्थप्रदा प्रतिपत् है कर्मकर्त्तव्ययोगी-वर्ग अनुचर है। शास्त्रीय उदाहरण के लिए—दुग्धप्रतिपत् प्रतिपत् (पक्व) स्थिति प्रतिपत् है राग १५ विभिन्न प्रतिपत् से उपजात होती हुई अनुचर है। ईश्वर प्रतिपत् है, उदाभित-उत्पन्न आदिदैविक-आधिभौतिक-आधिभौतिक प्रपञ्च अनुचर है। चन्द्रमा प्रतिपत् है नक्षत्र अनुचर है। आधिदैविक सृष्टिविज्ञान, सृष्टिनिपति इति भेद से तीन स्तरों में विभक्त माना गया है। सर्व स्वयम्—मूला है स्थिति स्वयंमूला है इष्टी प्रथिनी-मूला है। स्वयम्पूर्व विरचय का शिरःस्थानीय है स्वयं इष्टकस्थानीय है प्रथिनी परस्थानीय है। अतएव

❖ इहैव वैशितं सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः ॥
 निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् प्रब्रह्मि ते स्थिताः ॥ गीता ५।१६।

एन तीनों छष्टिविज्ञानों को शिरोमूल छष्टिविज्ञान इन्द्रमूल छष्टिविज्ञान, पादमूल छष्टिविज्ञान नामों से व्यबहृत किया जासकता है। छष्टि (उत्पत्ति) का आरम्भ स्वयम्भू से होता है। आगे की परमेष्ठी-स्वर्णादि छष्टियाँ स्वयम्भू मूला हैं। अतएव इस छष्टिदृष्टि से स्वयम्भू को प्रतिपत् माना जायगा एवं परमेष्ठ्यादि चारों को अनुचर कहा जायगा। यही पहिला छष्ट्यात्मक प्रतिपत्-अनुचर-भाव है। छष्टि की स्थिति आदानविकासमिक यज्ञाद्य इन्द्रव्यस्य स्वर्ग पर निर्भर है। इस स्थितिदृष्टि से स्वर्ग प्रतिपत् माना जायगा, एवं स्वयम्भू आदि चारों पर इसके अनुचर माने जायेंगे। यही दूसरा स्थित्यात्मक प्रतिपत्-अनुचर-भाव है। छष्टि की दृष्टि से पादस्थानीया प्रथिनी प्रतिपत् मानी जायगी, शेष चारों पर अनुचर माने जायेंगे। एवं यही तीसरा छष्ट्यात्मक प्रतिपत्-अनुचर-भाव कहालायगा। तत्पर्य-उत्पत्तिदृष्टि से छष्टि की अपेक्षा स्वयम्भू सर्वमूल है, एवं स्थितिरूपा छष्टि की अपेक्षा स्वर्ग सर्वमूल है एवं दृष्टिरूपा छष्टि की अपेक्षा प्रथिनी सर्वमूला है। क्योंकि स्थितिमूलक छष्टिविज्ञान के अनुचर स्वर्ग ही प्रतिपत् है। अतएव तत्प्रयुक्ता स्वर्गस्थानीया बुद्धि को भी अक्षर्य ही 'प्रतिपत्' कहा जासकता है। आध्यात्मिक अम्बुसत्, -महानात्मता प्रधान मूलात्मा, चारों खड्गारामपर्यं मध्यस्था बुद्धि के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। बुद्धिनाशालु प्रणश्यति' के अनुचर बुद्धिनारा से सब कुछ भिन्न है, एवं बुद्धिरिति से सम्बन्ध सुरक्षित है। बुद्धि के इस सर्वात्म्यभूत धर्म की अपेक्षा से ही इसे 'प्रतिपत्' कहना अनर्थापन्न होता है।

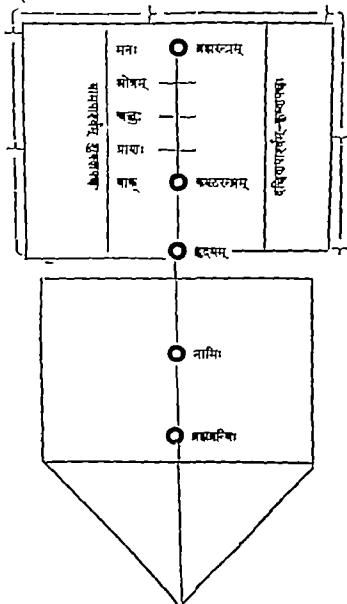
प्रतिपत् की अन्तिम सीमा का ही नाम अमावास्या है, एवं प्रतिपत् की अन्तिम सीमा का ही नाम पूर्णिमा है। अमागमिता विधियों की, तथा पूर्णिमागमिता विधियों की व्यापकभूमि भी यही प्रसिद्ध है। प्रतिज्ञास्थानीय स्वर्ग के आधार पर ही चान्द्र अमान्त-पूर्णिमान्त विधियों का आविर्भाव विरोच्यमान होता है। ठीक यही स्थिति अध्यात्म में समझिए। शिरोमूललक्षण ब्रह्मन्त्र से आरम्भ कर हृदयस्थान-सम्पन्त प्रवेश वह आकाश है जिसमें चन्द्रमास्थानीय प्रधानमन परिक्रमा लगाता हुआ स्थि-मात्रों का अनुगामी बना रहता है। हृदयस्थान में विज्ञानात्मक स्वर्ग प्रतिष्ठित है। इसके ज्योति का विनिर्गम हो रहा है। प्रधान मन अर्द्धरूप से हृदय से चल कर ब्रह्मन्त्र पर्यन्त अनुभावन करता है। वहाँ से चल कर पुनः हृदयस्थान में अर्पित हो जाता है। दक्षिणपार्श्व खैरगिनप्रधान होने से आध्यात्मिक कृष्णपक्ष है, वामपार्श्व चान्द्रसोम प्रधान होने से शुक्लपक्ष है। प्रधानरूप चन्द्रमा का हृदयस्थान से वामपार्श्व की ओर उच्च गमन आरम्भ हुआ। इच्छा तत्पर्यं वह हुआ कि, शुक्लप्रतिपत्स्थानीय हृदय से चान्द्रमा वामपार्श्वनिगत शुक्लपक्ष की ओर चलने लगा। वामपार्श्व के वेनेलाच्युतगत शुक्लपक्षगमित (वामपार्श्वगमित) कश्चरस्थान-समवृत्तित वाग्म्या (मुच्यम्या) के क्षीय भाते भाते मन आवा (एक पक्षपार्श्व) प्रकथित हो गया। यही एकही शुक्लाष्टमी कहलार्थ। वहाँ से क्रमशः ऊपर जाता हुआ ब्रह्मन्त्र में पहुँच गया। 'अग्निर्वाग्-मूर्त्वा सुब्रं प्राथिरात्' के अनुचर अग्निस्थानीय मूल प्रथिनी (सूर्यरश्मि) स्थानीय माना गया है। वाक्-प्राण-सक्षु तीनों इन्द्रियों का अग्नि-वायु-ज्वाले से ही तो निर्मांस हुआ है। ये तीनों क्रमशः प्रथिनी-आन्तरिक्ष-सुलोक के ही तो प्राण हैं। अतएव तदात्मिका वाक् (सुल) प्राण (नासिका) सक्षुर्गोलकी ओर अक्षर्य ही आध्यात्मिक प्रथिनी-अन्तरिक्ष-सुलोक कहा जा सकता है। जब चन्द्रमा और स्वर्ग दोनों के मध्य में सूर्यरश्मि आजाता है तबे शब्दों में जब चन्द्रमा प्रथिनी की परिक्रमा लगाता हुआ स्वर्ग से विमुक्त होकर प्रथिनी और स्वर्ग के ठीक सामने आजाता है तभी इस पर स्वर्ग का प्रकाश पड़ता है एवं यही पूर्णिमाकाल माना गया है। ठीक यही स्थिति अक्षर्यम में समझिए। हृदय स्थान में विद्यात्म-लक्षण स्वर्ग प्रतिष्ठित है। मुक्तस्थान भ विरह है। ब्रह्मन्त्रस्थान हृदय से ठीक सामने का स्थान है। जब

यहाँ पर मनोऋण चन्द्रमा पहुँच जाता है। सूर्ये शब्दों में वह चन्द्ररूप मन प्रथिवीरूप भुक्तस्थान की परिक्रमा लगाता हुआ सूर्यरूपा बुद्धि से विमुक्त होकर प्रथिवीरूप भुक्तस्थान की ओर बुद्धिरूप सूर्य के ठीक सामने आजाया है यही इस पर बुद्धिरूप सूर्य का प्रकाश पड़ता है, एवं यही इच्छा पूर्णमासा है। यही विज्ञान-मत्त में 'ब्राह्मरूपा अज्ञान' है। ब्रह्मरूप से नीचे नीचे प्रतिष्ठित सम्पूर्ण ज्ञान-कर्मनिष्ठों ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित-बुद्धिरूपादि से व्योम्पिमान बने हुए मन की व्योम्ति से पुनः होकर प्रकाशित होती हुई स्वभावात् आरम्भ कर देती है एवं यही ब्राह्मरूपा है विलका आध्यात्मिक-पूर्णमासा से सम्बन्ध है। ब्रह्मरूप की चरम स्थिति पर पहुँच कर मन अब दक्षिणपार्श्व की ओर से हृदयामिमुख बना। यही उपक्रमस्थान हृदयपत्र की प्रति-पक्ष स्थिति कहलाया। दक्षिणपार्श्व के ठेबानाहचतुर्ग-हृदयपत्रगमिष्ठ (दक्षिणपार्श्व गमिष्ठ) कथ्यस्थानसम-प्रक्षिप्त बागमाग (मुक्तस्थान) के समीप आते आते प्रकाश आधा रह गया यही इच्छा आध्यात्मिक हृदयपत्र की चरमार्थ। यहाँ आकर वेदना अन्तमुक्त बन गई। यहाँ से ऊपर की ज्ञाननिष्ठों का व्यापार तो स्वबद्ध होगा। केवल मुख तथा हृत्-पत्रादि को छोड़ा प्रकाश मिला। यही आध्यात्मिक-रूपाकारणा' कह-लाई किन्तु बागव्यापार (ब्रह्मरूपा) हृत्-पत्रादि प्रक्षेप-अप्यस्तस्थान से होते रहते हैं। वेदना की आध्यात्मिक अपेक्षा नहीं है इसलिए तो इस अवस्था को स्तुति नहीं कहा जा सकता। वेदना के आध्यात्मिक अन्तःक का अन्तःक है इसलिए इसे वापस नहीं कहा जा सकता। अकिन्तु उभयवर्त्म-समावेश से इसे 'हृदय-रूपा' ही माना गया है, ब्रह्म कि-सन्ध्ये सृष्टिरू' कि' इत्यादि व्याख्य से प्रभावित है। यहाँ से मन व्यो-म्यो हृदयामिमुख होता गया। तब तब इच्छा इन्द्रियगुण वर्धमान अमोक्ष में परिणत होने लगा। अब वह हृदयस्थान में पहुँच कर सूर्यरूपा बुद्धि से मिल कर पुरिष्ठिनाकी में चला गया तो वर्धमान आध्या-त्मिक रूप से अमोक्ष में परिणत होगा। इन्द्रियगुण प्रकाश से वर्धना बधित होगी। यही तीसरी स्तुत्य-रूपा चरमार्थ, विलका-रूपापीतो मच्चति' निर्वाचन से स्वस्थि शब्द के द्वारा अभिनव किया जाता है। 'सूर्यो सूर्यमुत्सृज्यमान' के अनुगार सूर्य के साथ चन्द्रमा के मिल जाने का ही नाम आभासक है। अब प्रथिवी की परिक्रमा करत हुआ चन्द्रमा सूर्य की ओर चला गया है सूर्यसंमुख होजाता है तो इच्छा विमुक्तप्रधान वर्धमान तो प्रकाशित होजाता है एवं प्रथिवीगुण अवोम्गर्ग अवप्रकाशित होजाता है, यही आभासक है। प्रथिवीस्थानीयमुख की परिक्रमा लगाता हुआ चन्द्रस्थानीय मन अब सूर्यस्थानीय बुद्धि की ओर चला जाय है-संमुख होजाता है तो इच्छा बुद्धरुप-अप्यस्त अवोम्गर्ग (दक्षिणगुण) अव-मान अवप्रकाशित हो जाता है और यही आध्यात्मिक आभासकासा है। इच्छापर अधिवेकक अव-परिभ्रमणानुगता अधिवेककस्था की अति मन-परिभ्रमणानुगता इत अवस्थानस्था में ही सूर्य-पौर्णमास हुआ करता है विलकी मूलप्रतिष्ठा प्रतिष्ठा ही है।

प्रकृति में सूर्यस्थानसंरूप अवोम्गर्गस्थान का नाम हृदयप्रतिष्ठा है एवं व्योम्गर्गस्थानसंरूप-हृदयगुण अवप्रकाशस्थान का नाम हृदयप्रतिष्ठा है। सूर्यस्थान उपस्थान है, सूर्यस्थानस्थान अवस्थान है। इस हृदय से सूर्य ही उभयप्रतिष्ठास्थान बन रहा है। अतः सूर्य की ही प्रतिष्ठा कहा जायगा, चाहे वह हृदयप्रतिष्ठा हो, अथवा हृदयप्रतिष्ठा। ठीक यही स्थिति आध्यात्म में समझिए। हृदय में सूर्यरूपा बुद्धि अवस्थान से प्रतिष्ठित है। इस स्थान से उद्यम चन्द्ररूप मनका उपक्रम स्थान ही हृदयप्रतिष्ठा है। हृदयक कथ्य विज्ञानात्मा की परिमर्ष ब्रह्मरूप पर्यन्त अद्यत रहती है। ब्रह्मरूपानुगत विज्ञानपरिमर्षक ही अर्ध-अज्ञान है। इस बुद्धिपरिम-अज्ञान की अतिम तीमरूप ब्रह्मरूपानुगत मनोऋणकस्थान-स्थान का ही नाम

हृष्याप्रतिपत् है। इस प्रकार अचिदेवतत्त्व आध्यात्म में भी बुद्धिरूप स्वयं ही उभयप्रतिपत् का स्वरूपसमपक बना हुआ है। बुद्धिस्वरूपकाहक 'प्रतिपत् शब्द' हमें आवेद्य दे रहा है कि, मुझ से (प्रतिपत् शब्द से) बुद्धि भी मनोऽनुगता उस स्थिति का ग्रहण करो, जिसका आध्यात्मिक दर्श पूर्णिमा-प्रतिपत् से सम्बन्ध है। यही 'प्रतिपत् शब्द का वृत्त वेदान्तिक निर्वचन है जिसका परिलोक से स्पष्टीकरण हो रहा है।

प्रतिपत्स्वरूपप्रतिगदर्शनपरिलोक—



शवि-‘प्रतिपत्’-शब्दनिर्वचनम् (१२)

६६-‘ज्ञप्ति’-शब्दनिर्वचनम्-(१३)

‘ज्ञप-मिष’ (जु प मे) शब्द से वाङ्मयस्य किञ्च प्रत्यय के द्वारा ‘ज्ञप्ति’ शब्द निम्नत्र हुआ है किन्तु अर्थ है-ज्ञान और ज्ञापन होता है-‘अप्यं ज्ञाने, ज्ञापन च वर्धते’ इत्यद्वैतपरिभाषा से प्रमाणित है। ज्ञान का अर्थ है जानना, एवं ज्ञापन का अर्थ है ‘बनाना’। इन्द्रियद्वारा संस्काररूप से प्रज्ञानमन पर आर्य हुए विषयों को जानना भी बुद्धि का ही काम है, एवं त्वष्टि-प्रदानद्वारा प्रज्ञान मन के उद्देश्य से इन्द्रियों को नियंत्रण करना भी बुद्धि का ही काम है। इन्द्रियद्वारा तात्त्विक विषयबोध से बड़ी बुद्धि जानने वाली भी बन रही है एवं इन्द्रियक ज्ञानोपेक्षा बड़ी बुद्धि बनाने वाली भी बन रही है। संस्कारवन्दिष्या तथा इन्द्रियगण्य, अतएव ज्ञान-ज्ञानोन्मेषादिना ऐसी बुद्धि ही ‘ज्ञप्ति’ कहलाई है।

इति-‘ज्ञप्ति’-शब्दनिर्वचनम् (१३)

६७-‘चितना’-शब्दनिर्वचनम्-(१४)

‘चित्’-और ‘चितना’ शब्द द्वारा सर्वसाधारण में पर्याय मानें जा रहे हैं। अरुण बड़ी प्रतीत होता है कि, बुद्धिवत्त्वत्साहच्य शब्दों में चित्-और चितना, दोनों शब्द पठित हैं परन्तु तत्पक्ष दोनों शब्द विभिन्नार्थों के ही शब्दक हैं। बुद्धि अपनी अग्निचिति के सम्बन्ध से एवं चित्तलक्षण चित्तना की चित्तक-मूर्ति होने में ‘चित्’ कहलाता है। बड़ी बुद्धि चिरात्म्य की चित्तियगृहि से चितना कहलाई है। ‘चीयतं चित्तया सा’-‘चित्नाति या सा-इत्यदि निर्वचनरूपक चितना’ शब्द का अर्थ है-‘चिति करने वाला तत्त्व। चिति करने वाला जान ? उत्तर है-‘अक्षर का गीता में ‘परमहृति’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सर्वज्ञचित्तिहरनेरूपन अक्षरक परमस्वरूप का फर्कियित् प्रदेश मायाबोधोत्पत्ति से लीयित हो गया। माया-बन्दिष्य बड़ी निम्न परस्पर ‘अम्ब’ कहलाता। इस मायोत्पत्ति के साथ साथ ही क्षेत्रज्ञ का उदय हुआ। बड़ी क्षेत्रज्ञ अक्षर कहलाया। इसी के स्थितिगर्भित-आगति-मति स्थापार से उस मायी अम्बवपुष पर रत्न-बल की चिति हुई। त्वष्टि अक्षरचिति कहलाई, बड़ी रत्नकके लक्ष्म्य व आनन्द-विज्ञान-मेरु से दो मायी में विभक्त हो गए। अक्षरचिति बहिर्चिति कहलाई। यही अक्षर के लक्ष्म्य से माय-बाह्य भद्र से दो मायी में विभक्त हो गए। इन्द्रियद्वारा क्षेत्ररिपय चित्तुद मनोमूर्ति, अतएव निम्न अम्बवपुष्य इन्द्रवपुष्य अक्षरचिति के स्थापार से होने वाली अम्ब-बहिर्चितियों से पञ्चकल बना हुआ चिरात्मा बन गया। चित्तना का चित्तमत्त्व कर्षण अक्षरस्थानपर पर अक्षरचिति है बृहो शब्दों में अक्षर ही त्वष्टात्पर से मनोमूर्ति अम्ब पर आनन्दारि का अवन करवा हुआ उसे ‘चित्तना’ स्वरूप में परिणत करवा है अतएव (इत चित्तियगृहि के कारण ही) अक्षर को ‘चितना’ नाम से व्यक्तित किया जाना अन्वर्थ बनवा है। चित् स्वयं बह अम्बवपुष्य है चित पर रत्नन की चिति होती है। चितना बह अक्षरत्त्व है जो आनन्द-चित्त-द्वारा चिति करता है। चित् शानप्रधान तत्त्व है चितना चित्तप्रधान तत्त्व है। और इत इति व चित्-चित्तना-शब्दों की विभिन्नार्थकत्वता मती मति प्रमाणित हो जाती है।

चित्तियवर्तक, अतएव चितना नाम से व्यक्तित अक्षर की प्रसिद्धाम्नि ‘सर्व’ माना गया है। अतएव आर्यैरिच बुद्धिस्थानीय सर्व का अक्षर ही ‘चितना’ कहा जा सकता है। बुद्धि इती अक्षरत्त्वान

सूर्य का अंग है। अतएव इसे मी निःसंश्लेषरूप से इत चित्तिप्रवृत्त्यपेक्षा से चेतना कहना अनर्थक बन रहा है। अचिदंगत में यदि और अक्षरद्वारा अिदरना का स्वल्प निहित होता है, तो अल्पतम में बुद्धिमुक्त अक्षरद्वारा चिदात्मा का स्वल्प निष्पन्न होता है। यह त्रिविधमात्र बीजचित्ति, देवचित्ति, मूढचित्ति, मेघ से तीन मातों में विभक्त माना गया है। अल्पप्रधाना आत्मचित्ति बीजचित्ति है। अक्षरप्रधाना प्राणचित्ति देवचित्ति है। अक्षरप्रधाना वाक्चित्ति मूढचित्ति है। मूढचित्ति स्मृत्तराशरी की, देवचित्ति सूक्ष्मतराशरी की, एवं बीजचित्ति अक्षरतराशरी की मूलप्रकृति बनती है। इन तीनों चित्तियों की समष्टि ही शरीरबन्धी है। इत चित्तिप्रय-स्वरूप से ही शरीरबन्धी की समष्टिरूप शरीर को 'कर्म' कहा गया है। इन तीनों चित्तियों की प्रवृत्ति मध्यस्थ अक्षरद्वारा ही हुई है। अतएव अक्षर को ही चेतना कहना सार्थक बनता है। कानबन्धित संस्कार 'भावना' कहलाए है, कर्मान्धित संस्कार 'भाषना' कहलाए है। प्रकृतमनोऽनुगत-महाभूत माकानांश-अक्षरपुञ्ज 'विद्याचित्ति' है। प्रकृतमनोऽनुगत-धातुभूत-भाषनांश-अक्षरपुञ्ज 'कर्मचित्ति' है। इन दोनों प्रकृत-चित्तियों की प्रवृत्ति भी अक्षरपरिमित बुद्धि के अयोग पर ही निर्भर है। इत इति से मी अक्षरपरिमित बुद्धि को 'चित्त' शब्द से व्यञ्जित करना अर्थक बन रहा है। तात्पर्य-अपने प्रातिरिक्त अक्षरधर्म की अपेक्षा से बड़ी बुद्धितत्त्व अपने चित्तिप्रवर्तक अक्षरमात्र से चेतना कहासा है।

इति-चेतना-शब्दनिर्वचनम् (१४)



६८- 'विज्ञान'-शब्दनिर्वचनम्-(१४)

अवस्थाहृत मे-निकचन-पूर्व प्रतिपादित बुद्धि, मनीषा, विषया, आदि शब्द विरत सीमा पर्यन्त समानार्थक हैं उत सीमा पर्यन्त इन्हें परस्पर अभिधायक मी माना जा सकता है। परन्तु एकदृशता सर्वत्र समी स्थलों में समी शब्दों का प्रयोग कर देना, 'कोय में पठित है' इत अक्षरप्रमाण से इनमें परस्परसम्बन्ध मान देना सर्वथा तर्कहीन-विरुद्ध है। अपने उक्त-अर्थ-अर्थों से विभिन्न उपाधियों के सम्बन्ध से बुद्धि-मनीषा-महा-आदि शीदर विचर्यमानों में विभक्त यह अक्षरप्रमाण बुद्धितत्त्व ही विज्ञानकाय में 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रकृत हुआ है। प्रकृतोपाध बुद्धि के इत 'विज्ञान' शब्द का मी व्यक्तिक सम्बन्ध कर लेना चाहिए। लघुशरीरोपाधोपाधिये लघुशरीरोप नाम ही स्वयं अजना प्राक्तिक निर्वचनार्थ हमारे सम्मुख उपरिबन्ध कर रहे हैं। बड़ी लो संस्कृतप्रमाण का इतर समस्तमात्रापेक्षया उच्चैःशुद्धत्व, पूर्णत्व, विशालत्व, तथा विज्ञानत्व है। 'विज्ञान' शब्द स्वयं ही अपने प्राक्तिक अर्थ का स्पष्टीकरण कर रहा है।

'विज्ञान' शब्द में 'वि-ज्ञान' दो विभाग हैं। विरुद्ध, विरोध, विविध, तीनों अर्थों का 'वि' उपसर्ग से सम्बन्ध है। अत 'विरुद्ध ज्ञान विज्ञानम्'— विरोध ज्ञान विज्ञानम्—) —'विरुद्ध ज्ञान विज्ञानम्'—विज्ञान शब्द के तीनों निर्वचनार्थ हो सकते हैं। ज्ञान कीर कर्म, दोनों तत्त्वों के बीच तीन विकर्ष माने गए हैं। वास्तविक ज्ञान (ज्ञेय को ज्ञेय समझना) ज्ञानमूलक 'ज्ञान' है। जो बीज है, उसे उतले विरुद्ध समझना विरुद्धज्ञानमूलक विज्ञान है। अज्ञानाहत-मोह-सञ्चार काल 'अज्ञान' है। इत्यक्षर 'अज्ञ-विज्ञान-अज्ञान' मेद से ज्ञान के तीन विधय हो रहे हैं। वास्तविक कर्म (ज्ञेय करना चाहिए, ज्ञेय करना) कर्मान्तक 'कर्म' है। विपरीत कर्म (ज्ञेय करना चाहिए, उतले विरुद्ध करना) विरुद्ध कर्मान्तक 'विरुद्धकर्म'

है। एवं अज्ञानावृत्त-आत्मत्व-साक्षात् कर्म 'अकर्म' है। इसप्रकार 'कर्म-विकर्म-अकर्म' में स कर्म के भी तीन ही विध हो रहे हैं। ज्ञान कर्म का अनुपायी है, विज्ञान विकर्म का एवं अज्ञान अकर्म का अनुपायी है। इस ज्ञान-कर्म त्रयी में पवित्र विज्ञान, और विकर्म शब्दों का 'वि' उपसर्ग 'विरुद्ध' भाव का व्यपदेश है न कि विविचयान, क्रियेयान का, एवं विविध कर्म, तथा क्रियेय कर्म का। कारण स्पष्ट है। ज्ञानवन्धित कर्म ही विरुद्ध होता है। एवं ज्ञानविरुद्ध ज्ञान ही विरुद्ध बनता है। इसप्रकार साक्ष-द्रव्यों की दृष्टि से ही 'वि' उपसर्ग के विरुद्ध-विविध-क्रियेय-भावों का व्यपदेश करना चाहिए। बुद्धि को 'विज्ञानात्मता' कहा है। विज्ञानात्मता आत्मनस्य माहृतिक ज्ञान है। यह विविध भावानुभव भी है, और क्रियेय भी है। अतः इच्छा 'विविध' ज्ञान' भी निर्वचन हो सकता है एवं 'विशिष्ट ज्ञान' भी निर्वचन हो सकता है। परन्तु इच्छा 'विरुद्ध ज्ञान' निर्वचन नहीं हो सकता। क्योंकि माहृतिक ज्ञान कभी विरुद्ध ज्ञान नहीं बना करता। इस वशा में 'विज्ञानात्म' पठित 'विज्ञान' शब्द के 'वि' उपसर्ग से प्रकृत में उक्त तीनों अर्थों में से 'विविध', और क्रियेय, य दो ही अर्थ माने जाँके। और इती दृष्टिकोण से विज्ञान शब्द का निर्वचन किया जायगा।

अज्ञानत्व उत्पत्ता ज्ञानप्रधान है। ज्ञानप्रधान यह अज्ञानत्व किं महाभाष्यविद्यु मद्दविष का आत्मा बना हुआ है, वह महाविष उत्पत्ता विज्ञानप्रधान है। ज्ञानात्मक आत्मा, और विज्ञानात्मक विष ज्ञानों के सम्बन्धित रूप का ही नाम 'विरुद्ध' है। इस दृष्टि से उपस्थापक आत्मप्रधान के दो विध हो जाते हैं। समस्त विद्याविद्यानों को स्वयं में लीन करते हुए अपने विशुद्ध ज्ञानरूप में विकसित रहना आत्मप्रधान का ज्ञानप्रधान प्रथम विध है। 'सर्वं ज्ञान-समन्तं ज्ञान' मुक्ति के द्वारा इस ज्ञानप्रधान विध का ही निरुद्धो-पण हुआ है। समस्त ज्ञान को स्वयं में लीन करते हुए अपने ज्ञानवन्धित विज्ञानरूप (विषय) से विकसित रहना आत्मप्रधान का विज्ञानप्रधान रूप विध है। 'निरुद्ध-विज्ञान-मानसं ज्ञान' मुक्ति के द्वारा इस विज्ञान-प्रधान विध का ही निरुद्धोपण हुआ है। ज्ञान-ज्ञान-अज्ञानतावृत्त बड़ी आत्मा आत्मा है। निरुद्ध-विज्ञान-आत्मरूप बड़ी आत्मा विष है। आत्मतावृत्त आत्मप्रधान आत्मा है, विषयवृत्त आत्मप्रधान विज्ञानात्मता है। विज्ञानवन्धित आत्मा आत्मा है ज्ञानवन्धित विज्ञानात्मता विष है। आत्मा ज्ञानप्रधान है एक है। विष विज्ञानप्रधान है विविधभावात्मक है। इसप्रकार एक ही आत्मरूप अपने आत्मरूप से एकत्ववृत्त रहना 'आत्मा' बना हुआ है। एवं बड़ी आत्मरूप अपने विरुद्ध से अनेकत्ववृत्त विज्ञानवृत्त 'विरु' बना हुआ है। आत्मविज्ञान 'ज्ञान' है विरुद्ध विज्ञान है। एकत्वनिश्चय आत्मविज्ञान ज्ञान है अनेकत्वनिश्चय विरुद्ध विज्ञान है। तद्विद्या में ज्ञान ही विज्ञान है। मुक्तिव्या में विज्ञान ही ज्ञान है। तत्पर्य-एक से अनेक की और आत्मा-विविध भावानुभवन करना 'विविध' ज्ञान' शब्द 'विज्ञान' है। बड़ी तद्विद्या है। अनेक से एक की आत्मा 'ज्ञान' है यही मुक्तिव्या है। एक अनेक देने का गण १, इस रहस्य को जानना भी विज्ञान है। एवं अनेक एकत्व में कैसे परिणत हो जाता है? इस रहस्य को जानना भी ज्ञान है। एक आत्मप्रधान अनेकत्वों में परिणत कैसे हो गया १, यही भारतीय विज्ञानपरिमाण है। नानाभावात्मन विरुद्ध एक आत्मरूप में कैसे परिणत हो जाता है १, बड़ी भारतीय ज्ञानपरिभाषा है। आत्मविद्या ज्ञान है व्युत्पत्तिवृत्त आत्म ज्ञानशास्त्र है। विरुद्धविद्या विज्ञान है उत्पत्तिवृत्त आत्म विज्ञानशास्त्र है। अन्तरिमक विरुद्धविद्या प्रतिवृत्त वृत्तवृत्त आत्मशास्त्रवृत्त विज्ञानशास्त्र है। ज्ञानप्रधान आत्मशास्त्रवृत्तवृत्त व्युत्पत्तिवृत्त

ज्ञानशास्त्र है। परन्तु हमारा गीताशास्त्र आत्मदृष्ट्या सर्वमूलमूत अन्वयज्ञान का, तथा कर्मदृष्ट्या सर्वमूलमूत बुद्धियोग का निरूपण करता हुआ 'ज्ञानविज्ञानशास्त्र' है, वर्य कि निम्न लिखित मन्त्रार्थन से प्रमाणित है—

ज्ञानं तेजं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यद् ज्ञातव्यमत्रशिष्यते ॥

—गीता ७. १।

सपूर्वा विरवप्रपन्नं का मूलमूत आत्मतत्त्व एक, यही—'एकं वा इदं विषमूत सर्वम्' विद्वान्तानुसार विरवकर्म में परिणत हुआ। उस एक आत्मतत्त्व से उत्पन्न विरव नानागुण—धर्मों से आश्रान्त कैदे हो गया, विभिन्न गुण—धर्मों के द्वारा विविधज्ञानरूप बनता हुआ विरव विज्ञानरूप में कैदे परिणत हो गया, जबकि इसका मूल एक था, यह प्ररन उपस्थित होता है, विरव निराकरण अद्यथाय किया गया है। आत्मा अन्वयप्रधान है, समानात्मक है, एकरूप है, यह सब कुछ ठीक है। परन्तु महामयी अन्वय के केन्द्र में प्रतिष्ठित इन्द्रकावर्ति बोगमायात्मक आक्षर बोगमायागुणत त्रैगुण्य धर्म के कारण नानाभावत्मक है। 'प्रकृति स्वामिपिष्टाय सम्भवाम्यात्ममायया' विद्वान्तानुसार योगमायाशिका, अतएव त्रिगुणभावमयी, इत आक्षरप्रकृति के द्वारा ही वह महामयी, अतएव गुणार्थित, अतएव निर्देय, अतएव एकरूप, अतएव ज्ञान-प्रधान अन्वयप्रधान विरवर्त्त में प्रकृत होता है। इस गुणरूपक, अतएव नानाभावाम्पन आक्षर के लक्ष्य से ही एक ही आत्मा नानाभाव में परिणत होता हुआ विविध ज्ञानलक्षण विज्ञानस्वरूप में मुक्त हो बाध्य है। आक्षर की शिकावर्त्त में स्वर्ण है। यही स्वर्णभाव के द्वारा विविध ज्ञान का प्रवर्त्तक बनता है। स्वर्णप्रवर्त्तक से पहिले पहिले 'इदं सर्वम्' एकरूप बनता हुआ अन्वयताकर्या में ही परिणत रहता है। स्वर्ण ही अन्वयत को नाना अन्वयभावों में प्रकृत करता है। क्योंकि आक्षररूपक स्वर्ण ही विविध व्यक्तियों को अन्वयित करता हुआ आत्मज्ञान को विविधज्ञानलक्षण विज्ञानस्वरूप प्रदान करता है अतएव इसे हम अन्वय ही आधिदैविक 'विज्ञानात्मा' कह सकते हैं। विरवविज्ञानप्रतिष्ठामूत हीर विज्ञान वहस रश्मियों के वहसका म्यून से धामे बाक्षर अन्वय विज्ञानभावों में परिणत होता हुआ अपने विज्ञानधर्म को अन्वय कर रहा है। चन्द्रसुमुष्णानाकी के द्वारा अन्वयमर्तत्वा में ब्रह्मरूपहार से मुक्त यह हीर विज्ञानरत्ना ही आध्यात्मिक स्वर्ण है, जिसे हम 'बुद्धि' नाम से अन्वयत किया करते हैं। सुमुष्णानाकी के द्वारा आक्षरपर नक्षत्र-महादि का भी रव अन्वयधर्म में मुक्त होत है, जो रव विभिन्न शक्तिगुण—धर्मोंपित है। अतएव तद्युक्ता बुद्धि भी तत्त्वत्रिोपरतागुणत गुण धर्मभावों से मुक्त हो जाती है। इत विशेष गुणधर्मभावेष स विविधज्ञानलक्षण विज्ञान विशेषज्ञानलक्षण भी बन जाता है। इतप्रकार विज्ञानात्मलक्षण बुद्धि विविध ज्ञानमयी भी बन जाती है, एवं त्रिोपरज्ञानमयी भी बन जाती है। प्रत्येक प्राणी की बुद्धि विभिन्न, प्रत्येक विभिन्न प्राणी की विभिन्न बुद्धि विविध ज्ञानमयी, हीर विशेषज्ञानमयी। यही वा विविध—विशेष ज्ञानलक्षण विज्ञान का विज्ञानरूप है। रवानमात्र विज्ञान की विशेष योग्यता रहता है। इही के बल पर यह प्रभावित चोर का अन्वयण करने में समर्थ हो जाता है। ज्ञानविधि पुत्र में हम विशेषज्ञान का अन्वय है। काक मतिव्यविज्ञान का वेता है। मूक पार्थिव रव का परिज्ञान है—'आसन्नो ह वै अस्वा रसं बिदुः' (राव)। मयूर कर्षाविज्ञान में परिणित है। एत इतिविज्ञान में निष्ठात है। इतप्रकार प्रत्येक प्राणी का विज्ञानरत्ना विविधज्ञान—योग्यता के साथ साथ विशेषज्ञान से मुक्त हो

या है। इसी विद्येय प्राकृतिक विज्ञान के उत्तरतम से एक विज्ञान की उभान्त्र पर कुण्टित ही बाता है एक मूल की अन्वेषण शक्ति होता है। इसी विज्ञान की कृपा से गिन भर बरक मोदने बाता एक अमरीषी बर्षी बार वृ अना मात्र प्राप्त करता है बर्षी एक न्यायाधीश बोड़े परिधन मे प्रमत्त वेदन का अविश्वारी बन रहा है। मूल्य विज्ञान का है प्रदान का नहीं। प्रदान (मन) पार्थिव अन्न मे उत्पन्न होता हुआ अपने पर की वस्तु है। अतिपरिचयात्पक्षा' एव लोच्युक्ति के अनुसर कर की वस्तु विद्येय सम्मान नहीं पाती। विज्ञान मूल्य की वस्तु है विदुर की वस्तु है। अन्तरम उल्लेख विद्येय उमान्त्र होता है। प्रदानमन मूल पार्थिव प्राणियों में उमान है। अतएव उपनयत आहार-निद्रा-मन-मैदुनादि बन्म प्राणिकमात्र में अन्न है। इन में कोई विद्येय नहीं है। यदि हमने अन्वेष से अन्वेष या किया बोते रहे, इरते रहे, विपयरापण बन कर बीजन किया दिया तो एक मन्म में और हमारे में क्या अन्तर हुआ—'सामान्यमेतन्व पराभिनपक्षाम्'। विद्येय तो विद्येयगुणव्यक्तियों बुद्धि से ही सम्भव रखती है। इसी विद्येयबुद्धि के कारण प्रदानव्यय अन्तरगत पर भी प्रतिक्रिया रहने वाले मानवसमाज में युक्त-विध्य-उद्य-प्रद्य-स्वामी-नेवक-आदि विद्येय मेरुम्भहार प्रतिक्रिया रहते हैं। अमरीषी का वह दास कि, हने अतिगरीम बनने पर भी थोड़ा मिलता है और न्यायाधीश बोड़े अन्न से ही आयातीत प्राप्त कर लेता है, इतिभिर माय नहीं हो सकता कि उरने उर विद्येय बुद्धि का सम्भव है किन्तु मूल्य काँच बाता है। ही-प्रदानसम्मत आरुणदि धर्मों में वह, और न्यायाधीश उमान है। अन्वेषित्य में दोनों सम्मानवन्म है। यदि अमरीषी की अन्वेषित्य भी उसके अन्न से वृ नहीं होती, तो वह विद्येयविद्याही-उद्यतव्यक्तियों का अन्वेष है। अन्न-वत्-मन्मदा से लव अन्वेषित्य, बर्षी मारतेन सम्पदा है। अन्वेषित्यमात्रा मे लव अपने अपने मिला क्षेत्र में प्रतिक्रिया, बर्षी अन्वेषित्यगुणव्यक्तियों किन्तु विज्ञानव्यवहारमूला विज्ञानविद्या मारतेन सम्पदाव्यक्ति है किन्तु विज्ञान प्रदान दोनों का एकत्र सम्भव हो या है। अन्त, प्रकृत में वल्लभ्येय की है कि, अन्वेषित्य बुद्धितल 'मिथिवज्ञान' तथा 'विद्येयज्ञान' के सम्भव से ही 'विज्ञान' नाम से अन्वेषित्य हुई है। बुद्धि की विज्ञान शब्द से उठी क्या में अन्वेषित्य किया अन्वेष वर कि बुद्धि के विविक्तमन्मत्र, तथा विद्येयज्ञानमात्र की अन्वेष होनी। बुद्धि-शब्दवत्, तथा मन्म-मति-प्रैज्ञा-शब्दों की मति 'विज्ञान' शब्द का भी उक्तमात्र से ही सम्भव है। इत्यन्तर निरूपित १५ शब्दों में से बुद्धि प्रदा, मति प्रैज्ञा, उपलब्धि, विन् सविन् प्रतेन् विज्ञान, इन ती शब्दों का तो उक्तमात्र मे सम्भव सिद्ध हो बाता है एवं मनीय, विद्या, ब्रि, रोदुयै, इत्ये, वेदना, इन ६ शब्दों का अन्वेषण मे सम्भव सिद्ध हो बाता है। और यही बुद्धितल्लक्षणाक शब्दों का अन्वेष निर्वचन है, विद्ये यथाकथन रूप बनाए गिना 'बुद्धि' लव के व्यक्तिक स्वरूप पर ही नहीं का लती।

इति—'विज्ञान'—शब्दनिवचनम् (१५)

६८—'योग'—शब्दनिवचनोपक्रम—

१

'बुद्धि' शब्द के अन्तर 'योग' शब्द की और हमाय अ्यान आकर्षित होता है। पर स्मरण रखने की बात है कि, किं प्रकार विद्युत् अन्वेषणमा, अन्वेषणित अन्वेषणमा, अन्वेषणित अन्वेषणमा, अन्वेषणित विद्युत् अन्वेषणमा, इन बार अन्वेषणियों का अन्वेष स्मार्ती अन्वेषण (शिव), अन्वेष

अपनिपत् (ईशावि) आरभ्यक ब्राह्मण्यमाना से (एवं उपनिषत्तुगत शायीरुद्धरानं, आरभ्यवदानुगत प्राधानिरुद्धरानं, ब्राह्मणानुगत, वैशेषिकरुद्धरानं का क्रमिक सम्बन्ध माना जा सकता है), उषैव अम्बयानुगत 'बुद्धियोग', अक्षरानुगत 'ज्ञानयोग', आरभ्यवदानुगत 'भक्तियोग', एवं विष्णुवदानुगत 'कर्मयोग', इन चारों योगों का भी इन्हीं चारों शास्त्रों से क्रमिक सम्बन्ध है। आत्मा मय है, योग कर्म है। चारों ही शास्त्रों में यद्यपि ब्रह्मकर्मवैतनिक का ही निरूपण किया है। तथापि चारों में प्रतिपादित ब्रह्म-कर्मवैतनिक विभिन्न स्वरूप रख रहे हैं। आरभ्यवदानुगत केवल गीता का प्रतिपाद्य विषय है, अतएव गीता में ही 'अम्बय' तत्त्व की स्पष्टरूप से उपलब्धि हुई है। 'बुद्धियोग' का विरोधय केवल गीता में ही हुआ है। यही कारण है कि 'बुद्धियोग' शब्द भी केवल गीताशास्त्र में ही प्रयुक्त हुआ है। योग, ज्ञानयोग कर्मयोग भक्तियोग, संस्कर्मयोग, राजयोग, इष्टयोग, ब्रह्मयोग अमनस्कयोग, ध्यानयोग, आदि आदि योगों के नाम धो सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। परन्तु सम्पूर्ण वेदशास्त्र का तथा दर्शनशास्त्र का अन्वेषण कर जाह्य, गीता को छोड़ कर कहीं भी आपको 'बुद्धियोग' शब्द उपलब्ध नहीं होगा। यही कारण है कि, गीताशास्त्र को दर्शनशास्त्र की प्रतिष्ठाया से युक्त कर इच्छी व्याख्या करने वाले व्याख्याताओं की, एवं तत्रुगानी गीतामस्तों की दृष्टि में गीता का वह पास्तविक विद्यन्तकर्म 'बुद्धियोग' नामक योग शिरोहित बना रहा। सभी व्याख्याताओं ने गीताप्रतिपादित योग का अय-ज्ञान, मति, कर्म, तीन योगों पर विभक्त मान लिया। और इत्यकार विज्ञानदृष्टि के अभाव से तथा तथा दस्तनिष्पत्ति के अग्रगण्य से कितने शताब्दियों से गीता का अम्बयवदानुगत बुद्धियोग विद्यन्त सर्वथा गुप्त ही बना रह गया।

७०-गीताशास्त्रानुगत 'योग' शब्द का अन्वेषण—

गीता में तीन स्थलों पर तो अम्बयवदानुगत बुद्धियोग का 'बुद्धियोग' नाम से ही संघट्ट हुआ है। तीन के अतिरिक्त इत बुद्धियोग के लिए केवल 'योग' शब्द अम्बयवदानुगत हुआ है। गीतान्त विशुद्ध योग शब्द केवल बुद्धियोग का ही वाचक है। निम्न लिखित वाक्यों में पठित योग शब्द 'बुद्धियोग' का ही संघट्ट बना हुआ है—

१—दूरेण अवरं कम्म—'बुद्धियोगात्'—अनञ्जय !।

युद्धौ शरखमन्विष्य कृपया फलहतव ॥ (गीता० २।४६)।

२—तेषां सततपुच्छानां मज्जतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि 'बुद्धियोगं' त येन मामुपपान्ति त ॥ (गीता० १०।१०१)।

३—येतसा सर्वकम्मास्त्रि मयि सन्धस्य मत्पर ।

'बुद्धियोग'—मुपाभित्य मयि सतत मय ॥ (गीता १०।२०)।



१—एषा तैऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः, योगे त्विमां शृणु ।

युद्धया युक्तो यथा पाप ! कर्मरन्ध्रं प्रहास्यसि ॥ (गीता० २।३६)।

- २—योगस्य कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।
सिद्धयसिद्धयो समो भूत्वा समर्थं 'योग' उच्यते ॥ (गीता० २।४८) ।
- ३—बुद्धिबुद्धो जहातीह उमे मुकृत-बुद्धत ।
समात् 'योगाय' युजस्व 'योगः' कर्मसु कौशलम् ॥ (गीता० २।४९) ।
- ४—भक्तिप्रतिपत्ता ते यदा स्थास्यसि निश्चला ।
समाश्रयत्वा बुद्धिस्तदा 'योग' मवाप्स्यसि ॥ (गीता० २।५०) ।
- ५—इमं विवस्वते 'योग' प्रोक्तवानहमभ्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह, मनुविष्वाकवऽप्यधीत् ॥ (गीता २।५१) ।
- ६—एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजस्यो ब्रिहः ।
स श्लेहेन महाता 'योग' नप्यः परन्तप ! ॥ (गीता २।५२) ।
- ७—स एवायं मया ते जय 'योगः' प्रोक्तः पुरातन ।
मको ऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्यतदुच्यते ॥ (गीता २।५३) ।
- ८—तस्माद्भानसम्भूत इत्सर्षं ज्ञानासिनात्मनः ।
द्विष्येनं संशयं 'योग' भास्विन्दोषिष्ठ भारत ! ॥ (गीता २।५४) ।
- ९—मय्यासक्तमनाः पार्थ ! 'योग' युञ्जन् मुदाभय ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ (गीता० २।५५) ।
- १०—एतां विभृतिं योगं च मम यो वेदि तच्चतः ।
सो ऽबिक्रम्येन 'योगेन' युज्यते नात्र संशयः ॥ (गीता० २।५६) ।
- ११—य तु सर्वाणि कर्माणि भयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव 'योगेन' मां ध्यायन्त उपासते ॥ (गीता० २।५७) ।
- १२—श्रुत्या यथा धारयते मनःप्रायेन्द्रियक्रियाः ।
'योगेन' अभिचारिण्या श्रुतिः सा पार्थ ! साच्चिदा ॥ (गीता० २।५८) ।
- १३—म्यासप्रसादाच्छुत्तवानकुरु गुणमहं परम् ।
'योग' योगेस्तराद् कृष्याद् द्यावाद् कथयत स्वयम् ॥ (गीता २।५९) ।
- १—संन्यासस्तु महानाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
'योगयुक्तो' बुनिर्बन्ध नचिरन्वापिगच्छति ॥ (गीता० २।६०) ।

- २—'योगयुक्तो' विशुद्धात्मा विज्जितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा क्वर्षन्नपि न लिप्यते ॥ (गीता १५७) ।
- ३—नैव सृष्टी पार्थ ! जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कर्तव्येषु 'योगयुक्तो' भवार्जुन ! ॥ (गीता ८२७) ।
- ४—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि वात्मनि ।
ईक्षते 'योगयुक्तात्मा' सर्वत्र समदर्शनः (गीता ६२६) ।
- ५—मय्यावेश्य मनो ये मां 'निष्कामयुक्ता' उपासते ।
श्रद्धया परमोपेतास्ते मे 'युक्तात्मा' मताः ॥ (गीता १२२) ।
- ६—योगसन्न्यस्तकर्मणां ज्ञानसंखिन्नभसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबन्धन्ति बन्धनम् ! ॥ (गीता ४४१) ।
- ७—आरूढोर्मुनेर्योग कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ (गीता ६१३) ।
- ८—पदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुपज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्त्वदोच्यते ॥ (गीता ६१४) ।
- □—
- १—कामेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म क्वर्षन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ (गीता २११) ।
- २—ज्ञानविद्वानवृत्तात्मा कूटस्थो विवितेन्द्रियः ।
'युक्तः' इत्युच्यते योगी समलोटाशमकाश्चनः ॥ (गीता ६१८) ।
- ३—आत्मौपम्येन सर्वत्र समं परयति योऽर्जुन ! ।
मुखं वा यदि वा दुःखं स 'योगी' परमो मव ॥ (गीता ६१२) ।
- ४—उपस्विम्योऽधिको योगी, ज्ञानिम्योऽपि महोऽधिकः ।
कर्मिम्यस्वाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥ (गीता ६१५) ।
- ○—
- १—कर्मज बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
बन्धनबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ (गीता २५१) ।
- २—इति गुह्यतमं शास्त्रमिदं कर्तुं मया नमः ।
एषु बुद्ध्या बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्परमः मारुत ! ॥ (गीता १२०१) ।

७१-सिद्ध बुद्धियोग, एवं साध्य बुद्धियोग का वारतम्य—

उक्त बचनप्रामाण्यबानुसार हमें 'बुद्धियोग' शब्द के 'योग' शब्द का निबन्धन करते हुए 'बुद्धियोग' नामक गीता के 'समत्वयोग' को ही आधार मानना पड़ेगा। 'योग' शब्द का सामान्य अर्थ है—'मेल' 'सङ्गति'। अमुक का अमुक से योग है इच्छा अर्थ है—अमुक का अमुक से मेल है। मेल दो मयों की अपेक्षा रहता है। क्योंकि 'योग' शब्द की द्विनिष्ठा सिद्ध हावाती है। द्विनिष्ठ यह बोध सिद्ध, साध्य, मेद से दो मार्गों में विभक्त माना गया है। दो कस्तूरी का मेल कर एकसम बन जाना 'सिद्धयोग' है। एवं दो कस्तूरी का मेल करने वाली द्विनिष्ठा क्रिया 'साध्ययोग' है। कस्तूरः सिद्धयोग ही योग है। साध्ययोग तो योग का साधनमात्र है। तथापि सिद्धयोगार्थ प्रवृत्ता यह साध्य-योगानुगत क्रिया भी साध्यव्यवहार से 'योग' कहलाने लग गई है। सिद्धाक्यापन्न योगशास्त्रक योग शब्द 'मुञ्ज-समाधी' (वि० आ० अ) शब्द से अन् प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न हुआ है। एवं साध्यव्यवहारन योगक्रियाशास्त्रक योगशास्त्र 'बुद्धिर्-योगे' (क उ अ) शब्द से अन् प्रत्यय के द्वारा उत्पन्न हुआ है। मेल योग है वही सिद्धयोग है वही गीता की 'ज्नाधि' वाक्या है०। मेल करने वाली क्रिया साध्ययोग है, योगप्रवर्तित्र क्रिया है। सिद्धयोगानुगत योगी गीता के शब्दों में 'आस्त-पुत्र' आदि नामों से व्यक्त हुआ है। एवं साध्यव्यवहारन योगी 'आदरकृ-पुत्रान-' आदि नामों से व्यक्त हुआ है। सिद्धयोग मेल है, शास्त्र है अन्वयविशिष्ट है। साध्ययोग के द्वारा ही इत सिद्धयोग की प्राप्ति होती है। 'बुद्धि बुद्धियोगं तम' का बुद्धियोग यह सिद्धयोग है जो साध्यबुद्धियोग के अनुज्ञाता की अन्वयवत्ता के द्वारा अज्ञानतर में प्राप्त होता है। तभी तो उक्त के लिए 'ददामि' करना अनर्थ बना है। 'तत्सर्वं योग-संसिद्धः अज्ञानरामनि विद्वन्ति (गी ४।१५) वाक्य में पठित 'योगसंसिद्ध' शब्दा योग साध्ययोग है एवं 'अज्ञानरामनि विद्वन्ति' शब्दा योग सिद्धयोग है। 'यदा योगमवाप्स्यसि' (२।५१) शब्दा योग 'सिद्ध-योग' है। एवं 'दूरेषु द्वारं कम्म बुद्धियोगान्नतजय (२।४८) शब्दा योग साध्ययोग है। 'योगाय सुख्यस्य (गी २।५१) का 'योग्य' सिद्धयोग की ओर संकेत कर रहा है एवं 'युज्यते शब्द साध्ययोग की लक्ष्य बना रहा है, बिना साध्ययोग का (विद्यमानक योग का) 'योग कर्मसु कीरत्यम्' (गी २।५२) इत उत्तरवाक्य से स्पष्टकरा हुआ है।

७२-सिद्धयोगानुगत कृतात्मा, एवं साध्ययोगानुगत विधेयात्मा—

सिद्धयोगवत्साध्य आस्त पुत्र योगी 'कृतात्मा' कहलाता है एवं साध्ययोगवत्साध्य 'आदरकृ-पुत्रानयोगी-विधेयात्मा' कहलाता है +। एतद्वैक्याधिकारपूर्वक तपसद्वारा निकटकर्मसङ्घट साध्य-

• भुक्तिविप्रतिपत्ता त यदा स्यात्पति निरुपत्ता ।

समाश्रयवत्ता बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

—गी २।५१।

— १-पर्याप्तकामस्य कृमात्मनस्तु इदं सर्वं प्रविशतिपति कर्माः ।

मुच्यते २।२२।

२-रागद्वेषद्विषयैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवर्षविधेयात्मा प्रसक्तमभिगच्छति ॥

—गीता २।५५।

होने वाला है। प्रकृत में तो हमें उस 'योग' शब्द की ही सीमांकन करना है का योग विहित बना हुआ है। किन्तु किन्ते खच योग है, यह प्रश्न उपस्थित है, किन्तु उत्तर है—अभ्यसना के साथ विद्याभ्यास का योग। क्या प्रकृत दशा में बुद्धि का अभ्यस के साथ योग नहीं है ? है और अक्षर्य है। किना योग के तो प्रज्ञान एवं इन्द्रियार्थ का आकार ही नहीं हो सकता। फिर 'योग' की क्या आवश्यकता रही ? उत्तर उक्तप्रकार है। अकारण दशा में अभ्यस का बुद्धि के साथ योग है, बुद्धि का अभ्यस के साथ योग नहीं है। और एवंविध योग का पर्यवसान आत्मिकमूलक नियमों पर ही विमान्त है। अतएव इस महावाक्य मानवानुसृत प्राकृत योग को 'बुद्धियोग' न बह कर 'विचरयोग' ही कहा जायगा।

७४—विषययोगानुगता आत्मपरंपरम्परा—

आध्यात्मपरंपरामय को लक्ष्य बना कर नियम का उपनयन कीजिए। तब से प्रथम स्थान अभ्यसना का है। इसमें आगे स्वाध्याय अभ्यसना प्रस्थिति है। अनन्तर धारमेधय महानात्मा प्रस्थिति है। अभ्यसनात्म-गर्भित महानात्मा में अभ्यसना गयीमूल है। अतएव अभ्यस-अभ्यस-महान्, तीनों की छवि को एक विमान माना जायगा। एवं अभ्यसगर्भित महानात्मा के गर्भ में प्रस्थिति अभ्यसपर्यन्त अभ्यसना की ही प्रातिरिक्त लया मानी जायगी। इसमें आगे विज्ञानात्मा (बुद्धि) प्रस्थिति है। अनन्तर प्रज्ञानात्मा (मन) प्रस्थिति है। प्रज्ञान और इन्द्रियवर्ग के मध्य में वैधानर-रीत्य-मात्र-लक्षण बेही भूतत्मा (बीजत्मा) प्रस्थिति है। अनन्तर इन्द्रियवर्ग, अनन्तर शरीर, और लयान्त में सम्यग् शैथिल्य नियमस्य। अभ्यस का योग हुआ बुद्धि से बुद्धि का मन से मन का भूतत्मा से भूतत्मा का इन्द्रियो से एवं इन्द्रियों का शरीरसाथ सम्यग् नियमों से। इस पारम्परिक योग का उत्तरार्थ्य्य ही हुआ कि इन्द्रियों की नियन्त्रणनियमित इन्द्रियों में भूतत्मा से भूतत्मा में मन से मन में बुद्धि से एवं बुद्धि में अभ्यस से आरंभ है। किन्तु कठिनायं यह निश्चय कि, बुद्धि-मन-भूतत्मा-इन्द्रिय-शरीर-हाय अभ्यस का योग सम्यग् नियमों पर विज्ञान-त है। मूल से प्रचारित ज्ञान स्रोत नियमों पर बलके बनता है। अतएव इस योग को 'विचरयोग' कहा जायगा। 'आत्मो मतिः सा गतिः' न्याय से इस आध्यात्मयोगमक बुद्धि-मन-भूतत्मा-इन्द्रिय-शरीर-नियन्त्रणनियमो बुद्धियोग-मनोयोग-महायोग-इन्द्रिययोग-शरीरयोग-विचरयोग-इन सब स्वाभाविक रूपों की मति अन्तिम योगस्थानीय नियम-योग ही बन रहा है।

७५—बुद्धियोगस्वरूपविगृह्यन—

विचरयोग का परिचय क्या हुआ ? स्वाभाविक अभ्यसना के स्वाभाविक विज्ञान का विरामाच। जैसे ? भूतत्मा ? बुद्धिपर्यन्त तो अभ्यसविद्यत स्वस्वरूप से लुप्तित रहा। परन्तु प्रज्ञान पर पहुँच कर इच्छा स्वस्व आहत हो गया। मन पर विचरसंस्कार प्रस्थिति रहते हैं। संस्कार विचरतीय है। इन संस्कारों से मुक्त प्रज्ञान मन से मन लक्ष्य बना हुआ है। अतएव उत्पत्तिरिचिता बुद्धि निर्गत बनती हुई अपने आरंभो मन के प्रति लक्षित किए हुए है। इसी शब्दों में बुद्धि अपना स्वात्मन्व कोकर मनोस्वयं में परिणत हो रही है। लक्ष्यपरवर्णाह्य स्वस्वरूपविद्युत्ता मनोऽनुगता अतएव मनोऽन् इन्द्रियवर्गका विचरयोगस्य ही बुद्धि अविद्याभ्यास कहलाई है किन्तु रात्रोपात्मिका आत्मिक, अज्ञानलक्षणा अविद्या अचरमलस्य अन्विनेय न्न अनेरवर्णनक्षणा अन्विता के चार पाप्मा उत्पत्ति रहते हैं। इन चारों अविद्याविरत्यर्थों के उद्भव से (जो

आगन्तुक हैं) बुद्धि के स्वामयिक अनासन्नितलक्षण वैराग्य, विद्यालक्षण ज्ञान नियन्त्रणलक्षण धर्म, विद्यालक्षण ऐश्वर्य्य चारों दिशाओं का अभिमुख हो रहा है। अध्ययन स्वरूप से प्रकारानुगत है। किन्तु अधिष्ठाकरण से वह भी उसी प्रकार मसीमस बना रहता है, जैसेकि (दस्वरूप से स्टेटरवर्क भी सौम्यकाश कृष्णबर्चोर्जित आदर्श (चाच) के भीतर प्रविष्ट होकर कृष्णबर्चोर्जित बन जाता है। इसप्रकार संस्कारों के अनुवाद से अभ्यस्यत्मा, और विद्याबुद्धि, दोनों के मध्य में अधिष्ठाकरण उपरिष्ठ हो रहा है। इस मध्यस्थ विद्यार्थीय आचरण से अभ्यस्यत्वयोग स्वामयिक विद्यायोग के स्थान में अधिष्ठायोगप्रमक बन रहा है। यही अभ्यस्यत्मा के स्वामयिक विकास के तिरोभाव का मूल कारण है। यहाँ आकर यह कहा जा सकता है कि, अध्ययन का न तो बुद्धि के साथ ही योग है, न बुद्धि का अध्ययन के साथ ही योग है, अपितु अधिष्ठा के साथ ही बुद्धि का योग है। अधिष्ठात्मक इस अभ्यस्यत्व, एवं बुद्धियोग से न तो अध्ययन वा विद्याभाग ही विकसित रहता, एवं न बुद्धि का विद्याभाग ही विकसित रहता। अधिष्ठा विषयसंस्काररूपा है। अतएव तद्रूप अभ्यस्यत्वयोग तथा बुद्धियोग दोनों वस्तुगत्या विषययोग ही बन रहे हैं। यही विषययोग अशान्ति-दुःख-बलेशान्ति की प्रवृत्ति का मूलकारण है। तन्निवृत्त्यर्थं विद्यायोग अपेक्षित है। तत्प्राप्त्यर्थं साधनलक्षण बुद्धियोग अपेक्षित है। तत्प्राप्त्यर्थं यमदोषादि के परित्यागपूर्वक कर्मानुष्ठान अपेक्षित है। तत्प्राप्त्यर्थं अज्ञानव्यर्थ-तत्-कर्म-वेदानुपासन-अद्विष्टादि विद्याविशुद्धियों का अनुगमन अपेक्षित है। तभी उत्तलक्षण कर्म नष्टान में प्रवृत्ति होगी। तभी बुद्धि का साधनलक्षण योग होगा, तभी अभ्यस्यत्मा का विद्याभाग विकसित होगा तभी 'तदा योगमवाप्स्यसि' के अनुसार विद्याकरवापत्ता बुद्धियोगलक्षण-प्राप्त हो सकेगी, एवं तभी अशान्ति-दुःख-बलेशान्ति की आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव बन सकेगी जिसके लिए गीतारारत्र प्रवृत्त हुआ है। इत्यर्थमृत विद्यात्मक 'योग' से युक्ता बुद्धि ही 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुई है। यही 'बुद्धि' और 'योग' शब्दों से कृतकम 'बुद्धिभाग' का संक्षिप्त स्वरूपनिर्बन्धन है जिसके चार विषय हो रहे हैं। एक ही बुद्धियोग के चार विषय जैसे हो गए हैं, इस प्रश्न का उत्तर है—'विद्यातत्त्व । योगसर्वप्रथम्यात्क विद्यातत्त्व क्योंकि अनुदां विप्लव है अतएव तदनुगत, किंवा तद्रूप बुद्धियोग भी चार ही विषयभावों में परिणत हो रहा है। अगते प्रकरण में इन्हीं चारों विद्याविषयों वा तथा तदनुगत चारों बुद्धियोगों का विरलेषण अवधित है।

इति—बुद्धियोगस्वरूपनिर्बन्धनात्मक प्रथमप्रकरणे

'बुद्धितत्त्वरवरूपविदर्शनम् नामक

चतुर्थस्तम्भ

(१)—४



श्रीः

‘बुद्धियोगस्वरूपनिर्घचन’ नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

“बुद्धि”-तत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन’ नामक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(१)-४

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-प्रकरणप्रथमक-‘बुद्धियोगपरीक्षा’

नामक-पुस्तक-का

स्तम्भचतुष्टयात्मक-‘बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन’ नामक

प्रथमप्रकरण-उपरत

१



श्रीः

‘बुद्धियोगस्वरूपनिर्बचन’ नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

“बुद्धि”-तत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन’ नामक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(१)-४

श्री

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-प्रकरणत्रयात्मक-‘बुद्धियोगपरीक्षा’
नामक-पूर्वखण्ड-अ
स्तम्भचतुष्टयात्मक-‘बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन’

नामक

द्वितीयप्रकरणम्

२



श्री

अथ-बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
द्वितीयप्रकरणे

‘धर्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचनम्’ नामकः
प्रथमस्तम्भ

(२)-१

धर्मबुद्धियोगानुगतम्—आर्यविद्यास्वरूपनिर्दिष्टम्

प्रथमस्तम्भ



१—भारतीय शास्त्र के चतुर्दश (१४) विवर्य—

‘बुद्धियोग’ शब्द का मूलार्थ क्या है, ‘बुद्धियोग’ शब्द का क्या अर्थ है, ‘बुद्धियोग’ ही गीत का तारिफ सिद्धन्त क्यों माना गया, इत्यादि प्रश्नों का पूर्वप्रकरण में समाधान करने की चेष्टा की गई। अब प्रस्तुत प्रकरण में बुद्धियोगानुगत विद्याचतुष्टयी के एवं उद्भूयता बुद्धियोगचतुष्टयी के स्वरूपनिर्दिष्टपक्ष की चेष्टा हो रही है। इस विद्याचतुष्टयी की, तथा योगचतुष्टयी की मूलप्रतिष्ठा क्योंकि ‘विद्या’ उत्पन्न है, अतः सर्वप्रथम ‘विद्या’ शब्द के तारिफ स्वरूपपरिचय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। सर्वप्रथम लौकिक-स्वभाववादि से ‘विद्या’-शब्दार्थ का समन्वय कीजिए। लोक-में यह प्रसिद्ध है कि, ‘अमुक व्यक्ति चौदह विद्यानिधान है’। शक्तिब्राह्मणशिरोमणि * इस लोकानुगत इन्द्रस्यवहार से विदित होता है कि, शम्भुपतिस्व विद्वक्त चौदह शास्त्रों का ही नाम ही चौदह विद्या है। भारतीय चौदह विद्याओं के वे विभाग कर्मणः इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं—१-शाखा २-कल्प ३-व्याकरण, ४-निरुक्त, ५-धोतिय, ६-जन्म, ७-स्रग्देह ८-यजुर्वेद ९-सामवेद १-अथर्ववेद ११-मीमांसा, १२-न्याय, १३-धर्मशास्त्र १४-पुराण। शास्त्रों में चौदह के स्थान में जब तक १८ विद्याविभाग भी स्वीकृत हुए हैं। आसुर्वेद, धनुर्वेद सम्प्रबन्धे, अथरास्य, इन चार के अन्वय से १४ के स्थान में १८ विभाग हो जाते हैं। निम्न लिखित बचनानुसार दोनों ही विभाग शास्त्रोत्पत्त हैं—

अङ्गानि—वेदास्वधारो—मीमांसा—न्यायविस्तर* ।

धर्मशास्त्रं—पुराणम्—, विद्याश्चेतामृतुर्दश ॥१॥

आसुर्वेदो—धनुर्वेदो—गान्धर्वरेवेति वै त्रयः ।

आर्यशास्त्र—चतुर्दश विद्या अष्टादशैव ता ॥२॥

—विद्यापुराणे

२—वर्षधर्मानुगता शास्त्र—शास्त्र—बाणिज्य—शिल्प—विद्याचतुष्टयी—

‘विज्ञानाति यण-ज्ञानं सम्पत्सयति यथा-सा ज्ञानसाधनभूता रास्यव्याप्तिका वाग्देवी विद्या’ इस निरूपन के अनुसार शम्भुपति-इन्द्र हन उत्पन्न करने वाला शम्भुव शम्भुपति-इन्द्र शम्भु ही ‘विद्या’ है।

* ‘शक्तिग्रहं—व्याकरणोपमानकोशासवाक्याद् व्यवहारतश्च’ ।

उत्र—शक्तिब्राह्मणशिरोमण्येर्व्यवहारस्य (इन्द्रस्यवहारस्य) ।

धर्मबुद्धियोगानुगतम्-आर्षत्रिद्यास्वरूपनिवेदनम्

प्रथमस्तम्भ



१-भारतीय शास्त्र के षट्पदशा (१४) विवरण-

'बुद्धियोग' शब्द का मूलाकार क्या है, 'बुद्धियोग' शब्द का क्या अर्थ है, यह शब्द का व्युत्पत्ति और व्याकरणिक सिद्धान्त कबों माना गया है, इत्यादि प्रश्नों का पूर्णव्यापक में उत्तर देना ही इस प्रस्तुत प्रकरण में बुद्धिबोधतनुगत विद्याचतुष्टयी का, एवं तदनुगत विद्याचतुष्टयी का उद्देश्य ही माना जा रहा है। इस विद्याचतुष्टयी की, तथा बोधचतुष्टयी की व्याख्या करने के लिये ही सर्वप्रथम 'विद्या' शब्द के व्यापक स्वस्वरूपविषय की ओर ही ध्यान देने का आग्रह किया जा रहा है। सर्वप्रथम लौकिक-सम्बन्धव्यति से 'विद्या'-शब्दार्थ का समन्वय करने के लिये ही सर्वप्रथम 'अमुक व्यक्ति और वह विद्यानिधान है'। शक्तिप्रदर्शकप्रमाण के लिये ही सर्वप्रथम यह प्रमाण है कि, शब्दप्रयोग विमल और शास्त्रों का ही नाम ही शब्द है। इस प्रकार ही वे विषय क्रमर इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं-१-शाखा, २-व्याख्या, ३-बोधचतुष्टयी, ४-बोधचतुष्टयी, ५-बोधचतुष्टयी, ६-बोधचतुष्टयी, ७-बोधचतुष्टयी, ८-बोधचतुष्टयी, ९-बोधचतुष्टयी, १०-बोधचतुष्टयी, ११-बोधचतुष्टयी, १२-बोधचतुष्टयी, १३-बोधचतुष्टयी, १४-बोधचतुष्टयी। शास्त्रों में बौद्ध के शब्दों के अर्थों का उल्लेख ही किया जा रहा है। अतः ही, निम्न लिखित बचनानुसार दोनों ही विभाग शास्त्रप्रमाण हैं-

अज्ञानि-वेदारक्षत्वारो-मीमांसा-न्यायविम्वर ।

धर्मशास्त्र-पुराणश्च-विद्यास्योत्तमस्तुदश ॥१॥

आद्युर्ध्वेदो-स्तुर्ध्वेदो-गान्धर्वश्चेति वै श्रयः ।

आर्षशास्त्रं-चतुर्थं विद्या अष्टादशं च ॥२॥

-विष्णुपुराण

२-वर्षधर्मानुगता शास्त्र-शास्त्र-वाशिज्य-श्रित्य-विष्णुपुराण

'विद्वानाति यथा-ज्ञानं सम्पादयति तदा-मा-श्रित्य-विष्णुपुराण'।
 इस निर्वचन के अनुसार शब्दानुसारेण ज्ञान उत्पन्न करने का ही उद्देश्य ही माना जा रहा है।

• 'शक्तिग्रहं-व्याकरणापमानकोशाद्युक्तम्'।
 तत्र-शक्तिग्रहकारोमसेम्यवहारस्य (हृदयग्रन्थ)

इस शास्त्रविद्या का बड़ा प्रधानतः ब्राह्मण्यवर्ग से सम्बन्ध है बड़ा शास्त्रविद्या का प्रधानतः क्षत्रियवर्ग से सम्बन्ध माना गया है । तीसरे वैश्वकर्ण के लिए वायुविद्याविद्या, तथा चौथे शुक्रवर्ण के लिए शिल्पविद्या प्रधानरूप से अनुमाहिष्य मानी गई है । इस दृष्टिकोण के अनुसार शास्त्र, शास्त्र, वाशिक्य, शिल्प मेर से शौचिक-वैदिक-शास्त्र (शब्दाभिष्य ज्ञानखानभूता विद्या) वर्णानुसार चार भागों में विभक्त हो रहे हैं । इन चारों शास्त्रों, किन्ता विद्याओं को क्रमशः ब्राह्मण्यविद्या क्षत्रियविद्या, वैश्यविद्या, शूद्रविद्या, इन नामों से भी व्यवहृत किन्ता जा सकता है । चारों ही विद्याओं दो दो भागों में विभक्त की जा सकती है । निगमविद्या, तथा अगमविद्या, मेर से दो विभाग ब्राह्मण्यविद्या के हैं । अक्षविद्या, तथा शास्त्रविद्या दो विभाग क्षत्रियविद्या के हैं । कृषिविद्या वायुविद्या, दो विभाग वैश्यविद्या के हैं । शिल्पविद्या, कलाविद्या, वे दो विभाग शूद्रविद्या के हैं । यहाँतुगता इन चारों विद्याओं में अथवाक्ष् शौचिक पाण्डौकिक विद्याओं का अन्तर्भाव हो रहा है । बड़ी भारतीय विद्या का वर्णानुसारतुगता एक प्रकार का दृष्टिकोण है । हम यहाँ एक अनुमान करते हैं, अविश्वत भारतीय जनता अपने देश की इन विद्याओं के रहस्य से तो क्या नाममात्र से भी परिचित न होगी । आर्यप्रजा होने के नभते उच्छा यह तो कथन्य हो ही जाता है कि, कम से कम यह अपने देश की विद्याओं का नाम तो जान ले । इसी दृष्टि से उन चारों विद्याओं के खगमन्य नाम यहाँ उद्यत कर दिए जाते हैं—

१	१-१-निगमविद्या २-०-अगमविद्या	} शास्त्रविद्या—अक्षविद्या—क्षत्रियविद्या—ब्राह्मण्यविद्या ।
०	३-१-अक्षविद्या ४-२-शास्त्रविद्या	
२	५-१-कृषिविद्या ६-२-वायुविद्या	} अथवाक्षविद्या-वैश्यविद्या—अर्षविद्या—वैश्यविद्या ।
४	७-१-शिल्पविद्या ८-२-कलाविद्या	

- १-ज्ञानराक्षिप्रधानं—'ब्रह्म' बीर्यम्—उदनुगता शक्तिविद्या—उत्था फलं—'विद्वत्'।
 २-क्रियाराक्षिप्रधानं—'ब्रह्म' बीर्यम्—उदनुगता शक्तिविद्या—उत्था फलं—'वीर्यम्'।
 ३-कार्यराक्षिप्रधानं—'विद्व' बीर्यम्—उदनुगता म्यबहारविद्या—उत्था फलं—'म्यबहारकोशलम्'।
 ४-गुणराक्षिप्रधानं—'शौद्रम्' बीर्यम्—उदनुगता भूतविद्या—उत्था फलं—'बाहुवी'



- १-कारणशरीरगमितं—आत्मचेत्रम्—आत्मप्रधानचेत्रम्—ज्ञानचेत्रम्—उदनुगता शास्त्रविद्या
 २-सूक्ष्मशरीरगमितं—कारणशरीरचेत्रम्—कारण म०चेत्रम्—क्रियाचेत्रम्—उदनुगता शक्तिविद्या
 ३-सूक्ष्मशरीरगमितं—सूक्ष्मशरीरचेत्रम्—सूक्ष्म म० चेत्रम्—कार्यचेत्रम्—उदनुगता म्यबहारविद्या
 ४-सर्वगमितं—सूक्ष्मशरीरम्—सूक्ष्म म० चेत्रम्—क्रियाचेत्रम्—उदनुगता भूतविद्या



- १-महाकन्धे—मानशक्तेर्विद्यतः—(ब्रह्माद्यनुगतः)—उत्कृष्टिप्रधाना—ब्राह्मणा—उदनुगता ब्राह्मणविद्या
 २-उरोकन्धे—क्रियाराक्तेर्विद्यतः—(इन्द्राद्यनुगतः)—उत्कृष्टिप्रधाना—श्रविषा—उदनुगता क्षत्रियविद्या
 ३-उदरकन्धे—कार्यराक्तेर्विद्यतः—(विश्वकष्यनुगतः)—उत्कृष्टिप्रधाना—वैश्या—उदनुगता वैश्यविद्या
 ४-शरीरकन्धे—गुणमाकष्य विद्यतः—(आग्नीयिमाद्यनुगतः)—उदनुगता शूद्रा—उदनुगता शूद्रविद्या



- १-निगमागमस्वाध्यायव्रताः पुण्या—ब्राह्मणा (कालोत्तरीविनि)।—पशुर्वा
 २-अक्षरशक्त्यादद्या पुण्या—क्षत्रिया (शलोत्तरीविनि)।—शूतीका
 ३-कृषि-वाणिज्यव्रताः पुण्या—वैश्या (वाणिज्योत्तरीविनि)।—श्रितीया
 ४-शिल्पकलाप्रवीणा पुण्या—शूद्रा (कालोत्तरीविनि)।—प्रथमा



३-चारों विद्याओं की प्रतिष्ठा का तारतम्य—

उक्त चारों विद्याओं की तयानप्रतिष्ठा का तयान्वय कीविद्य। शिल्प-कलानुगता शूद्रविद्या की मूल-प्रतिष्ठा कृषि-वाणिज्यानुगता वैश्यविद्या ही मानी गई है। कारण स्पष्ट है। चित्त राज का कार्यक्षेत्र (क्षेत्र) सुपविष्ट, तथा स्वादय बना रहता है, उठी राज में शिल्प-कला फलतः लभते हैं। फलपत्ते हैं। कार्यक्षेत्र की मूलप्रतिष्ठा है कृषि, एवं कृषि से उत्पन्न हन्वी का विनिमयात्मक वाणिज्य। 'धातु' का प्रकल्प हत देरा में

कमी नहीं रहा। बड़े शय्यों में यहाँ बालुग्रह (बय्या-पैला) कमी राष्ट्र की मौलिक सम्पत्ति का रवान प्रदान न कर सके, अस्तित्व यहाँ 'राष्ट्र' की सम्पत्ति मुख्य रूप से 'अन्न' ही माना गया। देश के दिन प्रायों में देश के लौकिक से बल मान बुद्धि का प्रवेश नहीं हो पाया है यहाँ आज भी अन्न ही मुख्य सम्पत्ति मानी जा रही है एवं अन्न के पारस्परिक विनिमय से ही ग्रामवासियों के लौकिक व्यवहार सम्पन्न हो रहे हैं। इमारत ऐत्र विद्यालय हैं कि, देश की योग-ज्ञेय विन्ता के इत म्भावहरूप का बहुत कुछ उत्पन्नविन्त बालु-प्रचलनवाद पर अवलम्बित है। बालुग्रह की कुम्भित मनोवृत्ति में ही देश की अन्नसम्पत्ति उन शिष्य-कला-वीवी मान्यों तक नहीं पहुँच पायी, जिनमें उठ पाठक-वृत्ति का लक्ष्य आभाव है किन्तु कि द्वारा बालुसम्पत्ति के लक्ष्य का मार्ग प्रशस्त ? कन बाया करता है। उनके कान में बालुग्रह नहीं, जिनके कोप में संघर्ष है—उनके अनुग्रह में अन्नसम्पत्ति कन गर बहुमुख्य, प्रलम्ब रूप भूलीं मरते हुए देश के अमरीकी शिष्यी, और कलाविरों का क्रमिक हान आरम्भ हो गया। बालुग्रह के आचार पर लक्ष्य ही अन्नसम्पत्ति को बालु के लक्ष्य मिला कर कमी देश के शिष्य, और कला विकसित नहीं किए जा सकते। क्या देश में खेती नहीं होती, होती है। क्या खेती से अन्नसम्पत्ति उत्पन्न नहीं होती, होती है। फिर अन्नविन्ता क्यों ?। नगर-वर्धमान युग की वह वाणिज्यव्यवस्था, जिनसे बुध्दय से बालुग्रहवात्मना को आचार का सिद्ध है। पहिले अन्नसम्पत्ति के लिए अन्नसम्पत्ति का विनिमय होता था। वो कस्तु यहाँ नहीं होती थी, विनिमय में वह यहाँ पहुँच जाती थी। और इत्यन्त मोगक्षेम का निर्वाह होता रहता था। प्रायः बाकर अन्नसम्पत्ति के विनिमय के लक्ष्य लक्ष्य बालुविनिमय में ही स्थान ग्रहण कर लिया। कस्तुओं का विनिमय हुआ, परन्तु बालु को लक्ष्य बना कर। मुक्ततात्मनका जैसे ही विनिमय का उदाहरण माना जा सकता है। बालु लक्ष्य प्रधान नहीं बन पाया अतएव इत बालु में ही अन्नसम्पत्ति का आभाव संवत्स्रनक नहीं बन सका। लाले-परिने को मिलाया था। प्रलम्ब रूप देश की शिष्य-कलाएँ, यथाकृति उत युग में कहीं रह गए। और वृद्धि-राज्यता में कस हुआ, वह आदर्शक रह है। अन्नसम्पत्ति के विनिमय का स्थान बालुविनिमय में एक कर ही खीन किया। जिन नियत स्थानों में घोर-घोरतम पीरधरों के द्वारा आब वाणिज्य होता है यहाँ कसे बाहर। हवाएँ-लाली को बेची खरीयी दुनार पेशगी। परन्तु जिन कस्तुओं के आचार पर वह लक्ष्य कुछ मुझे दुनारों को मिलेगा, उन कस्तुओं के धर्मन भी आन न कर लेंगे। हाँ वाणिज्यव्यवस्था पर बालु के विनिमय का अक्षय्य लक्ष्य आचार हो बायगा। मारकर्ष के वाणिज्यव्यवस्थाव्यवधान जिन नगरखेटों के आचरों (बुध्दयों) में किन्हीं युग में कहीं प्रचुर अन्नसम्पत्ति परिपूर्ण खती हुई देश की कस्तु कि परिचय दे रही थी, आज उन आपलों में किन्हीं आचरों को बालु का लक्ष्य (कलावते), और बालुग्रहों को कुम्भित रखने वाली विवेकीय। अन्नसम्पत्ति पर बायगी लक्ष्य कमी, न हो बायगी, परन्तु तब तक अन्न के लक्ष्य न का लेंगी, जब तक कि हमारा बालुविक वैश्यर्षा उल्लेख पन्नाल बालुग्रह न कर लेगा। इत्यन्त बालु वाणिज्य के लिए नहीं ख्य, अस्तित्व वाणिज्य बालु का मेकक बन गया। कृति-वाणिज्य, जेनों में बालु की शक्यता लक्ष्य कर ली। अब जिनके कोप में बालु है वे कृति से लाभ लेंगे ही उठाएँ परन्तु जिनके कोप में शिष्य-कला-विद्या-आदि मौलिक सम्पत्ति हैं वे भूलीं ही मरेंगे। परिशाम वह हो या है कि शिष्यी शिष्यकोशल छोड़ रहे हैं, कलाविर कला को कलाविरि लक्षित कर रहे हैं और विद्याविरि विद्या को नमन कर रहे हैं। एवं लक्ष्यकर्षण से वे भी अनुग्रह हो रहे हैं उत बालुग्रह कर्म की घोर, जो आज एकमात्र मोगक्षेम का लक्ष्य बना दिया गया है।

४-घातु का व्यामोहन, और अन्नसम्पत्ति का घय—

कृषि-वाणिज्य-कर्म में घातु क्यों प्रधान गया ? इच्छा भी एक मनोरञ्जक इतिहास है। और यह इतिहास है—'हमारी आबरवकथाएँ'। एवं इच्छा मुख्य कारण है—'आबरवकथाएँ' को प्रधानता देने वाले घातुलाक्षण प्रतीक-परचरों का सुकष्ट ?। वे आप अतिथि बन कर, अतिथियों का हमने उखार किया। उखार से प्रभावित होकर वे बन गए हमारे कुटुम्बी। हम देखते गए उनकी ओर से प्रत्युत्पन्न में जो उपहार हमें मिलते गए, हम उनकी सम्पत्ता के प्राकृतिक्य में पड़ कर उनका सहर ग्रहण करते गए, परिणामस्वरूप हमारी आबरवकथाएँ बनने लगीं। आबरवकथाएँ का अधिकाधिक उत्तेजना देने वाले उपहार मारत की शान्त मयिधियों की शान्ति का दर्पदहन करने लगे। और इच्छाकर हम अपना ताका बीजा छोड़ कर सपना सम्भ बन गए, जिस सम्पत्ता की रक्षा के लिए उन अतिथियों के द्वारा समर्पित उपहारों को अपनाता आज हमारे लिए अनिर्वाच्य बन गया है। वे उपहार अन्नविनियम से छिटे प्राप्त हो सकते हैं। उनके लिए तो घातु अपेक्षित है। अन्नसम्पत्ति हमारे शरीरमन्त्र को सुरक्षित रख सकती है। परन्तु इससे सम्प्राप्त प्राप्त योग्य रूप उपकरण तो अन्नद्वारा प्राप्त नहीं किए जा सकते। अन्न ही क्या सर्वत्र भी देकर हमें अपनी सम्पत्ता की रक्षा को करनी है। अन्न जान बन बाप, आर्द्रा-संस्कृति-पाम्प्रीरव-सब कुछ जला बाप, यह बाप किसी प्रकार हमारी वध मान सम्पत्ता पूरी होती खै—हमारी वे प्रवृत्त आबरवकथाएँ, और मिलता रहे इसके लिए हमें प्रचुर बन किछी भी छू-अच्छ उपाय से ही छड़ी। यही वह मनोरञ्जक, किन्तु सर्वनाशक इतिहास है जिसके अनुग्रह ने मातृरूप के कृषि और वाणिज्य पर घातुलक्षणों का प्रभाव स्थापित किया है। कृषि-वाणिज्य के स्वरूप को नष्ट-अच्छ करने वाले इस प्रमाण का ही वह अछूत परिणाम है कि, आज यह का सिन्धु, एवं कला सर्वथा उन्मूलनपाय है। प्रश्न है इनके पुनरुत्थान का। यह तभी सम्भव है, जब कि यह ही कृषि-वाणिज्यानुग्रहा वैरवविद्या अपने वास्तविक कृषि, और तद्विनिबन्धनमक वाणिज्यरूप से पुनः विकसित हो। इसी रीति के आधार पर हम कह सकते हैं कि, श्रद्धा का प्रथम वैरवविद्या ही है। सूखे शब्दों में सिन्धु-कला का प्रचार-प्रसार-रक्षा-विकारादि कृषि-वाणिज्य प्रकार प्रचार-रक्षा विकारादि पर ही अक्षरगत है। कृषि-वाणिज्य ही यह का कोयला है, बरी मातृकी परिमाण में यह का कोय (सम्पत्ति) है। वह आज परन्तु है कुछ बाधोंमियों के अनुग्रह से स्वरूप से विकृत है। वह एक वास्तविक है उस एक सिन्धु-कलाानुग्रह असम्भव है—'मूलो मजन न होय गुसाई' प्रकृत है।

५-सर्वस्वपातिक्रम अर्थसम्पन्नप्रवृत्ति, और राष्ट्र का पतन—

मातृकी कृषिवाणिज्यानुग्रहा वैरवविद्या की सुरक्षा क्यों हुई ?, क्यों यह परणत की, क्यों इस पर घातु-आबरव से प्रभाव बना लिया ?, इत्यादि प्रश्नों का एक समाधान पूर्व में किया जा चुका है। कृषि-वाणिज्य-लाभार्थ अर्थ से योग-धैर्य की रक्षा होती है। प्रत्येक शरीरवासी अपनी जीवनशक्ति के लिए इस अर्थ का अनिवार्यरूप से अनुग्रहण करता है। प्राकृतिक रहस्यज्ञान से अपरिचित लक्ष्यधारण मानववर्ग अतीत, और वच मान की अपेक्षा मयिध के अनुग्रहण में विशेषरूप से आकर रहता है। इस अनुग्रहित मयिधविद्या से ही इच्छो स्वभावतः लक्ष्यरूपि का उदय होता है। 'अधिक से अधिक अर्थसम्पत्ति लक्षित रचना' इच्छा स्वाभाविक लक्ष्य बन जाता है। परिणाम यह इति का यह होता है कि अर्थसम्पत्ति का विनियम एक बाधा है, और अन्तस्वरूप को उदय नहीं कर सकते, उनका योग्योम तद्विध बन जाता है। लक्षण कीन

करता है। ब्रह्मके पाठ शक्ति है। आध्यात्मिक शक्ति नहीं। क्योंकि आध्यात्मिक शक्ति तो उच्च की विरोधिनी है। आधिभौतिक शक्ति ही इस उच्च का धारण करती है। इसी शक्ति से शक्तिमान् को हुए यह उन अन्य अग्रवक्त राशियों की कार्यक्षमति का अग्रपुर्णक अग्रहरण कर लेते हैं, जिन अग्रवक्त राशियों के पाठ इन आत्मतापी राशियों के निरोध के धारण नहीं करते। दय्यदात्मक वही धारण मात्वीय परिमाण में 'अग्रवक्त' करवाना है। अग्रवक्त के धारण हैं—'शक्तान्'। शक्तान् से मुक्तचित्त, पौष्ट्ययुक्त, दय्यदात्री, क्षत्रियतमाव शिव यह के क्षत्रि-वाशिश्व की रक्षा में लक्ष्य रहता है, उक्त यह पर आत्मव्ययिणी का कण नहीं धरता करता। यदि यह का क्षत्रिय तमाव मुख्य है तो क्षत्रियाशिश्व अग्रवक्त है। ऐसा अग्रवक्त क्षेत्र ही अग्रवक्त बना करता है। और वही वह मूल्य मुख्य अग्रवक्त है, जिसके अग्रपुर्ण से हमारा अग्रवक्त हमसे स्थित गया है। मानना पड़ेगा कि, क्षत्रियाशिश्वप्रतिष्ठा वैश्यविद्या की मूलप्रतिष्ठा अक्षयरात्रात्मिक क्षत्रियविद्या ही है। यदि आत्मतया यह समझता है कि अग्रवक्त यह उक्तके अस्वात्मकप्रतिष्ठा क्षत्रिय तमाव से अग्रवक्त है, तो वह भूल कर भी उसकी क्षमति पर हर्षित बालने का व्यवहार नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त त्वर्ण उक्त यह का क्षत्रि-वाशिश्वप्रतिष्ठापाठ वैश्यतमाव भी दय्यदात्मकीय से उच्चपथ का अग्रगामी नहीं बन सकता। पदात्मक होता नहीं, स्वयिनिकम ब्रह्म नहीं। पदात्मक्य इस क्षत्रयात्मन में प्रतिष्ठित क्षत्रि-वाशिश्व और शिवकला उपरोक्त विरहित होते रहते हैं। जिना अग्रवक्त के एक अतिरिक्त तो क्या, उक्त उक्त अतिरिक्तियों के मुख से प्रतिष्ठा उक्त उक्त कर विनिर्मित भी अतिरिक्त्य वैश्य की कार्यक्षमति को आत्मव्ययिणी के आत्मतया से नहीं बना सकता। निष्कर्षतः क्षत्रियविद्या ही वैश्यविद्या की मूलप्रतिष्ठा मानी जाननी।

६-शस्त्रवर्ग के द्वारा प्रजा का निर्माण शोषण—

क्या वैश्य में क्षत्रियों का उत्पादन अवकाश हो गया, अत्रविद्या के साथ साथ क्या अत्रविद्या भी कृत हो गई? हाँ और ना दोनों ही उत्तर समीचीन प्रतीत होते हैं। क्षत्रिय ही शत्रु भी हैं, शत्रु म भी रहे हों, तो उनके निर्माण की विद्या, और उत्पादनमूल धारण जमी एक उपसम्भ है। फिर वैश्य का क्षत्रि-वाशिश्व कबो पदात्मक बन गया? इत्यदि कि, रक्षक वर्ग ने मनुष्यवृत्ति की प्रधान मान लिया। 'कुतस्तत्र प्रतीकरो रक्षको यत्र मनुष्यः चरित्यर्थां करो वाते क्षत्रियवर्णं के शत्रु का उपरोक्त वर्ण रक्षाधर्म में होना चाहिए का वही इत्यम भी लक्षण क्षत्रियाशिश्व ही बन गया। मूल्यमी क्षत्रियों का स्थान इन्हीं स्थित किया। उच्चवृत्ति का निरोधक यह वर्ण त्वर्ण ही उच्चवृत्तगामी बन गया। कार्य और शत्रुन दोनो का स्थान क्षेत्र बन गया। पदात्मक्य शान्तिरथापन के स्थान में यह वर्ण वैश्यवृत्तियेका भी वही अत्रिक शोषण बन गया। रक्षकवृत्ति के अत्यधिक धम्म ने तथा शोषणधर्म की पूर्ण प्रमत्ता में इस क्षत्रवक्त को भी निलोच बना डाला। शत्रुत्वविद्या का स्थान क्षत्रियविद्या ने ग्रहण कर लिया। वैश्य का शत्रुत्व रक्षक न रह कर वैश्य बन गया अन्तारा का अतिरिक्त्य बन गया। कारण 'आश्वर्यवृत्तिये' से उत्पन्न रहने वाली वही विशालवीरता'। 'हमें किञ्चन मत्र है हमारे हाथ में शत्रु है इस धारण कल ने इनकी रक्षानि-वा शिव को अग्रवृत्तिये में परिणत कर डाला। कबो क्षत्रवक्त्य लक्षकवृत्तिये से मुक्त हो गया, प्रान का पदात्मक्य वारिष्ठा उत्तर है—'आश्वर्यविद्या की विमुक्ति। विद्याविमुक्ति म कर कर आश्वर्यवर्ण की मूल्य को ही कार्य मानना अत्रिक समीचीन होगा। क्या आश्वर्यवृत्ति का मुक्तोत्थर हो गया, हाँ इत्यदि कहना पड़ेगा कि, निगमात्मन, दोनों ही विद्याओं का इस भाँति ने त्वर्ण परियार कर दिया जो निगमात्मन-

विद्या इस जाति के बतन की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। धर्मविद्या निगमविद्या है, पृथिवीविद्या आगमविद्या है। निगमविद्या यशप्रधाना है आगमविद्या मन्त्र-तन्त्र-प्रधाना है। जब जब भी देश का क्षत्रवर्ग उत्पन्न हुआ, तब तब ही ब्रह्मण्यो में इस समय विद्यावत्त से इस वर्ग का नियन्त्रण किया। क्षत्रवत्त बहुत बड़ा बल है, यह ठीक है। परन्तु निगमागमात्मक विद्यातरीकाल इससे भी उत्कृष्ट बल है। 'ब्रह्मतेजो वर्तुं बलम्' लक्षण ब्रह्मवत्त के सामने क्षत्रवत्त को भी नतमस्तक होना पड़ता है। कारण यही है कि, क्षत्रवत्त नहीं आधिभौतिक बल प्रशमन है वहाँ ब्रह्मवत्त आध्यात्मिक आम्कन्तर प्रशमन है। आध्यात्मिक बल ही आधिभौतिक बल की प्रतिष्ठा है। बूढ़े राज्यों में ज्ञानवत्त ब्रह्मण्यवत्त है कर्मवत्त अधिभौतिक है। जब कर्मवत्त ज्ञानवत्त का उपयोग तो होता है, तो ज्ञानवत्त कर्म प्रशमन करता हुआ स्वरूपवत्त के स्थान में स्वरूपवत्त का ही कारण बन जाता है। 'मैत्रावक्यमहविज्ञान' का विरलोपण करते हुए स्वयं वेदभागवत्त ने इसी तरह का स्पष्टीकरण किया है। वहाँ कतलाया गया है कि—

७-मित्र और वरुण की प्रतिद्वन्द्विता से राष्ट्रवैभव का अभिमन्त्र—

“आरम्भ में मित्र ब्रह्म और वरुण क्षत्र, दोनों पृथक् पृथक् थे। मित्र ब्रह्म अभिमन्त्र (मार्गप्रदर्शक उपदेशक) का वरुण क्षत्र करता था। दोनों बल विभिन्न पयातुगामी बन रहे थे। क्षत्र से पृथक् रहकर ब्रह्म ने अपना विष्णु तो आकर्य टैक किया परन्तु इसकी स्वरूपज्ञान न हुई। उभर ब्रह्मव्योम से बधित क्षत्र का भीकित रहना ही कठिन हो गया। कारण स्पष्ट है। बिना कर्म के ज्ञान का विष्णुसमात्र बल लक्ष्य है, परन्तु ज्ञान की स्वरूपज्ञान नहीं होती। उभर बधि कर्म ज्ञान का सहयोग छोड़ देता है, तो कर्म का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। वरुणक्षत्र ने मित्रब्रह्म की उपेक्षा कर को भी कर्म किया वही समृद्धि के स्थान में धर्मनारा का कारण ठिय हुआ। फलतः क्षत्र को ब्रह्म का आमन्त्रण करना पड़ा। दोनों के मेल से ही 'मैत्रावक्यवत्त' का स्वरूप उत्पन्न हुआ। यह आकर्यक है कि अपने प्रत्येक कर्म में क्षत्रिय ब्राह्मण को अभिमन्त्रा (परामर्श देने वाला-परामर्शदाता) बनाने सभी ज्ञानवत्त इसका कर्म समुद्र बन लगेगा। ब्रह्मवत्त (ज्ञानवत्त) कर्म ही समृद्धि का जनक बना करता है। वेदिए—

“तत्-अवकल्पुप्तमभ-यद् ब्रह्मण्योऽरात्रन्य' स्यात् । यद् राजान समेत-समृद्ध तत् । एतद् त्वेधानवकल्पुप्त-मत् क्षत्रियोऽब्रह्मण्यो भवति । यद् किम्ब कर्म कुर्वते-अप्रवृत्त ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समृद्धपते । तस्मात्-क्षत्रियेण कर्मकरिष्यमाणेन उपसर्ग्य एव ब्राह्मण्य । सं हैवास्मै तत् ब्रह्मप्रवृत्तं कर्मऽर्च्यते” ।

—रात० श्य० ४१।१।१। १ ।

८-शास्त्रालिक उपचारों की व्यर्थता—

राजनीतिवत्त वर्तमानकाल के राजनीतिक वेदपुराण के करणों का विरलोपण करते हुए कहा करते हैं कि, मातृकर्ण इतिप्रधान देश है, अक्षय यहाँ की अधिक जनता नामों में निरस्त करती है। राजनदीव

से ही इत प्रभा का आत्यधिक योग्य हुआ अतएव देश को समृद्ध बनाने के लिए आमजनता का उद्योग आवश्यक है। एही उद्योगना से प्रेरित होकर आज 'ग्रामोद्योग'—'ग्रामसंगठन'—'ग्राम-शिक्षामण्डल' आदि अनेक संस्थाएँ उत्पन्न पनप रही हैं। और इत्यप्रकार इन रचनात्मक-कार्यों का सेहारा संभव कर वास्तविक उद्योग से प्रतीय हो रहे हैं। उधर ग्रामीण जनता समझ रही है—हमारे बच्चों के लिए स्कूल खुला रहे हैं। दुर्भाग्य के समय हमें आज-कल मिलता है, बलाप्रलयकारणों पर हमारी रक्षा की जाती है, रोगप्रदा में अग्रोपचारों की जाती हैं। इत्यप्रकार सबके खर्च, दोनों ही बर्न उद्योग हैं। अर्थात् आर्थिक है, आभ्यन्तरिक, और उपादेय भी। परन्तु ।

६—धर्मानुगति, और राष्ट्रसंरक्षण—

पण्डु क्या यह सपत्नार आत्यधिक उपचार मान लिये जायगा, क्या इन धार्मिक उपायों से हम राष्ट्र का आत्यधिक हितोत्थान कर लेंगे? विश्वास कीजिए। अब तक सर्वसाधारण मानववर्ग के मनोमात्र प्राकृतिक नियमनियमसंयोजक धर्मशास्त्रों को आधार नहीं बना लेंगे जब तक हमारी मानवप्रकृति सुस्थिर न बन लगेगी। अब तक मानवप्रकृति सुस्थिर न बन जायगी, जब तक प्रकृतिभयबल शान्त न बन लगेगा। अशांतिप्रकृति काय दिन सूक्ष्म, बलाप्रलय दुर्भाग्य महाभागी, जनपतिभक्ति, आदिरूप से आक्रमण करती ही रहेगी। हम अपने आर्थिक प्रयास करते करते सब कुछ बाँकी पण्डु इत प्राकृतिक भय को उत्कण्ठ शान्त न कर लेंगे जब तक कि मानवसमाज स्वधर्म पर आरुढ़ न होय। शास्त्रकर्त महान्त बन कर अपनी विलासलीला में मग्न रहे, धनिक उमात्र धर्मसंयोज में निमग्न रहे, साधकवर्ग निराश्रय बना रहे, राष्ट्रव्यवस्था लुप्त बना रहे, और कमी कमी आदि पीढ़ियों के लिए दो बार ऐसे ग्रामीण जनता पर दौड़ दिए जाय, इत निदान और विविधता से कमी मानवसमाज का आत्यधिक हितोत्थान नहीं होसकता। अशांतिपूर्ण के लिए ही होने वाले इन आशांतिपूर्ण के गर्भ में हमारा वैयक्तिक स्वार्थ गुण्यस्म से पनपता रहे और हम इच्छे अपने आप की प्रवृत्तियाँ करते रहें क्या यही 'मानवधर्म' है?। त्वावर विरथ और बह्व्यस्य (पापी) दोनों की प्रतिशतप्रदा मानवधर्म से कमी प्रकृति का अर्थ सम्भव नहीं। प्रकृति शान्त बनी रहे, देश का अखण्ड अन्विष्ट बना रहे, शास्त्रकल शस्त्रास्त्र से तुल्यित होकर आत्मव्यवस्था के आक्रमण रोक्ता रहे, विद्वत्त कृति-व्यथिम्ब का निष्ठात करता रहे, राष्ट्रवर्ग विश्व-कलाप्रियता बना रहे, इत्यप्रकार चारों वर्ग स्व-स्व मानवधर्म में आरुढ़ रहें प्रकृति आभ्यन्तर शान्त रहेगी, निश्चयन रहेगी। परन्तु का समय समय पर अनुग्रह होना रहेगा इत मौखि राष्ट्र अपनी उत्पूर्व आभ्यन्तरकार्य पूर्ण करवा हुआ शास्त्रपूर्वक योग-धेनिसिद्ध में समर्थ बना रहेगा। यही ही हमारे राष्ट्र की वै मौखिक आभ्यन्तर है। त्रिनमें मानवसमाज का अन्तु-ब निश्चित है। यही हमारी राष्ट्रधर्मना है। यही हमारे राष्ट्र की आर्थिक परिभाषा है। विद्वत्त मूलप्रतिष्ठा अखण्ड माना गया है एवं अन्तु केवल एक ही मन्त्रशास्त्र लक्ष्य करण हो रहा है। धर्मिय।

१०-भारतीय राष्ट्रकल्पना, और तत्स्वरूपसंरक्षक आर्षधर्म —

आ प्रबन्ध ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् !

आ राष्ट्र राजन्यः शूर इष्योऽविभ्यामी महारथो जायताम् !

दोग्धी धेनुः, षोडानह्वान्, आशुः सपिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णु रथेष्टा !

समेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् !

निकामे निक्रमे नः पर्वन्यो वर्षतु !

फलकृत्यो न श्रोषभयः फन्यन्ताम् !

योगक्षेमो नः कल्पताम् !

अजुसंहिता १२ अ । १२ मं०।

अर्थात् राष्ट्रकल्पना का वह मान्य राष्ट्रकल्पना के लिये समग्रजन कीविए। भारतीय मानवधर्म का सबसे पहिली कामना है—'हे ब्रह्मन् ! ब्रह्मण्य ब्रह्मवर्चसी उत्पन्न हों'। सबसे पहिले ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मणवर्ग की माँग क्यों की गई ?, इच्छा उत्तर स्पष्ट है। आप के राष्ट्र में आप वस्त्र की कमी नहीं पशुसम्पत्ति की कमी नहीं, इच्छा भी पर्याप्त होती है। श्रोत्रधिवनस्पतियों की समक पर उत्पन्न होती रहती है। पुत्रारी गार्हें भारतीय ही देश देश दौड़ने वाले घोड़े विषय की इच्छा रखने वाले घोड़े, सभी तो साधन—सामग्रीवाँ आपके राष्ट्र में विद्यमान हैं। फिर आपका योग—धर्म क्यों नहीं होया ?। प्रथम है कि, 'सूत्रों की सम्पत्ति का उपयोग दुःखि-मान् ही किया करते हैं'। ज्ञान में ही योगतामर्ष्य है। जिस राष्ट्र की उत्तुक्रुषा ज्ञानसम्पत्ति बर्धित है, उस राष्ट्र की सम्पत्ति का उपयोग लय्यं वह नहीं कर सकता। फलतः सब साधनों में ज्ञानसधन का ही प्राधान्य प्रमायित होरहा है। ब्रह्मवीर्यप्रधान ब्राह्मणधर्माब के द्वारा यदि निगमागमात्मक ज्ञान सुरक्षित है, तो राष्ट्र की सम्पत्ति का कोई भी आतदायी अपहरण नहीं कर सकता। इसी लिए मानवधर्मसंरक्षक राष्ट्रवादी महर्षियों ने सबसे पहिले ज्ञानकामना को ही प्रधान स्थान देना आवश्यक माना।

ज्ञानसम्पत्ति का विफल शान्त—बाधनरथा की अपेक्षा रहता है। यह सभी सम्मन है, जबकि राष्ट्र का एक निश्च मानवधर्माब राष्ट्र की शान्ति के लिए लदा समर रहे। यही युद्ध की वृत्ति माँग हुई, जिसके बिना पहिली माँग सुरक्षित नहीं रहती बरकती थी। यही वृत्त समाज शालकवर्ग करलाया। फेला शालक-वर्ग ?, शरीर के कलबात् (शूर) अनुदायी (इष्य) शस्त्रास्त्रसुद्धित) नोरोग (अविभ्यामि) और बहिनसम्पत्ति मे युक्त (महारथ)। ज्ञानप्रदता ब्राह्मण रक्षक शालक, के अनन्तर कृषि—बाणिक्य के मूलमूठ गोष्य की माँग हुई भारतीय ही देश माँग गए, सेनाम्युहार्थ देश दौड़ने वाले घोड़े माँग गए, और समाधिपुत्रा यजमानपुत्र की (वैश्व की) माँग हुई। ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्य तीनों स्वधर्मनिष्ठ बन उत्पन्न हों, बन देश का नारीधर्माब सुलक्ष हो। 'पुरन्धिर्योषा से श्रुति वह माँगना भी न भूले। सब कुछ तो माँग लिया। अब देश रहा प्रकृति का अनुग्रह। 'समक समय पर क्या होती रहे, श्रोत्रधिवर्ष पक्षी रहे और इत्यकार राष्ट्र का योगक्षेम निर्दिष्ट सुतापन होया रहे' इन शब्दों में वरक अन्त में 'योगक्षेम की कामना की गई।

हमारे अहिंसवादी राष्ट्रपतियों में नहीं सुना—समझ ! ! नहीं, तो वे कैसे राष्ट्र , और राजनीति शुरू करके बैठी यह राष्ट्रीय संस्था ? ! यदि सुना समझ तो आब तक उम्मा प्रतीकार क्यों नहीं किया गया ? ! क्यों नहीं हमारे राष्ट्रीय नेताओं में विदेशियों के कुचक्र से अपने भारत राष्ट्र की मौलिक अहिंसविमूर्ति को निकालने का प्रयास किया ? ! प्रयास न करते, इस सीमा तक भी भारतीय राष्ट्रपदा सम्भवतः मन मथोसे छ्दासीन बनी रहती । परन्तु देखते हैं, और दुःखपूर्ण आश्चर्य के साथ सुन रहे हैं कि, इधर कुछ समय से हमारी राष्ट्रीय संस्था ने 'राष्ट्रीयविद्या के नाम से बिल वर्षाशिवापदति' का नवीनतम आदिष्कार करने का अनुग्रह किया है बिल राष्ट्रीय शिवापदति में मर्यादापुत्रयोत्तम मगवान् राम तथा जन्माद्य सीता के लिए 'बादशाह राम, और बेगम सीता' जैसे आदर्श ! बाक्यों का उद्घोष हुआ है, उसे राष्ट्रीय शिवा क्या, 'शिवा' भी करें, अथवा नहीं, यह भी विचारणीय है ।

१३—राष्ट्रीय विद्याक्षेत्र, और तत्सम्बन्धालक धर्म—

इसे क्या पादिए ? हमारे राष्ट्र का जीवनतापन क्या है ? प्रश्नों का उत्तरदायित्व हमारे उस भारत राष्ट्र पर अवलम्बित है जिसमें त्रयीवेदमूर्ति हृष्यायुग स्वच्छन्द विचरण करता रहता है । अतएव जो मरु-राष्ट्र त्रयीविद्यामूलक किंवा निगमागमविद्यामूलक मानवधर्म के आधार पर प्रविष्टित है । उस मानवधर्म के आधार पर बिलक आदर्श (मोटे) है—'सर्वे सन्तु निरामया मा कश्चिद् दुःखमागमवेत्' यह । उस मानवधर्म के आधार पर, बिलक मूलप्रतिष्ठा है ज्ञान-विज्ञानात्मक निगमागमशास्त्र अतएव जो मानवधर्म प्राकृतिक कला हुआ 'कनातनधर्म' नाम से विभूयित हुआ है । बिल कनातनधर्म के प्राकृत्य में स्व-रक्ष-स्तमोमयी गुणमूला प्रकृति के गुण-धर्म-मैदों के आधार पर ध्मात्मिकधर्म 'आशुर्वर्षय धर्म' ध्मकिकिन्धन आशमधर्म राजनीतिनिन्धन राजधर्म, तथा प्रजाधर्म देशधर्म जातिधर्म कुल-धर्म आदि विभिन्न शाश्वतधर्मसङ्घ विभिन्न कर्त्तव्य-धर्म (स्वधर्म) पुष्पित प्पकित हुए हैं । ऐसे ज्ञान-विज्ञानसिद्ध बधमाक प्राकृतिक अवात्तर धर्मों की समष्टि ही तो कनातनधर्म है और वही तो हमारे भारत राष्ट्र की मूलप्रतिष्ठा है । इच्छी रखा ही हमारी राष्ट्ररक्षा है एवं इस रक्षा का अन्वयतम ध्यपन है—'निगमगमविद्या' । यही विद्या हमारी राष्ट्रविद्या है, बिलके प्रचार-प्रसार का भार बाह्य पर डाला गया है । तभी तो निगमागमविद्या बाह्य को प्रत्येक राष्ट्रीय धर्म में मगवान् मनु ने प्रदान स्थान दिया है—

सैनापत्य च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकप्रधिपत्यं च वेदशास्त्रविद्वेति ॥

—मनु १२।१ •

१४—प्रजापति क द्वारा धर्मसृष्टि—

इस विषय धर्मप्रधान है । उच्च धारों बलों में धर्मप्रधान बर्ष अतिबर्ष ही माना गया है । अतिबर्षों का यह सिद्धान्त है कि, धर्म ही धर्मप्रधान विषय की मूलप्रतिष्ठा है । अतएव धारों बलों का अन्तिम शास्त्रा धर्म ही माना गया है । यह सब स्वयं विश्वधर्म के सम्बन्धान में अक्षर्य रहा तो उठने अपने से भी मंथ अक्षर्य उत्पन्न किया । इच्छे भी निर्वाह न हुआ तो विश्वधर्म उत्पन्न किया । इस पर भी

कर्मोप न दुष्ठा, तां 'दुष्कर्म' उत्पन्न किया। चारों बर्ण उत्पन्न हो गए, निरवकर्मसिद्धि के ज्ञान (ब्रह्म) कर्म (दुष्कर्म) धर्म (विष्णु), पुत्र (ब्रह्म) से चारों ज्ञान भी प्रसूत हो गए। परन्तु कर्मों तक सर्वसिद्धि न हुई। चारों अपने अपने निष्कर्मों में आकृष्ट रहीं तभी तो निरवकर्म का सुव्यवस्थितरूप से तद्व्याप्तन सम्भव है। इसी व्यवस्थिति के लिए प्रबुद्ध ने स्वयं अपने ध्यानको नियमितरूप में व्यवस्थित किया। यही व्यवस्था चारों को स्व-स्व निष्कर्म भावों में प्रतिष्ठित रखता हुआ चारों के द्वारा कृत रह कर चारों को स्व-स्वरूप से बाराण करता हुआ 'कर्म' नाम से व्यवहृत हुआ (वेदव्याख्यान भा १४।१।२।३), अथवा गी ५-कर्म 'स' विष्णुग बर्णव्यवस्थाविज्ञान)। लक्ष्मणव्या प्रधानीमृत कर्म स्वयं अतीन्द्रिय उत्पन्न है। यह भी रक्षिकाल के लिए किसी काश्च-मौलिक-इन्द्रियव्यवस्था कायन की अपेक्षा रखता है। सात्त्विक मनुष्य स्वभावतः कर्म परमरूप होते हैं। उनको कर्म में प्रवृत्त रखने के लिए यद्यपि किसी अन्य प्रेरणा-द्वारा-प्रवृत्तभावि की अपेक्षा नहीं रखती, तथापि पौरुषात्मिक मनुष्यों को स्वपरमाकृत रखने के लिए आवश्यक ही किसी मौलिक निष्कर्मण की आवश्यकता हो जाती है। यह निष्कर्मणयुक्त दृष्ट-मयात्मक होना चाहिए। प्रबुद्ध को वह मय रहना चाहिए कि, यदि मैं कर्म की अपेक्षा करना करूँगी, तो मुझे आर्थिक-शारीरिक दृष्ट रहना पड़ेगा। यह ठीक है कि कर्म मार्ग से स्तम्भित अकर्म परावर्तों को पृथक् की ओर से दृष्ट अवश्य मिलता है। परन्तु यह प्राकृतिक दृष्ट प्राकृतिकरिपाक के कारण विनाशप्रवृत्त है। यही क्यों कर्म रहम्यवेष्टा भगवान् मनु के राष्ट्रीय में तो अकर्म पञ्चांगामी मनुष्य परिले कुछ समय के लिए तो इतनाए लक्ष्मणव्या की बन जाता है कि अकर्मप्राप्त अकर्म कर्तार से अकर्मव्यापी तमोगुण अमिष्ट हो जाता है। अमिष्ट तमोगुण कर्मपाना सुलक्ष्मि का उल्लेख बन जाता है। परस्वरूप भूतवैभव्याप्ति होने लगती है अकारिक उत्पन्न होने लगते हैं प्रबुद्ध सुतन्त्र पर शत्रुपन्न आरम्भ हो जाता है। वह मरुत्पन्नता जब कर्म सीमा पर पहुँच जाती है तो प्रकृति का विरुद्ध हो जाता है और तब ही जब वह अकर्म लक्ष्मणव्या में निरति हो जाता है कि। इस अन्तन्तरमावी प्राकृतिक दृष्ट के कारण कर्ममयिष्य प्रबुद्ध के हृदय में इस अकर्म कर्मता का उदय हो जाता है कि 'कर्म माय की कर्म नहीं है। तभी तो कर्मकर्म अकर्म करता हुआ भी सुतन्त्र बना हुआ है। वह विद्वत् विद्वत् कि अकर्म में जब भी मनुष्य प्रवृत्त होता है, आरम्भ में अकर्ममौलिक के निराह से उत्पन्न मन स्वानि करने लगता है। आरम्भ में मनुष्यन विद्वत् अकर्म कर्मता कर्म और किसी अकर्म काय में प्रवृत्त होने पाते पर उनका हृदयरथ अन्तर्मावी रोक लगता है। यदि दुर्भवादि के कारण मनुष्य उन समय अन्तर्मावी की शत्रुव्याप्ति की अपेक्षा कर मनुष्यनादि में प्रवृत्त हो जाता है तो अन्तर्मावी का स्वाम्यविद्वत् प्रबुद्ध इत कर्मिक अकर्ममयिष्य आरम्भ न भावत रा जाता है। अन्तर्मावी आरम्भ के बन हो जाने पर अकर्मकर्मता कर्म अमिष्ट हो जाता है। और तब वह निरोपानिका शत्रुव्याप्ति भी लक्ष्मण अकर्म हो जाती है। उन सीमा पर पहुँचने के अन्तर आरम्भरा में अकर्म-कायों से प्रवृत्त बनने वला यही व्यक्ति को अमिष्टन व कहा करता है कि- 'उन समय हम कर्म निर्वचन धर्मों से दूरते से परन्तु आरम्भ विद्वत् हुआ, कर्म कर्म कोई कर्म नहीं है। परन्तु भी इती

ॐ अकर्ममैर्गधवे सावतु, ततो भद्राणि पश्यति ।

ततः सपन्नाभ्यपति, समुत्सस्तु विनरपति ॥

—मनु ४।१७४

धरम सीमा पर पहुँचे हुए महापुरुषों ! के लिए ही तो मगवान् ने कहा है— 'सद्यज्ञानविमूर्धांस्त्वाम् विधिं नपटान्तेवसः'। कहेने का अर्थिमय है—अधर्मरत प्रजा के सम्पर्क में धार्मिक प्रजा में भी ध्यामोह होने की आशङ्का रहती है। दयद मिशता है विज्ञान से, वैमवगणित प्रतीत होती है उत्काल, अतएव अनुकरणमिय मानकदय इस ओर आकर्षित हो जाता है। अतिस मानवीय मन स्वभावतः श्रुतधर्मा है। श्रुतधर्म का प्रथमक मानव स्वभावमें से स्वभावतः पराङ्मुख बना रहता है। सोम आप्य टल है। अपत्य स्वभावतः निम्नगामी है। अतएव पतनकाम्यों की आर हलकी स्वभावतः प्रवृत्ति रहती है। यही कारण है कि यदि किसी को यह कहा जायगा कि—'आप सुयोदय से पहिले उठ कर स्नानादि से निवृत्त होकर ईश्वरस्मरण किया करें' तो वह कठिनता से इस कर्म में प्रवृत्त होगा। यदि यह कहा जायगा कि—'आप तो सुष्य ९ बजे शय्या छोड़ें, यदि भूल लगी—तो शय्या पर ही चाय-किम्बूट (मिस्तुट) मक्ख कर बर्से देना करने से नका पुण्य होगा' तो निश्चयेन वह लक्षक "त कर्म" में प्रवृत्त हो जायगा। इही श्रुतभाव का लक्ष्य में रलतं हुए भुति ने कहा है कि, वेकत-वितर-असुर-पशु-मनुष्य इन पाँचों प्रजाओं में से कोई भी प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण नहीं करते, केवल मनुष्य ही अतिक्रमण कर जाता है— 'मनुष्या एषिकेऽतिक्रमन्ति (उच २।१।२।१)।

१५—राष्ट्रीय धर्मों के पारम्परिक पतन का इतिवृत्त—

मानवीय मन की इस स्वाभाविक श्रुतप्रवृत्ति के निरोध के लिए, अधर्मपयास अतएव थोड़े समय के लिए समुद्र बने हुए व्यक्तियों के आदर्शों से बनाने के लिए, यह आवश्यक है कि धर्मसंरक्षणप्रवृत्तिरक्षा के लिए मीतिकररर की अकस्या की जाय। उठी दयद से चारों बर्यों स्वत्वधर्म में निमित्तरूप से आरुट हो लगे। धर्मप्रवृत्तिरक्षा के अतिरिक्त राष्ट्र के ज्ञानरत, और अर्थरत विद्वस के लिए भी किसी ऐसे दयदधारी की आवश्यकता है, जिसकी रक्षा में राष्ट्र के ज्ञान अर्थरत पराङ्गी के, तथा स्वराष्ट्रिय आठतामियों के आक्रमण से बचे रहें। इत प्रकार अज्ञ-अज्ञ-विद-शूद्र-भारी बर्यों की धर्ममार्गानुमति के लिए, तथा ब्रह्मातृगता विद्या, विदुगुत इतिवाकित्व, शूद्रातृगता शिष्य-कृता, के विद्वस के लिए अविन का सहयोग लंबा अपेक्षित है। क्योंकि एकमात्र अविन के दयदभव से ही चारों बर्यों की धर्मनिष्ठा सुरक्षित है, एवं इत दयदररर से रक्षित राष्ट्र के ही विद्या वाकित्वमि पुष्पित फलरहित हो लकते हैं। अतएव भुति ने इत बर्यवृत्तध्यात्मक किरर-धर्म की दृष्टि से चारों बर्यों में से 'अविनप्राणक' को ही अ्येठ-भेड पर प्रदान किया है, बैककि भुति के— 'तस्मान् शूद्रान् परं नास्ति इत बचन से प्रमाश्रित है। वात्पर्य-राष्ट्र के उर्यान, पतन का प्रधानरूप से अविनकमात्र पर ही उतरवाकित्व है। कित राष्ट्र में अत्रकल जायत है, वही राष्ट्र विद्या-कृषि-वाकित्व-शिष्य-कृता आदि का अतिकारी बन लकता है। अतएव हम बर्गे, और आशरपूर्वक सामिनिवेर करेंगे, कि—यदि हमारे राष्ट्रवादी वाकत में राष्ट्र का अमुपय आहते हैं यदि वे वाकत में राष्ट्र की मीतिक संकृति-कम्पता-आदर्शपचारक वाकित्व की, कृषिवाकित्व की, शिष्य-कृता की कम्पक हैं, तो उन्हें लंप्रथम राष्ट्र के अत्रकल को ही प्रोत्साहन देना वाकित्व है। अत्रकल की उयेका कृता तो लंबनाय का ही आमन्त्रण करना है।

अत्रकल निरक्षित कभी का ? और आक उकका पतन कर्मों हो गया ? यह धरन उपरिपठ होमा है, किन्कर उतर मिशता है—दये—'नानेबासु' इत भुति से। 'अत्र कर्म' है, किमपयकितप्रधान है। दयदकन का उच दया में पुत्रपयोग अविनार्य बन जाता है, बचकि इत अविनौक कल के नीचे से आप्याकित्व-

धरम चीना पर पहुँचे हुए महापुरुषों ? के लिए ही सो मगवान् ने कहा है—“मयश्चानविमूढांस्ताम विदि नष्टानश्वतसा”। कहने का अभिप्राय है—अधर्मीय प्रजा के उन्मूलन के लिए ही मीशानोह होने की आवश्यकता रहती है। दण्ड मित्रता है विलम्ब से, वैभवप्रति प्रतीत होती है उत्थान, अतएव अनुकरणीय मान्यताएँ इस ओर आकर्षित हो जाती हैं। अविच मानवीय मन स्वभावतः श्रुतधर्मा है। श्रुतधर्म का प्रथम मानव स्वधर्म से स्वभावतः पराङ्मुख बना रहता है। धर्म आप्य उत्पन्न है। अपत्य स्वभावतः निम्नगामी है। अतएव पतनधर्मों की ओर हल्की स्वभावतः प्रवृत्ति रहती है। यही कारण है कि यदि किसी को यह कहा जायगा कि—‘आप सूर्योत्थान में पहिले उठ कर स्नानादि से निश्च होकर ईश्वरस्मरण किया करें’ तो वह क्षणिकता से इस धर्म में प्रवृत्त होगा। यदि यह कहा जायगा कि—‘आप तो सुबह ६ बजे शय्या छोड़ें, यदि भूल लगे—तो शय्या पर ही बाय-विपकूट (विस्फुट) मद्य कर लें। ऐसा करने से बड़ा पुण्य होगा’ तो निश्चयन वह लम्बा इस धर्म में प्रवृत्त हो जायगा। इसी श्रुतधर्म को लक्ष्य में रखते हुए अति ने कहा है कि, देवता-विठर-असुर-पशु-मनुष्य इन पाँचों प्रजाओं में से कौन मी प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण नहीं करते, केवल मनुष्य ही अतिक्रमण कर जाता है—‘मनुष्या एषिक्रममन्ति (घट २।१।२।१)।

१५—राष्ट्रीय धर्मों के पारम्परिक पतन का इतिवृत्त—

मानवीय मन की इस स्वाभाविक श्रुतप्रवृत्ति के निरोध के लिए, अधर्मपचारण, अतएव योड़े धर्म के लिए उद्यम बने हुए व्यक्तियों के आदर्शों से बनाने के लिए, यह आवश्यक है कि धर्मोद्यमनप्रवृत्ति का के लिए, मौलिकदृष्टि की व्यवस्था की जाय। उठी दृष्टि से चारों धर्मों स्वधर्म में नियमितरूप से आरंभ हो सकेंगे। धर्मोद्यमनप्रवृत्ति के अतिरिक्त राष्ट्र के ज्ञानरस, और धर्मरस विचार के लिए मी किसी ऐसे दण्डधारी की आवश्यकता है, जिसकी रक्षा में राष्ट्र के ज्ञान धर्मरस परराष्ट्रों के, तथा स्वराष्ट्रिय आठतामियों के आक्रमण से बचे रहें। इस प्रकार ब्रह्म-ब्रह्म-विद-शूद्र-चारों वर्गों की धर्ममार्गानुगति के लिए, तथा ब्रह्मानुगता विद्या, विद्वानुगत इतिहासिक, शूद्रानुगत शिष्य-कला, के विचार के लिए अतएव का उपयोग सर्वथा अपेक्षित है। क्योंकि एकमात्र धर्म के दण्डधर्म से ही चारों वर्गों की धर्मनिष्ठा सुरक्षित है, एवं इस दण्डधर्म से अति राष्ट्र के ही विद्या कायिकादि पुष्टि फलपित हो सकते हैं। अतएव अति ने इस धर्मोद्यमनप्रवृत्ति के लिए धर्म-धर्म का धर्मोद्यमन पर ही उच्चरामित है। अति राष्ट्र में धर्मरस प्राप्त है, यही राष्ट्र विद्या इति-वाचिक-शिष्य-कला आदि का अधिपति बन सकता है। अतएव हम कहेंगे और आधुनिक धर्मोद्यमन कहेंगे, कि—यदि हमारे राष्ट्रवादी वास्तव में राष्ट्र का धर्मोद्यम चाहते हैं यदि वे वास्तव में राष्ट्र की मौलिक संरक्षित-धर्म-आदर्शमचारक साक्षित्री, इतिहासिक की, शिष्य-कला की रक्षिक के धर्मोद्यम, तो उन्हें धर्मोद्यम राष्ट्र के धर्मरस की प्रोत्साहन देना चाहिए। धर्मरस की उपेक्षा करना ही धर्मोद्यम का ही धर्मोद्यम करना है।

धर्मरस विद्वित्त की या १, और धर्म उल्ला पतन क्यों हो गया ? यह धर्म उपरिमत होता है, अति उच्चर मित्रता है—धर्म—‘नानेवासु’ इस अति से। ‘धर्म’ धर्म है, धर्मोद्यमप्रधान है। दण्डधर्म का उच्चर धर्म में उच्चरधर्म अतिधर्म का जाता है, यद्यपि इस अधिधर्मरस का के मी से अधिधर्मरस-

छन्दोप न हुआ, तो 'शुद्धवर्ण' उत्पन्न किया। चारों वर्णों उत्पन्न हो गए, विरवकम्म सिद्धि के ज्ञान (ब्रह्म) कर्म (वज्र) अर्थ (कि), गुण (शुद्ध) ये चारों गायन भी प्रकृत हो गए। परन्तु अभी तक सर्वसिद्धि न हुई। चारों अपने अपने निवृत्त कर्मों में आकृष्ट रहे, तभी तो विरवकर्म का सुखपरिप्लवक से तन्त्राज्ञान सम्भव है। इसी व्यवस्थिति के लिए ब्रह्म ने स्वयं अपने आन्तको निवृत्तिकाएँ छत्र-स्वरूप सं प्रकृत किया। यही स्वरूप चारों को स्व-स्व निवृत्त माकों में प्रतिष्ठित रखा हुआ चारों के हाथ पृथ रह कर चारों को स्व-स्वरूप सं चारण करता हुआ 'धर्म' नाम से व्यवहृत हुआ (देखिए शत ब्रा १४।१।२।३। अथवा गी भू धर्म का विभाग बर्णधर्मशास्त्रज्ञान)। सर्वोपेक्षा प्रथानीभूत धर्म स्वयं अतीन्द्रिय तत्त्व है। यह भी स्वदेवता के लिए किसी शस्त्र-मौलिक-इन्द्रियतादेव्य लक्षण की अपेक्षा रखता है। आत्मिक मनुष्य स्वभावतः धर्म-परवचक होते हैं। उनको धर्म में प्रवृत्त रखने के लिए यद्यपि किसी अन्य प्रेरणा-प्राप्तमहात्मा की अपेक्षा नहीं रहती, तथापि बोध्यवृत्तिक मनुष्यों को स्वधर्मात्मा रखने के लिए उपदेश ही किसी मौलिक निकटवर्ण की आवश्यकता ही जाती है। वह निष्पन्नवस्तु दृढ-महात्म्य होना चाहिए। प्रथा को वह मज रखना चाहिए कि, यदि मैं धर्म की अवहेलना करूँगी, तो मुझे आर्थिक-शारीरिक दृढ रहना पड़ेगा। यह ठीक है कि धर्म मार्ग से स्वसिद्धि अथवा परवचणी को प्रवृत्ति की ओर से दृढ अपरव मिलता है। परन्तु यह प्राकृतिक दृढ प्रवृत्तिपरिप्लवक के कारण विकल्पव्यवस्था है। यही क्यों धर्म रहस्यवेदा मगवान् मनु के शब्दों में तो अधर्म पञ्चानुगामी मनुष्य पहिले कुछ समय के लिए तो स्वसिद्धि समुद्रियाही बन जाता है कि अल्पकालपर अधर्म संलक्ष्य से उत्सृष्टवीर्य तमोगुण अभिवृद्ध हो जाता है। अभिवृद्ध तमोगुण उत्पन्नाना प्रवृद्धि का उच्चैःशून्य बन जाता है। अल्पकाल मृत्युसंभवप्राप्ति होने सम्भवी है तात्कालिक उत्पन्न होने सम्भवी है दृढ प्रवृत्त पर शत्रुदमन धारण हो जाता है। वह महोत्सवपथा वच धरम सीमा पर पहुँच जाती है तो प्रवृत्ति का विरहोत्पन्न हो जाता है और उन्ही वच वह अधर्मी स्थितिकर्म में विलीन हो जाता है। इस अज्ञानतरमायी प्राकृतिक दृढ के कारण वर्धमानयिष प्रथा के द्वारा में दृढ अधर्म वातना का उत्पन्न हो जाता है कि, 'धर्म नाम की कण्टु नहीं है। तभी तो 'अमुक स्थिति अधर्म करता हुआ भी सुखपूर्वक बना हुआ है'। वह सिद्ध विवद है कि अधर्म में वच भी मनुष्य प्रवृत्त होता है आत्म्य में आत्मसंप्रति के विनाश से उत्पन्न मन ग्नाति करने लगता है। आत्म्य में मत्पथन सिद्धि अथवा उत्पन्न और किसी अधर्म कार्य में प्रवृत्त होने वाली पर उत्पन्न दुःखवच अन्तर्धर्मी रोक लगता है। यदि दुःखगति के कारण मनुष्य उक्त समय अन्तर्धर्मी की शब्दध्वनि की उद्वेगा कर मत्पथानादि में प्रवृत्त हो जाता है तो अन्तर्धर्मी का स्वाभाविक प्रवृत्त दृढ अधर्म अथवा अधर्मवच अधर्मवच से आहत हो जाता है। अन्तर्धर्मी का आकार के बन हो जाने पर अन्तर्धर्मी तर्कवा अधर्मवच हो जाता है। और तब वह निरोधव्यवस्था शब्दध्वनि भी तर्कवा अधर्मवच हो जाती है। उक्त सीमा पर पहुँचने के अनन्तर आत्मसंस्था में अधर्म-धर्मों से मज करने जाता यही स्थिति बड़े अधिमान से कहा करता है कि-उक्त समय इस बड़े निर्लक्ष्य धर्म से करते थे, परन्तु आज विरिध हुआ धर्म धर्म कोई कण्टु नहीं है। फलन की रही

ॐ अधर्मेणैषते वासव, ततो भ्रात्रि परपति ।

तत्र सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥

—मनु ३।१७४

धरम सीमा पर पहुँचे हुए महापुरुषों ! के लिए ही तो महावान् ने कहा है— 'सयज्ञानविमूर्धास्तान् विद्धि नष्टान्चेतसाः'। करने का अभिप्राय है—अधर्मरत प्रजा के सम्पर्क में धार्मिक प्रजा में भी क्यामोह होने की आशा रखनी है। दरद निजता है विश्व से, वैभवप्राप्ति प्रतीत होती है तन्माल, अतएव अनुकरणीय मानवस्य इस ओर आकर्षित हो जाता है। अधिष्ठ मानवीय मन स्वभावतः श्रुतधर्मा है। श्रुतधर्म का प्रथमक मानव स्वधर्म से स्वभावतः पराङ्मुख बना रहता है। सोम आप्य तत्र है। अधस्तत्त्व स्वभावतः निम्नगामी है। अतएव पतनकार्यों की ओर इच्छी स्वभावतः प्रवृत्ति रहती है। यही कारण है कि यदि किसी को यह कहा जायगा कि—'आप स्वर्गोदय से पहिले उठ कर स्वानादि से निवृत्त होकर ईश्वरसमर्पण किया करें' तो वह कठिनता से इस कर्म में प्रवृत्त होगा। यदि यह कहा जायगा कि—'आप तो सुबह ९ बजे शय्या छोड़ें, यदि मूल लगे—तो शय्या पर ही वाय-विप्लव (स्किन्ट) मण्डल कर डालें ऐसा करने से बड़ा पुण्य होगा' तो निश्चयेन वह लज्जालस इस कर्म में प्रवृत्त हो जायगा। इसी अतमाव को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है कि, देवता-पितर-आसुर-मनु-मनुष्य "न पाँचों प्रजाओं में से कोई भी प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण नहीं करते, केवल मनुष्य ही अतिक्रमण कर जाता है— 'मनुष्या एषैकेऽतिक्रमन्ति (शत २।४।२।१।)।

१५—राष्ट्रीय बलों के पारम्परिक पतन का इतिवृत्त—

मानवीय मन की इस स्वामाविक श्रुतप्रवृत्ति के निरोध के लिए, अधर्मपथात् अतएव योद्धे समाज के लिए समुद्र बने हुए धर्मितकों के आदर्श ! से बनाने के लिए, यह आवश्यक है कि धर्मातृगमनप्रवृत्तिरक्षा के लिए, शैतिकदृष्ट्य की व्यवस्था की जाय। उही दरद से चारों बर्य स्वत्वधर्म में नियमितरूप से धारण हो सकेंगे। धर्मातृगमनप्रवृत्तिरक्षा के अतिरिक्त राष्ट्र के हानक, और अधर्मक विनाश के लिए भी किसी ऐसे दरदकारी की आवश्यकता है, जिसकी रक्षा में राष्ट्र के हान अधर्मक परराष्ट्रीय के, तथा स्वराष्ट्रीय आस्तमितियों के आक्रमण से बचे रहें। इस प्रकार ब्रह्म-ब्रह्म-विद-शुद्ध-चारों बलों की धर्मातृगमनप्रवृत्ति के लिए, तथा ब्रह्मातृगमन विद्या विद्वानुगत कृतिवाचिक, शूद्रातृगमन शिष्य-कला, के विनाश के लिए अधिष्ठ का लक्ष्योत्तराधर्मा अधिष्ठित है। क्योंकि एकमात्र अधिष्ठ के दरदमय से ही चारों बर्यों की धर्मातृगमनप्रवृत्ति है, एवं इस दरदकारी से रचित राष्ट्र के ही निष्ठा वाचिक्यादि पुण्यित पस्तकित हो सकते हैं। अतएव श्रुति ने इस वर्णचतुष्टयामक विरह-धर्म की दृष्टि से चारों बर्यों में से 'अधिष्ठातृक' की ही श्रेष्ठ-श्रेष्ठ पद प्रधान किया है, किन्तु श्रुति के-तरमात् शूद्रात् परं नास्ति' इस बचन से प्रमाश्रित है। तत्पर्य-राष्ट्र के उत्थान, पतन का प्रधानरूप से अधिष्ठतमाव पर ही उक्तवाचिक है। किन्तु राष्ट्र में ब्रह्मक वास्तव है, यही राष्ट्र विद्या कृति-वाचिक्य-शिष्य-कला आदि का अधिष्ठाती बन सकता है। अतएव हम कहेंगे, और आधुनिक लामिनिवेश करेंगे, कि—यदि हमारे राष्ट्रकी वास्तव में राष्ट्र का अधिष्ठतमाव आदिते हैं, यदि वे वास्तव में राष्ट्र की शैतिक संस्कृति-तन्माल-आदर्शप्रचारक शिष्य की, कृतिवाचिक्य की, शिष्य-कला की समृद्धि के अशुभ हैं, तो उन्हें लक्ष्यधर्म राष्ट्र के पतनक को ही प्रोत्साहन देना चाहिए। ब्रह्मक की उपेक्षा करना तो लक्ष्यधर्म का ही आधुनिक करना है।

ब्रह्मक विकसित नहीं था, और आज उक्त पतन क्यों हो गया, यह प्रश्न उपरिपठ देता है, किन्तु उत्तर मिताता है—धर्म—'नानेवास्तु' इस श्रुति से। 'ब्रह्म' कर्म है, अधिष्ठातृगमनप्राधान है। दरदक का उठ देना में उपपयोग अधिष्ठातृक बन जाता है, जबकि इस अधिष्ठातृक कल के नीचे से अधिष्ठातृक-

ज्ञानका हय सिवा बाया है। आध्यात्मिक ज्ञान के निष्कर्ष से नियन्त्रित आधिभौतिक दृष्टिकोण नहीं रहना कर्म में उपयुक्त होता है, नहीं। आध्यात्मज्ञानबद्धित दृष्टिकोण मनुष्यकर्म का अनुगामी बनना हुआ कर्मिक नाश का कारण बन जाता है। अविप्लवमर्थों के यहाँ क्या दृष्टिकोण नहीं है?। है और अकारण है। क्या उस दृष्टिकोण का प्रकारणकर्म में उपयोग होता है, नहीं। नहीं।। इसलिए कि, उनकी दृष्टिकोण ने आध्यात्मज्ञान का आशय छोड़ दिया है। उक्त आध्यात्मज्ञान का जिसके क्लेशबाहक निम्नगामकियाचार्य ब्राह्मण थे। भारतीय शास्त्रप्रवृत्ति के महत्त्वपूर्ण विभाग पुण्युप में ब्रिज वेदविन्-ब्राह्मण के आचार पर छोड़े जाते थे, नहीं ब्राह्मणसमाज सत्तामय से बद्धित होकर आज अपने आध्यात्मिक ज्ञानविषय में भी अज्ञान बन रहा है। महाभारत-त्रयस्य पर 'बी महायज' का कर ब्राह्मण से पीछा हुआ होता है अज्ञानसुखी उपेक्षा से मुक्त मोक्ष होता है। और इसप्रकार सत्तामय से बद्धित, तिरस्कृत देश का वह ब्राह्मणसमाज, जिसे देश के ज्ञान का प्रतिनिधि बनाया गया था आज पदरहित बनाया आरुह है। क्या फिर भी अविप्लवमात्र अपना गौरव सुरक्षित रख सकता है?, मुक्ति करती है—'अज्ञानम्'।

यह ठीक है कि मोक्षिदृष्टिकोण का अविप्लव अविप्लवमात्र उन्नाशन का अविप्लवी है। परन्तु इसे स्मरण रखना चाहिए कि, इसकी योग्य ब्रह्मका ही है। ज्ञान के आचार पर ही कर्म का उन्मूलन हुआ है। अज्ञानमय होने से शारदत है, नित्य है। जब विश्राम होने से अज्ञानमय है। यदि अज्ञानक क्रियामय का शारदत प्रसिद्ध प्राप्त करती है तो इसे आन्ध्र ब्रह्मण को पुरोषा बनाना पड़ेगा। किन्तु वेदविन् ब्राह्मणपुरोषा के शास्त्र अपनी सत्ता भी सुरक्षित नहीं रख सकता। उक्त ब्राह्मण यदि सत्तामय से बद्धित रह जाय, तो उसका विश्राममात्र ब्रह्मका परन्तु स्वरूपज्ञान नहीं होगी। अतएव अज्ञान को अपना सत्ता कि—'बी शास्त्रा ब्राह्मण के उपयोग के किन्तु दृष्टिकोण का अनुगमन करता है वह कर्म उन्मूल नहीं बन सकता। जिस ब्राह्मण को सत्तामय प्राप्त नहीं होय, उसका ज्ञान विकसित नहीं होय। इसलिए यह-अन्वयवेत्तु का कर्तव्य है कि, वह अपने कार्य में ब्राह्मणपुरोषा का ही अभिगन्ता बनावे। अज्ञान के उन्मूलन से ही राष्ट्र का अनुगमन कर्म है—(वेदविन् यत् ११।११।)।

१६-राष्ट्रीय ब्राह्मणसंघ की जीवन्मृत्यु—

अज्ञान ने ब्राह्मण का आशय नहीं छोड़ दिया, यह प्रश्न उपस्थित हुआ, इसका उत्तर है—'ब्राह्मण की मृत्यु' किन्तु कि पूर्व में उल्लेख किया था उक्त है। जिस प्रकार शास्त्रों में 'जीवन्मृत्यु' नाम की विवेक मुक्ति प्रसिद्ध है एवमेव 'जीवन्मृत्यु' का भी स्थान उपासना चाहिए, जिसके आचार पर—'बीठा ही मर चुका' किन्तु ही प्रसिद्ध है। बीठा हुआ ही ब्राह्मण केवल मर चुका ब्रह्माण्ड है, इसका उपासना करते हुए आचार्यों ने कहा है—'ब्राह्मण यम् की प्रसिद्ध ब्रह्मण्यम् है। ब्रह्मण्यम् की प्रसिद्ध निम्न, और उत्तम आध्यात्मिक है। बी ब्राह्मण ब्राह्मण्येति में अज्ञान से ही स्वप्रसिद्धात्मा ब्रह्मण्यम् विप्लवक वेद शास्त्र का अन्वय नहीं करता उक्त ब्राह्मण्यत्मात्क ब्रह्मण्यम् अमिष्ट हो जाता है। निम्नगामशास्त्र-ज्ञानबद्धित ऐसे ही नाम के ब्राह्मण बीकित ही मृत है। अथवा दृष्टकर्म है +। इत्यन्त शास्त्रानुगत ही

+ योऽनधीत्य द्विबो वेदमन्त्र इत्यत्र अमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाद्य गच्छति सान्धय ॥

—मनु २।११५

ब्राह्मण की मृत्यु का पहला एवं प्रधान कारण बन रहा है। ब्रह्मवीर्य एक प्राकृतिक दिव्यप्राणसिद्धि दिव्य-विभूति है। श्वेतवस्त्र की निर्मलता सुरक्षित रखने के लिए जैसे उठे तदनुक्रम स्थानादि में सुरक्षित रखना पड़ता है। एवमेव इस ब्रह्मवीर्य की विद्यानुगत दिव्यरश्मि की रक्षा के लिए सन्ध्या-सर्पण-भक्तिवैश्वदेव-गायत्रीधूप-द्रव्यशुद्धि-आहारशुद्धि-आदि आचारधर्मों का पालन करना अनिवार्य होता है। इस आचार धर्म के परित्याग से भी ब्रह्मवीर्य भुङ्कित हो जाता है। यही ब्राह्मण की मृत्यु का दूसरा कारण है। योग्यता ही शक्ति है साधन है परन्तु प्रमत्तवश न वेगाम्नास में प्रवृत्ति होती, न आचारसेवन होता। इस प्रमत्तलक्ष्य ब्रह्मसत्य से भी ब्राह्मण क्षीयन्मृत बन जाता है। इन तीनों मृत्युकारणों का मूलकारण है-अज्ञान। अन्त से श्वेतवस्त्रमोक्षेद्विद्यम-बाशुक्र-आश्रय के द्वारा सर्वान्त में 'मन' बनता है। मन पर बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है बुद्धि बीर्यासिद्धि है। गुणमैत्र से अन्त विभिन्न गुण धर्मोपेत हैं। अतएव उद्गुणक अस्त्-स्त्-अन्त लाभा भाग्या उद्गुणक ही अस्त्-स्त् मन बनेगा। मन की अनुकृपा से ही बुद्धि में अस्त्-स्त्बीर्यों का आधान होगा। जो ब्राह्मण अज्ञमन्मोक्षा का अतिक्रमण कर बाते हैं, बिना विवेक के चाहे बिना अन्त, चाहे जो अन्त चाहे शिक्ता अन्त, चाहे ब्रिज समय, चाहे ब्रिज अवस्था में मत्तण-चर्चणादि आरम्भ कर देते हैं वे मृत्यु का साक्षात्कर्म से आम्नत्रण कर रहे हैं। यही अन्तदोष मृत्यु का बीजा कारण बनता है। अन्तदोष से ही ब्रह्मसत्य का उदय होता है, ब्रह्मसत्य से ही आभार का परिस्वाण होता है आभारपरिस्वाण से ही वेदाभ्यास निरोध होता है। अतएव अन्ता पड़ेगा कि, चारों मृत्युकारणों में अन्तदोष ही मुख्य द्वार है। औभास्य से ? आभ ब्राह्मणवर्ण के यहाँ चारों ही कारणों में सर्वस्मिता आश्रिष्य स्वीकार कर रक्ष्या है। चारों में सर्वस्मिता बना हुआ ब्राह्मणसमाज जीवन्मृत न बने तो महा आश्चर्य है। और ऐसे बाधुपत्रीनी ब्राह्मणसमाज की शास्ता समाज उपेक्षा न करे, तो महा आश्चर्य है। जीवित शक्तियों का मय माना जाता है। ब्राह्मण जीवित हैं कहाँ ? मपशाघक निगमामगमकल उलके कोष में है कहाँ ? कितने मय से कलपूर्वक बे लघाकल का उद्घोषन करने में समर्थ बन लें। तत्रस्यं यह निकला कि—

१७-सर्वविद्याप्रतिष्ठात्मिका विद्या—

राष्ट्र-अस्मद्वन के लिए शिष्य-कला अपेक्षित उत्तरार्थ हृषि-वाशिष्य अपेक्षित, उत्तरार्थ अस्त्रशस्त्रानुगत क्षत्रवज का प्रदोषन अपेक्षित, तर्ष्य निगमामगमानुगत ब्रह्मसत्ता का उद्घोषन अनिवार्य, एवं तर्ष्य अस्त्रमपिष्टाभ्यापन भारतीय शास्त्रों का प्रचार-प्रसार निवन्त अपेक्षित। इल्ले यह भी किन्तु हो गया कि, शिष्य-कलाशिक्षण राष्ट्रविद्या की प्रतिष्ठा हृषि-वाशिष्वातुगता वैश्वविद्या है। वैश्वविद्या की मूलप्रतिष्ठा अस्त्रशस्त्रानुगत क्षत्रविद्या है। एवं इन लक्ष विद्याओं की मूलप्रतिष्ठा सर्वविद्यागमिता निगमानुगता ब्राह्मणविद्या है जो स्वयं ब्राह्मणवर्ण को अप्यहमविद्यानिष्ठ बनाती है, क्षत्रियवर्ण को अस्त्र-शस्त्रविद्या प्रदान करती है वैश्ववर्ण को हृषि-वाशिष्य श्रेयस्त सिखाती है, एवं राष्ट्रवर्ण का शिष्य-कला में दक्ष बनाती है। तभी तो एतदेशप्रवृत्त विद्याति को सर्वविद्यागुरु माना गया है, किन्तु रावर्षिमनु ने निम्न लिखित शब्दों में उद्घोष किया है—

— अन्मयासेन वेदानामाचरस्य च वर्जनात् ।

व्याप्तस्यादश्रदोषान्च मृत्युविप्राञ्जिघांसति ॥

—मनुः १५५

एतदेशप्रवृत्तस्य सकाशादप्रवृत्तन्मनः ।

स्वं स्वं शरित्रं शिषेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

—मनु २।२०।

बारों कर्णों से सम्बन्ध रखने वाली बारों विद्याओं की स्थानप्रतिष्ठा का प्राथमिक दिग्दर्शन करना गया । अब दो शब्दों में इन विद्याओं के नामों का भी उल्लेख कर दिया जाता है जिससे हमारे धामान्त-ब्रह्मासु बर्ण को अपने राष्ट्र की इस मूलनिधि के नाममात्र-अथवा का पुस्तकालय को ही था । सर्वप्रथम ब्राह्मराजुगता ब्रह्मवैश्वदेवप्रधाना निगमागमविद्या के नाम ही उपस्थित किए जा रहे हैं ।

१८—ब्रह्मवैश्वदेव्यलुगता निगमागमविद्या—(१)—निगमशास्त्रम्—

अपने आप यज्ञ होने वाली विद्या 'स्वयं निर्गता सा' निर्बचन से 'निगमविद्या' कहलाई है एवं निगमविद्या के द्वारा आर्तें हुई निगमूला विद्या 'निगमाश्रमशास्त्रा सा' निर्बचन से 'आगमविद्या' कहलाई है । स्वयं प्रादुर्भाव निगमविद्या का नाम ही 'वेदविद्या' है । इस अथैश्वदेवकथना वेदविद्या का प्रतिपादक शब्दशास्त्र ही 'निगमशास्त्र' किंवा 'वेदशास्त्र' है । निगमविद्यामूला आगमविद्या का प्रतिपादक शब्दशास्त्र ही आगमशास्त्र है । वे ही दो मारुतीय मुख्य शास्त्र हैं । निगमशास्त्र में प्रतिपादिता निगमविद्या स्वयंविद्या है, पुण्यविद्या है । आगमशास्त्र में प्रतिपादिता आगमविद्या वृषिबीजविद्या है, प्रकृतिविद्या है । पुण्यविद्या केवल 'विद्या' है, प्रकृतिविद्या 'महाविद्या' है । दोनों विद्याओं की समष्टि ही 'वृषिविद्या' है । 'द्वारसर्वाणि भूतानि' के अनुकार विद्य करप्रधान है । अतएव कथनकथा इस वृषिविद्या (विषविद्या) को विश्वामय्या में 'द्वारविद्या' कहा जाया । द्वारविद्यात्मिका विद्यालक्षणा निगमविद्या, एवं महाविद्या-लक्षणा आगमविद्या दोनों के दार्ष्टिक स्वरूप का विरहोपेक्ष 'मी० मू मन्त्रिकौमयविद्या उत्तरतरङ्ग' में किया जा चुका है । अतएव उपलम्बन में विरहोपेक्ष करनाकरवक है । प्रकृत में दोनों विद्यात्मक शास्त्रों के नाममात्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं । सम्प्रान्त पहिले निगमविद्या को ही लीकिए ।

१९—मन्त्रब्राह्मणान्तमक प्राजापत्यशास्त्र—

मृत मन्त्रिक-वर्तमान तीनों कर्णों में समानरूप से अप्रतिहतगति से क्रम करने वाली उपग्रमात्र से प्राप्त होने वाली, इन्द्रियवर्ति विषयों का भी प्रत्यक्ष करने वाली, योगबद्धि नाम की दिव्यदृष्टि से देखने वाले महामहर्षियों के द्वारा शब्दराशिक्रम में गुम्भित स्वतःप्रमाणात्मक शास्त्र ही वेदशास्त्र है वही निगमशास्त्र है । प्रत्यक्षप्रमाणा की अथेबा से ही यह शास्त्र 'मुठियाल' कहलाया है । वेदशास्त्र श्रुतियों की वहाँ प्रत्यक्षदृष्टि है वहाँ वही हमारे लिए 'मृति' है । दृष्टि ही मृति है यही मृति का मुठित्व है । अतएव, वर्तमान, मे' से इस शास्त्र के आगे जाकर दो विभाग हो गए हैं । प्राकृतिक वृषिबिज्ञान इतिहास, वेदमृति, ये तीन विषय जानने के हैं । एवं वृषिबिज्ञानाथेक्ष निवृत्तिकर्मप्रधान ज्ञानयोग प्राथमिनित्यप्रथमक मन्त्रियोग, तथा प्राकृतिकर्मप्रधान कर्मयोग ये तीन विषय वर्तमानमक हैं । अतएवविषयवदी ज्ञानप्रधाना क्वती हुई 'ब्रह्म' है । कर्ण व्यक्तित्ववक्त्री कर्मप्रधाना क्वती हुई 'कर्म' है । ब्रह्म-कर्म की समष्टि ही प्रजापति है । अतएव शास्त्र-कर्मव्याप्तक नियमशास्त्र को हम इस दृष्टि से 'प्रजापतिशास्त्र' भी कह सकते हैं । प्रजापतिशास्त्र का

शातम्भभाग 'मन्त्रवेदशास्त्र' कहलाया है, एवं कर्त्तव्यभाग 'ब्राह्मणवेदशास्त्र' कहलाया है। विज्ञान-स्तुति-इतिहास-प्रधान मन्त्रवेद के शूक्-यजु-साम-अथर्व, ये चार विभाग हैं। प्रत्येक विभाग क्रमशः २१-१ १-१ —२-संख्याओं में विभक्त है। फलतः मन्त्रवेदशास्त्र की पुस्तकें शास्त्रामेद से ११११ हो जाती हैं। ज्ञानयोगप्रधान ब्राह्मणभाग 'उपनिषत्' नाम से मत्तियोगप्रधान ब्राह्मणभाग 'आरण्यक' नाम से, तथा कर्मयोगप्रधान ब्राह्मणभाग 'विधि' नाम से सम्बोधित हुआ है। मन्त्रात्मक शातम्भ वेदभाग की प्रत्येक शाखा के छाय ब्राह्मणायत्मक कर्त्तव्य वेदभाग के छिन्नी विभागों का सम्बन्ध है। शास्त्रात्मिका मन्त्रसंहिता, विधि, आरण्यक उपनिषत्, इन चार पर्वों के समन्वय से एक शाखा का स्वरूप निम्नस्त हुआ है। फलतः कर्त्तव्यवेदभाग के विधि-आरण्यक-उपनिषत्-तीनों विभागों की प्रत्येक की शान्तामेद से ११११ संख्या हो जाती है। सम्भूय शातम्भ मन्त्रवेद, एवं कर्त्तव्य ब्राह्मणवेद-विभागामक निगमशास्त्र की पुस्तकें ४५२४ (चारहजार पाँचीस) हो जाती हैं, जैसाकि परिलक्ष से स्पष्ट है—

१-शूक्वेदशास्त्राग्रन्थाः	२१	—	विधिग्रन्था	२१	आरण्यकग्रन्थाः	२१	उपनिषद्ग्रन्था	२१
२-यजुर्वेदशास्त्राग्रन्थाः	११	—	"	१११	"	१११	"	१११
३-सामवेदशास्त्राग्रन्थाः	१	—	"	१०	"	१	"	१
४-अथर्ववेदशास्त्राग्रन्थाः	६	—	"	६	"	६	"	६
	११११		११११		११११		११११	

४५२४ (चार-हजार-पाँचीस-अथर्व-ग्रन्थ)

- १-मन्त्रवेदः -शातम्भवेद (विज्ञानेतिहासस्तुतिरूपक -शूक्यजु-सामाथर्वसंक्षेप)
 २-ब्राह्मणवेद -कर्त्तव्यवेद (ज्ञानमत्तियोगकर्मयोगनिरूपक-विष्णुआरण्यकउपनिषत्संक्षेपः)

“मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्” इत्याहुराचार्या —

२०-दृष्टिमेद से वेदशास्त्र का समन्वय—

दृष्टी दृष्टि से वेदशास्त्र का समन्वय कीजिए। अङ्गी, अङ्ग में से वेदशास्त्र दो मार्गों में विभक्त माना जा सकता है। अङ्गी वेदशास्त्र का उपचारक अङ्गमूल शास्त्र प्रथमाङ्ग मन्त्रभाङ्ग उच्यते मेद से छिन्न मार्गों में विभक्त है। मन्त्रब्राह्मणायत्मिका शूक्-यजु-साम-अथर्व-संहितायुक्त अङ्गीभूत वेदशास्त्र है। शूक्-यजु-साम-अथर्व चारों अङ्गीभूत वेदशास्त्रों के क्रमशः अथर्व-यजुर्वेद-सामवेद-शूक्वेद के चार उपवेद हैं। यही प्रथमाङ्गशास्त्र है। वाक्यसंस्कार-शिक्षा-निर्वाह-व्याकरण प्राणसंस्कार-सुन्द-इत्य

• शूकादि के धार्मिक रचय्य क्या हैं? इनका २१-१ १-त्वादि नियमित संख्याविभाग क्यों माना गया है, इसादि प्रश्नों का वैज्ञानिक ज्ञानाधान उपनिषत् विज्ञानभाष्यभूमिका १-२-३ सखटी में देवता आदिए।

'सृष्टिवाद अथकारवाद् भववाद् आयतिवाद् आवतनवाद्' भेद से १८ पुराण क्रमशः ११४-१-१ इन संख्याओं में विभक्त हैं। अथ पद्म, विष्णु वायु, भागवत नारद ये १ पुराण सृष्टिवादात्मक हैं। शिशु क्रामन यथा, कृष्ण मण्य, स्कन्द, ये ६ पुराण अथकारवादात्मक हैं। अग्नि भविष्य, मार्कण्डेय ब्रह्मवैवर्त ये चार पुराण भववादात्मक हैं। गरुडपुराण आयतिवादात्मक है। एवं मद्राजपुराण आवतनवादात्मक है। निम्न लिखित परिलोकन से इनकी कल्पानुगता समाकल्पिता का स्वीकरण हो रहा है—

पुराणनामानि कल्पनामानि श्लोकसंख्या (४००००० श्लोकसंख्या पुराणशास्त्रम्)

१-मद्भपुराणम्	(१) सद्यकल्पानुगतम्	१०० ०	-सृष्टिवाद् पद (६)	
२-पद्मपुराणम्	(२) हिरण्यकल्पानुगतम्	५५०००		
३-विष्णुपुराणम्	(३) वाराहकल्पानुगतम्	२२ ००		
४-वायुपुराणम्	(४) रत्नकल्पानुगतम्	२१०००		
५-भागवतपुराणम्	(५) मारस्यकल्पानुगतम्	१२०		
६-नारदपुराणम्	(६) बृहत्कल्पानुगतम्	५०००		
७-शिद्धपुराणम्	(१) अग्निकल्पानुगतम्	११ ००	-अथकारवाद् पद (६)	
८-वामनपुराणम्	() कृष्णकल्पानुगतम्	१० ००		
९-वराहपुराणम्	() मानवकल्पानुगतम्	२४०००		
१०-कृष्णपुराणम्	(४) मरुतीकल्पानुगतम्	१००००		
११-मत्स्यपुराणम्	(५) समकल्पानुगतम्	१४००		
१२-स्कन्दपुराणम्	(६) नन्दपुराणकल्पानुगतम्	८११		
१३-अग्निपुराणम्	(१) इगानकल्पानुगतम्	१५४००	-भववाद् पदवारि (५)	
१४-भविष्यपुराणम्	(२) अपारकल्पानुगतम्	१५००		
१५-मार्कण्डेयपुराणम्	(३) शबुनिकल्पानुगतम्	१ ००		
१६-मण्डूक्यपुराणम्	(४) शम्भुकल्पानुगतम्	१८ ००		
१७-गर्गपुराणम्	(१) गार्ग्यकल्पानुगतम्	११०००		आयतिवाद्-पदम् (१)
१८-ब्रह्मकपुराणम्	(१) भविष्यकल्पानुगतम्	१ ०००		-आयतनवादे-पदम् (१)

२३-निगमागमलुगत भारतीय दर्शनशास्त्र के ३६ निर्वर्ण—

इत्यनुरात्र मी भारतवर्ष का एक मुख्य स्मृतिशास्त्र है, जिसके कुछ एक वर्तकों का तो निगम में अन्तर्भाव है एवं कुछ एक पक्ष आगमशास्त्र से सम्बद्ध हैं। गीतामूर्तििका-द्वितीयकण्ड के 'आत्मपरीक्षात्मक' विभाग में इन ९ श्रौं ऋषीं से सम्बन्ध रखने वाले ३६ ही भारतीय दर्शनों का विगदर्शन किया जा चुका है। सांख्यवैदिक, माध्यमिक वैश्वामिक सांख्यवैदिक, वैश्वामिक, न्यायवैदिक, इन ९ अन्तिरवदर्शनों का निगमागमविक्रम अन्तिरवर्ष से सम्बन्ध है। सांख्यप्रयपन शैव नकुलीरापाद्युपत, अरुणसिद्धांत व्यापारिक वैशेषिक इन ९ अन्तिरवदर्शनों का तथा निर्बिशेषाद्वैतवात् विशिष्टाद्वैतवात् द्वैतवात् शुद्धाद्वैतवात्, द्वैताद्वैतवात्, शैतन्धवात् इन ९ अन्तिरवदर्शनों का निगमशास्त्र में अन्तर्भाव है। सां, शाक्त शैव बंध्यय गाणपत्य स्मारा, इन ९ विभूतिरवदर्शनों का निगम-आगम दोनों से सम्बन्ध है। उन्ध-पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर-अध-इन ९ श्रौं सम्बन्धवर्शनों का केवल आगमशास्त्र से सम्बन्ध है। शाखिक ममांसक, नैप्यायिक आत्माहुरिक, वीरथिक, इन ९ दर्शनामाओं का विभू-तिरवदर्शनों का निगमागम दोनों से सम्बन्ध है। इत प्रकार ३६ दर्शनात्मों में से ३ दर्शनात्मों का निगमागमशास्त्र में अन्तर्भाव होता है। बही निगमविद्यानुगत अन्ध दक्षिणेश है। इन लके अतिरिक्त अर्वाचीन ममांसक आत्माओं के द्वारा प्रकीर्त निगमानुगता निष्कामाओं का भी हम निगमशास्त्र में ही अन्त-र्भाव मानेंगे जो प्रायः उक्त लकी निगमवर्शों पर लिखे गए हैं। वरि इत दक्षि से निगमानुगत प्रयतंस्ना का अन्तःकरण किया गया है तो यह संस्ना एक प्रकार से संयतरीत माध पर विद्यमान कर रही है। दिन दक्षिणेशों का अन्तःकरण उन्तःकरण है निम्न लिखित क्रमिक परिलेखों से उनका स्वीकरण हो जाता है।

द्वितीयदृष्टिकोयानुगतः परिलेख —

विधि-आरवयक-उपनिषदनुगतो अरवैवः (१)	अरवैवः (१)	शिवा, अन्धः	इतिहास-पुराणानि
विधि-आरवयक-उपनिषदनुगतो यजुर्वेदः (२)	यजुर्वेदः (२)	व्याकरणम्	म्याय-
विधि-आरवयक-उपनिषदनुगतः सामवेदः (३)	गान्धर्ववेदः (३)	निरुक्तम्	मीमांसा
विधि आरवयक-उपनिषदनुगतोऽप्ययवः (४)	आयुर्वेदः (४)	अन्धेः, उपोतिष्णम्	योग
अङ्गिराश्रम ४	प्रथमाङ्गराश्रमम् ४	मध्यमाङ्गराश्रमम् ६	उत्तराङ्ग-शास्त्रम् ४
निगमशास्त्राणि ४ (४७२४)	निगमाङ्गराश्रमाणि १४		
निगमशास्त्रम्—१० पञ्चमम्—'विद्या दृष्टादृश्व ता' इत्यादुरधिमुत्तर			

ऋग्वेदशास्त्राग्रन्या	२१	(१) अथर्ववेदग्रन्था	(१०) श्रौतसूत्रग्रन्थात्मिका कल्पग्रन्था
यजुर्वेदशास्त्राग्रन्या	१०१	(२) ऋग्वेदग्रन्था	(११) गृह्यसूत्रग्रन्थात्मिका कल्पग्रन्था
सामवेदशास्त्राग्रन्या	१०००	(३) गान्धर्ववेदग्रन्था	(१२) सामयाचारिकग्रन्थ ० कल्पग्रन्था
अथर्ववेदशास्त्राग्रन्या	६	(४) आयुर्वेदग्रन्था	(१३) सोपपुराणानि १८ महापुराणानि
विधिभागग्रन्था	११३१	(५) शिक्षाग्रन्था	(१४) ३६ वर्शानशास्त्रेषु २४ वर्शानानि
आरण्यकभागग्रन्था	११३१	(६) व्याकरणग्रन्थाः	
उपनिषद्भागग्रन्था	११३१	(७) छन्दोग्रन्थाः	
		(८) निरुक्तग्रन्था	
सूतिशास्त्रम्		(९) ज्योतिषग्रन्था	
निगमानुगत—सूतिशास्त्रम्			
सूति-सूतिलक्षण-निगमशास्त्रं-निगमविधात्मकम्			

२४-सर्ववीर्य्यनिगता आगमविद्या (२)-आगमशास्त्रम्-

इह तत्र जन्मप्राप्त आगमशास्त्र है जिसका दुर्लभ्य से वर्तमान में प्राक् प्रचारमान होगा है। आगम-शास्त्र पार्थिवशास्त्र है। अतएव सूर्य्यनिगता निगमशास्त्र की अपेक्षा यह उच्च फलप्रद माना गया है। कहना पड़ेगा कि आगमविद्यियों के निकल जाने से ही ब्राह्मण का मन्वन्तर निर्वाह्य बन गया है। यदि सूर्य्यनिगता से अंशरूप से भी ब्राह्मणधर्मात् आगमबल प्राप्त कर ले, तो ब्राह्म भी वह इतर वर्णों का निष्ठा बन सकता है। बित प्रकार निगमविद्या के ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-विधि-आख्यक-उपनिषद्-मेद से ७ प्रधान पर्व हैं एकमेव यह आगमविद्या सिन्धुस्थ, संदिता, कल्प, धारण्य ब्रह्मर, तन्त्र इन ६ भागों में विभक्त है। बित प्रकार निगमशास्त्र के अन्तर्गत पर्व ४५, २४ भागों में विभक्त है, तथैव इह आगम शास्त्र के अन्तर्गत पर्व १९ भागों में विभक्त है। यदी मुख्य आगमशास्त्र है। वैदिकस्यपुराणों का, कल्पिय दर्शनो का इह आगमशास्त्र में भी अन्तर्भाव माना गया है और कि निगमशास्त्रप्रसङ्ग में स्पष्ट किया जायुका है। १८ संदिताओं में इतिहासपूर्वक प्रकीर्णक साहित्य विधियों का निकमण हुआ है। १४ सिद्धान्तमयों में रखनादि वैज्ञानिक विधाओं का विशेषण हुआ है। ६ कल्पग्रन्थों में क्रमशः ऊर्ध्वान्नायातुगत योगरहस्य (१), पूर्वान्नायातुगत महर्षस्य (२), पश्चिमान्नायातुगत शम्बरनात्मक शम्बरनाम्नरहस्य (३),

उत्पन्नाद्यनुगत पञ्चमहापत्रक शक्युपाध्यायस्य (४), दक्षिणाध्यायानुगत पञ्चकाण्डक देवोपा-
 ध्यायस्य (५) एवं अथोत्पन्नाद्यनुगत अथोत्पन्नायस्य (६) इन चतुर्षोः का विस्तारपत्रक दुष्ठा है। १० भागों में विभक्त सामान्य-पत्रों में इष्टिबिज्ञानादि नवग्र नैमित्तिक विज्ञानों का विस्तारपत्रक दुष्ठा है। ८ भागों में विभक्त
 सामान्य-पत्रों में अग्निबाधयोगों का लक्ष्यकण्ड दुष्ठा है। एवं १४ भागों में विभक्त उत्तरप्रश्नों में मणि-मन्त्र-
 आत्मविश्रयान-विज्ञानों, एवं तनुपामों का उपग्रहण दुष्ठा है।

भागमश्याप्रविभागाः (१२०)

- (१) संहिताप्रश्नाः—१८—इतिहासाद्या मानाप्रकीर्णकविषया.
- (२) सिद्धान्तप्रश्नाः १४—रसायनाद्यो वैज्ञानिकविषया
- (३) कल्पप्रश्नाः—६—पञ्चमनायाः
- (४) यामप्रश्नाः—१०—शृष्टिबिज्ञानादि-नैमित्तिकविज्ञानानि
- (५) कामप्रश्नाः—२—अभिचारविषया
- (६) तन्त्रप्रश्नाः—६४—मणिमन्त्रौषधिविज्ञानानि



२५-निगमागमविद्यामूला दिव्यविद्याचतुष्टयी—

एक निगमागमविद्याओं के आधार पर-किन्हीं इन प्राकृतविद्या कहेंगे-भातीय महर्षिों में अम-
 बत के आधार पर अिन बार दिव्य विद्याओं का आधिष्ठान किया है वह दिव्यविद्याचतुष्टयी भारतीय राजकोष
 की एक प्राकृत कल्पति है। आध्यात्मिक प्रदानमन आध्यात्मिक ज्ञानेन्द्रियपत्र, आध्यात्मिक कर्मेन्द्रियपत्र
 आध्यात्मिक भूतवर्ग, अमरः इन चार ठालों के आधार पर चारों के ज्ञानों में बार दिव्य विद्याओं का स्थान
 दुष्ठा है किन्हीं इन अमर मनोविद्या ज्ञानेन्द्रियविद्या कर्मेन्द्रियविद्या, भूतविद्या इन भागों में व्यवहृत
 कर लयन है। प्रत्येक विद्या के अन्तर्गत दो दो मुख्य विभाग हैं। प्रत्येक अन्तर्गत विभाग आठ आठ प्रत्य-
 ष्ठान्त विभागों में विभक्त है। इन अमर में ४ के १४ विभाग हावाते हैं। यही भारतीयचतु-ष्टय दिव्यविद्याएँ
 हैं अिनके आधिष्ठान का ज्ञान एकमात्र भारतवर्ष का ही प्राप्त है।

मनाविद्या
१

ज्ञानेन्द्रियविद्या
२

कर्मेन्द्रियविद्या
३

भूतविद्या
४

१-सागविद्या (८)

१-मनाविद्या (८)

१-आगममन्त्रविद्या (८)

१-महौषधिविद्या (८)

२-दिव्यदृष्टिविद्या (८)

२-अथर्वसामिदिविद्या (८)

२-आगममन्त्रविद्या (८)

२-पन्त्रविद्या (८)

१६

१६

१६

१६

६४-दिव्यविद्याप्रमरः

२६-मनोविद्यानुगत -पोडशविद्याविभाग -

१-मनोविद्या (मनोबलानुगता)-

मनःसंयमादुत्पन्ना-

योगसिद्धयः ऋष्टौ- इन्द्रियसंयमादुत्पन्ना दिव्यदृष्टयः-ऋष्टौ-

(१) १-अस्मिन्ना	(१) १-अतीतानागतज्ञानं, अमान्तरज्ञानञ्च
(२) २-अहिना	(१) २-दूर-परोक्षज्ञानम्
(३) ३-गरिमा	(११) ३-सर्वमूर्तरूपज्ञानम्
(४) ४-स्रष्टिमा	(१२) ४-मनोपिज्ञानम्
(५) ५-श्राप्तिः	(१३) ५-भूगर्भज्ञानम्
(६) ६-भास्वम्भम्	(१४) ६-सुषुप्तज्ञानम्
(७) ७-ईशित्वम्	(१५) ७-ओपधिप्रभावज्ञानम्
(८) ८-वशित्वम्	(१६) ८-वाराण्योक्तिःप्रभावज्ञानम्

(१) सैषा-योगविद्या

(२) सैषा दिव्यदृष्टिविद्या

{—मनोविद्या-पोडशविद्या—}

—१—

२७-इन्द्रियविद्यास्तु गता-पोढशविद्याविभागा -

२-ज्ञानेन्द्रियविद्या (ज्ञानेन्द्रियकलानुगता)---

हृदयसयमादुत्यभास्वपोबलसिद्धयोऽष्टौ-प्राक्सयमादुत्यभा देवबलसिद्धयोऽष्टौ

(१०) १-वेवसासातघ्नर-ध्यायपुरुषसिद्धि

(१८) २ कल्पा-हृत्स्थानाम्नी

(१६) ३-ध्यासोत्कमसासातघ्नर

(२०) ४-सूतपुरुषसासातघ्नरः

(२१) ५-धिरवह्मकरोतम

(२२) ६-मात्वाभ्यमोहनम्

(२३) ७-उपभुविविद्या

(२४) ८-संस्करोपधानी

(२५) १-अकम्पूह

(२६) २-परकप्रबमवेरा

(२७) ३-मात्वाहारिधी

(२८) ४-सूतसंजीवनी

(२९) ५-स्यागुसंजीवनी

(३) ६-साप्यनिमह्वधी

(३१) ७-आकृतिपरिबर्तिनी

(३२) ८-किङ्गपरिबर्तिनी

(१) सैषा तपोविद्या

(२) सैषा देवबलसिद्धिविद्या

{ ज्ञानेन्द्रियविद्या-पोढशविद्या }

२८-कर्मैन्द्रियविद्यानुगता योद्धशविद्याविभागा

३-कर्मैन्द्रियविद्या (कर्मैन्द्रियबलानुगता)-

निगममन्त्रबलोत्पन्ना सिद्धयोऽष्टौ

- (३३) १-सर्पाकर्षिणी
- (३४) २-अग्निव्रह्मस्तम्भिनी
- (३५) ३-आद्यमकरणी
- (३६) ४-निम्बानुमहणी
- (३७) ५-पुत्रसंजननी-पुत्रेष्टिः
- (३८) ६-प्राणपयसा-जलकर्षिणी
- (३९) ७-आपोनपूत्रीयम्
- (४०) ८-मधुविद्या

आगममन्त्रबलोत्पन्ना सिद्धयोऽष्टौ

- (४१) १-मत्स्यम्
- (४२) २-मोहनम्
- (४३) ३-कषाटनम्
- (४४) ४-परीक्षरयाम्
- (४५) ५-विद्धे पक्षम्
- (४६) ६-स्वम्भनम्
- (४७) ७-आकर्षणम्
- (४८) ८-संरक्षणम्

(१)-सैषा निगममन्त्रविद्या

(२)-सैषा आगममन्त्रविद्या

कर्मैन्द्रियविद्या-योद्धशविद्या

२९-भूतविद्यानुगता योद्धशविद्याविभागा

४-भूतविद्या (शिल्प-कला-विज्ञानानुगता शरीरानुगता च)-

महौपधिबलादुत्पन्ना सिद्धयोऽष्टौ

- (४९) १-मृतसंजीवनीमुष्टिका
- (५०) २-संजीवमकरणी
- (५१) ३-विरात्म्यकरणी
- (५२) ४-सात्वय्येकरणी
- (५३) ५-संपानकरणी
- (५४) ६-अरिष्टमोचय्या
- (५५) ७-विन्मप्रसविनी
- (५६) ८-बलाविषह

यन्त्रबलानुगताः सिद्धयोऽष्टौ

- (५७) १-विष्णुविमानं त्रिषण्ड रमाक्षरम्
- (५८) २-पुष्पकविमानं हंसरत्नो वर्द्धिप्लु
- (५९) ३-सौमविमानं नगराक्षरम्
- (६०) ४-सूतविमानं नौकाक्षरम्
- (६१) ५-हृष्येयविमानं हृष्यगुमाक्षरम्
- (६२) ६-प्लवविमानं पद्माक्षरम्
- (६३) ७-आमृतगवी विष्णुरूपा
- (६४) ८-शिक्षासम्भरणी-सम्भरशरिता

(१)-सैषा महौपधिविद्या

(२)-सैषा यन्त्रविद्या

भूतविद्या-योद्धशविद्या

२-महिमाविद्या-

अपने पारम्यौत्तिक शरीर को अवेच्छ्य बना लेने की विद्या ही 'महिमा' है। आप इस विद्या के प्रभाव से शरीर को इच्छामात्र से बरामर में परिवर्तित कर, इससे भी बृहत् बना सकते हैं। महाभारत के सुप्रसिद्ध योद्धा धिक्किन्नागर्भव भीमपुत्र पटोक्कच ने इसी महिमा के बलपर अपने शरीर को इतना विद्याल बना लिया था कि, जब कर्ण के हाथ वैकी गईं 'एकपुत्रपचातिनी शक्ति (अस्त्र) से बह मरा, तब उनके विद्याल शरीर से शौर्यों की एक असौहिष्ठी सेना दब गयी थी।

३-गरिमाविद्या-

अपने पारम्यौत्तिक शरीर को अवेच्छ्य मारी बना लेने की विद्या ही 'गरिमा' है। आप इच्छामात्र से अपना शरीर परवैरुम मारी बना सकते हैं। निपबन्धत की ओर जाते हुए स्वबन्धुत्र भीम के क्लामिमान को दूर करने के लिए श्रीमार्कटि ने इसी विद्या के प्रभाव से अपना शरीर ऐसा मारी बना लिया था कि, युद्ध भीम भी बरप्रस्त मार्कटि को दब सै मर न कर सके थे। बलवान् भी राक्षसमूह अहद का पैर राबण तथा में न हटा सके थे। राजक भीक्षुण्ड के मुक्के के मार से बलिह भी चाणूर्यस्त किलमिला उठा था।

४-सुधिमाविद्या-

अपने शरीर को अवेच्छ्य हस्त बना देने वाली विद्या ही 'सुधिमा' है। पार्ष्वि आकषण का नाम ही शरीरमार है। इसी मार से हम भूतल छोड़ने में असमर्थ रहते हैं। 'आकाशशयोः सम्प्रत्ययमास्तपुतूल-समापत्तेश्चाकषणगमनम्' (शो ६ १।४१) छिद्रान्तानुसार शरीरत्व का माध्यम्य आकाशत्व के स्वय प्रनियन्त्रण-सम्बन्ध स्थापित कर देने से शरीर पार्ष्विवाक्यंय से विमुक्त होता हुआ कई के समान हस्त हो जाता है। और उठ दरा में बह स्फुरि बिना किसी साधन के शरीरमात्र से पक्षी-क्व आकाश में उड़ सकता है। इसी विद्याल पर केवल वायु के आघात पर मगपात्र मार्कटि अनुश्लेषण में समर्थ हुए थे। सुप्रसिद्ध मरुत नायक आकाशमार्ग से अनेक बार भीक्षुण्ड के दरनार्थ शरिका में, एवं अस्त्र बाया आया करते थे। 'बसन्त बरुर्वापतरन्तमन्वराम्बिरयभगर्भाङ्गमुषं मुनि हरिः प्रसिध है। 'सात पपत्तापनि ह्यो मकैरुचरैः सह (बा १।० सु १६) के अतुत्तर मन्तराव विनीष्य इसी विद्या से आकाश मार्ग के हाथ उमसेना में पहुँचे थे।

५-प्राप्तिविद्या-

बिना विद्या से अपने स्थान पर बैठे बैठे ही वैक्यों काठ वृर खने वाली बल का अपने सामने बैल प्रत्यक्ष कर लिया जाता है, वही 'प्राप्तिविद्या' है। चन्द्रप्रहण हा रहा है आकाश में आप बैल खे हैं-अपनी आँसों के समझे। आप भूतल पर जाते लड़े ही पर्यंत की चोटी पर लगे हथों के चल-पुन्य ठोक रहे हैं। व्यासप्रह्ला इसी विद्या के बल पर अजय वृतराहमवन में बैठे बैठे ही युद्ध के दरकार्य-वर्धन में समर्थ हुए थे।

६-प्राक्काम्यविद्या-

पार्ष्विनि आनेय आबख्यो को निराबख्यमान में परिणत कर देने वाली यह अद्भुत विद्या ही 'प्राक्काम्यविद्या' कहलार्त है, बिलके हाथ आप अवेच्छ्य गमन कर सकते हैं। सर्वोपर की मूर्ति भूमि में बुरझी

कामा लकने हैं, पलायनशिला में प्रविष्ट हो सकते हैं, पानी में पत्थी रह कर भी पानी के बल से बच सकते हैं अग्नि धारा को बचा नहीं सकता, बासु धाराको स्थानस्थित नहीं कर सकता, खुले मैदान में आप आदरम बन सकते हैं आकाशम में परिचात हो सकते हैं अल के बंध पात्रक से बाहिर निकल सकते हैं। जब बलस्थ के अतिशय में तैल परत पर पहुँचे हुए भीक्षुण्य को पारो ओर में धर लिया था, तो आप इसी विधा के प्रमाण से आदरम बन कर द्वारिका पहुँच गए थे। बहुरार म्ते ही आसके आधर से द्योय हो, आपको मुक्तने की आधरयथा नहीं है। इच्छामात्र से द्वार आपके अनुकम बड़ा हो सक्य। इच्छामात्र से शून्य भी पट बल से भर सकती। तुच्छमूह इच्छामात्र से प्रकलित हो सक्य। हाथों से मल्ले बाकर भी पुष्य आपना विभ्रत न छोड़ेंगे (वेणिए म बनपर्क ७४ अ)। सुप्रसिद्ध भारतीय कला 'नका' इत प्राकाम्यविधा में पूर्ण निष्पन्न थे।

७-इशिविधा-

पूर्वोक्त अधिमात्रि ६वीं विधाओं को अन्य विधामात्रों में परिवर्त कर देने की असीक्ति शक्ति ही विशिष्ट है। आपनी लपिमा के प्रवेश से इनुमान ने प्रोवाचक को लपिमाभुक्त कर दिया था। मगवान् कृष्ण ने योग्य न के अर को लपिमाक्य में परिचात कर दिया था। विश्वामित्र ने राधा विराड् को आकाश में रोक दिया था। द्वारिका में बैठे बैठे ही कृष्ण ने इच्छिनापुर में शौपदी का भीत बड़ा दिया था। अगस्त्य म्मुह का शोणक कर गए थे। मत्स्य ने कलाप्रतनवीच को अपने हुड्ड पर रोक लिया था। 'अन्धर्दान-विधा का भी इसी विधा में अन्तर्मात्र माना गया है विलका—'अथयत्परसंभमात्-तत्प्रमत्तरातिस्तम्मे चक्षुःप्रमत्तरासंप्रयोगस्तत्तानाम्' (पा नो ३।२।) इत्यादि योग्यत से विश्वेषण हुआ है।

८-वशिविधा-

आपने से अश्विक शक्तिशाली को क्या में कर लेना ही वशिविधा है। कल्पित महर्षियों के तपःप्रमाण से शिवक शिवादि पशु प्रामत्ति (धान) कर कने रहते हैं। भीक्षुण्य ने इसी के प्रमाण से मागवच का वशिविध किया था। अन्धवेणिए लर्प पर प्रमाण बना लेते हैं। सुप्रसिद्ध कल्पिक 'वशिविधविधा का भी इसी में अन्तर्मात्र माना गया है।



९-अतीतानगतज्ञानविधा-

वर्तमान के अतिरिक्त मृत, और अविष्यत् की स्थितियों का वर्तमानकर बोध कर देने वाली विधा ही 'अतीतानगतविधा' है। महायज बलि ने इसी के प्रमाण से राधा शिवाय को बह संकेत किया था कि, तुमने अमनेय की पुत्री नन्दिनी का अपमान किया था। उन्नी के शाप से तुम कलति से वशिविध हो। महाभूमि स्वामीके ने इसी के द्वारा यमचरित्र का संकलन किया था। मन्त्रान् वेदव्यास ने इसी के द्वारा आदिपर्ब में शौरस-पारश्वी के बर्तमानों का उल्लेखन किया है। इन्द्रवर एत विधा के प्रमाण से अतल्ल को कल्प्य बयनाओं का लक्ष्यकार किया था कला है। 'अन्धर्दानावाचत्वापरियामत्रकसंभमात्तीतानगतज्ञानम्' / पा नो ३।२।) इत्यादि में इसी का विश्वेषण हुआ है। 'अन्धर्दानावाचत्वात्तीतानगतज्ञानम्' का भी इसी में अन्तर्मात्र है विलका—'संस्कारमावाचत्वात् पूर्वजाविज्ञानम्' (पा नो ३।२।) एत से स्पष्टिकरण हुआ है।

इसी के आचार पर भगवान् ने कहा है— अत्रु न ! त् और मैं, अनेक कर्म तो पुके हैं । परन्तु मैं जानता हूँ तू नहीं जानता' । इन अतीत ज्ञानों के अतिरिक्त कृति आदि के मविष्य का भी माखीव ज्ञान प्रसिद्ध है । पुरखों में आगामी राक्षसों का कर्ण इसी के आचार पर हुआ है । कलियुग में होने वाले विपरीत घण्टों का शताब्दियों से पहिले पुराणों में भी कर्ण हुआ है उसकी कस्या का आच इम प्रत्यक्ष कर रहे हैं । उदाहरण के लिए—“शुद्धात्तु ज्ञास्यथाचाराः ज्ञास्यथा शुद्धवृत्तयः” यह मविष्योक्ति आच सर्वप्रथमा अतिरिक्त हो रही है । ज्ञास्यथा शुद्धवृत्त आचरण कर रहा है, और शुद्ध ज्ञास्य कर्ण के लिए उठावले हो गये हैं । सूर्य अक्षर्य कोटि में आ रहे हैं अक्षर्य सूर्य बनाए जा रहे हैं । तभी तो देश के एक महान् नेता ने किसी जिहासु के इस प्रश्न का—“यदि अक्षर्य सूर्य बन जायेंगे, तो ज्ञास्यों का क्या स्थान रहेगा—उत्तर दिया था कि—“ज्ञास्य जायेंगे, तो अक्षर्य मान लिए जायेंगे” यह समाधान किया था । इने वाले सूर्य चन्द्रग्रहणों का परिज्ञान भी इसी विद्या से सम्बद्ध है । सुप्रसिद्ध ‘अज्ञान’ का भी इसी में अन्तर्भाव है । इसी से मृत्युज्ञान हो जाता है । ‘ज्ञानापुराणसिद्धि का भी इसी में अन्तर्भाव है ।

१०—दूरतिकान्ठदर्शनविद्या—

सिद्ध विद्या के प्रभाव से अपने से कर्णया विद्वत्, अथ ही इन्द्रियपरोक्ष विषयों का ज्ञान हो जाता है, यही ‘दूरतिकान्ठदर्शनविद्या कहलाता है । इसी के प्रभाव से इतिहास में बैठे बैठे श्रीकृष्ण ने द्रौपदी के कर्णप्राप्त्यक्रम का साक्षात्कार कर लिया था । इन्द्रियों से नहीं दिखाई देने वाले सूक्ष्म पदार्थों का, मिथि-पद आदि के उभ पार रखी हुई बस्तुओं का, वेदास्तर में स्थित वस्तुओं का इच्छाकर सूक्ष्म, स्मरित विप्रकृष्ट, हीनों माथों का इसके साक्षात्कार हो जाता है । इसी प्रकार सूक्ष्म-स्मरित-विप्रकृष्ट-राक्षसों को इसके द्वारा सुन लिए जाते हैं । द्रौपदी की कर्णप्राप्ति इसी के द्वारा सुन ली गई थी । कर्णात्तुनर्त्वात् कया गीता का संबन्ध ने स्वात्मपद इसी विद्या के द्वारा वृत्तवाचन में बैठे बैठे ही भवण कर लिया था ‘मयुस्या लोकायासात् सूक्ष्म-स्मरित-विप्रकृष्ट-ज्ञानम्’ (पा नो १२२७)—‘भोत्राक्षरायो सम्बन्धसंभवात् विषयं भोत्रम्’ (पा नो १२४) एवम् से इसी का स्पष्टीकरण हुआ है ।

११—सर्वभूतज्ञानविद्या—

‘न क्षराद्भूमिवास्थि’—‘अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन मासते’ ❀—‘बाष्मि विरवा सुबनान्यविता’ इत्यादि श्रौत-स्मार्त सिद्धान्तों के अनुसार कर्णवत् माथी व्यक्त-अव्यक्त बाष्मि का प्रयोग करते रहते हैं । ‘ज्ञानमस्ति समस्तस्य यन्तोर्विषयगोचरे’ यस्तस्यास्त्र (दुर्गासंछारी) के अनुसार प्राणी-मात्र में सब ज्ञानयुक्त है तो अक्षर्य ही उनमें शब्दयुक्त का भी समावेश मानना पड़ेगा । क्योंकि ज्ञान का अमिन्न शब्द से ही सम्बन्ध है । सिद्ध है कि विधीयित (बंधि) आदि विन प्राणियों को इस निःशब्द सम्पत्ते हैं, वे भी ज्ञानते हैं । इन सम्पत् प्राणियों की व्यक्ताव्यक्तमाया का परिज्ञान सिद्ध विद्या से होता है यही ‘सर्वभूतज्ञानविद्या कहलाता है । इसी के द्वारा बुधितिर-विद्युदि पक्षीमाया का उल्लेख करने में

* न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दस्तुगमादते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन मासते ॥ बाष्मपथी ।

उत्तर्यं द्युः । प्रतिष्ठ है कि, ब्रह्मरथ और आग्निस्व महापथ विरोधिका के शर्पों का परिहान करते हैं । 'शुद्धार्थप्रत्यक्षानामिच्छरेतराम्यासान् संकरः, तत्प्रथिमागतसंयमात् सभभूतरुतज्ञानम्' (पा यो ३।१७) द्यु ने इती किया का विरलेपण किया है ।

१२—मनोविज्ञानविद्या—

आन्व प्राणियों के मनोमात्रों का बोध कर देने वाली ही 'मनोविज्ञानविद्या' है । बाह्य बातावरण ही इस विद्या की प्रतिष्ठा बनता है । शरीर के चारों ओर व्याप्त सूक्ष्मायु कण्ठवायु है, इसे ही 'बातावरण (वायु का आकार) कहा गया है । आध्यात्मिक प्राणवायु—जो येमूर्त्तों से बाहिर निकल कर आकरलक्ष्य वास्तवायु में उन्मात्तव्यव उत्पन्न किया करता है—के आकार पर यह बातावरण प्रतिष्ठित है । एवं प्रज्ञानमन के आकार पर प्राणवायु प्रतिष्ठित है । मन में बैठे भी उन्मात्तव्य संकल्प—विषय उठते रहते हैं तदाचार्य प्रतिष्ठित प्रणवायु में भी बैठे ही मग्न उत्पन्न हो करते हैं । इस मनोऽनुगत प्राणवायु के प्राणघात के अनुकूल ही शरीर द्वारा वायु में उन्मात्तव्य परिवर्तन होते रहते हैं । इस बाह्य बातावरण को परिचान कर यह कलताबा का कलता है कि अमुक व्यक्ति इस समय अमुक दृष्ट्य कर रहा है । यही मनोविज्ञानविद्या है । मन्त्रमुक्ति कर्त्री है कि—'मनसे जो संकल्प होता है वह प्राणवायु पर आद्य है (प्राणवायु से भूतवायु पर) । एवं यह बातावरण ही विज्ञानों का यह कलता बेटा है कि, हे पुत्र्य ! इस समय तू यह चारता है * । ब्राह्मणमुक्ति ने भी इती भाव का निम्न लिखित शर्पों में समर्पन किया है—

“मनो देवा मनुष्यस्याज्ञानन्दि-इति । मनसा संकल्पयति-सत् प्राणममिषयते । प्राणो वातम् । वातो दवेभ्य आचष्टे—यथा पुरुषस्य मनः” ।

—रात ग्य ३।१३

'प्रत्यक्षपरिचितज्ञानम्' (पा यो ३।१६) के अनुसार वृत्तों की मानस-स्थिति को जान लेना ही मनोविज्ञान है । यह निश्चित है कि, मानस इन्द्रियों के अनुकूल ही बाह्य बातावरण की सुदृश्य चेष्टाओं में उन्मात्तव्य परिवर्तन होते रहते हैं । त्रिक्रम मुदिमान् मनुष्य विना भी मनोविज्ञानविद्या के केवल शरीरचेष्टाओं से भी अशक्य अनुमान लगा लिया करते हैं । मन में बैठे भी निचार होते हैं बायी, दहि पति, आदि शरीरच्छाया में भी बैठे ही चेष्टाओं का उदय होता रहता है । इन शरीरचेष्टाओं से भी इन वृत्तों की मानसिक स्थिति का अनुमान शक्य किया करते हैं ।

१३—भूगर्भविज्ञानविद्या—

अधर्भविज्ञानविद्ये महोपधिसे अनुसिद्धि का संस्कार करने पर इन्में धरदर्शकता का उदय हो जाता है । सुप्रसिद्ध अतिप्राय ही पारदर्शकता का प्रतिफल माना गया है । चित्त पार्थिव पदार्थ में

* मनसा संकल्पयति, तद्वातममिषयति ।

वातो देवभ्य आचष्टे यथा पुरुष से मनः ॥

अग्निप्राय विठनी अधिक मात्रा में रहता है, वह पण्य उसी अनुपात से अधिकाधिक पनाकपव बना रहता है। पनाया में अग्निप्राय अधिक है। अतएव पापाखरतर से उस पार रक्ती हुई वस्तु हम नहीं देख सकते। अथ में अग्निप्राय अस्वमात्रा में प्रतिष्ठित है। अतएव इसके उखार रक्ती वस्तु का वादात्कार हो जाता है। वायु में अग्निप्राय नहीं के समान है। अतएव वायु प्रायण्ड अमानन्द बना रहता है। महोपधिपिठेय के द्वारा वायु में अग्निप्रायनियकरणरक्ति का समावेश हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी महोपधि से संसृष्ट वायुमिन्द्रिय से बन पदार्थों के अस्तन्तल में भी वायुम्यापार अप्रसिधव बन जाता है, एवं यही 'भूगर्मविज्ञानविद्या' है। धमीन से १ हाथ नीचे तक की वस्तु का वादात्कार हो जाता है। क्योंकि महोपधि से सम्पन्न दिव्य अस्मन से वायु में इतनी ही शक्ति का समावेश होता है।

१४—सुवनज्ञानविद्या—

किस विद्या के द्वारा छठीं लोकों का वादात्कार हो जाता है यही सुवनज्ञानविद्या है। म्पि प्रकर सुद्विगत-स्वरूप आम्पात्मिक ब्रह्मप्रजापति के शरीर का आकार ब्रह्मधर गायत्रीरूप के सम्बन्ध से आठ माहेशमित बना हुआ ८४ अक्षर का है एवमेव महाकिरणस्वरूप आधिदैविक ईश्वरप्रजापति के शरीर का आकार भी आठ विठरितियों के सम्बन्ध से ८४ अक्षर का ही माना गया है। ईश्वरशरीर की ये छठीं किरणियाँ ही अक्षरः सू, मुव, स्व, मह, बनद्, तपा, स्वयम्, इन नामों से व्यक्त हुई हैं। छपठिह मूषिबद्ध 'सू लोको' है। मूषिबद्ध के मेरुशुद्ध से आरम्भ कर प्रह-नेत्र-तारदि मुक्त मूषकर्म्यन्त लोक अन्तरिक्षलोक है, यही मूषलोक है। इससे आगे का पम्बद्ध, छन्दरा, एकविंश, पम्बविंश, ब्रह्मस्वमिष्ठ्य मेद् से पम्बका विमक्त धीर माहेन्द्रलोक तीव्र स्वलोक है। सूर्य और परमेष्ठी के मध्य का लोक प्राजापत्य-लोक है, यही प्रोया महलोक है। परमेष्ठी बनसलोक है, परमेष्ठी और स्वयम् के मध्य का लोक उपलोक है एवं स्वयम् छन्दसलोक है। इन्हीं तीनों लोकों की समष्टि 'ब्राह्मलोक' है ७। इन छठ लोकों में स्वयम्-परमेष्ठी-सूर्य-मू, ये सम्बद्ध स्व-बनत्-स्व-सू-ने चार ठो छपलोक हैं, एवं चारों के तन्निर्माणों से सम्बद्ध तपा-मह-मुष-तीनों अल्लोक हैं। अल्लक्ष्यात्मक ये तारों लोक ही छतम बन हैं, जिनके केन्द्र में सूर्य प्रतिष्ठित है। छतम बनवर्णन के लिए इही मध्यम सूर्य में वायुमिन्द्रिय का संभव करना पड़ता है। इस संभव से वायु में विषयद्रव्य सूर्य के विषयवर्णनबर्णन का समावेश हो जाता है और यही सुवनज्ञान-विद्या है, किन्तु 'सुवनज्ञान सूर्य संवमान्' (पा बी ३।१५।) छत से स्वकीकरण हुआ है।

१५—ओपधिप्रमाणाज्ञानविद्या—

कुछ एक ओपधियों में अपूर्ण दिव्यशक्तियाँ रहती हैं, जिनके स्वर्णमात्र से अद्भुत प्रमाण का अनुभव होता है। सोम, इरीतकि, विभीषण (बरेड़ा), बहिक अपामार्ग, आदि एवविध ओपधियों के अधिस्त-अद्भुत प्रभयों का अपयविद में बड़े किस्तर से उपहृ ह्य हुआ है। इन ओपधिप्रमाणाँ का यथाक परिज्ञान सामान्य लौकिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। इसके लिए एक विशेषदृष्टि अनेकित है, जो

७-माहास्त्रिभूमिको लोकः, प्राजापत्यस्थो महान् ।

माहेन्द्रस्व स्वरित्युको दिवि तारा मूषि प्रजाः ॥

धर्म्य हुए हैं। प्रसिद्ध है कि, ब्रह्मरक्ष और काम्पित्य महापुरुष विभक्ति का शब्दों का परिज्ञान करते थे। शम्भुस्यप्रसन्नयन्नामितरेतराभ्यासात् संकरा, सत्प्रथिमामासंयमान् सचभूतरुतज्ञानम् (पा यो ३।१७) छत्र ने इसी विद्या का विरलोग्य विद्या है।

१२—मनोविज्ञानविद्या—

अन्य प्राणियों के मनोमंत्रों का बोध कर देने वाली ही 'मनोविज्ञानविद्या' है। बाध बाधकर ही इस विद्या की प्रसिद्धि बनता है। शरीर के बाह्य और अन्तर्गत मूलबाध 'बाधबाध' है, इन्हीं ही 'बाधबाध' (बाध का आवरण) कहा गया है। आध्यात्मिक प्राणबाध—जो रोमकूपों से बाहिर निकल कर आवरणरूप बाधबाध में उन्नावक उदर विद्या करता है—के आचार पर यह बाधबाध प्रसिद्धि है। एवं प्रज्ञानमन के आचार पर प्राणबाध प्रसिद्धि है। मन में जैसे मी उन्नावक संकल्प—विषय उठते रहते हैं, तदाचार्य प्रसिद्धि प्रसन्नबाध में मी जैसे ही मन्त्र उदर हो जाते हैं। इस मनोपुण्य प्राणबाध के प्रसन्नभाव के अनुरूप ही शरीर बाध बाध में उन्नावक परिवर्तन होते रहते हैं। इस बाध बाधबाध को पहिचान कर यह कदाचिद् या लक्ष्य है कि अमुक भक्ति इस समय अमुक इच्छा कर रहा है। यही मनोविज्ञानविद्या है। मन्त्रभक्ति करती है कि—'मनसे जो संकल्प होता है वह प्राणबाध पर बाध है (प्राणबाध से मूलबाध पर)। एवं यह बाधबाध ही विद्वानों को यह कदाचित्ता है कि दे पुरुष। इस समय तू यह जा रहा है *। बाधबाधभक्ति ने मी इसी मन्त्र का निम्न लिखित शब्दों में उदरन किया है—

“मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति-इति । मनसा संकल्पयति-सत् प्राणममिषयत ।
प्राप्तो वातस् । वातो दवेम्य आचष्टे—यथा पुरुषस्य मनः” ।

—शत ३।१३

'प्रत्ययस्य परिचित्तज्ञानम्' (पा यो ३।१८) के अनुसार शब्दों की मानस-सिद्धि को जान लेना ही मनोविज्ञान है। यह निश्चित है कि, मानस इच्छियों के अनुरूप ही बाध बाधबाध की प्रसन्न चेष्टाओं में उन्नावक परिवर्तन होते रहते हैं, किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य किन्ता मी मनोविज्ञानविद्या के केवल शरीरचेष्टाओं से मी अरुता अनुमान लगा किया करते हैं। मन में जैसे मी विचार होते हैं बाध, इच्छि पति, आदि शरीरचेष्टाओं में मी जैसे ही चेष्टाओं का उदर होता रहता है। इन शरीरचेष्टाओं से मी इन शब्दों की मानसिक स्थिति का अनुमान लया किया करते हैं।

१३—भूगमविज्ञानविद्या—

अध्वर्युविराजति महीपथिनो से चतुर्विध का संकार करने पर इन्हीं परदर्युता का उदर हो जाता है। सुप्रसिद्ध अधिप्राय ही परदर्युता का प्रसिद्धक माना गया है। किन्तु पार्थिव पदार्थ में

* मनसा संकल्पयति, तदात्ममिषयति ।

वातो दवेम्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ॥

अग्निप्राण बिठनी अधिक मात्रा में रहता है, यह पनार्य उसी अनुपात से अधिअधिक बनाकर बना रहता है। पलाय में अग्निप्राण अधिक है। अतएव पायाणस्तर से उस पार रस्सी हुई वस्तु हम नहीं देख सकते। अथ में अग्निप्राण अस्त्रमात्रा में प्रतिष्ठित है। अतएव इसके उपपार रस्सी वस्तु का वाच्यत्कार हो जाता है। वायु में अग्निप्राण नहीं के समान है। अतएव वायु प्राणवत् अचामन्द बना रहता है। महोपबिच्छेप के द्वारा चन्द्र में अग्निप्राणनिराकरणरूपक का समावेश हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी महोपधि से संस्कृत चन्द्रनिद्रय से बन पदार्थों के अन्तःस्थल में भी चन्द्रमार्पात्र अग्रसिद्ध बन जाता है एवं यही 'भूगर्भविज्ञानविद्या' है। समान से १ हाथ नीचे तक की वस्तु का वाच्यत्कार हो जाता है। क्योंकि महोपधि से सम्पन्न दिग्म अञ्जन से वस्तु में इतनी ही शक्ति का समावेश होता है।

१४—सुबनज्ञानविद्या—

जिह्व विद्या के द्वारा सर्तों लोकों का वाच्यत्कार हो जाता है यही सुबनज्ञानविद्या है। जिह्व प्रकर सुद्विपट-स्वरूप आध्यात्मिक बीजप्रभापति के शरीर का आकार अष्टाक्षर गायत्रीतन्त्र के सम्बन्ध से आठ प्रादेशमित बनवा हुआ ८४ अक्षर का है एवमेव महाकिरातस्वरूप आधिदैविक ईश्वर्यभापति के शरीर का आकार भी आठ विवस्तिवों के सम्बन्ध से ८४ अक्षर का ही माना गया है। ईश्वरशरीर की ये सर्तों विवस्तिवों ही क्रमशः भूः भुवः, स्वः, महः बनत्, तथा स्वयम्, इन नामों से व्यक्तित्व हुई हैं। शुभ्रिद्वि सुभ्रिद्वि 'भू लोक' है। सुभ्रिद्वि के मेरुशुभ्र से आरम्भ कर प्रह-नक्षत्र-ठाणिक मुक्त भूवत्पर्यन्त लोक अन्तरिक्षलोक है, यही भुवलोक है। इससे आगे का पञ्चदश, सन्दश एकविंश, पञ्चविंश, अष्टस्यविंशत् येद से पञ्चधा विमलत वीर माहेन्द्रलोक तीव्र स्वलोक है। सूर्य और परमेही के मध्य का लोक प्राजापत्यलोक है यही श्रीभा महलोक है। परमेही बनस्त्रलोक है परमेही और स्वयम् के मध्य का लोक उपलोक है एवं स्वयम् स्वयलोक है। इन्हीं तीनों लोकों की समष्टि 'त्रासलोक' है ७। इन छठ लोकों में स्वयम्-परमेही-सूर्य-भू, से सम्बन्ध स्वय-बनत्-स्वा-भू-ये चार वो स्वयलोक है, एवं चारों के लक्षिमागों से सम्बन्ध तप-मह-भुव-तीनों श्रुतलोक हैं। श्रुतलक्ष्यात्मक ये सर्तों लोक ही अन्तमुबन हैं, जिनके केन्द्र में सूर्य प्रतिष्ठित है। अन्तमुबनदर्शन के लिए इसी मध्यस्थ सूर्य में चन्द्रनिद्रय का संभ्रम करना पड़ता है। इस संभ्रम से चन्द्र में विचरणा सूर्य के विचरदर्शनबर्णन का समावेश हो जाता है और यही सुबनज्ञान-विद्या है, बिलम्ब 'सुबनज्ञान सूर्ये संभ्रमात्' (पा वो १।१५) सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

१५—श्रीपथिप्रभावज्ञानविद्या—

कुछ एक श्रीपथियों में अपूर्व दिव्यप्रकृतियाँ रहती हैं, जिनके स्पर्शमात्र से अद्भुत प्रभाव का अनुभव होता है। सोम, इरीठिक, निमीठक (बरेका), अक्षिक अपागमार्ग, आदि एर्षपथि श्रीपथियों के अचित्त्व-अद्भुत प्रगर्भों का अग्रपथिद में बड़े विस्तार से उपरु हण हुआ है। इन श्रीपथिप्रभावों का पनाक परिज्ञान सामान्य लौकिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। इसके लिए एक विशेषदृष्टि अपेक्षित है, जो

७-महाश्रिभूमिको लोकः, प्रावत्यत्यस्ततो महान् ।
माहेन्द्रस्य स्वरित्युको दिवि तारा सुवि प्रजाः ॥

तन्मर्त्यं बुधः । प्रसिद्ध है कि, ब्रह्मदेव और अग्निदेव महादेव विनोक्ति का शब्दों का परिज्ञान करते थे । 'शास्त्रार्थप्रत्ययानामितरेतराभ्यासात् संकराः, वतुप्रथिमागतसंयमान् मन्मभूतरुतज्ञानम् (पा यो ३।१२०)' इन ने इसी विद्या का बिरलोपण किया है ।

१२-मनोविज्ञानविद्या—

अन्य प्राणियों के मनोभावों का बोध कर देने वाली ही 'मनोविज्ञानविद्या' है । ब्रह्म ब्रह्मबरण ही इस विद्या की प्रसिद्धि करता है । शरीर के चारों ओर व्याप्त सूक्ष्मवायु 'वायुवायु' है, इसे ही 'वातावरण' (वायु का आवरण) कहा गया है । आम्बुसैमिक वायुवायु—जो रोमकूपों से बाहिर निकल कर आवरणरूप वायुवायु में उष्णान्धक उत्पन्न किया करता है—के आचार पर यह वातावरण प्रतिक्रियित है । एवं प्रबन्धन के आचार पर प्राणवायु प्रतिक्रियित है । मन में जैसे भी उन्नतत्व संकल्प—विकल्प उठने रहते हैं उदाहारण प्रतिक्रियित प्राणवायु में भी जैसे ही मात उन्नत हो जाते हैं । इन मनोऽनुगत प्राणवायु के प्रत्यापात के अनुक्रम ही शरीर का वायु में उष्णान्धक परिवर्तन होते रहते हैं । इन का वातावरण को पहिचान कर यह कलावा का लता है कि, अयुक्त व्यक्ति इन समय अमुक्त इच्छा कर रहा है । यही मनोविज्ञानविद्या है । मन्मभूति कहेती है कि—'मनसे जो संकल्प होता है वह प्राणवायु पर आता है (प्राणवायु से सूक्ष्मवायु पर) । एवं यह वातावरण ही विज्ञानों को यह कलावा देता है कि, हे पुत्रय । इन समय तू यह चाहता है * । वायुवायुत ने भी इसी मात का निम्न लिखित शब्दों में अभ्यन्त किया है—

“मनो देवा मनुष्यस्याखानन्ति-इति । मनसा संकल्पयति-सत् प्राणमपिपद्यत । प्राणो भक्षम् । वातो देवेभ्य आचष्टे—यथा पुरुषस्य मनः” ।

—रत० भा ३।३।३

'प्रत्ययस्य परिचितज्ञानम्' (पा यो ३।१२।) के अनुसार कृत्तों की मानत-सिद्धि को जान लेना ही मनोविज्ञान है । यह निश्चित है कि मानत कृत्तियों के अनुक्रम ही ब्रह्म वातावरण की सुक्ष्म वेदाओं में उष्णान्धक परिवर्तन होते रहते हैं, किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य किना भी मनोविज्ञानविद्या के केवल शरीरवेदाओं से ही अंशका अनुमान लगा किना करते हैं । मन में जैसे भी विचार होते हैं, वासी, इच्छा गति, आदि शरीरआचारों में भी जैसे ही वेदाओं का उदय होता रहता है । इन शरीरवेदाओं से भी इन कृत्तों की मानसिक स्थिति का अनुमान लगा किया करते हैं ।

१३-भूगमविज्ञानविद्या—

अधर्षवेदात्परिकृत महीदण्डियों से बहुदुर्लभिय का संस्कार करने पर इनमें पावरुचिष्ठा का उदय हो जाता है । मुमन्त्रि आदिमाय ही पावरुचिष्ठा का प्रतिकल्पक माना गया है । किन्तु पार्थिव पदार्थ में

* मनसा संकल्पयति, तद्व्रतमभिगच्छति ।

वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ॥

अग्निप्राण त्रितनी अधिक मात्रा में रहता है, वह पार्थ उसी अनुपात से अधिकधिक बनामयन बना रहता है। पापाय में अग्निप्राण अधिक है। अतएव पापायस्तर से उठ पार रखी हुई कष्ट हम नहीं देख सकते। काय में अग्निप्राण अस्यमात्रा में प्रतिष्ठित है। अतएव इसके लक्षण रखी कष्ट का साक्षात्कार हो जाता है। वायु में अग्निप्राण नहीं के छान है। अतएव वायु प्राणवत् अक्षमच्छद बना रहता है। महोपधिशिरोष के द्वारा चक्षु में अग्निप्राणनिराकरणशक्ति का समावेश हो जाता है। अतस्वरूप ऐसी महोपधि से संस्कृत चक्षुस्त्रिय से बन पार्थों के अन्तस्तर में भी चक्षुर्भाषार अप्रतिष्ठत बन जाता है एव यही 'मृगमंथिज्ञानविद्या' है। अमीन से १ हाय नीचे एक की वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है। क्योंकि महोपधि से सम्पन्न दिग्म अम्बन से चक्षु में इतनी ही शक्ति का समावेश होता है।

१४-मुबनज्ञानविद्या—

चित्त विद्या के द्वारा छोटों लोकों का साक्षात्कार हो जाता है यही मुबनज्ञानविद्या है। जिस प्रकार सुप्रविद्यत-स्वरूप आध्यात्मिक नीचप्रवापति के शरीर का आकार अज्ञात गान्धीकृष्ण के सम्बन्ध से आठ माहेशमित बनात हुआ ८८ अङ्गुल का है एवमेव महाविद्यारस्वरूप आधिदैविक ईश्वरवापति के शरीर का आकार भी आठ विवर्तितयों के सम्बन्ध से ८८ अङ्गुल का ही माना गया है। ईश्वरशरीर की ये छोटों विवर्तितयों ही अमृता मू, मुब, म्हा, मह, अनत्, तप, स्वम्, इन नामों से स्पष्टतः हुई हैं। सुप्रविद्य भूपिण्ड 'मू लोक' है। भूपिण्ड के मेघपृष्ठ से आरम्भ कर ग्रह-नक्षत्र-राशि मुक्त ज्ञानपर्यन्त लोक अन्तरिक्षलोक है, यही मुबलोक है। इसके आगे का पम्बदरा, लच्छरा एकत्रिय, पञ्चत्रिय, अन्तर्विद्यपू मेद से पम्बरा विमस्त शीर माहेन्द्रलोक तीवरा स्वलोक है। सूर्य और परमेही के मध्य का लोक प्राचापस्वलोक है यही चौथा महलोक है। परमेही बनस्वलोक है परमेही और स्वयम्भू के मध्य का लोक तपोलोक है एवं स्वयम्भू स्वलोक है। इन्हीं तीनों लोकों की समष्टि 'त्राक्षलोक' है ७। इन छठ लोकों में स्वयम्भू-परमेही-सूर्य-मू, से सम्बन्ध स्व-बनत्-स्व-मू-ये चार तो स्वलोक हैं, एवं पार्थों के अन्तर्मामों से सम्बन्ध तप-मह-मुबा-तीनों श्रुलोक हैं। अलच्छरात्मक ये छोटों लोक ही छपमुबन हैं, जिनके केन्द्र में सूर्य प्रतिष्ठित है। लच्छमुबनदरान के लिए इसी मध्यस्थ सूर्य में चक्षुस्त्रिय का संयम करना पड़ता है। इत संयम से चक्षु में निरवज्ञा सूर्य के निरवर्तनधर्म का समावेश हो जाता है और यही मुबनज्ञान-विद्या है जिसका 'मुबनज्ञान सूर्य संसमात्' (पा ओ १।१५) एत से स्पष्टीकरण हुआ है।

१५-ओपधिप्रमावज्ञानविद्या—

कुल एक ओपधियों में अपूर्व विस्मयशक्तियाँ रहती हैं जिनके स्पर्शमात्र से अद्भुत प्रमाण का अनुभव होता है। धेम हीलकि, विगीतक (क्लेडा), कश्चिक अपामार्ग, आदि एवंबिब ओपधियों के अचिन्त्य-अद्भुत प्रमाणों का अपभवेद में बड़े विस्तार से उपरूहण हुआ है। इन ओपधिप्रमाओं का बनावत् परिज्ञान ध्यात्म लौकिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। इसके लिए एक विशेषरुधि अपेक्षित है, जो

७-प्राज्ञस्त्रिभूमिको लोकः, प्राजास्यत्यस्तो महान् ।
माहेन्द्ररुच स्वरिष्युको दिवि तारा सुधि प्रवाः ॥

'दिव्यरति' नाम से प्रसिद्ध हुई है। इसी से अश्विप्रभाव परिचात होते हैं, किंतु दिव्यरति का मन्वान् मनु हरि ने निम्न लिखित शब्दों में किरलोपक किया है—

आविभूर्तप्रकाशानामनुपप्लुतयेतसाम् ।
अतीतानगतज्ञानं प्रत्यक्षाञ्च विशिष्यते ॥१॥
अतीन्द्रियानसंधेयान् पर्यन्त्यापेक्ष चक्षुषा ।
ये भावान् षषर्नं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥

—वाल्म्यकीय ६।३।१०।६।

१६—ताराज्योतिःप्रभावज्ञानविधा—

मन्त्रतन्त्र ही प्राणी-बन्ध की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। कम-रठ-मन्त्र-स्वरा-शब्द-रूप्य अभामन्त्रद्वय यह प्राणतन्त्र ही 'ऋषि' कहलाया है। अक्षरतन्त्र, आम्भारिमन्त्र, आदि विविध मेदस्तुत इन ऋषिप्राणियों में से 'येननाक्षरं ऋषिप्राणं वा सुष्टिकर्म' में अपना प्रधान हस्तक्षेप रक्ता है। आकाश में प्रतिष्ठित मूर्तस्वरूपमन्त्र नक्षत्र विभिन्न प्राणों की रक्षि है। तन्त्रतन्त्र-ज्ञान अभ्यास में तन्त्र प्राणों का उभावेश होता रहता है। पन्द्रसिद्धि के अनुपात से इन नाक्षरिक प्राणों के योग में तात्त्विक होता रहता है। इन नक्षत्रप्राणों के अन्वित्य प्रभावों का परिचय किंतु विद्या से सम्भव है वही 'द्वयज्योतिः प्रभावज्ञानविधा' है किन्तु उच्च चन्द्रतन्त्रतन्त्र पर निर्भर है वैदिक-चन्द्रे तात्त्व्यज्ञानम्' (पा. यो. १।३।१) इस रूप से प्रमाणित है।

—१६—

संपा-ब्रह्मवीर्यानुगता निगमागमविधा-माह्वविधा प्रथमा

—१—

३१—चयवीर्यानुगता शस्त्रास्त्रविद्याओं का स्वरूपदिग्दर्शन—

चयवीर्यानुगता विद्या भी निगमागममूला ही है किन्तु अस्त्रविद्या शस्त्रविद्या मेद से दो विधय मानें गए हैं। मन्त्रास्त्रिका प्रहारविद्या अस्त्रविद्या है भूतारिमन्त्रा प्रहारविद्या शस्त्रविद्या है। अस्त्रायुध मन्त्रतन्त्रप्रधान हैं, एवं इनके मन्त्रायुध मन्त्रयुक्त शस्त्र मेद से दो विधय हैं। किन्तु मन्त्री की शक्ति से काम लेना मन्त्रायुध विभाग है। मन्त्र से युक्त भूतारिणी से काम लेना मन्त्रयुक्त शस्त्रविभाग है। 'दुहारेण्यत् न मस्म सा चक्रराश्विका तत' यह मन्त्रतन्त्र आयुध का उदाहरण है। अपने स्थान पर गेटे गेटे ही मन्त्रकण से शत्रुपराभव कर डालना ही मन्त्रतन्त्र आयुध का कर्म है। इन्तुमही स्वयंस्वर के अक्षर पर हृद्ययुक्तयुध अस्त्र के द्वारा सम्पादनान्त्र प्रक्षेप से शस्त्रतन्त्र का मोहनिका में निम्न होवाना मन्त्रयुक्त भूतारिणी का उदाहरण है। जिना मन्त्र के केवल शक्तों से उपयोग लेना शस्त्रविद्या से सम्भव रक्ता है। किंतु प्रथम अस्त्रमन्त्रानुगता माह्वविद्या १४ भागी में विभक्त है एवमेव मन्त्रानुगता चयविद्या से उच्च अस्त्रविद्या के भी १४ ही विभाग मानें गए हैं जो किताबनुगति 'दिव्यास्त्रविद्या' नाम से प्रसिद्ध है। इन १४ अस्त्र विद्याओं के वैवास्त्रविद्या, योनास्त्रविद्या, भूमिास्त्रविद्या, कम्मास्त्रविद्या, मेद से युक्त चार भेद-विभाग माने गए हैं। भा. १६-१९ अक्षरतन्त्र भागी में विभक्त है। तन्त्र १४ विभाग ही होते हैं।

श्रीमद्भस्मीक्रियामात्रण में दसहचक्रादि ५ दिव्यात्मों का प्रकारान्तर से उल्लेख हुआ है। वही इन पचासों दिव्यात्मों के दिव्यात्मसंज्ञाओं का स्पष्टीकरण हुआ है। दिव्यात्मों की शक्ति का ठेकने वाला अस्त्र ही 'दिव्यात्मसंज्ञा' कहलाया है। यह अस्त्रविद्या कवल मातृवर्ण की प्रातिष्ठिक क्षमति है। शौकिक अस्त्र विद्या के प्रधान १८ विभाग माने गए हैं। नीचे लिखी शक्तिशक्तियों से इन अस्त्र-शस्त्र-विद्याओं के नाममात्र से परिचय हो जाय है—

दिव्यास्त्राणि—६४

१-द्वैपात्र (१६)	२-त्रैनात्र (१६)	३-चौपात्र (१६)	४-कम्पात्र (१६)
१-ब्रह्मरिहोऽस्त्र	१-स्कन्धास्त्र	१-अक्रास्त्र	१-उग्रमात्रास्त्र
२-ब्रह्मास्त्र	२-प्रमयास्त्र	२-सीपयास्त्र	२-स्वम्भनास्त्र
३-पाशुपतास्त्र	३-धेनामघास्त्र	३-भारुवबास्त्र	३-कम्पनास्त्र
४-बैष्णवास्त्र	४-सूच्यास्त्र	४-बलूकास्त्र	४-शुम्भगास्त्र
५-वासुधास्त्र	५-गण्डास्त्र	५-नालयास्त्र	५-जम्भकास्त्र
६-नारायणास्त्र	६-गाम्बर्थास्त्र	६-वापायास्त्र	६-मूर्च्छनास्त्र
७-पेन्द्रास्त्र	७-राजसास्त्र	७-अस्तकूटास्त्र	७-निमीलनास्त्र
८-प्राजापत्यास्त्र	८-पैराशास्त्र	८-बाम्बस्त्र	८-कत्यातास्त्र
९-आग्नेयास्त्र	९-मौलास्त्र	९-देवीकास्त्र	९-प्रस्थापनास्त्र
१०-बाधक्यास्त्र	१०-द्वैतास्त्र	१०-धजास्त्र	१०-ज्वरस्त्र
११-कीबेरास्त्र	११-शरमास्त्र	११-अतिबलास्त्र	११-भ्रामकास्त्र
१२-गजन्वास्त्र	१२-वाहर्थास्त्र	१२-भौतुम्बरास्त्र	१२-अचेतनास्त्र
१३-स्वाष्ट्रास्त्र	१३-शापरस्त्र	१३-राजसास्त्र	१३-मोहनास्त्र
१४-क्रास्त्र	१४-फेरवास्त्र	१४-हैमनास्त्र	१४-बैष्णवास्त्र
१५-याम्बास्त्र	१५-मातृजास्त्र	१५-गुह्यास्त्र	१५-विमिरास्त्र
१६-वानवास्त्र	१६-नागस्त्र	१६-शौरास्त्र	१६-धमसास्त्र
१६	१६	१६	१६

दिव्यास्त्राणि-५० (बार्न्नीकित्त)

- १-वृषभकण्ठसूत्र (१)
 २-वन्मकण्ठसूत्र (२)
 ३-काशकण्ठसूत्र (३)
 ४-विष्युक्कण्ठसूत्र (४)
 ५-पेन्द्रकण्ठसूत्र (५)

- ६-वन्मपाशासूत्र (१)
 ७-कस्तपाशासूत्र (२)
 ८-बाणपाशासूत्र (३)

- ९-शुष्कराम्भासूत्र (१)
 १०-वार्त्तमान्धासूत्र (०)

- ११-मौडकीमासूत्र (१)
 १२-शिल्लीमासूत्र (२)

- १३-कङ्कालिमुमसोराकण्ठसूत्र (१)
 १४-कङ्कालिकिङ्कालीराकण्ठसूत्र (०)

- १५-वज्रासूत्र (१)
 १६-हीमासूत्र (२)
 १७-शुक्लपाशासूत्र (३)
 १८-वृषभशिरोऽसूत्र (४)
 १९-पेपीचासूत्र (५)
 २०-व्राटासूत्र (६)

- २१-विनायकासूत्र (१)
 २२-नारायणासूत्र (२)
 २३-व्यानेवासूत्र (३)
 २४-वायव्यासूत्र (४)

- २५-दुष्पीवासूत्र (५)
 २६-क्रौञ्चवासूत्र (६)

- २७-विद्याधरासूत्र (१)
 २८-शान्धवासासूत्र (२)

- २९-भस्वापनासूत्र (३)
 ३०-प्ररामनासूत्र (४)

- ३१-सौम्यासूत्र (५)
 ३२-वर्ष्यासूत्र (६)

- ३३-शोपणासूत्र (७)
 ३४-सन्तापनासूत्र (८)

- ३५-बिज्ञापनासूत्र (९)
 ३६-मातृनासूत्र (१०)

- ३७-कम्बर्पासूत्र (११)
 ३८-मानवासूत्र (१२)

- ३९-पिरावासूत्र (१३)
 ४०-वामसूत्र (१४)

- ४१-सौमन्सूत्र (१५)
 ४२-सम्बर्वासूत्र (१६)

- ४३-मौससासूत्र (१७)
 ४४-सत्यसूत्र (१८)

- ४५-मायासूत्र (१९)
 ४६-सौम्यासूत्र (२०)

- ४७-साम्यासूत्र (२१)
 ४८-स्वाश्रुसूत्र (२२)
 ४९-शक्यासूत्र (२३)
 ५०-मानवासूत्र (२४)

(दक्षिण बा०रा पा० २७ मार्ग)

दिव्यास्त्रसंहारा — ५०

१—सख्यवाम्	१८—स्वनाभ	३५—विम्ब
२—सख्यकीर्ति	१९—स्वौषिप	३६—सौमनसं
३—कृष्ट	२०—राकुन	३७—विधुव
४—मसीहार	२१—नैरास्य	३८—मकर
५—अपरराक्षसुल	२२—भिमल	३९—परवीर
६—अबाक्षुल	२३—घोसाभर	४०—रति
७—सख्य	२४—भित्ति	४१—मन
८—असाख्य	२५—वैस्य	४२—बान्ध
९—दहनोम	२६—प्रथमत	४३—अमररूप
१०—मुनाम	२७—शुचिवाहु	४४—अमररुपा
११—वराह	२८—महाबाहु	४५—मोह
१२—राजबन्धन	२९—लिच्छवि	४६—आपरख
१३—दरप्रीर्ष	३०—बिकृषि	४७—अमरक
१४—राजोवर	३१—सर्पिमाली	४८—सर्पनाभ
१५—पद्मनाभ	३२—भृविमाली	४९—पद्मान
१६—महानाभ	३३—भृषिमान	५०—वरुण
१७—दुन्दुनाभ	३४—रुषिर	

सौमिक-भूतशास्त्राणि—१८

संख्या	संस्कृत	पर्याय	हिन्दी
१-	नभ्ग-सपन्ना	छमाय, अष्टिः असिः करबलाः	तलवार, लौंठा
२-	पमु-सरारम्	बाणः पन्ना,	तीर-छमान
३-	परिषः-कस्तुरिडः	परिपातिनी	काठी
४-	पट्टिराम्	ॐ ॐ ॐ	पेस
५-	तोमरः	सर्वेसा	गुरगुर
६-	कृष्ण	मासाः	माला बस्त्रम
७-	सेटाः	ईसाः करबाल	कान्ती गुप्ती
८-	गवा	ॐ ॐ ॐ	गुर्ज
९-	परसु	परस्वण स्वपितिः, कुट्टरः	करसा, कुट्टर, कुन्हाड़ी
१०-	ब्रह्म	ॐ ॐ ॐ	पक
११-	शुक्रम्	ॐ ॐ ॐ	रुज
१२-	शक्ति	असः	बर्धी
१३-	भृगुवरः-कृन्मुगुवर	पन व्रपण	मुगुवर
१४-	पारा	ॐ ॐ ॐ	पॉस
१५-	इक्षुमुस्तम्	ॐ ॐ ॐ	इक्षु-मूसल
१६-	मिन्दिपाक	सुग	गोपथा-वेसबॉस
१७-	सुरिभ	शाल्मी असिपुत्री	सुरी-सुप
१८-	रासधनी-सुशुष्मी	ॐ ॐ ॐ	तोप-बन्दूक

सैवा-ब्रह्मीव्यलुगता-अस्त्रशस्त्रविद्या चतुर्यविद्या द्वितीया

ग्राह्यविद्यायां-प्रतिष्ठिता

३२-विद्विषीर्यानुगता कृपिवाशिष्यविद्या का दिग्दर्शन—

विद्विषीर्यानुगता कृपिविद्या तथा वाशिष्यविद्या का भी उक्त विद्याद्वयी की भाँति बहुविस्तार है। कृपि की मूलप्रतिष्ठा क्योंकि गोवंश है। अतएव गीताध्यात्म ने 'कृपि-गोरक्ष-वाशिष्यं, वैश्यकर्मस्वभाष्यजम्' इत्यादि रूप से तीनों को वैश्यकर्ण के श्रेयकर्म मान लिए हैं। इन तीनों कर्मों के भेद से वैश्यवर्ण के कृपिवल गोवल, वाशिष्यवल, वे तीन विभाग हो जाते हैं। विशुद्ध श्रेणी करने वालों का समुदाय पूयक है। गोवंशपालक समुदाय पूयक है। एवं कृपि में उत्तम अन्नसम्पत्ति तथा शुद्धमात्र के द्वारा निर्मित शिष्य-कलाओं के यथावात की व्यवस्था करने वाला वैश्यसमाज पूयक है। फलपाकान्त श्लेषधिवग वनस्पतिवर्ग, कृषि के ये दो मुख्य विभाग हैं। गोरक्षकर्म पशुरक्षामात्र का उपलक्षण है किन्तु अश्वविद्या, इतिविद्या आदि विभिन्न पशुविद्याओं का भी अन्तर्भाव है। रत्नपरीक्षा पातूपपातुपरीक्षा, सोपरत्नपरीक्षा, शिष्योपविद्यपरीक्षा, लनिच्छत्रपरीक्षा, शिष्यकलातुगत वस्तुक्रयविक्रय, आदि विभाग वाशिष्यविद्या में अन्तर्भूत है। दुःख है कि, महा-सूत्रम् विद्विषीर्य ने भी आत्र अपने इस स्वधर्म-लक्षण स्वधर्म का परिचय कर दिया है। कारण पूर्व में कलाम्या का उद्भव है। पातुपक्षा की पूर्ति का एकमात्र साधन वाशिष्य है। अतः वैश्यवर्ण का प्रधान लक्ष्य केवल वाशिष्य ही रह गया है। वाशिष्य भी ऐसा है, किन्तु स्वस्वनिर्माण होता है शूद्रवर्ण के द्वारा और इस का लाभ उठाता है केवल वैश्यसमाज। इसी अनुचित लाभ-लाभ ने कृपिप्रधान मारत की कृपि का तथा गोवंश का हास किया है। शूद्रसमाज के द्वारा सम्पादित कृपिधन भी आत्र इसी वैश्यसमाज के अनुग्रह से वाशिष्य की कृपा बन गया है, शिष्य प्रत्येक उदाहरण वत मान संकटकाल है। बिनके पास आत्रकोप सुरक्षित है ने अपनी बाहुलाक्षणा के कारण उसे महर्षतम बना रहे हैं। फलस्वरूप बाहुलक्षित सामान्यवर्ग योगक्षेमविन्ता से भी दूर नहीं पा रहा। परिश्रम करता है-स्यसम्पन्न, लाभ उठाते हैं-बाहुपति (पूर्वपति)। कारण-ब्रह्म-सूत्र की निर्भलता। शासन अक्षर्य है। परन्तु वर्तमान शास्त्रा भी तो बाहु पराया ही हैं। फिर वह उमानधर्मा वैश्यवर्ण का निष्करण करे तो कैसे करे, एवं क्यों करे। इसप्रकार ब्रह्म-सूत्र के अधिमम से आत्र विद्विषीर्यानुगता वैश्यविद्या भी अधिमूत ही हो रही है। वही योगक्षेमालम्बनभूत कृपि-वाशिष्यविद्या का संक्षिप्त दुःखपूर्ण इतिवृत्त है।

सैवा-विद्विषीर्यानुगता-कृपिवाशिष्यविद्या-वैश्यविद्या-तृतीया
सूत्रविद्यायां-प्रतिष्ठिता

—३—

३३-शूद्रवर्णीनुगता शिष्यकलाविद्या का दिग्दर्शन—

कृपि-वाशिष्य ही अर्धशिक्षाभिमूर्ति का मुख्य द्वार है। जब वही पराप्त बन गया तो वेद की शिष्य-कला कैसे, किन्तु आचार पर प्रतिष्ठित रह लक्ष्मी की। किन्तु किन्तु शिष्य-कलाओं में मारत का मस्तक उन्नत किया था है, इस प्रश्न का भी अर्थिकार आत्र हमारे हाथ से छिन चुका है। प्रजापति करण के प्राकृतिक शिष्य की प्रशाना करने वाले माटीनी के किन्तु शिष्य ने किसी दुग में समस्त शिष्य को अपने अनुकूल, प्रतिकूल तथा उभयविध शिष्यों ने आम्हृत किया था वही माटीय शिष्य बाहुलाक्षणा के अनुग्रह ने

तथा च, तन्नुवापय, नापितो, रजकस्तथा ।
पञ्चमस्त्वर्म्मकारश्च, कारव, शिल्पिनो मता ॥

इत्यादि सूक्ति के अनुसार लकड़ी की काँठारी का अविद्यता ही तथा है, जिसे 'रजकार' (नाठी) कहा गया गया है। वस्त्रनिर्माता ही 'तन्नुवापय' है जो लोकभाषा में 'बुवाहा' कहलाया है। केशकिन्यायशिल्प का अविद्यता ही—'नापित' (नाई) कहलाया है। निर्मित वस्तु को कोशल प्रदान करने वाला शिल्पी 'रजक' (बोधी) कहलाया है। चमड़े के शिल्प का अविद्यता 'चम्मकार' (चमार) कहलाया है। एवं सर्वथिच वास्तु (मनन) शिल्प का अविद्यता 'करु' कहलाया है, जिसे 'कुम्मकार-प्रजापति-अरीगर-शिल्पी-विष्णुकन्मा आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है।

आज जिसे सम्मता की भाषा में 'पुरातत्त्व' कहा जाता है, उसका तत्परोवर्णित शिल्प में ही अन्त-मंत्र है जो पुरातत्त्व शास्त्रसत्तानिष्पन्ना-सुगन्धर्म्मानुगता-सम्पत्ता का ही परिचायक माना गया है। यह पुनः संस्मरण्य है कि, इत्थंभूत पुरातत्त्व का एवं तत्पुनः शिल्पों का हमारी संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। संस्कृति का परिचायक तो एकमात्र निगमागमपुराणानि मौलिक साहित्य ही माना गया है जिसमें प्रधानरूप से आत्मतुल्यपुण्यगत तत्त्वों का उल्लेख हुआ हुआ है। वही शिल्पित शिल्पानुसन्धनी कला के सम्बन्ध में विपश्चित है जिसके मूल-गीत-वाच-वित्र-आदि कठिपय में ही का न्ययपोय आज 'संस्कृति' के नाम से सर्वत्र प्रतिष्थित है। मनस्यत्र के अविद्यता सोममय पन्नमा के गन्धमगण तथा अस्त्रप्रमाण से सम्बन्ध रखने वाली इन कलाओं का ही स्थलतः मनस्यरीरमापी से ही सम्बन्ध अस्मिन्कृत हो रहा है जिसका मनस्यरीरप्रधान बालहृन्-नारीहृन्-तथा स्युर्ध्वं वर्ग से ही प्रधान सम्बन्ध प्राकृतियुक्त है। निःसीम सुर्माय्य है आज इस संस्कृतिनिष्ठ मारतवर्ष का कि यह भी एकमात्र परदर्शानुगता मनस्यरीरनिष्पन्ना सर्वनासाअरिखी मातृक्या के आवेश में आकर मूल-गीत-वाचादि को ही अपना महान् ! तत्कृतिक प्रचार ! मानने मनवाने के अग्रमोह का अनुगामी बनता जा रहा है। अज्ञो दुर्द्विभोगेव अज्ञमहिमा ।

मारतीय पञ्चविध किंवा अष्टसंविध शिल्प एवं पञ्चपञ्चविध (६४) कला, दोनों का तो आज की शिल्प-कलाओं से सम्बन्धन ही सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए केवल मारतीय प्राख्यनिर्माणशिल्प का ही लक्षण बनाए। किंतु दिन से 'सीमेन्ट' नामधारी मत्तवह वस्तु का भारतीय प्राख्यशिल्प में समावेश हुआ है, देश का संपूर्ण शिल्पकोशल ही उच्छिन्न हो गया है। प्राख्यनिर्माणोपयोगी सब प्रकार के परिग्रह मारत में प्रचुरता से विद्यमान है। अतीत मारत में अपने घर के इन्हीं सुलभ प्राकृतिक पार्थिव भूत-परिग्रहों के द्वारा बैसे श्रेष्ठतम कलापूर्ण-महिमागरिमामय शिल्पों का निर्माण किया था, किन्तु दुल्लता में आज के सीमेन्ट उत्तम ! से विनिर्मित शिल्पों का कुछ भी तो महत्त्व नहीं है। वे तापन यद्यपि आज भी सुलभ हैं। और सीमेन्ट से उन्हीं प्राकृतिक परिग्रहों से शिल्पनिर्माण शिल्पी भी अघातवि ता विद्यमान है। किन्तु सीमेन्ट के प्रलोमन ने इस उमरता को देती बटिका बना दिया है कि, मानों इत सुर्ध्वम परार्थ के बिना हम अहित ही नहीं रह सकते। कती विद्यमान है, और कैसा है यह हमारा मातृक्यापूर्ण अग्रमोहन ! वही योग्योमत्तवनभूष्य मारतीय शिल्पकलाविद्या का सुल्लपूर्ण इच्छित है, जो कलानामरुविशेष के द्वारा उपरत हो रहा है।

वा वा एता शंखतन्त्रोक्ता-पुस्तकसूचिका (६४) —

- | | |
|-------------------------------|--------------------------------------|
| १-गीतम् (१) | २७-सूत्रकीर्ति (११) |
| २-वाचस्प (२) | २८-प्रहलिका (१२) |
| ३-मृत्युम् (३) | २९-प्रतिमाला (१३) |
| ४-नाट्यम् (४) | ३०-दुग्धचक्रयोगा (१४) |
| ५-आलोच्यम् (५) | ३१-पुस्तकवाचनम् (१५) |
| ६-विशेषकल्पप्रश्नम् (६) | ३२-नागिकाय्यापिकारशानम् (१६) |
| ७-उपलब्धमुमबलिपिच्छारा (७) | ३३-काम्यममस्यापूरणम् (१) |
| ८-पुण्यास्तरणम् (८) | ३४-पञ्चिकावप्रमाणविकल्पम् (२) |
| ९-दशममनाङ्कगा (९) | ३५-तर्ककम्पाणि (३) |
| १०-मणिभूमिकल्पम् (१०) | ३६-सद्योगम् (४) |
| ११-शयनरक्षणम् (११) | ३७-वास्तुविद्या (५) |
| १२-उदकभाषम् (१२) | ३८-रूप्यरत्नपरीक्षा (६) |
| १३-उदकभाष (१३) | ३९-वातुवाद (७) |
| १४-चित्रायोगा (१४) | ४०-मखिरागणानम् (८) |
| १५-माध्यमप्रपनविकल्पा (१५) | ४१-आकरज्ञानम् (९) |
| १६-शेखरापीडयोजनम् (१६) | ४२-इष्टायुर्वेदयोगा (१०) |
| १७-नपप्ययोगा (?) | ४३-मेघकल्पकलावक्युदविधि (११) |
| १८-कर्णपत्रमङ्गा (२) | ४४-शुक्लारिकाप्रस्तावनम् (१२) |
| १९-मन्त्रपुक्ति (३) | ४५-तत्त्वादनम् (१३) |
| २०-भूषणयोजनम् (४) | ४६-कथमार्जनकौशलम् (१४) |
| २१-पन्द्रजासम् (५) | ४७-अक्षरमुद्रिकाकल्पनम् (१५) |
| २२-कापुमारयोगा (६) | ४८-म्लच्छिद्रकविकल्पा (१६) |
| २३-इन्द्रजासम् (७) | ४९-दशमापाठानम् (?) |
| २४-चित्रशालामपविकारक्रिया (८) | ५०-पुष्पशुद्धिकल्पनिमित्तज्ञानम् (२) |
| २५-पानकरधरागासवयोजनम् (८) | ५१-यन्त्रमालम् (३) |
| २६-सूर्यवापकम्पाणि (१०) | ५२-वारवमातृम् (४) |

५३-सम्पादयम्	(५)	५६-यत्तुविशेष	(११)
५४-मानसीकृत्यक्रिया	(६)	६०-आकर्षक्रीडा	(१२)
५५-क्रियाविकल्पा	(७)	६१-बालकक्रीडनकानि	(१३)
५६-कलितकर्मयोगः	(८)	६२-वैनायिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	(१४)
५७-अभिधानकोपच्छन्दोज्ञानम्	(९)	६३-वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	(१५)
५८-वस्त्रगोपनानि	(१०)	६४-वैतालिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	(१६)

सैषा-शूद्रवर्णानुगता शिल्पकलाविद्या-शूद्रविद्या चतुर्धा
विद्विद्यायां प्रतिष्ठिता

-४-

३४-'विद्या'-स्वरूपपरिचयोपक्रम—

प्रत्यक्षदृष्टि से विचार करने पर भारतीय 'विद्या' के सम्बन्ध में पूर्वोक्तचित्त चतुर्विधाविभाग ही हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। 'विद्या' का क्या स्वरूपपरिचय ? प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मानुगता निगमागमविद्या, शूद्रानुगता अस्त्ररास्त्रविद्या विद्वानुगता कृषिवाणिज्यविद्या एवं शूद्रानुगता शिल्पकलाविद्या, ये चार विद्यार्थ ही हमारे सामने आती हैं। इनका शब्दार्थक शास्त्र से ही सम्बन्ध है। गीता की मायचतुष्टयी से सम्बन्ध रखने वाली विद्याचतुष्टयी का क्या इन चारों शास्त्रात्मिका विद्याओं में से किसी के साथ सम्बन्ध है ? अथवा तो गीता का 'विद्या' पदार्थ चारों से कोई विभिन्न तत्त्व है ? इस प्रश्न के समाधान से पहिले 'विद्या' शब्द के वैज्ञानिक स्वकर्म का परिचय आवश्यक कर लेना आवश्यक होगा।

३५-परात्म्य, एवं अधरक्षर स संश्लिष्ट परस्पर अक्षर की परा-अपरा-विद्यार्थ—

पारस्थानीय 'क्षर' नामक अक्षरविधि अक्षर के सम्बन्ध से अक्षर को हुए, अधरस्थानीय 'अक्षर' नामक 'अक्षरविधि' क्षर के सम्बन्ध से 'अक्षर' बने हुए, एवं मध्यस्थानीय अक्षर क्षर की अपेक्षा पर होने के कारण तथा पर अक्षर से अधरस्थिति में प्रतिष्ठित होने के कारण 'परक्षर' नाम से प्रसिद्ध अक्षरक्षर अक्षर को ही मूर्तिक विरचन का निमित्तस्वरूप माना गया है। यह अक्षरक्षर अक्षर के सम्बन्ध से 'परक्षर' है एवं क्षर के सम्बन्ध से अधरक्षर है। अक्षरक्षर परअक्षर की परप्रकृति कहलाई है एवं अधरक्षर अक्षर की अपरप्रकृति कहलाई है। परप्रकृतिरूप अक्षर प्रकृति है, अपरप्रकृतिरूप क्षर प्रकृतिविकृति है एवं 'न प्रकृतिन विकृतिः पुरुष' इस अक्षरक्षरानुसार अक्षरक्षर पुरुष कहलाता है। अक्षरपुरुष की परप्रकृति (अक्षरक्षर) ही-'परविद्या' है एवं अपरप्रकृति (अक्षर) ही 'अपराविद्या' है। 'क्षर-सर्वाणि भूतानि' इस गीताश्लोकानुसार मूर्तिक विरचन स्वतन्त्र है मर्त्य है। प्रकृत मर्त्य नामरूपकर्म-मिच्छा विरचविद्या ही 'अपरविद्या' है। मूर्तिक विरचानुसार अक्षर अमृत है। यही नामरूपकर्मसंज्ञिता

सा वा एता शैवतन्त्रोक्ता - षतुषष्टिकला (६४) —

- १-गीतम् (१)
- २-वाचम् (२)
- ३-मृत्यम् (३)
- ४-नाट्यम् (४)
- ५-आलेख्यम् (५)
- ६-विश्वकर्मद्वयम् (६)
- ७-सप्तदशसुमनसिचिकारा (७)
- ८-पुष्पास्तरणम् (८)
- ९-दशमसनाङ्गरागा (९)
- १०-मणिमूर्तिप्रक्रमम् (१०)
- ११-शयनरश्मिम् (११)
- १२-उदकवाचम् (१२)
- १३-उत्कृष्टम् (१३)
- १४-त्रिपुरायोगाः (१४)
- १५-मान्यप्रयनविक्रमा (१५)
- १६-शेखरापीडयोधनम् (१६)
- १७-नवध्वयोगा (१)
- १८-कल्पप्रमङ्गा (२)
- १९-गन्धयुक्तिः (३)
- २०-भूषणयोधनम् (४)
- २१-पैत्रजालम् (५)
- २२-काधुमारयोगा (६)
- २३-हस्तलाघवम् (७)
- २४-विप्रशान्करूपमक्षयविकारक्रिया (८)
- २५-पानकरसरगासवयोधनम् (९)
- २६-सर्षपापकम्माणि (१०)

- २७-मृशक्रीडा (११)
- २८-प्रहस्तिक (१२)
- २९-प्रतिमाला (१३)
- ३०-दुष्यधकयोगा (१४)
- ३१-पुस्तकवाचनम् (१५)
- ३२-नाटिकाख्यायिकादशानम् (१६)
- ३३-कल्पप्रमस्यापूरणम् (१)
- ३४-पट्टिकावेत्रनास्यविक्रमाः (२)
- ३५-सङ्घर्षमार्गि (३)
- ३६-सषण्णम् (४)
- ३७-वास्तुविद्या (५)
- ३८-रूप्यरत्नपरीक्षा (६)
- ३९-वातुवाद (७)
- ४०-मन्त्रिरागज्ञानम् (८)
- ४१-आकरज्ञानम् (९)
- ४२-हृषापुर्वेदयोगा (१०)
- ४३-मेघद्वन्द्वदस्तावयुद्धनिधि (११)
- ४४-शुकसारिकप्रसन्नानम् (१२)
- ४५-उत्सादनम् (१३)
- ४६-कशमार्जनकौशलम् (१४)
- ४७-अवरसृष्टिकाकषणम् (१५)
- ४८-मन्त्रिद्वन्द्वविक्रमा (१६)
- ४९-दशमापज्ञानम् (१)
- ५०-पुष्पशकटिकानिमिषज्ञानम् (२)
- ५१-यन्त्रमातृका (३)
- ५२-धारणमातृका (४)

५३-सम्पादधम्	(५)	५६-सूत्रविशेष	(११)
५४-मानसीन्द्रियक्रिया	(६)	६०-आकर्षक्रीडा	(१२)
५५-क्रियाविकल्पा	(७)	६१-भालकक्रीडनकानि	(१३)
५६-हस्तिकेयोगा	(८)	६२-वैनायिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	(१४)
५७-अभिधानकोपच्छन्दोज्ञानम्	(९)	६३-वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	(१५)
५८-वस्त्रगोपनानि	(१०)	६४-वैतालिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	(१६)

सैषा-शूद्रवर्खालुगता शिष्यकलाविद्या-शूद्रविद्या षतुर्थी
विद्विद्यायां प्रतिष्ठिता

-४-

३४-‘विद्या’-स्वरूपपरिचयोपक्रम—

प्रत्यक्षदृष्टि से विचार करने पर भारतीय ‘विद्या’ के सम्बन्ध में पूर्वप्रसिद्ध चतुर्विद्याविभाग ही हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। ‘विद्या’ का क्या स्वरूपपरिचय है, प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मानुगता निगमागमविद्या, ध्याननुगता अस्त्रशास्त्रविद्या, विद्वानुगता कृषिशास्त्रविद्या, एवं शूद्रानुगता शिल्पकलाविद्या के चार विद्यार्थें ही हमारे सामने आती हैं जिनका शब्दार्थक शास्त्र से ही सम्बन्ध है। शिष्टा की याम्यकृष्णयी से सम्बन्ध रखने वाली विद्याब्रह्मयी का क्या इन चारों शास्त्रात्मिक विद्याओं में से किसी के साथ सम्बन्ध है, अथवा तो मीमांसा का ‘विद्या’ पदार्थ चारों से कहीं विभिन्न तत्त्व है, इत प्रश्न के समाधान से पहिले ‘विद्या’ शब्द के वैज्ञानिक स्वस्म का परिचय अवगत कर लेना आवश्यक होगा।

३५-पराश्रम्य, एवं अवरचर से संरिल्लष्ट पराशर अचर की परा-अपरा-विद्यार्थ—

पारश्वानीय ‘पर’ नामक ज्ञानमूर्ति अश्रम्य के सम्बन्ध से सर्वज्ञ को हुए, अशरत्शानीय ‘अचर’ नामक ‘अश्रम्य’ चर के सम्बन्ध से ‘सर्वविद्’ को हुए, एवं मन्वत्शानीय अतएव अचर चर की अपेक्षा पर होने के कारण तथा पर अश्रम्य से अशरभेति में प्रसिद्धि होने के कारण ‘परशर’ नाम से प्रसिद्ध सर्व-शक्तिमय अचर को ही मौक्तिक विरम अश्रमिक्तकारण माना गया है। यह अश्रम्य नामक अश्रम्य के सम्बन्ध से ‘परज्ञान’ है एवं चर के सम्बन्ध से अशरज्ञान है। अश्रम्यत्त्व परश्रम्य की पराप्रकृति कहलाई है एवं अश्रम्य अश्रम्य की अपराप्रकृति कहलाई है। पराप्रकृतिरूप अचर प्रकृति है, अपराप्रकृतिरूप चर प्रकृतिविकृति है एवं ‘न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष’ इत व्युत्पत्तिक्रान्तानुसार अश्रम्यत्त्व पुरुष बहन्नामा है। अश्रम्यपुरुष की पराप्रकृति (अश्रम्यज्ञान) ही-‘पराविद्या’ है एवं अपराप्रकृति (अशरज्ञान) ही ‘अपराविद्या’ है। ‘सुर-सर्वाणि भूतानि’ इत मीमांसाविद्यानुसार मौक्तिक विरम अश्रम्य है मर्त्य है। यस्तव मर्त्य नामकमर्त्य-मिच्छ विरमविद्या ही ‘अपराविद्या’ है। मौक्तिक विरवाधारभूत अचर अश्रम्य है। श्री नामकमर्त्यमर्त्य

चरविद्या की अविद्यात्री अक्षरविद्या आत्मविद्या है, जिसे 'परविद्या' कहा गया है, एवं विरक्त मूल आगमशास्त्रज्ञ महाविद्या में निगूट माना गया है। इस प्रकार अक्षर-क्षर क मे' से विद्यतत्त्व 'पर-अपर इन दो भागों में विभक्त हो रहा है बिन दोनों विभागों का निम्न स्थितिव मुक्ति से मञ्जीमालि स्वप्तीकरण हो रहा है—

'तस्मै स होवाच—'इं विद्ये वेदितव्ये'—इति इ यद् ब्रह्मविदो वदन्ति 'परा' चैव, 'अपरा' च । तत्र अपरा—'श्रुतवेदो, यजुर्वेद', सामवेदो, ऽपर्ववेद', शिवा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्त, छन्दो, ज्योतिषमिति । अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते'—मुयबकोपनिषत् १।१।४५, ।

३६—अपराविद्यात्मिका चरविद्या क तीन विवर्य—

परविद्यात्मिका अक्षरविद्या की चर्चा यहाँ के लिए छोड़िए एवं पहिले अपराविद्यात्मिका चरविद्या का सम्बन्ध कीजिए। चरविद्या को विद्या न कह कर 'चरक' कहना ठीक होगा विरक्त अर्थ है—'चरकान'। 'चरकान' का तत्पर्य्य है 'विश्वज्ञान'। विश्वज्ञान मूलभाषापन्न है एवं—'सूत्यो म सूत्युमाप्नोति, य इह नानेव पर्यति' के अनुसार मूलतत्त्व नानात्मनिरूपण है। अतएव मूलनिरूपण विश्वज्ञान को ज्ञान न कह कर 'विज्ञान' (विशिष्ट ज्ञान विज्ञानम्) शब्द से व्यक्त करना अधिक धर्मनीच होना। विविध-ज्ञानात्मिका, अतएव विज्ञानात्मिका इस चरविद्या की मूलप्रतिष्ठा यह अक्षरविद्या है जो अपने एकत्व-निरूपण अमृतमग्न से विशुद्ध रहनेकरवात्मिका है। ज्ञानविद्या अक्षरविद्या है विज्ञानविद्या चरविद्या है। ज्ञानविद्या आचार है यही विश्वमूल है। विद्याविद्या आचारे है यही विश्व है। मातादि परिश्रो क सम्बन्ध से ज्ञानविद्या ही अपने अविच्छिन्नपरिणाममग्न से विज्ञानविद्यास्वरूप में परिणत हो रही है। 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' छिदान्तानुसार यह एक ज्ञान ही नाना ज्ञानमाली में परिणत हो रहा है 'अक्षराद्विचिन्वाः सोम्य' भाषा प्रजासन्ते'। ज्ञानात्मक अक्षर स सन्दर्भ मूल विज्ञानमग्न के यों ही अक्षरविद्या है। पन्द्रह ज्ञान एकत्र संग्रह तीन विवर्यों में हो जाता है। यन्वाचर विविध ज्ञानों का अन्तर्भाव तीन विवर्यों में माना जा सकता है। वे ही तीनों विवर्य विज्ञानभाषा में क्रमशः—'विद्या'—'ब्रह्म'—'वेद' इन नामों से व्यक्त हुए हैं। उपाधिदृष्ट्या तीनों रूपक रहते हुए भी निरुपाधिदृष्ट्या तीनों तत्त्वतः अस्मिन् हैं। इसी आधार पर तीनों के सम्बन्ध में—'त्रयी विद्या'—'त्रयं ब्रह्म'—'त्रयो वेदाः' यह अनेकस्वरूप प्रसिद्धि है।

३७—वेद-ब्रह्म-विद्या-त्मिका चरविद्या, एवं तद्रूपा निगमागमविद्या—

विश्वज्ञान इन्ही तीन भागों में विभक्त है। शब्द, विषय, संस्कार, य तीन ही ज्ञानरूपण हैं। इन्हें तद्विषयवाचक तत्त्वद्वयों के सुनने से तद्विषयों का तात्कालिक ज्ञान होता है। यह शब्दावच्छिन्न तात्कालिक ज्ञान ही 'वेद' है। बिल प्रकार शब्द सुनने से हमें शब्दावच्छिन्न विषयों का ज्ञान होता है, एकोन विषयों के देखने से भी उन विषयों का तात्कालिक ज्ञान होता है। यह विषयावच्छिन्न तात्कालिक ज्ञान ही 'ब्रह्म' है। शब्द सुने से व्यक्त होने वाला एवं विषय देखने से उत्पन्न होने वाला तात्कालिक ज्ञान मनोरथ्य की प्रवृत्तता से अज्ञानरूप में संस्काररूप में परिणत होता हुआ दृष्टमूल का जाता है। यही विरोधज्ञान कहलाया

है। संस्कारावच्छिन्न यह विशेष स्थायी ज्ञान ही 'विद्या' कहलाता है। संस्काररमक विद्याज्ञान ही व्यवहार की प्रतियोगिता बनता है। देव-सुन कर जिन्हें स्मरण नहीं रहता, वे विद्यावान् हैं। "तद्व्यकर शब्दप्रकटावच्छिन्न ज्ञान विषय-रचनावच्छिन्न ज्ञान, एवं संस्कारावच्छिन्न ज्ञानभेद से विरहविज्ञानात्मक ज्ञान के 'वेद-ब्रह्म-विद्या' वे तीन विनय हो जाते हैं। शब्दविद्या वेदविद्या है विषयविद्या ब्रह्मविद्या है संस्कारविद्या विद्याप्रतिषेध विद्या है। एवं इन तीनों छायाविक्रम विद्याओं (ज्ञानों) का पूर्वोक्ता 'नामविद्या' में ही अन्तर्भाव है, जिसके अन्तर्निहितकर्मणो विषयों का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

३८-गीतानुगतता अन्यपरविद्या, एवं लोकसुगतता चरविद्याश्च—

आत्मज्ञानात्मिका पराविद्या आधिदैविक तत्त्व है एवं विरहविज्ञानात्मिका अपराविद्या आधिभौतिक तत्त्व है। विद्युत् पराविद्या निर्गुणब्रह्म है, विद्युत् अपराविद्या उष्णार-माञ्जल-विरण है। इन्हीं दो विभिन्न तत्त्वों के आचार पर गीतोक्त सुप्रसिद्ध वाक्य तथा योगनिष्ठाओं का आधिर्भाव हुआ है। पराविद्यात्मक, कर्मयोग से विमुक्त, विद्युत् ज्ञानब्रह्म (पराविद्या) वाक्यनिहासत्मक ज्ञानयोग की प्रतियोगिता माना गया है, जिसमें वाक्य भी ज्ञान है तथा वाक्यन भी ज्ञान है। अपराविद्यात्मक, विद्युत् विरहकर्म (अपराविद्या) योगनिष्ठात्मक कर्मयोग की प्रतियोगिता माना गया है जिसमें वाक्य भी कर्म है तथा वाक्यन भी कर्म है। इन दोनों निष्ठाओं के माध्यम से एक हीगरी उत्पन्नियता और प्रादुर्भूत हो गई है, जिसमें पराविद्या का ज्ञान वाक्यरूप से तथा अपराविद्या का कर्म वाक्यनरूप से स्थापित माना गया है। यही उभयनिष्ठा 'मक्तियोग' नाम से व्यवहृत हुई है। बड़ी प्राचीनामितता वाच्यवही है, जिसका मक्तिपरवृत्ता-पूर्वव्यवहार में विस्तार से उपर्युक्त हुआ है। प्रकृत में इस वाक्य में बड़ी कठनाई है कि शास्त्रों में अस्मत्कृत-व्यवहार से उपर्युक्त परा अपरा-विद्याओं के आचार पर ही लोकप्रचलित ज्ञान-मक्ति-कर्म-योगों की कल्पना हुई है। परापरविद्याओं की मूलप्रतियोगिता अस्मत्परिद्या एवं अस्मत्परिद्या के आचार पर प्रतिष्ठित बुद्धियोग इनके प्रकार-प्रकार का तथा आधिर्भाव का एकमात्र अर्थ अस्मत्प्रकार गीताकार्य की ही प्राप्ति है। अस्मत्परिद्या स्वयं गूढ़तमा है अपरत्व है। अतएव उक्ति तथा तदयोग लक्ष्यधारण की दृष्टि में निर्गुण ही बना हुआ है। बड़ी कठनाई है कि, लोकनिष्ठावर्गों के अनुगामी व्यवस्थाताओं की दृष्टि में गीता की यह अस्मत्परिद्या एवं उत्तुगत बुद्धियोग, दोनों अपरत्व ही होने पर, और इत्यकार अस्मत्परिद्यात्मक गीताशास्त्र इतर शास्त्रकत् केवल साम्प्रदायिक शास्त्र ही बना रह गया एवं रह गया केवल लोकप्रचलित योगप्रदी का कर्मवर्क। इसी प्रकृति के उभयजन के लिए विद्यात्मकपरिषद कथना आशरक कथना गया जिसका निष्कर्ष बड़ी है कि अस्मत्परिद्या एवं विद्या अस्मत्परिद्या है उत्तुगत योग बुद्धियोग है। पराविद्या अपराविद्या है उत्तुगत योग ज्ञानयोग है। अपराविद्या चरविद्या है उत्तुगत योग कर्मयोग है। परापरविद्या अस्मत्परिद्या है उत्तुगत योग मक्तियोग है। इस दृष्टिकोण की अपर बना कर ही गीता-विद्याविभूति, तथा लोकविभूति का समन्वय करना चाहिए।

- परापरविद्या—अस्मत्परिद्या—उत्तुगती बुद्धियोग (नास्मत्परिद्यात्मक) }—गीतानिष्ठा
- १-पराविद्या—अस्मत्परिद्या—उत्तुगती ज्ञानयोग (आधिदैविक वाक्यनवाक्यरूप)
- २-परापरविद्या—अस्मत्परिद्या—उत्तुगती मक्तियोग (आधिभौतिक वाक्यनवाक्यरूप)
- ३-अपराविद्या—अस्मत्परिद्या—उत्तुगत कर्मयोग (आधिभौतिक वाक्यनवाक्यरूप)

३६-गीताशास्त्र की अभ्यवधिषा, एव तदनुगता योगचतुष्टयी—

अपरात्मिका अविद्या का, परात्मिका अज्ञानविद्या का, एवं तदनुगता लोकनिष्ठाश्रमी का स्वरूपपरिचय करया गया। अब दो शब्दों में गीतापर्याप्तिका अभ्यवधिषा का भी स्वरूपपरिचय प्राप्त कर हीविए। अभ्यवधिषा यथावाक् भूतसर्गों में समरूप से अचरित्य है, जिसके लिए—'समं सर्वेषु भूतेषु'—'अधिमकर्त-विमर्तेषु'—'निर्वोषं हि समं ब्रह्म' इत्यादि बचन उद्धृत हुए हैं। सर्वत्र समरूपेण अचरित्येति ही अभ्यवधिषा का तात्पर्यकार है, जिसका मूलसूत्र है—'रागद्वेष' की आस्तनिक निवृत्ति, एवं वैराग्य की यथार्थप्राप्ति। राग में भी आत्मद्वेष विषय बना रहता है। द्वेष में भी आत्मा बन्नी रहता है। अतएव रागद्वेषयुक्त मन विषय बना रहता है। मनकी विषयता बुद्धि को विषयमा बनाए रखती है। विषयबुद्धि अभ्यवधिषा के अनुकूल योग से बन्धित रहती हुई बुद्धियोग से बहिष्कृत रह जाती है। यही कर्ममोक्षा बीजाला के दुष्कृत का मूल कारण है। अविद्या का अचरित्य, अपने प्रातिस्विकरूप से त्रिगुणभावध्या बनाती हुई बर्हा दुःख का कारण है बर्हा से ही विद्यार्थे अभ्यवधिषाधारण उपयोग में आती हुई त्रिगुणातीता बन कर शाश्वत आनन्दविकास का अचरित्य बन जाती है। स्वप्नहार ही अविद्या का, अथवा अज्ञानविद्या का, किन्तु इति रो अभ्यवधिषा पर, यही मानव का परम पुरुषार्थ है। समदर्शन अभ्यवधिषामूलक है; विषयवर्जन अविद्यामूलक है। विषयव्यवहारवापेक्ष विषयमर्यादाश्री की सुस्पष्टरथा के लिए बर्हा बर्थाभमानुगता अविद्या का अनुगमन गीता आवश्यकरूप से अनिवार्य मानती हुई हमारे समुल्ल ऐहिक सुखसम्पत्ति का साम्राज्य उपरिचय करती है, बर्हा खय धाय त्रिगुणास्तिकि से आत्मतन्त्र को बचाने के लिए समदर्शनान्तर अभ्यवधिषा को लक्ष्य बनाने के लिए आग्रह करती हुई हमारे समुल्ल पारलौकिक निम्नोपसम्पत्ति का साम्राज्य उपरिचय कर रही है। केवल अविद्या से ऐहिक सुख मिल सकता है परन्तु आत्मशान्ति नहीं। केवल अज्ञानविद्या से आत्मशान्ति का उद्रेक होसकता है, परन्तु ऐहिक सुख का नहीं। अज्ञानविद्या से आत्मशान्ति भी मिल सकती है, ऐहिक सुख भी प्राप्त होसकता है, परन्तु लोकान्तरव सम्पन्न नहीं। इन तीनों विधियों का संग्रह तो अभ्यवधिषा पर ही अवलम्बित है। विषय-स्वीकारण के लिए यों वैलिय कि, अविद्यात्मक अभ्यवधिषायोग से लोकवैभव मिल सकता है, परन्तु आत्मशान्ति नहीं। अज्ञानविद्यात्मक ज्ञानयोग से आत्मशान्ति का अलान्तर में उदय हो सकता है परन्तु लोकवैभव नहीं। अज्ञानविद्यात्मक मक्तियोग से आत्मा में प्रखरदुःख का उदय भी सम्भव है, वैभवप्राप्ति भी सुलभ है परन्तु लोकान्तरव नहीं। अचरित्य ही हमें इन तीनों लोकनिष्ठाओं में से किसी भी एक के अनुगमन करते समय किसी जैसे तब को आचार बना लेना पड़ेगा जो तीनों में समरूप से व्याप्त हो। यही सुप्रसिद्धा अभ्यवधिषा है। इसके समभाव को आचार बना कर अविद्यात्मक कर्मयोग में प्रवृत्त होने वाले का कर्म निष्क्रम्य बनाता हुआ आत्मशान्ति का लोकवैभव का तथा ऐहिक सुख का तीनों का लक्ष्य बन जाता है। यही अचरित्य अभ्यवधिषाशुद्ध अज्ञानविद्यात्मक मक्तियोग की होजाती है। कर्मयोगवेद्यया इहमें ईश्वरपुरस्कारप्राप्त्य के अचरित्य आत्मप्रसन्न का विशेष उद्रेक रहता है। अतएव कर्मयोगवेद्यया इहमी स्थानप्रसिद्धा उक्त मानी गई है। यही स्थिति अभ्यवधिषाशुद्ध अज्ञानविद्यात्मक ज्ञानयोग की होजाती है। इहमें लोकवैभव का समभाव है, खय ही—'हे शोऽपि अचरित्येपामभ्यवधिषासकलेष्वेवसाम्' के अनुसर मार्ग भी कर्म—मरुचपेक्षया सुस्तर है। आत्मप्रसन्न ही अज्ञान बन रहता है। अत. योगश्री की स्थानप्रसिद्धा में इहे कर्म योग की अपेक्षा भी निम्न मान लिया गया है।

स्व-ज्ञेय परस्त्रेय, मे' से सम्भवविद्या दो मार्गों में विभक्त रहती है। स्वज्ञेयतुल्यता-स्वतन्त्रा सम्भव-विद्या विभिन्न पक्ष है तदनुगत विद्या विद्युत् सम्भवविद्या है। वहाँ उगरेपात्मिका आध्यात्मिक का आध्यात्मिक सम्भव है। अतएव इत विद्युत् सम्भवविद्या को 'वैद्युत्सम्भवविद्या' कहा गया है, एवं तदनुगत बुद्धियोग 'वैद्युत्-सम्भवबुद्धियोग' कहलाया है। अन्तर-ज्ञेय सम्भव के लिए परस्त्रेय है। परस्त्रेयतुल्य सम्भवविद्या के अन्तर-विद्या अन्तरज्ञेयविद्या, अर्थविद्या इन तीन परस्त्रेयों के मेरु से तीन निवृत्त हो जाते हैं। अन्तरज्ञेयसम्भव पर-स्त्रेय में मुक्ता सम्भवविद्या अर्थात्सम्भव सम्भवविद्या है। वहाँ अर्थविद्या का सम्भव है अतएव इत अर्थात्-सम्भव सम्भवविद्या को 'ज्ञानविद्या' कहा गया है, एवं तदनुगत ज्ञानयोगसम्भव बुद्धियोग 'ज्ञानबुद्धियोग' कहलाया है। अन्तर-ज्ञेयविद्यासम्भव परस्त्रेय में मुक्ता सम्भवविद्या अन्तर-ज्ञेयसम्भव सम्भवविद्या है। वहाँ अर्थविद्या का सम्भव है। अतएव इत अन्तरज्ञेयसम्भव सम्भवविद्या को 'ऐश्वर्यविद्या' कहा गया है, एवं तद-नुगत महिम्नयोगसम्भव बुद्धियोग 'ऐश्वर्यबुद्धियोग' कहलाया है। ज्ञेयविद्यासम्भव परस्त्रेय में मुक्ता सम्भवविद्या अर्थात्सम्भव सम्भवविद्या है। वहाँ अर्थविद्या का सम्भव है। अतएव इत अर्थविद्या सम्भवविद्या को 'धर्मविद्या' कहा गया है एवं तदनुगत धर्मयोगसम्भव बुद्धियोग 'धर्मबुद्धियोग' कहलाया है। धर्मबुद्धियोग विद्युत् ज्ञेय-विद्यासम्भव सम्भव धर्मयोग का संशोधित रूप है ऐश्वर्यबुद्धियोग विद्युत् अन्तरज्ञेयविद्यासम्भव सम्भव महिम्नयोग का संशोधित रूप है ज्ञानबुद्धियोग विद्युत् अन्तरज्ञेयविद्यासम्भव धर्मयोगसम्भव ज्ञानयोग का संशोधित रूप है एवं वैद्युत्बुद्धियोग विद्युत् सम्भवविद्यासम्भव विद्युत् बुद्धियोग है वही गीता का 'तत्त्वबोध' है किन्तु प्रत्येकपक्ष से पुस्तक रहने के अन्तर्गत लोकनिर्वाणनी की भी बुद्धियोगसम्भव प्राप्त हो गई है। एतन्प्रतिबुद्धिपर-मयम त्वान वैद्युत्बुद्धियोग का है द्वितीय त्वान ऐश्वर्यबुद्धियोग (महिम्नयोग) का है तृतीय त्वान धर्म-बुद्धियोग (धर्मयोग) का है एवं अन्तिम त्वान ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग) का है। इत्यन्तर स्व-परस्त्रेय के सम्भव से वैद्युत्सम्भवविद्या एक ही सम्भवविद्या वैद्युत्-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म-मेरु से चार मार्गों में विभक्त होती हुई विद्युत्सम्भव-रूप में परिणत हो रही है। एवं विद्यामेरु से ही तदनुगत वैद्युत्बुद्धियोगसम्भव एक ही धर्म वैद्युत्सम्भव चार मार्गों में परिणत हो रहा है।

४०-गीतासाहचर्य 'विद्या'-स्वरूपोपसंहार-

किन्तु आदि युग में मन्वान् ने सर्वप्रथम यज्ञार्थि विवस्वान् के प्रति इत वैद्युत्सम्भव सम्भवविद्या का एवं तदनुगत वैद्युत्बुद्धियोग का उपदेश किया था, एवं से आरम्भ कर वह विद्यापरम्परा प्रदानरूप से मनु-ब्रह्माकु-ब्रह्म-आदि यज्ञार्थियों में ही प्रतिष्ठित रही। अतएव वह सम्भवविद्या (वैद्युत्-विद्या) 'राजविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई। सम्भवविद्या नाम से प्रसिद्ध ज्ञानयोग अर्थात्सिद्धिबुद्धि (सिद्धिबुद्धि) में प्रदानरूप से प्रसिद्ध था। मन्वान् के द्वारा सम्भवविद्या के उपादेश से सिद्धों की इत ज्ञान-विद्या में संशोधन हुआ। संशोधन सम्भव का था परन्तु सम्भवविद्या सिद्धों का था। अतएव ज्ञानसम्भव वह सम्भवविद्या 'सिद्धविद्या' नाम से ही प्रसिद्ध हुई। महिम्नविद्या नाम से प्रसिद्ध महिम्नयोग विशेषतः सम्भवविद्या यज्ञार्थ में बुद्धि अर्थात्सिद्धि था। महावान् ने ऐश्वर्यविद्या के उपादेश से इत्यन्त ही संशोधन-मात्र किया। अतएव ऐश्वर्यसम्भव वह सम्भवविद्या 'राजविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई। योगविद्या नाम से प्रसिद्ध धर्मयोग का आधिर्मान् विवस्वान् नामक यज्ञार्थि के द्वारा हुआ। एवं वह भी ज्ञान योग ही विशेषतः परम्परा में ही प्रसिद्ध रहा। महावान् ने धर्मविद्या के उपादेश से इत्यन्त ही केवल संशोधन ही किया।

४२-जीवात्मा की अशान्ति का मूल कारण-

अध्वयपुरुष 'आनन्द-विज्ञान-मनः प्राण-वाक् मेद' से पञ्चकोशात्मक माना गया है। पञ्चकोशात्मक इत अध्वयपुरुष के विद्याध्वय, अविद्याध्वय मेद से दो विभाग रहते हैं। आनन्दविज्ञानमनोमय वही अध्वयपुरुष स्वप्नभवन कला हुआ विद्याध्वय है वही सुषुप्त्याधी शानात्मा है। मनःप्राणवाक्मेद वही अध्वयपुरुष जगत्प्रधान कला हुआ कर्माध्वय है, वही अविद्याध्वय है वही लक्षितधी कर्मात्मा है। सुषुप्त्याधी विद्याध्वय लक्षितधी कर्माध्वय से अज्ञात रहता है। इसका कारण वही है कि—'महाप्यरोपेण प्रकृतिः सुवते स चराचरम्' के अनुसार गुणव्याप्तिका पंगामाया के द्वारा हो कर कर्माध्वय लक्षितध्वय' में प्रवृत्त होता है। इस योगमाया के लम्बई से ही अध्वयधर्मत्वा का आनन्दविज्ञानमनोमय विद्याध्वय तो लक्षितध्वय से अज्ञात रह जाता है एवं मनःप्राणवाक्मेदमय अविद्याध्वय प्रकृत बन जाता है। यह अविद्याध्वय ही अध्वयध्वय धीव की अशान्ति का मूल कारण है।

योगमाया अज्ञातध्वय है अज्ञात अध्वयध्वय है। इस अध्वयध्वय से इसके विद्युत्प्रकाश का अभाव 'विज्ञानात्मा कला है। अध्वयध्वय-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-मूर्धना इन पाँच लक्षितध्वयों में खैर विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही अध्वयध्वय है। वही अज्ञातध्वय, अज्ञात अध्वयध्वय योगमाया का कल्पप्रयोग होता है। बुद्धिलक्ष्य में चार विद्याध्वय हैं चार अविद्या नाम हैं जिनका पूर्व प्रकरण में निम्नर से विस्तारपूर्वक विद्या का उल्लेख है। वसु धान वैराग्य, वैश्वर्ष्य के चार विद्याध्वय हैं। इनके विद्युत् से वही बुद्धि 'विद्याबुद्धि' कहलाती है। अग्निदेवा अविद्या अत्यन्त अस्मितया के चार अविद्याध्वय हैं। इनके विद्युत् से वही बुद्धि 'अविद्याबुद्धि' कहलाने लगती है। अविद्याबुद्धि की अज्ञानात्मा का कारण कलाती बुद्धि 'ज्ञेय' नाम से अज्ञात बुद्धि है एवं विद्याबुद्धि की अज्ञानात्मा का कारण कलाती बुद्धि मग नाम से अज्ञात बुद्धि है। जीवात्मा अज्ञानप्रधान है, अज्ञात गुणव्याप्तिक है। अज्ञात उपभाना जीवतंत्रका में गुणव्याप्तिका अविद्याध्वय का लोकाध्वय की प्रधान कला रहती है एवं इसकी प्रधानता से इन्द्रादीय विद्याध्वय मगध्वय की अज्ञात रहती है, और वही अध्वयध्वय धीव की अशान्ति का मूल कारण है।

अज्ञानध्वय अविद्याबुद्धिबुद्धि की से अध्वयध्वय के कर्मात्मक अविद्याध्वय की दो प्रोत्साहन मिलता है एवं ज्ञानात्मक विद्याध्वय अज्ञात हो जाता है। मगध्वय विद्याबुद्धिबुद्धि की अध्वयध्वय के ज्ञानात्मक विद्याध्वय को दो प्रोत्साहन मिलता है तथा कर्मात्मक अविद्याध्वय अज्ञात हो जाता है। इस विषय से निम्नर पर निम्नर कि, विद्याबुद्धि का वरि अध्वयध्वय के लक्ष्य बना हो जाता है तो अध्वयध्वय का विद्याध्वय स्वतन्त्र से विकसित हो जाता है फलतः स्वतन्त्र अविद्याध्वय की अत्यन्त विकसित हो जाती है। वरि अविद्याबुद्धि का अध्वयध्वय के लक्ष्य मग धुषित रहता है तो अध्वयध्वय का विद्याध्वय अज्ञात बना रहता है, फलतः स्वतन्त्र अविद्याध्वय अज्ञानात्मा में प्रवृत्त रहते हैं। वसुधुषित बुद्धिबुद्धि की से अध्वयध्वय के विद्याध्वय का उपभवन होता है। अज्ञान विद्याध्वयबुद्धि इत बुद्धिबुद्धि की 'विद्याबुद्धि' कहना अध्वयध्वय कला है। अध्वयध्वय बुद्धिबुद्धि की से अध्वयध्वय के अविद्याध्वय को प्रोत्साहन मिलता है अज्ञान विद्याध्वयबुद्धि इत बुद्धिबुद्धि की 'अविद्याबुद्धि' कहना अध्वयध्वय कला है। बुद्धि इतविद्या 'विद्याबुद्धि' कहलाती है कि, इतसे अध्वयध्वय विद्याध्वय उपभवन है। बुद्धि इतविद्या 'अविद्याबुद्धि' कहलाती है कि, इतसे अध्वयध्वय अविद्याध्वय उपभवन है।

मगधुद्धि विद्योत्कारकस्यान् विद्याबुद्धि है, ऊँशुद्धि अविद्योत्कारकस्यान् अविद्याबुद्धि है, यही निष्कर्ष है। बीजसंस्था में स्वभावतः ऊँशुद्धि का प्राधान्य है, और यही आध्यात्मिक बीज की अद्यान्ति का मूल कारण है।

४३—गीता का प्रतिपादननिष्कर्ष—

‘यद्यपि विद्याया—करोति, भद्रया—इपनिषदा तदेव धीर्ष्यपत्तरं मयति (छां उप १।१।२ ।) इस शीव विद्वान्त के अनुसार विद्या, भद्रा उपनिषत्, के सहयोग से किया जाने वाला कर्म बलवत्तर होता है। यही उपनिषत् शब्द मौलिक उपपत्ति से सम्बन्ध रखता है। मौलिक उपपत्तिके परिज्ञान से ‘इदमित्यमय नान्यथा’ इत्याकारक विरहास का उदय हो जाता है, अर्थात् उप भू प्रथमसखड के ‘उपनिषच्छब्दरहस्य’ प्रकरण में विस्तार से बखलाया जा चुका है। मनोयोग का नाम ‘भद्रा’ है जो उपनिषत्परिज्ञान पर अकल्पित है। कर्म्य-कारणसम्बन्ध-परिज्ञान ही ‘विद्या’ है। जिस प्रकार से पदपति से आत्मा का लक्ष्य के साथ योग होता है—वह विशेष प्रकार—जो कि कर्म्यकारणसम्बन्धपरिज्ञानसम्बन्ध है—ही ‘विद्या’ है। मगधुद्धिबुद्धि का सम्बन्धता के विद्याभाग के साथ योग हो जाना ही बीजारामा की शान्ति का मूलकारण है। यह योग कैसे हो, इसके लिए विद्या—उपनिषत्—भद्रा—तीनों कायन अन्वेषित हैं। योग के मौलिक स्वरूप का परिज्ञान ‘योगोपनिषत्’ है। योग के साथ मनोयोग हो जाना ‘योगभद्रा’ है। एवं कर्म्यकारणसम्बन्धपरिज्ञाननामक योगप्रकार जान लेना ‘योगविद्या’ है। इसप्रकार योगविद्या (योगानुष्ठानप्रकार) योगभद्रा, एवं योगोपनिषत् तीनों के सम्बन्ध से ही ऊँशुनिर्वाहक मगधुद्धि का सम्बन्धविद्या के साथ योग सम्भव है। समूर्ण गीताशास्त्र का यही निरूपणीय विरह है। सम्बन्ध ब्रह्म है तन् प्राप्तिप्रकारभूता विद्या ‘ब्रह्मविद्या’ है। ब्रह्मविद्या के द्वारा प्राप्तम्ब सम्बन्धविद्या के साथ होने वाला बुद्धि का योग ‘योग’ है। ब्रह्मविद्या और योग य दो ही तो गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। इसीलिए तो गीताध्यायापसंहार में—इति भीमदूभगवद्गीतासुपनिषत्सु—‘ब्रह्मविद्याया—योगशास्त्र’ यह उक्त व हुषा है जिसका तात्पर्य है—‘सम्बन्धविद्यायां सुद्धियोगशास्त्र । सम्बन्ध-अक्षर-पर-मही में से यही गीता मुख्यरूप से ‘सम्बन्धब्रह्म निरूपक शास्त्र है यही बुद्धि ज्ञान, मक्ति, कर्म्य-योगों में स मुख्यतः ‘सुद्धियोग’ निरूपक शास्त्र है। सम्बन्धब्रह्म का स्वरूपविरलेपण करते हुए तन्प्राप्तिप्रकारभूता सम्बन्ध-ब्रह्मविद्या का निरूपण करना, तथा उसके साथ होने वाले मगधुद्धियोग का निरूपण करना ही गीता का प्रतिपादननिष्कर्ष है।

४४—गीतानुगत विद्या, और योग—

मगधुद्धि के सम्बन्ध से सम्बन्धब्रह्मविद्यारूप योगप्राप्तिप्रकार चार भागों में विभक्त हैं। वे विद्यारूपक चारों प्रकार ही गार्हर्विद्या—मिथविद्या—राक्षविद्या—आर्षविद्या इन नामों से व्यक्त हुए हैं। यही गीता की विद्याबुद्धि है जिसका होने क्रमिक विरलेपण करना है। बुद्धा है—‘योग’ वगैरह। गुणव्यतिरिक्तता योगात्म्य के आधारण से प्राप्त अक्षरक स्व-विद्याभाग में अविद्यमित अमकश्चित्त-सम्बन्धता का विद्याका स प्रकाशित करने का कायन—उपाय ही ‘सुद्धियोग’ है। विद्याबुद्धि का सम्बन्ध के विद्याभाग में योग हो जाना ही विद्वान्बुद्धि बुद्धियोग है जिसके लिए—‘ब्रह्मविद्या सुद्धियोग’ नाम कहा गया है। ऐसी विद्याबुद्धि से युक्त अक्षर-रूपविद्याभाग से विकल्पित विद्याभरक ही ‘सुद्धियोग’ नाम से व्यक्त किया जायगा, अर्थात्—‘सुद्धि विद्यम्य-

योगी प्रोक्तवान् इत्यस्य नाम (४।१।) इति गीतावचन मे प्रमाणित है। यहाँ स्पष्ट ही भगवान् ने योग को 'अभ्यस' शब्द से व्यक्त किया है। इत्यत्र बुद्धियोगपरिच-उपायस्य शाब्दयोगी बुद्धियोग है अभ्यस के साथ बुद्धि भी बुद्धियोग है एवं ऐसी विद्याबुद्धि से युक्त विद्याभ्यस भी बुद्धियोग है। राक्षसविद्यालुप्य वैराग्यबुद्धि का योग वैराग्यबुद्धियोग है, इत्ये 'आश्रित' नाम के प्रतिशब्दी (अविद्याबुद्धि) की निवृत्ति होती है। शिवाविद्यालुप्य ज्ञानबुद्धि का योग ज्ञानबुद्धियोग है इत्ये 'अविद्या नाम के प्रतिशब्दी की निवृत्ति होती है। राक्षसविद्यालुप्य ऐश्वर्यबुद्धि का योग ऐश्वर्यबुद्धियोग है इत्ये 'अश्रित' नाम के प्रतिशब्दी की निवृत्ति होती है। एवं आपविद्यालुप्य चर्मबुद्धि का योग चर्मबुद्धियोग है 'उत्ते अभिनिवेश' नामक प्रतिशब्दी निवृत्त होता है। यही सम्पूर्ण बुद्धिशास्त्र का संक्षिप्त इतिवृत्त है। चार विद्याएँ, चार योग यही गीताशास्त्र का शास्त्र विषय है। चारों विद्याओं में राक्षसविद्या भगवद्विद्या है शेष तीनों विद्याएँ परलोकशास्त्र हैं। चारों योगों में वैराग्यबुद्धियोग भगवद्योग है शेष तीनों योग परलोकशास्त्र योग हैं किन्तु लोकोत्तरादि से भगवान् पूर्वक भगवान् ने गीताशास्त्र में संभव कर दिया है। यही स्पष्ट ही विद्या के तथा योग के योग का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

४५-धम्म, आर नीति का साहचर्य—

उक्त चारों विद्याओं में से यथान्त की अपरविद्या का तथा उक्तशास्त्र चर्मबुद्धियोग का गीता के ११ वें अध्याय में आरम्भ कर १८ वें अध्यायपर्यन्त ६ अध्यायों में प्रतिपादन हुआ है। सर्वप्रथम इन चारों विद्या-योगविभूति की मीमांसा करनी है। इस विद्या-योग-की प्रतिशब्द'धम्म'त्व है। अतः विद्या-योगविभूति की मीमांसा से पहिले ही शब्दों में धम्म तत्त्व का स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। धम्मशब्द के अर्थ 'नीति' शब्द किन्ना ही निमित्तत्व के उपरिष्ठ हो गया है। कित प्रकार आत्मा और शरीर, दोनों मित्य सम्बद्ध हैं एकमेव धम्म और नीति का भी सांख्यी दृष्टिकोण से बन्धि सम्बन्ध है। नीति शरीर-स्थानीया है धम्म आत्मास्थानीया है। नीति यही नीति है जो धम्म स्वरूप का संस्कार करती है। धम्म यही धम्म है जो अपने आचार पर प्रतिष्ठित नीति को लोभस्युत्पन्न में प्रवृत्त रखता है। यही नीति अनीति है जो धम्म शब्द पर आक्रमण कर उसे स्वरूपयुक्त कर देती है। अथ धम्म धम्म है जो नीति को लोकोत्तरादि की विपरिष्ठा बना देता है। इसी दृष्टिकोण को लक्षण बना कर धम्म, एवं नीति का समन्वय ब्रह्मिण्य।

४६-धम्मपद्धति, आर नीतिपद्धति—

अध्यात्मसंस्था का अर्थ पद्धति में जीवननिर्वाह होता है यह पद्धति ही अध्यात्मसंस्था का धर्म तथा नीति है। अध्यात्मसंस्था में आत्मा, और शरीर, ये दो मुख्य विभाग हैं। आत्मार्थ अध्यात्म है, शरीरार्थ ब्रह्मत्व है। अन्तर्बुद्धि आत्मतत्त्व इन्द्रियतत्त्व है बहिर्बुद्धि शरीरतत्त्व इन्द्रियतत्त्व है, प्रत्यक्ष है। आत्मा और शरीर के इन स्वरूपभेदों के आचार पर ही धम्म तथा नीतिमार्ग स्थापित हुए हैं। आत्मशास्त्र अध्यात्म शास्त्र आत्मा की प्रवृत्ति है अतएव धम्म को नीति की प्रवृत्ति बना आत्मशास्त्र है। शरीरशास्त्र शरीर-शास्त्र (बद्ध-शरीर) में से ही आत्मा में निवृत्त है। शरीरशास्त्र 'शरीर' है, अध्यात्मशास्त्र 'आत्मा' है। शरीर (बद्ध-शरीर), और आत्मा (बिन्दु आत्मा) दोनों शरीर-भौतिक प्रपञ्चों की मूलप्रवृत्ति धर्म ही मन्त्रा मन्त्रा है। इसी आचार पर—'धम्मों शरीरत्व, अज्ञान प्रवृत्ति पर निवृत्त स्थापित हुआ है। अज्ञानमय धर्म—

पथ के आचार पर प्रतिष्ठित भूतसमक नीतिपथ आगे बाकर 'धर्मपथ' में ही अन्तमूत होजाता है। यही कारण है कि अन्तमुक्त धर्म, एवं बहिष्णु का नीति के विभिन्न स्वरूपयुक्त होने पर भी भारतीय दृष्टिकोण से नीति भी धर्ममार्ग ही मान लिया गया है। तात्पर्य—भारतीय परिग्रहणा में नीति बही नीति है जिसकी प्रविष्टा धर्म है। धर्ममार्गन्वुत विद्युद्ध नीतिमार्ग वहाँ अनीतिपथ ही माना गया है। लोकम्बवहार नीतिमार्ग पर प्रतिष्ठित है पारलौकिक श्रेयस धर्म है। यदि लौकिक चातुरी केवल चातुरी है, इससे केवल लौकिक स्वार्थवान, लाभ ही आत्मविश्वासतिरामावपूर्वक पारलौकिक श्रेयस की हानि होती है, तो ऐसी चातुरी वहाँ नीति न मान कर अनिति ही मानी गई है। 'या लोकद्वयसाचिनी सनुच्युता सा चातुरी चातुरी' इस लोकयुमित के अनुसार चातुरी (नीति) बही चातुरी है जिससे लोकम्बवहारसंरक्षणपूर्वक आत्मश्रेयस सुरक्षित बना रहता है। शरीरम्बवहार आत्मम्बवहारयुक्त बना रहे, यही वहाँ की नीति है आत्मम्बवहार शरीर-म्बवहारयुक्त बना रहे, यही वहाँ का धर्म है। और इस दृष्टिकोण से धर्म—और नीति के पृथगवर्णन होने पर भी दोनों का एकत्र सम्मन्वय होमा है। इस सम्मन्वय से कभी दोनों के संघर्ष का अभाव उपरिघट नहीं होता। यदि कभी किसी प्रसङ्ग पर नीतिमार्ग धर्ममार्ग पर आक्रमण करता हुआ प्रवृत्त होने लगता है, तो तब दशा में वहाँ उस नीतिमार्ग की उपेक्षा कर दी जाती है। दोनों के कानिष्क संघर्ष में धर्म का ही समादर किया जाता है। धर्मविच्छेद नीतिमार्ग वहाँ का से उपेक्षणीय ही माना गया है। धर्ममार्ग का स्वस्वोपदेहा वेदिक शास्त्र है, नीतिमार्ग का संरक्षक मूर्धामिषिक कविय राजा है। राजा का नीतिमार्ग शास्त्र के धर्ममार्ग का आचार बना कर ही प्रवृत्त होता है। अतएव भारतीय नीतिमार्ग का प्रवर्धक—संरक्षक राजा यहाँ निष्कर्षतः धर्ममार्ग का ही संरक्षक माना गया है। राजा की राजनीति धर्ममार्ग का ही संरक्षक करती है। यही आकर हम कह सकते हैं कि वहाँ धर्म और नीति कहने मरके लिए दो विभिन्न पथ हैं। अतुतः दोनों अभिन्न हैं। वेदशास्त्रविद्य धर्म ही वहाँ की राजनीति की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्वरूपविरलोपय हुआ है।

क्रमेण शृणु राजेन्द्र ! यया नीत्या नियुज्यते ॥

आत्मा, सुतो, वा मात्या वा, तद्विशेषं शृणुस्व मे ॥१॥

ज्ञानवृद्धांस्तपोवृद्धान् षयोवृद्धान् सुदपिषान् ॥

सेवेत प्रथमं विप्रानग्रयापरिवर्जितान् ॥२॥

तेभ्यश्च शृणुयाभित्यं वेदशास्त्रविनिर्णयम् ॥

यद्ब्रुस्ते च तत् कार्यं प्राञ्चैरचैतन्नुपभरत् ॥३॥

—आत्मिकपुराण—राजनीति वि प्र० ८२ अ०।

४७—सतवाद की विमीपिका—

नीतिमार्ग धर्ममार्ग पर किठ दशा में प्रतिष्ठित रहता है, इस प्रश्न का उत्तर आत्मप्रधानता का निर्मर है। आत्मस्वरूप का सम्बन्ध इन्द्रतान से एवं शरीरस्वरूप का सम्बन्ध बहसतान से ध्याना गया है, और कि भूमिका प्रथमतः में 'शुक्ल-कृष्णयत्न' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादन किया जायुक्त है। पूर्व-

देवों में इन्द्र का प्राधान्य है बरह गीण है। अतएव इन्द्रानुगत आत्मवत्त यहाँ प्राधान है बरहानुगत शरीर गण है। आत्मा के आचार पर यहाँ शरीर प्रवृत्ति है। आत्मा के प्राधान्य से ही यहाँ आत्मा यहाँ अनुग्रह है यहाँ बरह-गौणता से शरीर बरह है। परिचय दिया कि दिव्यात्त बरह परिचय देवों में प्रधान है, इन्द्र गीण है। अतएव बरहानुगत शरीर यहाँ प्रधान है इन्द्रानुगत आत्मा गीण है। शरीर के आचार पर यहाँ आत्मा प्रवृत्ति है। शरीरप्राधान्य से ही यहाँ शरीर यहाँ अनुग्रह युक्त है यहाँ इन्द्र-गीणता से आत्मा उपोद्भिन्त है। यहाँ नीति धर्म के लिए है यहाँ धर्म नीति के लिए है। यहाँ धर्म नीति का आचार है, यहाँ नीति धर्म का आचार है। यहाँ दोनों के संघर्ष में नीति को उपेक्षा को जाती है यहाँ दोनों के संघर्ष में धर्म को उपेक्षा की जाती है। यहाँ का प्रत्येक धर्म प्राकृतिक बनता हुआ धर्म है यहाँ का धर्म मानवीय कल्पना से सम्बन्ध रखता हुआ 'मत्' है। और यही धर्म तथा मत् में अहोरात्र का अन्तर है बिने न सम्बन्ध कर ही मत्वाद की नीति भारतीय धर्म की मत् मान सिद्धि-यथा की दृष्टि में एक अनाप्ययक साथ ही शान्तिविपाकक तत्त्व बनवा कारणा है।

४८-मत्वाद का स्वरूपपरिचय-

मत्वाद आर धर्म के शक्ति स्वरूप का विषय कर के ही हमें भारतीय धर्म की उपादेयता की सीमाया बन्नी चाहिए। तत्त्वतः धर्मियों में तत्त्वतः धर्मिक परिस्थिति के अनुसार तत्त्वतः धर्म के व्यवहार-युक्त बुद्धिमान् समाजकेताओं के द्वारा सामाजिक शक्तिके संरक्षणके लिए तत्त्वतः धर्म के लिए ही का निरमो परिचय बनाए जाने हैं उन तत्त्वतः धर्मिक-सांस्कृतिक-निबन्धनधर्मों की समष्टि का ही नाम 'मत्वाद' है। भारतीयों में प्रथम जन्म पञ्चरात्र कर्मों में पश्चिमी देशों में प्रवृत्ति विभिन्न धर्मों तथा धर्म मानवीय मन से सम्बन्ध रखत हुए मत्वाद है। का भारतीय धर्मशास्त्र ब्रह्मर्षि पर प्रवृत्ति है (धी) उक्तका छोड़ कर धर्म-तत्त्व विषय के धर्मों का केवल 'मत्वाद' ही जन्म आदना। धर्मशास्त्र में आरम्भ कर धर्मपरम्परेत समाजरूप से प्रवृत्ति शक्तिविद्य शक्ति विषय-परिचयधर्मिक ही 'धर्म' है बिके उद्भव का प्रसार-प्रसार का एकमात्र भेद पतद शक्ति उन गार्गीय तत्त्वज्ञान दर्शकों का ही मत्ता है बिके ही दृष्टि का आचार केन्द्रात्त है, एक बिके ही दृष्टि से दृष्ट मानवधर्म अनुग्रह में प्रवृत्ति हुआ है। धर्म कभी नहीं बालता, पञ्चते हैं-मत्वाद। धर्म आर नीति में कभी अन्तर उपरिष्ठ नहीं होता। संघर्ष होता है-मत्वाद, तथा नीति में। धर्म कारण है कि पश्चिमी देशों में धर्म सामक मत्वाद के साथ नीति का मध्यक संघर्ष दृष्ट रह है। धर्म में विज्ञान तर्क बुद्धि शक्ति का अन्तर्गत है। अतः धर्म में संघर्ष के कारण उपरिष्ठ ही नहीं रहते। मत्वाद में केवल अन्तर्गत है कि विज्ञानतत्त्व का द्वार तर्क का अन्तर्गत है। अतएव केवल धर्मशास्त्र के रूप पर प्रवृत्ति ऐसे मत्वादी में धर्म का अन्त ही होना सामाजिक है। धर्म के साम्प्रदाय ने दृष्टि मत्-वात् के धर्म में धर्म आर ईश्वर की उपेक्षा करने में ही अन्त का अन्तर्गत धर्म। साम्प्रदाय का अन्त देने वाले मत्वादी धर्म की परिभाषा उनके लक्ष्य में न आर। मान्य है मत्वादी धर्म ही विरहरी धर्मशास्त्र का कारण है। यहाँ कि धर्म के अन्तर्गत ही धर्मशास्त्र का अन्तर्गत का निबन्धन अन्तर्गत है। मत्वादी धर्मशास्त्र-तत्त्वतः का अन्तर्गत करता है। मत्वादी धर्मशास्त्र तत्त्व ही अन्तर्गत का कारण बना है। धर्म दे हि मा ही न अन्तर्गत का अन्तर्गत ही अन्तर्गत मत्वादी ने धर्म विद्या है अन्तर्गत का अन्तर्गत आर है। धर्म अन्तर्गत का अन्तर्गत पर प्रवृत्ति रहत हुए लक्ष ही धर्मिक धर्म तथा में अन्तर्गत

करते हुए जहाँ उपादेय, अतएव संरक्षणीय हैं वहाँ अपने अपने सामयिक दृष्टिकोण को ही प्रयत्नता देते हुए, अपने आप ही को कस्याय का प्रवर्तक समझते हुए, साथ ही इतर सम्प्रदायों की निन्दा कर समाज-संघटन तोड़ने का महापातक करते हुए सर्वथा अनुपादेय अतएव उपेक्षणीय ही हैं। सम्प्रदायवाद की पातक प्रतिक्रिया के अनुग्रह से ही आब बम्म की खर्वमीमिकता अस्तप्राय बन रही है। जो तनातनबम्म की ओर युग में सम्पूर्ण विरथ की शान्ति का सन्देहवाहक या वही आब सम्प्रदाय के रंग से रजित होकर अशान्ति का कारण बन रहा है। सम्प्रदायवाद के पातक कमिनिबेरा (बुद्धग्रह-दृष्टवर्मी) से ही साम्यवाद के मूलभूत 'समदर्शन' का विनाश हुआ है एक समदर्शन का विनाश ही समाजशान्ति का उच्छेदक बना है।

शासनकत्ता के अनुग्रह से पश्चिमी देशों का पूर्व-देशों से सम्कथ हुआ। इस सम्कथ से दोनों की पुरातन संस्कृतियों का परस्पर आगान-प्रदान हुआ। परिखाम म्बा हुआ, यह भी एक अनुरञ्जन की सामग्री है, जिसका दो शब्दों में विरलोक्य कर देना अभावकिक न माना जायगा। हमने उनसे क्या लिया? इतका उत्तर स्पष्ट है। विभक्ता की संस्कृति विभितों को विवश बन कर लीधर करनी पड़ती है। फलतः हमने उनकी संस्कृति सम्पटा आदर्श खडिय, को ही अपने अम्पुन्य का कारण समझा। अपनापन छोड़ कर हम खर्वाम्ना 'दातवर्म्म' में दीक्षित हो गए। हमार बे सब आचार-व्यवहार हमारी ही दृष्टि में केवल दोग बन गए, बिनका हमने उनके आचार-व्यवहार से विकस्य गमन बेला। उन्हें हम से क्या मिला, सब कुछ। इधरधर इस पारस्परिक सम्कथ में हमने सब कुछ लो दिया, और उन्होंने सब कुछ पालिया। वे वे ही बने रह कर वहाँ सब कुछ पा मए, वहाँ हमने 'बे' बन कर सब कुछ लो दिया। हमने वैदिक विद्यन्तों की उपेक्षा की, उन्होंने वैदिक संस्कृति का मुक्तकण्ठ से यशोगान किया। हमने भारतीय अभावत्मभाव को केवल कल्पना समझा उन्होंने इसी को शान्ति का का कारण माना। उनके इस दृष्टिकोण की प्रामाणिकता के लिए एक दो उदाहरण उद्धृत कर देना भी अनावयक न माना जायगा।

४६-पश्चिमी साम्यवाद पर एक दृष्टि—

जर्मनी के अविनायक हर दिष्टार के आभात्मिक गुण सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'नीरो' महोदय ने प्राय विध के सम्पूर्ण मर्तो (ISM) का तथा मबहरो (KELISEON) का अध्ययन किया। इनके अध्ययन से आप इत निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'मठ और मबहब, दोनों मानवबन्धन की स्वामिक शान्ति के अन्वयतम शत्रु हैं। न तो इनसे याद का शैक्षिक विद्यत ही हो सकता, एव न इनसे मानव की व्यक्तिसंस्था का ही कोई अम्पुदय सम्भव। क्योंकि इनके नियम संकुचित, अतएव दास्य के प्रवर्तक हैं'। आगे जाकर अब नीरो को वह विरिध हुआ कि, धर्मतत्त्व मत और मबहब से कोई विभिल बस्तु है बिकमें बुद्धि-सर्व-विधान का समार है बिकभी दृष्टि उगार है बिकते नियम बिकलित हैं तो वे धर्मतत्त्व के परिधान के लिए व्यय हो पड़े। आपने वैदिक-मर्थों का अध्ययन किया। इत वैदिकवाय्याय के अनन्तर वैदिक्य तनातनधर्म के सम्कथ में आपकी यह बारला हा गर्द कि—'बे' से बड़ कर कोई भी उद्यम वैशानिक ब्रथ नहीं है एव न वैदिक्य मानवधर्म के अतिविध कोई धर्म ही'। मानवधर्मप्रतिपादिक्य 'मनुस्मृति' के सम्कथ में आपका वह बधन या कि— 'इतमें सूर्य का ता प्रकम्य है। इतमें मानवबन्धन की लक्षण बनाने वाले वैशानिक-तत्त्वों का विरलोक्य हुआ है। यदि मनुष्य मनु महागाव के कथए हुए सामाजिक नियमों का पालन करे, तो वह कमी बुन्नी नहीं रह सकता'। सुप्रसिद्ध वेगम्बाठी सर्वमी मेकम्पुसर महोदय के भी

इस सम्बन्ध में वे ही विचार थे। आपने एक समय एक महत्त्वपूर्ण परिणाम (तथा) में सम्पूर्णतः से इस सम्बन्ध में आपने वे विचार प्रकट किए थे कि—“यदि मूढ़ ने पूँछा था कि, जिस देश के वायुमण्डल में मानसिक विकास की ऐसी विभूतियाँ उत्पन्न हुई हैं जिनमें जीवन-विज्ञान के गूढ़तम रहस्यों पर विचार किया है किन्हीं सम्पन्न की आवश्यकता प्लेरो, और काष्ठी जैसे परिवर्तों को भी है, तो मैं भारत की ओर हारा कहूँगा”। डॉक्टर बैलेस्पान की सम्मति में—“वेद संसार का सर्वोत्तम ग्रन्थ है और भारतीय जन से उत्पन्न हुआ।” बर्लिन विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर माननोब स्म्यूडर्ट लखि ने बरिचकमीन धार्मिक नियति का पर्याय सम्पन्न किया। परिष्कार में आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—“बहि महाना बौद्ध मार्ग (एक के सम्बन्ध के आपार्य) अपने जीवन में एक बार भी बन्द पत्नी के लिए मनुष्यवृत्ति का सम्बन्धन कर लेते तो बहुत सम्भव था कि, वे साम्प्रदाय के प्रकाश होने के बराबर बैरिचक-सम्बन्ध के एक समर्थ प्रसारक बन जाते। तिस्रु योरोप का दुर्मन्त्र था कि उन्हें ऐसा अवसर ही प्राप्त न हुआ”। त्रिषु युग में पश्चिमी विद्वानों की क्वि वेद-स्वाध्याय की ओर अधिभारित बहुरी का रही थी, उन क्वि को वेद-सुन कर उन युग के सुप्रसिद्ध विद्वानबेला आइन्वर्लिन महोदय वापुल हो पड़े। आप अपने सम्बन्ध के कट्टर नास्तिक थे। आपका विश्वास था कि मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है इस मानवीय शक्ति से सब कर कर सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टिकोण को स्मिन्वत बना कर आपने वेद-धर्म की कट्टरपिशा आरम्भ की। तब से पहिले आपने गीता का सम्पन्न आरम्भ किया। केवल एक पहिले के स्थापना से ही आपका दृष्टिकोण बदल गया। केरशास्त्रतमम्त पुनर्ब मादि विद्वानों पर पूर्ण विश्वास करते हुए आपने यह स्थापना कर लिया कि—“अस्तु, तथा परमाणुकी की सुदृक्क नस्ति की आधार अवश्य ही सर्वप्रथम स्थापना करें तथासिद्ध पदार्थ है जिसे लखि कर सिना मानव का सम्बन्धन अवस्थित है”। आपने बाद आपने यह विश्वास प्रकट किया कि, “उच्चतम गितर पर पहुँच कर विद्वान धर्म के सुकृतम-सर्वोच्चतम तब में किर्लिन हो जाया है”। इसी मन्त्र सिनेब माखैद, नेली, खोड पीस आदि विद्वानों, और विद्वानों ने भी सुकृतम से वेद-धर्म की उपायेमला स्वीकार कर मुक्त भारतीय का सर्वोच्चतम कहा है।

पश्चिमी विद्वान् इत्यकार बर्लिन उचयेतर हमार धर्म की ओर आकर्षित होते का रहे हैं बर्लिन आत्मदत्तवृत्ति में निपटन हम भारतीय-विशेषतः सिद्धि भारतीय-जनके सुकृतम का अनुकरण करना ही अपना धर्मसुबधाना मान रहे हैं। अपने धर्म का सिरोध और पश्चिमी (एक के) सम्बन्धन का सम्पन्न करते हुए भारतीय सम्बन्ध कर कलङ्क के द्विजे केतु हुए हम अपने शायी ही अपने सर्वनाम का सामान्य करते हुए ‘प्रगति के युग स्वकी की अवस्था बस्माना में सम्बन्ध ही रहे है। वैश्विक ब्रह्म तब है बौद्ध मार्ग का सम्बन्धन बहिले मर के लिए सम्बन्ध है। उत्पत्त यह विद्वान विधमना है। मानते हैं कि, जहाँ एक आधिक सम्बन्ध का प्रथम है वहाँ एक मार्ग की विचारनाम योडा सुधार कर लकठी है। मार्ग का यह बहना कि,—“मनुष्य मूढ, मनुष्य, और विद्वान के लिए अधीम है, जो उसे अपने अधिभार का ज्ञान नहीं होने देता” बहना किरी बीमा पर्यन्त तब है। इस स्वयं मत्कारनाम मनुष्य को शान्ति का शत्रु मान रहे हैं। परन्तु इल्ले आपने बहिले में सम्बन्ध से सम्बन्धन नहीं माना का लकठ। योरोप स्म्यूडर्ट के शायी में मार्ग की केवल युरोपीय मणों का ही ज्ञान का किर्लिन होयी का बहना आनिधर्म है। अवश्य मनुष्य से उदर कर उन्हें उच्च सिरोध किया। धर्म क्या है? धर्म की मर में क्या बहना है, इस मन्त्र के सम्बन्धन का क्वि उन्हें अवसर नहीं मिला अवश्य उन्हें सम्बन्ध की शक्ति कर बहली। विद्वान

और ईसाइयत (मठ) में परस्पर पर्याप्त संघर्ष हुए हैं । मार्क्स के युग में भी योरोप में मठवादी के अत्याचार ने प्रकलरूप धारण कर रक्खा था । ईसाईमत का पाखन-पेन्थ राबाओं तथा क्रूर पूँबीयतियों के द्वारा होता था । और इसप्रकार ईश्वर के नाम पर गरीबों का चूँछा हुआ रक्तरोप उसी प्रकार पूँबीयति पादरियों के उपसक्तमन्दिरों में सञ्चित होता रहता था । बैसाकि वर्तमान मारत के पूँबीयतियों के द्वारा पुष्पित पस्तकित सम्प्रदायाचार्यों के क्षेत्र मुग्न अन्वभवाशु आस्तिकप्रभा के शोषणकर्म से संघीत अदृशद्वम्परशि से परिपूर्ण हैं । ऐसी स्थिति में मार्क्स ने जो कुछ किया, ठीक किया । धर्म के नाम पर मठवाद का पोषण करने वालों के लिए यदि मार्क्स इस से भी कठिन दयदम्बकरया करते तो हम उल्ला भी अमिनन्दन ही करते । परन्तु दुःख है कि धर्म के तात्त्विक स्वरूप न जानने धरय अनीश्वरवादरूप ऐसे खम्बवाद का उनकी ओर से आविष्कार हो पड़ा जो करने मर के लिए शान्ति का कारण बनता हुआ भी तत्काल अशान्ति का ही बनफ सिद्ध हुआ । आम्पात्मिक ज्ञान ही आत्मसंभम और इच्छावमने की मूलप्रतिष्ठा है । आम्पात्मिक ज्ञानरूप ईश्वरीय धर्म से वञ्चित मार्क्स के मौलिक साम्यवाद में भी मठवाद की भाँति आत्मसंभम, और इच्छावमन का अभाव है । अतएव केवल अर्थवागामक साम्यवाद अरुमशान्ति से कोसौ बुर रहता हुआ मानवजीवन को सुरान्त बनाए रखने में नितान्त असमर्थ है, जिसका प्रत्यक्षप्रमाण प्रकान्ता अर्थलिच्छ ही पर्याप्त है * ।

५०-भारतीय साम्यवाद और धर्मवृष्टि-

भारतीय साम्यवाद की मूल प्रतिष्ठा यह धर्म है जिसके उच्च अहिंसा दया अस्तंय अरुमसंभम, इच्छा वमन आदि गुण माने गए हैं । एवबिध धम्म से ही साम्यवाद बिरुशान्ति का कारण बन सकता है, जो साम्यवाद मीला के शब्दों में 'समत्वयोग' कहलाया है । समदर्शन ही इस समत्वयोग की आधारशिला है । एवं यही भारतीय साम्यवाद की मौलिक परिभाषा है जिसने न समक कर वतमान युग के कठिनप राशीब मोक्षमत्तो न मीला के साम्यवाद के साथ मार्क्स के साम्यवाद की तुलना कर बालने की शान्ति कर वाली है । क्या पूँबीयति होना बेर है ? नहीं । क्या एक समानरूप से तुम्ही रह सकते हैं ?, बन कि तुम-तुम प्राप्ति का स्वधर्म-संस्कारों से सम्बन्ध है ?, नहीं । फिर साम्यवाद का क्या अर्थ ? । साम्यवाद यही आदेश करता है कि यह ठीक है कि अमुक व्यक्ति अपने कर्मों से ही तुम्ही है । परन्तु मानकता के नते दृष्ट्या यह कर्तव्य होना चाहिए कि, तुम उनके दुःख में हाथ बैठाओ । प्रकृतिरिक्त अशम्भकरया से उसकी पारिवारिक स्थिति को समझो । यह मानना ठमी हो सकती है बन आत्मा में दया-कृपा-अहिंसा-कर्णमूठदितरति, आदि गुणों का विकास हो । इन गुणों का विकास ठमी सम्भव है बन कि आत्मा धर्ममार्ग पर आकृष्ट हो । धर्ममानना के आचार पर प्रतिष्ठित समदर्शनमूला साम्य-मानना ही पूँबीयतियों की प्रकृतियों में अरुन उदाररथ का अनाकेठ कर सकती है । और धर्मान्निहा यह लक्ष्योत्तरा ही दुःखी-असमर्थ-प्रवाण को कष्ट में भी शान्ति का उल्लादान कर सकती है । यही हमारा धर्ममूलक साम्यवाद है जिसके सारा हैं अदर्श (भाद्रय), एव

* श्वेतकान्तिमूलक भारतीय साम्यवाद तथा रक्तकान्तिमूलक प्रतीय साम्यवाद इन दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों का विचार विवेचन 'भारतीय हितुमानव, आर उमकी मरुदुष्पा नामक लखनऊतुष्पात्मक समाज निरूप के श्वेतकान्ति का महाम सम्देश' नामक पुनीत्यलरह में देवना आदिर ।

मंदरक है—सर्वार्थ (इति) । धम्म मार्ग के उपदेशक ब्राह्मण एवं धम्मजुगत नीतिमार्ग के संरक्षक इति धर्मों की विभाग आरंभ हुए हैं । ऐसी स्थिति में कार्योपरान्तक गुणवत्ता (वैयक्त्याद्य-पूर्वोक्ति) यदि उच्छ्वलन न करे तो महा आश्चर्य है । और उभय रक्षाक्रम से बन्धित ऐसे पूर्वोक्तियों के द्वारा प्रथमों का उच्छ्वलन न हो, तो महा आश्चर्य है । तब ही हम मामिनिवेश यह निवेदन करने की प्रवृत्ति कर रहे हैं कि, यदि हम भारत में भारत राष्ट्र का धम्मार्थ आदृत हैं, तो सर्वप्रथम हमें दमिष्ठ समाज्य प्रथा के दुर्लभों का उच्छ्वलन करना पड़ेगा । इसके लिए, पूर्वोक्ति वैयक्त्याद्य का ध्यान धम्ममूलक सम्प्रदाय की ओर आकर्षित करना पड़ेगा । "उत्के लिए धम्मजुगत नीतिमार्ग के संरक्षक इतिप्रथा का आश्रय लेना पड़ेगा । एवं इतिप्रथा की दयान्विति को धम्मजुगता बनाए रखने के लिए वैयक्त्याद्यमानवधर्म के उपदेशक ब्राह्मणों का आश्रय लेना पड़ेगा । अतः में ब्राह्मणधर्म को वर्तमान सत्यप्रथा (मतवाद) की संकुचित दृष्टि में बना कर इसे शास्त्रत आर्य-मानवधर्म में पुनर्दीक्षित करने के लिए किन्तुप्राय वैयक्त्याद्य का पुनः उद्धार करना पड़ेगा । तभी मत्तयाय धम्म और नीति की उक्त परिभाषाएँ पुष्पित प्रजावित हो सकेंगी, किन्तु विराट वैज्ञानिक विवेचन अन्य निरूप में हुआ है ।

५१-आत्मजुगत धम्मतन्त्र, और शरीरानुगत नीतिवन्त्र-

उक्त धर्म और नीति स्वल्प किन्तुपण का निष्कर्ष यही हुआ कि आत्मतन्त्र धम्मप्रधान है शरीर तन्त्र नीतिप्रधान है । धम्मप्रधान आत्मा के आधार पर ही ही नीतिप्रधान शरीर प्रतिष्ठित है । नीतिप्रधान शरीर तो धम्मप्रधान आत्मा की आश्रयभूमि है । दोनों में कस्य कस्य धम्मप्रधान आत्मा है तथापि आत्मतन्त्रक्य का रक्षा-विधान ही शरीरप्रतिष्ठि पर ही आश्रयमिल है । शरीर ही तो धर्मोपेक्षक आत्मा का वह बाह्य वेहन है किन्तुके स्वरूप-उत्पन्न रहने पर ही आत्मा स्वधम्मजुगमन में समर्थ बनता है । इसी आधार पर— 'शरीरमाद्य उच्छ्वलन धम्मसाधनम्' यह सिद्धांत स्थापित हुआ है । इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि बिना नीतिमार्ग का आगे लिए धम्म रक्षा असम्भव है । किन्तु धम्म धर्म शरीरों में नीतिप्रधान धम्म कभी सुरक्षित नहीं रह सकता । स्वधम्मरक्षा के लिए प्रत्येक दशा में नीतिमार्ग का अनुगमन अपेक्षित है । और इतिप्रथा भारतीय धम्म के नाथ भारतीय राजनीति का धर्मोपेक्षक माना गया है । अतएव स्वधम्म के अनन्वयवेहा मत्तान् कृष्ण ने—ये धम्म मां प्रपद्यन्तं तांस्तथैव मत्तान्वाहम्' को आधार बना कर स्वधम्म रक्षा के लिए सम्यक् समय पर नीतिमार्ग का आश्रयमिल किया है । शिवरही को धानी कर अनुजन से भीष्म पर प्रहार करना 'अरकत्तया एत-नरो वा कुञ्जरो वा' के आधार पर प्रेष का बंध करना, भीष्म के हाथ दुष्कर्तव्य की बद्धा पर प्रत्याहार करवाना रथधर्मों के धूम में रैत धाने पर अक्षय्य कर्त पर प्रहार करवाना व एवं नीति मार्ग के प्रसङ्ग नशाहृत् है किन्तु स्वधम्म रक्षा के लिए स्वधम्म मत्तान् की ओर से प्रयोग हुआ है । यह प्रथम रूप है कि बिना नीतिमार्ग के धम्म मार्ग कभी सुरक्षित नहीं रह सकता । तभी तो यही धम्म के अथ नीति का अमेर उच्छ्वलन माना गया है । नीतिमार्ग ही तो एक प्रकार का धर्म ही है । इतिप्रथा तो आत्मा के राजनीतिक मार्ग की यही 'यवधम्म नाम मे ही उच्छ्वलन किया गया है । कुल है कि, यह प्रथम एक शताब्दियों से इस देश में यह प्रकृतिय उत्पन्न हो गई है कि, धर्मोपेक्षक एक स्वधम्म प्रथ है एवं राजनीति एक स्वधम्म प्रथ है दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है । हमारा ध्यान ही इन सम्बन्ध में देना

मन्तव्य है कि, इसी धान्ति ने भारतीय साम्राज्य का अग्रदरजा किया है। विगत शताब्दियों के भ्रमप्रिय भारतीय राजाओं में भ्रम भ्रमना का अनुचित समान करके हुए आश्रयताओं को बार बार दमा कर अपना भार अपने साम्राज्य का नाश कर लिया जिसके उदाहरण भारत के अस्तित्व सम्राट् बुधिवीराज भीरान है।

५२—मताभिनिवेश के दुष्परिणाम—

मताभिनिवेश यंत्रों के अनन्तर राजनीतिकुशल विदेशी शासकों की इस देश पर अनुपस्थिति हुए। नीति के तात्त्विक स्वरूप को भुला देने वाले हम भारतीयों के हृदय में पुनः इस आशय का बम हो पड़ा कि, कहीं वे नवागन्तुक अतिमि मी हमारे घम पर तो प्रहार न कर बैठें। यही हमारी निर्बलता का मुख्य बीज था। हम भूल चुके थे इत भिन्नता को कि, नीतिकुशल धर्म पर कोई भी आश्रयता अपना आक्रमण नहीं कर सकता। हम तो उक्त धान्ति के अनुग्रह से कोई धार्मिक बने रह गए थे। 'वृत्तों की कमबोरी से लाभ उठाना अपने बड़ी बुद्धिमानी है' राजनीति के इस अर्थपूर्ण सिद्धान्त का धर्म समझे वाले उन नवागन्तुकों ने भारतभूमि पर पैर रखते ही हमारी इस कमबोरी का पता पा लिया। फिर क्या था। महारानी फिरोजिया के शासनकाल में यह घोषणा कर दी गई कि 'हमारी राजनीति किसी के धर्म में कोई हस्तक्षेप न करेगी'। हम भ्रान्त भारतीयों ने बड़ी प्रसन्नता से इस बात को घोषणा का अभिनन्दन करते हुए अपनी नम मूर्खता का स्वरूप विदेशी शासकों के सम्मुख रखने में अपने आपको गौरवान्वित माना। भूतविषयप्रधान उनकी राजनीति के प्रयोग आरम्भ हुए, इत क्षेत्राल से कि जिनके द्वारा अत्यल्पकाल से हमारा सर्वत्र दिन बहाड़े लुटने लगे। हम धर्म-धर्म बिछाते रहे और उनकी राजनीति के महोदर में हमारा धर्म, साहित्य, संस्कृति सम्पत्ता आचारप्रवृत्त, शिक्षण कला, वाणिज्य, सब कुछ विग्नित होते गए। आगे बाहर उक्त घोषणा की भी उल्टा आरम्भ हुई। लेबिन्टेटिव में अन्तर्जातीय विवाहादि अनून् उपस्थित होने लगे। उनके द्वारा नहीं, भारतीयों के ही द्वारा। इतलिय कि राजनीति के ध्यामीह ने उन्हें धर्म स्वरूपज्ञान से सर्वथा बहिष्कृत कर दिया था। तभी तो आज के शिक्षित भारतीयों के यह अनर्गल प्रताप देखे-मुने का रहे है कि विदेश का धर्म से क्या सम्बन्ध है, लान पान से धर्म का क्या सम्बन्ध है। मानी इनकी दृष्टि में धर्म तो एक बह लौकिक-अध्यात्मिक फलार्थ है जिसका मानवतमाक के ऐहिक प्रवृत्तियों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। बही हमारी राजनीति एक धर्मभूला थी कहीं हमारा धर्मपथ भी धर्म सीमा से बहिष्कृत मान लिया गया। तब कहीं बाहर हमारे धर्मनेताओं (पवित्रतमाक) की अर्थि गुणी। विदेशीयों की घोषणा दाहरद गई। परन्तु सुनता बौन था। स्वतन्त्रराज्य में उठी थी सुनी बाठी है जिसके हाथ में नीतिकुशल पुरचित रहता है। वह धर्मनेताओं के पाल है कहीं। फिर इन निर्बलों की ध्येन मुने और क्यों मुने। आज भी तो हम उठी धान्तिमानना को दोहराने का पाप कर रहे हैं। किसी भी धार्मिकधर्म पर बने बाहर। पहिली घोषणा यह होनी कि 'हमारी बह संस्था, यह तथा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। हमारा लक्ष्य एकमात्र धर्म प्रचार है। घोषणा करने वाली से क्या हम यह पूछ सकते हैं कि, धर्मवितार ! क्या राजनीति धर्म नहीं है ? क्या धारके धर्म शास्त्रों में राजनीति का निरूपण नहीं हुआ है, क्या धारकी राजनीति को धर्म (राजधर्म) मान से व्यपद्यत नहीं किया गया ?। फिर आने कि धार पर बह मान लिया कि, धर्म का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्मरण रखिए, बकि अब भी इसी धान्ति में पड़े रहे तो धर्म रथा तो आप क्या करेंगे—अपनी रथा भी आप न कर लेंगे। धर्म को मूलप्रतिष्ठा बनाइए, राजनीति को धर्म प्रयोग का द्वार बनाइए। तभी तो अपने राष्ट्र का धर्म्युत्थ लम्पन है। उजर विदेशियों

की नकल करने वाले बतमान राष्ट्रवादीयों में हम यह निवेदन करेंगे कि परिहृतत्माज्ञानुग्रह से उनके सम्मुख धम्म का जो स्वल्प उपस्थित हुआ है, नीतिनयबन्धित, अतएव रचनात्मक मार्ग से सर्वथा बहिष्कृत वह धम्म कष्टमत्त मत्तवद् है शान्तिविचारक सम्प्रदायविशेष है। एतत्काल ही भारतीय विज्ञानसिद्धि धम्म की आर से उनका त्याग हो जाना अपेक्ष्या नहीं है। उन्हें यह नहीं मुझा देना चाहिए कि, त्रित्त धर्मिण के आचार पर वे मातृवर्ष के अम्मुदय की कम्पना कर रहे हैं, त्रित्त राजनीति के द्वारा वे साम्प्रदाय के सुख स्वप्न बल रहे हैं, वह धर्मिण वह साम्प्रदाय समर्थनानुपगत क्तव्य हुआ धम्म मूलक ही है। बिना धम्म को आचार बनाए न तो उनका राष्ट्रधर्मना ही कभी पुरिणत पञ्जित हो सकती एवं न धम्मबन्धित, अतएव वास्तविक धर्मिणाद को ही वे सुरक्षित रख सकते।

५३-धम्म, और अधम्म बशपरिचय—

अहिंसावदी राष्ट्रीय नेता कहा करते हैं जगत् को धरना मित्र समझो। धर्मिण की मुख्य क्पाणा।। सुत्यागम्।। परन्तु हेम १। क्या वह किमुक्त राजनीति-मार्ग विरुद्धैत्री का अनुयायी बन सकता है किन्तु तमोगुणप्रधान राष्ठीकालक ब्रह्म स्ववहार से सम्बन्ध है।। अधर्मोत्तरवार्ष आचरन्काल से अपेक्षित विद्यपय का अपनाने वाले राजनीति-पथ में क्या धर्मिणवाद सुरक्षित रह सकता है।। कभी नहीं। यह तो धम्म मानना का मूलधार बनाने पर ही सम्भव है। क्योंकि मैत्री, धर्मिण, कर्तव्य, सर्वशुद्धिचरति आदि गुण धम्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। हमारे राष्ट्रीय नेता दरदरि से भी ए.अर भी भारतीय धम्म काल पर इच्छि डाकन का अनुग्रह कर लेते तो धम्म के प्रति जनकी वह उपेक्षा न होती। धम्मवाचमर्बरी का दिगदर्शन कराते हुए शास्त्र ने हने क्पाणा है कि, दक्षयचारति की १ क्पाणा में १३ क्पाणा का धम्म के साथ परिग्रहण हुआ है। इन १३ पत्तियों से धम्म के १३ पुत्र उत्पन्न हुए हैं, वही धम्म बंश है। वे पत्तियाँ क्रमशः ब्रह्मा मैत्री, दया शान्ति, दुष्, पुष्, विद्या उच्छति, बुद्धि मेधा विविद्या, ही (सव्य), मूर्ति, न नामो स प्रतिज्ञ हैं (धोमर्मागल)। मागवशाक्त इन १३ पत्तियों के क्रमशः अन्ता से श्रुत (स्य) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। मैत्री से प्रसाद् (आत्मविद्या) दया से ब्रह्मचरान्ति से सुख दुष् से सन्तोष, पुष् से गन्ध (आत्मविमान) विद्या से वाग (धम्मबुद्धिपोग) उच्छति से बर्ष (आत्मनिर्मल-व्याकल्पिका) बुद्धि से अध (आत्मकल्पति), मेधा से स्मृति तिष्ठि (अनराति) से ज्ञम ही से प्रच्छय एवं मूर्ति से नरनारायण (नर बाब नारायण ईश्वर, दोनों का लक्ष्मण) नामक पुत्र उत्पन्न हुए हैं। नर, नारायण का बरि दृष्टक माना गया है तो १३ के स्थान में बौद्ध संख्या हो जाती है। पुरयवमर्बरी में दही धम्म बंश का निम्न स्थिति शब्दों में लक्ष्यकरण हुआ है—

धदा-सदमी-वृत्ति सुष्-पुष्-मेधा-तया क्रिया।

बुद्धि-संज्ञा-वपु-शान्ति-सिद्धि-कीर्ति-स्त्रयोद्गी ॥

पन्थय प्रतिज्ञाह धम्मो दापायसी प्रह ॥ १ ॥

भद्रा-कामध, भी-द्वय, नियम पृथिविरात्मजम् ॥

मन्तापञ्च तथा तुष्टि, लोभ पुष्टिरभ्ययत ॥ २ ॥

मेघा-भुक्तं, क्रिया-द्वयह, नय-विना मेव च ॥

पाधु सुद्धि, स्तया लज्जा चिन्तय, षणु-रात्मजम् ॥ ३ ॥

ध्ववसाय प्रजमे वै, क्षेम शान्तिरभ्ययत ।

सुमुग्ध सिद्धि, येश कीचिरित्यते धर्म्मजनत्र ॥ ४ ॥

अधर्मबन्ध का निरूपण करत हुए शास्त्र ने कहा है—हिता अधर्म की पत्नी है, हमने अनृत (मिथ्यामायण) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है । निहृति नाम की बन्धा उत्पन्न हुए हैं, त्रिलोके गर्भ से नरक, और भय नाम के दो पुत्र (अधर्म के दोहिन) उत्पन्न हुए हैं । नरक का विनाश माया से हुआ है मय का विनाश वेदना से हुआ है । माया से मत्स्यपुत्र उत्पन्न हुआ है, बन्धा से दुःखपुत्र उत्पन्न हुआ है । मृत्यु से अय ब्याधि, शोक दुःखा आदि पुत्र उत्पन्न हुए हैं । यही अधर्म का लक्षित बंधविनाश है, जो वर्तमान युग में सर्वमना पुण्डित पञ्चित हो रहा है । और निश्चयेन यही अधर्म बंध आज वर्तमान राष्ट्रकल्पना का मूलकार बनता हुआ हिता, मिथ्यामायण माया वेदना ब्याधि शोक दुःखा, आदि का उद्योग निन्द हो रहा है । (मार्कण्डेयपुराण) । अज्ञानम् अहं, तप दान निवम क्षमा शौच, अस्तेय, अहिंसा तुशान्ति, इन दस अङ्गों से युक्त धर्म ही आत्मतपमूर्खक इन्द्रादमन का कारण बनता हुआ उक्त भारतीय शास्त्रकार का पौरुष बनता है किन्तु धर्म्ममार्ग आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले 'समदर्शन' को प्रदान बना कर नीत्यात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाला विमर्षदर्शन (प्रकृतिमैदिक विभिन्न व्यवहार) पुण्डित पस्तकित हुआ है । ठीक इनके विपरीत इन्द्रियात्मक अज्ञान, कृपाता उत्पन्न होल आहारविहार, अशुचि, हिंसा, अशान्ति, इत्यादि अङ्गों से युक्त अधर्म ही आत्मतपमूर्खक इन्द्रादमन का कारण बनता हुआ उक्त भारतीय शास्त्रकार का पौरुष बन रहा है किन्तु आत्मतपमूर्खक अधर्मबन्धित विमर्षदर्शन तथा शरीरानुगत सम्बन्ध (प्रकृति-मैदिक आध्यात्मिक समानाधिकार) पुण्डित पस्तकित हो रहे हैं । दोनों शास्त्रकारों में से कौन उदार है ? हम धर्म के निर्णय का मार विद पत्नी पर ही छोड़ने हुए इस सम्बन्ध में हम अपनी आर से यही निवेदन करना पर्याप्त समझते हैं कि किरी भी काय पदमि की किंवा निदान की उपयोगिता उक्त के रूप में निर्णय होती है । परन्तु में हम एक दूसरे के शत्रु बने रहे अधर्म्मा में निमग्न रहे धर्म्मादिता में मरणात्मक बने रहे और देख करते हुए विभिन्नप्रकृति बाल यक्षबाधु मनुष्यों को समानाधिकार का पाठ पढ़ते हुए उन्हें स्वयंसेवकानुगत अविद्यामिद विमर्षक कामपय से स्पृष्ट करते रहे एवंविध विमर्षानुगत सम्बन्धमार्गक शरीरमी शास्त्रकार एक काय पदमि है । इसका रण बना हुआ है, यह आज प्रसन्न हो चुका है । एही यह कल्पना से आज स कैचक मारत ही, अशुचि मनुष्यों विरुध का मानकमार्ग अशरणागत मनुष्यों में निमग्न हो रहा है । एही कल से एही उपयोगिता स्पष्ट है । परन्तु में यैवैवाच रक्षी, अधर्म्मा में बचे रहे, धर्म्मा-

को नकल करते वाले कालमान यजूबादिमी मे हम यह विवेचन करीगे कि पवित्रठकनामानुग्रह से उनके सम्पूर्ण धर्म का जो स्वरूप उपस्थित हुआ है नीतिव्यवस्थित, अतएव रचनात्मक मार्ग से सर्वथा बहिष्कृत यह धम्म सम्पुतः मतवाण है दान्तिविचालक सम्प्रदायविशेष है। एतावता ही भारतीय विज्ञानसिद्ध धम्म को भारत से उन्मूल्य उन्मूल्य हो जाना शेष-रुप्या नहीं है। उन्हें यह नहीं मुना वेना चाहिए कि, विद्वत्त आरिष के आचार पर से माण्डवर्ण के धम्मसुद्ध को जानना कर रहे हैं, किन्तु राजनीति के द्वारा से धम्मवाद के सुख स्वयं दान रहे हैं यह आरिषा यह धम्मवाण समदर्शनानुसृत बनता हुआ धम्ममूलक ही है। बिना धम्म को आचार बनाए न तो उनका गुरुधम्मना ही कभी पुष्पित पत्रकित हो सकती, एवं न धर्मबान्धव, अष्टव्य वास्तविक आरिषाचार को ही से सुरक्षित रख सकते।

५३-धम्म, धार आधर्म बशपरिषय—

आरिषावर्गी राष्ट्रीय नेता क्या करते हैं बालू को धारणा निम्न नामसे। आरिष को मुख्य बनाया।। मुष्णाण्डम्।।। परन्तु वेम ?। क्या यह विद्युत् राजनीति-साग विरवमेरी का अनुस्यमी बन सकता है विद्वत्त समस्तुप्रधान शम्भेपात्मक बाह्य व्यवहार से सम्बन्ध है।। धर्मधर्मरक्षार्थ आचारधम्ममे से अपेक्षित शिक्षणय को धर्मदान बाण राजनीति-धम्म में क्या आरिषावाण सुश्रुति रख सकता है।। कभी नहीं। यह तो धर्मसाधना का मूलाधार बनान पर ही सम्भव है। क्योंकि मैत्रा, आरिषा, कठोर, सर्वभूतार्थरुधि, आदि मुख्य धम्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। हमारे राष्ट्रीय नेता दशरुधि से भी ए बार भी भारतीय धम्म लक्ष्य पर दृष्टि बाधन का अनुग्रह कर लेते तो धम्म के प्रति उनकी यह उन्मूल्य न होती। धम्मधर्मधर्मों का निगन्धन करना हुए दान्ति म एवं कलगाय है कि, दशरुधायि का ९ कम्पाणी में ११ कम्पाणी का धम्म के साथ पाणिग्रहण हुआ है। इन ११ पत्नीयों से धम्म के ११ पुत्र उत्पन्न हुए हैं वही धम्म वंश है। वे पत्नीयों धम्मयाः अदा मैत्रा, दया दान्ति बुद्धि, बुद्धि, विद्या उमति, बुद्धि मैत्रा श्रितिया, ही (लग्ना), बुद्धि, इन नामों से प्रसिद्ध हैं (धम्मधम्मगत)। भागवतस्य इन ११ पत्नीयों क धम्मया अदा म श्रुत (लक्ष्य) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। मैत्रा म प्रसाद (आत्मविश्वास) दया से धम्मय दान्ति से मुख्य बुद्धि से धम्मयाय बुद्धि से शम्भ (आत्मविश्वास) विद्या से पाण (धम्मबुद्धियस) उमति म धर्म (आत्मनिर्भरता-स्वावलम्बिता) बुद्धि से अद्य (लक्ष्यव्यति), मैत्रा से लुक्ति श्रितिया (दानरुधि) से लुम ही से प्रच्छुद्ध एवं मूर्ति से नरनारायण्य (नर बीज, बागवत ईश्वर, बोधो का लक्ष्यधम्म) नामक पुत्र उत्पन्न हुए हैं। नर, बागवत को बरि बुधक जाना जाता है तो ११ के लक्ष्य में बौद्ध धम्मया हा जाती है। बुधलायुषी में इनी धम्मवंग का निम्न लिखित शब्दों में लक्ष्यरुध हुआ है—

धदा-लक्ष्मी-श्रुति स्तुति-श्रुति-मैत्रा-तया क्रिया ।
 बुद्धि-न-त्रा-बुध-शान्ति-मिन्ति-संज्ञि-धम्मयादरी ॥
 धम्मयं प्रतिअथाह धम्मों दादाधर्मी धम्म ॥ १ ॥

भद्रा-कामध, श्री-द्वय, नियम श्रुतिरात्मजम् ॥

सन्तोषञ्च तथा तृष्टि, लोभ-पुष्टिरस्यत ॥ २ ॥

मेघा-भुत, क्रिया-द्वय, नय-विना मेव च ॥

पोच बुद्धि, स्तथा लज्जा विनय, वपु-रात्मजम् ॥ ३ ॥

व्यवसाय प्रज्जे वै, ज्ञेय शान्तिरस्यत ।

सुमुखं सिद्धि, येश कीर्तिरित्येते चर्म्मन्वनव ॥ ४ ॥

अधर्मवशा का निरुपय करते हुए शास्त्र ने कहा है—हिंसा अधर्म की फनी है, इसके अनृत (मिथ्याग्रहण) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। निकृति नाम की कन्या उत्पन्न हुई है, इसके गर्भ से मरक, और मय नाम के दो पुत्र (अधर्म के दोहित) उत्पन्न हुए हैं। मरक का विवाह माता से हुआ है, मय का विवाह बेदना से हुआ है। माया से मनुपुत्र उत्पन्न हुआ है, बेदना से कुलपुत्र उत्पन्न हुआ है। मयु से षण्ड व्याधि, शोक वृष्णा क्रोधादि पुत्र उत्पन्न हुए हैं। यही अधर्म का सचित बंशवित्सार है, जो वर्तमान युग में लक्ष्मणा पुष्पित पत्रित हो रहा है। और निरुचयेन यही अधर्मवशा आज वर्तमान राष्ट्रभ्रमना का मूलाधार बनता हुआ हिंसा, मिथ्याग्रहण माया, बेदना व्याधि, शोक वृष्णा, क्रोधादि का उदोदक सिद्ध हो रहा है। (मार्कण्डेयपुराण)। ब्रह्मचर्य, उत्प, उप, दान नियम क्षमा शौच, अस्तेय, अहिंसा सुराति, इन दस ब्रह्मों से मुक्त धर्म ही आत्मसबमूर्ख हृद्ब्रह्मदमन का अरण्य बनता हुआ उस माथीय धर्मवाद का पोषक बनता है जिसमें चर्म्मन्वनव आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले 'अधर्म' को प्रधान बना कर निर्यात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाला विषमदर्शन (प्रकृतिभेदविश्व विभिन्न व्यवहार) पुष्पित फलवित हुआ है। ठीक इसके विपरीत इन्द्रियारामका अस्व, हृदयता उन्मुख अहारविहार, अशुचि, हिंसा, क्रान्ति, हत्यादि कर्म्मों से मुक्त अधर्म ही आत्मब्रह्मावर्णक इन्द्रियप्रवृत्ति का अरण्य बनता हुआ उस पारवार्थ सम्बन्ध का पोषक बन रहा है जिसमें आत्मब्रह्मावर्णक अधर्म बनित विषमदर्शन तथा शरीरानुगत सम्बन्ध (प्रकृतिभेदविश्व अमाहृतिक समानाधिभार) पुष्पित फलवित हो रहे हैं। दोनों सम्बन्धों में से कौन उपादेय है ? इस प्रश्न के निर्णय का मार विश्व पाठकों पर ही छोड़ते हुए इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से यही निवेदन करना चर्म्मन्वनव समझे हैं कि किसी भी धर्म प्रवृत्ति की किंवा सिद्धान्त की उपयोगिता उसके फल से निर्णय होती है। परस्पर में हम एक दूसरे के शत्रु बने रहें, अर्धसिद्ध में निमग्न रहें, व्यक्तियुक्ति में म्येन्मत्त बने रहें और देख करते हुए विभिन्नप्रकृति वाले बन्धुवाक् मनुष्यों को समानाधिभार का पाठ फाते हुए उन्हें स्वबोधानुगत अविचारविश्व विभक्त कर्म्मपथ से व्युत् करते रहें एवंविध विषमदर्शनानुगत, सम्बन्धनप्रमक परिषदीय धर्मवाद एक अधर्म प्रवृत्ति है। इतका फल क्या हुआ ? यह आज प्रत्यक्ष हो चुका है। इसी राष्ट्रभ्रमना से आज न केवल भारत ही, अशुचि समूर्ण विश्व का मानवसमाज अप्रवर्धित लक्ष्य में निमग्न हो रहा है। इसी फल से इसकी उपबोधिता स्पष्ट है। परस्पर में वैश्याव रक्षें, अर्धसिद्ध से बचे रहें, व्यक्ति-

‘ब्रह्म-संयोगान्’ (ब्रै द ५।१२.५) विद्वान्ताजुतार ‘द्रुव’ नामक पनाग्निधर्म के समावेश से बही पानी संभावना में परिणत होता हुआ द्वार (बर्क) बन जाता है, एवं ‘धर्म’ नामक तरलाग्निधर्म के समावेश से बही पानी द्रवमात्र में परिणत हो जाता है। बल में द्रवधर्म विज्ञानदृष्ट्या सांख्यिक (निरव्य) नहीं है अपितु नैमित्तिक है। पनाग्नि पानी को बन बना देता है तरलाग्नि तरल बना देता है। पानी को तरलरूप में परिणत करने वाला तरलाग्नि पानी में अन्तर्व्यामि सम्बन्ध से प्रविष्ट हो रहा है। आत्मसमर्पणसम्बन्ध ही अन्तर्व्यामि सम्बन्ध कहलाता है। तरलाग्नि के तापलक्षण स्वधर्म न बल के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने ताप धर्म को बल के द्रवस्वरूप स्वधर्म में परिणत कर रक्ता है। बही ताप द्रवस्वरूप से बल का स्वधर्म बन रहा है। यही द्रवत्व बल का स्वरूपलक्षण स्वधर्म है। क्योंकि इसी द्रवधर्म की सत्ता में द्रवत्वलक्षण बल की स्वरूपसत्ता है। जिस दिन वह द्रवत्व उत्कृष्ट हो जाता है, उसी क्षण बल का स्वरूप ही उत्कृष्ट हो जाता है। अतएव स्वधर्मरूप इस द्रवत्व को हम बल का स्वरूपकारक स्वधर्म कहने के लिए तय्यार हैं। स्वधर्म कुछ इस बल को चिठी पात्र में रत्न कर हमने इन्वन के संयोग से इसमें आग्नेय ताप का बहिर्गम-सम्बन्ध से प्रवेश करवा। पानी गरम हो गया। यह आग्नेय तापधर्म बलाभित बनता हुआ बल का आभित धर्म लक्षण परधर्म है। इसके आ जाने से पानी का कुछ नन्दा नहीं निकल जाने से पानी का कुछ विगड़ता नहीं। अतएव इसे आग्नेयधर्म कहना अन्वय बनता है। यदि अग्नि संयोग मीत्र कर दिया जाता है, तो आग्नेय तापधर्म प्रकृत बन जाता है। अतएव तापधर्म बल को वायुरूप में परिणत कर उसका स्वरूपनारा कर देता है। इस दशा में आभितधर्मलक्षण यही ताप धर्म के स्वधर्म का स्वरूप-विधातक बनता हुआ अधर्मलक्षण परधर्म बन जाता है। इनप्रकार बहिर्गमसम्बन्ध से प्रविष्ट आग्नेयधर्म गरम धीमा पर पहुँच कर अधर्म बन जाता है। यही परधर्मलक्षण अधर्म स्वधर्म का उच्छेदक बनता हुआ धर्मापदार्थ के स्वरूपनारा का अरण बन जाता है। इस धर्म उत्प-निर्वचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि जिस प्राणायामिक शक्ति के आधार पर बागात्मक (भूतधर्मक) पदार्थों का धर्म स्वरूप प्रतिष्ठित, सुरक्षित रहता है वह धारक शक्तिरूप ही उग पदार्थ का धर्म, जिसे स्वधर्म है। एवं जिसके समावेश से पदार्थधर्मोच्छेदद्वारा धर्मरूपरूप विनष्ट हो जाता है, बही उग पदार्थ के लिए अधर्म जिसे अभाव परधर्म है। जब तक धर्मी पदार्थ स्वधर्म से युक्त है, धर्म पर प्रतिष्ठित है तभी तक उग की स्वरूपसिद्धि है। ताप-प्रकाश सूर्य के धर्म हैं इनके निकल जाने पर सूर्य का कोई स्वरूप नहीं। शीत प्रकाश आकाशानि अन्धधर्म हैं इनके अभाव में अन्धता का कोई स्वरूप नहीं। तत्पद् पदार्थों की तत्त्व विभिन्नप्रकृति के भेद से विभिन्न तत्त्व स्वधर्म ही तत्त्व पदार्थों के धर्म धर्म हैं। इत्यन्तः प्रकृतियोग से एक ही धर्म आगे जा कर अन्धधर्म अन्धधर्म पशुधर्म मानधर्म देवधर्म, गन्धधर्म आदि अनन्त शाला-प्रशालाओं में विभक्त हो जाता है। इसी में वह मी तिरु हो गया कि ‘धर्म किसी के लिए स्वधर्म’ है बही धर्म प्रकृति बाले के लिए अधर्म है। शून्यधर्म अन्धता का बही स्वधर्म है बही शून्यधर्म अग्नि के लिए परधर्म बनाता हुआ अधर्म है। इसी प्रकृति योग के आधार पर धर्माधर्म की व्यवस्था हुई है। यही क्यों, देश-अज्ञ-पात्र-द्रव्य भेदा के कारण से बही धर्म परिधिपरिधिपथ में अधर्म बन जाता है बही अधर्म धर्म बन जाता है। निरपराध का मारना अधर्म है तापराध आठवाही को मार देना धर्म है। बही हिंसा एक रथान पर अधर्म बन रही है अन्ध बही धर्म बन रही है। ईर्ष्यादि तो धर्म का धर्म नियत लक्षण नहीं दिया जा सकता। देश-अज्ञान की

अनुकूल से चर्म का स्वयं तात्कालिक बन कर ही हमारे समुच्च उपस्थित होता है। इसी आधार पर आगे आकर चर्म से-देशचर्म, जातिचर्म, कुलचर्म आदि अनेक किरतें हो जाते हैं। इसी आधार पर चर्मविद्यार्थी में चर्म का निम्न लिखित यौगिक लक्षण किया है—

देशे कञ्च उपायनं द्रव्यं भद्रासमन्वितम् ।

प्राप्ते प्रदीयते यत्तु सकलं चर्मसङ्घट्टम् ॥

—या सू० १।६।

यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहार कुलस्थिति ।

तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥

—या० सू० आ० रा ३४३।

यह ही अथवा पेतन पशु को अथवा मनुष्य, देवता ही अथवा श्रुति बिलकी जैसी प्रकृति है, जिसका जैसा वर्ण है वहाँ-नुगत उस प्रकृतिक चर्म की स्वस्वरक्षापूर्वक को धारक तत्व उस अदृश्य की स्वस्वरक्षा करता है वही उस अदृश्य का चर्म है। इसमें प्रतिक्रियित अन्तर्धामी ही प्रकृतिगत है। वही प्रकृति उस अदृश्य को निरवयवपानुगामी बनाए रखती है। अतएव इस प्रकृति को नियमितकृत्य कहा गया है। यही निरवयव अथवा चर्म तत्व है (वेदिए रात वा १४।१।१२।) जिसका वर्णवर्णवृत्ति के निबन्धन के लिए ब्रह्म की ओर से प्रागुक्त हुआ है। यही वह स्नातन तत्व है, जिसका मौखिक विज्ञान से सुशिक्षित (वेदशास्त्र) में निरूपित हुआ है एवं स्वस्वार्थ्य आदेश स्तुतिगत में उद्युत हुए हैं। वेद कि गीताभूमिषु 'अ' विभाग के आर्षबन्ध प्रकृत्य में विस्तार से लक्ष्य का हुआ है। प्रकृतिगत के आधार पर सुशिक्षित यही वैज्ञानिक चर्ममेव भारतीय स्नातनचर्म की मूलप्रकृति है। वैज्ञानिक विभिन्न चर्म पर ही स्वस्वार्थ्य को अन्तुतन का अनुगामी बनाता हुआ इसे नि-भेद्यप्रकृतक बनाया है। इसी आधार पर महर्षि कणाद ने चर्म का लक्षण किया है—

'यतोऽभ्युदय-नि-भेद्यसिद्धिः स चर्मः' ।

—वैज्ञानिक दर्शन १।१२।

३६—चर्मदेशविप्रतिपत्ति, और तद्विचारकरणा—

यह लक्षण चर्म प्रकृतिक है तो इसके लिए आदेश को आवश्यक नहीं हुई। पशु, पक्षी, श्रुति देवता गन्धर्व, तमी से प्राकृतिक चर्मों में त्रिना कितो को प्रस्था के ही आकृष्ट है। मनुष्य भी वह प्राकृतिक लक्ष्य है तो उसके लिए शास्त्राचार्य कभी आवश्यक माना गया है, वह प्रथम उपस्थित होता है। जिसका उपायान है—मनुष्य का स्वाभाविक अदृश्य अथवा अदृश्य अदृश्य ही इच्छा योनि करता है। अदृश्य अथवा चर्म से स्वस्वार्थ्य बन्धित है। अतएव मानवको 'अदृश्य' का माना गया है। इसी प्राकृतिक अदृश्य के अर्थ मनुष्य प्रकृतिक बना हुआ अपने स्वाभाविक मानवचर्म से लक्षित हो जाता है। वेद कि निम्न लिखित वृत्ति से भी प्रमाणित है—

ॐ अमेज्यो वै पुंसो यद्वृत्तं बद्धति । तेन पूतिरन्तरत्तः । (राव० १।१।१।१।)

सत्यमेव वेद्यं, अद्वैतं मनुष्याः (श्व० १।१।१।१।) ।

“ता इमा प्रजा-शयैवोपजीवन्ति-यथैवाम्य” प्रजापतिर्व्यदधात् । नैव देवा अति
क्रामन्ति, न पितरः, न पशव । मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति” ।

—रात० भा० २।४।२।५, ६ ।

अतएव अत्युच्चतम मानवगुणम प्रहापराय से होने वाले इस मर्यादातिक्रमण के निरोध के लिए ही इसके लिए शास्त्रोपदेश अपेक्षित हुआ । कैसा शास्त्रोपदेश ? जिस के प्रवर्तक वे आप्तमहर्षि वे हिन्दीमें इन्द्रियार्थित गुणतम प्राकृतिक रहस्यों का साक्षात्कार किया एवं उसी के आधार पर मानवधर्मात्मक प्राकृतिक नियमोपनिबन्धी का शब्दरूप से सम्पादन किया । अग्निप्रतिष्ठ, विधि-नियममय बड़ी धम्म शब्द राशि अनुशासनधर्म के सम्बन्ध से-शास्त्र कहलाया जिसका निर्बचन गी भू प्रथमलघुवर्णनार्थ ‘शास्त्र शब्दनिबचन प्रकरण में किया जा चुका है । बड़ी शास्त्र मानव कर्तव्य-अकृतव्य का अन्वयतम तथा निरन्तर नियामक माना गया, जिसके सम्बन्ध में स्वयं गीतानाम्य श्री-‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाद्य ते काप्यर्था काप्यर्थव्यवस्थितौ’ यही सम्मति प्राप्त हुई है । शास्त्र्य-भुक्ति-स्मृति-पुराण-नैक्यों में प्रतिपादित, एतन्ना-स्त्रनिष्ठाया सञ्चिदानों के द्वारा अनुष्ठित प्रकृतिविद् मानव-धर्मकलाप ही धम्म है जिसके अनुगमन में मानव की स्वरूप-रक्षा है । जिसके परिष्कार के मानव का स्वरूपविनाश है । यही भारतीय वैज्ञानिक धर्म का संक्षिप्ततन्त्र परिरचय है जिसका यथावत् वाप प्राप्त करने के अनन्तर कोई भी इसकी उपवागित्य का विरोध नहीं कर सकता । इन धम्म-परिभाषा का अन्वय कर लेने पर हमारे नबसिद्धित भारतीयों को यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि धम्म केवल पारलौकिक निर्भयस का ही धारक नहीं है, अपितु ‘तत्रा देहलौकिक अन्वय के साथ भी बनिष्ठा सम्भव है । हमारे ऐहिक, आधुनिक, यन्त्रवाचक धम्म कलापों का साक्ष्य धर्मानुगमन पर ही सम्भव है । धर्मानुगत धम्म ही गीतापरिभाषा में अर्कधम्म है शेष धम्म विषय धम्म विधर्म अर्कधर्म बनते हुए अत्य-शरित-पतन के ही कारण हैं-‘तस्माद्धर्म परमं यदन्ति’ ।

५७-विज्ञानसिद्ध धर्म के अन्वय मे-—

यौ ता विज्ञानसिद्ध इव धम्म के अन्वय मे हैं परन्तु बुद्धिभुक्त प्राशिक्षण की दृष्टि से हमका कश्चित् संख्याओं से भी बिरलोग्य किन्ना जा सकता है । निरन्तर एत तपो-गन लक्षण विद्यासमुच्चित प्रवृत्तिधर्म का अनुगमन करते रहना अत्यन्त वाच्यपूर्ण वेगति लक्ष्यस्त्रा में रत रहना निरन्तर विभूतुजन-स्मृति का अनुगामी बने रहना य सब इवधम्म हैं तनुगामी मनुष्य भूतव है । अतुपराधम से धम लेना मरुता को आधार बनाए रहना बुद्धभाषार में निष्क रहना विद्युद नीतिमार्ग का अनुगमन करना ये सब इवधम्म हैं तनुगामी मनुष्य इत्य है । ज्ञानबोध में रत रहना, ब्रह्मविज्ञान का अनुगमन करना इत्यादि-सिद्धधम्म हैं तनुगामी मनुष्य सिद्ध है । इत्य गीत-बाध-में रत रहना अस्मृती की उपासना करना ये सब गान्धधधम्म हैं तनुगामी मनुष्य गम्भय है । माहस के काप्यों में प्रवृत्त रहना, विज्ञानतन्त्रा नुगमन करना अण्डरमा की उपासना करना ये सब विद्याधधधम्म हैं तनुगामी मनुष्य विद्याधर है । वाक्पि शिख-धमाओं में निपुण बने रहना गान्धधधधधध धन रहना, शिष्योपसना में रत रहना, ये

एव कर्मसुखधर्मः ई तदनुगामी मनुष्य किमुसुख ई । अन्नचष्य, मानवहित्य, योग्यात्मावृत्ति, सर्वत्रकाम-
 चारित्य, ये एव पुरुषधर्मः ई तदनुगामी मनुष्य पितर ई । अन्नचर्म निवृत्त आहारविहार, अन्नक वन
 गरिमा निम्नोपनिषम मेकन इत्यादि व्यापधर्म ई, तदनुगामी मनुष्य अपि ई । शास्त्रस्वाध्याय अन्नचर्म,
 एव अन्न अन्नपरंथ अनायास शीघ्र माङ्गल्य शिष्य-राक्षसुपाकन इत्यादि मानवधर्म ई, तदनुगामी
 मनुष्य मानव ई । अन्नवद्वय, वेद्विषय मोग स्वाध्याय शिष्यरूढन अन्नहार, अगौच इत्यादि गुणधर्म
 ई तदनुगामी मनुष्य गुणक ई । परदारगमन परबनशास्त्रज्ञ, अन्नवद्वेतादनादि धर्म राक्षसधर्म ई
 तदनुगामी मनुष्य राक्षस ई । परदारगमन अविषेय्य, मद्य-मसृडेकन अज्ञान अपवित्रता, अन्नवमात्र
 इत्यादि पैराधर्म ई तदनुगामी मनुष्य पिशाच ई । सुखेयी नामक राक्षन के प्रन करने पर महर्षिनी
 ने इन्हीं द्वारा धर्मबानिनी का निरलोपण किया है ।

सुखेशिरुवाच—किं लघुशो मधुधर्मः, किमाचरयासतृक्षिया ।

यमाश्रित्य न सीदन्ति ठवाद्यास्तु, तदुच्यताम् ! ॥

श्रुपय ऊचु —योनपस्तु श्वादेशीता सहधम्मारच राषस ! ।

अज्ञया कथिताः पुण्या श्वादेशीव गतिप्रदा ॥

—बामनपुराण ११ अध्याय ।

५८—माकृतिक-धर्मस्वरूपपरिचय—

देव, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, किमुसुख, पितर, श्रुति गुणक राजन, पिशाच, वे म्परह
 मुनसिद्ध देवयोनिवा ई । अन्न ईश्वरराष्टर में अन्वेषण आकाश ई । मनुष्य में इन त्वायी का अन्वेषण
 हुआ ई । किन्तु मनुष्य में किन्तु प्राकृतिक देव-दैत्यादि का प्राबल्य अन्वयः यथा ई, अन्वेषणानुगत धर्म
 की ओर ही अभिमुख रहता है । इसी आधार पर देवपुत्रा में मानवधर्म में ही उक्त वाक्य में शिषिमय मे ।
 तब यही है कि, मनुष्य तदन्वेषणधर्मों का अनुगमन करण हुआ अपने अन्वेषण तदन्वेषण धर्मों से मुक्त
 कर लया है । इन द्वारा धर्म योनिषी में मानवधर्मानुगत मानवधर्म इच्छित सन्निधय महत्व पूर्व
 पाना आस्य कि, इन्में ईश्वरान्त्व सर्वधर्मों का अन्वेषण हो रहा है जो 'सर्वधर्मोपपत्तेय' सिद्धान्त ईश्वर
 के लिए प्रकृत हुआ है अन्वेषण पुत्र के लिए भी परित हुआ है । इसी आधार पर 'पुरुषो इ मे
 मन्वत्पतेर्नैविष्ठम' यह निम्न प्रतिष्ठित हुआ है । मनुष्य अपने मे उन्नतभूमिका में पहुँच कर देवता बन
 लया है । निम्न भूमिका में पहुँच कर नहीं लया, पिशाचधर्म का अनुगमनी बन लया है । किन्तु
 के धर्म का अन्वेषण करण यह उन्ही रूप में परिणत हो आस्य । क्योंकि पुत्र के अन्वेषण का अन्वेषण
 कोई रूप नहीं है । अन्वेषण अन्वेषण के अनुगम ही अन्वेषण ही परिणत हो जाना प्रकृत है । 'अन्वेषणयोऽप्युक्तो
 वा पच्छुः स एव सः—'तं यमापयोपासने तथैव मधुधर्म' इत्यादि श्रौत-स्मृत सिद्धान्तों के अनुगम
 अन्वेषणानुगत अन्वेषण ही इन्के धर्म की आकाशिता अन्वेषण है । यही अन्वेषण है कि, अन्वेषण के अन्वेषण-

अर्थों के स्वरूप में परिणत हो जाने में आत्र हम भारतीयों की अदा स्वयम् म विमुक्त होती जा रही है एवं परब्रह्म का अनुगमन करती जा रही है। स्वयं भारतीयों की इष्टि में उनका वेदस्थित ज्ञातन-धम्म आत्र अमर्त्य बना हुआ है एवं मतवादलक्षण परब्रह्म इनकी दृष्टि में अर्थात् बनता जा रहा है। यह ध्यानाहं ठगी हूँ लक्ष्मा है, जब कि हम भारतीय उच्च मानवधम्म का दार्शनिक स्वरूपपरिचय प्राप्त करें बिल्की समाधानकारक आनुवंशिकधम्म तथा व्यक्त्युपभारक आत्मधम्म पुणित पन्सलित हुए हैं। काममादा दृष्टा से रही कामना करते हुए धम्मस्वरूपपरिचय उपरत हो रहा है * ।

आर्षविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित धम्म नाम की विद्याबुद्धि से युक्त 'धम्मबुद्धियोग' नामक योग ही गीतार्यात्र में 'निष्कामकर्मयोग' नाम से व्यक्तित हुआ है। इस दृष्टि से गीता का 'धम्म योगशास्त्र' कहा जासकता है। 'अदा जातकता है' इस आचार्य्य वाक्य का प्रयोग 'तु सिष्ट किया कारण है कि निष्काम-धम्म योग गीतार्यात्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। मुख्य प्रतिपाद्य विषय है-आर्षविद्या का आधार पर प्रतिष्ठित वैराग्य नामकी विद्याबुद्धि से युक्त 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक योग, जो गीतार्यात्र में 'बुद्धियोग'- 'योग' - 'समस्वयोग' इत्यादि नामों से व्यक्तित हुआ है। और इस दृष्टि से गीतार्यात्र को प्रभावत 'बुद्धि-योगशास्त्र' करना ही सर्वात्मना सुमहत्त बनता है। ऐसी स्थिति में त्रिन आर्षवीन (सिक्तक) गीतार्यात्रयाताओं ने गीतार्यात्र को एकद्वैलका जो 'धम्म योगशास्त्र' नाम से व्यक्तित कर दिया है वह उनका आधातयमशीम' अतएव धम्मस्य सिद्धान्त ही माना जाक्या। इसी धम्मस्य सिद्धान्त का प्रभावता देते हुए आत्र सर्वथापार्य्य के मुख से, विरोधत. गीतार्यात्र राष्ट्रीय दल के अीमुख से यह करते सुना गया है-कि, गीता केवल निष्काम-धम्म का उपदेश दे रही है। अत्र से दृष्टि पर्यन्त गीता में मुख्यरूप से केवल निष्कामकर्मयोग का ही प्रतिपादन हुआ है। ध्यान्य का पम्बवअन बड़ी छान्द नहीं होजाता। अतितु जब हम उन निष्कामकर्म-पञ्चातिशों की ओर से उपस्थित की गई धम्म परिमाया पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें आश्चर्य्यवकित हत-सिष्ट यद जाना पड्या है कि अत्र गीतार्यात्र को आधार बना कर वे अपने धम्म वाद का स्वरूप सामान्य प्रथा के समुच्च उपस्थित करने के लिए आगी बढ़ते हैं उत कश्चित धम्म वाद का गीतार्यात्र में एक शब्द से

इ उक्त धम्मस्वरूपपरिचय-प्रवृत्त में हमने यवतत्र धम्म को 'प्रकृतिसिद्ध' धम्म' कहा है अिष्टया अर्थ होता है 'प्रकृतधम्म'। प्रकृति जब अपने प्रकृतिकिष्टवित्तषण कारण से परिवर्तनशीला है, तो लक्ष्य प्रकृतधम्म 'शारवतज्ज्ञातन केने हुआ। यह धर्म उपस्थित होता है, बिल्का अयदकबुद्धवर्त्मक सामयिक निरूप में विचार से ज्ञानागत हुआ है। प्रकृत में बही धानकर अयोग्य कर लेना चाहिए कि, धम्म में 'विद्या' स्वरूप प्रवृत्त में हमने आहर-धर-मूला त्रिन परा-अपरा-विद्याओं (निर्वविद्याओं) का दिग्दर्शन करया है प्रकृत धम्म का इन्हीं प्राकृत धरव्यविद्याओं से सम्बन्ध है त्रिम हम निरवधम्म' भी कह सकते हैं। सर्वथापारम्य अर्थपरमा ही इस प्राकृत निरवधम्म' की प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठात्मक बही दधवतप्रधम्म'-'शारवतस्य च धम्मस्य' (गीता) के अनुत्तर शारवत ज्ञातनधम्म' है जो सर्वथा अप्रकृत (पुत्रपरमक) है। इस शारवत धर्मधम्म पर प्रतिष्ठित निरवधम्म' ही प्राकृतधम्म' है त्रिसे 'प्रतीकधम्म' माना गया है। धम्म-धर्मांगुत वह प्रकृतिधम्म भी धारमस्वरूप का संवादक बन जाता है। पठावता ही विभिन्न प्रथाकान्त हम प्राकृतधम्म को भी (प्रतीकधम्म' को भी) 'शारवत ज्ञातनधम्म' उपाधि से सम्बन्धित मान लिया है। इस व्यक्त्येद-दृष्टि को लक्ष्य बना कर ही अत्र निरूपित 'धम्म' स्वरूप का सम्बन्ध करना चाहिए।

यही कही भी समर्पण नहीं हुआ है। भारतीय वैश्वि शास्त्रों में बर्णाश्रमधर्मविरोधी, शिनाचायविहारकुल को उच्छृङ्खल कर्म वाद एकलतः निषिद्ध माना गया है, समस्त तानुगत विषमदर्शनयुक्त, अतएव अश्व-शर्म्य, अतएव विकर्म—अश्रमार्थक जो अशास्त्रीय कर्म एवं पीशाशास्त्र में पड़े पड़े निम्न पाठित हुआ है, निष्कामकर्म—यही गीतासूत्रों की दृष्टि में नि-च-निषिद्ध आशास्त्रीय कर्म वाद ही आज गीता का निष्काम कर्मयोग बना हुआ है। यदि वे शास्त्रविद् गीतासूत्रमत बर्णाश्रमधर्मयुक्त निष्काम वैदिकधर्म को छोड़ कर गीता को निष्कामकर्मप्रधान बोधित करने का अनुग्रह करते तब भी किसी सीमापर्यन्त उन का अपराध सभ्य या परतु बर हम यह देखते हैं कि, गीताके नाम की अनन्तमनित प्रकाशित करते हुए जब वे गीता से एकलतः विषय अपने कल्पित कर्म वाद को ही गीतासूत्रमत मानने—मानवाने की प्रवृत्ता कर रहे हैं तो करना पड़ता है कि अभी वे गीताशब्द के अन्वयार्थ से भी अपरिचित हैं। तब के उद्यमानकर्म से अन्वयार्थको ईशरीय दृष्टि में तब को समानाधिकार प्राप्त है बर्णाश्रमधर्मकल्पा एवं तानुगत अधिष्ठातृशब्द-पृथक्-पृथक् निवृत्त कर्म केवल प्राचीनों की भ्रान्त कल्पना है। इत्यादि भाग्यशाल का अहर्निश विद्यान करने वाले इन यद्गीत निष्कामकर्म योगियों का सम्बन्ध अतएव बर भी विरिध न हुआ—होगा कि, 'निष्कामकर्म योग' का अन्वयार्थ भी क्या है?। यह तो है उनकी प्रशस्तिपति और वैश्व है उन का कर्म योग एव सर्वोपरि गीताशास्त्र का अन्वयार्थ एवैकमप्यनर्थाय ।

५६-निष्कामशब्द की निरर्थकता—

निष्कामशब्द का अर्थ है—किना कामना—इच्छा—के किया गया कर्म। तत्त्वज्ञ से विचार कौचित्य, क्या किना इच्छा के कर्मशक्ति सम्भव है?। इति निष्कामकर्म का सूत्र्य दृष्टिकोण है—'कृतारण्य का लब्धा परिच्छेद्य विच्छेद—'कर्मोपयोगेवाधिकारस्तो मा फलतु कृतान्' इत बचन से ही लब्धीकरण हुआ है। यही आकर 'निष्कामकर्म का शिशाश्लेष अर्थ होता है 'किसी भी फलप्राप्ति की इच्छा न रखते हुए कर्मने करना। शास्त्र कहता है कर्म करने वाला कर्मार्थता ज्ञान—किना—अर्थ—शक्तिमन् है। अतएव—उत्त का स्वभाव 'स वा एष आत्मा पाह्मयः प्राणमयो मनोमयः' इत्यादि औपनिषद् शिशाश्लेष के अनुगत मन—प्राण—बाह—मय है। मनस्वर्ष ज्ञानशक्तिप्रधान है अथर्वर्ष शिशाश्लेषप्रधान है एव वाक्पूर्व अर्थशक्ति-प्रधान है। इतके इन तीनों पदों से कर्मण अन्त तत्र अय इत तीन विभिन्न स्वरूपों की प्रवृत्ति होती है। ज्ञानमय मन से विद्या मनोमय ज्ञान से लब्धप्रथम 'इह कुर्मि, इह मे स्वात् इत्याकारक 'अम (कामना—इच्छा) का उद्भव होता है। अतएव शिष्य केर ने कहा है—'अमस्तद्धमे समवर्त्तताधि मनसा रेत' प्रथमं कदासीन् (अध्वर्ष २।१२९।७)। कामना मन का ही रेत है एवं प्रत्येक कर्मप्रवृत्ति से पहिले इतका उदित होना अनिवार्य है। कौलिक—पारलौकिक—व्य—अल—अर्थ—म मी कर्म हो प्रत्येक के मूल में मनोमयी कामना प्रतिक्रिय है। इत कामनाशक्ति का उद्भव का मूल कारण है—'अज्ञाता। यदि हमें यह बोध हो जाय अथवा तो बोध करा विद्या ज्ञाय कि अमुक कर्म करने से कर्म फल नहीं मिलेगा तो वह प्रवृत्त है कि, उत कर्म में हमारी प्रवृत्ति ही न होगी। प्रवाजानमनुशिरव न मन्येऽपि प्रवर्त्तते' इत कौलिक न्याय के अनुसार किना प्रबोधन—फल का लक्षण बनाए एक अर्थ भी किसी काम में हाय नहीं आता। मुत्र से 'निष्काम शब्द का उच्चारणमात्र कर देने की कथा तो बूली है। नही, तो हम पूर्ववृत्ते हैं क्या निरव का बने से क्या निदान् मेवा अपने हृदय पर हाय रण

व्येष्ट्य कर्म में प्रवृत्त हो जाओ। अग्नि तु ठीक इसके विपरीत बुद्धकर्म के लिए अज्ञान को प्रेरित करते हुए मगवान् ने यही कहा है कि—'तुम्हें अपरम इत अधिकबलशालित इत बुद्धकर्म में इतलिए प्रवृत्त बना आदिए कि, इस बुद्धकर्म में तेरा दोनों मति लाभ है। मर गया तो स्वर्ग मिलेगा और मरना तो स्वर्गमय मुक्त का उपमोक्ष करेगा—'इतो या प्राप्स्यसि स्वर्गं, मित्वा या भोक्ष्यसे महीम्' (गी १।१०)। इसी बात को धारण कर मगवान् अज्ञान को बुद्ध के लिए लज्ज करत है—'तस्मादुचितं क्रोन्तय ! बुद्धाव कृतनिश्चयः । त्वग, और स्वप्नसुखमयम्,—फलों को उदरेय बना कर अज्ञान को बुद्धकर्म में प्रवृत्त करने वाले मगवान् ने 'कलाया छोड़ते हुए कर्म करो' यह कहाँ अपने जब करे वाला ! कर्म व कर्म उपलब्ध फलप्राप्त में तो हमें कहीं भी ऐसी भगवदुत्त उपलब्ध नहीं हुईं। फिर आपने किंतु आपार पर अपने कसित निष्कामता को मगवान् लज्ज करवाने का तादत करे वाला ! ठहरिए, लज्जक गीता के 'कर्मयोगेवाधिकारस्तं मा फलेषु कदाचन' इस वाक्य में आपका अर्थ में काज दिया है। हमने निष्कामकर्म कारियों का उद्योग गीता के इत वाक्य का उल्लेख करते सुना है। और इतका पर अर्थ भी सुना है कि मगवान् करते हैं 'तुम केवल निष्कामकर्म करो, फल को इच्छा न करो। लज्जकः इही अन्त अर्थ में आपका अन्त निष्कामकर्म करी बना वाला है। पुनः है कि आपने स्वयं गीता का अर्थकन नहीं किया। केवल सुन-सुना कर ही आप गीताकित् बन गए। नहीं, तो उक्त वाक्य के अर्थ में आपको अर्थ न होती। लीखिए, पूरा श्लोक उद्धृत करते हुए आप हम इनके अर्थ से अर्थकन करने वाली अर्थित का निराकरण किए देते हैं। ध्येताम् ! मुक्ता आप्यवार्थताम् !।

कर्मयोगेवाधिकारस्तं मा फलेषु कदाचन ।
 मा कर्मफलहतभूर्ः, मा च सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गीता१।४५)।

६१-कर्म, और कर्मफल-मीमांसा—

"तं कर्मणि पत्र अधिकारः फलेषु कदाचन मा (अधिकारबुद्धिं कुरु, इति शेषः) कर्मफलहेतु मा भूः । तं अकर्मणि सङ्गः—मा (भू-इति शेषः)" इतक-अर्थकन रत्नाक का अर्थकन भी है कि—'तुम कर्म में ही अधिकार है (अर्थकन) फल में कमी अधिकार बुद्धि न कर। (त) कर्म फल का अर्थकन न बन (लाभ ही) तब अर्थकन में लज्ज न हो'। अर्थकन अर्थकन पर उक्ति आदिए। अर्थकन अर्थकन होता रहे, और पानी गहन न हो, यह अर्थकन है। फलतः रहे, और मार्ग न करे यह अर्थकन है। अर्थकन अर्थकन कर्म नहि लज्जक है ही अर्थकन यह फल का अर्थकन करता है। कर्म में कर्म अर्थकन अर्थकन से किंच अर्थकन पर अर्थकन अर्थकन अर्थकन अर्थकन करवा है। इतका अर्थकन 'कर्म और कर्मफल' इन दो अर्थकनों में अर्थकन अर्थकन है। अर्थकन अधिकार का अर्थकन उपरिगत होता है। इन अर्थकन से पूर्वकते है कि, इन दोनों में ही अर्थकन पर आपका अधिकार है। कर्म, और कर्मफल दोनों के अर्थकन का अर्थकन ही है। इही अर्थकन में अर्थकन अर्थकन करते हैं—'तुम कर्म मात्र के अधिकारी हो, फल के प्रति अर्थकन अर्थकन अधिकार नहीं है। अर्थकन अर्थकन है। जो अर्थकन का अर्थकन अर्थकन अर्थकन है वही उक्त अर्थकन का अधिकारी माना गया है। अर्थकन कर्म का अर्थकन अर्थकन है, अर्थकन अर्थकन अर्थकन ही अर्थकन अधिकारी माना का अर्थकन है, माना अर्थकन है। अर्थकन कर्म फल का अर्थकन अर्थकन अर्थकन है। कर्म फल अर्थकन (हम) अर्थकन नहीं करता।

कर्म फल उत्पन्न होता है—'कर्म' से । अतः कर्म को ही कर्म फल का कारण (प्रवृत्तक-जनक) माना जायगा । और ऐसी स्थिति में कर्म को ही कर्म फल का अधिकारी माना जायगा । स्वयं पाचक (रखोहरा) पाकद्रव्यरूप फल (मोक्ष पदार्थ) का कारण नहीं है, अपितु पाचक का पाकद्रव्यसम्पानानुरूप पाककर्म ही पाकद्रव्य का कारण बनता है । छद्ममाया ने—हम स्वयं कर्म फल उत्पन्न नहीं करते, अपितु हमारा सुखपरिचय कर्म ही कर्म फल का जनक बनता है । वह 'कर्मपर्येषाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' बचन से इसी विभक्त अधिकारमर्यादा का विरोधवा दुष्प्रा है । भगवान् यही कहना चाहते हैं कि, दुष्प्राय (कर्म कर्ता का) अधिकार केवल कर्म में है अतएव कर्म फलों के कारण बनने की अनधिकार चेष्टा मत करो । बाघ अभी पूरी स्थिति नहीं हुई । अतएव उत्तरार्ध में भगवान् को कहना पड़ा कि, 'मा कर्मफलहेतुर्मु' । तुम कर्म फल के कारण मत बनो । भगवान् का अभिप्राय यही है कि कर्म फल के हेतु तुम नहीं हो अपितु दुष्प्राय कर्म कर्म फल का हेतु है । कारण—तुम कर्म फल उत्पन्न नहीं करते अपितु दुष्प्राय कर्म से कर्म फल उत्पन्न होता है । वह कर्म फल के तुम कारण हो ही नहीं, तो बल्कि तुम कर्म फल में अधिकाररुद्धि का समावेश क्यों कर रहे हो !

६३—अधिकारानुगत कर्म—

अब वन भगवान् के इस कथन से भ्रान्ति में पड़ कर कर्म की धार से उदासीन हो सकते हैं । वित कर्म फल को ही लक्ष्य बना कर मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, उसे यदि ब्रह्म दिया जाय कि 'तुझारा फल में कोई अधिकार नहीं है तुझारा अधिकार है केवल कर्म में । फल का नाम होना भी तुझारा अप्रयोज्य है', तो अक्षरसमेक वह अत्र मनुष्य अधिकारमर्यादा के तत्त्व से अपरिचित रहता हुआ कर्म की धार से उदासीन बन सकता है । वह वह समझता हुआ कि, 'वित फल के लिए मैं कर्म करने का रहा हूँ, उस फल पर सब मेरा अधिकार ही नहीं है, तो मैं कर्म क्यों ही क्यों !' कर्म छोड़ देता और अकर्म बन बन जायगा जो भगवान् को किसी भी दशा में अभीष्ट नहीं है । इसीलिए अन्त में भगवान् को यह कहना पड़ा कि—'मा से सङ्गोऽस्त्वकर्मस्यि' मिलकर एक वाक्यम् यही है कि—'अधिकारमर्यादा का तत्त्व न समझने के कारण कभी तुम अकर्म में आश्रित न कर बैठना कर्म न छोड़ बैठना । विद्यास रक्ता ! कर्म कभी निरन्तर नहीं जाता । यदि तुम अनन्तनिष्ठा के लक्ष्य कर्म स्वरूपसम्पादन कर लोगे तो अपरश्रमेक उससे फल उत्पन्न होगा । और वह फल तुम्हें ही प्राप्त होगा । तुम फल के अधिकारी नहीं हो, इच्छा वाक्यम् वह न समझे कि, तुम फल से वंचित हो रहे हो । अरे ! कर्म पूरा हो गया तो फल तुझारे लिए ही सुपधित है । हमारा अभिप्राय तो यही है कि, कर्मसुप्रानकर्म में तुम फल की लक्षणा से बच रहो । यह ठीकी सम्भव है, जब कि तुम यह समझते कि, कर्म के कारण हम हैं और फल का कारण कर्म है । इच्छा निश्चित परिणाम यह होगा कि, तुम अनन्तनिष्ठा से कर्म में अक्षरम प्रवृत्त रहोगे, कभी अकर्म में (कर्म परिचाय में) दुष्प्रायी प्रवृत्ति न होगी । चाप ही फल भी बयासम्भव (कर्मस्वरूप परिपाकानन्तर) तुम्हें मिल जायगा । अत अधिकारमर्यादा के इस तत्त्व को न समझ कर कभी तुम्हें अकर्मरुद्धी (कर्मपरिचायी) नहीं बन जाना चाहिए । 'मा से सङ्गोऽस्त्वकर्मस्यि' वाक्य का यही एकपरकार का सामान्य दृष्टिकोण है ।

बने-बसु कर्म में प्रवृत्त हो जाओ। अविद्व ठीक इसके विपरीत बुद्धकर्म के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करते हुए महात्माने यही कहा है कि—‘तुम्हें अचरय इव अचिनकचोचित इव मुद्धकर्म में इतिहास प्रवृत्त होना चाहिए कि, इव मुद्धकर्म में वेग होनेों मॉडि लाभ है। मर गया तो स्वर्ग मिलेगा बंठ गया तो स्वप्नास्प कुल का उपभोग करेगा—‘इतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं विद्या वा भाष्यसे मईम्’ (गी २।१३७)। इसी पक्ष को ध्यान कर महात्मान् अर्जुन को बुद्ध के लिए समझ करते हैं—‘तस्मात्तुचित्तं कौन्तेय ! मुद्धाय कृत्तनिरचयः। स्वर्गं चौर साप्राप्त्यमुत्तोपमोत्तं, कलौ को उदरेय बना कर अर्जुन को मुद्धकर्म में प्रवृत्त करने वाली महात्मान् ने ‘इतथा ह्येकं तु यः कर्म करो यः कर्मा किल्ले क्व च्छे बाला ६, कर्म से कर्म उत्पन्नय पीछारास्त में तो हमें कही मी ऐसी महात्मान् उपलब्ध नहीं हुई। फिर आपने किंतु आचार पर अपने दक्षिण निष्कामवाद को महात्मान्मत्त बटाराने का साहच कर जाता !। ठहरिय, सम्मत्त गीता के ‘कर्मैक्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन इव वाक्य ने आपको भ्रम में डाल दिया है। हमने निष्कामकर्म वाकियों को शठशः गीता के इव वाक्य का उच्चारण करते सुना है। और इच्छा यः अर्थ मी सुना है कि, महात्मान् कहते हैं ‘तुम केवल निष्कामकर्म करो, फल की इच्छा न करो’। सम्मत्तः इसी भ्रान्त अर्थ ने आपको भ्रान्त निष्कामकर्म वाणी बना जाता है। बुद्ध है कि आपने स्वयं पीछा का अभ्यस्त नहीं किया। कैक्य सुन-सुना कर ही आप पीछाछि क्त यः। नहीं तो उक्त वाक्य के सम्भव में आपको भ्रान्ति न होती। तीरिय, पूरा रत्नोत्त उद्धत करते हुए आब हम इसके अर्थ से सम्भव रखने वाली भ्रान्ति का निराकरण किए देते हैं। भूत्याम्। मुस्ता धाप्यवाप्यत्याम् !।

कर्मैक्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भू, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गीता२।४७)।

६१-कर्म, और कर्मफल-मीमांसा—

“ते कर्मणि एव अधिकारः फलेषु कदाचन मा (अधिकारबुद्धिं कुतः, इति शेषः) कर्मफलहेतु मा मू। ते अकर्मणि सङ्गः-मा (मू-इति शेषः) इत्यन्वयस्यैव रत्नोत्त का अद्ययार्थ की है कि-‘तेय कर्म में ही अधिकार है (अथएव) फल में कमी अधिकार बुद्धि न कर। (१) कर्म फल का कारण न बन (छाय ही) तेय अकर्म में सङ्ग न हो। अब तत्सम्भार्य पर इति इतिहास। अचिनकचोचित होता रहे, और पानी गरम न हो, यह असम्भव है। चलते रथ और मार्ग न बन्दे यह असम्भव है। तत्सर्व अमुकुल कर्म यदि उर्वाहीत्य है तो अचरयमेव यह फल का बनक बनता है। कोई भी कर्म अचरयमेवसे से किना जाने पर अचरयमेव उक्तस्य एव उत्पन्न करता है। इत्यधिकार कर्म उत्पन्न ‘कर्म और कर्म फल इन दो बातों में विभक्त रहता है। अब अधिकार का प्रश्न उपस्थित होता है। हम आप से पूछते हैं कि, इन दोनों में से किस पर आपका अधिकार है ?। कर्म और कर्म फल दोनों के बनक क्या आप ही हैं ?। इसी सम्भव में महात्मान् नियंत्रण करते हैं—‘तुम कर्म मात्र के अधिकारी हो, फल के प्रति तुझाय कोई अधिकार नहीं है। वाय बयार्थ है। वा किस कार्य का कारण प्रकृत क होता है, वही उस कार्य का अधिकारी माना गया है। फलत्पन्नक कर्म का कारण कर्मविना है अथएव कर्मविना अचरय ही कर्माधिकारी माना जा सकता है, माना जाया है। परन्तु कर्मफल का कर्मविना कारण नहीं है। कर्म फल कर्मविना (इम) उत्पन्न नहीं करता।

कर्म फल उत्पन्न होता है—'कर्म' से। अतः कर्म को ही कर्म फल का कारण (प्रवर्तक—जनक) माना जायगा। और ऐसी स्थिति में कर्म को ही कर्म फल का अधिकारी माना जायगा। स्वयं पाचक (रसोहया) पाकप्रत्यक्ष फल (मोक्ष प्रदार्थ) का कारण नहीं है अस्तित्व पाचक का पाकप्रत्यक्षत्वावदानरूप पाककर्म ही पाकप्रत्यक्ष का कारण बनता है। उदाहरणार्थ—इस स्वयं कर्म फल उत्पन्न नहीं करते, अग्नि द्वारा मुख्यवरिषत कर्म ही कर्म फल का जनक बनता है। वच 'कर्मैरयेथाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन वचन मे वसी शिम्भु अधिकारमर्त्यादि का निरलोषण हुआ है। भगवान् यही कहना चाहते हैं कि, दुःस्वार्थ (कर्म कर्ता का) अधिकार केवल कर्म में है अतएव कर्म फलों के कारण बनने की अनधिकार जंटा मत करो। बात अमी पूरी स्पष्ट नहीं हुई। अतएव उत्तरार्थ में भगवान् को कहना पड़ा कि 'मा कम्मफलेहेतुम्'। इस कर्म फल के कारण मत बनी। भगवान् का अभिप्राय यही है कि कर्म फल के हेतु इस नहीं हैं, अपितु दुःस्वार्थ कर्म का फल का हेतु है। कारण—इस कर्म फल उत्पन्न यही करते अग्नि दुःस्वार्थ कर्म से कर्म फल उत्पन्न होता है। जब कर्म फल के इस कारण हो ही नहीं, तो नकारात्मक कर्म फल में अधिकारबुद्धि का समावेश क्यों कर रहे हो !

६३—अधिकारलुप्त कर्म—

अब जन भगवान् के इस वचन से भ्रान्ति में पड़ कर कर्म की धार से उदासीन हो सकते हैं। वित्त कर्म फल को ही लक्ष्य बना कर मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, उसे यदि यह दिया जाय कि दुःस्वार्थ फल में कोई अधिकार नहीं है दुःस्वार्थ अधिकार है केवल कर्म में। फल का नाम होना भी दुःस्वार्थ अपराध है, तो अनशयमेव यह अर्थ मनुष्य अधिकारमर्त्यादि के तत्त्व से अपरिचित रहता हुआ कर्म की धार में उदासीन बन सकता है। वह यह समझता हुआ कि 'वित्त फल के लिए मैं कर्म करने जा रहा हूँ, उस फल पर जब मेरा अधिकार ही नहीं है, तो मैं कर्म क्यों ही क्यों !' कर्म छोड़ बैठेगा और अकर्म बच बन जायगा जो भगवान् को किसी भी दशा में अभीष्ट नहीं है। इसीलिए अन्त में भगवान् को यह कहना पड़ा कि—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि, वित्त एक वात्सर्व्यं यही है कि—'अधिकारमर्त्यादि का तत्त्व न समझने के कारण कभी इस अकर्म में आकर्षित न कर बैठना कर्म न छोड़ बैठना। निश्चाय रहना। कर्म कभी निरर्थक नहीं जाता। यदि इस अनन्वयिता के साथ कर्म स्वरूपत्वावदान कर लगे तो अनशयमेव उसके फल उत्पन्न होगा। और वह फल तुम्हें ही प्राप्त होगा। इस फल के अधिकारी नहीं हो, इतना वात्सर्व्य यह न समझ कि, इस फल से वंचित हो रहे हो। अरे ! कर्म पूरा हो गया तो फल दुःस्वार्थे लिए ही सुवर्धित है। इत्यादि अभिप्राय तो यही है कि, कर्मानुष्ठानफल में इस फल की व्यवस्था से बच रहे। यह तभी सम्भव है, जब कि इस वह समझलो कि कर्म के कारण हम हैं और फल का कारण कर्म है। इतना निश्चित परिणाम यह होगा कि इस अनन्वयिता से कर्म में अशरक प्रवृत्त रहो कभी अकर्म में (कर्म परिष्कार में) दुःस्वार्थ प्रवृत्ति न होगी। साथ ही फल भी बचानम्भव (कर्मत्वस्व परिपाकानन्तर) तुम्हें प्राप्त जायगा। अतः अधिकारमर्त्यादि के इस तत्त्व का न समझ कर कभी तुम्हें अकर्मत्वही (कर्मपरिष्कार) नहीं बन जाना चाहिए। मा तं सङ्गोऽस्त्वकर्मणि वाच्यं का यही एकपक्षर का सामान्य दृष्टिकोण है।

६४-‘कम्मएवशाधिकारम्’ का समन्वय—

इस एक बृहत् तात्त्विक दृष्टिकोण से उक्त वाक्य का समन्वय कीजिए। किय कम्म है जिसका गुणमूर्तो के पारलक्ष्य से स्वल्प सम्पन्न हुआ है। गुणात्मक पर क्रियारूप कम्म ही किय और अर्थ में से दो भागों में परिणत होता हुआ ‘कम्म, आर अकम्म’ नाम से व्यञ्जित हुआ है। प्रत्येक मौलिक पदार्थ गुणक्यात्मक है वैशक्ति-‘गुणकृतो कम्म’ से प्रमाणित है। इसी दृष्टिकोण से नास्तिकधार्यन के-‘अयक्रियाधारिस्सं सन् इत मत्तुल्यत्वात् का समन्वय हुआ है। तात्पर्य यही है कि क्रियात्मक ही प्रकृति ही अरम धीमा पर पहुँच कर निष्क्रियमान में परिणत होती हुई अर्थमत्तरूप में प्रकट होती है। निष्क्रिय अर्थ क्रियात्मक कम्म का ही उत्तररूप है। अर्थ का पूर्वरूप क्रियात्मक कम्म है कम्म का पूर्वरूप ज्ञान है। यही ज्ञान ब्रह्मों के योग में कर्म बनाता है यही कर्म क्वचित्ति में अर्थ बनाता है। ‘अयकार प्रकृति के अभाव में एक रूप बना हुआ ज्ञानब्रह्म ही प्रकृति के तात्पर्य से ज्ञानोत्तर ज्ञान प्राणमत्तर कम्म बाह्यमत्तर अर्थ इन तीन विषय भागों में परिणत हो रहा है वैशक्ति ‘अयत्ता उ एक्य सम्नेत्तुं अयम्-‘यत्तं वा इत्तं वि बभूव सवभू’ त्वादि श्रुतियों से प्रमाणित है। ज्ञान कम्म अर्थ दोनों में ज्ञान ही निष्क्रिय बना हुआ ‘अकम्म’ उत्तर है एवं अर्थमत्तर का अर्थ (मौलिक विषय) ही निष्क्रिय बना हुआ ‘अकम्म’ है। ज्ञानात्मक अकम्म उत्तर को अतएव ज्ञानमत्तर म तत्त्वात् अतएव इत्तके अर्थ को तद्धारिणका धारकत्त का अर्थ ही नहीं लक्षण हो गया। अतएव अ-‘मा त मत्तुल्यत्वात्कम्मैस्सि वा अकम्मं ज्ञानात्मक अकम्ममत्तरक से कोई सम्पर्क नहीं गया। ‘कम्ममत्तरकम्म म परयत्त अकम्मैस्सि अ कम्म य इत स्वोके में पठित ‘अकम्म’ शब्द-‘तत्त्वमत्तरस्य सवत्स तदु सवत्स वाक्यः-‘अमत्तरं सूक्ष्मोत्सृजं सूक्ष्मवस्तु आश्रितं इत्थादि श्रुतियों के द्वारा उपस्थापित ज्ञानात्मक अमत्तरक अकम्म मत्तर एवं क्रियात्मक सूक्ष्मवस्तु कम्म, दोनों के अमत्तरकर्मिणाच-सम्पर्क के अमत्तरक से यही ज्ञानमत्तरक अकम्म मत्तर का वाक्य है यही-‘मा त मत्तुल्यत्वात्कम्मैस्सि’ का ‘अकम्म’ शब्द ‘तद् अमत्तरमत्तरात्ता से अभाव्यक अकम्म का ही वाक्य माना जाएगा। क्योंकि अर्थ ही अस्तित्वरूप तद् का वाक्य बनाता है। ‘मा इत्ते ने इन ‘मा वाक्य के ‘अकम्मैस्सि’ का अर्थ ‘फल’ बरती। कम्म’ का क्रियात्वेन कम्म है। इन कम्म में उत्तरक सम्भारण्य पत्र अर्थत्वेन अकम्म है। अतएव अत है इत अकम्म कम्म ज्ञान में अमत्तरक तद् (आश्रित) नहीं होना चाहिए। यही बृहती तात्त्विक दृष्टिकोण है। अर्थ के तद् का तो क्या तात्पर्य। एवं अतएव से हानि क्या हो सकती है, पर विस्तारतः किय किनामा से तद्धारिणकम्मैस्सि का मम्म सम्पर्क में नहीं आ गया अतः दो शब्दों में इत्ता स्वकीकरण भी कर लीजिए।

६५-इच्छा, आर अन्धन-मीमांसा—

इच्छा, कम्म कम्मजनित पत्र और फलामक्ति, इन चार परिधियों में के अन्धन का कारण बीज है, परिधे इसी अन्धन ही मीमांसा कीजिए। ‘इच्छा (आश्रिता) क्या अन्धन का कारण है।। देवने है—‘तच्छा से उत्पन्न शक्ति का निम्नात् अन्धन हुआ ही ‘तद्धारिणत्वात् तद्धारिणत्वात्परिणाम् अन्धन से स्वच्छा से उत्पन्न विरव

ॐ गुणमूर्तैरथयै सभूह कम्मजननाम् ।
 बुद्धया प्रकल्पितामेदं क्रियति व्यपदिश्यते ॥

के गर्भ में रहता हुआ भी सर्वकर्मों अर्थात्पर कल्पन से रहित है। इसी से तब है कि इच्छा कल्पन का कारण नहीं है। वैसी इच्छा !—स्वेच्छा न कि परेच्छा। स्वेच्छा, आर परेच्छा में अहोरात्र का अन्तर है। स्वाभाविक—नियत कर्मों की अनिच्छा ही इच्छा स्वेच्छा कहलाई है इसी को विज्ञानमाया में 'कर्म' कहा गया है। 'कर्म' मुक्त का वाचक है 'अकार' मन का वाचक है। मुक्त में अहोरात्र मन का नाम ही 'काम' है। 'क-अ-म-का' के लयान्वय से ही 'काम' शब्द निष्पन्न हुआ है। विलक्षण अर्थ है—'मुक्त, मन मुक्त विषयानुगत मन तमी मुक्ती-शान्त रह उच्छा है जबकि विषय उच्छी इच्छा के आधीन बने रहते हैं। विषय ही मन का अन्न है। इस अन्न पर अपना प्रभुत्व रखने वाला विषयों को दास बनाए रखन वाला मन ही मुक्तानुशापी बनता हुआ 'काम' है, यही इच्छा अकल्पनरूप है। यही कामात्मिक इच्छा स्वेच्छा है। ईश्वर इस कामात्मिक इच्छा को मूल बना कर कर्म में प्रवृत्त होता है। अतएव यह स्वयं विषयों पर अपना प्रभुत्व रखता है विषय उच्छे दास बने रहत हैं। ऐसा स्वाभाविक अन्न कामभाव रहता हुआ भी कल्पन से विमुक्त है। अतएव गीतापरिभाषा में ऐसा स्वेच्छात्मक कामभाव 'निष्कामभाव' कहालाया है। निष्कामभावार्थिक इच्छा ही अन्न, अमना स्वेच्छा, आन्तेच्छा, ईश्वरेच्छा, इत्यादि नामों से व्यञ्जित हुई है।

पृथगी है—'परेच्छा'। आत्मा स्व है, पराविषय 'पर' है। विषयों के अविचार से अचिह्नत यही स्वेच्छा (अस्वेच्छा) पर विषयानुगत बनती हुई 'परेच्छा' बन जाती है। परेच्छात्मिक यही विषयेच्छा काम न कहला कर केवल 'इच्छा' शब्द से इतलिय उन्मोहित हुए हैं कि, इच्छे कर्मक मन विषयों को अपना दास नहीं बनाए रहता अन्ति स्वयं अकारणक विषयों का (मोक्ष का) दास बन कर अपना स्वाभाविक ज्ञानरूप आत्मविचार का हत कर लेता है और यही विषयदास बने हुए मन की मुत्ताकथा है अत्रिभ्य'इच्छा'शब्द से अग्निप हुआ है। मोक्ष विषय अकारणक होने से 'इच्छे' है तत्र मुक्त मन ही 'इच्छे-अन्नं तत्र शोते मन' निर्बन्धन से इच्छात्मक है। विषयदासता में मन की स्वाभाविक शान्ति का इतलिय उच्छे' हा माता है कि विषय अन्नत्व है। अन्नत्व विषयों के कारण मन की बुद्धियोगानुगत एकतामननवृत्ति का निरोध हो जाता है। इच्छा अतुलात्म से मन मञ्ज हो पड़ता है। यह वास्तव ही कामकामी (इच्छाकरवर्ती) मन की अशान्ति का कारण बन जाता है—'स शान्तिमान्जाति, का-निष्कामः, इच्छापीनस्तु कामकामी न शान्तिमान्जाति'—('स शान्तिमान्जाति न कामकामी' (गी २।२।)। यही इच्छा परेच्छा, विषयच्छा धीवेच्छा आदि नामों से व्यञ्जित हुई है। तत्पर्यन्त-किमवद्यवर्तिनी इच्छा च्छा है, एवं यह विषयावर्तिप्रवर्तिध बनती हुई कल्पन का कारण है। मनोकारवर्तिनी इच्छा अन्न है यही निष्कामभाव है एवं यह विषयावर्तिनिवर्तिका बनती हुई अकल्पना है।

अभी विषय सर्वभ्रमना स्पष्ट नहीं हुआ। इच्छादपी के स्वयंकरण के लिए सुवर्ण्य दार्शनिक-शब्दही की और पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दर्शन में 'उचितताकांक्षा और उच्छावाकांक्षा, य दो शब्द उच्छ दो स्वेच्छा परेच्छाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अपने ध्यान उच्छी हुई इच्छा उचितताकांक्षा है यही स्वेच्छा आत्मवेच्छा किंवा कल्पननिवर्तिका ईश्वरेच्छा है। इस इच्छा का उद्भव ठा कपि मन ने ही होता है। परन्तु यह मन बुद्धि का दास बना रहता है। बुद्धिदास मन अतएव—और वेबोलाबुद्ध बुद्धितत्त्व का अतएव अन्न से आकन्त रहता हुआ अपने स्वाभाविक अन्न—आन्न—स्नेहात्मक अन्न से अभिभूत रहता है।

है। अज्ञाहरण के लिए—हिंसात्मक वपकर्म में नियुक्त वषिक के वष कर्म की इच्छाएँ निम्ना नहीं होती कि इस कर्म में वषिक की इच्छा का समावेश नहीं है अपितु लोचकनाचल्य शालक की इच्छा से प्राप्त अपिचारमर्यादा के पालन के लिए वह वपकर्म में प्रवृत्त होता है। 'केनापि वेयेन इदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मिं सथा करोमि' ही अपिचारकर्म की म्याख्या है। इच्छा उसकी निमित्तमान हम, फिर कथन क्या ! 'निमित्तमात्रं मय सप्यस्तास्त्विन्' से भी इसी अकथन युक्तकर्म का समर्थन हुआ है। अपिचारकर्म क्या ईश्वरवेद्या (उत्पिताकाचा-अमना) मूलक बनते हुए निष्कामकर्म है और ये अकथन है। ये ही गीतापरिभाषा में 'सककर्म' कहलाए हैं, बिनके लिए भगवान् ने—'सहस्रं कर्म क्रोस्तेय ! सद्योपमपि न त्यजत्' यह व्यवस्था की है। बीवेभ्या—(उत्पाय्याकाचा)—मूलक, अतएव व्यक्तित्वार्थागत, कर्म काममय बनते हुए सक्रमकर्म है, एवं ये अकथन है। 'अमन्यातां कर्मयोगा म्यासं, संम्यासं कवयो धिदु से इधी के परित्याग का आदेश हुआ है। तात्पर्य—ईश्वरवेद्यासहस्र कर्म अकथन है, तथा बीवेभ्या सहस्र कर्म आसक्ति के द्वारा अकथन है।

६७—फल, और बन्धन—मीमांसा—

क्या फलों से बन्धन होता है ?, प्ररन के समोपान से पहिले फल के स्वरूप का अन्वेषण कीजिए। ईश्वर ने कर्म किया इस कर्म से फल उत्पन्न हुआ वही ईश्वर का अन्तर्बल्य कहाला। 'संस्कार' का ही नाम अन्तर्बल्य है। अन्तर्बल्य ही कर्म बनित फल है। संस्कारव्यवर्क बीवात्मा को उद्भव बना कर अन्त बल्य के स्वरूप का विरलोपण कीजिए। 'सहस्रसाहस्रानुं' के अनुकार 'अहं'—शब्दाध्य बीवात्मा ज्ञानसहस्र अष्टात्मक अ एवं कर्मसहस्र मूलरूप अहं, दोनों की समष्टि है। अपनी ज्ञानशला से बीवात्मा जानख है कर्मकला से कर्म करता है। जानाति, करोति इन दो व्यापारों पर ही बीव का पुष्पार्थ विभान्त है। इन दोनों कलाओं के व्यापार से बीवात्मा पर (बीवामिभ प्रधानमनोपराठल पर) माधना वाचना नामक दो प्रकार के संस्कार लक्षित होते रहते हैं। हम कुछ कर नहीं रहे, पुष्पपाप बैठे हैं परन्तु अपने बीवबल्य में केवल ज्ञान के सहारे नवीन नवीन कल्पनारों करते रहते हैं। वही ज्ञानी व्यापार है। इसके जो ज्ञानात्मक संस्कार उत्पन्न होता है, वही ज्ञानशला है। वही ज्ञानबनित संस्कार 'माधना' कहलाया है। इसी प्रकार कर्म करने से जो मन पर एक प्रकार का अतिशय प्रतिक्रिष्ट हो जाता है वही कर्मबनित फल है वही 'वाचना संस्कार' कहलाया है। माधना, वाचना-संस्कार ज्ञानीय, कर्मात्मक नियमवैध से अशक्य हैं। इन अशक्य, उभबविध संस्कारों की राशि ही हमारा अन्तर्बल्य है। वही हमारे जीवन की मूलप्रक्रिया है। संस्कारों के उन्मूलन से बीव मुक्त हो जाता है। हम अपनी आसों से बिन सूर्य—पन्द्र—पशु—परवादि विषयों को देखते हैं रचना से बिन खादों का अनुभव करते हैं प्राण से बिन गर्भों का आग्राय करते हैं मनसे बिन विषयों का मनन करते हैं इन्द्रियानुभूत उन सब विषयों का हमारे सांस्कारिक अन्तर्बल्य से ही अकथ है। हम हमारे ज्ञानकर्म से ईश्वरीय अन्तर्बल्य (बीवावेद्या वही संस्कार) के आचार पर इन्द्रियों के द्वारा निर्मित अपने सांस्कारिक अन्तर्बल्य का ही ऐश्वर्यक अनुभव करते हैं। विरवाध कीजिए। जो सूर्य हम देखते हैं, वह हमारा बनाया हुआ सांस्कारिक सूर्य है। प्रकृतिसिद्ध सूर्यबन्दादि के आचार पर हमारे मानव परल पर सांस्कारिक पन्द्र सूर्यादि का सांस्कारिक निर्माण होता है। तत्कालक वेदवितान से वह वृत्ती भी हमारे अन्तर्बल्य में ही उत्पन्न हो जाती है। अतएव मान ऐसा होने लगता है मानो हम सूर्य

को आकाश में कियूर देल रहे हैं। वस्तुतः यह वृत्ति, यह दृष्टि सत्य हमारे अन्तर्बन्ध में ही प्रतिष्ठित है। यही ऐतिहासिक किंवदंती के सम्बन्ध में बतित है। महातिथि ईश्वरीय सूर्य को भूमिपट से भी नहीं छुड़सुगुणित वृहत्कर्म है। उसे हम कैसे देखते हैं? एक बात और—महातिथि स्वर्गादि फार्प ईश्वर के आत्मिक अन्तर्बन्ध-अवस्था पर प्रतिष्ठित है। सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च ईश्वर का अन्तर्बन्ध है। वह एक जीव सत्य जीव के भी अन्तर्बन्ध को नहीं देख सकता तो वह ईश्वरीय अन्तर्बन्ध का वास्तव्य कैसे कर सकता है? अन्व-व्यक्ति अत्युक्त समय क्या कल्पना कर रहा है उसमें कौन कौन सार्वकारिक ज्ञान-कर्म (मानना-वासना) प्रतिष्ठित है? यह वृत्त्य व्यक्त नहीं बान करता। इसी आचार पर वैज्ञानिकों ने यह रिपर किया है कि, प्रत्येक आत्मा स्व-स्व अन्तर्बन्ध का ही दृष्टा है। एवं प्रत्येक का अन्तर्बन्ध उसके प्रातिरिक्त ज्ञानकर्म से ही सम्पन्न हुआ है जो सम्पन्न रूप मानना-वासना-संस्कारात्मक है।

उक्त स्थिति का ईश्वरीय कर्म के साथ समतुलन कीजिए। तत्प्राप्त सूर्य-चन्द्रादि युक्त पात्रमौलिक महाकिरण ईश्वरीय ज्ञानकर्म से समुत्पन्न ईश्वरीय अन्तर्बन्ध है। यह निरव ही ईश्वरीय कर्म से उत्पन्न वह फल है जो अन्तर्बन्ध रूप से सदा ईश्वरीय ज्ञानकर्मोपर पर प्रतिष्ठित रहता है। इत्यन्तर ईश्वर स्व ज्ञान कर्म बतित विरहकर्म फल से नित्य युक्त है। देखते हैं—विश्वारम्भक फल से नित्य-युक्त रहता हुआ भी ईश्वर अन्तर्बन्ध मूला-निष्काममावाहिका कामना के सम्बन्ध से फल में आच्छेद नहीं है। अतएव यह फल रहता हुआ भी ईश्वरस्वात्म्य पर आक्रमण नहीं कर रहा। ठीक इत्यन्तर को जीवात्मा अपने ज्ञान-कर्म-स्वपर का मूल ईश्वरव्यक्त बना लेता है उक्त जीवात्मा के ईश्वरव्यक्त अन्तर्बन्ध ज्ञानकर्म से समुत्पन्न फलात्मक मानना-वासनासंस्कारसंभ्रम अन्तर्बन्ध जीवस्वात्म्य पर आक्रमण नहीं कर सकता। यदि जीव अपनी आत्मिकमूला उपपायाकांक्षा को मूल बना कर कर्मफल उत्पन्न करता है तो इत फल के प्रति उसकी आक्रमणव्यक्त आच्छेद हो जाती है। और इच्छा (जीवव्यक्तुत्पत्त) ज्ञानकर्म से उत्पन्न पैदा सार्वकारिक फल आक्रमणव्यक्त जीवस्वात्म्य का विधात्मक बन बाधा है।

६८—फलात्मिक, और बन्धन-मोमांसा—

अब शेष रह जाती है—'फलात्मिक किञ्च मूल है—मानत जीवव्यक्त। यह आच्छेद ही जीवस्वात्म्य का मूलधारण है किन्तु मूल में उग-होव स्वस्थित है किन उगहोवों का 'उगर्भिकिवातुगत वैराग्यवृत्तियोग' सम्म में किञ्चर से विरहोवक किञ्च बाने रहता है। इत्यन्तर इच्छा कर्म फल फलात्मिक बाधों में से जीवव्यक्तुत्पत्ता फलात्मिक का ही कर्मप्रवर्तकत्व सिद्ध हो जाता है। इच्छा रहिए, परन्तु ईश्वरव्यक्तुत्पत्त बन्धन न होय। कर्म कीजिए परन्तु ईश्वरव्यक्तुत्पत्त बन्धनकर्म कभी कर्मन न ह्यत। उजाभि-मूल बने रहिए, परन्तु इच्छा को ईश्वरव्यक्तुत्पत्त में परिणत रहिए, कभी फल आत्मस्वात्म्य पर आक्रमण न करेगी। ऐसा फल पर फलकारमात्मिक स्वतः निवृत्त हो चकगी, फलों (संस्कारों) के साथ प्रसिक्कन सम्बन्ध न होगा। ऐसी इच्छा रहते हुए भी आप निष्काम ब्रह्माण्ये ऐसी निष्कामव्यक्तना से किना हुआ कर्म भी निष्कामकर्म ब्रह्माण्ये ऐसे कर्म से उत्पन्न फल (संस्कार) भी आपके स्वात्मिक आत्म-विधात को आच्छेद न कर लेंगी। इत्यन्तर अकर्म रूप फल के प्रति वह (आच्छेद) न रहते हुए आप केवल कर्म के ही श्रेय बने रहेंगे। फलमेष्टा भी बन चकेंगी फलात्मिक से भी बन्धे रहेंगी। इसी फल को शप्य बना कर मगान् ने कहा है—'मा तं सञ्जाऽस्त्वकर्मणि' (अकर्मज्ञानके सार्वकारिके फले से उद्धार—आच्छेद मर्मत्)।

६६-फलसङ्गस्वरूपविवेचन—

फलसङ्ग (फलसङ्गि) का क्या तात्पर्य है, एवं फलावधि से हमें क्या हो जाती है, प्रश्नों के समाधान की वेष्टा की गई। परन्तु अभी मयावत् स्पष्टीकरण नहीं हुआ। सूत्रमार्ग में स्पष्टीकरण कीजिए। आप अधिकाधिक कर्म में प्रवृत्त हुए, कर्म प्रवृत्ति का लक्ष्य बनावा आपने कर्म जित फल को, क्योंकि बिना फल को उद्देश्य बनाए तो आप छन्दनक कर्म में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते। यहाँ एक परिस्थिति ठीक ठीक बनी रही। फलोद्देश्य को उल्लंघन करने के लिए आपने अनुकूल कर्म आरम्भ किया। कर्म काल में आपने बार बार मावी फल की ओर अनुपासन आरम्भ कर दिया। और यही एक ऐसी मयङ्कर भूल हो पड़ी, जिसे आपका कर्म-सौख्य मिटा दिया गया। आपकी मानस-शक्तियाँ परिमित हैं। एक समय में स्वर्त्मना एक ओर ही इस शक्ति के समावेश से कर्म स्वरूप तर्कमना सुव्यक्त बन सकता है। आपने अपनी शक्ति को कर्म के साथ साथ मावी फल की चर्चणा में भी समाहित कर दिया। कर्म में बिल अनन्यशक्ति का समावेश हीना चाहिए था, न हो सका। कर्म अपूर्ण रह गया। पूर्ण कर्म ही तो पूर्ण फल का जनक बना करता है। अनन्यमात्रात्मिक पूर्णशक्ति के समावेश से ही तो कर्म पूर्णता का कारण बनता है। जब आपने कर्माभुक्तानकाल में बार बार फलचर्चणा की ओर मानस-शक्तियों का प्रवर्धन कर डाला तो बिल पूर्ण शक्ति के समावेश से कर्म अकार्य बनता है, वह पूर्णशक्ति पूर्ण कर्म ही है। यही क्यों कमी कमी तो इस फलचर्चणा का यह दुष्परिणाम होता देला गया है कि फलचर्चणात्मिक फलावधि में (अस्वयिक फल की अवधि में) ही मन की अधिक शक्ति अनाहित हो जाती है। और उस शैल्यन्तरी की भाँति वह हमारी भाँति सुखी है जब हम देखते हैं कि, फलजनक कर्म हमने पूरा किया नहीं, कर्म—(पुनर्वाक्य) स्वयं कर्त्तव्य कर्मों का स्वयं और मिटा लिया। उदाहरण के लिए एक उल पाचक को लक्ष्य बनाइए, जो सब समझी लेकर पाचकर्म में प्रवृत्त हो रहा है। पाचक रोगी बनने बैठा। पाचक का पाचकर्म पुनर्वाक्य-कर्म है। क्योंकि पाचकर्म से समुत्पन्न पाचकाल (सिद्ध-उत्पन्न-वर्धों का) पुनर्वाक्य से सम्बन्ध है। बुद्धा बलाना कलाही धराना, दुग्ध-शर्करा-उत्पन्न-आदि का उलने प्रशेष करना आदि आदि अनेक कर्मों से पाचकर्म का स्वयं सम्पन्न होता है। इन अनेक कर्मों से पुनर्वाक्यलक्षण पाचकर्म का स्वयं सम्पन्न होता है। अतएव इन पुनर्वाक्यलक्षण पाचक के अन्तर्गत कर्मों को हम 'कर्त्तव्य कर्म' (अनु-पुनर्वाक्य कर्म), उल्लेख अमात्रकर्म करवर्धकर्म) कह सकते हैं। दुर्भाग से पाचक इन कर्मों के साथ साथ ही फलचर्चणा आरम्भ कर देता है। कल्पना करने लगता है—आह! आह ऐसी बड़िया रोगी बनेगी कि जाने बसो प्रकृत हो जाँगी। लीर ऐसी बनेगी, हाथ जैसे दुस्ताडु बनेंगे। इन कल्पनाओं का परिणाम वह होगा कि मन की बिल अवधानशक्ति से पाचक के कर्त्तव्यकर्म पुनर्वाक्य कर्म को अकार्य बनाते हुए कर्म फल (पाचकर्म) को पूर्ण करने बसो थे वे कर्त्तव्य कर्म फलचर्चणात्मिक अनवधानता से विहृत हो जाँगी। इस प्रकार कर्म काल में फलचर्चणा से फलजनक कर्म और उल्लेख कर्त्तव्यकर्मों का स्वरूप विहृत हो जायगा परिणामस्वरूप कर्म फल आशाजनक न बन सकेगा।

मान लेते हैं—पाचक पाचकर्म में मग्न कुशल है। वह बिल मीथ कर भी अन्दाज से बी बी करे, पाचकाल उठी से निर्मित पूर्ण होयगा। इस स्थिति में फलचर्चणा में क्या दोष रहा है, जब कि

पञ्चबर्ष्या करते हुए भी पापक का पाठकर्म सुशुभच होगा ? इसका उत्तर है—आत्महितम् कथन । पञ्चबर्ष्या पञ्चासक्ति है । इसके आत्मा में पञ्चसंस्कार के छव प्रथियकथनसंस्कार प्रथय होयस्या बो प्रथियकथनसंस्कार स्मृति के द्वारा पञ्चकामना श्री और मनको आकर्षित करता हुआ उल्लो एतामासिक शान्ति मङ्ग किया करवा है । इसी संपूर्ण परिमित को लक्ष्य बना कर मगवान् करते हैं—माई । दुष्प्राय अधिकांश केवल पञ्चजनक कर्मों के लिए निवृत्त है । कर्म करना दुष्प्राय कर्तव्य है कर्म कर्मोंको उत्तर करवा दुष्प्राय काम नहीं । यदि तुमने अनन्य-मित्रा से कर्म का स्वल्प सर्वाङ्गीय बना लिया तो पञ्च प्रथय उत्तर होगा । अतएव पञ्च की निवृत्ता-बर्ष्या-द्वीक कर तुम कबल कर्म के अधिकांशी बने रहो, अपनी आरका कर्म का हेतु बनाओ, कर्मफल का हेतु मत बनाओ । क्योंकि कर्मफल का हेतु तुम नहीं, दुष्प्राय कर्म है । यदि तुम अनधिकारपेहा करते हुए कर्म के साथ साथ (कर्मसुखान पञ्च में) पञ्च का भी हेतु अपने आप को बना लो तो वे कर्म में अनन्यता न रहेगी, कर्म स्वल्प संपूर्ण रह जायगा, पञ्चक कर्मफल सुशुभच न हो सकेगा । यदि दुष्प्रायस्वाय से कर्म पञ्च सुशुभच बन भी जायगा तो पञ्चासक्ति से तुम अपने आप का न बचा लकेओ, जो पञ्चासक्ति प्राप्त-प्रदानित आत्मकथन का कारण मानो गर है । अतएव हम अग्रह करते हैं कि, तुम अकर्म रूप पञ्च में आत्मिक न रकनो—भा तो सङ्को-स्वकर्मणि । ऐसा करन से दुष्प्राय कर्मसर्व-सुशुभचकर्म भी उर्वाङ्गीय बन जाकेँ इस कर्मबीजल से पञ्च भी सुशुभच हो जायगा और लभने बड़ा लाभ होगा कि, तुम पञ्चासक्ति से भी बच रहोगे । अतएव पञ्चकामनासि-परिष्कार के अनुग्रह से तुम करते हुए भी सिद्ध न कनेगे—कुर्वन्नपि न सिप्यते-न-न करानि न क्षिप्यते० ।

७०-इच्छानिबन्धना कर्ममीमांसा-

'कर्मस्येवाधिपकारस्त' श्लोक की उक्त मीमांसे से स्पष्ट है कि, इस श्लोक का वह तात्पर्य लया अतइत है कि, 'तुम बिना इच्छा के कर्म करो' । मला ऐसी अलभय आका भगवान् दे मो केम लर्ते न । माई । इसके अन्तारात्माय का लभयन हुआ है । प्रत्येक कर्म की प्रवृत्ति भी कामनापूर्वक ही होगी, अर आया रकने अवधान रकने सुशुभच कर्म से पञ्च भी प्रथय ही उत्तर होगा । पञ्च (संस्कार) का कामना से लभय भी अधिपार्य होगा । ऐसी शिपति में भान्त कर्मवादियों के इच्छासिद्ध निष्कामकर्म का पञ्चकामनासवाय का क्या अर्थ रहा ? यर अर्था कथित निष्कामकर्म कादिसी से हूँकुना चाहिए । क्या निष्कामकर्म गीता का सिद्धान्त नहीं है ? है और अवश्य है । परन्तु न तो—हम बिना इच्छा के कर्म करते हैं अतएव हमारा कर्म निष्काम है' यर करते मात्र से ही कर्म निष्काम बन जाता एवं न देवे कथनमात्र पर अर्थासिद्ध कथेच्छाधारविहारसङ्घ उपधु-रन कर्म ही मीमांसे कर्म माना जातइता । अतितु गीतासम्मत 'निष्काम' शब्द का अर्थ है—ईशेच्छा एवं निष्कामकर्म का अर्थ है—ईशेच्छासङ्घट्ट प्राकृतिक कर्म । हमारी अर्थात्मकेया में ईश्वर, शोच, हानो प्रसिद्धि है ईशेच्छा कामना है ईशेच्छा इच्छा है । ईशेच्छा कामना से प्रकृत कर्म प्राकृतिक कर्म निष्कामकर्म है । येन इच्छा ते

० अतएवापाय कर्माणि मङ्ग त्यक्त्या फलानि य ।

सिप्यत न न पापन पञ्चप्रमिवाम्ममा ॥

गीता

बुक्त कर्म' इन्द्रियानुगत विद्यवानुगति से सङ्गमकर्म हैं। सङ्गमकर्म प्रत्येक दशा में फलासक्त्यनुगुण बनते हुए सङ्गमन हैं, निष्कामकर्म फलासक्तिविरहित रहते हुए सङ्गमन हैं और यही गीता का कर्म मार्ग है। बिल्की मूलप्रतिष्ठा 'आर्षविद्या' मानी गई है, बिल्कुल स्वस्मविरलोक्य ही प्रकृत तन्म का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

ईश्वरेच्छा सहज इच्छा है, वह स्वयं उद्विगत होती हुई उद्विगताकांक्षा कहलाती है। अतएव तदनुगत निष्कामकर्म भी गीतापरिभाषा में सहजकर्म कहलाए हैं। जो यह करते हैं—'हम तो निष्कामकर्म करते हैं तन्मय वे नहीं भ्रान्ति में हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, निष्कामकर्म होते हैं किए नहीं बाते। 'करिष्यत्यखराऽपि तत्' के अनुसार निष्कामकर्म अपने आप होते रहते हैं हमें विमिश्र बना कर वे स्वतः प्रकृत होते रहते हैं। इनमें हमारी (बीज की) इच्छा का अणुमात्र भी समावेश नहीं है। यदि हम यह करते समझते हैं कि 'हम निष्काम कर रहे हैं' तो यह निष्कामकर्म कहाँ रहा ! अहन्तामूला इच्छा का तो हमने आत्म में ही समावेश कर दिया। चाहे, करते हैं कर रहे हैं करेंगे आदि सब भ्रमहार बीजे-च्छाप्रधान बनते हुए सङ्गमकर्म हैं। और इन्हीं का अनुगमन करने वाले परमानुगत के गीताप्रमेयी अभिनिवेश का करते हैं 'हम तो गीता के आदेश का पालन कर रहे हैं'। ऐसी भ्रान्ति है !।

७१—आर्षविद्याप्रतिष्ठामक अपितत्त्व—

जोकि एव विवाद का। आप तो गीता जो कर रही है उक्त समन्वय कीविए। यह छिद्र होनुका है कि गीताकृत कर्म वा' विशुद्ध शास्त्रीय कर्म वा' है। क्योंकि शास्त्रीय कर्म ही प्राकृतिक है प्राकृतिक कर्म ही ईश्वरेच्छानुगत सहज कर्म है। बिल्की मूलमति 'आ-वंश' से हुई है। अतएव यह कर्मात्मक धर्म पद्य 'आर्षधर्म' नाम से ब्रह्मकृत हुआ है। अतएव तन्मूला विद्या 'आर्षविद्या' कहलाती है। अर्थात् ही ईश्वरीय कर्म की प्रतिष्ठा कैसे है। इसके लिए श्रुतिमूलक सृष्टिविज्ञान का विरलोक्य आवश्यक होगा। यही संक्षेप से आर्षधर्म प्रेमियों के सम्मुख उपरिष्ठ किया जा रहा है।

धर्म' अधर्म पाप-पुण्य छ-अच्छ-बुरा-यधि, निरव आदि आदि में से किस समय किसी की कृता न थी, तो उस समय क्या था, इन्हें शब्दों में बन कुछ न था तो क्या था, इस सृष्टिकारणात्मक प्रश्न का उत्तर देते हुए तत्त्वज्ञान श्रुति ने हमें कलामा कि—'आज जिस निरवप्रपञ्च का तुम छ-रूप से अपने अनुभव का अणुसी निर्दोष का लक्षण बना रहे हो सृष्टि से पहिले छ-सृष्टि (विद्यमान विद्यप्रपञ्च) से पहिले यह सब कुछ 'अच्छ' ही था। (और यह अच्छ ही इस स्रष्टाविश्व का मूलप्रभव था) —'असद्वा इदमम आसीत्'। छ-अ धर्म होता है—भाव। अच्छ का अर्थ माना गया है—'अभाव'। क्या मातात्मक (सत्तात्मक) विश्व का मूलकारण अभावार्थक अच्छ है, नहीं। क्योंकि अभाव किसी का उपादान-कारण नहीं बन सकता। जो एव 'नास्ति रूप है वह अस्तित्व का कारण कैसे बन सकता है !। फिर सृष्टि के अच्छ का क्या अर्थ है, इसी प्रश्न का उत्तर बना कर श्रुति ने स्वयं आगे बतल कर यह प्रश्न किया कि छ-निरव का कारण अभावार्थक अच्छ तो बन नहीं सकता। फिर उस कारणार्थक अच्छ का क्या स्वस्म ! 'किं त्वसदासत्-इति' ?। श्रुति स्वयं उत्तर देती है—'सृष्टि का मूलकारणक यह अच्छ तत्त्व (अभावार्थक-अच्छ नहीं, अस्तित्व) 'अधि' नामक 'अच्छ' तत्त्व ही था—श्रुत्या वाच तदमेऽमदासीत्। श्रुति शब्द

मी कन्देहान्द्र है। अरण्य-श्रुतिराज्य की अनेकधा प्रकृति देखी-सुनी जाती है। वेदतत्त्वद्रष्टा वसिष्ठ-कश्यपदि मानव श्रुति मी श्रुति बरहाए हैं। बरी कर्षों, सर्वसाधारण की दृष्टि में तो 'श्रुति' शब्द का अर्थ मानव श्रुति ही है जो कर्-सृष्टिमर्यादा में अन्तमुक्त रहते हुए 'अलक्षणा श्रुति मर्यादा से बहिष्कृत है। अत-एव प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि-‘कृत्विष्य का मूलभूत अलक्षणाश्रुति श्रुति क्या कथ्यतत्त्व है ?-‘के ते श्रुतयः-इति ?’। इसी श्रुतिमत्त्व का परिचाय करती हुई आगी बाफर प्रुष्टि करती है-‘प्रायतत्त्व का ही नाम श्रुति है-‘प्राण्या व श्रुतयः। प्राण को श्रुति क्यों कहा गया ?, इस प्रश्न का समाधान करती हुई अन्त में मुक्ति करती है-‘उन प्राणों में इस विश्वकर्मा से पहिले क्योंकि इस विश्वकर्मा की इच्छा करते हुए ब्रह्म, और तब से गन्त किया या अतएव-‘इच्छन्त बभूवुः तपसा अरिपम्’ इस निर्बन्धन से वैज्ञानिकों में उन सृष्टिमूलक प्रायतत्त्व को ‘श्रुति नाम से सम्बोधित किया-‘तं यत् पुरात्मात् सर्वस्मात्-इति श्रुतिः’ अथवा तपसा अरिपम्-तस्मात्-श्रुतयः” (वेद्विषय-राव० भा० १।१।१।१)।

कम २५, २६ अथर्व शब्द, इन पाँचों गुणभूतों (तन्मात्राओं) से अर्द्धशत अष्टामन्त्रक (एकान न रोक्ने वाला) अतएव अमूर्त अतएव केवल शास्त्रतत्त्व, अतएव इन्द्रियधर्मों से अतीत अतएव व इन्द्रिय-असाध्य तात्वविशेष ही ज्ञानमात्रा में ‘प्राण नाम से सम्बोधित हुआ है। इस प्राण के तन्मात्र से ही मूर्तिक बन्तु ‘प्राणी कहलाते हैं किन्तु बड़बारी चेतनमन्त्री, मन्त्र से ही विरक्त मार्गें गए हैं। पर्याय शब्द आदि जिन प्राणों को हम ‘बड़’ करते हैं, उनमें मी बड़ प्राणतन्मात्रा विद्यमान है, केवल इन्द्रियविशेष का अभाव है। अतएव चेतन अचेतन का मूलविभाक्क इन्द्रिय, और इन्द्रियमात्र ही माना गया है न कि प्राणतन्मात्र, केवल-‘सैम्ब्रिय चेतन इन्द्रिय, निरिन्द्रियमचेतनम्’ इत्यादि से मी प्रमाणित है। प्रत्यक्ष में मी बड़प्राणों के ‘आपते अरित, विपरिणामते, कर्ते अपकीमते नरवति’ इन त्रैगुणिक पदमत्त्वविशेषों के द्वारा प्राण का अनुमान हो पाता है। नत्वाय क्व पुणना हो जाता है तो उसके अत्यन्त मूर्तिक परमाणु स्वरूप हो जाते हैं। मी प्राण का अपनी बुद्धावस्था में हटावण या, बरी बुद्धावस्था में आकर बर्ध रीति हो जाता है, अतः अत्यन्त लक्षण से अज्ञानबोध से अन्त कर दिए जाते हैं, और उक्त द्वारा में पर्याय के लिए हमारे मुख से यही निकलता है कि ‘अब परपर में हम नहीं खा’। यह अनुभूत ‘ब्रह्म’ ही हमारा ‘प्राण तत्त्व है जिसे हम देखते नहीं, किन्तु शक्तिरूप से अनुमान अवश्य हाथ लेते हैं। इसप्रकार प्रायतत्त्व की बड़-चेतनोन्मत्त्वमत्त्व लक्षणा लिय हो जाती है। अति ने इस प्रायतत्त्व को ‘अक्ष-श्रुति इन ही नामों से सम्बोधित किया है। अति शैथिलिक बड़-चेतन प्राणों में क्व एक प्रायतत्त्व अन्तर्धर्मतत्त्व से समाविष्ट रहता है, वही एक बड़ प्राण तन्मात्र (अस्तित्व) में परिणत रहता हुआ व (विद्यमान) कहलाता है। प्रायतत्त्व ही तन्मात्र प्राणों की लक्ष्य की उत्पत्ति है। तन्मात्र ही लक्ष्य को ज्ञान (अभाव) रूप में परिणत करती है। अतएव कहा और माना जा सकता है कि, कर्षों प्रायतत्त्वमत्त्व से ही ‘लक्ष्य’ कहलाते हैं। किन्तु प्राण रहता है बरी ‘लक्ष्य’ है, क्योंकि कथ्यतत्त्व प्राण ही ‘लक्ष्य’ है इत्यादि अत्यन्त ही कथ्यतत्त्व की मूलप्रकृति है। ‘पटे धनमात्र’ अत्यन्तक ‘समाप्तये सामान्याभावाः इस अर्थ के अनुसार कथ्यतत्त्व में तन्मात्र का अभाव है। जैसे मनीषक, प्रायतत्त्व अतएव इसी अर्थ के अनुसार ‘अभयना अभाव’ कहनाना है किन्तु वास्तव्य होता है-‘अभयना-प्रायतत्त्व’। तथैव यह अभाव मी अक्ष्य कहलाता है। किन्तु क्व (अत) रहता है यह शैथिलिक कथ्यतत्त्व ‘लक्ष्य’ है। क्व (अत) में क्व (प्राण) क्व रहेगा जैसे रहेगा ? एकमात्र ही आचार पर-‘अर्थम वास्तव्य मी

प्राणतत्त्व विज्ञानमाया में 'अस्त्' नाम से व्यञ्जित हुआ है, किन्तु तात्पर्य निकलता है—'उत्सृज्य' । इसी लिए तो 'असृष्टा इवमप्र आसीत्' भ्रुति का अन्वय 'सदेवेदममे सोम्य असृष्टासीत् कथमसृष्टः सृष्ट्यायेत' इस रूप से समत्वय हुआ है । अस्त् ही सृष्टि का मूल या एवं वह सृत् या । अभावान्तर अस्त् से भावात्मक सृष्टि उदयन भी कैसे हो सकता था । 'तत् सृष्टासीत्' से 'मी प्राण के इस स्वरूप का ही विकलेषण हुआ है । तात्पर्य—प्राणतत्त्व की शुद्ध स्वरूपता ही इसके 'अस्त्' नाम व्यवहार का मूलकारण है ।

अस्तित्ववाचक उक्त प्राणतत्त्व के सम्बन्ध में भ्रुति ने 'इच्छन्स-अमेण-तपसा' कथित हुए इसके लय इच्छा तप, अम, सृष्टि के इन तीन सामान्य अनुसर्गों का सम्बन्ध माना है । इच्छा मन का व्यापार है, मन ज्ञानप्रधान है । तप प्राण का व्यापार है प्राण क्रियाप्रधान है । एव अम वाक् का व्यापार है वाक् अर्थप्रधाना है । ज्ञानमय मन की इच्छा क्रियामय प्राण का तप अर्थमयी वाक् का अम सृष्टिकर्म में तीनों अपेक्षित हैं, क्योंकि 'कर्म'यवेवाधिकारस्ते इत्यादि श्लोकमीमांता करते हुए पूर्व में विस्तार से बतलाया था हुआ है । इच्छात्मक ज्ञानमय मन की अस्म्य विकसतभूमि है, यह सृष्टिकर्म का आत्मन्त कारक बनता है, जिसे विज्ञानमाया में 'अधिष्ठान' कहा गया है शब्दपरिभाषा में 'स्प्रेट' कहा गया है । तपोलक्षण क्रियामय प्राण अक्षर की विकसतभूमि है जो शब्दपरिभाषा में 'स्वर' कहलाया है । यही सृष्टि का निमित्तकारण बनता है । एवं अमरमय अर्थमय वाक्तत्त्व क्षर की विकसतभूमि है, जो विज्ञानमाया में 'आरम्भण एव • शब्दपरिभाषा में 'वर्ण' कहलाया है यही सृष्टि का उपादानकारण बनता है । आत्मन्त, निमित्त, उपादान इन तीन कारणों के एक समत्वय से ही सृष्टि कार्य का विकास हुआ है । इसी आधार पर तार्किकों का 'कारणसमुदात्तस्यैव कस्य प्रति कारणत्वम्'—(न तु कारणस्य) यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है । उदयन काव्यरूप कथ के स्वस्मविकलेषण से ही हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है । प्रत्येक पदार्थ में पदार्थ का 'रूप' पदार्थ का 'कर्म' पदार्थ का 'नाम' इन तीन विभागों का सम्बन्ध उपलब्ध होता है । रूप-कर्म-नाम, तीनों पदार्थ के मूलभाव हैं । 'वाचारम्भण विकारो नामधेयम्' के अनुसार नामपर्व अक्षरमय वाक्तत्त्व पर प्रतिष्ठित है कर्मपर्व अक्षरमय प्राणतत्त्व पर प्रतिष्ठित है, एवं रूपपर्व अस्मयात्मक मन-पर्व पर प्रतिष्ठित है । मन-प्राण-आभाषारेण प्रतिष्ठित रूप-कर्म-नाम की समष्टि ही पदार्थ का पदार्थत्व है । इस विकलेषण से हमें यह मान लेना पड़ेगा कि केवल प्राणतत्त्व ही सृष्टि का मूल नहीं है अपितु इच्छात्मक मन आत्मिकवाक् वाक्, दोनों से युक्त तपोलक्षण प्राण ही सृष्टि का मूल है । इसी लिए भ्रुति को 'इच्छन्त-अमेण-तपसा' कहना पड़ा है । इच्छन्त-मन सम्बन्ध का सूत्रक है अमेण वाक्स्मन्त का सूत्रक है एवं तत्त्व स्वयं प्राण के सम्बन्ध का सूत्रक बन रहा है । यदि एव है तो फिर भ्रुति ने 'अस्त्' का अर्थ केवल प्राण ही क्यों किया ? तब तो भ्रुति को 'किं तदसृष्टासीत्' प्रश्न के उत्तर में कहना चाहिए था । 'मन आसीत्, प्राण आसीत्, वाक् आसीत्' । इस प्रश्न का भी निराकरण कर लीजिए ।

७२—अधिप्राण की सवात्मकता—

अक्षरप्रमक, इच्छासृष्टिजन ज्ञानमय मन सृष्टिकर्म में आत्मन्तरूप से अपेक्षित अक्षरय है, परन्तु अपने स्वभाविक ज्ञानमायात्व के कारण यह 'कर्म' मन्तना से असंरहित रहता हुआ गतिराम्य है ।

✽ 'वाचारम्भण विकारो नामधेयम्—मृत्तिकेत्येव सत्यम्' () ।

एवमेव अत्यन्तक अमरशक्तिपन, अर्थात् वाक्यत्व ही यद्यपि सृष्टि का उपादान बनता है। परन्तु अपने स्वामात्रिक अद्यत्वात्मात् से यह अर्थ ही गतिप्राप्त है। सृष्टिकर्म' कर्म है कियामय है, कियप्रधान है आचारस्यैव है। यह अर्थ एकमात्र अक्षररमक, अक्षरशक्तिपन कियमय प्राकृतत्व का ही है। प्राण ही गतिधर्मा है। इसके अग्रगामी बनने पर मन की इच्छा और वाक्य का अम सृष्टिकर्म में सफल होता है। यही वेद सीधिया न। अत्र केवल बड़ी बड़ी इच्छाएँ करते रहें किसी कर्म की सिद्धि नहीं होगी। अकारके सत्त्विक अमररमक शरीर ही अमररमक अन्य द्रव्यादि भौतिक कर्म साधन ही हैं। परन्तु जब तक आप प्राणव्यापार (वेदा) को अग्रगामी न बना लेंगे तब तक आपकी इच्छा आपका अम कभी सफल न होगा। 'मौ से एक तत्व और निकल आया। किन्तु एक मनुष्य हाथ-पैर हिलाते या प्रतीत होते हैं। परन्तु वेगत हैं फिर भी उनका कर्म स्वस्मिन्ना सफल नहीं होता। कारण यही है कि उन्होंने इच्छा की थी, शरीरानुगत अम ही किय परन्तु प्राणव्यापारस्यैव तप को उन्होंने गौण बना रखा। अन्तर्व्यापार-लक्षण तप का 'इच्छा और अमने प्राप्त कर लिया। अतएव 'नका कर्म' सफल न हो सका। यही वर्तमान प्रगति की का तरंग है। इन अमने यही अयोधनो में सफलता कभी नहीं मिलती? जब कि हम इच्छा करते हैं वीर्यमय करते हैं 'बधा भी करते हैं?। उत्तर है-तप का अमरक, प्राणव्यापार की शिथिलता। प्राणव्यापाररमक 'तप' का अर्थियों में लक्षण किय है- 'एतद्वै तप इत्याहुर्मैर्ग स्वं ददाति। बद्ध महत्पूर्व लक्षण है। 'नसे ही वैज्ञानिक 'तप' कहते हैं किन्तु अमरप्रज्ञा तप्य अपने आपका रान कर देता है? यही अक्षररमक का अर्थार्थ है। यही तप यज्ञपरिष्कारा में 'अनन्वनिष्ठा बहुरारं है। अपनी आत्मन्तर शक्ति की का सर्वस्व रान ही तप है यही अमररमक है। यही वास्तविक प्राणव्यापार है यही कर्म साधन का मूलधार है। यदि हमारी स्वान के स्वान में 'पयजन की ओर प्रवृत्ति है, यदि हम अपने प्राण का स्वानशिला पर रण कर उपाद्यन्तर्धाम द्वारा उमे संपर्प में नहीं बाल सकते तो स्वप्न में भी हमारे पयपर-वास्तव के वर्तमान निरस्त अयोधन कभी भेद्य-प्रवृत्ति का कारण नहीं बन सकते। निवेदन प्रकृत में यही करना है कि मन-प्राण-बाह्य-रीनों में मन ही स्वयं निष्किय है बाह्य ही स्वयः निष्किया है। अक्षर है एकमात्र अक्षररमक यह प्राणरमक, जो ज्ञानमय मन और अर्थात् वाक्य दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ उठ और के मनोमय ज्ञान से ज्ञानमय, इस ओर के बाह्यमय अर्थ से अर्थात् एव स्वानुगत प्राणमयी किय से पुनः रहता हुआ ज्ञान-कियार्थमय बन कर स्वस्विक बनता हुआ सृष्टिकर्म में समर्प हो जाता है। प्राण ही 'अरियन (गर्तधर्मा) है। इसके अमने से ही इच्छात्मक मन अमररमक वाक्य दोनों सन्धुसुक्त बनते हैं एकमात्र प्राण के ही गतिधर्म से सृष्टि ने अक्षररमक प्राण को ही प्रधानरम से अक्षररम का प्रवचक माना है। वैज्ञानिक निम्न शिथिल उपनिषद्सृष्टि से भी प्रमाणित है—

यथा सुदीप्तात् पावकद्रिस्फुल्लिङ्गा सहस्राश' प्रमन्ते सरूपाः ।

तथाऽऽचराद्रविभाः सौम्य ! मावा' प्रजायन्त, सत्र वैवापियन्ति ॥

स्वयं गीतासूत्रिका में हीली श्लोक सिद्धन्त का अनुगमन कर रहा है। अक्षररमक प्रवच है अक्षररमक अक्षररमकप्रवृत्ति नाम की 'पयप्रवृत्ति' है। एवं अक्षररमक अक्षररमकप्रवृत्ति नाम की 'अक्षररमकप्रवृत्ति' है। प्रवच मनोमय है पयप्रवृत्ति (अक्षररमक) प्राणमयी है अक्षररमकप्रवृत्ति (अक्षररमक) बाह्यमयी है। 'अक्षररमकप्रवृत्त्य' सत्ताः प्रमन्तन्प्राणमय यथाचर सृष्टि के- अक्षररमक सौम्य ! मावा' प्रजायन्ते' से सन्प्रवृत्ति है। एवं- 'राण्यमय

प्रभीयस्ते तत्रैवान्मयत्तन्त्रंश्रेते' गीताकार भुक्ति के—'तत्र चैवापियगिति' से समतुलित है। अतएव—'असद्वा इदमम
आसीत्' इत्यादि प्राणजन्तु नि 'इच्छन्त-अमण-तपसा' द्वारा लुटिकर्म में मना-प्राण-बाह्-तीनों का
संयोग स्वीकार करके हुए भी 'अपयो बाह तदमेऽसदासीत्-मग्ना वा अपय-परिपम-तस्मात् अपयः
सु कइ कर गतिबन्धा अपयत्तक, अग्नत्त शक्यत्त को ही लुटिकर्म का प्रथम प्रवर्तक माना है। गतिबन्ध से
ही यह अपयानी तपोमूर्ति प्राणतत्त्व 'अग्नि' कहलाया है।

प्राणतत्त्व एव गतिबन्धा अस्तित्व के 'सत्तर्पि-पुर्कपि-द्वयर्पि-अर्पि' आदि अनेक विवर्त है।
इनके भी आगे बाहर अर्कस्य विवर्त हो जाते हैं। इन अर्कस्य आभिवैदिक श्रुतियों के आचार पर आगे
बाहर निरंतराण देवप्राण अनुप्राण मन्त्रबन्धाण पशुप्राण मानप्राण आदि आदि अनेक विवर्त हो
जाते हैं। इत्यन्तर यह अग्निप्राण विविधमन्त्रावपन बना हुआ अर्कस्य, अतएव अतृपि अरमदादि तापारण
व्यक्तियों के लिए अचिन्त्य-अविद्येय ही बना रहता है। गभीरमूल इन अग्निपि का परिचय अग्निगति पर ही
अवलम्बित है किन्तु मनुष्यरश्मि तर्कवा बधित रहती है। अस्तित्व के इही वैशेष्य का शक्य बना कर अग्नि
तत्त्वज्ञानार्थका अग्नि में कहा है—

विरूपास इत् अपयः, त इत् गम्भीरवेपस ।

त अग्ने परिजग्निर, वेऽङ्गिरस घनव ॥

—शुक्ल०

मनोमय अमय 'शारवतधर्म' नामक पद्यकार से अविनाशुत रहता हुआ 'शारवतधर्म' है। प्राणमय
अपयत्त इन्द्र है। अथमय धरतत्त्व लोमगर्भित अग्नि है। अमय, अक्षर, धर-अमति वादधीप्रवापति
है। मध्यम प्राणमय अक्षर, किंच अक्षरमयक प्राणतत्त्व ही 'योऽयं मध्यतरम्य निर्वचन से इन्द्र है यही
अप्यत्त स्वयम्भू नामक 'मनु' है। इत्यन्तर मनोमय अपयत्त तथा अथमय धर, दोनों से मिले अविनाशुत,
अतएव मनाप्राणधरमय अप्यत्तप्राणमय स्वयम्भू को ही लुटि का प्रवर्तक माना गया है। इतके अन्वयार्थक
कर को शक्य बना कर ही मनुकात् मनु में कहा है—

१—तत स्वयम्भूमगवानप्यक्तो व्यञ्जपभिदम् ।

महाभूतादि वृचात्रा प्रादुरासीधमोनुद ।

—मनु १६-० ।

२—योऽप्रावर्त्तान्प्राण एदमोऽप्यक्त मनाशन ।

सवभूतमपोचिन्त्य स एव स्वयमुद्भवो ॥

३—एतमक षडन्यमिनि, मनुमन्य, प्रजापतिम् ।

इन्मक, पर प्राण-मपर मय शान्त्वतम् ॥

४—एव मवाग्नि भूतानि पञ्चमिन्याप्य तिष्ठति ।

जन्म-बुद्धि-वपनिन्य मंमारपति पञ्चपद् ॥

मनु १० १०३-१०४।

माया में यही धम्म 'सनातनधम्म' नाम से सुप्रसिद्ध हुआ है। श्रुतिप्राण से कैसे किरव उत्पन्न हुआ है ? उत्पन्न किरव के प्राकृतिक धर्मों का क्या स्वरूप है ? कारणमूल श्रुतिप्राण के साथ कार्यमूल किरवधम्म का क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान करने वाली कार्य-कारण-विज्ञानात्मिका श्रुतिप्राणासुगुण्य सृष्टिविद्या (प्रायश्चित्त-वेदविद्या) ही 'आपविद्या' है, तन्तुगत प्राकृतिक बर्णान्वयधर्मा ही वैदिक धम्म योग है, किरवका उद्योषितरूप गीतापरिभाषासुसार 'धम्मसुद्वियोग' नाम से स्पष्टित हुआ है।

७४-श्रुतिप्राणात्मिका आपविद्या-

'आपविद्या' शब्द का अर्थ है—'श्रुति श्री विद्या'। यह श्रुतिविद्या 'तत्त्वात्मिका शम्भात्मिका, मे' से दो भागों में विभक्त है। तत्त्वात्मिका आपविद्या ईश्वरीय विद्या है शम्भात्मिका आपविद्या मानव-श्रुति विद्या है। मानव-श्रुतिविद्या से ही तत्त्वात्मिका आपविद्या का बोध होता है। ईश्वरीय आपविद्या वाच्य है, मानव-श्रुतिविद्यात्मिका आपविद्या वाचक है। यह शम्भान्वयविद्या है, यह अर्थबोधविद्या है। अर्थबोध-विद्या के मूल प्राकृतिक श्रुति हैं शम्भान्वयविद्या के मूलप्रवर्तक प्राणीविष मनुष्य-श्रुति हैं। मानव-श्रुति-धर्म में परम्परया प्रतिष्ठित यही आपविद्या 'वेदविद्या' कहलाई है जिसमें प्रतिपादित प्राकृतिक धम्म 'विद्या-समुचित प्रवृत्त धम्म' कहलाया है, एवं जिसके मूलधम्म तपःधम्म' दानधम्म' जेठिन ज्ञानान्तर मुष्य धर्म माने गए हैं। तात्पर्य इस विषये यह भी है कि, अतीतानागतक, विदितवेदितस्य अविगतवायातस्य भारतीय महर्षियों ने चिरकाल के तपोयोग से (प्रायश्चित्त से) प्राहुर्गुणा अतीतानागतपरिज्ञानमूला योग-बुद्धि (श्रुतिबुद्धि, अर्थबुद्धि) से प्रकृति के प्रासप्तिक श्रुतिधर्मों का साक्षात्कार किया। किरव तत्त्ववेद्य मानव ने जिस प्रासप्तिक श्रुति, का एवं तन्तुगत किरवधम्म का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया, वह मानव, एवं उक्त मानव के धर्म में समुत्पन्न तन्तुगतपरीक्षक धर्मगत उक्त प्रायश्चित्त के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। सर्वमूलमूल धम्मक स्वधम्म प्राण के परीक्षक 'स्वधम्म मनु' कहलाए। इक्षिपकार बलिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र अक्षिप, षण्डु, अग्नि इत्येव ऋषि, आदि आदि प्राणों के प्रथमप्रज्ञा तत्त्ववेद्य तत्त्व बुद्धिवादि नामों से ही प्रसिद्ध हुए, जो नाम इन मानव श्रुतिधर्मों के 'स्योनाम' धर्म गए हैं। स्वधम्म मनु इस श्रुतिविद्या के मूलप्रवर्तक माने गए। क्योंकि प्रकृति में धम्मक स्वधम्म ही श्रुतिविद्या का मूल है। स्वधम्म मनु से आरम्भ कर आगे श्री मानव श्रुतिपरम्परा में ही श्रुतिप्राणात्मिका इत आपविद्या का प्रधानरूप से परम्परया प्रचार रहा। अतएव मानवधम्मशास्त्रात्मिका यह श्रुतिविद्या, 'आपविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई।

७५-मानवश्रुतिधर्मशास्त्रगता आपविद्या-

पूर्व के 'विद्यास्वरूपपरिचय' नामक परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, निगमागमविद्या सृष्टिविद्या है, अपराधविद्या है। त्रिगुणात्मिका योगमाया के सम्बन्ध से यह अपराधविद्या-(वेदविद्या, वेदोक्त-धम्म'कावद) त्रिगुणमायाधर्म है, यैवा कि—'त्रिगुण्यविद्या यैवा' इत्यादि मन्त्रधर्म से प्रमाणित है। सम्पूर्ण विद्य किरवधर्मा, एवं किरवधर्मा के प्राकृतिक धम्म' त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमूलक बनते हुए त्रिगुण-

साक्षात् है। सर्व विगुणमान का साक्षात् है। एही विगुणमान के कारण अत्यन्त-अक्षय्यक भी वे विरयकर्म (वैदिक महात्तकर्म) अत्युत्तम बने हुए हैं। विगुणभाषण देने प्रवृत्ति-लक्ष्यक वैदिक कर्म स्वयं-स्वार्थ के परिवर्तक बनते हुए आत्मिकबन्धक हैं। अत्यन्त एकाधिक कर्मयोग कर्मन का प्रवर्तक बनता हुआ त्पन्न है। श्रुतिवश में परंपरया प्रचलित आर्षविद्यासुगुण कर्मयोग प्रवृत्तिप्रधान ही बना हुआ था।

आद्य भी तो कर्मकर्म प्रतिपाद्य आश्रयप्रणों में— आभिप्रेयेत स्वर्गधामो यजेत इत्यादिरूप से वाचनानुगत विगुणभाव का ही प्राथम्य उपलब्ध हो रहा है। तभी तो भगवान् में स्वयं वेद को ही विगुण-तन्त्रक कहलाया है। क्या भगवान् वेदशास्त्र एवं लक्ष्मिन् असाक्षिककण कर्मयोग के विरोधी हैं? नहीं, सर्वथा नहीं। 'तस्यात्पुण्यं प्रमायुं तं अर्थात्काम्यकर्मपरिमती—'यथाज्ञानतपकर्म न त्पाम्यं काव्य-मंथं तत् इत्यादिरूप से वेदशास्त्र एवं कर्मलक्ष्य मानकर्मशास्त्र को कर्तव्य-कर्म निर्वाहिक माननेवाले यथादि कर्मों की आचरण-कर्तव्यता का समर्थन करने वाले परे परे शास्त्रानुगत कर्मममूलक विमलक त्पन्नकर्म पाठन के लिए प्रेरित करने वाले सर्वोपरि गीताप्रदेश के मुख्य पात्र अत्रु न को अतिव्यञ्जित शास्त्रीय पुत्रकर्मों में प्रवृत्त करने वाले भगवान् वेदशास्त्र एवं लक्ष्मिन्नादित कर्मयोग को त्पाम्य टाहने ही ही कल्पना भी अनुचित है। भगवान् का विरोध केवल आत्मिक से ही बीद्यनुभवा उपायवाक्या से है। क्योंकि वह विगुणाश्रितकर्म है। भगवान् केवल विगुणभाव का विरोध कर रहे हैं। एहीलिए तो—'विगुण-विपया वेदा' के अन्तर्गत ही मन्वाद्यै—'निर्मोहुरयो मन्वाद्युं' । क्या से अपने मन्वप्य का लक्ष्मीरुत कर दिया है। यह अत्यन्त का हुआ है कि, ईश्वरकामना अत्युत्तम कर्मों अत्रुनित पद्य कलावृत्ति, चापों में से पलायनिक ही कर्मन का कारण है। अत्यन्त का मूल बीद्यधामना है—बीद्यकर्मक योगमात्रानुगत है, योगमात्र विगुणाश्रितकर्म है। इसके परिष्कार से बीद्य ईश्वरानुगत कर्मन हुआ विगुणाश्रितकर्म निवृत्ति में परिवर्त हो जाता है। और उक्त दशा में लक्ष्मिन्ने पर इत्यन्त कर्म आत्मिकबन्धक के स्थान में आत्मिकनिवर्तक बन जाता है। अत्यन्त इहे 'निवृत्तकर्म' कहा गया है। प्रवृत्तकर्मों भी प्राकृतिक कर्मन हुआ 'धम्म आचरण' है। परन्तु यह कर्मों आगे आकर कलावृत्तिकरूप में परिवर्त होया हुआ आत्मानरक बन कर 'आधम्य' रूप में परिवर्त हो जाता है। आर्षकर्ममार्ग लक्ष्यभाषण में अन्तर्गतका अधर्म बन जाता है। अत्यन्त भगवान् ने इत श्रुति-लक्ष्यशास्त्रानुगत कर्मयोग में यह लक्ष्योचन आचरणक माना है कि इन कर्मों आचरण करो, परन्तु अपनी (बीद्य बी) वाग्ना को ध्यान न बना कर उसे ईश्वरार्पित कर दो। इतने पुनरा कर्ममार्गों की सुरक्षित रहेय कर्मनक भी बचावकर उत्यन्त ही आवाग उलका इन उद्योगों भी कर लगी त्पन्न ही कर्मन से भी बने योगों। यही आर्षविद्यासुगुण गीतोक्त 'धर्मसुखिभाग' है बिने हम 'लक्ष्योचित कर्मवशा' कह सकते हैं। इत्यन्त प्रधानक साक्षात्कार में ही प्रचार रहा है। एहीलिए आद्य भी तो आश्रय के लिए लोक में वह विगुणाद्य प्रचलित है कि—'अनुक्त आश्रय वद्वा कर्मोऽतः कर्म-कर्म' ही तो आश्रय का स्वरूप है।

० न तदस्ति श्रुतिष्यां वा दिशि दक्षु वा पुन ।
सर्वं प्रकृतिर्निमुक्त यदेभिः म्यान्-प्रिमिगुण' ॥

७६-वर्णाश्रमव्यवस्थानुगत आर्षविद्या—

वर्णाश्रम-व्यवस्थानुगत, वेदशास्त्रसिद्ध कर्मप्रवृत्त ही कर्मयोग है। यही धर्म है। तन्मूला वेदविद्या ही आर्षविद्या है। काममात्रात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ संकल्पन है। निष्कामभावानक यही कर्मयोग त्रिगुणातीत बनता हुआ 'धम्म बुद्धियोग' है। लोकप्रचलित योगनिष्ठा (कर्मयोग) और मगध सम्प्रदाय योगनिष्ठा (धम्म बुद्धियोग) में यही महान् अन्तर है। यही गीता का निष्कामकर्मयोग है, बिल्की मूलमहिम्ना है—वेदशास्त्र एवं तन्मुक्तिका वर्णाश्रमव्यवस्था। त्रिगुणभाव के परिष्कार से इति 'धम्म' हो जाती है अतएव ऐसा कर्म योग 'समत्वयोग' बन जाता है। समानानुगत, अतएव अस्मिन्.अयक्यकक काय ही प्रकृतिभेदमिन्न विभिन्न वर्णानुगत विभिन्न व्यवहारानुगत अतएव लोकान्मुद्रयपवतक, शास्त्रसिद्ध ऐक्य समत्वयोग ही गीता का 'साम्यवाद' है यही निष्कामकर्मयोग है, जिसका स्वरूप न जान कर केवल अपनी विशुद्ध कल्पना के आधार पर कितत वर्णाश्रमविरोधी, त्रिगुणभावानक, उच्छलल, विषमदर्शनानुगत-समव्यवहारानक प्रतीत्य साम्यवाद के साथ हमारे वर्तमान राष्ट्रीय गीतामकत समदलन करने का अद्यत्म्य अपराध करते हुए 'वृत्तन्वयमाणाः परियन्ति मूढाः, अग्नेनैव नीयमाना यथाग्ना' को लक्ष्मिना वरिष्ठार्थे फता रहे हैं।

७७-प्राचीनामिमता कर्मयोगनिष्ठा—

संस्कृतिष्ठा स्वाग्मूला है, योगनिष्ठा संवद्मूला है। संस्कृतिष्ठा प्राचीनमिमत ज्ञानयोग है, इष्टमें कर्म का परिष्कार है। योगनिष्ठा प्राचीनमिमत कर्मयोग है 'तन्में कामना का संवह है। और इत इति से दानो शोकनिष्ठाएँ बुद्धियोगसम्पत् से बन्धित रहती हुईं धृष्टक-धृष्टक बन रही हैं। मगवान् ने योगात्मिक कर्मनिष्ठा के सम्बन्ध में यही आदेश दिया कि, तुम केवल इते ही (कर्मयोग का ही) उभरनिष्ठत्वक फता डास्ती। यह तमी सम्भव है बन्धक तुम अपने कर्म योग में स्वाग और संवह दानो का सम्बन्ध कर दानो। त्याग करो कामना का (जिसका शास्त्रार्थ है—बीबेष्ठा का परिष्कार), संवह कर ईश्वरानुगत प्राकृतिक कर्म का। काम-त्याग से दुम्हाटी यही कर्म योगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा बनती हुईं आत्मविद्याक्यपरिष्ठा बन कर निःशेष-सुकित)-खणिका बन जावगी, एवं यही कर्म योगनिष्ठा कर्म संवह से कर्म योगनिष्ठा बनती हुईं लोकसंग्रहप्रवर्धिका बन कर अत्युदय-सुकित)-धमिक बन जावगी। इत्यप्यर उभरनिष्ठा ऐसी योगनिष्ठा (कर्म योग-धम्म बुद्धियोग) से दुम्हाटे ऐहिक-आधुनिक दानो पुरधार्थ सिद्ध हो जावेंगे।

७८-मगधसम्प्रदाय धम्मबुद्धियोगनिष्ठा—

ठीक इलके विपरीत, यदि हमने अपने शास्त्रीय कर्म योग को बीबेष्ठादानुगत बनाने हुए केवल संवह मगधमन किया तो, ऐक्य कामनात्मक कर्म दुम्हारी लोकपरिष्ठा का संरक्षक बनता हुआ मी दुम्हें दुम्हारे पुरधार्थसंग्रह आधुनिक आत्मनिष्पेय से बन्धित रख देगा। और दुम्ह-स्वर्ग-सुक मोलने पर मी— एा पुरधय मत्स्यशोक विहासित' के अनुसार—'बास्त्व सिम्प हत दुःखप्रद-प्रधान्त-भवमय-शक से अपना गु न कर सकेंगे। 'एकं साधर्म्यं च योगी च य' परयति स परयति के अनुसार कामत्याग से दुम्हाटी योगनिष्ठा 'संस्कृतिष्ठा' बनती हुई सुकितप्रदात्री बन जावगी, यही योगनिष्ठा कर्म संवह से 'योगनिष्ठा' सुकितप्रदात्री बन जावगी। और इत्यप्यर इत संशोधित—'धम्म बुद्धियोग' सस्य उभरनिष्ठात्मक,

साधन है। सर्वत्र त्रिगुणभाव का व्याप्त्य है *। इसी त्रिगुणभाव के कारण अर्थात्-अधर्मगत भी ये विरक्तकर्म (वैदिक प्रवृत्तिकर्म) अद्यतुगत बने हुए हैं। त्रिगुणभावगत ऐसे प्रवृत्ति-साधन वैदिक कर्म अर्थात्-स्वार्थ के परिपोषक बनते हुए आस्तिकिकनक हैं। अतएव परंविन कर्म योग कथन का प्रवर्तक बनता हुआ स्वाभ्य है। श्रुतिबंध में परम्परया प्रवृत्तित आर्षविद्यातुगत कर्मयोग प्रवृत्तिप्रधान ही बना हुआ था।

आज भी तो अर्थात्कर्म प्रवृत्तिप्रवृत्त ब्राह्मणवर्णों में— अस्मिन्नेवेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादिरूप से अमानानुगत त्रिगुणभाव का ही प्राधान्य उत्पन्न हो रहा है। तभी तो मगवान् न स्वयं वेद को ही त्रिगुणात्मक कलाका है। क्या मगवान् वेदशास्त्र एवं तदुत्थित यथादित्यत्र कर्म बोग के विरोधी हैं ? नहीं, सर्वथा नहीं। 'तस्मात्प्राज्ञात्प्रं प्रमायां ते अर्थात्काम्यव्यवस्थितौ'—'यत्तुनात्तपकर्म न स्वार्थं काम्यमेव तत्' इत्यादिरूप से वेदशास्त्र, एवं तन्मूलक मानवधर्मशास्त्र को कर्तव्य-कर्म निर्धारक माननेवाले यथादि कर्मों की आशय-कर्तव्यता का समर्पण करने वाले परे परे शास्त्रानुगत कर्तव्यममूलक विमल स्वधर्म पाठन के लिए प्रेरित करने वाले कर्तव्यगिरि गीतप्रदेश के मुख्य पात्र अतु न का धृतिप्रवर्धित, शास्त्रीय सुदृढकर्म में प्रवृत्त करने वाले मगवान् वेदशास्त्र, एवं तदुत्पत्तिराहित कर्म बोग को त्याग्य टह्राते होने वह कर्मयोग भी अधुचित है। मगवान् का विरोध केवल आस्तिक से है बीजानुगत उत्पत्त्यात्वात् से है। क्योंकि वह त्रिगुणात्मिक है। मगवान् केवल त्रिगुणभाव का विरोध कर रहे हैं। इसीलिए तो—'त्रिगुण्य-विषया वेदाः के अनन्तर ही मगवान् ने—'निरत्रैगुणयो भवात्तु न'। हम से अपने मन्तव्य का स्वीकारण कर दिया है। यह कलाकाया का सुभ्र है कि ईश्वरकामना अनुगत कर्म लक्षित कलात्मिक, बापों में से उत्पत्तिक ही कथन का कारण है। कलात्मिक का मूल बीजकामना है—बीजत्वकर्म योगमाद्यनुगत है, योगमाया त्रिगुणात्मिक है। इसके परिणाम से भी ईश्वरनुगत कला हुआ त्रिगुणातीता रिक्ति में परिणत हो जाय है। और उक्त दशा में पहुँचने पर इतक कर्म आस्तिकिकनक के स्थान में आस्तिकिकनक बन जाय है। अतएव इसे 'निहृतकर्म' कहा गया है। प्रवृत्तकर्मों भी प्राकृतिक कला हुआ 'धर्म आशय है। परन्तु वह धर्म आशय आशय उत्पत्तिककर्म में परिणत होना हुआ आत्मावरक बन कर 'अधर्म' रूप में परिणत हो जाता है। अधर्मधर्ममार्ग लक्ष्यमाय से अस्तौगत्वा अधर्म बन जाता है। अतएव मगवान् ने इत श्रुति-साधनाद्यनुगत कर्मयोग में वह लक्ष्यवत आशयक माना है कि, इस कर्म आशय करो, परन्तु अपनी (बीज बी) कामना को प्रधान न बना कर उसे ईश्वरपरित कर दो। इतने द्वारा कर्ममार्ग भी सुदृढ रहेगा कर्मफल भी वधात्तर उत्पन्न हो जायगा उत्पन्न इस उपयोग भी कर लाने का ही कथन से भी बने रहेगे। यही आर्षविद्यातुगत गीतकर्म 'धर्मवृत्तिबोग है' बिन्ने हम 'उत्पत्तिक कर्मयोग' का उल्लेख है। इत्यथ प्रधानतः ब्राह्मणबंध में ही प्रचार रहा है। इसीलिए आज भी तो ब्राह्मण के लिए लोक में वह विकलात् प्रवृत्तित है कि—'अतु न ब्राह्मण बड़ा कर्मट है कर्म-धर्म ही तो ब्राह्मण का स्वधर्म है।

* न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सर्वं प्रकृतिवैमल्यं यदेभिः स्यात्-त्रिमिगुणैः ॥

७६-धर्माभिमव्यवस्थानुगत आर्षविद्या —

धर्माभिम-व्यवस्थानुगत, वेदशास्त्रसिद्ध कर्मकथपद ही कर्मयोग है। यही धर्म है। तन्मूला वेदविद्या ही धर्माविद्या है। काममात्रात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणरूपक बनता हुआ तन्मूल है। निष्काममात्रात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणातीत बनता हुआ 'धम्म बुद्धियोग' है। लोकप्रवृत्तिवा योगनिष्ठा (कर्म योग) और भगवद् धर्मता योगनिष्ठा (धम्म बुद्धियोग) में यही महान् अन्तर है। यही गीता का निष्कामकर्मयोग है, विलंबी मूलप्रतिष्ठा है-वेद्यात्मक एवं तन्मूलिका धर्माभिमव्यवस्था। त्रिगुणमात्र के परिष्कार से दृष्टि 'धम्म' हो जाती है, अतएव ऐस कर्म योग 'धम्मत्वयोग' बन जाता है। धर्मार्थानुगत, अतएव आत्मनि भेदव्यवस्था क, धर्म ही प्रकृतिसंश्लेष विभिन्न वर्णानुगत विभिन्न व्यवहारानुगत, अतएव शोकाभ्युत्थयवस्था क, शास्त्रसिद्ध ऐसा तन्मूलयोग ही गीता का 'साधनवाद' है यही निष्कामकर्म योग है, किन्तु स्वयं न जान कर केवल अपनी किशुद्र कल्पना के आधार पर विलग, धर्माभिमव्यवस्था, त्रिगुणमात्रात्मक उच्छ्वल विमदर्शानुगत-धम्मव्यवहाररूपक प्रतीत्य साम्यवाद के साथ हमारे वर्तमान यही गीतामस्त धम्मगत करने का अधर्म्य व्यवहार करते हुए 'दन्त्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा धम्मनेय नोयमाना यथाग्धा' को सर्वप्रथम धर्माभिम बना रहे हैं।

७७-प्राचीनामिता कर्मयोगनिष्ठा —

लोकनिष्ठा त्पगमूला है, योगनिष्ठा संघमूला ^३। लोकोपनिष्ठा प्राचीनमिता ज्ञानयोग है, इच्छे कर्म का परिष्कार है। योगनिष्ठा प्राचीनमिता कर्मयोग है इतने कामना का संघ है। और इस दृष्टि से दानो भावनिष्ठाएँ बुद्धियोगरूप से बहिष्कृत रहती हुई धृष्ट-धृष्ट बन रही हैं। भगवान् ने योगनिष्ठा कर्मनिष्ठा के संघर्ष में यही आदेश दिया कि, तुम केवल इते ही (कर्म योग को ही) उमरनिष्ठरूपक बना डालो। यह धर्मो धम्म है, बाकि तुम अपने कर्म योग में त्पग और संघ दानो का लम्बन कर दो। त्पग का कामना का (किन्तु तात्पर्य है-बीबेन्डा का परिष्कार) संघ का ईश्वरानुगत प्राकृतिक कर्म का। काम त्पग से तुम्हारी यही कर्म योगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा बनती हुई आत्मविकारप्रवृत्ति का बन कर निःभेद-मुक्ति-साधिका बन जायगी, एवं यही कर्मयोगनिष्ठा कर्मसंघ से कर्म योगनिष्ठा बनती हुई लोकसंघप्रवृत्ति का बन कर धम्म-मुक्ति-साधिका बन जायगी। इत्यन्त उमरनिष्ठा ऐसी योगनिष्ठा (कर्म योग-धम्म बुद्धियोग) से तुम्हारे ऐहिक-आधुनिक दानो पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेंगे।

७८-भगवत्समता धम्मबुद्धियोगनिष्ठा —

ठीक इतके विपरीत यदि धम्म अपने शास्त्रीय कर्म योग को बीबेनामानुगत बनाते हुए केवल संघ का अधुमन किया तो, एत कामनात्मक कर्म गुहारी लाकरिष्य का संघक बनता हुआ भी धर्मो तुम्हारे परमपुरुषार्थलक्ष्य आधुनिक आत्मनिःभेद से बहिष्कृत रूप देगा। और धम्म-स्वर्ग-धुष्ट मानने पर धी-धौला धुष्ट मत्पलोक विश्रुति के अनुसार-धम्म्य धिक्त्व इत दुःखपर-अज्ञान-मनमय-वक से अपना सहाय न कर लेंगे। 'धर्मो साधुर्व च धामो च न परपति स परपति के अनुसार कामत्याम से तुम्हारी यही योगनिष्ठा 'लोकनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदाता बन जायगी, यही योगनिष्ठा धम्मसंघ से 'योगनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदाता बन जायगी। और इत्यन्त एत संघपरिष्ठा-धम्म बुद्धियोग' लक्षण, उमरनिष्ठात्मक,

निष्कामकर्म बोगसक कर्म योग से तुम सब कुछ प्राप्त करोगे त्रिमयी मूलप्रतिष्ठात्मिका, त्वन्काव्यर्थात्मिका
किंवा ही 'आर्पणिया' ब्रह्माई है ।

७८-धम्मसुद्धियोगात्मक कर्मयोग का समन्वय—

विभिन्न दृष्टियों में आर्पणिया एवं तनुगत धम्मसुद्धियोग का स्वरूपभिरहोपण किया गया । अब एक अन्य दृष्टि से इसका समन्वय किया जाता है । 'धम्म' शब्द का स्वरूप-परिचय करते हुए हमें यह स्पष्ट किया है कि—'प्रवृत्तिविद्ध-प्रवृत्तिमेवमित्त-बर्णावशांजुगल-विभिन्न-कलस्य कर्म' का ही नाम 'धम्म' है । इस कर्मार्थक धम्म शब्द के ही आगे बाहर 'विधिधम्म', 'कर्मार्थकधम्म', 'सांस्कारिकधम्म' भेद से तीन विभाग हो जाते हैं । 'अहरह' सम्पत्पानुपासी' (प्रतिदिन कर्म्य करते) 'अहरह' स्वाध्यायोऽध्ययव्य (प्रतिदिन शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए), इत्यादि आदेशनात्मक विन आदेशों का विधान कर रहे हैं वे आदेशनात्मक विधिवचन ही 'विधिधम्म' है । मन्वादिशास्त्र इस विधिधम्म' के सम्बन्ध में ही 'धर्मशास्त्र' ब्रह्माण है । विधि के साथ साथ इनमें निश्चि धर्मों (अघम्मोत्पन्न धर्मों) का भी समावेश हुआ है । 'मा हिंस्यात् सवा मृतानि' (किसी को मार न दो) 'नक्षेत्रोद्यन्तमारिस्वयम्' जगते हुए धर्मों को नही रोकना चाहिए) इत्यादि नियमों का भी धम्म शास्त्र में ही संघट्ट हुआ है । कर्मोत्पन्न धम्म भी इतिक्रम स्वता चलाने के कारण धर्म (कर्म) प्रक्रियात्मक विधि-नियम-वाक्यों का संग्रहनात्मक शास्त्र 'व्यवहृत्याय' से धर्मशास्त्र (धर्मप्रतिपादकशास्त्र) कहलाना है किन्तु शास्त्रात्मक, विधिनियम-वाक्यात्मक धर्मों को हम 'विधिधम्म' कह लज्जे हैं । शास्त्र में बैठे करने की आशा ही 'नेत्र' हमें किया । बिल्कुल नियम किया, वह न किया । इस अनुष्ठेय धर्म का नाम ही 'कर्मार्थकधर्म' है, और यही धर्म का वास्तविक स्वरूप है । विधिधर्म केवल आदर्शधर्म है । जब तक धर्म केवल धर्मों में सीमित है तब तक वह वास्तविकता से अहिच्छित रहता हुआ हमारा कोई उपकार नहीं कर लज्ज्य । धान्यरस करने पर ही धर्म वास्तविकता बनता हुआ हमारी स्वरूपस्था करता है । अतएव ज्ञानधर्म 'क्रियतकधर्म' माना गया है । 'आत्मना वृत्तः सम् आत्मनः स्वरूपं रक्षति' ही धर्म का स्वरूपलक्षण है । विधि नियम वचनों को (विधिकर्मों को) हमारा आत्मा धारण नहीं करला । धारण करला है वह विधिप्रतिपादित धर्म को । अतः धर्मों को ही धर्म कहना अनर्थ बनला है । यह विधिधर्म वहाँ धम्मशास्त्र में सुलक्षित रहला है वहाँ कर्मार्थक वास्तविक धर्म धर्मों में सुलक्षित रहला है । यही 'कर्मार्थकधर्म-जानक' वृत्त धम्मविद्यम है ।

८०-ज्ञानकर्मार्थिका धम्ममीमांसा—

कर्मार्थक धर्म ज्ञानार्थक है । अतएव इस कर्मार्थक धर्म के आगे बाहर धान्यप्रधान धम्म, धम्मप्रधान धर्म के दो विभाग हो जलते हैं । ज्ञानात्मक धर्म से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह 'मोक्षनाशक' कहलाया है एवं कर्मार्थक धर्म से उत्पन्न संस्कार ज्ञानाधर्म कहलाया है । हमारे ज्ञानाधारण और कर्मधारण से संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं । ये उत्पन्न संस्कार-धम्मनाशक और ज्ञानकर्मार्थक आत्मा के उत्पन्न वृत्त रहते हुए 'धम्म' नाम से ही व्यक्त हुए हैं । इसी संस्कार-धम्मसुद्धि का नाम निष्कामकर्म में 'उत्पन्न' है । यही उत्पन्नधम्म यही ज्ञानकर्मप्रवृत्ति का कारण बनता है । यही उत्पन्न नियमों का बाले

हैं जो आत्मा बीजभूत बन जाता है। अतएव मानना पड़ेगा कि, जब तक सांस्कारिक धर्म है, तभी तक अध्यात्मसंस्था की स्वरूपरक्षा है। इन्हीं से कर्म-कर्म-चक्र प्रवाहित रहता है। यही भाषनायाचना संस्काररमक धीमे 'सांस्कारिकधर्म' है, जिसे हम कर्मात्मकधर्म से उत्पन्न 'फल' भी कह सकते हैं।

८१—एकदशेन्द्रियाधिष्ठाता कर्मात्मा—

क्या फल कर्मन का कारण है ? धरन की मीमांश करते हुए पूर्व में यह मतलाया गया है कि अध्यात्मसंस्था का स्वरूपरक्षक उत्तम अन्तर्बुद्धि है एवं भाषना-वाचनात्मक संस्कारयुग्म से ही इस अन्तर्बुद्धि का निर्माण हुआ है। यही सांस्कारिक अन्तर्बुद्धि ज्ञानकर्मात्मक फल है जो ईश्वरमानुगत मन्ता हुआ कमी कर्मन का कारण नहीं बनता। ईश्वरमानुगत संस्कार यहाँ आत्मधर्म है, यहाँ यही बीजधर्ममानुगत बनता हुआ 'अभिनिवेश' नामक अधर्म बन जाता है। यही अभिनिवेश फलात्कृतिरूप में परिणत होता हुआ आत्मस्वभावक बन कर आत्मकर्मन का कारण बन जाता है। 'अभिनिवेश' का क्या स्वरूप है ?, इस धरन के समाधान के लिए हमें संस्कार का एक विभिन्न दृष्टि से समन्वय करना पड़ेगा।

आत्मा ज्ञान-कर्मात्मक है यह स्पष्ट किया जा चुका है। ज्ञान-कर्मात्मक कर्मात्मा जिन इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान-कर्मात्माधार के सम्बन्धन में समझ होता है वे इन्द्रियाँ भी ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय, मी से दो मार्गों में ही विभक्त हैं। एक भोज प्राण रहना, एक वे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। एक प्राण, पाद पायू उपरम वे पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मात्मक ज्ञानप्रधान हैं कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानात्मक कर्मात्मक प्रधान हैं। स्वरूपी संस्कार-विकल्पात्मक मन उभयामक है इसमें ज्ञान-कर्म का समानरूप से समन्वय है। सम्यु दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्यात्मसंस्था में ११ इन्द्रियाँ ही जाती हैं जिनका वैदिक वाक्, प्राण, चतु, भोज मन, इन पाँच इन्द्रियों में अन्तर्भाव माना गया है जिनका 'आत्मस्वरूप-प्रतिबिम्ब' नामक परिच्छेद में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। जिसप्रकार अम्य राष्ट्र की प्रजा पर व्याधिपत्य स्थापित करने के लिए पहिले यहाँ के राष्ट्रपति पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होता है एकमेव इन्द्रियवर्ग के संयम के लिए पहिले लक्षितता उभयधर्मक मन का संयम अपेक्षित होता है जैसाकि निम्न लिखित मनु-वचन से स्पष्ट है—

१—एकदशेन्द्रियाप्याहुयानि पूर्वे मनीषिण ।

तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥

२—भोज-त्वक्-चक्षुषी-त्रिह्वा-नासिश्च-चैव पञ्चमी ।

पायू-पत्यं इन्द्र-पाद-वाक्-चैव दशमी स्मृता ॥

३—पुद्गीन्द्रियाणि पञ्चैषां भोज्यादीन्यनुपूर्वग ।

कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाज्यादीनि प्रवक्षत ॥

४—एकद्रश मनो ज्ञेय स्वगुणेनोमयात्मकम् ।

यस्मिञ्जिते जिवावर्ता भवत् पञ्चकां गद्यां ॥

—मनु २। २६, ६० ६१ श्लो० ।

८२—आत्मेन्द्रियमनोऽप-मोक्षात्मा—

मनोऽनुगत ज्ञानन्द्रियों में उत्पन्न भावनासंस्कार एवं मनोऽनुगत कर्मेन्द्रियों से उत्पन्न वाक्यासंस्कार आत्मा पर प्रतिक्रियित होता है। अतएव आत्मा संस्कार-संस्कृत बनता हुआ स्वविक्षाप्त से चम्कित हो जाता है। आत्मसंस्कृतप्रतिफल से अपरिचित अन्न अन्न प्ररन कर सकते हैं कि 'अन्न खायाँ मैं आत्मा को 'न सञ्जते, न व्यथते, न रिप्यति' स्वविकल्प से सर्वथा अटका बलगाया है तो उसे मायना-वाक्यासंस्कार कैसे आहत कर सकते हैं ?। किंतु प्रश्न आहो-
रान अन्न में रहता हुआ भी पक्ष बलसम्पर्क से वृषभ-निर्लेप बना रहता है एवमेव आहोरात्र इन्द्रियानुगत ज्ञान-कर्मा (भावना-वाक्या) में यत् रहता हुआ भी आत्मा-“लिप्यते न स पापन पद्मपत्रमि
वाग्ममा” के अनुसार तर्जया अन्न-निर्लेप ही रहता है। ऐसी अवस्था में संस्कारों में आत्मा को लिप्यत बलाना और अनुपमाय से आत्मा का कुली मानना कैसे सहाय हो सकता है ?। प्ररनों का समाधान 'वाङ्मयिण्यति प्रकरण में विस्तार में किया जायुगा है। स्वविकल्प सम्प्रत्यक्षा अपर-ही प्रत्येक दशा में अन्न-ही विने 'अन्नवद्वत्त्वा अन्न गमा है। इत अन्नवद्वत्त्वावतल के आचार पर सम्प्रत्यक्षि पाँच लयदा-
त्वाओं का विद्यत होता है विनेमें ही लयदात्ता ही अन्न-ही एवं तीन अन्न-ही। लयम् के अन्न-ही प्राण
(अधि) एक से अनुपन्न सम्प्रत्यक्षा और स्वयं के अन्न-सावित्राणि में उत्पन्न विद्यमानता (बुद्धि), ये दो लयदात्ता तो अन्न-ही। परमेही के लयदात्ता अतएव अन्न-ही सोमवत्त से अनुपन्न महानात्मा अन्नमा के
मास्वर-स्नेहगुण-संम में उत्पन्न महानात्मा (मन), एवं अन्नवत्तवर्गमित धृषिणी से अनुपन्न वैश्वानर-तैबल-
अन्नमूर्ति कर्माभेदा कर्मात्मा, ये तीन लयदात्ता अन्न-ही। महानात्मा कर्मात्मा की योगि है महानात्मा
कर्माप्रति का द्वार है। महानात्मा महानात्मा कर्मात्मा अपने महान-प्रदान-एवं स्वातुगत लयदात्ता
से अन्नवत्त संस्कारादक बना रहता है। किंतु मन के द्वार संस्कार उत्पन्न होते हैं, वह मन स्नेहगुण
सोमवत्त बनता हुआ अन्न-ही। कर्मात्मा का इत अन्न-ही मन के लय-प्रतिकल्पन-सम्पर्क है। उन्नतलय
अन्न-ही मन में ही ज्ञानेन्द्रियों के द्वार भावनासंस्कार का, एवं कर्मेन्द्रियों के द्वार वाक्यासंस्कार का उत्पन्न होता है।
मन में उत्पन्न संस्कार मन पर प्रतिक्रियित रहते हैं। कर्मात्मा मन से संक्रिय है अतएव मन पर प्रतिक्रियित
संस्कार कर्मात्मा को भी आहत कर लेते हैं। अतएव इन्द्रिय, मन कर्मात्मा तीनों के सम्मिलित रूप को
ही उपनिष्ठा-ही-‘मोक्षात्मा (कर्माभेदा संस्कारिक कर्मात्मा) नाम से व्यख्यात किया है-‘आत्मेन्द्रिय-
मनोयुक्तं योग्येत्याहुर्मनीषिणः (अनुपनिषत्)।

८३—अनुभव, और भ्रम-तत्त्वपरिचय—

अनुभव और भ्रम के दो व्यापार ही उक्त संस्कारों की मूलप्रतिष्ठा हैं। अनुभवहित संस्कार ही
भावना है इन्में कर्मेन्द्रियव्यापार का प्राधान्य है। अस्कारितसंस्कार ही वाक्या है इन्में कर्मेन्द्रियव्यापार
व्यपन्न है। किन्में पक्ष संस्कार वैश्वानर अनुप्राहित (भावनात्मक) हैं किन्में एक केवल अनाहित (वाक्या-

त्मक) हैं। एवं किन्तें एक अनुभव-भमाहित (भावनावासनात्मक, उभयव्यक्त) हैं। हम सुपनाप नेठे हैं, जोह कर्म नहीं कर रहे, कर्मेन्द्रियाँ शान्त हैं। एक व्यक्ति आकर करता है कल प्रातः हमें अनुक छिद्रपुत्रप ने मिलने बुलामा है। सुनते ही अन्तर्बन्ध में प्रकृता की लहर दौड़ जाती है। उत्सव प्रज्ञानमन में एक प्रकार की छाप लग जाती है। यही केवल ज्ञानात्मक अनुभवहित भावनासंस्कार का उदाहरण है। किसी के हम बोर से प्यङ्ग मार देते हैं। हमारे अन्तर्बन्ध में एक बौम की लहर दौड़ जाती है। इसकी छाप भी प्रज्ञानमन में छुटकाण उठी प्रकृति प्रतिष्ठित होजाती है, जैसे कि बाल के टीले पर हाथ मारने से उस पर हाथ की छाप लग जाती है। यही केवल कर्मात्मक भमाहित वासनासंस्कार का उदाहरण है। मोहन कर रहे हैं। ज्ञानेन्द्रियों का भी व्यापार हो रहा है कर्मेन्द्रियों का व्यापार भी प्रकृत्य है। स्वाद, गन्ध, प्रत्यक्ष, शब्दुली (पापङ्ग) लाने से शब्दादि ज्ञानभाव भी प्रकृत्य है इन्धभाव्यापारालक्षण कर्म भी प्रकृत्य है। यही अनुभव-भमाहित भावनावासनासंस्कार का उदाहरण है। तत्पर्य-भावनात्मक अनुभवहितकर्मकार, एक वासना-त्मक भमाहितसंस्कार, दोनों कर्मात्मानुगत स्नेहगुणक, सौम्य प्रज्ञानमनोवरातल पर लक्षित होजाते हैं। संस्कारों का प्रज्ञानघटतल पर लक्षित होबाना ही-‘अभिनियेश’ है।

८४-विभूति, योग, बन्धन-साधना सम्बन्धवर्षी-

अभिनियेश शब्द की तात्पर्यार्थावगति के लिए सम्बन्धवर्षी का जान लेना आवश्यक होगा। विभूति योग, बन्धन भेद से दो बन्धनों का किंता अनेक वस्तुओं का परस्पर होने वाला सम्बन्ध तीन मार्गों में विभक्त माना गया है। स्वर्गात्प स्वर्गवर्षिभिन्व स्वर्गवित्र, तीनों तीनों सम्बन्धों के उदाहरण मार्गें जासकते हैं। एक क्षय पर स्वर्ग के आतप (धूँ) का सम्बन्ध होरहा है। जैसे बैल्लोत्प के अन्य पदार्थों के साथ आतप का सम्बन्ध है एवमेव इस क्षय के साथ भी अतद्भूतय से आतप का सम्बन्ध होरहा है। काच, और आतप का वह सम्बन्ध विभूतिसम्बन्ध है जिसे हम असम्बन्धात्मक सम्बन्ध ही कहेंगे। दर्पण पर स्वर्गभिन्व लक्षित होजाता है। दर्पण पर प्रतिभिन्व प्रतिष्ठित अक्षर्य है। परन्तु दर्पण के साथ प्रतिभिन्वित स्वर्ग का इत्पन्धि-कल्पन नहीं है। आतप दर्पण को स्थानान्तरित करते ही प्रतिभिन्व स्वप्रभवस्वर्ग में विलीन होजाता है। दर्पण और प्रतिभिन्वित स्वर्ग का यही पारस्परिक सम्बन्ध ‘योगसम्बन्ध’ है, जिसे हम ‘नियेश’ कम सम्बन्ध कहेंगे। किसी विशेष साधन से संभावित दर्पण पर स्वर्ग का चित्र लेंबा गया। स्वर्ग प्रतिभिन्वित होगया, दर्पण पर स्वर्ग का चित्र (कोटी) उठर आया। इस चित्रात्मक स्वर्ग के साथ दर्पण का जो सम्बन्ध है वही ‘कल्पन’ सम्बन्ध कहलाता है। इत्में चित्रित स्वर्ग अमित (धर्मात्माना) दर्पण में निक्षि (प्रविष्ट) होजाता है। आतप इत्पन्धिकल्पनात्मक इस सम्बन्ध को हम अक्षर्य ही ‘अभिनियेश’ नाम से स्पष्ट कर लकते हैं। टीक हली प्रकार भावना-बन्धन-संस्कारों का भी कर्मात्मा के साथ होने वाला पारस्परिक सम्बन्ध तीन मार्गों में विभक्त रदा है। इन तीन सम्बन्धों के अचिछान कते हैं-तीन आत्मा। अम्प्यात्मा अतद्भू है। वही काव्यात्मिक ईश्वर है। यदि कर्मात्मा की इच्छा इस अतद्भू अम्प्यवशमा में धर्मित है, तो चित प्रकृति अम्प्येश्वर सर्वत्र विभूतिसम्बन्ध से व्याप्त रदा हुआ भी मिले है एवमेव अम्प्यात्मानुगत कर्मात्मा भी रते हुए भी संस्कारों के साथ विभूतिसम्बन्ध से सम्बन्ध करता हुआ मिले बना रहता है। ऐका कर्मात्माना (बीबलता) ‘बुधप्रपि-न क्षिप्यत’ के अनुगार लजात् ईश्वर है। दूसरा है-विज्ञानात्मा (बुद्धि), जिसे हममें लक्षितानि के सम्बन्ध से अतद्भू बनजाता है। यदि कर्मात्मा इस विज्ञानात्मा को प्रयत्नरूप से प्राप्त बना कर कर्म में महत होत,

है तो तदुत्तर उत्तर प्रतिबिम्बरूप से कर्मात्मा पर प्रतिष्ठित रहते हैं। यही बुद्धा बोधसम्बन्ध है जिसे वाच-बुद्धिवादी ब्रह्म वाचक्या है। तदनुगामी पुरुष पुञ्जानबोधी ब्रह्मण्य है। विसरा है-प्रज्ञानात्मा (मन), जिसे हमने आन्तरिक के सम्बन्ध से लक्ष्य कठनाया है। इत मनका स्नेहगुण लक्ष्य उत्तर है जिसे वाधारण्य काच कृष्णकशास्त्रिक चित्रमाहक फल (प्लेट) रूप में परिष्कृत होबाया है। यदि कर्मात्मा इत प्रज्ञानात्मा को प्रज्ञानरूप से आत्मन्त कना कर देनिप्रियक कर्मों में प्रवृत्त होता है, तो तदुत्तर उत्तर चित्ररूप से कर्मात्मा में स्पर्शमना निविष्ट हाबाते हैं, उत्तरों के साथ कर्मात्मा का प्रत्येकचरन सम्बन्ध होबाता है। यही उत्तर सम्बन्धसम्बन्ध है जिसे आत्मकर्मपंथा ब्रह्म वाचक्या है। तदनुगामी मनुष्य ही आत्मकामी-विषयपदक्या-संखरी ब्रह्मण्य है। इत्यन्त आत्मन्, विज्ञान प्रज्ञान प्राधान्य से उत्तरों का कर्मात्मा के साथ हीन प्रक्षार से सम्बन्ध सम्भव है। आध्यत्मिक विभूतिस्वन्त मी आत्मन्त है विज्ञानमूलक बोधसम्बन्ध मी आत्मन्त है। सम्बन्धन है प्रज्ञानमूलक चरनसम्बन्ध, इत्यन्तिसम्बन्ध आन्तरिकसम्बन्ध जिसे 'अग्निविशेष' ब्रह्मण्य है। विद्य है कि, स्वयं उत्तर आत्मी अोर से, अपने स्वरूप से चरन के कारण नहीं है, अर्थात् उत्तरों का प्रज्ञानमूलक चरनसम्बन्धसम्बन्ध अग्निविशेष ही आत्मन्त का कारण है जो अग्निविशेष 'अज्ञानविशेष' नाम से स्पष्ट होबा है। किञ्च प्रक्षार एक रवेतत्त्व ब्रह्मण्य से जाने वाले रंग से रचित होकर अपनी स्वामाधिक रवेतत्वा से आहत होबाया है वृत्ते शब्दों में कल की घातका से टुकटा करन में लगे हुए रख से जैसे करन का स्वामाधिक शक्ति विरहित होबाया है, एवमेव ब्रह्मस्थानीय प्रज्ञान मन के स्नेह-गुण (आत्ममयी-आत्मिक) की लक्ष्य से सम्बन्धन व ज्ञानमोक्षिर्मन मी आत्मा का स्वामाधिक अग्नि-मन्य आहत होबाया है। इत एक अग्निविशेष से ही बुद्धि के चर्म-ज्ञान-वैद्य-वैद्य, वे चारों विद्याभंग आहत होते हैं, उद्धार कर्मात्मा मुकुटित कन बाता है। एतत्वा रविद्य, उत्तरों का कर्मात्मा के साथ इत्यन्तिसम्बन्ध होजाना ही अग्निविशेष है। दूसरे शब्दों में 'अग्निविशेष' का ही नाम अग्निविशेष है। इस्ते पर मी निष्कर्ष निकल आता है कि, अग्निविशेषनामान में केवल बोध, तथा विभूति-सम्बन्ध से जाने वाले उत्तर उत्तर आत्मन्तसम्बन्ध के आन्तरिक नहीं कन लक्ष्ये जैसे कि एता हुआ मी विषयपक्ष ब्रह्मण्य ईश्वर के स्वामाधिक विद्यत को आहत नहीं कर सक्या। एतत्त्व-सम्बन्ध स्वयं दोष नहीं है आत्मन्तसम्बन्धसम्बन्ध नहीं है, अर्थात् उत्तराग्निविशेषसम्बन्ध ही आत्मन्तसम्बन्ध का प्रत्येकचरन है। उत्तराग्निविशेष (उत्तराग्निविशेष) आत्मन्तसम्बन्ध के विद्यमान प्रक्षार की आहत करने वाला कृष्णमंथ है। उत्तराग्निविशेष अग्निविशेष विद्यतीय कर्मात्मा पर-सम्बन्ध है विद्यतीय सम्बन्ध है। इत पर (विद्यतीय) सम्बन्ध के पाठ में आत्मन्त आत्मा अपने लक्ष्यसम्बन्ध से अग्निविशेष होता हुआ 'परसम्बन्ध' कन बाता है। स्व-सम्बन्धगत आत्मा बर्हा मुग्धात रहता है बर्हा परसम्बन्धगत आत्मा अग्निविशेषसम्बन्ध कर्मात्मा कन बाता है। सम्बन्धगत आत्मन्त है सम्बन्धगत आत्मन्त है। इत्यन्तिसम्बन्ध परसम्बन्ध मात्र ही सम्बन्ध-सम्बन्ध-सम्बन्ध के मूल कने हुए हैं। एतत्त्व सम्बन्ध है परसम्बन्ध सम्बन्ध है, बर्हा सम्बन्ध-सम्बन्ध का वास्तविक लक्षण है अग्निविशेष निम्न स्थितिगत स्मार्त बर्नों से स्पष्टिकरल हुआ है—

यद्यत् परवशं कर्म तद्यत्नेन वर्जयेत् ॥
 यद्यत्तात्मवशं तु स्यात् तद्यत् सेवेत यत्नत ॥ १ ॥
 सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ॥
 एतद्विद्यात् समासेन सचण सुख-दुःखयो ॥ २ ॥
 —मनु ४।१२३, १६, १

८५-अग्निवेशात्मक संस्कारवचन—

कतलाभा गया है कि, संस्कार दुःख के कारण नहीं हैं अपितु संस्काररूपनरूप अग्निवेश दुःख का कारण है। कारण यही है कि, उरयाप्माकांक्षा नाम की आसक्तिभूता भविक्रमना (भविक्रमा) से सद्यः पहान मन तो प्रकल हो जाता है एवं अरुह विज्ञानात्मा (बुद्धि) निर्बल बन जाता है। ज्ञानकर्मोन्निवर्तन शरीररथ के 'अरुह' हैं प्रहान मन प्रमद (लगाम) है बुद्धि शरणि है। शरणि के प्रमानी बन जाने से लगाम का हाथों से छूट जाता अनिवाच्य है। लगाम के निकलने के शिथिल होते ही अरुहों का उदयपगमन करना अनिवाच्य है। इत्यकार आसक्ति के अनुमद से प्रकल होने हुए मन के प्राकृत्य से बुद्धि के प्रमादशीला बनते हुए इस मनोगम्य में इन्द्रियारुह स्वरूप (असंयत) बन जाते हैं। नियन्त्रणगति का विवेक जाता रहता है। इत्यकार असंयत इन्द्रियों की उच्छ्वलता से आने वाले संस्कार मनःप्राक्त्न से कर्मोत्पत्ता के साथ मन्थिरूपनरूप में परिणत हो जाते हैं। अतएव आचरयक है कि, इन्द्रियों का संयम क्रिया बाध, इन्हें प्रकृत्यनुकूल नियन्त्रणविहारपरिपक्व बनाकर बाध, उदर्य मन पर बुद्धि का निकलने किना बाध एवं लार्थ भविक्रमना को ईश्वरकर्मना में अर्पित क्रिया बाध। इस ईश्वरकर्मनात्मक निष्कामभाव से भविक्रम निर्बल हो जायगा मनःस्वात्मक इह बाधगा। इसी क्रम-निष्कामभाव का स्वीकरण करते हुए मगवान् मनु ने कहा है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दीपमुच्छ्वयसंशयम् ॥
 संनियम्य तु तान्येष सतः सिद्धिं नियच्छति ॥ १ ॥
 यथे कृष्वेन्द्रियग्राम संयम्य च मनस्तया ॥
 सर्वान् संसाधयेदयानधिपवन्योगतस्तनुम् ॥ २ ॥
 —मनु २।६३, १००।

८६-विद्या, काम, कर्मात्मक शुक्रवचन—

'मयाम् संसाधयेदयान्' यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है। मनु कह रहे हैं कि, इन्द्रिय-मन-संयमपूर्वक परिश्रम पुरुषार्थन्ययक कर्मों में प्रवृत्त रहेगी तो श्रम संस्काररूपन में भी आरुह न होगी, साथ ही लोभग्रन्थुरव से भी पबिधत न रहेगी। यही तो कामकाय-कर्मोत्पत्तात्मक निष्कामकर्मयोग का कामकर्मयोगोत्पत्ता वैशिष्ट्य है। इस संकल्प में एक महत्त्वपूर्ण लक्षणा का बिलोपण और कर सीधिया। ज्ञान-कर्मो-बनित मानना-बाधना-संस्कार वारतम्य से शिथिल हट-बनते रहते हैं। किन्तु एक संस्कार उत्पन्न होते ही किर्बन हो जाने हैं, किन्तु

महीने, किन्तु बरतों रहते हैं। किन्तु एक वाचस्पतीय रहते हैं, किन्तु एक बन्मान्तरपर्यन्त अनुभावन करते हैं। अनुभावन क्या करते हैं ऐसे इङ्गुल संस्कार ही तो बन्मान्तरप्रवृत्ति के कारण करते हैं। भावना-वाचनात्मक संस्कारों का अत्यन्तभाव तो बन्म-मृत्यु-बन्ध का ही पर्यवसान है। ज्ञान-कर्म से उत्पन्न होने के कारण भावना-वाचना संस्कार भी 'ज्ञान-कर्म' नाम से ही स्पष्टित हुए हैं। सांस्कारिक ज्ञान 'विद्या' कहालाया है सांस्कारिक कर्म 'अविद्या' कहालाया है, दोनों की मूलाधारभूता तीवरी कामना है। विद्या (भावना) अविद्या (वाचना) कर्म तीनों की समष्टि ही 'शुक्र' (बन्मान्तरप्रवृत्ति का उपादानभूत रेत) नाम से स्पष्टित हुए हैं। जब एक कामबीज सुरक्षित है तब एक संस्कारजनक शुक्र सुरक्षित है। जब एक शुक्र सुरक्षित है तब एक कर्म-मृत्यु-इन्द्र दुर्निवार है। अकाममय ही शुक्रप्रतिबर्तन का कारण माना गया है। ऐतिय।

स घेदैतत् परमं मया धाम यत्र विरव निहितं भाति शुभम् ।

उपासते पुत्र्यं ये सकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्चन्ति धीरा ॥

—सुष्यक ३।१।१।

८७—संस्कारात्मक मान्यतत्व—

आत्मा में उचित संस्कार ही 'मध्य' है, जो कर्मजनित होने से 'कर्म' ही कहालाया है। अत्यन्त दुर्लभ मध्य के लिए कहा जाता है कि—'इतके कर्म ही ऐसे हैं। यहाँ कर्मस्वभाव संस्कारों के लिए प्रवृत्त हुआ है। इन सांस्कारिक कर्मों की उचित, प्रारम्भ, सीमा, ये तीन आवश्यकताएँ मानी गई हैं। किन्तु संस्कारों का योग आरम्भ नहीं होता वे 'उचितकर्म' हैं। योगानुगत संस्कार 'प्रारम्भ' कर्म हैं। एवं मूल संस्कार 'सीमाकर्म' हैं। इनमें निष्कामकर्म योगात्मक धर्मबुद्धियोग से उचित कर्मों की ही निवृत्ति सम्भव है। प्रारम्भकर्मों का जब तो योग पर ही निर्भर है। यही कारण है कि, धर्मबुद्धियोगनिष्ठ निष्कामकर्मयोगी भी प्रारम्भकर्मकथा दुर्लभी बेजे-मुने बाते हैं। प्रारम्भानुगत कामकलेरों से वे भी अपने आश्रये नहीं तथा सकते। हाँ योगानुगत में अक्षर साधारण मानसापेक्षा उनमें विशेषता रहती है। योगमग्न से उनमें मात्रा-स्पर्शादि शारीरिक कर्तों की शिक्षा (छन्दसहित) उत्पन्न हो जाती है। प्रारम्भकलेरा उनकी स्वाम्यविक प्रारम्भशान्ति की कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। उपर अमान्य बीच योगाभाव से इन कलेरों से अक्षर-अक्षर बाते हैं। इनमें शिक्षा का सर्वथा सम्भव रहता है।

८८—संस्कारधन्वनकारशिक्षासा—

संस्कार उत्पन्न हो अक्षर होमे। पण्डु प्रश्न है—इतके धन्वन का। ज्ञान-कर्म से उत्पन्न भावना-वाचनासंस्कार इङ्गुल क्यों बन बाते हैं?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। प्रश्नोत्तरविधि का कारण नहीं है कि, हममें काममय मन को अज्ञातचित्तकचतन्य अभिविधेरा का बन्धक कहालाया है। मन के स्वस्व को देखते हुए वह बात अतद्गत प्रतीत होती है। मन स्तेह्युक्त अक्षर्य है पण्डु इतमें निरवकर्म का अभाव है। ऐतिय-इन्द्रविद्युत् के कारण जब ही विद्यमानक शुक्र के वृत्तिकनक न होने के कारण मन किसी भी ऐतियक विषय पर चिरकाल पर्यन्त इन्द्र नहीं रह सकता। यह क्षण क्षण नहीं नहीं निष्काममनाओं का अनुपायी बना रहता है। कभी इक्षर, कभी उक्षर, कभी इक्षर चाम्बर्य है। 'चक्षत्रं हि मनः कृत्स्नम्' एवं से मीया

ने भी मन के इत अस्मिन्धर्म का समर्थन किया है। मन के इन स्वामाधिक वाञ्छस्व का इतलिए भी सुरक्षित रहना अस्मिन्धर्म है कि, जिस सौम्य चन्द्रमा से यह प्रसूत है यह चन्द्रमा भी गतिचम्पवचान ही है। जब मन की अस्मिन्धर्मता शास्त्र, एवं अनुभव से उभयथा प्रमाणित है, तो इसे प्रतिबन्धनरूप अस्मिन्धर्म का प्रवर्तक कैसे माना जा सकता है ?। मनका यह अस्मिन्धर्म ही हमारे इत पूर्व प्ररनेहयान का कारण बन जाता है कि, अमनामस मन अब चञ्चल है, तो तदनुगत संस्कार इतमूल कैसे बन जाते हैं ?।

८६-बुद्धिस्वरूपपरिषय क द्वारा-जिज्ञासासमाधि-

मन का उतार मिलेगा आपको 'बुद्धि' में। बुद्धि छर तावियाभि से प्रकृता होने के कारण वहाँ असङ्ग है वहाँ—'अप्ये एकल एष स्यात्'—'बृहद् तस्यो मुनेनेष्यन्त'—'सूर्यो बृहतीमभूहस्तपति' इत्यादि विद्वान्दानुसार रिभक्तिक्षण सूर्य से प्रकृत होने के कारण बुद्धि अस्मिन्धर्मप्रयोजिका भी बन रही है। चान्द्र सोमसुप्त तद्गमाव श्रीर चाञ्चस्य, वे वहाँ प्रज्ञानमन के स्वरूपधर्म हैं, वहाँ और त्वकित्राम्बनुगत असङ्गमाव, आर रिचरता, वे विज्ञानबुद्धि के स्वरूपधर्म हैं। यदि मन का बुद्धि का तद्बोग मिल जाता है, तो मन अपने तद्गमाव से, एवं बुद्धि की रिचरता से संस्कारों का इतमूल बनाने में समर्थ हो जाता है। बुद्धि का तद्बोग कैसा ? परतन्त्रतामूलक। यदि बुद्धि स्वतन्त्र है, तब तब यह मन के प्रति अस्मत्तमर्षण नहीं करती, अस्ति टीक इतके विपरीत यह मन का अपना दाम बना लेती है। परिणामस्वरूप बुद्धिवशवर्ती मन का तद्गमाव बुद्धि के असङ्गमाव से आकन्त हो जाता है। आर उव स्थिति में बुद्धि का अस्मिन्धर्म मानस-संस्कारों में उपबुक्त न हो कर आत्मनिहातुगामी बन जाता है। यदि बुद्धि मन के प्रति अस्मत्तमर्षण कर देती है, तो इतस्य स्वातन्त्र्य उच्छिन्न हो जाता है। मनोवशवर्तिनी ऐसी बुद्धि का असङ्ग धर्म ता प्रकल बने हुए मन के सङ्ग धर्म से आकन्त हो जाता है, एवं बुद्धि का अस्मिन्धर्म मन के तद्गमाव से मिश्रित हो कर मनोऽनुगता इन्द्रियों के द्वारा आगत संस्कारों की दृष्टता में विचर बन कर उपबुक्त हो जाता है। बुद्धि मनोऽपेक्षवा तबत्र रहती है—निष्प्रममस्य से। मन बुद्धापेक्षवा तबत्र रहता है—अममाव से। निष्प्राम-म्यवशिष्य बुद्धि ईश्वरअमना से युक्त रहती हुई मानस अमना (जीवेष्वा) का भी निष्प्राममाव में परिणत कर डालती है। सप्राममावात्मक मन जीवनामना में युक्त रहता हुआ बुद्धिअमना (ईश्वरअमना) का भी सप्राममाव में परिणत कर डालती है। निष्प्राममावात्मिका बुद्धि से युक्त मन परतन्त्र है, अतएव बुद्धियुक्त मन शुभाशुभ उभय संस्कारकल्पन से निमुक्त है—'बुद्धियुक्तं जहातीह जमे मुहृत-उपहृत'। सप्राममावात्मक मन से युक्ता बुद्धि परतन्त्र है। अतएव मनोयुक्ता ऐसी बुद्धि अपने अस्मिन्धर्म का मन में अस्मत्तमर्षण करती हुई संस्कारों की दृष्टता की प्रवर्तिका बन जाती है। निष्प्राम यही हुआ कि-बुद्धिगमित अममस मन संस्कार-कल्पनात्मक अस्मिन्धर्म का बन्ध है एवं मनोऽभिज्ञा निष्प्रामबुद्धि संस्कारकल्पनात्मक अस्मिन्धर्म की निवर्तिका है।

८७-अपचा-उपचा-बुद्धि का तात्त्विक स्वरूपपरिषय-

मनतामिज्ञा बुद्धि दर्शनमन्त्रा में 'उपचाबुद्धि' बरत्ता है। एवं मन के गर्भ में युक्ता बुद्धि—'अपचा बुद्धि' बरत्ता है। अपेचाबुद्धि मनतदवर्तिनी बुद्धि है, यही कल्पनमूर्ति का मूल है। उपचाबुद्धि बुद्धिग-वर्ती मन है यही कल्पनमिहृति का मूल है। अपेचा-उपेचा-उपचा के तर्कों का भी गरोदरग इति

आकरक दे कि, बीजा अर्थ व्यवहार में इन शब्दों का समझ आ रहा है, वह अर्थ यही ग्रहित नहीं है। अपेक्षा का अर्थ क्या था वह 'लगन'-'दत्तावधानता'। अपेक्षा का अर्थ क्या था है—'दासमयोक्षी'—अनन्यवधानता—(लापरवाही)। तबिलत में अज्ञ करना अपेक्षा है शान्तवाह का कर काम करना उपेक्षा है। उपेक्षातुष्टि से मुक्त कर्मों से उग्रम संस्कार हट नहीं सकते' इत सिद्धान्त की रक्षा ही सम्भव नहीं। क्योंकि यदि कर्म में उपेक्षा (अनन्यवधानता—लापरवाही) है तो कर्मस्वरूप ही सम्भव नहीं होता। कर्म का स्वरूप तभी सुकृप्य हो सकता है जबकि अपेक्षातुष्टिपूर्वक मनोयोग से उनमें प्रवृत्ति होती है। लक्ष्य कर्म हो, अथवा निष्काम कर्म। कर्म अपनी स्वरूपविधि के लिए प्रत्येक दशा में अपेक्षातुष्टि के व्यवहार की ही अनिवार्य अपेक्षा रखता है। तभी तो कर्मनिष्पत्ता का उद्भव होता है। 'कर्मरत्नेषुभिन्नरते' इत्यादि श्लोकार्थ का विवेचन करते समय भी पूर्व में हमने बड़ी कष्टा है कि पूर्व अर्थवधानता के साथ कर्त्तव्य-कर्म में अनन्यवधान से प्रवृत्त हो जाना ही हमारा आधिभारिक धर्म है। क्या उपेक्षा में अनन्यवधान का उद्भव हो सकता है?। नहीं, मरणा नहीं। पाषाण के दृष्टान्तप्रदाय बड़ी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, कर्मानुष्ठानकाल में यदि हम मावी पक्ष की भी चर्चणा करने लग जाते हैं तो कर्म अध्वर्य रह जाता है। फिर अपेक्षा रखते से तो कर्म की प्रवृत्ता कैसे सम्भव हो सकती है। साथ ही यह भी निश्चित है कि अपेक्षापूर्वक किया हुआ कर्म संस्कार-कथन का प्रयत्न क बन जाता है। फिर हमने फिर आभार पर यह सिद्धान्त स्थापित कर डाला कि "अपेक्षा-तुष्टिकरुह्य कर्म कथन का प्रयत्नक नहीं बनाता अतः हमें अपेक्षातुष्टिपूर्वक ही कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

६१-ईश्वर, एवं जीवानुगत अपेक्षा-उपेक्षा-मात्रों का तारतम्य—

उक्त विवेचनविधि के निराकरण के लिए ही उपेक्षा-अपेक्षा शब्दों के तात्व का परिचयन अपेक्षित हो जाता है। अन्वयमानुगता बुद्धि ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षातुष्टि है बीजात्मानुगता बुद्धि बीजधर्मात्मिका अपेक्षातुष्टि है। बीजधर्मात्मिका अपेक्षातुष्टि काम-कर्मयोग का लक्षण बनाती है, एवं ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षातुष्टि निष्कामकर्म का लक्षण प्रदान करती है। काम कर्म योगानुष्ठान में ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षातुष्टि उपेक्षामात्र में परिणत रहती है एवं बीजधर्मात्मिका अपेक्षातुष्टि उपेक्षामात्र में परिणत रहती है। निष्कामकर्म योगानुष्ठान में बीज-धर्मात्मिका अपेक्षातुष्टि उपेक्षामात्र में परिणत रहती है एवं ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षातुष्टि अपेक्षामात्र में परिणत रहती है। दोनों कर्मों में एक अपेक्षामात्रप्रदाना रहती है एक उपेक्षामात्रप्रदाना रहती है। ईश्वरानुगता अपेक्षा बीजानुगता अपेक्षा का उपेक्षारूप में परिणत कर डालती है, वही अपेक्षातुष्टिकरुह्य निष्कामकर्मयोग है। ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इतलिए तो कर्मस्वरूप सम्भव हो जाता है। बीजानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इतलिए कर्म अनित लक्ष्यारी का प्रतिबन्धन नहीं होने पाता। बीजानुगता अपेक्षा ईश्वरानुगता अपेक्षा की उपेक्षारूप में परिणत कर डालती है। वही अपेक्षातुष्टिकरुह्य काम कर्म योग है। बीजानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इतलिए तो कर्म का उद्भव सम्भव हो जाता है ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इतलिए प्रतिबन्धन हो जाता है। निष्कर्ष बड़ी तथा कि ईश्वरानुगता बुद्धिकरुह्य बीजानुगता अपेक्षातुष्टि की उपेक्षा बड़ी निष्काम-कर्म का मूल है वही बीजानुगता अपेक्षातुष्टिकरुह्य ईश्वरानुगता अपेक्षातुष्टि की अपेक्षा कामकर्म का मूल है। निष्कामकर्म में बीजानुगता बुद्धि की उपेक्षा है किन्तु ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है। कर्मप्रवर्तक बुद्धि बीजात्मा है परन्तु ही निष्कामकर्मयोग 'अपेक्षातुष्टिकरुह्य नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। का तथा कथनविषयक माना गया है। कामकर्म में ईश्वरानुगता बुद्धि की उपेक्षा है किन्तु बीजानुगता बुद्धि की अपेक्षा है। इतलिए काम-कर्म का 'अपेक्षातुष्टिकरुह्य नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है।

एकान्ततः कल्पनप्रवर्तक है। दोनों स्थलों में एक ही उपेक्षा है तो अस्य ही अपेक्षा है। इरवरीय अपेक्षाबुद्धि में महकृत बीवातमा का कर्म बीवबुद्धिदृष्टि में उपेक्षासङ्कत-अवतनकर्म है यही उपेक्षाबुद्धिसङ्कत (बीवापेक्षा सङ्कत) निष्कर्मकर्मयोग है, शिन्का उद्यत्प्रवृत्त ईश्वर पर अकल्पित है। इस कर्म का प्रवृत्त ईश्वर है बीव निमित्तमात्र है। ईश्वरोपेक्षाबुद्धिसङ्कत बीवतमा का कर्म बीवबुद्धि-दृष्टि में अपेक्षासङ्कत सम्बन्धन कर्म है, यही अपेक्षाबुद्धिसङ्कत (बीवापेक्षासङ्कत) काम्य-कर्मयोग है शिन्का उद्यत्प्रवृत्त बीव पर अकल्पित है। इस कर्म का प्रवृत्त बीव है, ईश्वर निमित्तमात्र है।

६२—लौकिक उपाहरणों के माध्यम से अपेक्षा-उपेक्षा-मात्रा का समन्वय—

उपेक्षा-अपेक्षा के एक शान्तीय विश्लेषणमात्र से तब तक विषय स्पष्ट नहीं होता जब तक कि उपाहरणपूर्वक इच्छा स्वकीकरण नहीं कर लिया जाता। आध्यात्मिक कर्म के ईश्वर और बीव, ये दो तन्त्रापी मान लीजिए। ईश्वर शिन कर्मों का प्रेरक बनता है वे कर्म मजार्थकर्म कहलाए हैं "मैं ही हम स्वाभाविक-स्वयम्भवात्मक प्राकृतिक-सहकर्मन कहा करते हैं। नियत समय पर हम प्रकृति की प्रेरणा में मोहन-कर्म में प्रवृत्त हुए। प्रकृत्यगुण भावन किया। यह कर्म इश्वरिय प्रेरणा में सम्बन्ध माना जायगा। इन्होंने जो संस्कार होगा उतका कर्मणमा के साथ प्रतियकल्पन न होगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए ईश्वरद्वारा नियत दैनिक-नियत आहार द्रव्यी का हमें बूझे दिन न तो स्मरण होता न उनके लिए हम व्यथ बनते। बीव शिन कर्मों का प्रेरक बनता है वे कर्म अत्यन्त कहलाए हैं "हैं ही हम कथिम-अप्राकृतिक-कर्म कहा करते हैं।" नमो बीवकामना का प्रापण्य रक्ता है। हमने (बीवतमा ने) अपनी मानस कामना की प्रेरणा में किसी भी दिन किसी विशेष मापद्रव्य का अनुगमन किया। कामना ही मात्र तो कलाकृत लया जाय। कामनागुण कलाकृत लया। यह आहार ईश्वर-कामना के विपरीत किन्तु बीवकामना के अनुकूल हुआ। अतएव इनके गाने में उत्पन्न संस्कार के साथ कर्मणमा का प्रतियकल्पन हो गया। प्रमाण यही है कि दैनिक-नियत-आहार-द्रव्यों में बीवेच्छा की प्रेरणा में स्वाभाविक शिश्य-आहारद्रव्यों में सम्बन्ध गाने वाला संस्कारकल्पन स्वनिर्गता धार धार बीवतमा को लक्ष्मियसाम्ना की धार ले जाया करता है। नियत आहार के लिए मन कभी लालापित नहीं होता। किन्तु अनिश्चित आहार के लिए मन चला करता है।

बुद्ध उपाहरण लीजिए। आप अपने मन में दिन में कौन बार आप जानें हैं। इनीलिए अपने क बार आपकी लीजियाँ पार करनी होती हैं। लीजियाँ पर चढ़ते हैं उतगते हैं। यह स्वाभाविक गमनागमन ईश्वरकामना से सम्बन्ध रक्ता है अतएव हमने मगानसम्भवा-दैनिक लकार का प्रतियकल्पन नहीं होता। सेकड़ी धार गमनागमन करते हुए भी आप पर नहीं लगना करने कि धारने मन में किसी लीजियाँ हैं ? कौन ? क्या देखकर नहीं चलते ? क्या चढ़ने-उतगने में उपेक्षा है ? दाँ पना होता ल' आप गिर पण ? पण्डु पना होता ही नहीं ? फिर संभवा का स्मरण कौन नहीं ? कारण यही है कि पर गमनागमन स्वाभाविक है ईश्वरकामना है। अतएव संस्कारकल्पन नहीं होना पना।

लोग उपाहरण लीजिए। आप पर मे निराल कर उपाहरण परंपर है। मग में सेकड़ी गरी-पुण्ड' पण्डु पण्डु लीजियाँपण्डुता त मगणों का अकल्पन करत गत है। उपाहरण में पण्डु पण्डु लीजियाँ

शता-गुण-बृह-पुत्र-पलादि पर भी आप की दृष्टि जाती ही है। क्या पर लौटने के पीछे आप को उन सब द्रव्यों का स्मरण रहता है ?। नहीं इसलिए कि आपका यह दृष्टिकर्म ईश्वरगुणत बनता हुआ स्वामयिक है। अतएव इन्द्रधारण से उन्नत संस्कारों का प्रतिबन्धन नहीं हो पाया। यदि आप मानसकामना को अग्रणी बना देते हैं तो अक्षय ही तद्विशिष्ट संस्कार प्रतिबन्धन क बन जाये हैं। मान लीजिए-किन्ही पुष्पविशेष पशु-पक्षिविशेष किंवा पुष्प-फलविशेष के प्रति आपकी कामना आकर्षित हो जाती है, तो अक्षय ही तद्वन्वित संस्कार प्रतिबन्धन क बन जाता है। और उल्टी सृष्टि उल्टी पुनःप्राप्ति-दर्शन-के लिए आपको स्मरण कनाय रहती है। अतएव कहना, और मानना पड़ेगा कि, स्वामयिक कर्म बन्वित संस्कार ईश्वरगुणत बनते हुए वहाँ अक्षय हैं वहाँ कृत्रिम कर्मबन्वित संस्कार बीजागुणत बनते हुए उन्नत हैं। इस तत्व को स्मरण होना ही तो मोक्ष के निष्काम-कर्मयोग का एक अग्रक होना है। बीजनाशानिर्वाहक आप कर्मबन्धन शौकिक कर्मों का अनुगमन करते हैं। एक कुछ सुनें-बेसीं-बेसीं लारें, परन्तु अपनी इच्छा को ईश्वर में अर्पित करें। कभी कर्म बन्वित संस्कार प्रतिबन्धन के प्रवक्तृ बन जायें एवं आप ऐसा करते हुए 'न करोति न सिद्ध्यते' को अतिार्थ बना लेंगे। कामनासिद्धि से बोधसक तुल्य होता है, कामनिष्ठाया में बोधसक तुल्य होता है। तुल्य अनुभूतवेदना है, तुल्य प्रतिकूलवेदना है। दोनों में ही अग्रान्ति है। यदि कामना नहीं है तो प्राप्ति में भी ब्रह्म नहीं होता अग्रान्ति में भी ब्रह्म नहीं होता। उन्नत स्थितियों में यह स्थिरपद आधुव्यमाण शान्त अनुभूत अचलप्रतिष्ठ-निस्वराप्त-बना रहता है। अतएव उन्नत-परिष्कण हो बोधसक है। विन्धन ही अग्रक हुआ है —

न जातु कर्म कामनामुपभोगेन शाम्यति ॥

इविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एषामिवद्भते ॥१॥

यस्त्वैतान् प्राप्नुयात् सबान् , यस्त्वैतान् केनसांस्त्यजेत् ॥

प्रापयात् सर्वकामानां परित्यक्तो विशिष्यते ॥२॥

भुक्त्वा-सृष्ट्वा-च दृष्ट्वा च-सुक्त्वा-वाक्त्वा च यो नरः ॥

न ह्यपति, ग्लायति वा, स विज्ञेयो भितेन्द्रियः ॥३॥

—मनु २।११' १४ ३८ ।

६३-भावना-वासना-संस्कारात्मक कर्मात्मा, एवं बन्धनविमोचक आर्षविद्यागुणत-धर्मबुद्धियोग-

भावना-वासना-संस्कार दृग्मूल कर्मात्मा बन जाते हैं, इस प्रश्न का प्राथमिक विवेचन किना गया। और यह स्पष्ट किया गया कि, अपेक्षाबुद्धि के संस्कार दृग्मूल बनते हैं एवं अपेक्षाबुद्धि से संस्कारबन्धन नहीं होता। अब दो शब्दों में अपेक्षाबुद्धिविषयक संस्कारों के तात्पर्य का भी उल्लेख कर लीजिए। अपेक्षा-बुद्धि के तात्पर्य से ही संस्कारबन्धन में तात्पर्य व्यक्त रहता है। सामान्य अपेक्षा से बन्धन सामान्य रहता है विशेष अपेक्षा से विशेष। सामान्य-विशेष अपेक्षाओं से उन्नत सामान्य-विशेष संस्कार अपेक्षा के वैशेष्यकर्म से उन्नतप्रयत्न पर लक्षित रहते हैं। विशेष अपेक्षाबन्वित संस्कार वैशेष्यक कर्म कभी कभी अतिव्यक्त भी बन जाते हैं, शैकिक उपाहरण से स्पष्ट है। आपसे एक स्पष्ट किन्ही विषय के उल्लेख में प्रश्न करता है। विन्धन (संस्कार) सामान्य अपेक्षाबन्वित है अतएव यह विशेष अपेक्षाबन्वित विशेष संस्कार के

नीचे दबा हुआ है। अतएव प्रश्न के साथ ही उसका उत्तर नहीं होने पाता। आप उत्तर देते हैं—‘टहिये। योड़ा सोचलूँ’। इस उत्तर के साथ ही आप उसी प्रकार सोचने लगते हैं, जैसे एक व्यक्ति अन्धेरे में रखी हुई वस्तु को टोकेने लगता है। बुद्धि का व्यापार आरम्भ होता है। कालान्तर में आप उस दृश्य हुए संस्कार को उठे निश्चलते हैं और प्रश्नकर्त्ता का समाधान कर देते हैं। उठने वाली बुद्धि है, उठाने वाला तब संस्कार पुञ्ज है, एवं संस्कारपुञ्जवाधार प्रज्ञानचरात्तल है। क्योंकि प्रज्ञानचरात्तल पर उष्णस्वरूप से अनन्त संस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव सामान्य शक्तिशाली विज्ञानात्मा व्यक्षय उसे नहीं पा सकता। अतएव उसे प्रयास करना पड़ता है और प्रयास की सफलता पर उसके मूल से उसी प्रकार ‘बीबिये, सुनिये, यद् आगमा ये शब्द निष्कल पड़ते हैं जैसे कि अग्नि में लोहने वाले के मूल से वस्तु मिलने पर ‘मिल गई—मिल गई यह वाक्य निकल पड़ता है। इस उठने से वस्तु मिल जाती है। अतएव मानना पड़ता है कि, प्रज्ञान से सम्परिष्कार कर्मात्मा पर आकर ही संस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं, जिनका मूलजनक अपेक्षामान ही बना रहता है। कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि बहुप्रयास करने पर भी स्मरण नहीं होता। इसके दो कारण हैं। यदि अपेक्षा-बुद्धि सामान्य है, निश्चल है तो उद्यत्त संस्कार थोड़े समय पीछे ही विहीन (नष्ट) हो जाते हैं। इन नष्ट संस्कारों की स्मृति असम्भव है क्योंकि स्मृति संस्कारमूला है। दूसरा कारण न याद आने का है—संस्कार का पौर्वापर्य। पूर्वकाल में अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न संस्कार उत्तरकाल में अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होने वाले संस्कारों के नीचे दब जाते हैं। अतएव सामान्यबुद्धि उन पूर्व संस्कारों के अन्वेषण में असमर्थ हो जाती है। इस संस्कारधत्त-मीमांसा से निष्कर्ष हमें यही निष्पन्नता है कि, ज्ञान-कर्म्ममय कर्मात्मा के ज्ञानस्वरूप से संयुक्त काममय मन के प्रबोधन से ज्ञानेश्वरों के द्वारा अपेक्षाबुद्धिसंस्कार से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे—‘मादना’ नाम से व्यक्त हुए हैं। एवं कर्म्मोक्त से संयुक्त काममय मन के प्रासोक्त्य से कर्म्मेश्वरों के द्वारा अपेक्षाबुद्धि-संस्कार से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं वे—‘वास्तना’ नाम से प्रकृत हुए हैं। कर्मात्मा में वे दो प्रकार के संस्कार ही प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में इस संस्कारद्वयी का नाम ही ‘कर्मात्मा’ है। संस्कारी कर्मात्मा ही कम-मृत्यु की शृङ्खला में आकर रहता है किन्तु उन्मुक्त करने के लिए गीताशास्त्र का निष्कामकर्म्मयोग प्रवृत्त हुआ है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है—अतएव आदिप्रास्थात्मिका ‘आपबिद्या’, एवं जिसके आधारे पर प्रतिष्ठित है—‘धर्म्मबुद्धियोग’।

२४—स्वप्न-परधर्म्मनिर्गत आत्म-अनात्म-भाव—

पृथी दृष्टि से संस्कारों के महत्व का समन्वय बीबिये। धर्म्म, ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य्य, ये चारों विद्या-बुद्धि के स्वाभाविक धर्म्म हैं। ऐसी विद्याबुद्धि अन्वयवहता के विद्याभाग से युक्त रहती हुई अज्ञानबुद्धि है। ऐसी अज्ञानबुद्धि से युक्त प्रज्ञानसम्परिष्कार कर्मात्मा (बीबिता) वस्तुशून्य ‘आत्मा’ है। अधर्म्म (अभिनिवेश) अज्ञान (अविद्या) रागाद्वेष (आत्मीक), अनैश्वर्य्य (अभिष्टा) ये चारों विपर्य्यय अविद्याबुद्धि के स्वाभाविक धर्म्म हैं। ऐसी अविद्याबुद्धि अन्वयवहता के अविद्याभाग से युक्त रहती हुई अज्ञानबुद्धि है। ऐसी अज्ञानबुद्धि से युक्त प्रज्ञानसम्परिष्कार कर्मात्मा वस्तुशून्य अनात्मा है, आत्मस्वरूप से वञ्चित है। इसी प्रास्परिक स्वरूप के आधारे पर यह कहा जा सकता है कि धर्म्मादि चारों विद्याबुद्धिधर्म्म कर्मात्मा के स्वस्वधर्म्म हैं, एवं अधर्म्मादि चारों अविद्याबुद्धिधर्म्म कर्मात्मा के अधर्म्म हैं। यह एक स्वस्वधर्म्म सुप्रकृत है उन्नी एक धर्म्म कर्मात्मा स्वस्वधर्म्म से सुप्रकृत है। जिस दिन यह स्वस्वधर्म्म आहत हो जाता है, उस दिन आत्मा का स्वरूप भी शिरोद्विष्ट हो जाता है।

६५-अन्तरङ्गप्रकृतिविगृह्य निगुण्य अभ्ययपुरुष—

'प्रकृति' शब्द ही प्रतीक-धर्म है, क्योंकि 'ब्रह्मस्वरूपपरिचय' नामक परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है। अन्तःपुरुष है। पुरुष प्रकृति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। किन्तु तिन प्रकृति न रहती, उस दिन पुरुष मा न रहता। इसी आधार पर—'प्रकृति-पुरुषं चैव विद्वयनादी उभावपि' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रकृतिशून्य अन्तरङ्ग, वहिरङ्ग मेद से दो धर्मों में विभक्त माना गया है। अक्षर एवं आत्मक्षर की सर्वत्र अन्तर-प्रकृति है, इतना पुरुषस्वरूप में अत्यन्त है। अक्षरव अभ्ययपुरुषवत् अक्षर-आत्मक्षर-नामक अन्तरङ्ग-प्रकृति का भी मगधन ने—'द्विधर्मो पुरुषो लोक शूरत्याक्षर एष च' इत्यादिरूप से 'पुरुष' नाम से व्यक्त कर दिया है। अन्तरङ्गप्रकृति ही अभ्ययपुरुष का स्व-भाव है, इसी के आधार पर पुरुष संप्रत्युक्त बनता है। अभ्ययात्मा का विशेषरत्न ही अन्तरङ्गप्रकृति पर अकलमित है। अक्षरव इसे हम अभ्यसेधर का 'स्वधर्म' कह सकते हैं। अन्तरङ्ग-प्रकृति का आत्मवरम्भय वपनि विगुण्यमगधन है और इत इति में त्रैगुण्य भी वपनि इधरवत्त बन रहा है। तथापि अभ्ययात्मा के विद्या-धर्म-धर्मों की कल्प के कारण इसी आन्तरिक का प्रभाव उस पर नहीं इन पाता। अक्षरव वह गुणमय विश्व में स्थात रहता हुआ भी 'निगुण्य' ही रहनाया है। किन्तु निम्न लिखित गीतावचन में प्रमाणित है—

अनादिश्चाभिगुण्यश्चान् परमात्मायमभ्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कान्तय ! न करोति, न लिप्यत ॥

गीता १३।३१।

६६-अमृत-मृत्यु-मात्रावध ज्ञानकर्ममन्मक अभ्ययपुरुष—

'आत्मप्रकृति लक्षण अक्षर-प्रकृति क्योंकि कर्मो नहीं बदलती अक्षरव इसे 'निर्यायप्रकृति' कहा जा सकता है। विद्वान और मूख दोनों में वह अज्ञानरूप में प्रकृतित रहती है किन्तु अज्ञानता का व्यसर्ग यही है कि ज्ञान-धर्म-धर्मित माया-जायना-उल्लासी में न रहकर हात हाथ न इधर होती। अस्तु—'एष निर्या महिमा ब्रह्मणो न कर्मणा बद्धते, ना कर्माधान क अनुकार वह तदा लक्ष्मणकर्म कर्मानकता ही बनी रहती है। किन्तु तिन स्वधर्मलक्षण यह अन्तरङ्गप्रकृति उरुधन्त हो जाती है उस दिन अभ्ययपुरुष मायाधर्म में विमुक्त हो अक्षरव परात्पर-परमेश्वर में निर्जन हो जाता है। धर्म-ज्ञान-वैतय-देशक-धर्म-बन्धनी आत्मा के स्वधर्म हैं इन्से इत ज्ञानि में नहीं वह ज्ञाना चाहिए कि-अविद्यतहृत कर्म आत्मा का स्वधर्म नहीं है। वह अनेकता स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्म-विज्ञान-मनोज्ञ विद्यामय, एवं मनः-प्राणमात्रय अविद्यामय (कर्ममाय) दोनों आत्मस्वरूप में अमृत हैं। जैसे विद्या (ज्ञान) आत्मा का स्वधर्मवत्तक्षण स्वधर्म है तथैव अविद्या (कर्म) भी आत्मा का स्वधर्मवत्त ही माना गया है। ज्ञान-धर्म दोनों के सम्बन्धन का ही नाम प्रकृति है। इतका अर्थ ज्ञानमाय कल्पक्षण अमृत है अर्थात् कर्ममाय अमृतक्षण मृत है। इत्यन्त-अमृत अप सुसुखं महामहामममु न ।' के अनुसार अमृत-विद्यामयत्त स्वधर्म अविद्यामय (कर्म) भी आत्मस्वरूपजिज्ञासु बनता हुआ स्वधर्मवैशि में ही निविष्ट है।

विद्या (ज्ञान) वत् अविद्या (कर्म) भी आत्मा का स्वामादिक कर्म है । अतएव प्रयास करने पर भी कर्म का परित्याग नहीं किया जा सकता । अतएव जो वेदान्ती (कर्मस्वागानुयायी ज्ञानयोगी, विशुद्ध संन्यासिष्ठ) ज्ञानयोग को कर्मस्वागालक मानते आ रहे हैं, यह उनकी ऐकान्तिक भ्रान्ति ही है । कर्म से विद्यावत् आत्मा का स्वरूप है स्वधर्म है । बिना दिन यह निःशेष हो जायगा, उस दिन ही आत्मस्वरूप ही मिलीन हो जायगा । अतएव सर्वकर्मस्वागलक्ष्य, अतएव असम्भव इस कल्पित संन्यासिष्ठामक संन्यासयोग (ज्ञानयोग) का आमूलचूड़ लयहन करते हुए मगवान् ने कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
 कार्यते ह्यवशा कर्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

—गीता ३।१।

६७—कामत्यागात्मिका कर्मसंग्रहात्मिका संन्यासनिष्ठा, आरं अन्वयपुरुष—

जब कर्म का परित्याग नहीं, तो स्वागालक संन्यास की क्या परिभाषा है, 'स्योर्नेकेऽमृतस्वमानसुः' का क्या उल्लेख है ? प्रश्नों का समाधान करते हुए मगवान् करते हैं—

काम्यानां कर्मणां न्यास संन्यासं क्वपो विदुः ।
 सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्याग विषयज्ञा ॥

—गीता १।२।

विद्यात्मक स्वरूपधर्म, एवं अविद्यात्मक (कर्मरामक) स्वरूपधर्म स्वयं त्वस्वरूप से आत्मधर्म बनते हुए अकल्पन हैं । दोनों का समत्व ही दोनों के स्वरूपत्व का स्वरूपसंरक्षक है । दोनों में से जो भी नियम बन जाता है वही अधर्मरूप में परिणत होता हुआ अकल्पन बन जाता है । केवल विद्या भी प्रतिबन्धिका है, केवल अविद्या भी प्रतिबन्धिका है । दोनों की नियमता का मूलकारण है—कामनामयी रति, फलाच्छेदक अभिनिवेश, जेल कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । 'विद्यायां रत्या' * से स्वयं उपनिषद् ने भी रति को ही विद्या का भी अकल्पनप्रवच कल्प स्वीकार किया है । कामना से दोनों का समत्व अक्षिप्त हो जाता है । यह कामनामयी नियमता ही अकल्पन का मूल है । इसी वश का स्वीकरण करते हुए मगवान् ने यह सिद्धन्त स्थापित किया है कि—

अनाभितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
 स संन्यासी, स योगी च, न निरनिर्नवाक्रिय ॥

—गीता ६।१।

* अन्वं तमं प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासत ।

एतो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता ॥

—इरोपनिषत्

समदर्शन से युक्त विरवदष्टिमुक्तक विषमबर्तन ही गीता का निष्कर्मकर्मयोग है। विषमता का प्रवेश होता ही तब है, जब कि आत्मदृष्टि को छोड़ कर हम किशुद्ध विषमदृष्टि के आघार पर विरवधम्' प्रतिक्रिा कर देते हैं। समदर्शन में विरवगुण आत्मगुणरूप में परिणत होते हुए वहाँ समता के प्रवचक बनते हैं वहाँ विषमदर्शन में वे ही विरवगुण आत्मगुण (आत्मभ्रम') के आवरक बनते हुए, विषमता के प्रवचक बन जाते हैं। गुणपरिष्कार विषमत्वनिवृत्ति का कारण नहीं है। क्योंकि गुणमय विश्व में गुणप्रधान शरीर से युक्त रहने वाली अणुसमस्या के लिए गुणपरिष्कार एकलता असम्भव है। इसे तो गुणमय विश्व में रहते हुए, स्वगुणानुगत स्वभ्रम का पालन करते हुए ही निगुणसम्पत्ति प्राप्त करना है। और इच्छा एकमात्र उपाय है—गुणात्मक कर्मों को निष्कामभ्रम से युक्त कर देना। ऐसा कर लेने से गुणमय विश्वभ्रमों के बधायक्युपासन से लोकसंभ्रमलक व्यवहार की भी रक्षा ही जासगी एवं गुणातीत आत्मभ्रम भी सुरक्षित बना रह जासगा। यही तो निष्कामकर्म का अमूर्तपूर्व—अभ्रुत्पूर्व श्रीराल है, जो 'भ्रमर्ननुद्धिबोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१००—बहिरङ्गप्रकृति, और अस्व्यक्तगमित महान्—

अब दो शब्दों में गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति के गुणमात्रों की भी मीमांसा कर लीजिए। अतिविकी, एतदी तामरी, मेद से अस्व्यक्तप्रकृति तीन विवत भावों में परिणित रहती है। अतिविकी प्रकृति 'वैधासम्पत्' है तामरी प्रकृति आसुरीसम्पत्' है एवं एतदी प्रकृति 'मानवीसम्पत्' है। योगमायात्मिका इस एक ही बहिरङ्गप्रकृति को हमने मौक्तिक विधापेक्षया 'अस्व्यक्त' कहा है और साथ ही इस अस्व्यक्त को बहुसंख्य श्रुति-प्राणायमक कलाया है। यह अस्व्यक्त प्राणायम ही अपने प्राणायमक अस्व्यक्त रूप का सुरक्षित (असुरण) रत्नता हुआ यह के सर्व वाक् भाग को स्वस्वाधार (तप) से स्वस्त-परमेष्ठी के रूप में परिणत कर 'धसुच्छ्र' वा तवेषानु प्राधिरात्' म्पाय से स्वयं भी इसी के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है। इस गर्मीनाश से प्राणप्रधान अ स्वयम्, एवं वाक् से उत्पन्न आपोमय स्वक्त पारमेष्ठी, दोनों के समन्वित रूप का ही त्रिगुणात्मिक 'बहिरङ्गप्रकृति मान लिया जाता है। आपोमय परमेष्ठी महान्' है, प्राणमय स्वयम् अस्व्यक्त है। अस्व्यक्त अस्व्यक्त है महान् स्व्यक्त है। तस्व्यक्तप्रकृति की गुणात्मिका स्व्यक्तप्रकृति महान्' है अस्व्यक्तप्रकृति स्वयम् अस्व्यक्त है। 'अस्व्यक्तप्रकृतिप्रकृति सनातनः के अनुसार अस्व्यक्त-आश्रय-आत्मधर की समष्टिरूप ईश्वर इन दोनों में प्रविष्ट रहता हुआ 'सनातन' तत्व है। अस्व्यक्त स्वयम्, और स्व्यक्त महान्, दोनों की समष्टि को आप एतदिति 'महान्' कह सकते हैं कि सनातन पुनरुत्पिष्ट अस्व्यक्त स्वयम् उत्पन्न धन्याय से महर्गर्भ में समाविष्ट है। यह 'महान्' अपने प्रातिस्विक स्वयम् से अमी केवल किशुद्ध तत्वमूर्ति है। त्रिगुणभावोत्पत्ति इसी महान् से आगे 'वाक्-अल आत्मा' इन तीन मात्रों से उत्पन्न होती है। ध्रुववद गात्रत्राणिप्रधान बनता हुआ अज्ञादप्रकृतिक है अग्नि ही अज्ञात् है। अन्तरमा शोम प्रधान बनता हुआ अधप्रकृतिक है शोम ही 'एष धी सोमो राजा वैधानामर्न—अस्व्यक्तमा' के अनुसार अज्ञ है। स्वयं अत्रिात्रिाणिगमित इन्द्रप्रधान बनता हुआ वाक्प्रकृतिक है 'यागिन्द्र' के अनुसार अत्रिात्रिाणि गमित इन्द्र ही वाक् है। इन्द्रप्रधान अग्निन्द्रात्मक सूर्य्य, अज्ञातात्मक अस्व्यक्तमा, एवं अज्ञातात्म्यमक ध्रुववद तीनों उचर लों में क्रमशः वाक्—अज्ञ—अज्ञात् वे तीन प्रकृतिमात्र प्रकृति हैं। पारमेष्ठ्य आप' प्रकृतिमात्र स्वात्मभ्रम 'प्राण' प्रकृतिमात्र दोनों के मिलाने से स्वयम् परमेष्ठी, सूर्य्य अन्तरमा ध्रुविकी, पाँच विश्वधर्मों के क्रमशः प्रकाश-आप-वाक्-अज्ञ अज्ञात्: वे पाँच प्रकृतिमात्र हाजाते हैं। पाँचों की समष्टि ही बहिरङ्गप्रकृति

६८-विद्या-अविद्या-प्रकृतिविशिष्ट अव्ययपुरुष—

आनन्दविज्ञानमनोमय विद्यात्मा (आत्मा का विद्याभाग) अक्षर के लक्ष्य से पुम्नित-पस्तकित होता है, एवं मनप्राणब्रह्ममय अविद्याभाग (आत्मा का कर्मभाग) आत्मक्षर के लक्ष्य से विकर्मित होता है । अक्षय्य विद्यात्मानुगत अक्षय्यप्रकृति को हम 'विद्याप्रकृति' कह सकते हैं, एवं अविद्यानुगत आत्मब्रह्मप्रकृति को 'अविद्याप्रकृति' कहा जा सकता है । वेद्य कि—'क्षरं स्वविद्या, क्षमृतं (अक्षरं) तु विद्या' (रघु) इत्यादि उपनिषद्भूति से भी प्रमाणित है । विद्याप्रकृति (अक्षर) अविद्याप्रकृति (आत्मक्षर), दोनों का समत्व ही आत्मविद्या (आत्मज्ञान) आत्मा-विद्या (आत्मकर्म) ही आत्मतत्त्वा की प्रतीक्षा है । विद्या-अविद्याशून्य अक्षर-क्षर-प्रकृति का वह समत्व ही विद्या-अविद्यात्मक आत्मा की अन्तरह्रमप्रकृति है, स्वकर्म है स्वबन्ध है । अन्तरह्रमप्रकृति की स्वामात्मिक समता कभी विषमता में परिवर्तित हो जाती है, इस प्रयत्न का उत्तर है—'बहिरह्रमप्रकृति' ।

६९-गुणात्मिकाबहिरह्रमाभावात् 'वेद्यप्रकृति', एवं तन्मूलक कर्मबुद्धियोग—

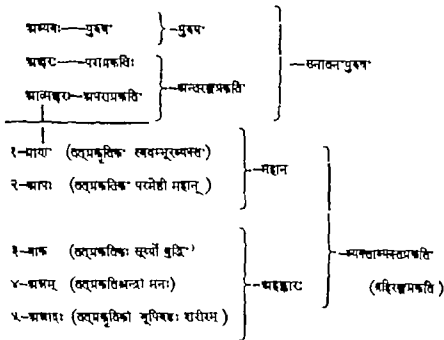
आत्मक्षर की अपेक्षा अक्षरक्षर अस्मत्त्व है अस्मत्त्व अक्षर की अपेक्षा आत्मक्षर अस्मत्त्व है एवं बहिरह्रमप्रकृतिरूप विद्यारक्षर (अप्रकर्मिक गुणभूत) की अपेक्षा अस्मत्त्व आत्मक्षर अस्मत्त्व है । उत्पत्त्य-विरण की उत्पादनमूला विद्यारक्षरप्रकृति की अपेक्षा अक्षरक्षर-आत्मक्षर भी अस्मत्त्व ही बन रहा है । इसके अतिरिक्त अस्मत्त्व विरण की अपेक्षा से (आत्मक्षरपेक्षा अस्मत्त्व कनी हुई भी) बहिरह्रमप्रकृति (विद्यारक्षर) अस्मत्त्व बन रही है । विरवापेक्षा अस्मत्त्व नाम से अक्षरक्षर की जाने वाली बहिरह्रमप्रकृति ही वैश्वरिक विरण का मूल बनती है । इस बहिरह्रमप्रकृति के—'प्राण-आप-वाक्-अन्न-अम्नात्' वे पाँच विरण हो जाते हैं, जिनके कर्मिक विरण का 'आत्मस्वकर्मप्रतिपत्ति' में विरार से स्वर्णरख किया जा चुका है । अक्षरक्षर इन पाँचों का मूल है, नहीं अविद्यत्त्व है, जिसे हमने पूर्व में आर्कमानवबन्ध का मूलप्रवणक बताया है । बहिरह्रमप्रकृतिब्रह्मर इत अविद्यातत्त्व से ही विर-वेद्य-अक्षर-अन्न-अम्नात्-प्रवादि प्राणों के द्वारा वैश्वरिक विरण तथा विरकर्म में प्रतिक्रिय प्रवा, एवं प्रवातुगत कर्म-अकर्म-बन्धों का विरार हुआ है । प्राणरत्त्व वाक से अविद्यात्त्व है । प्राण-वाक् की समता ही बुद्धि है जो अक्षरक्षरमात्मक बयोनाथों से अविद्यात्त्व है । अक्षरक्षर इत बहिरह्रमप्रकृति की 'वेद्यप्रकृति' कहा जा सकता है । जितके समत्व में मायाभूत में 'सर्व वेदात् प्रसिद्धपति 'वेदात्मन्तो हि निर्बन्धो'—'वेदात्तदेव्य एवाथी पूषक् संस्वारचरित्तर्ममे' इत्यादि उक्तान्त त्पापित किया है । आत्मब्रह्मपुण्य, अविद्यात्मक विद्युत्तमात्र का विरार इत बहिरह्रमप्रकृति में आक्षर हुआ है । इतसे पक्षि की उक्ति मानवीयविधि है अस्मत्त्व है गुणरक्षर समत्व है आत्मरक्षि है । अक्षर-तत्र ब्रह्म आत्मका मयति इत्यप्यनुत्तर नहीं विभिन्नगुणमूलक ब्रह्म-क्षर-विद्य-क्षर-मात्रों का अभाव है । बहिरह्रमप्रकृतिमत्ता त्वि वैश्वरिकरक्षि है कर्मरक्षि है गुणमयी विरमत्त्व है विरकत्त्व है । आत्मरक्षि ही विरकत्त्व की मूलप्रतीक्षा है । विरकत्त्व विभिन्नगुणमत्ता होने से विभिन्नकर्मशून्य है । आत्मरक्षि गुणरक्षर बनती हुई विभिन्नकर्मशून्य है । विभिन्नरक्षर आत्मबन्ध है विभिन्न कर्तन विरक-बन्ध है । आत्मबन्धानेक प्रतिक्रिय विरकबन्ध नहीं ब्रह्मरत्त्वता के अक्षर रानित्य है नहीं आत्मबन्ध से बहिरह्रम विरकबन्ध आत्मविषमता के अक्षर कर्त हुए अक्षरान्त के प्रवर्धक माने गए हैं । आत्मरक्षिमूलक

समदर्शन से युक्त विरवट्टिप्रभूलाफ विपमवर्तन ही गीता का निष्कामकर्मयोग है। विपमता का प्रवेश होता ही तब ही जब कि आत्मदृष्टि को छोड़ कर हम किशुद्ध विपमदृष्टि के आचार पर विरवधम्म प्रतिष्ठित कर देते हैं। समदर्शन में विरवगुण आत्मगुणरूप में परिणत होते हुए बर्हात्मता के प्रवक्तृ बनते हैं। यहाँ विपमदर्शन में वे ही विरवगुण आत्मगुण (आत्मधम्म) के आचरक बनते हुए विपमता के प्रवक्तृ बन जाते हैं। गुणपरिव्याग विपमत्वनिवृत्ति का कारण नहीं है। क्योंकि गुणमय विश्व में गुणमयान शरीर से मुक्त रहने वाली अध्यात्मसंस्था के लिए गुणपरिव्याग एकल्लत आसम्भव है। इसे तो गुणमय विश्व में रहते हुए, स्वगुणगुणत स्वधम्म का पालन करते हुए ही निगुणसम्पत्ति प्राप्त करना है। और इतका एकमात्र उपाय है—गुणरूपक कर्मों को निष्कामभाव से कुत कर देना। ऐसा कर लेने से गुणमय विश्वधम्मों के यथावस्तु पालन से लोकसंप्रभूलाफ व्यवहार की भी रक्षा हो जायेगी एवं गुणातीत आत्मधम्म भी सुरक्षित बना रह जायेगा। यही तो निष्कामकर्म का अनुत्पूर्व-अधुत्पूर्व श्रेयस है, जो 'धर्म्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

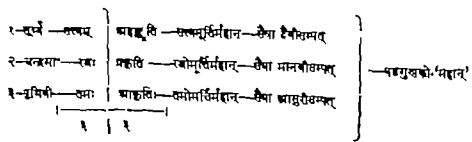
१००—बहिरङ्गप्रकृति, और अव्यक्तगमित महान्—

अब दो शब्दों में गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति के गुणमात्रों की भी मीमांसा कर लीजिए। तात्त्विकी, राशिकी साम्यी, मेद से अव्यक्तप्रकृति तीन विभक्त भावों में परिणत रहती है। तात्त्विकी प्रकृति 'द्वैवासम्पत्' है साम्यी प्रकृति 'आसुरीसम्पत्' है एवं राशिकी प्रकृति 'मानवीसम्पत्' है। योगमायारिपिका इत एक ही बहिरङ्गप्रकृति को हमने भौतिक विभावेत्तया 'अव्यक्त' कहा है और साथ ही इस अव्यक्त को यत्पूर्ववत् श्रुति-प्राशात्मक वतताया है। यह अव्यक्त प्राणतत्त्व ही अपने प्राशात्मक अव्यक्तरूप को सुरक्षित (अक्षुण्ण) रखता हुआ बहु के मत्त बाह्य भाग को स्वभ्यापार (धन) से व्यक्त-परमेठी क रूप में परिणत कर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशान्' ग्वाय से स्वर्ग भी इसी के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है। इस गर्भीभाव स प्राणप्रधान अव्यक्त स्वधम्म, एवं बाह्य से उत्पन्न आपोमेव व्यक्त पारमेठी, दोनों के अमिक्त रूप को ही त्रिगुणात्मिका 'बहिरङ्गप्रकृति' मान लिया जाय है। आपोमेव परमेठी महान् है, प्राणमय स्वधम्म अव्यक्त है। अव्यक्त अव्यक्त है, महान् व्यक्त है। तात्त्विकीयता की गुणात्मिका व्यक्तप्रकृति महान् है अव्यक्तप्रकृति स्वधम्म अव्यक्त है। 'अव्यक्तव्यक्तानु सनातन' के अनुत्तर-अव्यक्त-अक्षुण्ण-आत्मधर की अमिक्तरूप ईश्वर इन दोनों में प्रविष्ट रहता हुआ सनातन' तत्त्व है। अव्यक्त स्वधम्म, और व्यक्त महान्, दोनों की अमिक्ती का आप इतलिए 'महान्' कह सकते हैं कि, सनातन पुत्रपरिविष्ट अव्यक्त स्वधम्म तत्सृष्ट्वा स्वभ्याप से महद्गर्भ में समाविष्ट है। यह 'महान्' अपने प्रातिस्विक स्वरूप से अमी केवल किशुद्ध तत्त्वमूर्ति है। त्रिगुणमात्रैतविति इसी महान् स आगे 'बाह्य-अध-अध्याद' इन तीन भावों से उत्पन्न होती है। भूषियह मायत्रात्मिप्रधान बनता हुआ अध्यादप्रकृति है अग्नि ही अध्याद है। अन्त्रमा नाम प्रधान बनता हुआ अधप्रकृति है, ओम ही 'एव मे सामो राजा स्याताममन्—यवन्त्रमा' के अनुत्तर अध है। सूर्य्य तात्त्विकीयगमित इन्त्रप्रधान बनता हुआ बाह्यप्रकृति है 'वागिन्द्र' क अनुत्तर तात्त्विकीय गमित इन्त्र ही बाह्य है। इत्यप्रकार वागिन्द्रात्मक सूर्य्य, अधप्रधानात्मक अन्त्रमा, एवं अधमायप्रधानक भूषियह तीनों उतर लों में क्रमशः बाह्य-अध-अध्याद' व तीन प्रकृतिभाव प्रतिष्ठित हैं। पारमहंस आप' प्रकृतिभाव त्वावधुव प्राण प्रकृतिभाव दोनों के मिलान स स्वधम्म परमेठी सूर्य्य अन्त्रमा भूषियी, पाँच विधरत्नों के क्रमशः प्राण-आप-बाह्य अध अध्यादः व पाँच प्रकृतिभाव होजाते हैं। पाँचों की अमिक्ती ही बहिरङ्गप्रकृति

ही अपना पुरुषार्थ समझता है। तत्पर्यं प्रकृत में यही है कि—आत्मकवर्गमिता विद्युत्कलकषणा 'महान्' नामकी बहिरङ्गप्रकृति सूर्य-चन्द्रमा-पृथिव्यनुगत-वाक्-अन्न आभास इन तीन बहिरङ्गप्रकृतियों से पञ्चगुणात्मिका मन जाती है, जैसाकि परियोल से स्पष्ट है—



- १-सूर्यः कन्दुगत्-आहङ्ग तिमाच-कन्दुगतो महान्-‘वाक्कीप्रकृतिः’
- २-चन्द्रमा, कन्दुगत्-प्रकृतिभावा-कन्दुगतो महान्-‘राक्षसीप्रकृतिः’
- ३-पृथिवी, कन्दुगत्-आकृतिभावा-कन्दुगतो महान्-‘तामसीप्रकृतिः’



१०३—मानवसगानुगता गुणामक्ति—

उक्त मीमांश से इस प्रश्न का भी समाधान हो जाता है कि, ईश्वर में गुणात्मित क्यों नहीं होती ?, जबकि वह भी जीवन् गुणात्मक विश्व में निरव प्रविष्ट है। जीव ही गुणात्मन से क्यों बाध्य हो जाता है ?, जबकि वह ईश्वर का ही अंग है। जीववृत्ति का मूलाधार स्वयं माना गया है। वैश्विकि—‘सूर्य्यं चात्मा अगस्त स्तरस्युपरप’ इत्यादि मन्त्रभूति से प्रमाणित है। स्वयं ही अपने दर्शपूर्णमासक्रमक परिभ्रमण से स्व (स्वयं)—चन्द्रमा—भूविरी के द्वारा महान् को सत्त्व-रज-तमो-मात्रों से, तथा अहङ्क ति-मङ्कति-आहङ्कति-मन्त्रों से महान् को बहगुणक बनाया है। अतएव घोर जीवतर्ग में ही सूर्यानुगत गुणवृत्त का प्राधान्य रहता है। विशेषतः मानववर्ग की प्रतिद्रात्मक चन्द्रमा स्नेहगुणक है। अतएव इष्टै सर्ग में गुणात्मिक का उदय होता है।

१०४—गुणव्रयी का च्युद्बन्—

उक्त तीनों गुणों का परस्पर च्युद्बन् होता है। इस च्युद्बन् से प्राथिमात्र में गीण-मवानरूप से तीनों का समावेश हो जाता है। प्रत्येक प्राणी में मात्रातागत्मन से यद्यपि तीनों गुण प्रतिष्ठित हैं तथापि—‘छादान्द्रव्य’ से वह प्राणी तद्गुण नाम से ही स्वच्छत बिना जाता है जिस प्राणी में तद्गुण का प्रधानरूप से विकसत रहता है। महान्मातुगत् इही गुणव्यवस्थान को लक्ष्य बना कर प्रगच्छन् मनु ने कहा है—

१—मर्ध्वं, रश्मि, स्तमस्त्वं धीन् विधादात्मनो गुणान् ।

यैभ्यांप्येमान् स्थितो मात्रान् ‘महान्’ सर्वानशेषतः ॥

०—यो यदैषां गुणो ददे साकल्पेनातिरिच्यते ।

स तदा तद्गुणप्रार्थं त करोति शरीरिस्वम् ॥

—मनु १३।२४ २५ ।

१०५—मर्ध्व-रज-स्तम-मङ्कतिभेदभिन्ना मानवव्रयी—

वा शब्दों में मानव-व्यवस्थिती का स्वरूपपरिचय भी प्राप्त कर लीजिए, जो कि ‘भार्यभिया का मुख्य अर्थवत्त्व विषय माना गया है। लक्ष्मी समानदृष्टि से देखना विमलक तात्परिक परावर्तों में उक्त एक अविमलक चाम्पकलप पर दृष्टि गयना एकविध ज्ञान ‘सात्त्विक’ है ०। विभिन्नदृष्टिमूलक धृषणमापनामय विभिन्न रज ‘राजस’ है ०। एवं तत्पर्यय, ज्ञानाम्प्रत्यक्षण, भूतलज्यति का ही प्रधान लक्षण बनाने जाता, धृष्यती-

०—मर्ध्वभूतेषु येनक मात्रमम्यपमीक्षते ।

अविमलक विमलतेषु तद्व्यान विद्धि सात्त्विकम् ॥

—गीता १८।१ ।

=—धृष्यस्त्वेन तु यद्व्यानं नानामाषान् धृषयिषान् ।

बलि सर्वेषु भूतेषु तद्व्यानं विद्धि राजसम् ॥

—गीता १८।२।

मम ज्ञान 'तामस' है - । रागद्वेषाद्युक्तं कस्तद्विरहितं फलकामनाभिपुक्तं, प्रकृतिविद्धं, नियतकर्म (निष्काम-कर्मयोगश्लेषणं धर्मबुद्धियोग) 'सात्त्विक' है A । बहुपरिभ्रमसाध्यं, अतएव क्लान्तितजनकं, उत्पाय्याकीर्ण-मूलकं, 'अहङ्कारेण' मावहतकं कर्म (काम्यकर्मयोगश्लेषणं वेदोन्मत्त कर्मकाण्ड), 'राजस' है B । "हमारे स्वार्थसाधक अमुककर्म से समाप्त कर देना अपकार होगा, स्वयं हमारी क्या दया हो जावगी, हमें अपने अमुक-कर्म में अपने पुण्यसंस्कारों की, आध्यात्मिक बल की शान्ति की किस प्रकार बलि बडानी पड़ेगी, हमारे कर्म से किठनें निरपराधों का सर्वनाश हो जावगा, इत्यादि अनुकन्ध, घब, हिंसादिपरिणामों की उपेक्षा कर अपने आपको-हम सब कुछ कर सकते हैं, करेंगे," रूप से अपने आपको सर्वशक्तिशाली मानने का दम्भ करते हुए मोक्षपूर्वक जो कर्म किया जाता है वही 'तामस' है C । फलात्कृत से विमुक्त अपने आपको 'अहङ्कारेण' इत अहंभाव से पूज्य रखने वाला ज्ञानि-ज्ञान, दोनों में धैर्य रखने वाला, छाहस्युक्त, फलप्राप्ति-अप्राप्ति, दोनों स्थितियों में शान्त बना रहने वाला कर्मकर्ता सात्त्विक है D । फलात्कृत फलप्राप्ति के लिए उक्त लालाक्षित परपीडाप्रकर्तक, शौचाचार-पराङ्मुख, योगीही लज्जला पर हा-हा रूप से अट्टाट्टहास करने वाला, योगी की निष्कलता से 'हा-हा' करने वाला कर्मकर्ता 'राजस' E है । अस्तम्भस्वरूप से अनिश्चितरूप से, अस्म-

—यद्यु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम् ।

अतत्त्वार्थवदन्यञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

—गीता १८।२२

A-नियत सङ्गरहितमरगोद्धतः कुतम् ।

अकलप्रैप्सुना कर्म यद्यत्सांभिकमुच्यते ॥

—गीता १८।२३

B-यद्यु कामेप्सुना कर्म साहजारेण वा पुन ।

क्रियते बहुलायासं तत्राजसमुदाहृतम् ॥

—गीता १८।२४

C-अनुबन्ध स्य हिंसात्मनषेच्य च पौरुषम् ।

मोहादारम्यते कर्म यद्यत्तामसमुच्यते ॥

—गीता १८।२५

D-सुक्तसङ्गोऽज्ञावादी च हृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्धयसिद्धयोर्निर्भिकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥

—गीता १८।२६

E-रगी कर्मफलप्रैप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिधीक्षितः ॥

—गीता १८।२७

वसित ढंग से कर्म करने वाला काव्यांधर्माधिकारान्त्य, वेद-विद-गुरु-व्येष्ट आदि तन्मात्र महत्तुमायी के कामो उच्च-उच्चद्वय व्यवहार करने वाला (विनयान्त्य) अपने मन बाहू, प्राण (संक्रय-राज-कर्म) से लगे वृत्तों की निन्दा करने वाला समाजोत्थना करने वाला आचरवक काव्यों में भी आचरणी बना रहने वाला कर्म के मिल जाने पर भी अपने आपको दुःखी-निर्वन-पोषित करते रहने वाला, मन्-विश्वत् समय में पूरे हो जाने वाले कामों को दिनों-मासों-वर्षों का अनुगामी बनाने वाला, एवंविध कर्मवृत्ता 'तामस' कहलाया है F । (विशेष विस्तार के लिए देखिए गीता १८ अध्याय, सूक्त २६ से ४ श्लोक पर्यन्त, एवं उपन्यत गीताविज्ञानमाध्य) ।

१०५-रात्रिपि मनु सम्मत् गुणप्रयस्वरूपदिग्दर्शन—

रात्रिपि मनु करते हैं—'यो मनुष्य वेगाम्यस में रत रहते है शास्त्रोक्त तन्मात्रि शुद्धिकर्मों का ब्यापक्य पाठन करते है इन्द्रवर्षमपूर्वक लोक-वेद-व्यवहारों का उच्चालन करते है आर्हिण्य दानादि लक्ष्-क्रियाओं में लपर रहते है उन्हे कर्तव्यगुणप्रधान समझना चाहिए' • । लक्ष्मीभूत कर्मों के आरम्भ में पूर्वा दक्षि करने वाले बोहे में ही अपना धर्म्य लो देने वाले आराधनीय कर्मों में प्रवृत्त होते रहने वाले निरुत्तर विषयों की आर आम्भव बने रहने वाले महत्तुमायी को रजोगुणप्रधान मानना चाहिए + । परतमसि का लदा निद्र-दक्षि से लकते रहने वाले आर्हिण्य क्रमोत्तराध्य को ही अपना आराध्य बनाने वाले (निद्रानु) अधीर, क्रूर, ईश्वर-परलोच्छदि में नि बाध न रखने वाले, आचारान्त्य, अपने आत्को लदा परीष कहते हुए वृत्तों के कामो हाथ डैलाने वाले ऐसे प्रमायीमनुष्यों को तन्मात्रगुणप्रधान मान लेना चाहिए X । जिन (विद-धोटी-मिच्छामात्रण-अमकवमकण-यत्-परत्रोगमन आदि आदि) कर्मों को करण बुधा, वो कर्मकर्ता अपने अन्तर्गत में लकण का अनुभव करण है तन्म-

F-अयुक्त प्राकृतः स्तम्भ श्लो नैकृत्किञ्चोऽलसः ।

विपत्ती दीपघ्नी च कृता तामस उच्यते ॥

—गीता १८२८।

•-वदाम्यासस्तपोद्धानं शाचमिन्द्रियनिग्रहं ।

धम्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥

—मनु १२।३१।

—आरम्मरुषिताऽध्वयमसत्कृष्यपरिग्रहं ।

विपयोपसेषा चाज्ञस राजस गुणलक्षणम् ॥

—मनु १२।३२।

X-श्लोम स्वप्नो ऽपृति क्वाप्य नास्तिक्यं मिहृचिता ।

याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥

—मनु १२।३०।

द्वार को अनुमान लगा लेना चाहिए कि, लक्ष्यानुगत करने वाले ऐसे सब कर्म तमोगुणप्रधान हैं A ।
 किन्तु कर्मों से (धर्मशास्त्रा-स्मार्थकर्म-उदात्त-बापी-रूप-उद्भागनिर्माण-व्याज-अनायास-आदि कर्मों
 से) व्यक्ति संसार में अपना नाम चाहता है जो निषनाकस्या में भी कुली नहीं देखे चाहे उनके ऐसे
 कर्मों से अनुमान लगा लेना चाहिए कि, वे रजोगुणप्रधान हैं B । जो व्यक्ति अपने आपको
 सब से श्रेष्ठने वाला बनाए रहते हैं, अथवा जो वेदार्थतत्त्वपरिज्ञान के लिए स्या साक्षात्पित रहते हैं, जो
 अपने शास्त्रानुगत) कर्म करते हुए कभी लक्ष्य का स्मरण भी नहीं करते किन्तु ऐसे कर्मों से किन्हीं
 सदा आत्मसन्तोष प्राप्त होता रहता है, उनके ऐसे कर्मों से हमें यह अनुमान लगा लेना चाहिए कि, वे
 व्यक्ति सत्वगुणप्रधान हैं C । यही गुणप्रपरीक्षा की सामासिक D (सचित और सचित) निरुपा (कौटौती)
 है । तमोगुण सदा क्रम (फलक्रम) को लक्ष्य बनाता है, रजोगुण सदा धर्म को आराध्य बनाता है एवं
 सत्वगुण सदा मोक्षमूलक धर्म को लक्ष्य बनाता है । सांख्यिक विषयमोगपरायणता क्रम है धनसम्पत्तिप्राप्ति
 धर्म है, एवं वैशेषिक अनुभूत्यपूर्वक पारलौकिक निश्चयसमावृत्ति का लक्षण धर्म है—'तस्मान्धर्म
 परमं वदन्ति' ।

तमसो लक्ष्यं कामो, रजसस्त्वर्थ उच्यते ।

सत्वस्य लक्ष्यं धर्मः श्रेष्ठधमेपां यथोत्तरम् ॥

—मनु १२।३८।

१०६—गुणात्मिका प्रकृति का आत्ममूलक त्रिवृत्मात्र, एवं तन्मूलक नव (९) योनि-विवर्ण-
 गुणमेव से सम्बन्ध रखने वाली योनियों का भी सामासिक स्पष्टीकरण कर लीजिए । सत्वगुणात्मिका
 वैशेषिक से सम्बन्ध रखने वाली गति लक्ष्यता है रजोगुणात्मिका मानवीसम्बन्ध से गुण गति 'मध्यमा'

A—यत्कर्म कृत्वा ह्येव रथ करिष्यरथैव सज्जति ।

तन्नेपं विदुषा सर्भं तामसं गुणलक्ष्यम् ।

—मनु १२।३९।

B—यनास्मिन् कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्पलाम् ।

न च शोचत्यसंपत्तां तद्विधेयं तु राजसम् ॥

—मनु १२।३९।

C—यत्सर्वेणैच्छति ज्ञातु यन्न सज्जति चाधरन् ।

येन तुप्यति चात्मास्य तत्सच्चगुणलक्षणम् ॥

—मनु १२।३७।

D—प्रयाशामपि श्रेष्ठां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।

इदं मामासिकं धेयं क्रमशो गुणलक्ष्यम् ॥

—मनु १२।३९।

है, एवं उभेयुखारिणश्च आमुठी उभ्यचुत्त मंनि 'अधमा' है । मनःप्राणवाह्यमथ आत्मा के प्रकृतिविक्रि विगुणमात्र के कारण • क्योंकि प्रत्येक गुण विद्वद्भाष से विगुणात्मक है । अतएव तीन गतिवै के अन्तर्गत नौ विध्व हो जाते हैं । अत्यिक गुणोमेव महानत्मा से शुद्ध कर्मात्मा वनबोनि का अधिकायी बनता है रजोगुणोमेव कर्मात्मा मानवबोनि का अमुगामी बनता है, एवं उमा-गुणामिक कर्मात्मा को तिप्यन्वोनि का अमुपमन करना पड़ता है । त्रिपाकर्म के कारणपानुगत गुणत्रय-कारण्य से इन्हीं तीन के अन्तर्गत ६ विध्व बन जाते हैं वैश्विकि पावर्षि ने करा है—

१-यन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यत ।

तान् समाप्तुन वक्ष्यामि सबस्यास्य यथाक्रमम् ॥

२-देवर्षं साच्चिक्र यान्ति, मनुष्यर्षं च राजसा ।

तिर्य्यकर्षं तामसा नित्य, मित्यपा त्रिविधा गति ॥

३-त्रिविधा त्रिविधपा तु विद्वया गौणिकी गति ॥

अधमा-मध्यमा-प्रया च कर्म-विद्या-विशेषतः ॥

—मनुः १२-३६, ४, ४१ ।

पाठत्रयान् रतस्त्व, त्रिोरेविय, पापाण-लोकादि वक्ष्यान् अर्कंवीन चातुर्वीन चत्वारः हैं । इन्हीं ही लोकमाया में 'अङ्क' करा गया है । अत्रियि-वनत्यति-तला-गुण-वर्गी-आदि अन्तःकंवीन 'मूलवीन' नाम से व्यञ्जित हुए हैं । चातुर्वीन और मूलवीन, दोनों अपने प्रयात मे स्वर्वान्तत्याग में अन्तर्भव करते हुए स्वत्पान में ही प्रतिष्ठित करते हैं अतएव इन्हीं 'त्याग' नाम से भी व्यञ्जित किया गया है । एवंविध स्वाध्यायप्रश्न, एवं कृमि कीट, मत्स्य एवं चन्द्रप, पशु मृग, वे 'तत्कंवीन' नामक तीन (१) अधमा तामसी योनि से उत्पन्न हैं । उभेयुख का अल्पमिक विकृतिरूप ही अधम उभेयुख है । तद्युक्त कर्मात्मा को उक्त योनिमें से ही कारण्य से कोई ही योनि प्राप्त होती है । हाथी, अश्व, गध, श्लेष, सिंह, व्याध, शूकर, बरह, ये योनिमात्र (२) मध्यमा तामसी योनि है । कृतापाण काण्ड सुर्यारण्यी (नरकादि) गुण्यवर पुरुष, राक्षस, विद्याच इत्यादि योनिमात्र (३) उत्तमा तामसी यानि है । इत्यन्तर उभेयुख के कारण्य से एक ही उभेयुख योनिवरी का प्रवर्णक बन रहा है ।

बो क्षत्रिय क्षात्रकर्म से श्रुत हो जाता है अित अन्तर्गत क्षत्रिय का यज्ञोपवीत उत्स्रारण्यत (२२ वर्ष) अतिक्रम्य हो जाता है स्वर्गमश्रुत वरी क्षत्रिय 'ब्रह्म' क्षत्रिय चरलाका है जिसे लोकमाया में 'ब्रह्मिन्श्रुत' (कर्तव्यश्रुत) उपाधि से अलङ्कृत किया जाता है । ऐसे ब्रह्म क्षत्रिय मे अत्यन्तकर्षा (ब्रह्मिन्श्रुत क्षत्रियवरी) से उत्पन्न कन्दलि मन्त्र मन्त्र निष्कृति, नद, करण लल, इविद, आदि उपशक्ति-नामों मे प्रतिष्ठ हुए हैं । यज्ञिवापी पावसेवक 'मन्त्र' चरलाका है । किन्तु हुए मन्त्र हाथी को कृपावात

• आत्मानुभवही इत विद्वद्भाष का विचार वैज्ञानिक विवेचन इत्यनिपरिहानमाध्य-वक्ष्यन्ववह मे रेलना आदिय ।

१०६—अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी, तथा जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृति—

‘अधिकारसिद्धा’ संस्कारिकी प्रकृति की प्रतिष्ठा जन्मसिद्ध नैसर्गिकी प्रकृति ही बना करती है। ‘अधिकार’ शब्द सर्वव्यवस्था का सूचक है। जिसके बीज्य में जन्मत् जो वर्ण प्रतिष्ठित रहेगा, वह उद्वुगत संस्कार का ही अनुगामी बनेगा। ‘प्रकृतिविराष्टं चातुर्वर्ण्यम्’ वाक्य बाह्य जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृतिक समर्थन कर रहा है, वहाँ—‘संस्कारविरोधाया’ (वसिष्ठस्मृति) वाक्य अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी प्रकृति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। ‘संस्काररत्नक’ माकनावाचनात्मक ‘ज्ञानकर्मसंस्कार,’ ‘वैधसंस्कार’ भेद से दो मार्गों में विभक्त माना गया है। जन्मसिद्ध संस्कार देश—काल—पात्र—द्रव्य—शुक्र—शोणित—आदि दोषों से स्व—विभक्त से मुक्तित्त बने रहते हैं। अतएव वेका जाता है कि, जन्म के ब्राह्मण पित्र्य, ब्राह्मणी मातृ से उत्पन्न भी अन्तति जन्मत्: ब्राह्मण रहती हुई भी ब्राह्मण्य से वञ्चित रह जाती है। इन आगन्तुक दोषों का हटाने के लिए, जन्मसिद्ध बर्तबीज्य की कमी पूरी कर उसे सर्वाङ्गीण बनाने के लिए, साथ ही उसमें वैशिष्ट्य आधान के लिए वैशानिकों में तत्त्वप्रामुगत् तत्त्व द्रव्यवापनों के द्वारा दोषमार्मक—ईनाङ्गपूरक—अतिशयाधानात्मक किस वैज्ञानिक प्रकर का आविष्कार किया है वही वैधसंस्कार’ कहलाया है, जो भौत—स्मार्त गर्माधानादि संस्कार’ नाम से प्रसिद्ध है। जन्मसिद्धा नैसर्गिकी, अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली बर्तव्यवस्था का, तथा वैध—गर्माधानादि संस्कारों का गीताभूमिका ‘स्व—न लयबों में विस्तार से विरहोपख किया जा चुका है। जन्मसिद्धा प्रकृति की क्या पहिचान है, प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् ने कहा है—

सुक्तमङ्गोऽनहंवादी हृत्युत्साहसमन्वित ।
 सिद्धसिद्धयोर्निर्बिकार’ कृता सांखिक उच्यते ॥१॥
 रागी कर्मफलप्रेप्सुर्बुध्वो हिंसात्मकोऽशुचि ।
 हृष्योऽनन्वित कृता राजस परिकीर्षित ॥२॥
 अयुक्त’ प्रकृतः स्तम्भ शठो नैष्कृतिकोऽलस ।
 विपादी दीपव्री श कृता वामस उच्यते ॥३॥

—गीता १८:२६ २७ २८

११०—निग्रह कि करिष्यति—

भगवान् कहते हैं कि बिलकी जैसी प्रकृति है उसे वाक्य हाकर उमीका अनुसरण करना पता है। हमी आचार पर प्राचीय भाग में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है—कि ‘वय्य का पक्ष्य सुभाष जासी जीष से’। बिलका वीर्य जन्मसिद्ध स्वभाव है, वह उसके मरने पर ही मिटता है अर्थात् जन्मसिद्ध प्रकृति नहीं बनती जा सकती। वहाँ ‘वकाव मे स्वचर्मलक्षणा अतरङ्गप्रकृति अभिप्रेत नहीं है। अस्तु जन्मसिद्धा नैसर्गिकी बाहिरङ्गप्रकृति ही अभिप्रेत है। मान लीजिए, मिठी का स्वभाव कठोर है। गुदवेध प्रवलयूषक समझते हैं—कि, ‘देना श्रेय का परिषाग कर दा वह मनुष्य का एक स बड़ा शत्रु है। कथ एक प्रकार का वह कदाचि है जा नवर्ष मे लपुकाण उदय्य हस्ता है। अग्नि ही शरीर का वन है। यदि तुम इस शरीर से बाहिर निकाल दोगे, ता निर्बन्ध बन जाओगे। यह बलापानकर्ता अग्नि बाहिर न निकल जाय, इसलिये तुम्हें हमे (करोधानि

मंस्त्रराशिमें देवीसम्पत् से अम्बुद्वय होता है, अतएव इसे 'सद्वर्त्म' कहा जाता है। एवं अशुभसंस्कार-
शक्ति का आशुरीसम्पत् प्रत्यवायनबन्नी बनती हुई 'अधर्म' नाम से व्यक्त हुई है। सद्वर्त्म से आत्मधर्म
आहत अन्वय होजाता है, परन्तु उसकी स्वरूपज्ञानि नहीं होती। अतएव इसे 'धर्म' कोटि में अन्वृत मान
किया जाता है। परन्तु अधर्म से आत्मस्वरूपावरण के साथ साथ आत्मपतन भी होजाता है, अतएव
एकविध (अशुभसंस्कारामक) आधितधर्म को 'अधर्म' कहना अन्वय बन जाता है।

११३-धर्म, एवं अधर्मात्मक इन्द्रनिर्वर्तक धर्म्मबुद्धियोग—

मान लेते हैं देवीसम्पत् अम्बुद्वयबन्नी है। परन्तु है तो यह भी आत्मस्वरूप के स्वाभाविक धर्म को
आहत करने वाली ही। आगन्तुक भक्ता हो, अथवा श्रुत, अन्ततोगत्वा वह आगन्तुक ही है पया ही है।
वहसगुणित भक्ता होने पर भी आगन्तुक आगन्तुक ही रहेगा। एव आगन्तुकभाव से ही देवी, आशुतेसम्पत्-
सदृश्य उभयविध आधितधर्म (धर्म, अधर्म) आत्मा की स्वाभाविकता के विरोधी बनत हुए तबत
अधर्म कोटि में ही निहित है। अन्यत्र धर्म्मात्, अन्यत्राधर्म्मात् (कटाप० १।२।१४ के अनुसार धर्म-
अधर्मातीत आत्मा बने हन इन्द्रमायी को अपना उपकारक मान सकता है। धर्म संस्कार आत्मा में अनुसृत
तरङ्ग उत्पन्न करता है, अधर्म संस्कार प्रतिकूल तरङ्ग उत्पन्न करता है। धर्म संस्कारानुगत शुभानुभव में भी
आत्मा स्वकेन्द्र को छोड़ देता है, अधर्म संस्कारजनित दुःखानुभव में भी आत्मा स्वप्रतिष्ठा से द्युत होजाता
है। स्वाभाविक, शिखरावरण, आत्मशान्ति का दोनों में ही अभाव है। अतएव इस दृष्टि से दोनों ही स्वाभ्य
बन रहे हैं। अधर्म से होने वाले अनर्थ स्पष्ट हैं। धर्म से होने वाले अनर्थों का भी शुभानुभवतत्काल
से अनुमान लगाया जासकता है। किन्ती व्यक्ति को धर्म (पुण्य) संस्कारावरण कहीं से सम्पत्ति प्राप्त हुई।
अन्य प्रकार संवेक में देखा गया वेला क्षणमात्र के लिए संवेक की शान्ति मद्द कर देता है एवमेव शिरय-
सम्पत् ने आत्मशान्ति को क्षणमात्र के लिए विचलित कर दिया। आगन्तुक सम्पत्ति ने काम-लोक को
उत्साहित किया। सम्पत्ति-परिग्रह बढ़ने लगा। इसप्रकार धर्मपरम्परा ने क्रम ले डाला। कहना पड़ेगा,
और मानना पड़ेगा कि, क्षणतरङ्गमय यह पुण्यानुगत संस्कार भी तबत शान्ति का प्रतिकम्पक ही है।
तभी तो धर्म जनित शुभ को 'अनुसृतवेदना' (मुद्राता हुआ दुःख) नाम से ही व्यक्त हुआ है। शिवालय व्यक्-
रिपत हुआ है कि, अज्ञान के अनुभव से उत्पन्न मानना-भावना-संस्कार-अभियन्तनरूप धर्म्माधर्म्मामिनिवेश
आत्मस्वरूपधर्म का प्रतिकम्पक बनता हुआ अपने परिष्कार के अनुपात से समग्र समय पर-नीयोगच्छस्यु-
परि च दशा धर्मनिमित्तप्रत्यय के अनुसार उन्नीकित किया करता है। इसे केने इदया बाप है, आत्मा की
स्वाभाविक शान्ति का उन्म केत हो, इस प्रयत्न का एक उपाधान आर्यविद्यानुगत यही 'धर्मबुद्धियोग' है।

११४-मोग, प्रतिबन्धकत्व, पर्व समच्च, स्रवणा संस्कारनिर्वाहिका उपायप्रथी—

अमिनिवेशात्मक संस्कारों को दमने का एक मात्र उपाय है-दमने काय होने वाली आत्मा की प्रथि
को दमना। प्रतिबन्धक ही संस्कारनिर्वाहिका है। प्रतिबन्धकनिर्वाहिका यह संस्कारनिर्वाहिका हैतन उपायों से सम्भव
है उपाय का क्रमिक शिखरान्तरण करया जाता है। अपेक्षाबुद्धि-व्यक्त मानत कामना के द्वारा ज्ञान-धर्म्मनिर्वाहिक
मायना-संस्कारमक संस्कार, तर्न्विकल्पन-द्वारा आत्मा में अमिनिवेश (अमिनिवेश-संभव) देवानुसृत
(विश्वे आत्मस्वरूप आहत होता है) की निर्वृति के वे तैनी उपाय प्रथी मोग, प्रतिबन्धकत्व, समय, र,

इन नामों से व्यक्त हुए हैं, जिनमें से पहिले क्रमप्राप्त 'मोग' नामक प्रथमोपाय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। गुणत्रयातुगत प्रकृतिविद्य कर्म परिपाक (संस्कारमोग) ही 'मोग' है। कल-साया गया है कि, पाण्डवी के त्रिहृद्भाव से प्रत्येक आध्यात्मसंस्था में तीनों गुणों का उद्रेक रहता है। इनमें लक्ष्मण सुखातुराधी है रभोगुण दुःखातुराधी है एवं लमोऽगुण मोहातुराधी है। सुखप्रवृत्ति लक्ष से दुःख-मण्डित रक्ष से एवं मोहप्रवृत्ति लम से होती है। रभोगमित लक्ष लक्ष्मण है, रभोगमित लम आचमण है। लक्ष्मण देववर्म है आचमण असुरवर्म है मानवात्मा दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इस रूप से जीवन में तीनों का मोग होता रहता है। कमी मनुष्य सुखी होता जाता है कमी दुःखार्थक में निमग्न सुना जाता है एवं कमी स्वप्न सा प्रतीत होने लगता है। जीवन पर दृष्टि बालिए, तीनों का प्रत्यक्ष होनायगा। आपके जीवन में आपके बितना दुःख मिलता है वह सुखप्रति लक्षगुणतुगत देववर्म (शुभसंस्कार) का मोग है। बितना दुःख मिलता है वह रभोगुणतुगत असुरवर्म (अशुभसंस्कार) का मोग है। एवं लक्ष्मणदेववर्म-वृत्ति-लक्षणा मोह लमोऽतुगत पशुवर्म का मोग है। तत्पर्यं यह है कि, कलातुगत देववर्म रभोऽतुगत-असुरवर्म एवं लमोऽतुगत, पशुवर्म तीनों का 'सुख-दुःख-मोह' रूप से आपके जीवन में मोग होता रहता है। कमी आप अपने ध्यान को सुखी पाते हैं तो कमी दुःखी पाते हैं कमी आप कुण्ठित देखे जाते हैं। किंतु लमव आप सुखी हैं तबिकार कीविए उस लमव आपके लक्ष्मणक शुभसंस्कार का मोग होया है दुःखदशा में रभोमव अशुभसंस्कार का मोग होया है एवं मोहवशा में लमोमव अशुभसंस्कार का मोग होया है। इत्यकार आपके जीवन में लमवमेद से तीनों गुणात्मक संस्कारों का मोग होख रहता है बितना निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टकरा हुआ है—

१—सर्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, राग-द्वेषौ रज स्मृतम् ।

एतद् स्यान्निमदेतेषां सर्वभूताभिरं तेषु ॥

२—अथ यत् प्रीतिसयुक्त किञ्चिद्वात्मनि लक्षयेत् ।

प्रशान्तमिव शृद्धामं 'मन्थ' तदुपचारमेत् ॥

३—यत् दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।

सद्-'रजा' प्रतिपं विधात् सततं हारि र्दहिनाम् ॥

४—यत् स्वान्मोहसंयुक्तमप्यक्त विषयात्मकम् ।

अप्रतक्षयमविज्ञयं 'लम' तदुपचारयेत् ॥

—मनुः १२।२१ २० २२, २३, १

लक्ष्मण जीवन को शांति, कर्मण एक आहोयन में ही तीनों के मोगों का प्रत्यक्ष कर लाविए। दिन-रात में अपनेक आचर तो ऐसे जाते हैं, जिनमें हमारा मन प्रलभ रहता है हम अपने अन्तर्बल में शान्ति का अनुभव करते हैं। कई आचर जाते हैं जिनमें मन अरास्त-स्थान-दुःखी बन जाता है। एवं ऐसे भी आचर आजाते हैं जिनमें हम अपने आचरों रूच कर कुण्ठित से विचार-विवेक शून्य में अपने हुए विकर्तव्यविमूढ बन जाते हैं हमारी का सी दशा होजाती है। इत्यकार अपने एक वैदिक जीवन में ही तीनों मावी का

अनुभव करते रहते हैं। यही अनुभव ही संस्कारिक कर्मों का उपचयलक्षण मोग माना गया है। जो संस्कार आत्मबराहल पर लचित हैं, वे दस गुणानुगता मोगप्रती के रूप से ही क्रमशः क्षीण होते रहते हैं। इस क्रमिक मोग से जिस समय सञ्चित संस्कार निशेष होजाते हैं उस समय आत्मा पूणरूप से स्वतन्त्र हो जाता है। इस मोग के सम्बन्ध में हमारा प्रवास व्यर्थ है। प्रकृति के अनुसार जब जिस सञ्चितकर्म स्पृह का जो अग्रिम प्रारम्भ बन जाता है उसका उसी क्रम से मोग होता रहता है। वही संस्कारोपचय का पहिला प्राकृतिक 'मोग' रूप उपाय है।

दूसरा उपाय है— प्रतिबन्ध इत्यम्। आत्मा में जैसे, एवं जिस शक्ति के भावना-भावा-संस्कार प्रसिद्धि हैं उनसे विवादीय संस्कारों के आ जाने से (विवादीय संस्कारों के सञ्चित संस्कारों की अपेक्षा लक्ष्य होने पर) पूर्वसंस्कार उसी प्रकार अभिमूढ हो जाते हैं, जैसे खैर प्रकाश के अन्तर्गत से (दिन में) रहती हुई भी चन्द्रब्योम्बना स्वस्वरूप से अभिमूढ हो जाती है। अन्तर्गुणानुगता देवीसम्पत् भी देवप्राणमेद से अनेक शक्तियों में विभक्त है, एवं उमागुणानुगता आहुरीसम्पत् भी अहुरप्राणमेद से अनेक शक्तियों में विभक्त है। देवी-सम्पत्तियाँ आहुरीसम्पत्तियों की, तथा आहुरीसम्पत्तियाँ देवीसम्पत्तियों की जैसे प्रतिकल्पिका हैं तथैव इनमें परस्पर भी प्राणमेदानुगता आदिमेद से पारस्परिक प्रतिकल्पकता विद्यमान रहती है। परस्पर विच्छेद इन सम्पत्तियों की शीघ्र-प्रधानता से इनका परस्पर अभिमूढ हुआ करता है। इस अभिमूढ से अभिमूढ संस्कार स्वपराक्रम-मर्दान में अक्षम्य हो जाता है। मान लीबिए-किटी व्यक्ति में आहुरीसम्पत् विच्छिन्न है, इसके प्रमाण से इसका आत्मा बुलानुशाया बन रहा है। इसमें बचने का एक यद् भी उपाय है कि वह व्यक्ति आहुरीसम्पत् के विरोधी देवीसम्पत्मात्र का अनुगमन (सञ्चय)करे। अन्तर्गन्तगणिक के संयोग से जैसे विद्यमान भी शक्ति की शक्ति नष्ट हो जाती है एकमेव आत्मदियत आगन्तुक धर्मात्माका आहुरीसम्पत्-रूप अनुभव स्वर उद्बिच्छेद लक्ष्य आगन्तुक धर्मात्माका देवीसम्पत्-रूप शुभत स्वर के आ जाने से नष्ट हो जाते हैं। बुद्धत के सञ्चयसे अक्षय ही बुद्धत का विनाश सम्भव है। भगवदारोचन नैगमिक-आगमिक अनुष्ठानादि के पक्ष से उत्पन्न शुभसंस्कारों से निश्चयेन सञ्चित बुद्धत नष्ट हो जाते हैं। आगन्तुक धर्मात्माक सञ्चित संस्कारों के नाश का यही 'प्रतिकल्पकत्व' रूप उपाय है।

तीसरा उपाय है 'समत्त्व'। मोग और प्रतिकल्पकत्व उक्त दोनों उपायों की अपेक्षा यही सर्वश्रेष्ठ, और ब्रह्म उपाय है। कारण स्पष्ट है। समत्त्व से विद्यालक्ष्य की अभिवृद्धि होती है एवं विद्यालक्ष्यवृद्धि से अविद्यालक्ष्य स्वतः निर्मूल बन जाता है। विद्यालक्ष्य साक्षात् ज्ञानब्योक्तिर्ज्ञाना प्रदीप विद्युत् है। जिस प्रकार उज्ज्वल लौह-लपट पर गिने जाते बलाकण लक्ष्य विखीन हो जाते हैं तथैव प्रष्ट विद्यालक्ष्य से उत्पन्न, एवं उत्पन्न होने वाले संस्कार लक्ष्य मरमघात हो जाते हैं। प्रष्ट ज्ञानानि कर्मसंस्कारकर्मनों की निशेषावस्था में परिणत कर आता है, वैशक्ति-ज्ञानानिः सर्वकर्मनिधि मरमसात् कुन्ते तथा' (गी ४।३७) इत्यादि म्नाह्वयन से प्रमासिद्ध है। इस तृतीय उपाय की सर्वश्रेष्ठ-भेदता का एक वृत्ती दृष्टि से समन्वय कीबिए, एवं समन्वय करने से पहिले मोग, और प्रतिकल्पकत्वलक्षण दोनों उपायों के लक्ष्य का अन्वेषण कर लीबिए। संस्कारलक्ष्य की स्वरूपमीमांसा करते हुए पूर में हमने इनकी सञ्चित प्रारम्भ, मुक्त, वे तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं। इन तीन के अतिरिक्त सांस्कारिक कर्मों के सम्बन्ध में एक चौथा विभाग और मानना चाहिए, जिसका आगामी संस्कारों से सम्बन्ध है।

११५—कर्मस्वरूपसम्प्रादिका प्रक्रम-अभिक्रम-ध्यूहन-प्रयी—

प्रक्रम, अभिक्रम, ध्यूहन इन तीन तर्कों के समन्वय से लक्षित संस्कारों का स्वरूप सम्पन्न होता है। कर्त्तर्य कर्म प्रक्रम है, पुत्रपार्यकर्म अभिक्रम है, एवं अनेक पुत्रपार्यकर्मों की समष्टि 'ध्यूह' है। आप अपने घर से निकल कर देवदर्शन के लिए जाते हैं। यह गमनकर्म आपका पुत्रपार्यकर्म है, क्योंकि गमन से पुत्र का (आप्तका) देवदर्शनरूप अर्थ (फल) सिद्ध होता है। इस पुत्रपार्यकर्म का स्वरूप अनेक क्रियाओं से सम्पन्न हुआ है। एक पीव आगे रक्ता, एक पीछे रक्ता इस क्रम से अनेक पादगतियों का आरम्भ से इस एक गमन का स्वरूप बना है। गमनकर्म पुत्रपार्यकर्म 'कट्ट' नामक कर्म है। पादगतिक्रम अनेक गतिकर्मों के समन्वय से क्योंकि इस एक 'कट्ट' कर्म पुत्रपार्यकर्म का स्वरूप सम्पन्न होता है अतएव यह आन्तर गतिक्रम—'कर्त्तर्यकर्म' (कट्ट के स्वरूप निर्माणा आन्तर कर्म) कहा जाएँ। कल्पना कर लीजिए—एक पादगति एक प्रक्रम है जिस एक पादगति के लिए लोकम्प्राप में—'पीवडा' शब्द व्यपद्यत हुआ है। प्रत्येक पीवड में मी बचपि लक्ष्म-लक्ष्मतर-लक्ष्मठम आन्तर अर्त्थम गतियों का समावेश रहता है एक पैर से दूसरे पैर पर्यन्त व्याप्त एक प्रक्रम में मी आन्तर गतिक्रम अनेक प्रक्रम व्यपदिष्ट हैं। परन्तु सूक्ष्मत्वात् उनकी धोर न जाकर हम एक पादगतिरूप एक प्रक्रम को ही यहाँ एक कर्त्तर्य कर्म मान लेते हैं, जो विज्ञानमया में 'प्रक्रम' कहा जाय है जिस गतिक्रम में सिद्धि-गति दोनों भावों का सम्पन्न है। घर से निकल कर देवमन्दिर पर्यन्त पहुँचने में मार्ग के उत्तरम से एकपादगतिक्रम ऐस अनेक प्रक्रमकर्मों का अनुगमन करना पड़ता है तब कहीं जाकर 'दर्शन करने गए हैं' इस एक पुत्रपार्यकर्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। आन्तर क्रियाओं के आरम्भ से ही ता एक गति का स्वरूप निर्माणा माना गया है। उत्तरम्य करने का यही है कि कर्त्तर्यकर्म रूप कर्म 'प्रक्रम' है। इन अनेक प्रक्रमों से सम्पन्न पुत्रपार्यकर्म कर्म 'अभिक्रम' है यही मयना-आत्मनामक एक कर्म-तत्कार है। अपने जीवन में हम अनन्त प्रक्रमगमिण होने ऐस अर्त्थम अभिक्रमकर्मों का अनुगमन करते हैं। कलक आत्म-व्यक्त में आप एक अभिक्रमकर्मों की लता सिद्ध हो जाती है। अत कम तत्कारिक पुत्रपार्यकर्म-अभिक्रमकर्मों की समष्टि ही 'कर्मध्यूह' (कर्मों का तरंगों का ढर) कहा जाय है, जिसे व्यवहार में 'लक्षित-तत्कार' कहा गया है।

प्रक्रमकर्मगमिण-अभिक्रमकर्मों की समष्टिक्रम 'लक्षित तत्कारमष्टि ही कर्मध्यूह है, एवं इन्हीं के उपरान्त का होने विचार करना है। कर्म ध्यूहनामक जन्मान्तरिक लक्षित तत्कारपुत्र में से उत्तर-व्यक्तमष्टि के मूलभूत विधी एक अभिक्रमकर्म-तत्कार का व्यापार हुआ इतल कमरूप भोग हुआ। आगे चल कर कोई लक्षित अभिक्रमकर्म का तत्कार आधुनिक मंग का कोई लक्षितिक मयतिक्रम माय का, कोई लक्ष्यमोग का, कोई लक्ष्यमोग का, या कोई लक्ष्यमोग का प्रवर्धक बना। जो शिक्षा प्रवर्धक बनता गया, वह अभिक्रमकर्म लक्ष्यमोग का। लक्षितकर्म ध्यूह में से मयानुगत (व्यापारण) बने हुए इन कतिपय अभिक्रमकर्मों की समष्टि ही 'प्रारम्भकर्म' नाम से व्यापृत हुई जिसका आरम्भन केवल भोग पर ही माना गया है।

• गुणधूर्ततयपै सप्त कर्मजन्मनाम् ।
 युद्धा प्रकल्पिताम् शिपयि व्यपदिरपत ॥

‘नामुक्तं स्वीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि’—‘प्रारब्धकर्मणां भोगाद्देह क्षयः के अनुसार प्रारब्ध-अभिक्रमकर्मों की निहति एकमात्र कर्मभोग पर ही निर्भर है। जिस समत्वयोगालक्षण निष्कामकर्म योग को सर्वन्येह-भेद कठलाया जाता है, वह भी प्रारब्धकर्मों को निःशेष बनाने में एकान्त अक्षम ही है। जब तक वीर हाथ में है, तभी तक उसे रोका जा सकता है। जब वीर हाथ से निकल गया तब उसे रोकना तीव्रता की शक्ति के बाहिर है। ठीक वही अवस्था यहाँ समभिय। उच्चित्तंस्कारस्यूह के अभिक्रमकर्म जब तक व्यापारानुगामी नहीं बन जाते, जब तक वे उचित बने रहते हैं, एवं तब तक उनका समत्वयोग से निष्पन्न ही किया जा सकता है। परन्तु जब वे अभिक्रमकर्म व्यापारानुगम बन जाते हैं, आरम्भ हो जाते हैं, तब विनाय भोग के अन्य किसी भी उपाय से उनका निवारण सम्भव नहीं है।

११६-माय्यवाद की जटिल समस्या, और उसका निराकरण—

आब का माय्यवादी भारतीय प्रथा के समुल आब एक बड़ी ब्रह्म समस्या उपस्थित कर रहा है। प्रसङ्गोपगत उसका भी निराकरण कर लेना चाहिए। सर्वप्रथमकारण के मुल से यह सुना जाता है कि—‘यैता हमारे माय्य में लिखा है हमें वैसा ही फल भोगना पड़ेगा। माय्य की रेखा कभी नहीं मिट सकती’। इसी किन्तु के आचार पर वह प्रश्न खड़ा होता देखा गया है कि—‘क्या कि माय्य में लिखा मिट नहीं सकता तो मृत्युशान्ति के लिए शास्त्रों में विशिष्ट-वर्त्म-कर्म अनुष्ठान कर, आदि विधि-विधानों का क्या प्रयोजन ?’। एक मनुष्य रोगी हुआ है अपने माय्य से। रोग मिटना लिखा होगा, तो वह नियत समय पर मिट ही जायगा। यदि उसके माय्य में यह लिखा होगा कि—‘तुम्हारी इस रोग से मृत्यु होगी’ तो वह माय्यानुसार मर ही जायगा। यदि माय्य में सुख पाना है, तो उसे कोई रोक नहीं सकता। यदि दुःख पाना लिखा है तो उसे कोई भी विधि-विधान मिटा नहीं सकता। फिर शास्त्र ब्राह्मणों का यह कहना कि, ‘रोगशान्ति के लिए मृत्युञ्जय का धप करो अनुक अनुदान करो, दान करो,’ इत्यादि का क्या अर्थ ?। माय्यवाद की इसी समस्या में पड़ कर आब साक्षात्पुन्यार्थहीन बन बैठा है। यदि किसी व्यक्ति ने यह आश्वासन दिला दिया कि—‘तुम्हारे माय्य में बहुत सम्यक्ति है,’ तो उम्कल हम पुनर्वास को नमस्कार कर लेते हैं। क्या व्यक्ति का फलादेश मिथ्या है ?, क्या माय्यवाद नित्यत्व है ? क्या विधि-विधान निरर्थक हैं ?, नहीं, सर्वथा नहीं। फिर माय्यवाद का क्या अर्थ ?। तब तो कर्मवाद को ही प्रधान मानना चाहिए। इन सब समस्याओं के निराकरण के लिए हमें पहिले ‘माय्य कइसे किसे है ?’ इस प्रश्न की ही प्रीमाता करनी चाहिए।

प्रश्न-अभिक्रमसम्भक्त ब्रह्मण्डलीय उच्चित्तंस्कारस्यूह का नाम है—‘माय्यवाद,’ एवं वर्तमानकालानुगत कर्मस्यूही का नाम है—‘कर्मवाद,’ जो संस्कारजनक करते हैं एवं जो संस्कारपुत्र माय्यवादीरूप में परिणत होता जाता है। तात्पर्य यही हुआ कि पूर्वकर्म में हमने जैसे शुभ-अशुभ कर्म किए थे उनसे उत्पन्न शुभ-अशुभ संस्कारों में से कुछ का तो पूर्वकर्म में ही योग-द्वारा क्षय हो गया। अभिक्रमानुगत-परम्परकर्म में किन्हीं भोग का पूर्वकर्म में अवसर नहीं आया वे संस्कार आत्मा में उचित रह गए। इन पूर्वकमानुगत-शुभाशुभ-कर्मसंस्कारों की समष्टि ही भारतीय परिभाषा में—‘माय्य’ नाम से व्यवहृत हुई—‘माय्यं कस्म शुभाशुभम्’ (कमानुगतशुभाशुभकर्ममिदृक्कना अवपव कस्म नामैव प्रसिद्धा—भोगवशिता शुभाशुभसंस्कार-माय्यम्)।

रक्षने वाले शान्ति-स्वत्वैर्भन-प्रयत्न क विधि-विधानात्मक-धम्म की इसी उपादेयता का स्पष्टीकरण करते हुए मन्वान करते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य घर्म्मस्य प्रायते महतो मयात् ॥

—गी० २।४०।

निष्कर्ष यह निकला कि, धर्म्म-धर्म्म-उपायना-अनुष्ठानानि उत्कर्मों से सञ्चितमाय्य का अवरोध हो जाता है, प्रारम्भमाय्यजनित मोग मोगने का बल प्राच्य हो जाता है। यही इन विधि-विधानों की अग्नि चार्त्य (सञ्चितमाय्यपेक्षया) और आपेक्षिक (प्रारम्भमाय्यपेक्षया) उपयोगिता है। एक उत्पन्न का और विरोधक बन लीबिए। मान लीबिए, एक स्वच्छ प्रारम्भधर्म्मवशा बन्ध बुद्धा, जिसका मोग केवल बन्धुता पर विधान्त है। इस प्रारम्भधर्म्म से व्यक्ति काय्य अवश्य हो गया है किन्तु इतसे मूलुयोग नहीं है। कौन जानता है कि-योगात्मक मोग के बनक इत प्रारम्भ अतिक्रम के योगात्मक मोगरूप से चीख हाते ही सञ्चित-माय्यबन्ध में से वह अतिक्रम प्रारम्भरूप में परिणत होने वाला है जिसका मोग है-‘मूलु’। यदि प्रारम्भ धर्म्मदशा में वह व्यक्ति मूलुकाय्य विधि-विधान कर रहा है अथवा तो उत्पन्नका प्राण्य से बचना रहा है, तो उन्निहित सुकृतक से (आगे वाकर प्रारम्भमाय्यरूप में परिणत हो जाने वाला, किन्तु) अग्नी सञ्चितमाय्यरूप में ही परिणत मूलुमोगजनक, सञ्चित (किन्तु प्रारम्भेन्नुक्त) वह अतिक्रम चीख बन जाता है। इसप्रकार प्रारम्भमाय्यजनित योगात्मक मोग में क्षतप्रदानद्वारा शान्तिप्रदान करने के लिये साथ इसके कल से योगी मूलुमोगजनक सञ्चित माय्य के चयनद्वारा महामय्यरूप मूलु से मो प्राय पा सकता है। किन्तु तमक कौन सा सञ्चित अतिक्रम प्रारम्भरूप में परिणत होकर क्या अग्नि कर देता है? यह हम सामान्य व्यक्तियों के लिये कैसे ब्रह्मात विषय है, पचमेव शास्त्रीय विधि-विधानों से जनित सुकृत संस्कारबल किस समय किन्तु सञ्चितमाय्य, और प्रारम्भनाय्य में क्या परिवर्तन कर देता है? यह भी ब्रह्मात विषय ही है। तमी तो इस संस्कारिक माय्यबन्ध को ‘ब्रह्म’ कहा गया है। मान लीबिए-सुकृतसंस्कारजनक अनुष्ठानानि धम्म-धर्म्मों से न तो योगमोगात्मक प्रारम्भमाय्य में ही कोई शान्ति मिली न मूलुयोग का ही अवरोध हो सका। फिर भी इसे निरयत्क इतलिये नहीं माना था क्योंकि इत धर्म्मनुष्ठान से उत्पन्न सुकृत संस्कार इत धम्म में न लगी, किन्ती न किन्ती धम्म में प्रारम्भदशा में आकर अवश्य ही सुकृतशुद्धापी कनेगा। धर्म्मपय्य प्रत्येक दशा में अस्मुदयजनक ही है। इससे यदि तात्कालिक कल नहीं होता, तो पठाकता ही इसे अनुपादेव नहीं ठहरया था क्योंकि। शास्त्रोक्त विधि-विधानात्मक धर्म्म-पथ की इसी सार्वकालिक-आवश्यक उपादेयता का समर्थन करते हुए मन्वान करते हैं—

पाव ! नैवेह, नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यत ।

न हि कम्पास्यकृत् कश्चिद् दुर्गतिं वात ! गच्छति ॥

प्राप्य पुष्यकृत्वांश्लोकांन्-उपिन्वा शारवती समा ।

शुचीनां भीमतां गह योगब्रह्मोऽभिजायते ॥

१

—गीता ६।४०, ४१।

प्राक्कर्म की प्रतिशय प्रकलता से मान लीबिए माव्यवीचन कर्ममार्ग का धनहरण करते हुए भी एक परम धार्मिक व्यक्ति जीवन पर्यन्त दुःखी ही बना रहा। क्या ऐसे व्यक्ति के कर्मनिष्ठ मुहुत्त कर्म पते गए ?। भगवान् करते हैं—नहीं। इन मुहुत्त-संस्कारों के बल से इसे परलोक में स्वर्ग प्राप्त होगी। एवं उत्तर जन्म में श्रीसम्पन्न कुल में यह जन्म होगा। 'अच्छा क्या 'अच्छा' ही रहेगा। मलेरिका न खने परलाया हुआ कुनीन अपने संस्कारका ये प्राक्कर्मका होने वाला मलेरिका को अवरण ही निर्वन्त बना देगा। इच्छित्वो तो भगवान् ने कहा है कि, अदृष्टकर्मवाद (मायवाद) की छपस्या मुलम्भने में बड़े बड़े विद्वान् भी कुण्ठित हो जाते हैं। मानवीय मन अपने कर्म पर इनका इस्मित्यमेव निर्णय कर डाले वह अशक्य है। किन्तु तत्त्वज्ञानियों ने अपनी बोधवृत्ति से इन तर्कों का अक्षयकार किया है, उनका कथनरूप शास्त्र ही हमारे लिए अस्मदुप का एकमात्र निरापत्त पथ है। किन्तु भी स्वर्गीकरण किया जाय तथापि अदृष्ट तत्त्वज्ञानशून्यो के लिए मात्र अदृष्टतत्त्वज्ञानशून्य व्यक्ति के द्वारा किया गया वह 'अदृष्टतत्त्वज्ञानशून्यत्व' तर्कमना स्वतोपजनक नहीं बन सकता—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं तं कर्म्याकार्यव्यवस्थितौ इत्येव शरणीकरणीयम् ॥

११७—समञ्चोपाय की सर्वन्यस्त-श्रेष्ठता—

प्रकृतमनुत्तरमः। 'मया रूप प्राकृतिक उपाय ने प्राक्कर्मकार (प्राक्कर्मकार) को अवरण दील हो जाते हैं, परन्तु लक्षितमाय (अनारम्भ संस्कार) कर्मों के लोकोत्थित रह जाते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि, इस प्राकृतिक योग्यता से इस कर्म में न लक्ष्य, तो किसी न किसी जन्म में तो लक्षित संस्कारों का कर्म हो ही जायगा। फिर पुनर्प्राप्य करने की क्या आवश्यकता ?। प्राक्कर्मकारिता से मुक्तकथ एक मित्र सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर विवेक में कहा करते हैं कि—“मार्ग का प्रश्न यह करते हो कि, बिना प्रयास के भी एक दिन लक्षित संस्कारों का प्राक्कर्मकार होने वाले योग से एकमात्र उपयुक्त हो ही जायगा तो फिर हम कर्म-कर्म के पक्ष में हम क्यों पड़े ?। ही कर्मकारण करने वाले बोड़े कभी मुक्त हो जायेंगे हम जोड़ी देर में स्वर्ग पहुँचेंगे”। इन बातों-विचारों को इच्छित्वो हमें निरस्तत्व मानना पड़ेगा कि विधि विधानसमक कर्मकारणलक्षण पुनर्प्राप्य न करने से प्राक्कर्मनिष्ठ शुभ-शुभयोग प्रतिशयकर्म से आत्मा को उत्तरीकृत करते रहेंगे। कर्म-कर्म के पक्ष के प्रतिरिक्त रूप का भी कुछ हम करेंगे, करते हैं, वह अकर्म-विकर्म का ही तो पक्ष माना जायगा। उनके अनुपद ? से आत्मदीक्षा को विशेषरूप से उत्प्रेरक होगी ही, इसके प्रतिरिक्त विवेक-वेदोमी विधो का वह सुलक्षण भी हो जायगा कि लक्षित कर्मों का प्राक्कर्म से स्वतः एवं योग हो जायगा। लक्षित कर्मों का योग अवरण हो जायगा परन्तु वह मान जीवन में हम को कर्म करी, उनके प्राक्कर्म संस्कारों को हम करें, किन्तु लक्षण से रोक लेंगे ?। आत्मदीक्षा का प्राक्कर्म म कभी निरूप्य कीय, एवं न विधो का सुल-स्वतः कभी लक्षण हो लीय।

● अत्राचार और पुनर्प्राप्य की विचार लक्षित मीमांसा के लिए वेदिक-अदृष्टतत्त्वज्ञानसमक लक्षित-विकर्म का 'दुःसम्पन्नमोमांसा' नामक द्वितीय लक्ष्य।

शास्त्रार्थ—गुणानुगत भोग—उपाय से प्रारम्भकर्म्ममात्र का ही क्षय होगा। उच्चित्तकर्म एवं आगामी कर्म्म, इन दो का क्षय भोगोपाय से न हो सकेगा। सात्त्विक संस्कारभोग सुखात्मक है, राक्षस संस्कारभोग दुःखात्मक है, एवं तामस संस्कारभोग मोहोत्पन्नक है यह पूर्व में कहा जा चुका है। तीनों गुण परस्पर उभयाविपक्ष हैं। तीनों में अनन्य शत्रुता है। तीनों परस्पर एक दूसरे का आमिष बनते रहते हैं। बड़ा हुआ उत्सवगुण रक्षतमगुणों का, बड़ा हुआ रक्षोगुण उत्स-तमोगुणों का, एवं बड़ा हुआ तमोगुण उत्स-रक्षोगुणों का आमिष बनता रहता है। तीनों तम आमिषभोग से परस्पर शत्रु भयपय है, परन्तु स्वत्कार यह है कि, तीनों एक दूसरे के आमिष बनते रहते हैं। रक्षतम को मूल बना कर ही उत्सवगुण प्रतिष्ठित रहता है, उत्स-तम को मूल बना कर ही रक्षोगुण विकसित होता है एवं उत्स-रक्ष का आभार बना कर ही तमोगुण स्वभ्यापार में समर्थ बनता है। उन्नतपवन में माया को पुनःजननप्रसूत परम मूल भी है, एवं जननप्रसूत कष भी है। इमाय उत्सानुगत प्रत्येक सुख दुःखमूलक है, रक्षोऽनुगत प्रत्येक दुःख सुखमूलक है, एवं तमोऽनुगत प्रत्येक मोह सुखदुःखमूलक है। इसप्रकार परस्पर आभयता परस्पर आमिषय, परस्पर मिथुनता को आरो कर के ही हो गुणा नुगता महाश्री प्रकृत होती है, अतएव—'अन्योऽन्यामिषय-आभय-जनन-मिथुन-युक्तयश्च गुणाः' (संस्कृतशिक्षा) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्त में भी प्रमाणित है। भोगानुगत उत्सवगुण मत्तिनसत्त्व है। शुद्धरव गुणमर्यादा से अतीत है। मत्तिनसत्त्वानुगत कर्म गुणात्मक बनते हुए बहो कर्म के प्रवर्तक है बहो शुद्धरवानुगत कर्म गुणात्मक बनते हुए कर्त्तव्योपाय कर्मननिवर्तक मार्ग गण है।

जैसे गुणानुगत भोग से प्रारम्भ का उपक्षय होता है, वैसे प्रतिक-पक्षत्व नामक दूसरे उपाय से उच्चित्त संस्कारों का उपक्षय नहीं होगा, अपितु आमिषमात्र होगा। 'पुण्येन पापमपनुदति पापन पुत्रयमपनुदति' इत्येवमिदं सिद्धान्त के अनुसार कर्म बन्धित पुत्रयसंस्कार से उच्चित्त अशुभ संस्कारों का आमिष हो जायगा। शास्त्रार्थ-भोगोपाय में प्रारम्भकर्म पुण्य-पापात्मक दोनों संस्कारों का उपक्षय होता है। एवं प्रतिक-पक्ष उपाय से पाप, आमिष हो पुण्य, दोनों में से एक उच्चित्त संस्कार का आमिष होगा। यहाँ आकर हमें इत्येवमिदं पर पहुँचना पड़ता है कि, कर्म्मोपायगत प्रतिक-पक्षत्व नामक उपाय भी शाश्वतसुख का कारण नहीं बन सकता। शास्त्र-सिद्ध कर्म्मोपाय ही कर्म बन्ध है। कामनामय इत्येवमिदं कर्म बन्ध से मानते हैं प्रारम्भभोगों में आत्मा उन्नीत नहीं होता। गाय ही उच्चित्त संस्कारों में से अशुभ संस्कारों का आमिष भी हो जाता है। परन्तु इत्येव न तो उच्चित्त संस्कारों का आध्यात्मिक उच्छेद ही होता, एवं न आगामी संस्कारों का ही निरोध होता। अतएव—'प्लवा ह्येते अहदा पक्षपादा-अप्यादरोक्षमपर षणु कर्म के अनुसार यह-सरो-दान-इह-प्राज्ञा-दद्याद-सद्यश्च कर्म्मोपाय शास्त्रीय कर्म्म की कामना के लक्ष्य में गुणात्मक बनते हुए पुण्य के धर्म पुण्यार्थ-लक्ष्य आत्मकर्मभिमोहक कारण नहीं बन सकते। अतएवशास्त्रोपाय में परस्परया प्रकृत कर्म वाग्निहा के इत्येवमिदं-अतएवशास्त्रोपाय गुणमात्र का लक्ष्य बना कर ही मगत्तन में 'श्रीगुरुदेवविषय भेदा'—कामतमान-स्वर्गवरा — मांगेश्वर्य-प्रसन्नानाम् — इत्यादिक्रम से इत्येवमिदं कर्म बन्ध बन्ध का पूर्ण निरोध किया। आर-लाय ही इत्येवमिदं में यह संशयन अनिवार्य माना कि, त्रिगुणमात्र-निरोधण के लिए हमें अपने इत्येवमिदं पय से कामना का बहिष्कार करना पड़ेगा। कामनिर्वन्धन से प्रवृत्तिसुख यह कर्म्म निवृत्तिसुख बन जायगा। एवं निवृत्तिसुख ऐसा कर्म निष्कामकर्मवग बन जायगा, जिसके आगामी संस्कारों का भी निरोध हो जायगा उच्चित्त संस्कारों का भी उपक्षय हो जायगा, एवं प्रारम्भभोग-मुक्ति में आत्मा विचलित भी न

होगा। यही वह धैर्य 'समस्त' नामक उपमा है जो अपने ही अतिराग से भोग, और काम्यकर्म-बोधात्मक इतिवृत्तक नामक दोनों उपानों की अपेक्षा ज्येष्ठ, तथा श्रेष्ठ बन रहा है।

११८-निष्कामकर्मयोगसुखा समन्वययोग-

काम्यकर्म योग प्रवृत्तिकर्म है, एवं यह मक्तिन उत्पानुगत है। अतएव यह स्वयं मी संस्कारकर्मनप्रवर्तक बन रहा है, तथा आगामी संस्कारकर्मननिवृत्ति में भी यह असमर्थ है। हाँ केवल उचित संस्कारों का अभिमत इससे सम्भव है। निष्कामकर्मयोग निवृत्तिकर्म है, यह शुद्ध उत्पानुगत बनता हुआ गुणातीत है। अतएव यह स्वयं मी संस्कारकर्मननिवर्तक है एवं आगामी संस्कारकर्मन का मी अचरौकक है तथा इससे प्रहृष्ट आनामि-हारा उचित संस्कारों का भी आत्यन्तिक उपहास हो जाता है। जो कर्म कर रहे हैं, वे आगे बाहर उचित-संस्कारकर्म में परिणत होते हुए आत्मकर्मन के कारण न हों वा पहिले से उचितकर्म हैं-वे प्रारम्भकर्म में परिणत न हो कर तबै नष्ट हो जायें प्रारम्भकर्म बनित भोगों से आत्मा उत्प्रेक्षित न हो, वह सर्वप्रयोग विधि एकमात्र इत निष्कामकर्म योग पर ही निर्भर है। आत्मा स्वस्वकर्म से अधिदानन्वयन है। आनन्द विज्ञान तथा तीनों आत्मा के अमृतकर्म हैं। एवं विनाय, वाज्य कुल से तीनों मूलकर्म हैं। जब तक प्रवृत्तिप्रधान काम्यकर्म का साम्राज्य है तब तक तीनों मूलकर्म सुपक्षित हैं, अतएव तब तक अमृतकर्म का निकृष्ट अस्तम्भ है। भयम पय बही अमृतकर्म है जो निवृत्तिप्रधान है। निवृत्तिप्रधान निष्कामकर्म योग-गुज्ञान से आगमा में संस्कारकर्मनकर्म से अभिनिविष्ट रहना का आत्यन्तिक उच्छेदक हो जाता है एवं अस्तकर्म ललाविरोधी विनाय विज्ञानविरोधी अल्प तथा आनन्दविरोधी कुल तीनों मूलकर्मों से आत्मा कुतश्चर पा जाता है। यही निष्कामकर्मयोग बुद्धिगत्, अतएव अंतगर्भकर्मकर्म से 'धर्मबुद्धिबोग' कदापा है, विज्ञान मोक्षिककर्म अगुज्ञानप्रकार तथा अन्वयन अतिराग कलाने वाली विद्या ही 'धार्मविद्या' कदातर है।

११९-धर्मयोग, आर धर्मबुद्धियोग-

लोकप्रचलित-काम्यकर्मबोग सुखालुसायी छ-संस्कारों का बनक बनता हुआ 'धर्मयोग' अवरर है। परन्तु धमना (नीचेष्ट) की प्रधानता से इसके इत धर्मयोग में श्रुतिशास्त्रानुसंध, अतएव अतहा, अतएव य अभिनिवेशात्मकसंस्कारकर्मननिवर्तिका विद्याबुद्धि का धर्म्य के विद्यामय से छाहात् योग नहीं हो पाता। अतित धमनायक संस्कारकर्मनकर्म अभिनिवेश से यह बुद्धि अपने आपकी धमनात्मक मन के प्रति उन्मत्त कली हुई अपने अतहा श्रुतिशास्त्रधर्म से उचित होकर धर्म्य के अधिविद्या का अतुपमिनी बन जाती है। 'बुद्धिबोग' कर्म्य से उचित ऐहा धर्मयोग धमनायात्मक से स्वयंदि तुलों का वाचक बनता हुआ मी अपने धमनायक विद्युत्काम्य से उचित। धर्मकर्मन का ही कारण बना रह जाता है। एवं'धर्म धर्मयोग ही भगवान् की दृष्टि में त्यस्य सिद्ध हुआ है। धर्मधर्म की इत अभिनिवेशात्मिका विधीविद्या से बचाने के लिए लक्ष्यवादिनी में यह उपाय हमारे सामने रक्ता कि धर्म का एकलठ वरिष्ठय कर देना चाहिए। लक्ष्यनिधी के इत उपाय का मगकार ने प्रकृत शब्दों में इतलिए लखन विद्या कि, धर्म आत्मा का स्वयं है अतएव उक्त प्रकृतता परिधाय अस्तम्भ है। इसके अतिरिक्त धर्म अपने स्वयं से स्वयं कर्मन का मी कारण नहीं है। धर्मत्यम अतम्भ कर्म कर्मन का कारण नहीं, धर्म त्यमध्याय में लक्ष्यवहात्मक ज्ञान-अभ्युदय का अस्तम्भ, इन्ही तब कारणों से धर्मकर्मनविधी-

राज्या शास्त्रनिष्ठा (ज्ञानयोग) का कोई महत्व नहीं। काम्यकर्म योग प्रत्येक दशा में कर्षण का कारण, कर्म स्यात्कर्मण्य ज्ञानयोग अक्षमम्, ऐसी दशा में हम अति मार्ग का अनुसरण करें, इसी प्रश्न के समाधान के लिए महात्मान् ने निष्कामकर्म योग का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। शास्त्रसिद्ध, बर्णाभमानुगत आधिभारिक बन्ध्यायत कर्मों को ईशानानुगत बना देने से काम्यकर्मयोग निष्कामकर्म योग बन जाता है। और ऐसे कर्म योग से उत्पन्न संस्कार अमिनिवेशात्मक कर्षण के कारण नहीं बन पाते। अस्तित्व कर्षण निवृत्त कर्म होते हैं। जिस प्रकार राक्षसविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'अनासक्ति' है, राक्षसिद्या की मूलप्रतिष्ठा 'ईश्वरानन्यता' है, सिद्धविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'अन्तर्बोधि' है, एवमेव इस आधिभारिक की मूलप्रतिष्ठा 'निवृत्तकर्म' माना गया है। क्यों क्यों आप समर्थानुगत-विषयवर्तनात्मक निवृत्तकर्म रूप कर्म का अनुगमन करते आर्येण त्वीं अमिनिवेशात्मक संस्कारकर्षण शिथिल होते जायेंगे। यही इत कर्मबुद्धियोग की शास्त्रावस्था कहलाएगी। अमिनिवेश की आत्मविक निवृत्ति पर कर्मबुद्धियोगानुगता बुद्धि काम्य के साथ युक्त होती हुई सिद्ध-धर्म बुद्धियोगसम्पत् प्राप्त कर लेगी। इसप्रकार कर्मबुद्धियोगोद्देशक साथ कर्म बुद्धियोग से अज्ञानतर में सिद्धधर्मबुद्धियोग प्राप्त हो जायगा। साम्राज्य, अथपरभाव, शुभशुभ, आदि आधिकारिक इन्द्रमावों से जिसे आप विचलित न पाएँ, जिसे आप कुछ लोक-अस्पृह के लिए कर्म में प्रवृत्त रहें जिसे उदा आत्मप्रसाद से सम्पन्न देखें हमभक्त जीविए उन्ने धर्मबुद्धियोग-निष्ठा प्राप्त करली। एवविष बोधी ही गीतापरिभाषानुसार 'कर्म योगी' है। एवविष योग ही गीतासम्पत् कर्मयोग है जिसका निम्न शिथिल उपनिबन्धु शि से समर्थन हुआ है—

धूर्त्वनवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ममा ।

एवं त्वयि नान्यभ्येयोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

—ईशापनिषत्

१२०—धर्ममार्ग, और नीतिमार्ग—

एवविष कर्मबुद्धियोग ही भारतीय 'धर्मयोग' है जिसे वच मानस्यथा में हम 'धर्मवाद' कह सकते हैं जिसका 'धर्मनीतिमूलक धर्मवाद' नामक पूर्ण परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। जिसका निष्कर्ष यही है कि धर्म मूल नीति ही भारतीय धर्मवाद है जिसका आधार विद्यात्मा बना हुआ है। धर्म मूल नीति ही भारतीय राजनीति है, जो धर्म में ही अन्तर्भूत है। अतएव राजनीति का सम्बन्धक भारतीय राज्यक कस्तुगन्ना बड़ा धर्म का ही संरक्षक माना गया है। वच मान बुग में शिथिल प्रका जिसे राजनीति कहती है वह राजनीतिपर्य भारतीय परिभाषा में अधर्मपर्य ही कहलाया है। क्यों कि धर्मबन्धिता अधर्मास्तित्व ऐसी राजनीति से कभी आत्मशान्ति नहीं मिल सकती। 'पोलीटिक्स' नाम से प्रतीयमान्य में प्रसिद्ध राजनीति को आधार बनाने वाला विषयवर्तनानुगत-समवर्तनात्मक कल्पित धर्मवाद कस्तुगन्त विषयपर ही है, जिसका मूल आधार भूधेवति ही माना गया है जो कि भूधेवति 'उत्-नति' निर्बन्धन के अनुसार आत्मसदशा में भूधेवति का कारण बनती हुई भी अन्तर्भोगत्वा समूलनिनाश का ही कारण बनती है, यैव कि मान्य मनु ने कहा है—

अधर्मोऽधीपते तावत् । ततो भद्राणि पश्यति ।

सर्व सपत्नाञ्जयति समूलस्तु दिनस्पति ॥

—मनु ४।१७४।

पुरुष विद्य मार्ग से अपनी बीजनवाला का निर्वाह करे, इस प्रश्न के उत्तर में उसके सम्मुख भ्रम और नीति, ये दो मार्ग उपरिष्ठ होते हैं। चर्म-क्षपन चर्म-मार्ग है, नीतिवाचन अग्रम मार्ग है। पिपीलिका से आरम्भ कर सर्वतो ज्ञापाम् स्वयम् पर्यन्त एकरूप से—अक्षररूप से—अविमम्भरूप से ज्ञात आम्बवात्मा (स्वभावता) की आनन्द-विज्ञान-अस्तमनो-मवलक्षणा विद्या (ज्ञान) एवं उपरिष्ठ ब्रह्म-ज्ञान-विद्य-लक्ष्य कर्म ही आम्बवात्मा के स्वस्वभ्रम-कलाए हैं। इन आम्बविद्या-कर्मों को स्वस्वरूप से विकसित करने वाली चर्म-ज्ञान-नैराश-येश्वर्य नाम की विद्याविद्युत्प्रणयी ही आत्मस्वस्वभ्रम को विकसित करने के कारण 'भ्रम' नाम से अन्वृत्त हुई है। विद्याविद्युत्प्रणयी से सर्वथा विद्य अचर्म-अज्ञान-अनैश्वर्य-आस्तमित, लक्षणा अविद्याविद्युत्प्रणयी से क्योंकि आम्बवात्मा के आनन्दादिब्रह्म स्वस्वभ्रम स्वविकसित से ब्रह्मि हो जाते हैं। अतएव इस अविद्याविद्युत्प्रणयी को 'अचर्म' नाम से अन्वृत्त किया गया है एवं यही चर्म और नीतिब्रह्म अचर्म की एक परिभाषा मानी गई है किन्तु निष्कर्ष यही है कि, आत्माचर्मों को विकसित करने वाले कर्म-भ्रम हैं एवं आत्मचर्मों को आशत करने वाले कर्म अचर्म हैं। उन्मुख विद्य में एक आम्बवात्मा प्रतिक्रिय है 'यो लोकत्रयमाविरय विभर्त्यम्बव ईश्वर के अनुत्तर यही ईश्वर' कहलाया है। इस एक निरन्तर को लक्ष्य बना कर विरवात्मानुगत शान्ति-आनन्द-की प्राप्ति के लिए विरवभक्त्यर्थ्य विद्य जाने वाला कर्म चर्म है। योग्यात्मविद्युत् अज्ञाना प्रतिक्रिय में निमित्त है। इस बीजवात्मा को लक्ष्य बना कर बीजवात्मानुगत शान्ति-आनन्द-की प्राप्ति के लिए अन्तिरकार्य विद्या जाने वाला कर्म ही अचर्म है। अतएव यह निरन्तरानुगत विरवात्मानुगत-लक्ष्य कर्म परमार्थकर्म बनाता हुआ सर्वोत्तमत्व का अन्वृत्तकारक है। एवं बीजानुगत अन्तिरकार्यलक्ष्य कर्म स्वार्थकर्म बनाता हुआ दूसरों के आम्बुशेय का कारण है। आत्मोत्थ, किन्तु परलानि प्रवर्तक होने से ही बीजानुगत कर्म अचर्म है। अन्तिरकार्यलक्ष्य यही अचर्म नीतिवच है। अन्तः यह है कि अन्तिरगत स्वार्थों में अन्तिर नैतिक पुरुष अहोरात्र अन्तिरगत-अन्तिरगतकर्मों में प्रवृत्त रहते हुए भी परिब्रमण छा अचर्म ही की रहते हैं। स्वप्न में भी इन्हें आत्माक शान्ति (आत्मशान्ति) उपलब्ध नहीं होती। हाँ यह एव है कि, कित प्रकार एक मद्यपी मद्यपान के अन्त्य से दुःखप्रद मद्यपानकर्म में शान्ति का अनुभव किया करता है, एवमेव अन्तिरकार्यमूलाक नीतिमार्गानुगामी नैतिक पुरुष विर अन्त्य के अनुग्रह से इस अचर्म-नु-अ को ही शान्ति-सुख मान बैठता है। देखा गया है कि नैतिक पुरुष एक अन्तिर की स्वार्थका के लिए, एक अन्तिर की सुख-सुविधा के लिए अनेक अन्तियों की सुख-सुविधा की उपेक्षा कर देते हैं। न केवल उपेक्षा ही कर देते हैं अन्तिर अन्तिरकार्यका के लिए यदि अपनेको की स्वार्थहायि भी होती है, तो उसे भी वह आचरक कम लेते हैं। इनकी नैतिक बुद्धि अहोरात्र इसी व्यापार में अन्तिर-अचर्म की रहती है कि जैसे अपना कला किया जाय, फिर चाहे अपने मते के लिए वृत्तों का सर्वनाश ही क्यों न हो जाय। 'आत्मोद्वा-परन्तानि-नीतिरित्यभिधीयते' इस सुख का लक्ष्य बनाने वाले ने नैतिक महापुरुष। परलानिपूर्वक स्वस्वभ्रम की अग्रता करते हुए परलानिप्रवृत्त कर्म के अनुग्रह से अन्तिर में अचर्म का अन्तर करते रहते हैं, परलानि मनोमाहित्य, श्रेय, ईश्वर्य मन्त्रकर्म के अन्तः करते रहते हैं। अपनी सुखबुद्धि से सुख स्वार्थ को अग्रता देना चाहे मूलोत्थितमद्यप एव नैतिकों की नीति से अन्तिर अन्तिरकार्य के अन्तर उपरिष्ठ हो जाते हैं तो उक्त एका में वे अन्तर बन जाते हैं। अन्तिरकार्य के लिए अन्तिर शान्ति-मार्गों का इनकी अन्तिर से अन्तिरकार्य होता है अन्तिरक अन्तिर में शान्ति के एका में अचर्म ही अन्तिरकार्य में अन्तिर होती है। शान्ति के नाम

पर अशान्ति का प्रसार करना ही उन अक्षरों पर इनका प्रधान पुरुषार्थ बन जाता है, वैसाकि धर्मावधिष्यता, अतएव अर्थस्वार्थमूला वर्तमाननीति के दुष्परिणामों से सर्वथा प्रमाथित है।

उपर धम्म मूला नीति में विरहात्मा लक्ष्य बना रहता है। धार्मिक पुरुष अथवा प्रत्येक प्रत्येक है कि, उन शरीरों में वह एक ही ईश्वरत्मा प्रविष्ट है। अतएव उसकी वह निष्ठा हो जाती है कि विरहात्मा से ही स्वामशान्ति-सुख सम्भव है। इस व्यापक निष्ठादृष्टि के प्रभाव से वह निःस्वार्थ विरवाभ्युत्थार्थ ही कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतएव प्रारम्भकर्म अनित बुद्ध्यादि के आक्रमण होने पर भी इसकी अघातप्रसङ्ग स्वाभाविक शान्ति से व्युत्पन्न नहीं होने पाती। यह विरहात्मा कीविए कि, नैतिक पुरुषों के कर्म वहाँ भूतमात्रा-प्रधान हैं, वहाँ धार्मिक पुरुषों के कर्म प्राणमात्राप्रधान हैं। प्राण स्वस्वरूप से अक्षय्य है, अतएव उत्प्रेषण कर्म संस्कारकर्मन से पृथक् रहते हुए मूलाशक्ति में आत्मा को आलोकित नहीं होने देते। मूलाशक्ति ही मिल जाती है और उसकी आविर्भाव न होने से आत्मशान्ति ही सुस्पष्ट रह जाती है। ऐश्वरीयिक अशुद्ध तथा पारलौकिक निःश्रेयस दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। एवं वही 'सतोऽभ्युदयनिर्भावे यस्तसिद्धि-सु धर्म्म' लक्ष्य धर्म्ममार्ग का सर्वोत्कृष्टत्व है। भूत स्वस्वरूप से अक्षय्य है। अतएव उत्प्रेषण कर्म संस्कार-कर्मन-मनुष्य के अरण्य बन जाते हैं। करने मर के लिए आरम्भ में भूताशक्तिपरक नैतिक पुरुष मूलसमयि प्राप्त अक्षय्य कर लेते हैं। परन्तु प्राप्ति में, प्राण के संरक्षण में संस्कारकर्मन में, परलानि में तदर्थ आपाद-मस्तक इस मूलपरवयवता में अशान्ति का ही साप्राम्य रहता है। पार्थिव आधिपत्यिक-वशात्तों में संस्थापित, अतएव केवल ऐश्वरीयिक शक्ति सुखप्रवर्तक भूतमात्राप्रधान नीतिमार्ग में, एवं दिव्य-आधि-दैविक तत्त्वों से संस्थापित, अतएव-अमयलौकिक शारवत्पान्तिप्रवर्तक प्राणमात्राप्रधान धम्म मार्ग में वही महान अन्तर है जिसे लक्ष्य बना कर ही जीवनयात्रानिर्वाह के इष्टभूत धर्म्म और नीति नामक दोनों मार्गों में से किसी एक का अनुसरण करना चाहिए।

१२१-आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोगनिष्पत्त्य-

अनेक दृष्टियों से आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग के स्वरूप-विरलोपण की चेष्टा की गई। 'अपिभि-बहुधा गीताम्' (११।१०) के अनुसार मन्त्रद्वारा महर्षिनी के द्वारा आविष्ट शास्त्रसिद्ध वर्णानामनुगत धर्म्म ही धम्म योग कहा जा सकता है। भगवान् ने इसका लोकप्रवृष्टि से दंग्रह अवरय किया परन्तु संशोधन के साथ। अर्थिसम्प्रदायानुगत धम्म योग स्वर्गादि अमय पद्यों से अमिनिवेश का बनक बन रहा था। अक्षय्यमातृशक्ति-परिहास का लक्ष्य बना कर भगवान् ने इस धम्म योग की बुद्धियोगतन्त्र प्रदान की। इसी संशोधन से अर्थिसम्प्रदायपरिहासित यह धम्म योग 'निष्कामकर्म योगतन्त्र'-'धम्मबुद्धियोग' कहा जाया जिसके समर्पक बचन-गी म् बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथम स्वतः में उद्धृत कर दिए गए हैं (देखिए पृष्ठ ११० से १२६ पृष्ठांत)। धर्म्मबुद्धियोगानुगत आर्षविद्या का वही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

शुद्धि-बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्बचनात्मक द्वितीयप्रकरण

'धम्मबुद्धियोगानुगत-आपविद्यास्वरूपनिर्बचनम् नामक'

प्रथमस्तम्भः

श्री

‘बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

‘धर्मबुद्धियोगानुगत-ध्यायविद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
प्रथमस्तम्भ-उपरत

(२)-१

श्रीः

अथ-बुद्धियोगानुगत-विधास्वरूपनिर्वचनात्मके
द्वितीयप्रकरणे

‘ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविधास्वरूपनिर्वचनम्’ नामक
द्वितीयस्तम्भ

(२)-२

में स्वच्छन्द विहार करता रहता है, एवमेव हृदयस्थ आत्मा अपने प्राणरूप से हृत् प्राणमण्डल में स्वच्छन्द विचरता करता रहता है। अतएव प्राणरूपक यह ताममण्डल हृदयस्थ आत्मा का 'विभूतिमण्डल' कहलाया है। यही मण्डल 'महिमामण्डल' नाम से व्यवहृत हुआ है। कल्पविरह हृदयस्थ आत्मा का पहिला प्रपत्तिस्थान (व्यसिस्थान) है अतएव विज्ञानमध्य में वह हृदयस्थित 'पद्म' कहलाया है। बहिर्मुखक आत्मा का द्वितीय प्रपत्तिस्थान है अतएव यह 'पुनःपद्म' कहलाया है। हृदय 'हृत्पृष्ठ' है, पितृवाम्नाक 'पद' अन्तःपृष्ठ है मण्डलरूपक 'पुनःपद्म' 'बहिःपृष्ठ' है। हृत्पृष्ठरूपक तत्त्व मनोमय आत्मा है यही उक्त्य है, यही 'पद्मपति' है। अन्तःपृष्ठरूपक तत्त्व प्राण है यही कर्म है यही 'पामा' है। बहिर्मुखरूपक तत्त्व वाक है यही अशीति है यही 'पद्म' है। मन प्राण-वाक-उक्त्य-कर्म-अशीति, व्युत्पत्ति-व्यस-पद्म, हृत्पदि विविध नामों से प्रसिद्ध विरक्त्य यही तत्त्व 'प्रभापति' कहलाया है जो अपने हृत्पृष्ठ की अपेक्षा से अनिरुक्त, अन्तःपृष्ठ की अपेक्षा से हृत्पृष्ठ एवं बहिःपृष्ठ की अपेक्षा से सर्वे नामों से प्रसिद्ध हुआ है। हृदय भी यही है अन्तःपृष्ठ भी यही है, बहिःपृष्ठ भी यही है- प्रभापतिस्त्वेनहं सर्वं, पविर्दं किञ्च'।

३-ईश्वर क विविध विवर्ण, और उसके विविध एश्वर्य-विवर्ण-

प्रत्येक कल्पविरह के क्षेत्र में प्रसिद्धि विरक्त्यव्युत्पत्ति ही तत्त्व का 'ईश्वर' है। हृत् उन्मत्तरूपक हृत् ईश्वर (अन्तर्धामी) का प्राण-वाकमय बहिर्मुखक ही उक्त्य 'ऐश्वर्य' है। महिमामण्डल ही ऐश्वर्य है। और प्रपत्तिमण्डल हृत् ईश्वर का ऐश्वर्य है, वाक्त्र व्योम्नामण्डल अन्तर्धर का ऐश्वर्य है। पवित्र रक्षतव्यमण्डल हृत्पिथीश्वर का ऐश्वर्य है नमस्त्याग्मण्डल अन्तर्धर (स्वकम्प) का ऐश्वर्य है तत्त्वानुमण्डल पारमेष्ठ्य ईश्वर का ऐश्वर्य है। स्व पर ए व हृत्पिथी के क्षेत्ररूप ईश्वरों के नमस्त्याग्मण्डल अन्तर्धर वाक्त्रव्योम्ना-रन्तर्धरक ऐश्वर्यों की अपने ऐश्वर्यमण्डल में मुक्त रखने तथा अन्तर्धरिण विरक्त्यै-परिवेष्टिता अन्तर्धर नामक तौडरीपुत्रवैश्वर का ऐश्वर्यमण्डल अन्तर्धर पद्मकाश है। परमाश्रयणरूपक ऐश्वर्य से मुक्त महामायाव्योम्ना एते एते अशक्त्य ईश्वर, और उसके ऐश्वर्यों की अपने गर्भ में रखने वाला परमपद्वत्त्व परमेश्वर है। यही ईश्वर है, और यही उक्त्य अन्तर्धर्य है। आत्म्य ईश्वर है आत्मनात्मनिष्ठ वाक्त्रमण्डल ऐश्वर्य है। यही विभूति, वैश्वर्य सद्गुणी पुनःपद्म कपटकर्म, महिमा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। अन्तर्धर भी ऐश्वर्यशाली उन्मी ईश्वर का अशक्त्य अन्तर्धर का आत्मनिष्ठ ईश्वररूप में लभित है। अतएव अमूर्त विरक्त्यव्युत्पत्ति उन्मी का ऐश्वर्य है। अन्तर्धर-वाक्त्ररूपक अन्तर्धर की अपेक्षा से अन्तर्धर अमूर्त ऐश्वर्यों का अशक्त्य अन्तर्धर है। यही 'ऐश्वर्य' नाम की मण-उत्पत्ति है किन्तु अन्तर्धर म अशक्त्य में अशक्त्य का अन्तर्धर हो रहा है।

४-विभूति, एवं योग-लक्ष्य एश्वर्य-

विभूतिरूपक ऐश्वर्य ही 'आत्मविद्य' माना गया है। वह आत्मविद्य, अन्तर्धर बहिर्धर, मेरु म दा आशों में विरक्त्य है। प्राणप्रधान विद्य अन्तर्धर है भूतप्रधान विद्य बहिर्धर है। प्राण इन्द्रियार्थ, शरीर स्त्री, पुत्र, आदि अन्तर्धर में अन्तर्धर है। एवं अन्तर्धर पद्म आदि वेत्तव्य, तथा अशक्त्य, अन्तर्धर, प्राण उपाय भाग्य (स्वयं वैश्व) आदि अशक्त्यरूपक दोनों का बहिर्धर में अन्तर्धर है। आत्म्य हृत् उन्मत्त विद्य में विभूतिमण्डल्य प्राणसम्पद्य तथा पद्मप्रधानसम्पद्य त्र प्रसिद्धि रहता है। बहिर्धर-

सीमा पर्यन्त आत्मा व्याप्त रहता है, इसी आचार पर भूति का "यावद्विषयं, तावदात्मा" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। यदि उभय विषय के साथ आत्मा का विभूति सम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य (आत्मविकास) पूर्वक से विकसित है। अरण-विभूतिसम्बन्ध अस्तित्वसम्बन्ध है। अस्तित्वसम्बन्धवन्धुम पद जैसे बल में रहता हुआ भी अज्ञातचित्त से पृथक् रहता है, एतमेव अस्तित्वसम्बन्धवन्धुम आत्मा अस्तित्वलक्षण विभूतिसम्बन्ध से अस्तित्वसम्बन्धवन्धुम विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी विषयसम्बन्ध से निर्लिप्त रहता है। यदि उभयविषय के साथ आत्मा का योगसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य सामान्यरूप से विकसित रहता है। यदि उभय विषय के साथ आत्मा का कर्मसम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य स्वज्ञ-विषयासक्ति से ब्राह्म होना हुआ अपना विश्वतरामक ऐश्वर्यवन्धुम को देता है। अतएव कदा पड़ेगा कि, योग और विभूति, इन दो सम्बन्धों में ही अन्तर्बन्ध-बहिर्बिच्छनुगत आत्मा का ऐश्वर्य नामक मग स्वर्णमात्मक स्वरूप से विकसित रहता है। अतएव मगवान् ने बुद्धियोग के विकास के लिए आत्म्यात्मा के विभूति, तथा योग, इन दो सम्बन्धों का ही उपादेय माना है। देखिए !

एतां विभूतिं, योगं च, मम यो वेत्ति तच्चतः ।

सोऽविद्वन्ममन योगेन युज्यते नात्र शशय ॥

—गी १०।६।

५ ऐश्वर्य की साध्य, तथा सिद्धत्वस्थायं—

आत्मैश्वर्य ही विश्वैश्वर्य की प्रतिष्ठा है, एवं प्रायैश्वर्य ही भूतैश्वर्य की आभारभूमि है। स्थिति का जो स्वीकरण कीजिए। आत्मा अपने प्रायश्कारपरम से ऐश्वर्यप्राप्ती है विभूतिमान् है, महिमायुक्त है। ऐसे विभूतिमान् आत्मा के साथ पुकता बुद्धि भी ऐश्वर्यप्राप्तिनी बनी रहती है। एवं विद्याबुद्धि से युक्त मन मानस संकल्प तथा विचारबाध, सम्बन्ध ऐश्वर्यप्राप्ती बने रहते हैं। ऐसे स्थितियों की दृष्टि में ही ऐश्वर्य रहता है। लोकमाया में ऐसे स्थितियों के लिए ही 'निगृह्योक्त उपाधि प्रयुक्त हुई है। आत्मैश्वर्यविद्येत से इनका अन्तर्बन्ध स्वयं पूर्णभाव के ही दर्शन कदा रहता है। इस पूर्णभावना के अन्वय से कदा-भूतैश्वर्य अपने आप इनका मोक्ष बन जाता है। जो स्थिति अपने अन्तर्भाग में यह भावना रखते हैं कि, हम उस ऐश्वर्यप्राप्ती ईश्वर के अंतर्गत हैं हममें सब कुछ है, इनाय सब कुछ है उनकी इस अस्तिमूला अज्ञानता का नाम ही 'ऐश्वर्य' है। इसी आत्मैश्वर्यभावना से भूतैश्वर्य अस्तिमन्त्रित ही इनका स्वीकार बन जाता है। ठीक इसके विपरीत स्थिति यह भावना रहती है कि, हम तो बरिधी हैं हमारे पास क्या रक्खा है हमारे पास वह नहीं-वह नहीं, उनका आत्मैश्वर्य इस मनोभावनात्मक अज्ञानैश्वर्य से अस्तिभूत हो जाता है। अज्ञानरूप ऐश्वरी नास्तिमूला अज्ञानभावना के अनुगामी पुरुषों का पहिले से विद्यमान भूतैश्वर्य भी अस्तिभूत हो जाता है एवं आत्मैश्वर्यमूलक आत्मामी भूतैश्वर्य से भी वे अस्तिभूत रह जाते हैं। अज्ञान के आत्मा अपने ऐश्वर्यवन्धुम से विकसित होकर भूतैश्वर्य पर अपना प्रमुख रखने में अर्पण होता है विद्याबुद्धिस्त बरी अर्थ ऐश्वर्य का हेतु बनता हुआ (आत्मैश्वर्यवन्धुम का अरण बनता हुआ) तात्कालिकता से 'ऐश्वर्य' नाम से अज्ञान हुआ है। अज्ञानयुगत ऐश्वर्य महिमा-मयबलात्मक है, यही किंवा ऐश्वर्य है, यही प्राप्त्य है। अज्ञानयुगत ऐश्वर्य ऐश्वर्यवन्धुम ऐश्वर्य है, यही साध्य ऐश्वर्य है, यही 'ऐश्वर्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है, जो 'अस्तिमन्त्रित' नामकी अस्तिबुद्धि को हटा कर आत्मा के महिमागण्य ऐश्वर्यवन्धुम का अरण बनती है।

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत—राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

द्वितीयस्तम्भ

१—अस्मिता के प्रतिद्वन्द्वी 'ऐश्वर्य्य' का स्वरूपोपक्रम—

ऐश्वर्य्य, और अस्मिता, दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी ठरते हैं। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपपरिचय से पहिले इन दोनों का स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। प्रत्येक वस्तुतत्त्व इश्य, सूक्ष्म, मेघ से दो मार्गों में विभक्त रहता है। जिस वस्तु को हम अपने चक्षुओं से देखते हैं वही इश्यभाग है, जो हमारी कल्पनासीमा से बहिर्भूत है। जिस वस्तु को हम अपने हाथों से छूते हैं वही सूक्ष्मभाग है, जो हमारी दृष्टिसीमा से बहिर्भूत है। जिसे हम देखते हैं, उसे छू नहीं सकते। एवं जिसे हम छूते हैं, उसे देख नहीं सकते। इश्यभाग 'वस्तुपियड' कहलाया है। सूक्ष्मभाग 'वस्तुमयडल' कहलाया है। वस्तुपियड अन्वेदात्मक है वस्तुमयडल सामवेदात्मक है। दोनों के मध्य में मुक्त आत्मप्रशान्ता यतितत्त्व यजुर्वेद है। यजुर्वेद क्या है, ऋक्-सूप पियड धामरूप मयडल दोनों बनोनाथ हैं। यजुर्वेद 'रसवेद' है पियडलक्षण अन्वेद 'अन्वेद' है एवं मयडललक्षण सामवेद 'वितानवेद' है। इन तीनों यात्तिक वेदों का विराट वैज्ञानिक निरूपण उपनियद्विज्ञानमाध्यमभूमिका—द्वितीयस्तम्भ में प्रहस्य है। प्रकृत में वस्तुमयडल केवल वही है कि, प्रत्येक पदार्थ को हम पियड, और मयडल, इन दो मार्गों में विभक्त पाते हैं। पियड हमारे स्पर्श का सक्षय करता है, मयडल हमारी दृष्टि का विषय करता है।

२—यजुर्मय वस्तु, ऋह्मय वस्तुपियड, एवं साममय वस्तुमयडलात्मक सर्वमूर्ति प्रजापति—

वस्तुपियड की मूलप्रतिष्ठा वस्तु का हृदय (केन्द्र-गम) माना गया है। 'तरिमन्ह वस्तुमु बनानि विश्वा' के अनुसार केन्द्र के आधार पर वस्तुपियड प्रतिष्ठित रहता है। केन्द्र में प्रतिष्ठित आगति-गति-रिचि-रुम अन्तर्मामी प्रजापति ही उस वस्तुपियड के आदान-विधार्थिक कर्म की आधारभूमि बन रहा है। केन्द्रस्थ यही अन्तर्मामी विज्ञानप्रान्ता में 'उकथ' कहलाया है। यह उकथतत्त्व ही वस्तुपियड का आरणा है, जो आत्मतत्त्व मन-प्राण-वायुमय माना गया है। मनोरुम से यह आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित रहता है 'वेद्यधि-हृदयविष्टं यद्विरे अविष्टं तस्मै मनः शिषत्कल्पमस्तु' इत्यादि यजुःभुक्ति से प्रमाणित है। उकथरूप हृदय मनोरुम आत्मा हृदय में उठी प्रकार प्रतिष्ठित है जैसे कि वृहीसुन्द (विश्वहृत्) के केन्द्र में उकथ (विन्) रूप सूर्य प्रतिष्ठित है। जैसे विन्डरुम (उन्मात्मक) सूर्य से चारी और खिमकी विनिर्गत हैं एवमेव इस उकथरुमक मनोरुम हृदयस्थ आत्मविन् से प्राणविन्ड खिमयाँ शनाधारेण उन्मात्सु विनिर्गत है। शनाधारेण यहीन विन्ड प्राणरुमक यही खिममयडल वस्तुपियड का बहिर्मयडल कहलाया है यही सामवेद के उन्मात्सु से 'साममयडल' कहलाया है। वितप्रकार एक शालक अपने उन्मयडल

में स्वच्छन्द विहार कृता रहत्य है एवमेव हृदस्य आत्मा अपने प्राणरूप से इत प्राणमण्डल में स्वच्छन्द विचरत्य कृता रहता है। अतएव प्राणायामक यह धाममण्डल हृदस्य आत्मा का 'विभूतिमण्डल' कहलाया है। यही मण्डल 'महिनामण्डल' नाम से व्यक्त हुआ है। कल्पविन्द हृदस्य आत्मा का पश्चिमा प्रपश्चिमान (श्वाशित्पान) है अतएव किल्लमण्डल में वह त्वरयपिण्ड 'पद्म्' कहलाया है। पश्चिममण्डल आत्मा का द्वितीय प्रपश्चिमान है अतएव यह 'पुन-पद्म्' कहलाया है। इत्य 'हृत्पृष्ठ' है, विश्वत्मक 'पर' अन्तःपृष्ठ है, मण्डलात्मक 'पुन-पद्' 'बहिःपृष्ठ' है। हृत्पृष्ठात्मक तत्त्व मनोमय आत्मा है यही उक्त है, यही 'पद्मपति' है। अन्तःपृष्ठात्मक तत्त्व प्राण है यही अर्क है, यही 'पारा' है। बहिःपृष्ठात्मक तत्त्व वायु है यही अशीति है यही 'पद्म' है। मन-वायु-वाक्-उत्सव-अर्क-अशीति, -स्युपति-पाश-स्यु, 'स्वार्' विविध नामों से प्रसिद्ध विश्वेश यही तत्त्व 'प्रशपति' कहलाया है, जो अपने हृत्पृष्ठ की अनेका से अनिरुद्ध, अन्तःपृष्ठ की अनेका से हृद्गीर्ण एवं बहिःपृष्ठ की अनेका से सर्वे नादों से प्रसिद्ध हुआ है। इत्य मी यही है अन्तःपृष्ठ मी यही है बहिःपृष्ठ मी यही है- प्रजापतिस्त्वेषेभ्यं सर्वे, परिहं किञ्च'।

३-ईश्वर के विविध विषय, और उत्तक विविध ऐश्वर्य-विवर्ध-

श्लोक कल्पविन्द के क्षेत्र में प्रतिष्ठित अनिष्टतप्रजापति ही उत्कृष्ट का 'ईश्वर' है। इत उन्मत्तक इत्य ईश्वर (अन्तर्धानी) का प्राण-वाहकय बहिर्माण्डल ही इत्य 'ऐश्वर्य' है। महिनामण्डल ही ऐश्वर्य है। और प्रकाशमण्डल सूर्येश्वर का ऐश्वर्य है अन्तःपृष्ठात्मकय अन्तःश्वर का ऐश्वर्य है। पार्थिव रफ्तारमण्डल पृथिवीश्वर का ऐश्वर्य है नमस्त्वान्मण्डल अम्बुतेश्वर (स्वप्न्) का ऐश्वर्य है अस्त्वान्मण्डल धारमेष्ठय ईश्वर का ऐश्वर्य है। एष पर ए वा पृथिवी के क्षेत्रय ईश्वरों के नमस्त्वान् करण्य-संयमय आन्त्रभोत्रा-रफ्तारकय ऐश्वर्यों को अपने ऐश्वर्यमण्डल में मुक्त करने वाला अकारणैय विरभ्यैक-परिवेष्टित अरक्य नामक पौत्रशोपुत्रेश्वर का ऐश्वर्यमण्डल अनापनय पद्माकृत्य है। पद्माकारणक ऐश्वर्य से मुक्त महाभावबहिः एते एते अर्धक ईश्वर, और उनके ऐश्वर्यों को अपने गर्भ में रखने वाला पद्मपद्म परमेश्वर है। यही ऊर्ध्वेश्वर है, और यही उत्तक ऊर्ध्व-ऐश्वर्य है। आत्मा ईश्वर है आत्मप्राणगर्भित वाहमण्डल ऐश्वर्य है। यही विभूति, ब्रह्मरूप्य, साङ्ख्यी, पुन-पद्म अष्टाश्वर, महिमा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। जीवन्मा मी ऐश्वर्यशाली उही ईश्वर का अय कन्य हुआ आध्यात्मिक ईश्वररूप में लभिष है। अतएव लभ्यो विरभ्यैश्वर्य उही का परक्य है। शीतेश्वर-वाहमय तन्त्र की अनेका से जीवन्मा लभ्यो ऐश्वर्यों का अधिकाय बन रहा है। यही 'ऐश्वर्य' नाम की मग-स्युपति है बिहके तन्त्र से जीव में मण्डल का उभावेण हो रहा है।

४-विभूति, एवं योग-सप्तय एश्वर्य-

विभूतिशक्त्य एश्वर्य ही 'आत्मविभूति' माना गया है। वह अज्ञानवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त क्षेत्र में ही अज्ञानों में विभक्त है। प्राणमण्डल विभ अन्तर्वित्त है भूतप्रधान वित्त बहिर्वित्त है। प्राण इन्द्रियवर्ण शरीर ही पुन आदि अन्तर्वित्त में अन्तःभूत है। एव अनुचर, पशु आदि अज्ञानरूप्य, तथा अज्ञ, कल प्राणर उपाय भातु (अप्ययैय) आदि अज्ञानरूप्य दानों का बहिर्वित्त में अन्तर्वित्त है। आत्मर इन उपाय विषा में विभूतिमन्त्रय योगसम्बन्ध तथा अन्धनसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। बहिर्वित्त-

धीमा पर्यन्त आत्मा व्याप्त रहता है। इसी आधार पर भ्रुति का "यावद्विस्तं वाचवत्समा" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। यदि उभय विषय के छाय आत्मा का विभूति सम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य (आत्मविक्रम) पूर्णरूप से विकसित है। अरण्य-विभूतिसम्बन्ध असङ्गतसम्बन्ध है। असङ्गतसम्बन्धवच्छिन्न पक्ष जैसे बल में रहता हुआ भी बलासमित से शृङ्खल रहता है, एवमेव असङ्गतसम्बन्धवच्छिन्न आत्मा असङ्गतसम्बन्ध विभूतिसम्बन्ध से असङ्गतसम्बन्धवच्छिन्न विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी विषयावृत्ति से निर्लिप्त रहता है। यदि उभयविषय के साथ आत्मा का योगसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य सामान्यरूप से विकसित रहता है। यदि उभय विषय के साथ आत्मा का सम्बन्धसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य असङ्गत-विषयावृत्ति से आवृत्त होता हुआ अपना विषयव्ययक ऐश्वर्यभ्रम को देता है। अतएव कहना पड़ेगा कि, योग और विभूति, इन दो सम्बन्धों में ही अन्तर्बिन्द-बहिर्विन्दानुगत आत्मा का ऐश्वर्य नामक मग स्वर्णमार्गक स्वस्वरूप से विकसित रहता है। अतएव महाबान् ने बुद्धियोग के विक्रम के लिए अस्वभावता के विभूति, तथा योग, इन दो सम्बन्धों को ही उपादेय माना है। देखिए !

एतां विभूतिं, योगं च, मम यो धेति तच्छत ।

सोऽविक्रम्येन योगेन युज्यते नात्र संशय ॥

—गी १०।७।

५ ऐश्वर्य की साध्य, तथा सिद्धान्तस्यार्य—

आत्मैश्वर्य ही विद्वैश्वर्य की प्रतिष्ठा है, एवं प्रायैश्वर्य ही भूतैश्वर्य की आधारभूमि है। स्थिति का यो स्थितिर्वाच्य कीविय। आत्मा अपने प्राणप्रधारणम् से ऐश्वर्यशास्त्री है विभूतिमान् है, महिमायुक्त है। ऐसे विभूतिमान् आत्मा के साथ युक्ता बुद्धि भी ऐश्वर्यशास्त्रिणी बनी रहती है। एवं विद्याबुद्धि से युक्त मन मानस संकल्प तथा विचारबाध, असङ्गत ऐश्वर्यशास्त्री को रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में ही ऐश्वर्य रक्ष्य है। लोकमात्र में ऐसे व्यक्तियों के लिए ही 'निगह्योलात' उपाधि प्रयुक्त हुई है। आत्मैश्वर्यविक्रम से इनका अन्तर्बन्ध स्वयं पूर्णभाव के ही दर्शन करता रहता है। इस पूर्णभावता के अन्तर्भाव से शास्त्र-भूतैश्वर्य अपने आप इनका योग्य बन जाता है। जो व्यक्ति अपने अन्तर्बन्ध में यह भावना रखते हैं कि, हम उस ऐश्वर्यशास्त्री ईश्वर के अंग हैं हममें एक कुछ है, हमारा एक कुछ है उनकी इस अस्तिमान्ता अभावना का नाम ही 'ऐश्वर्य' है। इसी आत्मैश्वर्यभावना से भूतैश्वर्य अस्तिमान्ता ही इनका अन्तर्भाव बन जाता है। ठीक इसके विपरीत किन्तु यह भावना रहती है कि हम तो वरिष्ठ हैं हमारे पास क्या रक्खा है हमारे पास बह नहीं-बह नहीं, उनका आत्मैश्वर्य इस मनोमानवतात्मक अन्तैश्वर्य से अस्तिभूत हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी नास्तिमान्ता अस्तिमान्ता के अनुगामी पुरुषों का पहिले से विद्यमान भूतैश्वर्य भी उन्निष्कृत हो जाता है एवं आत्मैश्वर्यमूलक आगामी भूतैश्वर्य से भी वे वच्छिन्न रह जाते हैं। शिव धर्म से आत्मा अपने ऐश्वर्यभ्रम से विकसित होकर भूतैश्वर्य पर अपना प्रभुत्व रखने में समर्थ होता है विद्याबुद्धिगत बही धर्म ऐश्वर्य का हृद्य बनता हुआ (आत्मैश्वर्योद्भव का कारण बनता हुआ) अन्तःस्वभाव्य से ऐश्वर्य नाम से व्यक्तित्व हुआ है। आत्मानुगत ऐश्वर्य महिमा-महदत्तात्मक है यही सिद्ध ऐश्वर्य है, यही प्राप्य है। अनुपानुगत ऐश्वर्य ऐश्वर्यलक्षक ऐश्वर्य है, यही वाच्य ऐश्वर्य है, यही 'ऐश्वर्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है, जो 'अस्तिमान्ताबुद्धि' नामकी अस्तिमान्ताबुद्धि को हृद्य कर आत्मा के महिमाभाषण ऐश्वर्योद्भव का कारण बनती है।

६-आत्मविकास की प्रतिबन्धिका अस्मिता-

आत्मा ईश्वर है, ईश्वर की ईश्वरता ही उसका ऐश्वर्य है। आत्मा स्वमाकी अपने व्यापक पूर्व-अवस्था 'ब्रह्म' से विकसित है। यह विकास ही आत्मेश्वर की ईश्वरता है। अतः आत्मविकास ही ऐश्वर्य है। व्याप्य-अपूर्व-सत्यब्रह्म अनन्तब्रह्म है। इनके उपावेश से आत्मा का स्वामाविक विकास उची प्रकार अवलोक हो जाता है जैसे कि भूतब्रह्म सभ (श्री) अपने अद्भुत यदिसद्य विकसितब्रह्म से बन्धित रह जाता है। किन्तु अल्पविकसित उपावेश के प्रत्यापात से जैसे पुष्पकण्ठिका का विकास अवलोक हो जाता है। किन्तु अनन्तब्रह्मों से आत्मा अपने विकासक्रम ऐश्वर्य से अविभूत हो जाता है, आत्मविकासप्रतिक्रमिक की अनन्तब्रह्म (किन्तु आत्मब्रह्मविक्रमिका अवस्था) 'अस्मिता' कहलाता है। आत्मसंकोच ही अस्मिता है।

७-स्मित, हास, और अद्भुतहास-स्वरूपदिग्दर्शन, एवं अस्मिताभाव-

'स्मित-ईप्सुसन' के अनुस्मरण विकास ही ईप्सु-इत्य लघुत्व स्मितभाव है। जिस वृत्ति के लिए साक्ष में 'मन्दस्मित' शब्द प्रयुक्त हुआ है वही स्मितभाव है। मन्दलुब्धन ही ईप्सु-इत्य ही स्मितभाव है और यही आत्मैश्वर्य का अन्त प्रतीक है। हास (हँसी) तब स्मित हास अद्भुतहास में से तीन भागों में विभक्त माना गया है। जिस हास में इन्तपक्रिय के दर्शन नहीं होते किन्ती प्रकार की शब्दबन्धि नहीं होती, वह शान्त मन्दहास ही 'स्मितहास' कहलाता है। वह हास अन्तःकोटि में प्रतिक्रिय है। आत्मवत्त्वा-नुपामी अल्पभूमिका में प्रतिक्रिय रहने वाले विद्वानों का 'स्मितहास' ही माना गया है। जिस हास में हीव जितल भावों हैं 'हा-हा-ही-ही' शब्दबन्धि प्रवाहित रहती है किन्तु लघुत्व इन्तपदर्शन-शब्दबन्धनिक वही हास 'हास' नामक हास माना गया है। किन्तु अन्तःकोटि में प्रतिक्रिय रहने वाले लौकिक मनुष्यों का लक्षण यही 'हास' बना रहता है। जिस हास में हीवों के साथ साथ मुक्तबिभर भी अतिशय रूप से पीड़ा हो जाता है नाक-अन-बाल-हास-पैर, किन्तु अन्तःकोटि शरीर किन्तु अपनी स्वामाविक शक्तिका अन्तःकोटि का भाव है अद्भुतहास-ओ हो ही-इत्यादि रूप से जिस में शब्दबन्धि आत्मेश्वर का भी अतिशय कर जाती है जिसे ईप्सु-इत्य पर पाठ बैठने-बलने वाले शान्तप्राकृतिक पुष्प प्लान हो पड़ते हैं, मध्यमक रूप से अन्तःकोटि वही हास 'अद्भुतहास' कहलाता है। विचारवृत्ति से अनन्तप्राकृतिक रहने वाले अद्भुतहास के अन्तःकोटि बन्धित रहने वाले अन्तःकोटिकरानुगामी, अद्भुतब्रह्मों अन्तःकोटि ही इत अद्भुतहास की आत्मब्रह्मि बना करते हैं। स्मितहास आत्मैश्वर्य का अनुगामी है हासका हास हीवैश्वर्य का अनुगामी है एवं अद्भुतहास विद्यारण्य-विद्यारण्यविक्रमिका मन्त्रवृत्तियों का अनुगामी है। क्योंकि स्मितहास आत्मैश्वर्यानुगामी है अल्पविक्रमिका ने ऐश्वर्यविक्रमिका अन्तःकोटि को 'अस्मिता' नाम से व्यक्त करती ही अन्तर्भ्रमण है। अस्मितता शब्द आत्मैश्वर्यमूलक स्मितभाव (विकासभाव) का ही अभाव दर्शित कर रहा है।

८-आत्मैश्वर्य का प्रतीक स्मितहास, और लुविरोधिनी अस्मिता-

स्मितभाव ही आत्मैश्वर्य का प्रतीक है हास और अद्भुतहास आत्मैश्वर्य से बन्धित हैं। अल्पविक्रमिकाविक्रमिका ऐश्वर्य की प्रतिबन्धिका में अस्मितों ने 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग ही अन्तःकोटि माना है। स्मित भाव ही आत्मैश्वर्य का प्रतीक बनते हैं। हास और अद्भुतहास को आत्मैश्वर्यानुगामी क्यों नहीं माना गया? यह कि इन्तःकोटिक विकास हास और अद्भुतहास में ही विद्यमान है। इत्यादि मन्त्रों के अन्तःकोटि के

लिए हमें 'स्मित' भाव के वैज्ञानिक भाव का स्वीकरण करना पड़ेगा। कहलाया गया है कि अस्मितालक्षण अक्रोचपरम के प्रवेश से आत्मा का विघ्नलक्षण स्वामयिक ऐश्वर्य्य अस्मित हो जाता है। अस्मितपरम अस्मित व्यक्तियों के मुख से कहा होना—बीर्य्यतास्वक भाव्य निरुद्धा करते हैं। ऐसे व्यक्ति पदे पदे कष्ट, तन्वनिव शोक, एवं तन्वनिव अनुपात के अनुगामी बने रहते हैं। नया ऐश्वर्य्यलक्षण विघ्नपरम के अनुयायी पुरुष 'हम पूर्ण सुखी हैं, हमारे पास सब कुछ है, हमें क्या कमी है' इत्यादि वाक्यप्रयोगों के द्वारा अपने ऐश्वर्य्य परम का बड़ा आदोष के साथ बक्तान किया करते हैं। नया आत्मैश्वर्य्यनुगामी पुरुष प्राप्त भूतेश्वर्य्य से अतिरूपरूप से आहादित बन कर हाव्यत्मक हाव किना अष्टाष्टहाव के अनुगामी बन जाते हैं। नया आत्मैश्वर्य्य के प्रतीक ये ही वाक्य परम हैं। मीमांस्य बीशिव।

६—आत्मामिमान, एवं आत्मातिमान का स्वरूपविगूर्धन—

मुनये हैं, एक बार देवता और अमुक्तों में मयानक संघर्ष (पुत्र) किङ्ग गया। दोनों शस्त्रास्त्रों से सुव्यक्त होकर ब्यूह(मोर्षा) बना कर पुत्र में प्रवृत्त हो गए। इस देवास्तुल्यम में अधिक संख्या वाले अस्तुर पराजित हो गए, एवं विभवभी ने देवताओं का संवरण किया। ऐसा नहीं हुआ। इसका उतर देते हुए श्रुति ने यह कहा है कि, देवता अस्मितानी ये किन्दु अस्तुर अस्मितानी ये। आत्मामिमानी देवता संख्या में थोड़े रहते हुए भी जीत गए, एवं अस्मितानी अस्तुर संख्या में अधिक रहते हुए भी हार गए—'ते हास्तुरा—अस्मितानेनैव पराबभूवुः (शत ५।१।१।१)। प्राकृतिक अस्तुर 'मान' है। वह 'मान' स्वयं अस्मितान अस्मितान, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। अस्मितानात्मक मान का अन्तर्बगदनुगत 'आत्मा से सम्बन्ध है। एवं अस्मितानात्मक मान का अन्तर्बगदनुगत शरीर से सम्बन्ध है। विद्याबुद्धिदृष्ट अस्मितानात्मक ही अस्मितान है एवं यही 'आत्मामिमान' कहा जाता है जो कि अस्मितानात्मक का प्रधान अर्थ माना गया है। अपने आपको (आत्मा को) वाचात् ईश्वर का अर्थ समझते हुए इसे अस्मितानान्दपन मानना, उदा अपने अन्तर्बगद में परिपूर्णता का अनुभव करना कमी आत्मा को हीन न मानना, कमी मुख से—'हम तो दास हैं, दाशानुदास हैं अस्मितान हैं निर्धन हैं अस्मितान हैं ऐसे हीनता—स्वक शक्त न निरालना अस्मितान ठीक हावके विपरीत उदा 'हम वाचात् मन्त्र के अर्थ हैं अस्मितान सब विष सम्पत्तियों से परिपूर्ण हैं सब सम्पत्त हैं' यह मानना करते रहना यही 'आत्मामिमान' है। एवविष आत्मामिमान का अर्थ है, और अस्मितान है। इसी अर्थ का उदाहरण करते हुए म्नावान् करते हैं—

उद्वरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयत् ॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥१॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य यनात्मैवात्मना जित ॥

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्णतात्मैव शत्रुवत् ॥२॥

—गीता ६।१, ६।

१०—'उद्वरेदात्मना आत्मानम्' का तात्त्विक समन्वय—

'आत्मा से आत्मा का उद्वार करना चाहिए आत्मा को कमी नही गिनना चाहिए। आत्मा ही आत्मा का शत्रु है एवं आत्मा ही आत्मा का मित्र है' प्रथम श्लोक का यही अर्थ है। सर्वथापण मनुष्य

‘प्रत्यगात्मा से शारीरक आत्मा को शक्तिशाली बनाओ। प्रत्यगात्मा की उपेक्षा कर शारीरक आत्मा को पतनोन्मुख न बनाओ’। अपने आप से ही अपना उद्वान सम्भव है इस वाक्य का ‘अपने शब्द बीजात्मा का सूत्रक है एवं ‘आप’ शब्द ईश्वरत्मा का सूत्रक है। वही अपना (बीजात्मा का) आप (प्रत्यगात्मा) है। जो अपना आपा भिगाड़ लेता है, वही पठित होता है। इसी आधार पर यह लोकवृत्ति प्रचलित है कि ‘अमुक ने अपना आपा सुधार लिया, अमुक ने अपना आपा भिगाड़ लिया’।

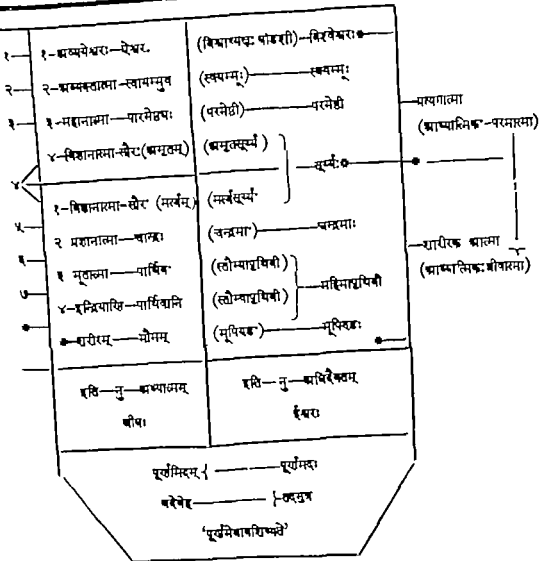
११—ईश्वरच्छानिवन्धना महती समस्या—

प्रथम श्लोक के ‘छन्दोवात्मनात्मानं नात्मानमवसावयेत्’ इस पूर्ववचन का समन्वय तो हो गया। परन्तु इसी समन्वय ने—‘आत्मैव ह्यात्मनो बभुरात्मैव रिपुरात्मनः’ इस उच्च वचन के सम्बन्ध में एक बह्यत्त समस्या उपस्थित कर दी। प्रचण्डोपाच उसका भी निराकरण कर लीविए। समस्या है ईश्वरच्छा के सम्बन्ध में। पूर्वपरिभाषा के अनुस्मर उच्च वचन के ‘आत्मैव’ का अर्थ होगा—प्रत्यगात्मा एवं ‘आत्मना’ का अर्थ होगा—शारीरक आत्मा, किन्तु अर्थ होगा यह कि ‘ईश्वर ही बीजात्मा का मित्र है एवं ईश्वर ही बीजात्मा का शत्रु है’। विशिष्टाहोतसम्प्रदाय के अनुस्मर अनन्तकस्याशगुहाकर—परमब्रह्मसिद्ध—का हुआ ईश्वर भी क्या राम—द्रोणमूलक मित्रता—शत्रुता—भावों का अनुगामी बना रहता है?। क्या वह समदर्शी नहीं है?। क्या वह भी बीजावर्ग की मूर्ति किसी बीज का मित्र, और किसी बीज का शत्रु बना रहता है?। उच्च में हाँ की क्या या सकता है, और ना भी कहा जा सकता है। इन परस्पर विरोध दलों उत्तरीयों के समन्वय के लिए ही ‘ईश्वरच्छा’ से सम्बन्ध रखने वाली समस्या की मीमांसा अपेक्षित है।

आस्तिक प्रथा का यह विरभाव है कि, बिना ईश्वर की इच्छा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। ईशानी किरपा बिना ना पान पत्र हाथी राके इस गुरुर्ब्रह्मावाप्तिक के अनुस्मर प्रत्येक कर्म की प्रवर्धिका ईश्वरच्छा ही है जिस ईश्वर की इच्छा को हम ‘ईश्वरकथा’ भी कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में लाक्षावधिकों (नास्तिकों) के अनेक विरोधाप उपस्थित होचते हैं। वे आस्तिक प्रथा से प्ररन कर बैठते हैं कि, ‘यदि ऐश्वर्य है तब तो संसार में कोई बुरा काम है ही नहीं। मद्यपान, बोरी ईश्वर, फलारामन अमबननपुत्र, आदि आदि कितनों भी अशुक्लम हैं, उन अशुक्लमूल में यदि ईश्वरच्छा ही है, तो इन्हें कुछ क्यों कहा जाय?। क्यों कहा जाता है?। वृक्ष प्ररन यह उपस्थित होता है कि—‘दिलते है, एक बार बोरी करने से पहिले बगवन्म्य—मैरव—आदि में से किसी नियत इश्वर से प्रार्थना करण है कि ‘यदि आज मैं बोरी करने में लक्षण होगा, तो आपकी अमुक मेट से लपुत्र करूँगा। यह भी मान लेते हैं और यह मानकर स्वयं भी है कि, इश्वरवानुग्रह से बोरी करने में वह लक्षण होजाता है। प्ररन होता है कि, क्या ईश्वर बोरी बले निन्द्य कर्म का भी लक्षण बन जाय है?। सभी पापकर्म यदि पुण्यकर्मों की भाँति ईश्वरच्छा से ही सम्बन्ध हैं तो पापकर्मों में बचाने के लिए प्रहृत होने वाला शास्त्रोपदेश तो स्वर्ध है ही। इसके साथ साथ संसारशानरमुत्र र्ध ईश्वर पर एक बहुत कम कलह भी आरोपित होजाता है। यदि वही, उन्नी इच्छा ही अशुक्लमों की भी प्रवर्धिका है, तो इच्छा बरह हमें क्यों मिले?। मिश्रता है इसीलिए तो समस्या और भी बहिल बन जाती है। ब - लता के निराकरण के लिए आत्मसाधनपरम्परा का अन्वेषण अपेक्षित है।

१२-आध्यात्मिक-आत्मसोपानपरम्परा—

तन्त्रात्मिक विद्वानों तथा शंभारिक कर्मों का मोक्षोपाय है, उक्त है—‘मोक्षसाध्या’। मोक्षसाध्या का क्या स्वरूप? उक्त है—‘आत्मा इन्द्रिय, मन का अनुचितकर्म। अर्थप्रधान वैश्वानर, क्रियाप्रधान वैश्वानर, ज्ञान-प्रधान अक्षर हीनों की समष्टि ‘आत्मा’ है, यही वेदात्मिकानी शारीरिक आत्मा है। ज्ञानकर्मोन्निद्रपरणक, शरीर प्रदानमन दोनों इस आत्मा के कर्मों के लक्षण हैं। प्रज्ञानमनोयुक्त इन्द्रियवश से भी आत्मा भाषना-वाचना-कर्म से साम्प्रतिक कर्ममोक्ष में समर्थ बनता है। अतएव योगकर्मण्ये ‘आत्मा-इन्द्रिय-मन’ हीनों को ही हम ‘मोक्षसाध्या’ श्रेण ब्रह्म कि-‘आत्मो-न्द्रिय-मनो-युक्त ‘मोक्षो’ स्याद्ब्रह्मानीयिष्य’ इत्यादि उप-निष्युक्ति से प्रमादित है। जैसे पश्चिमा स्थान इन्द्रियों का है अनन्तर वे-ते-प्राठ-मूर्ति पार्थिव कर्मसाध्या का स्थान है। अनन्तर चान्द्र प्रज्ञानात्मा (मन) का स्थान है। अनन्तर शरीर विज्ञानात्मा (इन्द्रि) का स्थान है। अनन्तर पारमेष्ठक महानात्मा का स्थान है। अनन्तर स्वात्मसुख अक्षरसाध्या का स्थान है। एवं कर्मांत में प्रत्यगात्मा नामक अक्षयपुरुष प्रवृत्तित है ‘अक्षयसत्त्वं पुरुषः परः, पुरुषात्त परं किञ्चित् सा काष्ठा, सा परा गतिः’। आत्म के ‘आत्मरक्षणप्रतिपत्ति’ नामक प्रकरण में इस आत्मसोपानपरम्परा का विस्तार से विवेचन किया जाना है। प्रकृत में इस विवरण से यही निष्कर्ष निकलता है कि, अक्षयेश्वर, अक्षरक, महान् विज्ञान प्रज्ञान आत्मा, इन्द्रियकर्म इन सब शक्तियों का इसी कर्म से आध्यात्मसंरक्षण में वृत्तिवश हुआ है। इन सब शक्तियों में अक्षयेश्वर नाम की पहिली शक्ति ‘प्रत्यगात्मा (ईश्वर) है एवं आत्मा नाम की छठी शक्ति ‘शारीरिकआत्मा (बीज) है। अक्षयक महान्, इन दो शक्तियों का प्रधानतः प्रत्यगात्मा व अक्षरक है एवं महान् इन्द्रियकर्म इन दो शक्तियों का प्रधानरूप से शारीरिक आत्मा से सम्बन्ध है। यही विज्ञानात्मरक्षा प्रत्यगात्मा शारीरिक आत्मा दोनों के मध्य में प्रवृत्तित पड़ती हुई ‘बिहलशरीरकर्मण्य’ से दोनों की अनुमाहिका बनी हुई है। तदर्थम् यद् निश्चय कि अक्षयेश्वर, अक्षयक, महान् अमृत विज्ञान, शरीर की समष्टि प्रत्यगात्मरक्षा है। एवं सर्व विज्ञान प्रज्ञान आत्मा, इन्द्रियकर्म, शरीर की समष्टि शारीरिक-आत्मरक्षा है।



१३-ईश्वरेन्द्रासहस्रव अतस्तु फर्मों की अभिव्यक्ति—

अतः आम्प्रात्मिक आत्मसोपानपरम्पर को सत्य बना कर ही ईश्वरेन्द्रा से सम्बन्ध रखने वाली पूर्वात्मिक विज्ञान-समस्या की सीमांता कीधिए। आम्प्रात्मिक ईश्वर अभ्येपरवर है। इसकी इच्छा ही ईश्वरेन्द्रा है, वही निष्कामकामात्मिक उपरिपताकांक्षा नाम की ईश्वरकामना है जिसका विषय स्वल्प पूर्वपरिच्छेदों में ‘कर्मबन्धो-विश्वरथे’ इत्यादि श्लोकार्थप्रसङ्ग में कदापि वा पुत्र है। इत ईश्वरकामना का सर्वप्रथम उत्पत्तिक्रमपरिचय आम्प्रात्मिकता में सम्बन्ध होता है। अभ्येन्द्रात्मिक के द्वारा ईश्वरकामना अभ्येन्द्र के लक्षिक्रमपरिचय महातत्त्वा में व्यक्तित्व होती है। महातत्त्वा के द्वारा ईश्वरकामना महत्लक्षिक्रमपरिचय अमृतसूर्यात्मिक, अतएव परम-अन-

वैद्यक-वैद्यक्यं नमः श्री मगन्तुप्रदी से पुस्तक अथर्वक व निष्कृतप्रकारक विज्ञानात्मता में प्रविष्ट होती है, और वही आकर ईशकामना का एक प्रक्रम समाप्त हो जाता है। अथर्वधर में आरम्भ कर अमृतविज्ञानात्मता पर्यन्त उद्विष्टाकांक्षालक्षणा, निष्काममन्त्रात्मिका विद्यातुदितहस्ता अथर्वक अथवा अथर्वक व अथर्वकविद्या ईशकामना का अथर्वक-अथर्वकित्वात्म्य रहता है। इस इच्छा में पुस्तक शारीरिक आरामा के विठनें भी सम्म हैं, वे सब निष्कामकर्मविक्रम अथर्वकम्प हैं। ऐसी ईशकामना से प्रयुक्त शीवात्मता के सभी कर्म हैं। ऐसे पुस्तकों की कमी अथर्वकम्प में प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। यदि ऐसे पुस्तक कमी किसी अथर्वकम्प में प्रवृत्त हो देखे मुन चाते हैं तो इन्हें कहे गुण्य लोभ्यम्पुन निहित रहता है जो मानवीय इति से परे की वला है। नास्य फल व कर्मोंका लोभ्य मीयत न मातृवचन-न पित्रुवचन' (श्री भा उप १।१।) का अनुकार ईशकामना को मूल मानने वाला व्यक्ति यदि अपनी माता (परशुरामकत) तथा पिता को भी मार रहा है तो भी उसे उग्रवित पाठक नहीं होता- 'क्षिप्यते न स पापन'। क्योंकि, उक्तका सर्वकर्म प्रकाशक की इच्छा में समर्पित रहता है बा कि प्रत्यक्षकेच्छा सर्वथा अथर्वक है। भूति का अथर्वक्यं यही है कि, एवम्पि वामशुक्रात्मता शान्त पुत्र से पहिले तो किसी भी निम्न कर्म की सम्भवना ही नहीं है। यदि वह अविचारविक्रम स्वयम्प्राप्तन के लिए कर्मों किसी निम्न कर्म में प्रवृत्त देना भी चाता है, तो इसे विरक्त करना चाहिए कि, ईशकामनायुक्त उग्रक इह निम्न कर्मों से भी अथर्वक ही कर न करे लोभ्यम्पुन होने वाला है। बीकणा फलहीके काश-आहार निहार देल-हुन कर हम आरथकर्ममुत्र कन रह चाते हैं। परन्तु विरक्त्य कीविद्य, वे विधि-निषेध से परे हैं। न अमृत उनका मला ही कर लक्ष्य, न मद्य उनको हानि ही पहुँचा लक्ष्य। विधि-निषेधकमक शास्त्रोपदेश अस्मदादि उन लौकिक मनुष्यों के लिए अनिवार्य हैं, बा लोभ्यक्षिप्यम्पुन इन्द्रियायमवसायक है। स्वयं को देखिए न मूचनक्षिप्यत्स मूच उडे वास्तुक नहीं बना लक्ष्य। यही नहीं बिन मन्त्रवचनधर्मों के लक्ष इत्यत्र सम्भव हो जाय है वे स्वयं शेषवर्षित कन चाटी हैं। अथर्वक्यं एव-वेदे-लक्ष-अथर्वक-लक्षमात्र में विभूति के सम्बन्ध से रहता हुआ भी तरनुगत शुभ-अशुभ-संस्कार सम्पन्न न चाक्य नहीं होता, तथैव अथर्वक ईशकामना से युक्त शीवात्मता सर्वत्र उमदरी कनय हुआ विभूति के सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी निरहित बना रहता है। अथर्वकयुक्त, युक्तयोगी, अन्त्यनिष्ठ मन्त्र कन इती स्थिति के उदाहरण हैं। मन्त्रान् यम शास्त्रनिषेध की उदेवा कर अथर्वक्यं भी शरीर के उद्विष्ट वेर का सजते हैं। परन्तु हम नहीं का लक्ष्ये। अथर्वक्यं हम भगवन् नहीं हैं। ईशकामना के अनुपयमी चाभी हम नहीं कन पाए हैं। किन्तु हम भी वेदे कन चाभी कन कन कुत्र हमारे लिए भी कर्म मान लिया जायग। निष्कर्ष यही है कि, अमृतविज्ञानात्मिका विद्यातुदितपर्यन्त ईशकामना स्वयम्पुन से निरहित, अथर्वकयुक्त से अनाहत रहती हुई अथर्वकना कनी रहती है। ऐसी ईशकामना से पुस्तक शीवात्मता के सभी कर्म लक्ष्यम्पुन मयें क्य हैं।

१४-ईशकामना का सम्बन्ध में समास्थात्मक प्ररनोत्थान-

आध्यात्मिक जीव वैधानर-वैकल-वाङ्मूर्ति शारीरिक अथर्वक है। इसके उत्तर माय में लो इन्द्रियकर्म प्रविष्टिय है एवं पूर्वमाय में प्रथममन एवं लक्षपूर्वमाय में मन्त्रविज्ञानात्मता प्रविष्टिय है किन्तु मन्त्रमाय का सम्बन्ध से आग्निवैद्य-अग्निता-आलक्षि-अग्निवा इन चतुर्विध कलेय-अग्निवैद्य के ब्रह्म की रूपका मानो मयें है। अथर्वक-महात्-हाय परापरया अमृतविज्ञानात्मता में आक्य अथर्वकयुक्त की कामना का अनुपयोजन के

हाय मर्त्यविज्ञानामा मे आगमन होत हे उद्घाटन मर्त्यविज्ञानसमिप्यवरिधत प्रज्ञानमन मे वर ईशकामना युक्त होती हे, प्रज्ञानमनोद्वारा प्रज्ञानमन समिप्यवरिधत शारीरकजीव मे ईशकामना का आगमन होता हे । एवं बीवशाया वर ईशकामना बीवसमिप्यवरिधत इन्द्रियवर्ण के साथ संयुक्त होती हे । मर्त्यविज्ञान से आरम्भ कर इन्द्रियवर्ण पर्यन्त व्याधि ईशकामना का शारीरक-आत्मानुगत मरी रूप प्रकृत हे । इतपन्नर अल्पवेधर-गदा वही मूलभूता ईशरेच्छा अल्पवेधर से आरम्भ होकर तदुत्तरवर्ती अल्पक-महान्-अमृतविज्ञान-मर्त्यविज्ञान प्रज्ञान-आत्मा मे परम्परया मुक्त होती हुं इन्द्रियवर्ण पर विभाम करती हे । इन्द्रियेन्द्रा बीवेष्या प्रज्ञानेच्छा, मर्त्यविज्ञानेच्छा, अमृतविज्ञानेच्छा महदिच्छा, अल्पकेच्छा वे सती आध्यात्मिक इच्छाएँ परम्परया प्रविष्ट अल्पवेधरेच्छा के ही धाराधिकरूप हे । आर इत इति से बीवेष्या-मानसेन्द्रादि से सङ्कत यन्त्रयावत् सङ्कतकर्म ईशरेच्छामूलक ही माने गए हे । उच्यते चिन्ता ईशरेच्छा के सहयोग के मनुष्य 'सुखरुम कुञ्जीकरयोऽप्यराक्त' । यही वर प्ररन उपस्थित होता हे कि, यदि ऐश है, तो क्या कायी-हिंसा-आदि नित्य कर्म मे ईशरेच्छा से इति हे ? कि इत प्ररन का उक्त ईशरेच्छा के परम्परानुगत मोन भी इति से वर भी दिया वा कता हे कि, 'हो नित्य कर्म मे ईशरेच्छा से ही सम्भव रकते हे । इती पर सुखा वर प्ररन उठ बाठा हे कि यदि ऐश है, तो शस्त्रोपवेध का क्या प्रयोजन ? हुन नयी नित्य कर्मों का नित्य बल भोगते हे । और ईशर मे क्या गुणरूपक अक्षरुर्म का मेरक कन कर अग्ने समत्व से बधित होता हुआ कलकमान कन बाता हे ? ।

१५- 'यथोदक दुर्गे वृष्टसु' का तात्त्विक समन्वय, एवं प्ररनसमाधि—

उक्त प्ररनों के सम्बन्ध मे हुं वर कचना परेगा कि, प्रवृत्तिमूलक वैदिक लौकिक यन्त्रयावत् शारीरक अक्षरुर्म तथा प्रवृत्ति-तमोमूलक लौकिक यन्त्रयावत् भ्वावहारिक अक्षरुर्म, तथा नित्य कर्म, इन लव कर्मों का मूल ईशरेच्छा नहीं हे अपितु बीवेष्या हे । क्या बीवेष्या उक्त परम्परानुगता ईशकामना के मोन से ईशरेच्छा का ही रूपांतर नहीं हे ? हे, और अक्षरुर्म हे । फिर कि अक्षरुर्म पर बीवेष्या का ईशरेच्छा से पार्यन्त माना गया ? । एकमात्र इती प्ररन के उत्तर पर समस्या का निराकरण हो या हे, जो उत्तर निम्न लिखित उपनिषद् इति से प्रमाहित हे—

यथोदक दुर्गे वृष्ट पर्वतेषु विधावति ।

एवं चम्मान् पृथक् परयस्तानेषालुविधावति ॥

—छटोपनिषत् ४।१।४।

एक बहुत सदा पर्वत हे । उत विशाल पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर एक दुर्ग (भिष्ठा) कना हुआ हे । दुर्ग अनन्ताक्षर से वेदित हे । अनन्ताक्षर के क्षेत्र मे इन्द्र-परम्य-भूम-स्वोप्ति-सतिस-वायु-के समन्वय से समुत्पन्न मेघ का बाते हे । पानी दुर्ग पर सरकने लगता हे । दुर्ग पर कलक हुआ पानी पर्वत पर बाता हे पर्वत से निर्भरित हो कर वर बरछल पर का बाता हे । मूकमय बरछल पर काया हुआ पानी इतसकता विमक्त कलक विभिन्न मार्गों से प्रकाहित होता हुआ बरछल मे व्याप्त हो बाता हे । कृति कइती हे—मेघा-धारभूत अनन्ताक्षर कलाधारभूत आकर्मरारभ मेघ मेघरिधतकल, दुर्ग, पर्वत पर्वतोत्पन्नकर्म बरछल लव सन्ध हे निम्न ल हे । परन्तु बरछल के विमक्त विभिन्नमार्ग अक्षरुर्म हे मलिन हे । इन विभिन्न पथों क यमुगमन से ही सन्ध-निर्मल मे अक्षरुर्म और मलिन हो बाता हे । ठीक वही परिस्थिति वहाँ अक्षरुर्म । अनन्ताक्षर के रथान मे अनन्ताक्षरकलक, अतएव 'अन्तारात्मा' नाम से प्रविष्ट 'प्रसंगरथा नामक अक्षरुर्म-

रबर है। नमस्त्वान्-आकारालक्ष्य आन्वयताह्मा अ भी इसी में अन्तर्भाव है। महानात्मा मेघस्थानीय है। महा
 नात्मा में परिपूर्ण होमरस बलस्थानीय है। विद्वानात्मधर्मरिषकत प्रज्ञानात्मा दुर्गस्थानीय है। शारीरकआत्मा
 वैशान्वयम्पक अरनासोम से कृतस्म बनता हुआ पर्यंत स्थानीय है। पाश्चात्त्यैविक पार्थिव शरीर पूर्वोत्पन्नकात्म
 पण्डित है। इत्यप्रकार अनन्ताक्षरा मेघ बल दुर्ग, पर्यंत, पर्यंतोत्पन्नस्थानीय आन्वयताह्मा-नर्मित आन्वयैरवर,
 महानात्मा सोम, प्रज्ञानात्मगर्मित विज्ञानात्मा, शारीरकआत्मा, शरीर, ये सब आध्यात्मिक पूर्व स्वस्वकम से
 अनन्ताक्षरायामिक् स्वच्छ है, निम्न ल है। सब में बड़ी अलखक अग्निध-निम्न ल आत्मरस, और उदियताकाय
 लक्षण ईशानमना प्रवाहित है। पण्डु विभिन्न-विभक्त-मार्गस्थानीय विपद्यानुगत इन्द्रियवग अपनी पण्डु-
 इधि के कारण विपद्यावस्त बनता हुआ अस्वच्छ है मस्तिन है। इसके सम्पर्क में आते ही महानात्मयुक्त
 वैशान्वय, कृत्वा ईशानमना स्वस्वकम से स्वच्छ-निम्न ल यही दुर्ग भी विभिन्न ऐन्द्रियक बर्णों की और
 अनुपादन करने से अस्वच्छ-मस्तिन हो जाती है। इन्द्रियानुगत पृथक बर्णों का अहममनना ने अनुगमन
 नहीं किया है, इसका उत्तराशित्व भी सम्भवत बीजाना पर नहीं है। आरव-विन इन्द्रियों से बीजाना
 विभिन्न धर्मात्मिक बाह्य गुणधर्मक विषयों की ओर अनुबन्धन करता है उन इन्द्रियों का सब स्वर्ग प्रजापति की
 ओर से बहिष्कृत है। सभी इन्द्रियों के द्वार बहिष्कृत हैं। बहिष्कृत इन्द्रियवर्ग यदि क्या विषयों की ओर
 अनुपादन करे, तो इन्हें इन्द्रियों का, और बीजाना का क्या राज है। आपत्त-प्रितल-लक्षण अवरण
 मृत्युबन्धात्मक बीजाना भाङ्गमूक इन्द्रियवर्ग के अनुग्रह से यदि विभिन्न धर्मानुपादन करता हुआ मृत्युमय
 बन जाता है तो इन्हें इच्छा क्या दोग है। इस स्वाभाविक-माहुरिक-मृत्युधर्म से बचने का एक उपाय
 है। बड़ी उपाय बुद्धियोग अलाय है। इन्द्रियधर्मपूर्वक इन्द्रियों को अन्तुषु का नाहण, पञ्च धर्मानुपादन
 अकच्छ हो बाध्या। बीजाना का विद्याबुद्धि से योग हो बाध्या। विद्याबुद्धि का अस्वयैरवर से स्वाभाविक
 योग है। तदोपानुगत बुद्धियोग से बीजाना का भी अस्वयैरवर से योग हो बाध्या। प्रजाप अस्वयैरवर क
 अमृतधर्म का बीजाना संयोग हो बाध्या और इत्यप्रकार बीजाना अनुपादन कर योग विद बुद्धि-
 योगधर्मक उपाय का निम्न लिखित उपनिषद् सूत्रि से स्फोरण हुआ है—

पराभिन्व खानि प्यहसत् स्ययम्भूस्तस्मात् पराक् परपति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्वीरः प्रत्यगात्मानमैष्यावृत्तपञ्चुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठोपनिषत् २।१।१।

इन्द्रियवर्गमूलक अस्वयैरवरकचनकप आनरव बह कृष्ण-अहर्ष (काला अहर्ष) है विद्यों
 होकर अने बालों को लपकांलिभ्र भी सूर्यरश्मियों कृष्णवर्ण में परिणत हो जाती है। सूर्यरश्मिअह
 स्वस्वकम से सर्वथा श्वेत-निर्मल-स्वच्छ है। आप अपने अङ्गुष्ठक के आगे काला अह लक्षण कर देते हैं।
 इस में होकर अने बाला श्वेत भी प्रकाश आनके लिय अस्ता बन बाध्या। टीक यही स्थिति यहाँ दमनिय।
 इन्द्रियवर्गके के अनुग्रह से अस्वयैरवरके में अस्वयैरवरकम से प्रविष्टित मनना-अठनात्मक अस्वयैरवर गुणधर्मक
 कृष्णबाध्यात्मक आनरण है। आपत्त अस्वयैरवर प्रबन्धन में प्रविष्टित होकर मनोमय बन जाते हैं। मन पर
 विद्यामिका बुद्धि प्रविष्टित है। विज्ञानबुद्धि के प्रकाश से ही तो अस्वयैरवर प्रकाशित होता है। सूर्यरश्मिों से
 तो प्रविष्टित क कम्पन से अस्वयैरवर को ज्योतिः स्वकम में परिणत करती है। सूर्यस्थानीय विज्ञानात्मा (विद्या
 बुद्धि) का प्रकाश स्वतः निर्मल है। परन्तु अस्वयैरवानीय प्रबन्धात्मा मन) अस्वयैरवरके से कृष्ण बन

या है। अतएव उपागत निर्मल भी विज्ञानप्रकाश मलिन बन रहा है। संस्कारमय मन क्षेत्र में मुक्त यही विज्ञानात्मा अविद्यात्मक है यही अविद्याबुद्धि है जो मन के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने स्वामाधिक्रिया-बुद्धिधर्म से बन्धित हो रही है। मन में विज्ञानहाय आया हुआ आत्मभोतिरंश, तथा ईशकामना संस्कार-सम्बन्ध से इतन्प्रकार स्वामाधिक्रिय गुणविकास से अभिभूत होकर आगन्तुक तमोगुण की अनुप्राप्ति का बन जाती है। संस्कारमय यही ईशकामना गुणसम्बन्ध से 'बीबकामना' कहलाने लग जाती है। यही बीबकामना उपागम्याकांक्षा कहलाई है बिनाका प मंभुद्धियोगप्रकरण में बिलोपण किया जा चुका है। संस्कारत्वेन यह इच्छा बीबेच्छा है, यही फल का निन्द्य कर्मप्रवृत्ति का मूल कारण है और इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि, - 'ईश्वरेच्छा कमी निन्द्य कर्मों को प्रेरणाफल प्रदान नहीं करती'। संस्कार वनापि इच्छा है वही, जो परम्परया आगत है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि, 'निन्द्य कर्मप्रवृत्ति भी ईश्वरेच्छा पर ही अवलम्बित है'। इस प्रकार पूर्वकथनानुसार इस समस्या के ही-ना-दोनों ही उत्तर हो सकते हैं। हमारे अपने सांसारिक दोष से ईश्वरेच्छा नहीं हमारे (बीबात्मा के) दुःख का कारण बन जाती है वही हमारे अपने ध्याय बुद्धियोग से ईश्वरेच्छा हमारे कर्मानों की निवृत्ति का कारण बन जाती है। संस्कारसम्बन्धत्वेन यही प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा का शत्रु बन कर उसे पतनेनुक्त बना देता है, एवं संस्कारसम्बन्धानाम में यही प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा का मित्र बन कर उसे संसारसागर से बचा ले जाता है।

१६-आत्मैव ज्ञात्मनो बन्धुः बुद्धियोगानुष्ठानेन, एव आत्मैव रिपुरात्मन आसक्तिबन्धनेन

तत्त्व का सम्बन्ध यी कीबिपि कि, न ईश्वर हमारी मलाई में छद्मोप देता, न बुद्धि में। हम स्वयं उसकी प्रवृत्ति से अपनी मलाई भी कर सकते हैं, बुद्धि भी। हमारी आँसों के सामने आला काय है। अपने स्वभाव से सर्वत्र फैली हुई श्रेत-सूर्यभोति हमें कभी दिखाई देने लगती है। इसमें न तो सूर्यभोति का अनुग्रह है न निग्रह है। उसे श्रेत क्नाप रचना भी हमारा अपना पुरुषार्थ है कला बना कर रचना भी हमारा पुरुषार्थ है। इसी आधार पर-सुखस्य दुःखस्य न काऽपि वाता, परे दृष्टातीति कुमुद्विरेया स्वकर्मसूत्रप्रवितो हि लोका' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। उपयोग करने वालों की योग्यता से अच्छी बस्तु बुद्धि भी बन जाती है अस्वी भी बनी रहती है। ईश्वरभोति सर्वत्र तम है। हम अपने दोष से (संस्कारसे) उसे मलिन बना कर उसे अपना शत्रु बना कर उद्धार निन्द्य कर्मों का भी अनुग्रहण कर सकते हैं, एवं बुद्धियोग से उसे स्वस्वकर्म में विकसित रखते हुए उद्धार अस्वकर्मों का भी अनुग्रहण कर सकते हैं। इसी तत्त्व को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है- 'आत्मा (प्रत्यगात्मा ही बुद्धियोगसम्बन्ध से) आत्मा का (शारीरकआत्मा का) मित्र बन कर आत्मा का (शा आ का) उद्धार कर देता है, एवं आत्मा ही (आदिक्रियसम्बन्ध से) आत्मा का शत्रु बन कर आत्मा को गिरा देता है- 'आत्मैव ज्ञात्मनो बन्धुः' बुद्धियोगानुष्ठानेन, एवं 'आत्मैव रिपुरात्मनः'- आसक्तिबन्धनेन।

१७- 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य' इत्यादि उत्तर श्लोकमन्वय—

'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य' इत्यादि प्रथम श्लोक के सम्बन्ध की चेष्टा की गयी। 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य' इत्यादि द्वितीय श्लोक से इसी सम्बन्ध का स्पष्टीकरण हुआ है। भगवान् करते हैं- 'बिषय शरीरक आत्मा (बीबात्मा) का उद्धार (बुद्धियोगानुष्ठान से) प्रत्यगात्मा (ईश्वरत्मा) श्रेत शिष्या बाटा है उक्त शारीरक आत्मा का प्रत्यगात्मा बन्धु बन जाता है। अर्थात् स्वस्थान में विरक्त न प्रविक्षित प्रत्यगात्मा उक्त शारीरक आत्मा का

लिए क्युं छिद्र हो गया है वा शारीरक आत्मा यगानुष्ठान से संस्कारकरणों की इत्यत्र हुआ प्रत्यक्षमा के निर्मूलक ज्ञानपञ्चम को अपने अतिरिक्त में कर लेता है तस्यात्मनः-(शारीरक-अत्मनः) आत्मा (प्रत्यगात्मा) यत्तु (मवति), यनात्मना (शारीरक-अत्मना) आत्मैव (प्रत्यगात्मैव) त्रितुः-‘यही अन्वयम्भवत् है-त्रितुः ‘यत्तु-प्रत्यगात्मनस्तस्य यनात्मनेवात्मना त्रितु इत वाक्य में अर्थान् हुआ है। ठीक इसके विपरीत वा शारीरक आत्मा इन्द्रियानुगत धर्मात्मिक विषयों की आधिति में आच्छ हो जाता है उक्त ही अपना आत्मस्वरूप धर्मात्मिक अनात्मम्भवे से अनात्मरूप में परिणत हो जाता है। तत्कारण्य से अनात्मा को हुए (आत्मविशेष में बन्धित को हुए) शारीरक-आत्मा का वह प्रत्यगात्मा क्युं न रह कर शत्रु बन जाता है। और उक्त दशा में वह प्रत्यगात्मा ही (एव शारीरक आत्मा के अर्थ) शत्रुत्वं भवन्तु करन वाला छिद्र हो जाता है। ‘शत्रुत्वं’ का तात्पर्य यही है कि प्रत्यगात्मा अपनी आर स न क्युं है, न शत्रु है। शीतलता की योग्यता के कारणत्व से ही वह क्युं-का और शत्रुत्व बन जाता है। ‘सांस्कारिक-अवधारणा अनात्मनः (आत्मस्वरूपवच्छिन्नस्य जीवात्मनः) शत्रुत्व (प्रत्यगात्मनः) शत्रुभाव परिणत सति) आत्मैव (प्रत्यगात्मैव जीवात्मना सह) शत्रुत्वं वर्तेत’ यही अन्वयम्भवत् है त्रितुः- अनात्मनस्तु शत्रुत्वं परोत्तरत्वम् शत्रुत्वं इत वाक्य में अर्थान् हुआ है।

१८-मनो-वाक्-धर ‘महथेयो’ गाव-

प्रवृत्तय आत्मोद्धार-आत्मनस्तन की मीमांसा करनी पड़े। अब पुनः पङ्क्त की आर पाठनी का ध्यान आकर्षित किया जाता है। अन्वय गवा था कि इत्यत्र आत्ममिमान से बंध गये, एवं अतुत धामनिमान से हार गये (५.११.१५)। आत्मा से नहीं वर्तनूयभूत प्रत्यगात्मा (आत्मैवधर) आत्मिरेव है। इस आत्मा का पूर्ण विच्छेद ही आत्ममिमान है त्रितुः केवल आत्मोद्धार से सम्भव माना गया है। यद्यपि त्रितु की नहीं यति नहीं है। त्रितुः को विरलेस्य उवा गवा है कि -“यद्यपर मनः, और वाक् में महथेयोमन का लंकर ल पर्यं चल पड़ा। मन करता था मैं तुम से बड़ा हूँ क्योंकि मैं ब्रह्म तत्त्व करता हूँ तूमैं ब्रह्म ही स्वरूप करना पड़ता है। वाक् कहती थी, मैं तुम से बड़ी हूँ। मैं न होती, तो तुम्हारा तत्त्व कभी अर्थरूप में परिणत न होता। इत्यपर मन वाक् को कृत्युद्धरं कृतज्ञत्वा या एवं वाक् मन का कृत्युद्धरं कृतज्ञा रही थी। दोनों बंध निवारण में अक्षर्यं हो गये, तो प्रवायति (प्रत्यगात्मा) के कर्मान् पुरुषि। प्रवायति ने यह निर्णय कर बताया कि, ‘तुम दोनों में मन ही भेद है’। प्रवायति के इत नियम से अक्षुद्र होकर वाक् ने अपना रोध इन शब्दों में प्रकट कर दाखा कि- हे प्रवायते! अपने भाव तुम्हें मन की अनेका कृत्य करा दे। अतएव आत्म में मैं आत्मके लिए ‘महथ्यावाहना ही कनी रहूँगी। अन्वयत्व लव से उक्त वाक् ने प्रवायति के लिए इत्यन्वय कर्त्ता छोड़ दिया’। अतएव आत्म भी मन में प्रवायति के लिए को कर्म किया अत्र दे वह उपाय (उपायो- निना मन्ववाक् के) ही किया जाता है’ (रेलिय एत राजावा वा)।

१९-अभिमान, एवं अतिमान-व्यपहारों का पार्थस्य -

तत्त्वम् आत्मन का यही है कि, इत्यस्य प्रत्यगात्मा ही प्रवायति है। वह अनेक है एवं यही वाक् का प्रवर्तक है। वाक् यदितु वा है न प्रवर्तयन्वावाक्य कर्म उपाय ही होता है। यतो वाको निवर्तन्त आत्माय मनसा सह के अतएव यही वाक् का मन्व कर्त्ता बनकर है। और यही आत्ममिमान का दार्शनिक परिचय है। कर्त्ता नहीं, यन्ववाक्य रक्तम् इत्यन्वया अपने आपको परिपूर्ण बना आत्मनय में प्रकट करना अपने आत्मको विनक

रहित। विनय-शीलता का यह तात्पर्य नहीं है कि, आप अपने आपको ब्रह्म-मूर्ख-निर्घन कह कर पापित करते हैं। अस्मि 'योऽस्मि सोऽस्मि' के अनुसंधान आपका विनय केवल-‘उब ठीक है, मगवान् का अनुभव है, उस आनन्द है, धीवनयात्रा का निर्वाह हो रहा है’, एवंविध सामान्य वचनों के दाग ही प्रकट होना चाहिए। आत्मामिमान केवल आत्मसम्पत्ति है। अतएव वह केवल अन्तर्बुद्धि ही ही बल्य मनी रहनी चाहिए। एवं इसके लिए आपको सदा उत्कर्ष बना रहना चाहिए। आपकी इन्द्रियां शरीर, आदि भी शैथिल्य बनते हुए वाह्यत्व ही हैं। क्योंकि पाँचों भूतों का मूल वाकत्व ही है। अतएव आपका आत्मामिमान यदि इन्द्रियों पर, शरीर पर थोका भी मल्लक आया, तो आत्मामिमान का स्वरूप विगड़ बाधगा आत्मामिमान वागतिमानरूप में परिणत होकर अतिमानी असुरों की भाँति परामव का कारण बन जायगा। आपकी बायीं, आँसू नाक, हाथ, पैर, मस्तक आदि की किसी भी चेष्टा में अमिमान की भल्लक नहीं रहनी चाहिए। क्योंकि बाह्य चेष्टानुगत अमिमान आत्मामिमान न रह कर वागतिमान बन जाता है। साथ ही विनय का अनुचित उपयोग करते हुए आपको ऐसी चेष्टाओं का प्रदर्शन भी नहीं करना चाहिए जिससे कि आप सैष्या दीन-हीन-मूर्ख-मधीत होने लगें। यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ रहा है कि आत्मामिमान वागतिमानरूप में परिणत हो रहा है। विद्या-वैभव से सम्पन्न व्यक्ति अपनी बायीं से चेष्टाओं से अपना क्लान करते नहीं आघाते। विद्यातिमानी ऐसे ब्राह्मण-वैश्ये छाती ठान कर चलते हैं मानों इन्होंने विश्वविजय कर लिया हो। चाहे जिसको मूर्ख नास्तिक कह बैठना प्रजापतियों का उत्सर्ग करते रहना, ‘सर्व परिभवा’ का चरित्र करते रहना बही इनका विद्यातिमान है जो निश्चयेन किसी समय परामव का कारण बन जाता है। बही दशा घनातिमानियां भी हैं। अपने समकक्षों को छोड़ कर अन्य लोभारण्य व्यक्तियों से बात करने में भी ये घनमदान्ध अपनी मान शानि लम्भते हैं। घनातिमान से विद्यानों का अपमान करना अपनी कुशलता-प्राप्त्यर्थ का प्रयत्न करते रहना ही इनकी बीभत्सवर्च्यता मनी रहती है। निश्चयेन विद्यातिमानक घनियों का यह घनातिमान भी एकदिन इनके उर्ध्वगच्छ का ही कारण बन जाता है। इसके साथ ही आत्मामिमान के तात्त्विक स्वरूपज्ञान से भ्रष्ट रहने अरुच विनयपथ के अनुगामी किन्ते एक विद्याप्री भी हम ‘कुछ नहीं जानते हम तो मूर्ख हैं’ इत्यादि हीन शब्दों में अनुचित विनय का प्रदर्शन करना अपना कथम्य मान बैठते हैं। एवमेव किनकचित् किन्तें एक भनिक शीर्ष-मलिन केश पहिने हुए, हमारे पास क्या रक्ता है हम तो आपके दाघ हैं इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते रहने में ही अपना गौरव लम्भते की भूल करते रहते हैं। ऐस विनय भी एक प्रकार की आत्मप्रतारणा बनता हुआ वागतिमान बन कर परामव का कारण बन जाता है। एवं पूर्वोक्त उद्दण्डवाक्य वागतिमान भी परामव का कारण बन जाता है। ‘असन्नो स भवति-असद्वृत्तो वि नत् पत् भुवि कह रही है कि-‘विनय के भ्रम में पड़ कर यदि हम ‘कुछ नहीं है-हम क्या जानते हैं’ इस न-न का पारमण्य करत रहे तो इस अस्तुधारकालक अतिमान से हम स्वयं किसी दिन अपना अस्तित्व ही का भेजेगे। न मिथ्या विनय का प्रदर्शन उचित न उद्दण्डवा-त्मक वागतिमान का प्रदर्शन उचित। क्योंकि दोनों ही अतिमानस्वैन परामव के हतु बन रहे हैं। मगवान् के अनुभव से उब ठीक है इस सामान्यवाक्यप्रयोग के अतिरिक्त वा व्यक्ति वाच वाध में मगवज्ञान का लभ्युत लभ्यते हुए अपने विद्यावैभव का क्लान करत नहीं आघाते मगवान् ने उन्ह लम्भित प्राची कहा है। एव ऐसे वागतिमानियों की परामवमूला वृत्तियों का विगडर्शन करत हुए ही मगवान् ने कहा है-

२ - वागतिमानी दाम्भिक विद्वानों, शासकों, तथा धनिकों का आत्यन्तिक परामव—

“कमी शान्त न होने वाली क्षमना के कुचक्र में फँस कर दम्भ, मान मय से युक्त होते हुए व्यक्ति मोहका अहम्-परिधौ का लक्षण करते हुए आत्महत्या करके अविद्य बने रहते हैं (गी १९।१)। एत आत्मस्यही दम्भी पुरुषो श्री आत्मशिक्षा कमी नहीं मिटती। क्षम-मोहा परमव्य अतएव स्या चिन्ता-कुल ऐसे व्यक्तियों का जन्म-मृत्यु प्रवाह प्रलयवस्था में ही ब्रह्मा है (१९।११)। एतद्विष आत्मक्षामी पुरुष उक्तो आशापायीं च आनन्द रहते हैं। आशातुगत क्षम, श्रीर क्षमनिरोधबन्धित श्रेय से युक्त रहते हुए च पुरुष अस्मि क्षम-मोहा श्री शिवाया शान्त करने के लिए ही अन्वय से च अश्रय करते नहीं आते (१९।१२)। ‘आह मेन (अन्वयान् श्री ह्या मे) य ए वा शिवा, क्ल मेव अमुक मनोरथ तिष्ठ हेमथ, मेरे काम में अमुक सम्पत्ति है क्ल और भी सम्पत्ति मिल जायगी (१९।१३) मैंने अस्मि अमुक से अमुक शत्रु को मार दिया है दुदरी को भी मार दूँगा मैं सर्वस्वार्थ हूँ, मोमी हूँ, तिष्ठ हूँ क्लवाम् हूँ मुनी हूँ (१९।१४) अहम् (शुभनसम्पत्त क्लइयति) हूँ, अमिन्नवान् (विद्या-यत्ता) हूँ मेव वैता आह (एत नगर में) श्रीन है मैं नष्ट करूँगा वान करूँगा, प्रथ हूँगा” इसप्रकार ये वागतिमानी अज्ञान से किमोदित बने रहते हैं (१९।१५)। अन्ते आश को स्वयं ही क्ल मानने का अतिमान करते हुए, अन्वयोपार्जित धनने पनी, अश्रयमेवी परिकरवर्ग के द्वारा प्राप्त मान से मानी मन्वेमथ बने हुए ऐसे ही वागतिमानी केवल अपने नाम के लिए ही दम्भपूर्वक किना ही शास्त्रविधि के पूजन-वाठ-उपासना-कथा-यज्ञ-आदि का आहम्बर किन्त करत हैं (१९।१७)। क्य दया होती है इन अतिमानियों की अन्त में, मृत्युम्।

तानहं द्विषत् क्रूरान् ससारणु नराभमान् ।

धिपाम्यजसमष्टुमानासुराप्वेव योनिषु ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्रार्थ्यं च अन्तेय ! ततो यान्त्यधर्मा गतिम् ॥

✻ * ✻

अन्य तु— एतन्निमुक्त अन्तय ! तमादारस्त्रिमिनर ।

आचरत्स्यारभन भेषगन्तो याति परां गतिम् ॥

✻ ✻ ✻

२१—स्मितहासानुगत उपांशुभाचनिषधन आत्मैरवर्ष्य—

उक्त विवेचन म करना बही है कि आत्मा का दम्भपूर्वक (दम्भमूर्खता) म अदिभूत है। अतएव आत्मदीर्घ्य शब्दार्थित बन कर ही विकसित होता है। शब्दी के हाग क्षान्त करने से आत्मदीर्घ्य अदिभूत होजाता है। अतएव एतद्विष आत्मिमान मे मनुष्य परभूत होजाता है। तमभ्य अपने आचर्य महान् परम्य मार से एत मरुध का क्षान्त मत करा, वही आत्माभिमान है और वही आत्म्याहार का अन्वतम मार्ग है। तमन्व का परि क्षार शब्दी के द्वारा प्रकट करत हैं वो यज्ञ वागतिमान है। अतएव महत्त का क्षान्त म करन के लक्ष साथ हीनतापूर्वक शब्दी का भी प्रयोग मत करा। वागतिमान म दुःखयुक्त आत्म्याभिमानपूर्वक वर पूर्वव्य ही आत्मोद्धार के लिए निःशेषक-कथा है। एतद्विष आत्म्याभिमान में न दम्भमर्क हाठ होता म अज्ञान

होता । होता है केवल उपर्युक्त-आत्ममूलक मन्दहास, स्मितहास । आत्मबीज्याली महापुरुषों के मुख पर मन्दहास की प्रतिच्छया सर्वदा अद्विष्ट रहती है । बिनाका आत्मबीज्यं वागसिमान से, एवं आभ्यन्त अचरमादि पाप्मा-रंस्कृतों के समानेश से हीनबीज्यं बन जाता है । उनका आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियवर्ग शरीर, सब कुछ मुग्ध होते हैं । यह मुग्धत्व ही शिवतनाव की विरोधिनी, ऐश्वर्य्य की विरोधिनी 'अस्मिता' है । शिव, हास, अष्टाष्टहास तीनों में से शिवभाव ही आत्मविद्या का सूत्रक है । अतएव आध्यात्मिकशास्त्रज्ञ, शिवतमाया-त्मक ऐश्वर्य्यमग के प्रतिबन्धी आत्मसंकीर्णलक्षण अनैश्वर्य्यमात्रत्मक ज्ञेश के लिए 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग करना अनुरूप माना गया है, जिस अस्मिता के स्वरूपविशेषण के लिए ही हमें आत्मामिमान-आत्मासिमान का स्वरूप बखलाना पड़ा है । और यही ऐश्वर्य्य, तथा अस्मिता-मायी का संक्षिप्त तात्त्विक विशेषार्थ है जिसके आचार पर ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता उपविद्या का स्वरूपज्ञान अवलम्बित है ।

२२-ईश्वर का ऐश्वर्य्य—

प्रत्येक वस्तु का हृद्य आत्मा उस वस्तु का प्राक्सिद्ध ईश्वर माना गया है । इस प्राक्सिद्ध हृद्य ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाला उर्वस्तु का महिमाभयवह ही उर्वस्तु का ऐश्वर्य्य माना गया है । एवं अकल्प व्यक्तिमेव से विभिन्न वन हुए प्राणी-रंखा के अर्थक्य (जाची) आध्यात्मिक ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले ऐश्वर्य्य का ही स्वरूपविशेषण हुआ है । अब दो शब्दों में सम्यथात्मक, विश्वम्भारक, आधि-दैविक ईश्वर के ऐश्वर्य्य का स्वरूपपरिचय कर देना भी आवश्यक होगा । आनन्द-विज्ञान-आत्मर्म्मनोभव विद्यात्म्य को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाने वाला, मनःप्राणबाहकमय कर्म्माम्य को स्वस्वरूपनिर्माता बनाए रखने वाला ब्रह्मोन्निष्पद्युष्मात्मिकलक्षण-कशापम्भकभ्रमक-परमप्रकृति नामक अक्षर को निमित्तकारण बनाए रखने वाला, प्राण-आप-वाक्-अन्न-अजादलक्षण-कशापम्भक-अपराप्रकृति नामक आत्मधर को उपादानकारण बनाए रखने वाला अम्भक-अक्षर-आत्मधर-उमभि से बोधशक्त को रहने वाला वेद-लोक-वेद-भूत-पशु-सञ्चय-कशापम्भक शरिरकप्रकृति से मुक्त वाक्-आत्मा-अग्नि इस शुक्लवय से शुक्लमा-रूप में परिचय रहने वाला एवं उपरोक्तया विश्वमूर्ति-अक्षरपेक्षया विश्वकर्ता-अम्भ्यापक्षया विश्वनाथार नामों से प्रसिद्ध उल्लेखिष्य ही 'ईश्वर' है । इस आधिदैविक ईश्वर की ईश्वरता ही 'ऐश्वर्य्य' कहलाया है ।

उक्त लक्षण आधिदैविक ईश्वर की ईश्वरता आभ्यैश्वर्य्य, अक्षरैश्वर्य्य, क्षरैश्वर्य्य, मेव से हीन मानी में विमक्त मानी गई है । ज्ञानस्योक्तिर्मन्त्रबल आभ्यैश्वर्य्य है, यही इच्छा प्रथम, तथा मुख्य ऐश्वर्य्य है । विद्यात्मक कर्म्मपञ्च उक्त अक्षरैश्वर्य्य है यही इच्छा विश्वरूपसंरक्षक सूक्ष्म ऐश्वर्य्य है । पाञ्चैतिक अर्थमपक्ष उक्त क्षरैश्वर्य्य है यही इच्छा विश्वत्मक तीक्ष्ण ऐश्वर्य्य है । ज्ञान-विद्या-अर्थ्यात्मिष्य इत ऐश्वर्य्यत्रयो से शिव मुक्त विश्वेश्वर सर्वत्र विकसित हो रहा है । त्रिविध ऐश्वर्य्य्याली इस ईश्वर की ईश्वरता इस लिए अद्युक्त है कि, वह स्वप्रमथ माघशीत विधातील अलपय-अन्नय परतम परमेश्वर के प्रति अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण किए हुए है । परतम परमेश्वर के परमैश्वर्य्यज्ञान से ही वह ईश्वर ऐश्वर्य्यशासक बना हुआ है । और यही आधिदैविक ईश्वर के ऐश्वर्य्य का तात्त्विक स्वरूपदिग्दर्शन है ।

न जाती है। अस्मितात्मिक बुद्धि ऐश्वर्यमूर्ताक अक्षयशरवर नामक अपने मूलतत्त्वा के विद्याधनुमह से बधित रह जाती है। अतएव वृत्ते हुए भी आत्मीयवर्च्य के बीजाला इस अस्मिताबुद्धि के निमग्न से बालवत् अपने आपको अतमर्ष बना लेता है।

२६-बाल-शूद्र-माषानुगता अस्मिता का स्वरूपदिग्दर्शन-

संकुचित बुद्धि का नाम ही अस्मिता है, जिसका लौकिक उदाहरण बालक माना जा सकता है। एक बालक की बुद्धि प्रकृत्या अस्मिताभाव में परिचल रहती है। अतएव वह बात बात पर येने लगता है, तु ली हो जाता है। प्रचयह शब्द सुनने से, किसी के भ्रमका देने से वह जमक पड़ता है और मयतल बन कर टोड़ कर माता के अग्रसल में जा चुकता है। बनसपुराम (मीड़) को देख कर वह हृष्य नन्ध बना रह जाता है। चन्द्रमा से मन का निर्माण हुआ है। चन्द्रमा षोडशकल माना गया है। एक वर्ष में चन्द्रमा की एक कला मन में प्रतिष्ठित होती है। इष्टाभर छोलाह वर्ष में चन्द्रमा की छोलाह कलाएँ मन को परिपूर्ण बनाती हैं। इससे पहले पहले चान्द्र मन अर्थात् ही बना रहता है। चान्द्र मन ही बुद्धि का आचार है। क्योंकि छोलाह वर्ष से पहिले पहिले बालक का मन अर्थात् रहता है अपरिपक्व रहता है, अस्थिर रहता है। अतएव जब तक व्यक्तित्विता बुद्धि का भी पूर्ण विकास नहीं हो पाता। यही बालमाषात्मिक स्वभाविकी अस्मिता है। इसी आचार पर 'प्राप्ये तु षोडश वर्षे पुत्रं मित्रवशाचरेत्' यह विद्वान्त् स्थापित हुआ है। कारण यह है। पूर्ण-स्थिर चन्द्रमा पर ही सूर्य्य का पूर्ण स्थिर प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है। १४ वर्ष से पहिले अर्थात् बने हुए चान्द्र प्रकाश (मन) पर और विज्ञान पूर्णरूप में प्रतिबिम्बित नहीं होने पाता। अतः इससे पहिले पहिले ही बाल-बुद्धि पर मातृ-विला आचार्यादि का अतुशासन चल सकता है। १४ वर्ष के अनन्तर चान्द्र षोडश कलाओं की परिपूर्णता से और विज्ञान पूर्णमाषा से उत्पित हो जाता है बालक बालकपना छोड़ कर स्वतन्त्रमन बन जाता है। अतएव १४ से आगे इस पर कटुराजन नहीं किया जा सकता। यदि किया गया है तो वह मित्रोही बन जाता है। इस अवस्था में तो शूद्रमाव से ही हृष्य निग्रहानुमह किया जा सकता है। १४ वर्ष पर्यन्त का व्यक्तित्व बलक है इसकी बुद्धि अस्मिता है अपरिपक्वा है। अतएव इस अवस्था पर्यन्त इससे किसी नियम पर परामर्श (यम) नहीं लिया जा सकता। १४ वर्ष के अनन्तर ही लौकिक बुद्धि का परिपक्व आरम्भ होता है। शालक्यपुत्र्य की आशु के १ वर्ष ५-५ मेह से ही भ्रमों में जिम्बल है। पहिले ५ वर्ष पर्यन्त मानव-बुद्धि का उत्तरोत्तर उद्भाम (बड़ाव) है उत्तर के ५ वर्ष पर्यन्त निग्राम (उगार) है। कलतः १६ वर्ष से आरम्भ होने वाले बुद्धिविप्लव की अन्तिम विधामभूमि ५ वर्ष पर्यन्त बन जाता है। यही से आगे के ५ वर्षों में बध्पि बुद्धि रहती जो है अविश्वरूप से परिपक्व, किन्तु इन्द्रियबिम्ब से इस उत्तपवस्था में अनवचानता (भूलना-विस्मृति) दोष का अन्वयेय हा जाता है। अतएव ५ वर्ष से ऊपर को आशु का पुरुष लोकप्रवहारब्रह्मालन में प्रमार कर बैठता है। इत्यन्तिय भारतीय वैश्वामित्रों ने वह आदेश दिया है कि, ५ के अनन्तर तुष्टे लौकिकप्रवहार का परिपक्व कर चान्द्रमाषात्मिकी बन जाना चाहिये- 'बर्षं पञ्चरातो प्रजन्तु'। कृत्यर्च्य ५-से आगे तथा १४ से नीचे नीचे पुत्र्य की बुद्धि लौकिकप्रवहारवस्था अस्मिता माषात्मिकी नहीं रहती है। अतएव इन दोनों अवस्थाओं में (बालक को, और बृह को, शीतली को) परामर्श की अवस्था रहती है। इस लौकिक-स्वावहारिक उदाहरण के द्वारा ही व्यक्तिक अस्मिताभाव का समन्वय किया जा सकता है। बालक की अवस्था प्राकृतिक है, प्राचावस्था को अस्मिता अस्मिता है। बालक की अस्मिता

जाता है। संशयों के पूर्वनिर्णय के क्लानमात्र से हमारा सुप्त गौरव प्रभुद्वय ही जाता है, अस्मिता हट जाती है।
 उन के चारण मार्गों की विस्मयकारी ने अनेक बार पराजित होते हुए चारियों को विजयलाम करवाया है।
 ७ के लिए समुद्रतट पर समवेत वातरसमूह जब लज्जागमन की मीमांसा आरम्भ करता है, तो
 १६ की ओर उसका ध्यान आकर्षित हो पड़ता है, जो मार्गति अपने आपकी समुद्रोत्साहन में
 पड़े हुए हठ मीमांसा से लप्य बने एक ओर बैठे थे। जब इनके इनके स्वाभाविक ऐश्वर्य्यकल का
 कया जाता है, तो लप्य्य आपकी अस्मिता फलापित हो जाती है। परियाम्भ बन्ध होता है ६,
 एमे ऐसे रासरा उदाहरण उपरिधत् किए जा सकते हैं, जिनमें पहिले से विषमान
 ७ अरण्य दबा खटा है। एव अस्मित्य के उपावशिरोपों के द्वारा हट्य देने पर
 हा जाता है।

अप्य का अभिमय—

- अस्मिता के सम्बन्ध से बीजात्मा की बुद्धि आत्मैश्वर्य्यक-
 ७ जाती है। इस स्थिति का जो भी सम्बन्ध कर
 ७ बने हुए बीजात्मा की बुद्धि में अस्मिता
 उस ऐश्वर्य्यराज्ञी प्रत्यगात्मा के साथ योग नहीं होने
 इसके योग में अस्मिता-प्रतिकल्पन का समावेश हो रहा
 ७ बीजात्मा में परम्पर्या मूक्त भी अभ्यैश्वर्य्य उठी
 कि हृत्पञ्च के द्वारा आगत अंतरिम में हृत्पञ्च में

प्रासवस्तुता से अस्मत्तर में अपने आप हट जाती है। प्रासवपरक की अस्मिता इतनी है एकमात्र ऐश्वर्य-दुस्त्रियोगालोक मन्त्रियोग से, बिनाके सम्भव में भी एक लौकिक उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है।

२७—काम्य ऐश्वर्य की अनित्यता—

मान कीविए—वेधाधिपति शास्त्र लोकेश्वर्य से सम्पन्न है। इस ऐश्वर्यसम्पन्न शास्त्र के वेतनमयी अनुचर शास्त्र के ऐश्वर्य से अनुपरीत रहते हैं, शास्त्र के ऐश्वर्य के मूक (माग-अवसव) बने रहते हैं। यही इस अनुचरवर्ग का 'महिबल' है। इस महिबल के प्रमाण से अनुचरवर्ग की अस्मिता हटी रहती है। शास्त्र का अन्तरात्मक प्रभावर्ण के फिती सम्पन्न धनिक की अपेक्षा आर्थिक दशा में कोई महत्त्व नहीं रखता। धनिक-कोट्यधिपति है शास्त्रानुचर अधिक से अधिक १-२ प्रास कर लेता है। इसप्रकार धनैश्वर्य की दृष्टि से सम्पन्न धनिक की अपेक्षा शास्त्रानुचर स्वया निम्न भेदिक में प्रस्थित है। परन्तु शास्त्र के महिबल से धनिक बर्हा बलित है बर्हा शास्त्रानुचर शास्त्र के उच महिबल से अनुपरीत है जो महिबल धनिक के वितैश्वर्य से बड़ी अधिक महत्त्वप्राप्ती है। यही कारण है कि सम्पन्न भी धनिक बर्हा शास्त्रतत्त्वा से मन्वस्त बना रहता है वही शास्त्रानुचर इस मन से विमुक्त बना रहता है। यही नहीं अपितु इसी मन्त्रिकता के अनुग्रह से शास्त्र का एक सुदृ संवक (अपराधी) भी सम्पन्न धनिक के लिए 'आप वो उनके कास आदमी है' इस धृष्टि-उच्चारणपूर्वक सम्मान्य बन जाता है। जब तक अनुचर शास्त्र का अनुचर है तभी तक वह इस लोकास्मिता पर विभव प्राप्त किया रहता है। किंतु दिन बह अपने अधिकारकलात्मक महिबल से गिर जाता है उच दिन इन्होंने बर्हा अपने स्वस्व के अनुस्व अस्मिता प्रकट हो जाती है। यही महिबलकलात्मक-अमानुस्य ऐश्वर्य का लौकिक उदाहरण है बिलक अस्मिता से सम्भव है। अतएव इत्यन्त ऐश्वर्य 'अन्वमन्त्रियोग' कहलाता है बिनाके शास्त्र ऐश्वर्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

२८—ऐश्वर्यदोष का अभाव, एवं अस्मिता का आक्रमण, तथा तन्मूला दुःखप्रवृत्ति—

यह भी देना मुना पद्य है कि, कमी कमी रहती हुई भी ईश्वर्य (स्वराश्रिताम्य) अस्मिता के कारण विकसित नहीं हो पाती और उच दशा में वह दुष्भी-अस्मिता बना रहता है। अपने ही घर में इन्व गण दुष्का है। इसे उच्छ दोष नहीं है। इन्वामावबलित दुष्क हम पर आक्रमण करते रहते हैं। हम में तन्पूर्व योन्वदार्थ प्रस्थित है, परन्तु कुचकिनी ने—'दुम कुछ नहीं दुम कुछ नहीं' कह कर अपने स्वार्थताकन के लिए हमें अस्मिता में डाल रक्ता है। परिशामरस्वरूप हम अपने अस्मिता सर्वथा अयोन्व मानत हुए पराश्रित बन जाते हैं। वर्तमान शिक्षाप्रवृत्ति में संघर्षीत अस्मिता दृष्टिगत है तो तो अस्मिता की स्वामाधिक ईश्वरता को अस्मिता के आचरण से आहत कर लिया है। 'हम कौन व कौन है? इत्यदि प्ररनी का उचर देने वाला इच्छिद्य हमें यह सिखा रहा है कि—'दुम अस्मिता से बँधती है बड़ीपाठक से, तन्पूर्व-कुछ न के'। इस अस्मिता प्रवृत्ति से इनाय पूर्वैश्वर्य अस्मिता होना का रहा है। महाभारत बुद्धप्रसङ्ग में अस्मिता की इच्छे निधि ने कर्त के स्वामाधिक ऐश्वर्य को अस्मिता कर वाला था। वह भी तो अस्मिता है कि हम अस्मिता के द्वारा अस्मिता का भी प्रवेश कर सकते हैं और अस्मिता हट कर ऐश्वर्य का अस्मिता भी कर सकते हैं। बुद्ध करते हुए दो मस्ती में से किन्तु मस्ती के प्रति बनता—'शास्त्र अस्मिता, मार शिष्य' इत्यादि उच्छावर्तिनी वाली का अस्मिता कर्ती रहती है निश्चयेन उच मस्ती में अस्मिताप्रवेश के द्वारा अस्मिताक लक्ष्मीवत का अस्मिता ही

जाता है। बराबों के पूवगौरव के स्तानमात्र से हमारा सुप्त गौरव प्रबुद्ध हो जाता है, अस्मिता दृष्ट जाती है। यज्ञपत्न के चारख माटी की बिखरावली ने अनेक बार पराभित होते हुए चमियों को बिखरलास करवा है। सीतान्वेषण के लिए समुद्रकट पर समवेत वानरसमूह जब सङ्गामन की मीमांसा आरम्भ करता है, तो सद्य मानसि की ओर उच्छ्वस्यमान आकर्षित हो पड़ता है, जो मानसि अपने आपसे अनुप्रेतलङ्घन में अस्मय पाते हुए इस मीमांसा से उच्छ्वस्य बने एक ओर बैठे थे। अब इन्हें इनके स्वाभाविक ऐश्वर्य्यस्य अ परिचय करवा जाता है, तो उच्छ्वस्य आपकी अस्मिता पलापित हो जाती है। परिचय क्या होता है? यह स्मरिदित है। एवमेव ऐसे ऐसे शतशः न्याहारय उपस्थित किए जा सकते हैं, बिनने पहिले से बिद्यमान भी ऐश्वर्य्य आगन्तुक अस्मिता के अरण्य दबा रहता है। एक अस्मिता के उपायविधियों के द्वारा द्या देने पर स्वता सिद्ध ऐश्वर्य्य मेचापाने स्वर्णवत् प्रकट हो जाता है।

२६—आगन्तुक अस्मिता के द्वारा ऐश्वर्य्य का अभिभव—

ठीक वही स्थिति यहाँ समझिए। आगन्तुक अस्मिता के सम्बन्ध से बीजात्मा की बुद्धि आर्य्यैश्वर्य्यस्य-माहक ऐश्वर्य्यैश्वर्य्यभूत अपने बिद्यमानास से वञ्चित रह जाती है। इस स्थिति अ यों भी समन्वय कर लीबिए कि अस्मिता के सम्बन्ध से अत्यन्त-अस्वस्थिति-अस्वस्थि बने हुए बीजात्मा की बुद्धि भी अस्मिता (अबिकसिता) बन जाती है। इस अस्मितानुद्धि का उस ऐश्वर्य्यशास्त्री प्रत्यगात्मा के साथ योग नहीं होने पाता। योग है और अवश्य है। परन्तु उसके और इनके योग में अस्मिता-प्रतिक्रमन का समावेश हो रहा है। अस्मिता अनेश्वर्य्यस्य अपूर्व्यमात्र है। उद्धार बीजात्मा में परम्परया मुक्त भी आर्य्यैश्वर्य्य उद्यी प्रकाश अभिभवभाव में ही परिणत हो रहा है। जैसे कि कृष्णकान्त के द्वारा आगत श्वेतारिभ मी कृष्णरूप में परिणत हो जाती है।

३०—साधी सुपर्णासखा के साभिच्य से अस्मिता की निवृद्धि—

जैसे यह अस्मिता दृष्ट है, इस प्रपन के समाधान के लिए ही प्राचीनों की आर से काव्य-मन्त्रियों का आत्मिभार हुआ है। संक्षेप उस समय अकरबमेव बिद्यारूप में परिणत हो जाता है, जब कि संक्षेप-शास्त्री स्वनिव अ किन्ही अपने से अधिक बलाशाली सवातीय व्यक्ति से सम्बन्ध हो गया है। लौकिक उदाहरणों से स्थिति अ समन्वय कीबिए। अपरिचित, एतावता ही विवातीय व्यक्ति के धामने एक कव्य की विनोद-इतिवृत्त कुञ्चित हो जाती है, अस्मिताभाव में परिणत हो जाती है। वही बन्धा परिचित, एतावता ही उवातीय माता-पिता-स्त्री-आदि के धामने आठ ही पुष्पक विकसित हो पड़ता है। पूष्य-गुडबनादि के सम्बन्ध हमारी मानव मरना उनके आधिकारिक बलापात से दबी रहती है। परन्तु एक मित्र के धामने हमारा अन्तर्गत विकसित हो पड़ता है। तन्वारिक अपूर्व्यता की मूलकारणभूता अस्मिता तभी दृष्ट तकती है जबकि बीजात्मा अपने सवातीय क्यु वा आभय ले लेता है। आर्य्यैश्वर्य्य के अतिरिक्त इच्छा नित्य क्यु दृष्ट और कोई नहीं है जो उवा अर्थात् इसके साथ युक्त रहता है। 'वा सुपर्णा सपुत्रा सन्वायी' इत्यादि श्रुति के अनुसर शाहीसुपर्णा नाम से प्रसिद्ध प्रत्याभनस्यस्य परमात्मा तथा भोक्तानुसर्ष नाम से प्रसिद्ध शाहीरकमलस्यस्य बीजात्मा अनुक-उला (अभिभव) हैं। बीजात्मा अत्यन्त-अस्वस्थ-अस्वस्थि-अस्वस्थि मित्र है, परमात्मा सर्व-सर्वरक्ति-सर्वरक्ति मित्र है। बिल निर्जन अ मित्र एक समय पलिक हो, बर कभी रह

नहीं पा लच्छा, परकि उठ बनिक् नित्र के लय इस निर्धन नित्र का अनन्य लम्बव रह । सप्ताधीय परिपूर्स ईश्वरकबु के लय बित दिन इस अर्ध्या बोंब का 'मक्ति लम्बव हो बाठा है उठ दिन उठकी परिपूर्थाता एकरी अर्ध्याता को भी परिपूर्थाताकन में परिखत कर बेठी है, और यही आकर बीन की अर्ध्यातालच्छावा अरिम्मा का एकल्लतः लम्बेव हो बाठा है ।

३१-अस्मितानिबन्धिका ईश्वरोपासना—

शान-क्रिया-अर्थोपर्यपन ईश्वर की उपासना का अर्थ है-उठना अर्हरीया किन्तन । इत किन्तनकम लमानप्रवपप्रवाह से उठकी ऐश्वर्य्यकी इल्लमें प्रवाहित होने लगती है । यही ईश्वरोपासना है जो अस्मितानिबन्धिका का मुख्य उपाय माना गया है । अर्ध्याताबनिता बुल्लनिबन्धिका की कामना से लम्बव रहने वाली वह उपासना उपासना न रह कर काम्य मक्तियोग बन जाता है बिठे मल्लसम्प्राप में 'प्रोमामक्ति'-'ल्लुको-पठना-इत्यादि नामों से लम्बवत किया गया है । इत काम्य मक्ति में क्या क्या दोष हैं ? इतका अनुदानप्रकार क्या है ? इतका मूल लक्ष्य कायना बीन है ? उपासना और मक्ति में क्या अंतरल्ल है ? इत काम्यमक्ति का सम्प्राप्त ने ल्लोपन क्यो अनिबन्ध माना है ? इत्यादि मक्ति-उपासना लम्बकी क्यवाक्य प्ररनी की मीमांसा द्विष्यवास्तिष्वा 'मक्तियोग्यवीक्षा' में की था लुकी है । अत यही निबन्धेपव अनल्लरपक है । प्रकृत में किस्मल्लइति के बिच यही रह देना फर्मावत होगा कि—

३२-काम्यमक्तियोगानुगता दीपपरम्परा—

'अम' लक्ष प्रत्येक दशा में त्रिगुणमात्र का उल्लेख है । त्रिगुणमात्र प्रत्येक दशा में आच्छिन्त का प्रवर्तक है एवं आच्छिन्त प्रत्येक दशा में अमल्लकल्लन का कारण है । इमाव लक्षरिक् लुल्लों से इतकाय हो, इम अपनी अर्ध्याता ल्लोड़ कर परिपूर्स का बॉब इस कामना में ईश्वरकामना के लय काय अंशका अर्ध्याता-कावा-लक्षणा बीककामना का भी अभावेव बना रह बाठा है । अतएव ऐसी काम्यमयी ल्लुकोपठना काम्य ल्लुस कर्मक आच्छिन्त का आसन्निक निराकरण करने में अल्लमर्ब की रह जाती है । किन्त प्रथम-त्रैगुण्य-विषय यदा के अनुल्लार काम्यकर्म त्रिगुण्यमात्रल्लक कले लुल्ल मक्यल्ल की इति में स्वाम्य है, प्रत्येक त्रिगुण्यमिका ल्लुल्लमात्रमिका काम्य-मक्ति की सम्प्राप्त की इति में अल्लमर्ब ही बना हुआ है । कामना-मयी मक्ति में प्रेम का आच्छिन्त ल्लमर्ब है ल्लमर्ब ल्ले आ लक्षी है अंशका अरिम्मा भी इत लक्षी है । क्यल्ल इल्ले बिदल्लता का उदय नहीं इत्या । अल्लनेरवर ही बिदल्लता है, और यह गुणातील्ल है-'अनादि-क्वाकिन्तु' ल्लुल्लत् परल्लमायमल्लमय' । उल्लर काम्यमात्र के ल्लमर्ब से काम्य मक्तियोग का लक्ष्य कला है-अतनुपठ-त्रिगुण्यमात्रल्लक ल्लुल्लेखर । त्रिगुण्य बिदल्लता और ल्लुल्ल-ल्लिखर बीकल्लता, दोनों के मध्य में अम, तनुक्यो गुणमात्र ल्लुल्लेखो प्रेममात्र आदि आदि अनेक बिदल्लतीय ल्ल प्रतिकल्लों का अभावेव हो बाठा है किन्ते कारण बीकल्लता का उठ त्रिगुण्य फलल्लता के साथ अनन्य ल्लमर्ब नहीं हो पाया । यही काम्यमक्तियोग में प्रथम दोष है । इतव दोष है-अननेरव का अर्ध्याता । बिदल्लता अल्लमपान है इल्ले शान के ल्लमर्ब से यह आच्छिन्त से ल्ल्या विभिन्न कल्ल रहल्ल हुआ है अल्लमर्ब है । अल्ल-नेरवल्लकल्ल त्रिगुण्य बिदल्लता का अल्लर अल्लान-आच्छिन्त ल्लकल्ल ल्लुल्ल बीकल्लता के मध्य में अल्ल लक्ष अल्लमर्ब का अल्लमर्ब है लल लक्ष बिदल्लता की अल्ल-नेरवल्लताको के अल्लमर्ब से बीकल्लता बनिक्कत बना रहल्ल है । अल्ल-नेरवल्लकल्लता

ऐसी मक्ति के अनुयायी मन्त्र प्रेमविमोह बन कर प्रायः बहा सकते हैं तन्मय हो सकते हैं सम्मत्ता परम्पद भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु कृत व्यक्तित्वा से इनकी विन्मुक्ति हो जाती है। अतएव ऐसे काम्य-मक्तिमार्ग में काम्य कर्मयोगवात् वैयक्तिक स्वाध्यायन वो हो जाता है परन्तु लोकान्मुद्योगमक लोकतन्त्रह नहीं होने पाता। प्रत्यक्ष में देख लीजिए न-गुणात्मिका काम्यमक्ति दासभाव से मन्त्र को आत्मिता की अनुगामिनी बना रही है। आस्तिक प्रथा मगनादिप्रहों के समुल्ल अपनी दासता का क्लान करती नहीं अपनाती। दासभावना अच्छी हो अथवा बुरी, दासभावना धिर आन्ध्र में आकर कालान्तर में अक्षरमेव आत्मिता की बननी बन जाती है। प्रेमभाव से मनोचरतल स्वत्य नहीं रहने पाता। फलतः एवमिच मक्तिमार्ग में वर्णाश्रमातुगत स्वधिवारिष्ठ कर्तव्यकर्म से भी विन्मुक्ति हो जाती है। इन्हीं सब कारणों से कामनामयी यह मक्ति गीताहृदि से दृष्टावह ही मानी गई है।

३३-एकव्यं बुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपनिर्णय—

लोकसंसाहक भगवान् ने लोकप्रचलित इसी काम्य-मक्तियोग का कामना-संशोधनपूर्वक काम्ये-धरनाम्यतासमावेश के द्वारा संशोधन कर इसे निष्कामभावसमक बुद्धियोगस्वरूप प्रदान करते हुए इसका 'विश्वव्युद्धियोग' रूप से गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया है, जो एकव्यं बुद्धियोग ज्ञान-वैराग्यपरिपूर्णा-निगुणयुक्त निष्कामोपासना आत्मोपासना ईश्वरानन्धता, आदि नामों से सम्बद्ध किता सा लगता है। विश्व प्रकार काम्य कर्मयोग अतिरिक्त में प्रचलित था एवमेव काम्यमक्तियोग प्रधानतः क्षत्रिय राजाओं में ही प्रधानरूप से परम्परा प्रचलित था। अतएव तन्मूला, उपप्रकार्यकारिका किया गीता में- 'राजविद्या राजगुह्य पवित्रमिवनुत्तमम्' इत्यादि रूप से 'राजविद्या' नाम से सम्बद्ध हुई है। अतएव इसे हमने 'विश्वव्युद्धियोगानुगता राजविद्या' नाम से सम्बद्ध करना अनर्थ माला है।

३४-प्राचीनाभिमतता योगप्रथी का गीताचार्य्य क द्वारा संशोधन—

काम्य-कर्मयोग में वर्णाश्रमविष्ठ काम्य कर्म का संग्रह अक्षर्य था परन्तु उन्में ईशभासना का समाय था। कर्मठ भीमांकों की दृष्टि में 'कर्म' ही ईश्वर बना हुआ था। इसी कर्माभिनिवेश से यह काम्य कर्मयोग देव बन रहा था। भगवान् ने कामनास्वागपूर्वक इसका बुद्धियोगसम्यक प्रदान की। निष्काम-भावसमक निष्काम-कर्मभाव में ईश्वरभावना का समावेश हुआ परन्तु गौणरूप से। प्रधानता कर्म की ही रही। एवमेव काम्य मक्तियोग में ईशभावना का समावेश अक्षर्य था, परन्तु प्रेमव्यक्ति के कारण इतने वर्णाश्रमविष्ठ कर्मसंग्रह उपेक्षणीय बन रहा था। मन्त्रों की दृष्टि में ईश्वरनामस्तौतान ही प्रधान कर्म बना हुआ था। इसी मक्ति-आत्मिता से यह काम्य मक्तियोग देव बन रहा था। भगवान् ने कामनापरित्यग से इसे बुद्धियोगसम्यक प्रदान की। निष्कामभावसमक इत मक्तियोग में ईश्वरानन्धतापूर्वक वर्णाश्रमातुगत लोकतन्त्रह सम्प्राप्त कर्तव्यकर्म का भी समावेश हुआ। ईश्वरभावना प्रधान कनी, कर्मभाव तनुगामी बना। एवमेव कर्मत्यागसङ्घट्ट अनर्थमें कर्म का समावेश कर इसे भी बुद्धियोगसम्यक प्रदान की गई और तद्द्वारा हमें 'ज्ञानबुद्धियोग' रूप में परिणत किया गया। ज्ञान अक्षर्य प्रधान बना रहा परन्तु निरक्षिकर्म का भी समावेश रोग्य। इत्यक्षर कामनामय कर्मयोग में कामभाव के द्वारा ————— कर्माभाव के द्वारा, एवं काम्यमयव ज्ञानभाव में कर्मक्षमावेश १

विद्यार्थों का संशोधन किया। यही कारण है कि, गीता में प्रतिपाद्य कर्म-मनित-ज्ञान तीनों में से किसी भी क्षेत्र पर उच्च शिक्षण, अधिकांशिक कर्म का पक्षपात सर्वत्र स्मरित उपलब्ध होगा। भगवान् अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश दे रहे हैं। साथ साथ अधिष्ठापित बुद्धकर्म की प्रधानता की ओर भी उच्च ज्ञान आकर्षित कर रहे हैं। मक्ता-उसि' कहते हुए 'बुद्धकर्म' कहना भी नहीं भूलते। ज्ञानी कहलाते हुए भी उसे कर्मयोग पर आकांक्ष कर रहे हैं। वह कर्म वह मनित वह ज्ञान किंतु धर्म के किनारे कर्मणः अस्वित्तवार्थ, कर्मयोगेवा तथा कर्मत्यागमात्र स्मादिष्टं हों।

३५—प्राचीनामिमता योग्ययी की गीताचार्य के द्वारा आन्यन्तिक उपेक्षा—

प्राचीनामिमता इन तीनों योगों का लक्ष्य यद्यपि आत्मसत्त्व ही करता है। परन्तु अस्म्यगर्मित अक्षर अक्षरगर्मित चर, तथा अक्षरगर्मित विकारचर इन तीन आत्मविकारों को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए ज्ञान-मनित-कर्म योग नामक प्राचीनयोग समस्तलक्षण उक्त बुद्धियोगसम्मत से बहिष्कृत हैं। किंतु तत्प्रकारक अस्म्यगर्मण से स्मर्यमाना गया है। अस्म्यगर्मित अक्षर अस्म्यक्त है कर्म त्यागलक्षण ज्ञानयोग का यही आधार है। यहाँ केवल ज्ञान का संग्रह है। अतएव आत्मा के अर्थ कर्मरूप से बहिष्कृत ऐसा ज्ञानयोग कर्मणः के स्थान में विद्यमान का ही बनक बना हुआ है।

अक्षरगर्मित चर अज्ञानात्मक है। कर्ममाहात्म्य लोकसमाहक कर्म से बहिष्कृत मनितयोग की प्रतिष्ठा यही अस्म्यगर्मण लक्ष्य करता है। यहाँ अस्म्यगर्णुगत ज्ञान का एवं अस्म्यगर्णुगत कर्म का, संग्रह यद्यपि दोनों का ही है। तथापि इत अस्म्यक्त ज्ञान से कर्माशिक्षा अज्ञानान्ति, तथा अस्म्यक्त वैयक्तिक स्वार्थ-लक्षक कर्म से लोकसंग्रह का विभाव हो रहा है। अस्म्यक्तव्यापक यह यहाँ स्वात्मविक्रमता का कारण बन रहा है यहाँ अस्म्यक्त कर्मविद्यया यह लोकविक्रमता का भी कारण बना हुआ है। अतः ज्ञानयोगकर् ऐसा मनितयोग भी समस्त-लक्षण योगपरम से बहिष्कृत है। अक्षरगर्मित विकारचर अस्म्यक्त है। कर्ममाहात्म्य, लोक-अस्म्यक्त से बहिष्कृत प्रवृत्तिलक्षण कर्मयोग की प्रतिष्ठा यही अस्म्यक्तत्व करता है। यहाँ ज्ञानयोगकर् कर्म का जो अभाव नहीं है तथापि ज्ञान का अक्षरव आभाव है। वृत्ते राज्यों में जहाँ केवल कर्म का ही संग्रह है। अतएव आत्मा के अर्थ ज्ञानमात्र से बहिष्कृत ऐल कर्मयोग भी ज्ञानयोगकर् विषमता का ही बनक बना रहता है। पन-बान्धवि फनी-पुत्रादि ऐहलौकिक, तथा स्वर्गदि वारलौकिक, इन व्यक्तिगत स्वार्थों को उद्देश्य बना कर अस्म्यक्तता (अक्षरगर्मित विकारचरता) के आधार पर अधमनापूर्वक किया गया ज्ञानसम्पत्-बहिष्कृत कर्म ही प्राचीनामिमता 'कर्मयोग' है। धार्मिक बुद्धों से प्राप्त करने के लिए, जब ही अधिष्ठापित कर्म-अधमना की पूर्ति के लिए केवल अधमनापूर्वक कर्मों की विधि को उद्देश्य बना कर अस्म्यक्तता (अस्म्यगर्मित चरता) के आधार पर अधमनापूर्वक की गई इहदेवोपाकृता ही प्राचीनामिमता 'भक्तियोग' है। धार्मिक कर्मों से परह कर इन से भयने के लिए लौकिक कर्मों का वैयक्तिक परिणाम कर अपने आपकी विगुह ज्ञानमात्र में परिणत करने के उद्देश्य को अपना बना कर अस्म्यक्तता (अक्षरगर्मित) के आधार पर किया गया अस्म्यक्ततात्मक निहृदिकर्मवशातुगुम्न ही प्राचीनामिमता 'ज्ञानयोग' है। तीनों योग कर्मणः ज्ञानमात्र, अधमना कर्मयोग से अर्पण करते हुए विगुहतात्मक है। अतएव त्याग्य है। यथोक्त बुद्धियोग की विस्तृति से पहिले तीनों योगों का ही मातृ में अज्ञान्य का लक्ष्य ही तीनों कर्मणः अधिष्ठापन राक्षसं लिखतं में परम्परण प्रतिष्ठित-प्रचलित थे। भगवान् ने अर्जुन के प्रति बुद्धियोग का उपदेश करते हुए लोकसंग्रह की इति

से इन लौकिकप्रचलित छीनों प्राचीन योगों का भी गीताशास्त्र में समझ कर लिया पद्यु संशोभन पूर्वक । कर्मयोग में अमत्यागपूर्वक, मन्त्रियोग में अमत्यागपूर्वक, एवं ज्ञानयोग में कर्मसमावेशपूर्वक भगवान् ने छीनों में अल्पवचनाना प्रतिष्ठित की । फलतः छीनों अपूर्ण योग इस संशोभन से पूर्ण बन गए, उनसबलक्षण बुद्धियोग की प्रतिष्ठाय से युक्त होते हुए बुद्धियोगरूप में परिष्ठित हो गए । गीता के द्वारा संशोधित वे ही छीनों योग गीतापरिष्कार में धर्मबुद्धियोग (कर्मयोग) ऐश्वर्यबुद्धियोग (मन्त्रियोग), एवं ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग) नामी से स्पष्टतः हुए, जिनमें से आर्षविद्यानुगत धर्मबुद्धियोग का स्वरूप पूर्व स्तम्भ में बखताया जा चुका है राक्षसविद्यानुगत ऐश्वर्यबुद्धियोग मध्यन्त है, एवं सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग का विरलौपण भ्रमले स्तम्भ में किया जाना ।

३६—गीतामिमता योगचतुष्टयी—

जित प्रकार प्राचीनामिमता छीनी योनों की प्रतिष्ठा कर्मका अल्पकृत-म्यक्ताम्यकृत-म्यकृत नामक आत्मविषय से एवमेव भगवान् के द्वारा संशोधित बुद्धियोगात्मक इन छीनी योगों के आचार ब्रह्म बने । इस प्रावणिक प्रश्न की भी मीमांसा कर लीकिए । यह बखताया जा चुका है कि, बुद्धियोग का उस तयैरवर अल्पकृतता से सम्बन्ध है, जिसके गर्भ में अल्पकृतद्वार म्यक्ताम्यकृत आक्षरगमित द्वार, एवं म्यक्ता-आक्षरगमित विकारद्वार, छीनी पूर्वाक्ष आत्मविषय प्रतिष्ठित हैं । अल्पकृतद्वार तयैरवर हैं, इसका वाचक प्रथम माना गया है, एवं यह योगपरिष्कारानुसार अविद्या अस्मिता, राग-द्वेष (आशक्ति), अमिनिवेश ऊँठों से ऊँचा दृष्ट, धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य, इन चारों भगों से नित्य परिपूर्णा, अवएव पूर्ण भगवान् माना गया हैं । प्रथम में अकार, लकार, मकार, यं तीन मूलमात्रा हैं, एवं अक्षरमात्रा अमृतकृत है । यही तृतीय पद माना गया है । इन चार भगों से उस तयैरवर के लक्ष्यमय विद्यामय, कामाम्य, कर्मात्म्य, वे चार विषय हो जाते हैं । लक्ष्यमय लक्ष्यमय है, यही वैराग्यबुद्धियोग नामक 'बुद्धियोग' का आचार बना हुआ है । विद्यामय अज्ञान-विज्ञानमय है यही ज्ञानबुद्धियोग नामक 'ज्ञानयोग' का आचार बना हुआ है । कामाम्य मनोमय है, यही ऐश्वर्यबुद्धियोग नामक 'मन्त्रियोग' का आचार बना हुआ है । कर्मात्म्य प्राणवाक्यमय है, एवं यही धर्म-बुद्धियोग नामक 'धर्मयोग' का आचार बना हुआ है । तयैरव यही है कि, अज्ञान-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्यमय पञ्चकोशमय अल्पकृतद्वार के अज्ञानतापि पञ्चकोशमय लक्ष्यमय, अज्ञान-विज्ञानमय विद्यामय, मनोमय कामाम्य, प्राणवाक्यमय कर्मात्म्य वे चार विषय हैं । ये ही चारों अल्पकृतकृत कर्मका लक्ष्यमा, विद्यामा, कामाम्या, कर्मात्मा इन नामों से स्पष्टतः हुए हैं । लक्ष्यमा वैराग्यमग-प्रधान है विद्यामा ज्ञान-मग-प्रधान है कामाम्या ऐश्वर्यमग-प्रधान है, एवं कर्मात्मा धर्ममग-प्रधान है । वैराग्यमग से युक्त लक्ष्यमा-लक्ष्य लक्ष्यमय अपनी लक्ष्यता के कारण लक्ष्यमय है । ज्ञानमग से युक्त विद्यामा-लक्ष्य अल्पकृत 'परममय है । ऐश्वर्यमग से युक्त कामाम्या-लक्ष्य अल्पकृत 'परममय है । एवं धर्ममग से युक्त कर्मात्मा-लक्ष्य अल्पकृत 'अपरममय' है । अल्पकृतमय से अक्षरगमित विकारद्वारमा अनुप्राप्त है परममय से अक्षरगमित अक्षरमा अनुप्राप्त है, परममय से अक्षरमा अनुप्राप्त है । अक्षरमय के लक्ष्यमग से यन्त्रित केवल विकारद्वारमा के आचार पर प्रतिष्ठित कर्मात्मग यहाँ काम कर्मात्मग है, यही यही अक्षरमय के लक्ष्यमग से निष्काममग में परिष्ठित होख हुआ धर्मबुद्धियोग है । परममय के लक्ष्यमग से यन्त्रित, केवल अक्षरमा का आचार पर प्रतिष्ठित मन्त्रियोग यहाँ काम मन्त्रियोग है, यही यही परममय के लक्ष्यमग से निष्काममग में

परिणत होता हुआ वैश्वदेवबुद्धियोग है। परम्पन के लक्ष्यो से यन्त्रित केवल अक्षरान्मा के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानयोग बड़ा कर्मात्मागतक ज्ञानयोग है वही नहीं परम्पन के लक्ष्यो से कर्मात्मक में परिणत होता हुआ ज्ञानबुद्धियोग है। एवं लक्ष्यो से युक्त लक्ष्यो वैश्वदेवबुद्धियोग है जो मग्नान् की अपनी प्रायश्चित्तिक कल्पि है। प्राचीनाभिमत योगवयी, तथा गीताकर्मका योगवशी, दोनों में बड़ा लक्षणमेद है, किन्तु निम्न लिखित परिच्छेदों से लक्ष्यो हो रहा है—

प्राचीनाभिमता योगवयी—

- १-अक्षरान्मा (अभ्युत्थानमा) — ज्ञानाधार (अभ्युत्थानमात्तया ज्ञानयोग) ।
- २-अक्षरगर्भित-अक्षरान्मा (अभ्युत्थानमा) — भक्त्याधार (अभ्युत्थानमा मक्तियोग) ।
- ३-अक्षरगर्भित-विद्यारक्षरान्मा (अभ्युत्थानमा) — कर्माधार (अभ्युत्थानमात्तया कर्मयोग) ।



गीतासूक्त्याभिमता—योगवशी—

- १-अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया (अभ्युत्थानमात्तया) — अभ्युत्थानमात्तया
- २-अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—विद्यारमा—अभ्युत्थानमात्तया (अभ्युत्थानमात्तया) — परम्युत्थानमात्तया
- ३-अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया (अभ्युत्थानमात्तया) — परम्युत्थानमात्तया
- ४-अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया (अभ्युत्थानमात्तया) — परम्युत्थानमात्तया



- १-अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया (अभ्युत्थानमात्तया) ।
- २-अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया (अभ्युत्थानमात्तया) ।
- ३-अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया (अभ्युत्थानमात्तया) ।
- ४-अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया (अभ्युत्थानमात्तया) ।



३०-अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—अभ्युत्थानमात्तया—

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि, वैश्वदेवबुद्धियोग की आधारभूमि मननय अभ्युत्थान है। वही अभ्युत्थान 'अभ्युत्थानमात्तया' नामक शब्द कहलाया है। अभ्युत्थान से यद्यत्, किन्तु प्रकृतिकामात्मक अभ्युत्थान-रूप से युक्त वा मक्तियोग विवेच्यो के लक्ष्यो से अभ्युत्थान-मक्तियोग में परिणत होता है यह स्पष्ट

आत्ममय बोधसीयत्-अभ्ययमन से युक्त होकर ईश्वरकामना के सम्बन्ध से निष्काम-मस्तिष्करूप में परिणत हो जाता है। आत्मात्मसंस्था में मुक्त मनस्त्व का वैज्ञानिकों ने चतुर्धा विस्तोषण किया है। वे पाँच आध्यात्मिक मन क्रमशः 'चिदात्मा, चित्त, प्रज्ञान, वेदनीय' इन नामों से व्यञ्जित हुए हैं। कुल-दुःखा-नुभूति का आधारमूल संकल्प-विह्वल्यतक इन्द्रियमन ही 'वेदनीयमन' कहा गया है। निष्कविषयत्वनिन्द्रिय-मत्सन् लक्षण के आधार पर ही इसे इन्द्रियमन कहा गया है। 'वाक्-प्राण-बुद्धि-भोज-मनांसि' इत केवलमत्त इन्द्रियपञ्चक में मुक्त मन यही संवेदनीय इन्द्रियमन है किन्तु पार्थिव स्तोम्यत्रिणाश्री के विचार (२७) स्तोमात्मक चौथे आपोलोक में प्रतिष्ठित भारवरक्षेण से निर्म्मण हुआ है। पार्थिव योगात्मक यही इन्द्रियमन पहिला 'वेदनीय' मन है, जिसके लिए 'मन पट्टनीन्द्रियाणि' प्रसिद्ध है। 'यच्छाद्यं मनो ज्ञेयम्' से भी यही मन अभिप्रेत है। दृढ है प्रज्ञानमन। 'अन्यत्र मं मनाऽमूत्न प्रप्राप्तिपम्' में पठित मन ही प्रज्ञानमन है। सर्वेन्द्रियों के सहयोग से यह बर्ण 'सर्वेन्द्रिय कइलाया है बर्ण' तब इन्द्रियलक्षण से अतीत रहता हुआ 'अनीन्द्रिय'-'अतीन्द्रिय' आदि नामों से व्यञ्जित हुआ है। चन्द्रमा इस मन का प्रथम है। इन्द्रियमन बहिर्म्मन या यह प्रज्ञानमन अन्तर्मन है। 'यत् प्रज्ञानयुक्त चेतो' इत्यादि यजुर्मन्त्र से इसी चन्द्र योगात्मक प्रज्ञानमन का स्वरूपविस्तोषण हुआ है और यही आत्मात्मकता में मुक्त वृत्त मन है। तीसरा मन 'चित्त' नाम से प्रसिद्ध है। अभ्ययत्मा चिदात्मा है। यह महानात्मा में गर्भ धारण करता है। चित् (अभ्यय) के गर्भामृत होजाने से महानात्मा भी चिन्मय बन जाता है और चित्तयुक्त महानात्मा का यही चित्तत्व विद्यासुखिलाह्वर विज्ञानात्मा से नित्य संश्लिष्ट है। अतएव 'सत्त्वसत्त्वि महानात्मा' इत्यादिरूप से विज्ञानात्मा को भी कल (चित्त) नाम से व्यञ्जित कर दिया जाता है। योगमाया के सम्बन्ध से यह महन्मन गुणात्मक बना रहता है। पारमेष्ठ्य महारक्षेण ही इच्छा प्रथम है। पारमेष्ठ्य योगात्मक यही महन्मन 'चित्त-सत्त्व गुण'- आदि विविध नामों से व्यञ्जित हुआ है। पार्थिव योगात्मक वेदनीय-इन्द्रियमन पार्थिव-कृष्णाग्नि (सूक्ष्माग्नि) के सम्बन्ध से, चन्द्र योगात्मक-प्रज्ञान-अनिन्द्रियमन कृष्णाचन्द्र के सम्बन्ध से दोनों मन स्व-रूप से कृष्ण हैं। परन्तु विज्ञानज्योति के सम्बन्ध से तथा गर्भामृत चिन्म्योति के सम्बन्ध से चित्तात्मक महन्मन स्वज्योतिर्मन है। इसी के सम्बन्ध से चन्द्रप्रज्ञान, और पार्थिव वेदनीय मन भी ज्योतिष्मान् बन रहे हैं।

चौथा मन 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। 'प्लवाङ्गान्मन्तं भेदनेतेषां ज्ञानमन्तं परम्' के अनुसार यह मन उपात्मक है। लक्षात्मक महन्मन कर्मारत्मक प्रज्ञानमन, प्रजापरायात्मक इन्द्रियमन तीनों इसी के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, तीनों इसी के मात्रामूल विवर्त हैं। यही अपने 'बहु स्थान' काम से कवीयान् बनता हुआ 'सोऽकटीयत' नाम से व्यञ्जित हुआ है। कामस्त्वप्ने संमवर्त्तसाधि मनसो रेतः प्रथम यदासीत्' वाला मन यही मन है। मनजयी करछत्मा है, यह चौथा अभ्ययमन करारुम है, आत्मलक्षण है। स्व-कलात्मक, काममय यही मन अपनी अन्तरिचिन्ति, बहिर्चिन्ति से विदप्रमत्स्वरूप में परिणत रहता है। क्लगार्मिष्ठा स्वचिन्ति ही आनन्द-विज्ञान है, यही मुक्तिव्यधिही अन्तरिचिन्ति है। रत्नार्मिष्ठा स्वचिन्ति ही प्राण-वाक् है, यही धृष्टिवाचिणी बहिर्चिन्ति है। अन्तरिचिन्ति ही अभ्यय का पररूप है, बहिर्चिन्ति ही अभ्यय का अपररूप है एवं दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव उभयपक्षक मन दोनों चिन्तियों से अनुवर्त्तित रहता हुआ अभ्यय का परवररूप है। क्योंकि इसी के आधार पर, इसी की मुमुक्षा-रिचक्षा-आमना से अन्तः-बहिर्चिन्तियों का विकास हुआ है। अतएव इत अभ्ययमन को अक्षय ही 'चिदात्मा' कहा जा सकता है। आनन्द-विज्ञानात्मिक

अन्तर्ब्रह्मि ही परात्मस्वरूप विद्यात्मा है। प्राण-वागात्मिका परिचिति ही अक्षरपरमस्वरूप कर्मात्मा है। एत मन्थर्य मनोमय आत्म्य ही अनात्मा है यही परत्परमम है। इत्यक्षर अमन्थ, महदक्षर, प्रधानक्षर, ऐन्द्रिक विक्षरक्षर, इन चार तर्कों के आधार पर कर्मर- विद्यात्मा चित्त, प्रधान, वेदनीय, इन चार मनस्तत्त्वों का उद्भव हो जाता है। इन चारों में से ऐश्वर्य्यलक्षणा बुद्धियोगानुष्ठान में जोये विद्यात्मा नामक अमन्थमन के साथ ही अन्तर्ब्रह्म स्थापित करनी पड़ती है। जिस दिन ऐश्वर्य्यबुद्धियोगोद्भव के हेतुगत लक्षण ऐश्वर्य्यबुद्धियोग से इत विद्यात्मलक्षणा अमन्थमन का विकास हो जाता है उस दिन अमन्थेश्वर के विधि परैश्वर्य्य का विकास हो जाता है। ऐश्वर्य्यविकसित ही विद्यात्मा का अनुग्रह है। चित्तियवत्समक चकन ही इत अनुग्रह का फल है। चकन ही अक्षरमर्यान्ति है। जिना चित्त के आत्मा बलशक्त्य ज्ञाता हुआ अक्षरमत्त बना जाता है। आत्मचिन्ति (आत्मकला) से अन्तर्ब्रह्म प्राची कपी शान्ति-लाम नही कर सकता। 'चैन' (शान्ति-मुक्त) मेलोगा 'चकन' (आत्मचिन्ति) से, तत्पु चिरात्ममन के प्रति आत्मलक्षण करने से। इसके अभाव में प्राची 'अचेत्' बना रहता हुआ अक्षरान्ति के गर्त में पड़ा रहता है। 'अचेत्' (अक्षयन-अचिन्ति-कलनिर्ग-मनलक्षणा अक्षरान्ति) की मिथुति के लिए ही ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षणा अक्षरान्तिनिर्वाक, निष्काममक्रियोगा अनुष्ठेय माना गया है जिसे उल्लेख बनाने के लिए हमें पहिले आध्यात्मिक मनस्त्वक का विच्छेद करना पड़ेगा, लक्षणा चिन्ति-(शान्ति)-बर्म्म प्रवर्द्ध रबोवर्द्धवत-नामक अमन्थमन को लक्षण बनाना पड़ेगा। एवं लक्ष्णैव अमन्थमन के प्रति अन्तर्ब्रह्म से आत्मलक्षण करने के लिए गीताप्रारम्भ प्रतियमित साथ ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग का अनुग्रामन करना पड़ेगा।

- १-विद्यात्मा-अमन्थमन-श्वोपरत्त मन-आत्ममन-]-अक्षरम्
- २-चित्तम्-मन्थमन-गुणारम्भ मन-आमन्थमन
- ३-प्रधानम्-अमिन्द्रियमन-अमिन्द्रियमन-अन्तर्मनः
- ४-वेदनीयम्-इन्द्रियमन-मन्थमन-बहिर्मन

विद्यात्मा

३७-ऐश्वर्य्यात्मक विद्यात्मा क विविध स्वरूप-

ऐश्वर्य्यलक्षणा विद्यात्मा तथा अक्षरमत्तलक्षणा संकीच दोनों मन्थबुद्धियों का अनेक दृष्टि से सम्भव विश्व का स्वरूप है। पुष्पकलिका पर दृष्टि का लिए। कलिभ (कली-दाड़ी) अक्षरमत्त है संतुष्टिवा है अक्षरमत्त है। बही ऐश्वर्य्यलक्षणा विद्यात्मन्य में आकर वृक्षलक्षणा अक्षरक देश में अभाव हो जाती है। का अक्षरमत्तिका अक्षरमत्त बरा में अक्षरमत्तियमित प्रदेश में प्रतिक्रिय थी, बही ऐश्वर्य्य की अनुग्रामिनी बन बन कर (निरुत कर) प्रारेणमित प्रदेश पर लेती है। अक्षर्य्य निष्काममन्य में चित्त की तथा स्वरुदेश में प्रतिक्रिय थी, निष्काम्या में उल्ले की तथा अनुग्राम्यामिनी बन जाती है। अक्षर का विद्यात्मा उदयलक्षणा था, पुष्पकलिभ का विकास अक्षरदेशमत्तलक्षणा है दोनों ऐश्वर्य्यों के स्वरुप में विद्यमान है। ऐश्वर्य्यवत् विद्यात्मकथा से स्वरुपात्त प्रदेश में प्रतिक्रिय है। बही अक्षरमत्त के अक्षर ने अक्षर्य्य उदयलक्षणा में अभाव हो रहा है। यह अक्षरमत्तलक्षणा ऐश्वर्य्य की महिमा है बही इतका ऐश्वर्य्यलक्षणा विद्यात्मा है। यदि ऐश्वर्य्य का इत महिमाकाय में विद्यात्मा न होया तो पार्थिव प्रजा ऐश्वर्य्यलक्षणता से तर्का बलित रह जाती। यह विद्यात्मा

उक्त दोनों विद्याओं से विभिन्नवादीय है। पालक स्वराशीरुमीमा से मुक्त रहता हुआ परतमूलक विद्यत का अनुगामी बनता है। पुष्पकक्षिका स्वराशीरुमीमा से प्रसूत हो कर अधिदेश्यप्राप्तिमूलक विद्यत की अनुगामिनी बनती है। सूर्यप्राप्त विद्यत न तो सूर्यविन्दात्मक सूर्यशीरु की दृष्टा से सम्बन्ध रखता, न पुष्पकक्षिका की मति उत्पत्तानीय स्वयं सूर्यपिण्ड अधिदेश्य का अवगाहन करता। अपितु सूर्यपिण्ड से निकलने वाली रश्मियों का रश्मिमण्डल ही इच्छा विद्यतप्रसक्त स्वस्म बनता है। बन्ने की बुद्धि का वास्तव नहीं बढ़ता, अपितु उच्छि म्रुता-श्लेसलता हट जाती है, वह स्थिरजापवर्ध हो जाती है। यही बुद्धिस्थैर्य 'प्रौढ' कहलार् है। यही प्रौढता है। पुष्प में ठीक इसके उल्य है। पुष्पकक्षिका कठिन होती है हट होती है। पुष्प म्रु होय है। म्रुभाव में परिवर्त होकर अधिदेश्य में स्थाप हो जाने वाला यह पुष्पकक्षिका का ऐश्वर्य श्लेसम्य से विभिन्न है। स्वयं में न कठिन है, न म्रुता है, एवं न अधिदेश्य देखाग्राहित ही है। अपितु रश्मिकम से इच्छा ऐश्वर्य विकसित होता है। इत्यन्तर वायु परातों के लक्ष् विभिन्नगुणक-प्राकृषिक स्वस्व-धर्मों के अनुकम ही तत्कक्षिकलक्ष्य तत्तैश्वर्य विमक्त हो रहे है।

३८-महिमा, और विद्यत का पार्थक्य—

महित को लक्ष्य बना कर ही ऐश्वर्य प्राप्त प्रसूत हुआ है। ईश्वरता स्वाम्य एक कस्तुरकविराग है। इत ईश्वरता का म्य ही ऐश्वर्य कहलाया है। महिमा-शाली पुत्र ही ऐश्वर्य-कर्मण से सम्भ बना रहता है। पूर्व के ऐश्वर्यस्वरूप-विगृहण से महिमा, और विद्यत की अभिधता स्थिर हो रही है। परन्तु कस्तुर देय है नहीं। महिमालक्ष्य ऐश्वर्य मित्र बलुत्तल है, एवं ऐश्वर्यविद्यत मित्र कस्तुरत्व है। उदाहरण के द्वारा सम्बन्ध कीविए। ऐश्वर्यलक्ष्य महिमा के रहने पर भी यदि उच्छा विद्यत नहीं होता तो इत विद्यत के आगत्य में ऐश्वर्य के रहते हुए भी अनैश्वर्यमूला अस्मिता का प्रवेश हो जाता है। एक स्थान पर प्रकृतित दीप्त रहता है। दीपार्थिमण्डल (दीपकप्रकारमण्डल) दीपमिन् (ली) का ऐश्वर्य है महिमा है। इमन उत दीप्त का किली अश्यादि के टकन् से टाक दिया। इत अश आचरण से दीप-प्रकाश ऐश्वर्य का नाश हो गरी हुआ, परन्तु उच्छा विद्यत आचरण क मया। अतएव को दीपक अपने ऐश्वर्य की विद्यतप्रका में अन्वकर को अभिभूत कर देता था, यही दीपक आगलुक् अशाचरणक अस्मिता (लक्ष्ण) के सम्बन्ध से ऐश्वर्य के विद्यत से बधित रह्य हुआ अन्वकारमिम में अशमय बन गया। अधिदेश्यलक्ष्य अस्मिता से विद्यमान भी ऐश्वर्य के विद्यत का अभिमम कर जाता। इत सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट उक्तना चाहिए कि, आचरण की प्रकृत पर ही ऐश्वर्य का विद्यत अवन्द होय है। आचरण की लक्ष्यमय पर, तथा आचरण की निर्भमता पर ऐश्वर्य का विद्यत कर्षया अभिभूत नहीं होय। उदाहरण यही दीपक बन रहा है। दीपार्थि के बायीं ओर अश का आचरण लग रहा है। अश आचरण अवश्य है, परन्तु वह लक्ष्यीय आचरण है। अतएव प्रकृतकम ऐश्वर्य का प्रकाशकम विद्यत अवन्द नहीं हो पाय। एक रश्मि कक्ष से कौच को टक दिया। यह आचरण अधिप्राण के सम्बन्ध से प्रकाश के लिए विद्यतीय अश्वर्य है, परन्तु यह निर्भल है तथा ही रश्मिकर्ष के कारण अशय लक्ष्यीय भी। अत इत आचरण के रहने पर भी प्रकृतैश्वर्य का विद्यत एकात्मतः अवन्द नहीं होय। मध्यमकार-विद्यत सुवधित रह जाता है। क्नाहना अश कपका विद्यतीय आचरण अवश्य है परन्तु अशम्यालुओं के पनीभूत न होने से एत कष विद्यतीय भी आचरण निर्भन बन रहा है। अतः देता निर्भल-विद्यतीय आचरण भी प्रकाशविद्यत की कषा

का अभाव । फुहरा, श्वेतमेघ¹ सामान्य कुम्भमेघ, पनकुम्भमेघ चारी आबरण कमरा कान, श्वेतवध कुम्भमेघ कुम्भमेघ पनकुम्भ, नामक इन चारों हीमावरणों से सम्पुष्टित होत हुए कमरा कानकुम्भमेघ, श्वेतमेघ, रबीमिस्ति तमाकुम्भमेघ एव विद्युत् तमाकुम्भमेघ इन चारों के साथ आबरण है । फुहरा श्वेतमेघदि चारों आबरणों से सूर्यप्रभासक ऐरकर्म का नाश नहीं होता अर्थात् उस ऐरकर्म के विकास का अभिभवमान्य होता है । किञ्चकम्भ से उठा हुआ भी सूर्यकर्म (सूर्यप्रभासक) जैसे अन्वकार को हटाने में अक्षमर्थ रह जाता है एकमेव उठा हुआ भी आन्तरिक अस्मितावरण से संकुचित उठा हुआ उन्मोला अस्मिता के निरुत्तरण में अक्षमर्थ बना रहता है । तत्पथ-आभा (बीजरा) पथप्रभा का अर्थ होने से स्वस्वक से उच्छिन्न-अन है, अतएव प्रकाशक यह भी ऐरकर्मत्रय से सम्पन्न है । तथापि अस्मितावरण का अविद्या के आबरण से इसके ऐरकर्म का विकास अभिभव हो जाता है यह पूर्ण शक्तिशाली भी अस्मिता अपने अन्वको उच्छिन्न मान बैठता है । और अस्मितावरण पर उच्छिन्नता ही इसके अस्मितावरण दुःख का कारण बन जाती है ।

४०-स्वामादिक, और आत्मनुक विकास-

विश्व आत्मनुक स्वामादिक, मेर से दो भागों में विभक्त माना गया है । आत्मविकास स्वामादिक है, इसे शरीर से नहीं जाना पड़ता । अर्थात् इस पर आप हुए अस्मितावरण को हटाने मात्र से मेषापाय सूर्यवत् यह स्वतः प्रकट हो जाता है, अर्थात्-‘तत् स्वयं योगसंसिद्धं अज्ञेयान्तरनि’ इत्यदि वचन से सिद्ध है । सोपविश्वत आत्मनुक है । इसे प्रकटपूर्वक शरीर से उच्छिन्न करना पड़ता है । जिस प्रकार मृतमति की प्रसिद्ध अन्वमेघेति मानी गई है एवमेव आत्मनुक लौकिक-भौतिक विकास की मूलप्रसिद्ध स्वामादिक-अज्ञान-विकास ही बना करता है । अतः प्रकट मूलमतेति के आयमन से अन्वमेघेति निकलित हो पड़ती है एवमेव भौतिक आत्मनुक विकास से आध्यात्मिक आत्मविकास पुष्पित-फलित हो जाता है । एक लौकिक मनुष्य पूर्व दुर्दिमान् उठा हुआ भी अविद्या शक्ति के अग्रभू से आत्मनुक मृतमति से उच्छिन्न होकर हुआ स्वयं अक्षर बन जाता है-‘वारिह्यदोषो शुक्लराशिनासा’ प्रसिद्ध है । मृतमति के द्वारा आगत अज्ञान अस्मितावरणों से स्वर्ण उच्छिन्न कर देता है, यह प्रकट है । अतएव आत्मनुक विकास से मूल शक्तिअन्वकार के द्वारा आत्मविकसित प्रकट हो जाता है, अतएव अज्ञान शक्त बन रहा है । शिष्ट शरीर में आत्मा और शरीर, वे ही विभक्त हैं । स्वप्न, वस्न, अस्न मेर से शरीर विभक्त हैं । स्वप्नशरीर मृतमात्राप्रधान है, वस्नशरीर प्राकृष्टमात्राप्रधान है एवं अस्नशरीर प्रज्ञामात्राप्रधान है । अस्मितावरण स्वप्न वस्न अस्न शरीर मृतमात्राप्रधान स्वप्नशरीर है । प्राणपानमानान्मानोमानलक्ष्य पञ्च प्राण-अस्मिता प्राण-अस्मिता वस्न प्राणमात्राप्रधान स्वप्नशरीर है । एवं विज्ञानअस्मिताप्रकट प्रकट (दुर्दिष्ट मन) मानक-पञ्चमात्राप्रधान अस्नशरीर है । अस्नशरीर ऐश्वर्यक ज्ञान का अविद्याका है स्वप्नशरीर शरीरप्रकृत का प्रकृत है, एवं स्वप्नशरीर अस्मिता है । शरीररत्न वे तीनों शरीर अस्मिता हैं । यही आध्यात्मिक मृतमति है । अस्मिताप्रकट मृतमति में प्रसिद्ध प्रत्यक्षता से निम्न उच्छिन्न शरीरक अज्ञान मरता है । यही आध्यात्मिक अज्ञानमति है । शिष्ट की यह आत्मव्यति तब तक अविद्या-मरार में स्वयं अस्मिता की जाती है जब तक कि इसकी शरीरव्यति अज्ञान मृतमति अज्ञान प्रकट विकसित नहीं हो जाती । दुर्दिष्ट-अज्ञान-प्रकट अस्नशरीर, शक्ति (प्राणमक स्वप्नशरीर) एवं शरीरप्रकट तीनों मृतमति का अस्मिता अज्ञान में परिवर्तित है । अतएव न शिष्ट में दुर्दिष्ट का विकास है न स्वप्न का विकास है, न शरीर में दुर्दिष्ट है ।

ॐ

‘बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

‘ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिवचन’ नामक
द्वितीयस्तम्भ-उपरत

(२)-२

श्री

अथ-बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
द्वितीयप्रकरणे

ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः

तृतीयस्तम्भ

(२)-३

ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

तृतीयस्तम्भ



१-अविद्यापञ्चतुष्टीरूप आवरण—

‘अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिविभेदा, पञ्च क्रोशाः’ (पा० वा सू) इस दार्शनिक सिद्धन्त के अनुकार बीजरामा को उसकी अपनी ईश्वरानुगता भगवता से वक्षित रहने वाले क्रोश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिविभेदा भेद से पाँच मार्गों में विभक्त मार्गें गए हैं । इत्यस्तित्त विद्यम्योत्पत्ति-प्रसङ्गात्मा अस्मयप्रधान बनता हुआ जानाव्या है यही ज्ञानात्म्य आनन्द-विज्ञान-मनोमय माना गया है । आनन्द-विज्ञान-मनोमय अस्मय ही मुक्तिस्वप्नी ‘विद्यात्म्य माना गया है । विद्यम्य व्यस्त्यम्यं यही है कि, ज्ञानात्मक अस्मय ही विद्यात्मक अस्मय है । अतएव अन्वयात्मरूपान को हम ‘विद्या’ नाम से व्यवहृत कर सकते हैं । विद्य प्रकार अविद्या का प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान है अस्मिता का प्रतिद्वन्द्वी ऐश्वर्य्यं है, राग-द्वेष का प्रतिद्वन्द्वी वैराग्य्य है अभिविभेदा का प्रतिद्वन्द्वी धर्म्य है, एतमेव अस्मयविद्या विद्या विद्यात्म्य का प्रतिद्वन्द्वी अविद्याभाव माना गया है । अस्मयारिभक्त ज्ञानम्योत्पत्ति ‘विद्या’ है । इस विद्यात्मिका ज्ञानम्योत्पत्ति के स्वामाविक विद्यत को आहृत कर देने वाला विद्याविरोधी आवरण ही ‘अविद्या’ है । अविद्याप्रस्त विद्यात्म्य से मुक्त बीजादर ही उक्त पञ्च क्रोशों को आचारभूमि बना रहता है । अविद्याप्रस्त विद्यात्म्य ही अविद्यात्म्य है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट किया जाने वाला है ।

२-विद्या-अविद्यात्मक अस्मय के सूर्यनिबन्धन चार-चार विवक्त—

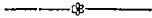
विद्यात्म्य स्वरूप से एकात्मक है यही सर्वात्म्य है । एतमेव अविद्यात्म्य भी स्वरूप से एकात्मक ही है एवं यही अस्मय है । सर्वात्मक विद्यात्म्य बुद्धिगत विद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से चार मार्गों में विभक्त हो जाता है । एतमेव अस्मयत्मक अविद्यात्म्य बुद्धिगत अविद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से चार मार्गों में विभक्त हो जाता है । बुद्धितत्त्व आध्यात्मिक आत्मतावानपरम्पर के मध्य में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जैसे कि बुद्धिप्रमथ सूर्य्य आधिदैविक संस्थाकर पञ्चपर्व विष के कन्द्र में प्रतिष्ठित है । पञ्चपर्व विष के कन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य के ऊपर महान् परमेष्ठी, अस्मयत् स्वरूप एवं ‘योदशीपुरुष’ नामक ईश्वरम्ययपुरुष, न अमृतात्मा प्रतिष्ठित है । एतमेव सूर्य्य से नीच पञ्चमा, पार्थिव देवक्यत्मा भूपिबह, य एतन्मर्त्यात्मा प्रतिष्ठित है । मध्यस्थ सूर्य्य का अमृतात्मानुगामी ऊर्ध्वनाय अमृतसूर्य्य है मत्यात्मानुगामी अधोभाग मर्त्यसूर्य्य है । इसप्रकार मध्यस्थ सूर्य्य अमृत-मर्त्य इन दोनों अस्मयस्यक्तियों से मुक्त बना हुआ है । सूर्य्य म ऊपर ऊपर अमृत का लक्षण है नीच नीच मृत्यु का लक्षण है, जैसाकि-‘तद्यत्किञ्चिन्नापोनमादित्यान् मथ तन्मृत्युनाप्यम्’ (रात १ । ४।१।४) इत्यादि माण्डूक्यभूति से प्रमाणित है । मध्यस्थ सूर्य्य में आनन्द-पादित्य दोनों धर्मों का समन्वय ग्रहणा प्राप्त है । अत-‘निवेशायनमृतं मत्यात्म्य’ इत्यादि यजुर्गानानुकार मध्यस्थ सूर्य्य में दोनों धर्मों को सदा निद्र हा जाती है ।

३-विश्वमभ्यस्य हिरण्यगर्भमूर्तिं सूर्यं, एवं उसके चार विभूति-विवर्ण-

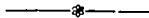
अवधानपूर्वक मन्त्रय सूर्य पर इष्टि काशिए। क्योंकि गीताशास्त्र की बुद्धिवैशेष्यतत्त्वकी का आधार बुद्धिप्रमथ यही सूर्य है। मन्त्रय सूर्य का ऊर्ध्वानुगत अमृतलक्षण अर्द्धभाग एक स्वतन्त्र तत्व है जिसे वैज्ञानिकों ने 'स्युक्तिप्रति' नाम से सम्बद्ध किया है। यह स्युक्तिप्रति अमृतप्रति है यही अमृतलक्षण अमृतप्रति के वैशेष्य है जिसका उपनिषदविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयलघु में विस्तार से विरलेख्य हुआ है। प्राणवेदात्मक स्युक्तिप्रति अमृतप्रतिरूप अमृतसूर्य के मर्म में ऊर्ध्वस्थित उक्त तीनों अमृतप्रतिओं के प्रबन्धों का मुक्त रहते है। महान परमेष्ठी अमृततत्त्वस्वप्नू षोडशी अमृतप्रतिरूप, इन तीनों ऊर्ध्वस्थित अमृतप्रतिओं के प्रबन्धों का हत अमृतसूर्य में अन्तर्गम्य तन्त्रय से मुक्त रहते है। अमृतप्रति इन तीन प्रबन्धों से तथा अपने अमृतप्रति नाम से अमृतसूर्य चतुष्टयस्थित मुक्त बन रहा है। अमृतप्रति अमृतप्रति प्राणवेदात्मक अमृतसूर्य का प्राणवेदानुपदेशित वेदात्मक अमृत ही अमृत है। अमृतसूर्य में अन्तर्गम्य तन्त्रय से प्रतिष्ठित महान्-परमेष्ठी के प्रबन्धों का अनुपदेशित इष्ट-ऊर्ध्व-स्युक्ति-प्रति-प्रति-प्रति तत्त्व ही 'ऐरवत्य' है। अमृतसूर्य में अन्तर्गम्य तन्त्रय से मुक्त अमृततत्त्वस्वप्नू के प्रबन्धों से अनुपदेशित अमृततत्त्व ही 'ज्ञान' है। एवं अमृतसूर्य में अन्तर्गम्य तन्त्रय से मुक्त षोडशी ऐरवत्य के प्रबन्धों का अनुपदेशित ज्ञान तत्त्व ही वैराग्य है। वैराग्य अमृततत्त्व की प्रातिस्विक विभूति है। अमृतसूर्य में यह वैराग्यविभूति जाती है षोडशी पुण्यत्त्व से। ज्ञान अमृततत्त्वस्वप्नू की प्रातिस्विक विभूति है वैराग्य पूर्व तन्त्रय के 'प्राचीनाभिज्ञता वेदात्मकी' विषयविषयक से स्पष्ट किना का मुक्त है। अमृतसूर्य में यह ज्ञानविभूति जाती है अमृततत्त्वस्वप्नू से। ऐरवत्य महान्-परमेष्ठी की प्रातिस्विक विभूति है। महामातरत्त्व को ही पूर्व तन्त्रय में ज्ञान ऐरवत्य कहा है। प्राणमरत्त्व ही महामातरत्त्व माना गया है। ऐरवत्य का प्राण तत्त्व ही प्राणवेदानुपदेशित है। अतएव तत्त्वत्त्व से तत्त्व विभूति अमृतप्रति 'ऐरवत्य' नाम से सम्बद्ध की जा सकती है। अमृतसूर्य में यह ऐरवत्यविभूति जाती है महान परमेष्ठी से। अमृतसूर्य की प्रातिस्विक विभूति है। कारण प्राकृतिक आधिकारिक-निष्प-अमृत ही अमृत है। निष्प अमृतप्रति अमृत की मूलप्रतिष्ठता माना गया है वेदानुपदेशित-अमृतप्रति ही निष्प है। अमृतसूर्य अमृतप्रति से अमृतवेदानुपदेशित (विष्णुतामात्रवेदानुपदेशित वेदानुपदेशित) माना गया है। अतएव वेदानुपदेशित अमृतप्रति का अमृत ही अमृतसूर्य की प्रातिस्विक विभूति माना जा सकता है। अतएव पुण्य स्वप्नू परमेष्ठी, इन तीन अमृतप्रतिओं की वैराग्य ज्ञान ऐरवत्य, नाम की विभूतियों के प्रबन्धों का अमृतप्रति अमृतप्रति से एवं स्वानुगत अमृतप्रति से ऊर्ध्वस्थिता अमृतप्रतिप्रति से अनुगत अमृतसूर्य अमृत ज्ञान वैराग्य, ऐरवत्य इन चार विषयों में परिचाय हो रहा है। अतः स्युक्तिप्रति ही 'हिरण्यगर्भ' अमृतप्रति है। यही आधिकारिक विषय का 'बुद्धि' तत्त्व है जो कि विश्ववेदानुपदेशित प्रतिष्ठित होता हुआ विश्व का सम्बन्धन कर रहा है। इसी आधार पर पुण्यपुण्य ने कहा है- 'हिरण्यगर्भा भगवानप-बुद्धि' इति स्मृत (महाभाष्य)।

चतुर्विध-विभूतिमावानुगतोऽमृतसूर्य —

- | | | | |
|------------------------------|----------------------|-------------------------------|----------------------------------------------|
| १-विस्थाप्यः— | यादृशीपुरुष — | वैराग्यविभूतियुक्त (अमृतत्मा) | } —सैषा-अमृतसंस्था
(अमृतत्मासोपानपरम्परा) |
| २-विस्थापिः— | अमृतसूर्यस्य— | ज्ञानविभूतियुक्त (अमृतत्मा) | |
| ३-विरयोपादानम्-सहानपरमेष्ठी— | एतद्यग्यविभूतियुक्त. | (अमृतत्मा) | |
| ४-विरवसाक्षी— | अमृतसूर्यः— | धर्मविभूतियुक्त (अमृतत्मा) | |



- | | | | |
|--------------------------------|-------------|------------|---------------------------------------------|
| १-पुरुषप्रथम्यारागर्भितः— | अमृतसूर्य | वैराग्योपत | } स एव अमृतसूर्यः—
चतुर्विधविभूतियुक्त |
| २-स्यस्यनुप्रवर्ग्यारागर्भितः— | अमृतसूर्यः— | ज्ञानोपेत | |
| ३-परमेष्ठिप्रथम्यारागर्भितः— | अमृतसूर्यः— | धर्मोपेत | |
| ४-स्यानुगतविभूतिगर्भितः— | अमृतसूर्यः— | धर्मोपेत | |



४-द्विरस्यगमं सूर्यं क चार पाप्मा-विवक्ष-

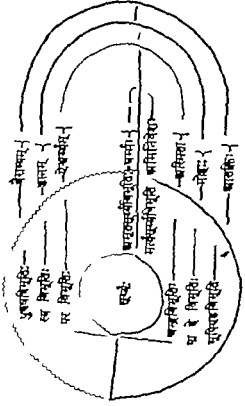
मन्त्रस्य सूर्यं के ऊप्यानुगत-अमृतत्मानुगत-अमृतलक्षण अद्व माग से सम्बन्ध रखने वाली विभू-
तिचतुष्टयी की मीमांसा के अनन्तर मन्त्रस्य सूर्यं के अर्धभागानुगत-मवाप्तानुभव-सुसुलक्षण अद्व माग म
सम्बन्ध रखने वाली पाप्मा-चतुष्टयी की मीमांसा की श्रार पाठश्री का ध्यान आकर्षित किया जाता है। विन
प्रकार सूर्य का ऊर्ध्वभागानुगत अमृतलक्षण तत्त्व 'आवित्राग्नि' नाम से व्यक्त हुआ है, उदरगत प्राणवद
ज्योत्स्नय वेद नाम से प्रसिद्ध हुआ है एवमेव अधोभागानुगत-सुसुलक्षण तत्त्व 'गायत्राग्नि' नाम से तथा
तदनुगत भूतवेद (विगुणात्मक वेदतस्य पौरुषयवेद) गायत्रीमात्रिकीय नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भूतवेदप्रमक
गायत्राग्निचक्षण मर्यादितस्य सूर्यं सूर्यं क गर्भ में अर्धऽवस्थित चन्द्रमा-पाथिरदेवक्यात्मा-भूविद, इन
तीनों मर्यादाओं के प्रख्यापन मुक्त रहते हैं।

आप्तनुक इन तीन प्रकारों से, तथा अपने म य-अद्व माग से मर्यादित भी अमृतसूर्यस्य चतु-
ष्टयः आता हुआ है। मर्यादितलक्षण भूतवेदप्रमक मर्यादितस्य च भूतवेदानुपदेष्टि त्रिगुणभाव ही अर्धस्य-
लक्षण अभिनिवेश तत्त्व है। मर्यादित सूर्यं में अन्तर्धर्म सम्बन्ध से प्रतिष्ठित चन्द्रमा के प्रख्यापन से अतु-
द्वीत गैतारूप तत्त्वविशेष ही अनेकलक्षण अस्मिता है। म यसूर्यं में अन्तर्धर्म सम्बन्ध से भूत
पाथिर देवक्य के प्रख्यापन से अनुपदेष्टि तत्त्वरूप तत्त्वविशेष ही अज्ञानलक्षण 'माह (अस्मिता) है। एव
मर्यादितस्य में अन्तर्धर्म सम्बन्ध से मक भूविद क प्रख्यापन से अनुपदेष्टि भूत नामक तत्त्वविशेष ही राग-
द्व पारमिध 'आसक्ति' है। रागद्व पारमिध अर्धस्य अर्धस्य का प्रातिरिचक पाप्मा है, मर्यादितस्य में यह आसक्ति
पाप्मा आता है भूविद से। माहलक्षण अविद्या पार्थिव दम्बत्व का प्रातिरिचक पाप्मा है। मर्यादितस्य में यह
माहपाप्मा आता है पाथिर देवक्य से। अनेकलक्षण अस्मिता चन्द्रमा का प्रातिरिचक पाप्मा है। मर्यादितस्य
में यह अस्मिता पाप्मा आता है चन्द्रमा से। अर्धस्यलक्षण अभिनिवेश मर्यादितस्य का प्रातिरिचक पाप्मा है।
तत्त्वार भूविद पार्थिव-देवक्य चन्द्रमा इन तीन मर्यादाओं के आसक्ति मा अभिनिवेश नामक तीन

असुत-मृत्युमावागनिबन्धनो हिरण्यगर्भज्जापतिः सूर्यः-विषा-अविषास्यक-
[सिषा-अविद्वैबर्त्सस्वा]

१-गोवर्षीपुरयन्त्रक- १-गणपुत्रका- असुतसमा
२-अन्धमरुतकथाम्- २-अनसुत- असुतस्ता
१-महागुणपेठी- २-रक्तसुखा- असुतासा
४-असुतसूर्य- ४-समीभुसतः- असुतासा

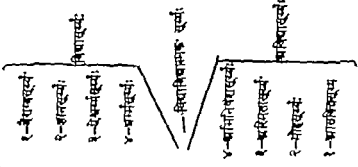
उविद्वैबर्त्सम्



असुत-उमकोमोरा

४-मर्त्यसूर्य- अभिमिनिकेरासुखा-मर्त्येना
१-अज्ञासा- असितासुखा-मर्त्येना
२-पार्थिवरेवकल- गोवर्षीसुखा-मर्त्येना
१-सूर्यिभवा- आठसिखुखा-मर्त्येना

उविद्वै मर्त्यम्



विषासूर्यः

विषाविषास्यकः सूर्यः

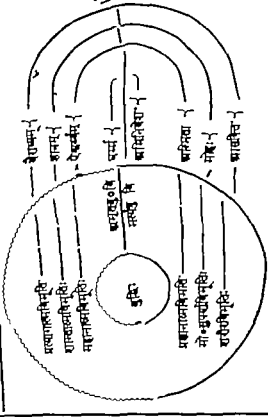
अविषासूर्यः

सर्वमंत्र (सैषा अभ्यात्ममंस्या) —

— अष्टौ बुद्धयः - इति हि प्राधान्येन आहुः —

१-सस्वात्मना (देवस्यः)	— शेषस्युक्तं	— अमृतारामा
२-शास्त्रात्मना (। कर्मस्यः)	— शान्त्युक्तं	— अमृतारामा
३-नादानात्मना (पारमेष्ठिनः)	— ऐश्वर्यस्युक्तं	— अमृतारामा
४-अमृतारामिनात्मना (अमृतवतीरः)	— परमस्युक्तं	— अमृतारामा

— अशिरममृतपत्र



— अथ उभयोर्योगः — निर्यादिविचारिका बुद्धिः

- १-शेषस्युद्धिः
- २-शान्त्युद्धिः
- ३-ऐश्वर्यस्युद्धिः
- ४-परमस्युद्धिः

— निर्यादुद्धिः

- ४- अभिनिवेशः
- १-मोक्षस्युद्धिः
- २-अशिरममृतपत्र
- १-आशिरममृतपत्र

— अशिरं मर्त्यम्

४-सस्युक्तिनात्मना (मर्त्यवीरः)	— अभिनिवेशस्युक्तः	— मर्त्यारामा
१-प्रधानात्मना (शान्ताः)	— अशिरममृतपत्रः	— मर्त्यारामा
२-मोक्षस्युक्तं (पारिकाः)	— मोक्षस्युक्तः	— मर्त्यारामा
१-अशिरममृतपत्र (कैमस्यः)	— आशिरममृतपत्रम्	— मर्त्यम्

८-अभिज्ञान-अध्यात्मानुगत आत्मनिर्णय के उपक्रमोपसंहारस्थान-

आरम्भ में अधिवापस्त विद्याध्यय को अधिवाप्य कहलाता गया है। अमृत-महात्मक सूर्यमण्डल के विद्यात्मक अमृत और अन्न मण्डल में मुख्य विद्याशिक्षण सूर्यचतुष्टयी से पुस्तक आधिदैविक अमृतसूर्य महान्तरमेठी, आम्भस्तत्त्वयम्भुर्भित षोडशीपुत्र्य विद्यामग्न (सूर्यविद्यायाग) से पुस्तक रहता हुआ विद्यापस्त विद्याध्यय है। अमृतमन्त्रात्मक सूर्यमण्डल के अधिवाप्यमन्त्र मन्त्र और अन्न मण्डल में मुख्य अधिवाप्यमन्त्र सूर्यचतुष्टयी से पुस्तक आधिदैविक मन्त्र सूर्य-चन्द्रमा-पार्ष्वि देवताय, दोनों को स्वर्ग में प्रतिष्ठित करने वाला मृषिदत्तावन्दिन षोडशीपुत्र्य अधिवाप्याग। (सूर्य-अधिवाप्याग) से पुस्तक रहता हुआ अधिवाप्यमन्त्र अधिवाप्य है। विद्याप्य का उपक्रम षोडशी से है उपसंहार मूर्तिरह पर है। अधिवाप्य का उपक्रम मूर्तिरह से है उपसंहार षोडशी पर है। यही विधि आम्भस्तत्त्वयम्भुर्भित में समिष्ट। अमृत-मन्त्रात्मिक बुद्धि के विद्यात्मक अमृत अन्न मण्डल में मुख्य विद्याशिक्षण बुद्धिचतुष्टयी से पुस्तक आध्यात्मिक विद्याबुद्धि, पार-मन्त्र महान्, स्वायम्भुव शास्त्रात्मा दोनों को स्वर्ग में मुक्त करने वाला प्रकणात्मा विद्यायाग (विद्याबुद्धि) से पुस्तक रहता हुआ विद्यापस्त विद्याध्यय है। अमृत-मन्त्रात्मिक बुद्धि के अधिवाप्यमन्त्र मन्त्र अन्न मण्डल में मुक्ता अधिवाप्यमन्त्र बुद्धिचतुष्टयी से पुस्तक, आध्यात्मिक अधिवाप्यबुद्धि, चन्द्र प्रकणात्मा पार्ष्वि मन्त्रात्म, दोनों मन्त्रात्मकथाओं को स्वर्ग में मुक्त करने वाला मूत्मा अधिवाप्याग (अधिवाप्यबुद्धि) से पुस्तक रहता हुआ अधिवाप्यमन्त्र अधिवाप्य है। विद्याप्य का उपक्रमस्थान प्रकणात्मा है उपसंहारस्थान शरीर है। अधिवाप्य का उपक्रम स्थान शरीर है, उपसंहार स्थान प्रकणात्मा है। इत्यन्तर मन्त्रात्मा विद्याविद्या-शिक्षण बुद्धि के विद्या अधिवाप्यागों के लक्षण तात्पर्य से यही प्रकणात्मा प्रकणात्मा (विद्याप्य) रूप से विच्छिन्न हो रहा है एवं यही प्रकणात्मा मूत्मा (अधिवाप्य) रूप से उन्मुख बन रहा है। बुद्धिमन्त्र विद्या अधिवाप्याग ही प्रकणात्मा के विच्छिन्न-संज्ञेय के कारण है, यही निष्कर्ष है।

९-सिद्ध-साध्यात्मस्यायका बुद्धियोगचतुष्टयी का पापकय-

विधि की स्पष्टता के लिये बुद्धियोग के लक्षण-सिद्ध-रूपों का स्वीकरण कर लीजिए। 'बुद्धियोग-मन्त्रनिर्वचन' नामक प्रथम प्रकरण में हमने लब 'अध्ययपुत्र्य' को भी बुद्धियोग कहलाया है एवं अध्यय-पुत्र्य (विद्याप्य) की विधिचतुष्टयी देवतायि धम्मविद्य बुद्धि को भी बुद्धियोग कहा है। दोनों में अध्ययमन्त्र बुद्धियोग तो 'सिद्धबुद्धियोग' है एवं बुद्ध्यात्मक बुद्धियोग 'आध्ययबुद्धियोग' है। विद्यायाग बुद्धियोग है उत्तुगामी बोधी 'बुद्धियोगी' है। लक्षणयोग बुद्धियोग है उत्तुगामी बोधी बुद्धियोगी है। बुद्धियोगी 'आद्य' है बुद्धियोगी 'आद्य' है। 'देवतायि बुद्धियोग' तं प्राक्कालहमन्त्रयम्भु इत्यादि श्लोकपरिच्छिन्न 'योग' शब्द शिक्षापरस्थात्वा अध्ययमन्त्र-बुद्धियोग का अर्थ है एवं 'तस्मात्प्रागप्य मुमुक्षुः शोभा-कर्मसु क्लेशक्षय'-'बुद्धियोगानुपाश्रित्य इत्यादि श्लोकपरिच्छिन्न योग शब्द लक्षणपरस्थात्वा बुद्ध्यात्मक बुद्धियोग का अर्थ है। सिद्धबुद्धियोग ही वास्तविक बुद्धियोग है। लक्षण बुद्धियोग तो सिद्धबुद्धियोग के लक्षण का कारण बनता हुआ बुद्धियोग का हेतुमत् भंग है। अतएव सिद्धयोग-चतुष्टयी को यहाँ वैराग्यबुद्धियोग ज्ञानबुद्धियोग वैश्वर्यबुद्धियोग धर्माबुद्धियोग, इन नामों से व्यवहार किया गया है यहाँ लक्षणयोगचतुष्टयी वैराग्यबुद्धियोग ज्ञानबुद्धियोग वैश्वर्यबुद्धियोग, धर्माबुद्धियोग नामों से व्यवहार हुआ है।

१०-प्राचीनाभिमता योगप्रयी के आधारभूत आत्मविवर्त्त—

विद्याभ्यस्य का उपक्रमस्थान प्रत्यगात्मा क्लेशना गया है, उपसंहारस्थान शरीर क्लेशना गया है। 'ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगत राक्षसिया' नामक पूर्व के प्रिथीम स्वप्नान्तर्गत प्राचीनाभिमता योगप्रयी तथा गीताभिमता योगचतुष्टयी नामक परिच्छेदों में यह स्पष्ट किया हुआ है कि, योगप्रयी का मूलाधार आत्मा कर्मया अर्थात् प्राणा, व्यक्तात्मा, व्यक्तात्मा, नामक अक्षरत्मा, अक्षरार्थितक्षरत्मा, क्षरार्थित किञ्चरक्षरत्मा है। सुषुप्तसुख अक्षरत्मा सुषु-उपादानभूत क्षरानुगामी बनता हुआ मर्त्यवर्त्मकान्त है। जोडरीपुरुष, अर्थात् स्वयम् महान परमेष्ठी तीनों आध्यात्मिक अमृतारमरस्थाओं में अमृतत्व का प्राधान्य है। अतएव इस त्रयी को 'अमृतस्था' कहा जा सकता है। चन्द्रमा, पार्थिव देवक्यात्मा, भूमिषष्ठ, इन तीनों आधिदैविक मर्यादरस्थाओं में, एवं चन्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव मोक्षात्मा भीम शरीर, इन तीनों आध्यात्मिक मर्त्यरस्थाओं में मर्त्यक्षर का प्राधान्य है। अतएव इस त्रयी को 'क्षरस्था' कहा जा सकता है। अमृत-मर्त्यात्मक आधिदैविक सूर्य, अमृत-मर्त्यात्मक आध्यात्मिक बुद्धि इनमें अमृतमर्त्यात्मक मध्यम अक्षर का प्राधान्य है। अतएव इसे 'अक्षर रस्था' माना जा सकता है। इस अक्षररस्था का ऊर्ध्वानुगत अमृताक्षर ही अमृतस्था का अनुमाहक बना रहता है, एवं अधोऽनुगत मर्त्याक्षर क्षररस्था का अनुमाहक बना रहता है। अविद्याभ्यस्य का उपक्रमस्थान शरीर क्लेशना गया है, उपसंहारस्थान प्रत्यगात्मा माना गया है। वस्तुतः विद्याभ्यस्य का उपक्रम प्रत्यगात्मा है उपसंहार अमृताबुद्धि है। एवं अविद्याभ्यस्य का उपक्रम शरीर है उपसंहार मर्या बुद्धि है। प्रत्यगात्मापक-मानुष्य अमृता बुद्धिपु-उपसंहारत्मा अमृतारमरस्था गीताभिमता योगप्रयी की आधारभूमि है। एवं शरीरपकमानुष्य मर्या बुद्धिपु-उपसंहारत्मा मर्त्यात्मरस्था प्राचीनाभिमता योगप्रयी की आधारभूमि है। मर्या बुद्धि अक्षरत्मा है यही अर्थात्मा है यही प्राचीनाभिमता कानधमा की आधारभूमि है। मर्या प्रज्ञानात्मा (मन) अक्षरार्थित क्षरत्मा है यही अर्थात्मा है, यही प्राचीनाभिमता मर्याभाग की आधारभूमि है। मर्या शरीर क्षरार्थित किञ्चरक्षर है, यही अर्थात्मा है यही प्राचीनाभिमता कर्मभाग की आधारभूमि है। मर्या पार्थिव मोक्षात्मा इस प्राचीनाभिमता मर्या योगप्रयी का अनुमाहक है। मर्याभावप्रधाना यह योगप्रयी अविद्याबुद्धि के अनुमाह से विद्याबुद्धि-पु-अर्थात्मा बुद्धियोगस्वत् से एक था ब्रह्मि रह जाते हैं।

११-गीतासम्मता योगचतुष्टयी क आधारभूत आत्मविवर्त्त—

अथ गीताभिमता योगचतुष्टयी का समन्वय कीविषय। गीतायोग की आधारभूमि अमृतात्मरस्था है। यही अमृत, अक्षर, क्षर तीनों का समन्वय है अथ कि प्राचीन योग अक्षर-क्षरानुगत बनता हुआ भी अमृत-मर्या से ब्रह्मि था। अमृतारमरस्था का उपसंहार यद्यपि अमृतात्मिका बुद्धि ही बन रही है। तथापि 'नामृतं मृत्युमिर्विना'—'अमृतं मृत्यारमृतम्' इत्यादि क अनुसार इसका उपसंहार मर्या शरीर पर मान लिया जाता है और यही प्रत्यगात्मापक सवात्मन की सब व्यापकता का लक्षण है। प्राणानुगत अमृत अमृत-विकान-मन प्राण-ब्रह्मण्य है। इसके समन्वय-व्यवस्था से ही विगत अविदेवत और अमृतम में ब्रह्मि रहते हैं। समन्वय अमृत अमृत प्रत्यगात्मा है उपसंहार शरीर है। अविदेवत में जोडरी उपक्रम है। इस आधारपरिचा सर्वभ्यस्य की पाँच कलाएँ अमृत-अक्षर-क्षर-भेद से विरहित बन कर सर्व व्यापक हो रही हैं। अविदेवत में जोडरी, अर्थात् स्वयम् महानपरमेष्ठी अमृतम में प्रत्यगात्मा स्थापना शान्तात्मा पारमेष्ठी महानात्मा तीनों ही समन्वय में आनन्दविज्ञानप्रधान अमृतम का भाग है यही वही अमृतम—

सिद्ध-साध्य-योगधनुष्टयी-परिलंघा —

(१)			
१-योद्धरीपुण्याम्स्या—	मस्वगात्मा	वैराग्यबुद्धियोगात्मा	वैराग्यहेतुऋषिदानुद्धियोग
२-आभ्यस्तस्यसम्भू—	शान्तरत्ना	ज्ञानबुद्धियोगात्मा	ज्ञानहेतुऋषिदानुद्धियोगाः
३-महानूपरमेष्टी—	महानात्मा	एश्वर्यबुद्धियोगात्मा	एश्वर्य हेतुऋषिदानुद्धियोग
४-धर्मतुष्टयः—	धर्मतद्विज्ञानात्मा	धर्मबुद्धियोगात्मा	धर्म हेतुऋषिदानुद्धियोग
अविदेवतन्	अध्यात्मन्	विदुर्बुद्धियोगचतुष्टयी	साध्यबुद्धियोगचतुष्टयी

- (२)
- १-साध्यलक्षणावैराग्यहेतुऋषिदानुद्धियोगेन— विद्वलक्षणा-अभ्यसत्तक-वैराग्यबुद्धियोगात्मा
 - २-साध्यलक्षणाज्ञानहेतुऋषिदानुद्धियोगेन— विद्वलक्षणा-अभ्यसत्तक-ज्ञानबुद्धियोगात्मा
 - ३-साध्यलक्षणावैश्वर्यहेतुऋषिदानुद्धियोगेन— विद्वलक्षणा-अभ्यसत्तक-एश्वर्यबुद्धियोगात्मा
 - ४-साध्यलक्षणाधर्महेतुऋषिदानुद्धियोगेन— विद्वलक्षणा-अभ्यसत्तक-धर्मबुद्धियोगात्मा

- (३)
- १-वैराग्यमगोपेता— अस्तिष्ठके रानिर्वाहिका— वैराग्यबुद्धिः— तद्रूप— वैराग्यबुद्धियोगाः— साध्य
 - २-ज्ञानमगोपेता— मोहके रानिर्वाहिका— ज्ञानबुद्धिः— तद्रूप— ज्ञानबुद्धियोगाः— साध्य
 - ३-एश्वर्यमगोपेता— अस्तिष्ठके रानिर्वाहिका— एश्वर्यबुद्धिः— तद्रूप— एश्वर्यबुद्धियोगाः— साध्य
 - ४-धर्ममगोपेता— अस्तिष्ठके रानिर्वाहिका— धर्मबुद्धिः— तद्रूप— धर्मबुद्धियोगाः— साध्य
-
- १-साध्यवैराग्यहेतुऋषिदानुद्धियोगेन विकल्पित— सत्वाभ्यसत्तक— वैराग्यबुद्धियोग— विद्व
 - २-साध्यज्ञानहेतुऋषिदानुद्धियोगेन विकल्पित— सत्वाभ्यसत्तक— ज्ञानबुद्धियोगाः— विद्व
 - ३-साध्यवैश्वर्यहेतुऋषिदानुद्धियोगेन विकल्पित— सत्वाभ्यसत्तक— एश्वर्यबुद्धियोगाः— विद्व
 - ४-साध्यधर्महेतुऋषिदानुद्धियोगेन विकल्पित— सत्वाभ्यसत्तक— धर्मबुद्धियोगाः— विद्व

- (४) १-वराहदेवमुखाभ्युदियोगेन—वेदाभ्युदियोगेन—विद्वुदियोगेन
 २-खनदेवमुखाभ्युदियोगेन—खानाभ्युदियोगेन—विद्वुदियोगेन
 ३-पेरकर्मदेवमुखाभ्युदियोगेन—पेरकर्मभ्युदियोगेन—विद्वुदियोगेन
 ४-वर्मादेवमुखाभ्युदियोगेन—वर्माभ्युदियोगेन—विद्वुदियोगेन



[५]—विद्याभ्ययस्य-उपक्रमोपहारौ—

अभिवैशतम् — अक्षयसम्

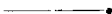
- १-योद्धशीपुत्राभ्ययः—प्रकाशना]—विद्याभ्ययस्य-उपक्रमस्थानम्
 २-अक्षयस्वयम्भू—राजसत्त्वा
 ३-महान् परमेष्ठी—महानात्मा } —विद्याभ्ययस्य-मध्यस्थानम्
 ४-अमृतनृत्यः — अमृतविज्ञानात्मा]—विद्याभ्ययस्य-उपसंहारस्थानम्



(६) —अविद्याभ्ययस्य-उपक्रमोपसंहारी—

अभिवैशतम् — अक्षयसम्

- ४-मन्त्रसूत्रम् — मन्त्रविज्ञानात्मा]—अविद्याभ्ययस्य-उपसंहारस्थानम्
 ३-अक्षयमा — प्रधानात्मा
 २-पार्ष्णिपदेन्द्रकः — पार्ष्णिपदेन्द्रकत्वात्मा } —अविद्याभ्ययस्य-मध्यस्थानम्
 १-भूविश्वः — शरीरम्]—अविद्याभ्ययस्य-उपसंहारस्थानम्



(७) अन्यदृष्ट्या विद्याभ्ययस्योपक्रमोपसंहारी—

अधिदैवतम्	—	अध्यात्मम्]	विद्याभ्यवस्योपक्रमस्थानम्
१-योद्धशीपुरुषाभ्यवः	—	प्रत्यगात्मा	}	विद्याभ्यवस्य मध्यस्थानम्
२-अभ्यस्तत्त्वबन्धुः	—	शान्तात्मा		
३-महान्परमेष्ठी	—	महानात्मा		
४-अमृतसूर्यः	—	अमृतविज्ञानात्मा		
५-मर्त्यसूर्यः	—	मर्त्यविज्ञानात्मा		
६-बन्धुमाः	—	प्रज्ञानात्मा		
७-पार्थिवदेवस्यम्	—	पार्थिवमोक्षदात्मा		
८-भूपिण्डः	—	शरीरम्]	विद्याभ्यवस्योपसंहारस्थानम्

(८) अविद्याभ्ययस्योपक्रमोपसंहारी—

अधिदैवतम्	—	अध्यात्मम्]	अविद्याभ्यवस्योपक्रमस्थानम्
१-भूमिबन्धुः	—	शरीरम्	}	अविद्याभ्यवस्य मध्यस्थानम्
२-पार्थिवदेवस्यम्	—	पार्थिवमोक्षदात्मा		
३-बन्धुमाः	—	प्रज्ञानात्मा		
४-मर्त्यसूर्यः	—	मर्त्यविज्ञानात्मा		
५-अमृतसूर्यः	—	अमृतविज्ञानात्मा		
६-महान्परमेष्ठी	—	महानात्मा		
७-अभ्यस्तत्त्वबन्धुः	—	शान्तात्मा		
८-योद्धशीपुरुषाभ्यवः	—	प्रत्यगात्मा]	अविद्याभ्यवस्योपसंहारस्थानम्

(६)

भूयिष्ठमकलम्य भूयस्तनित्वाय आत्मदर्शनम्	}	— अविद्याभ्युत्थानम्—तैसा अनन्तवद्वि (अत्र आत्मा उपलब्धः, शरीर-उपक्रम)
शरीरमकलम्य भूयस्तनित्वाय आत्मदर्शनम्		
षोडशीपुरुषाभ्ययमकलम्य अनास्तित्वाय आत्मदर्शनम्	}	— विद्याभ्युत्थानम्—तैसा आत्मरतिः (अत्र आत्मा-उपक्रमः, शरीर उपलब्धः)
प्रत्यक्षानानमवलम्ब्य अनास्तित्वाय आत्मदर्शनम्		



(१०) आत्मसोपानपरम्परानुगता-अव्ययसंस्थात्रयी-

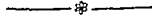
अविद्यैवतम् — अव्ययसोपानम्

१	१ षोडशीपुरुषाभ्ययम् — प्रत्यक्षात्मा १ अव्ययसोपानम् — शान्त्यात्मा १ महान्परमेष्ठी — महान्प्रज्ञात्मा	} — अमृताभ्युत्थाना 'अव्ययसोपान' प्रथमा
२	१ अमृतस्य — अमृतविज्ञानात्मा २ मर्त्यस्य — मर्त्यविज्ञानात्मा	} — अमृतमर्त्याभ्युत्थाना 'अमृतस्य' द्वितीया
३	१ अन्नमा — प्रधानात्मा २ पार्थिवदेवकलम् — पार्थिवमौक्तिकात्मा ३ मृषिणम् — शरीरम्	} — मर्त्यभ्युत्थाना-अन्नस्य तृतीया

(११) — प्राचीनामिमता योगत्रयी, तदाधारभूताः—आत्मविवर्चमात्रारथ—

शरीरापक्रमात्तुगता-मर्त्या-बुद्ध्युत्थारात्मिका मर्त्यात्मसंस्था प्राचीनामिमतयोगप्रतिष्ठा-
 अविद्यैवतम् — अव्ययसोपानम्
 मर्त्यस्य — मर्त्यस्युत्थानम् — अन्नस्य (अन्नस्य) — ज्ञानबोधभारभूमिः
 अन्नस्य — प्रधानात्मा — अन्नस्यमिच्छात्मा (अन्नस्यस्य) — मक्तिबोधभारभूमिः
 मृषिणम् — शरीरम् — अन्नस्यमिच्छात्मा (अन्नस्यस्य) — अन्नस्यस्यभारभूमिः

१-अध्यात्मतमानुगता	यागः-ज्ञानयागः	} पार्थिवदेवसत्यानुगता-पार्थिवमोक्षरत्ना योगानुगता अविद्यासुद्धिर्योगसाधनम् यत्नरूप योगफलम्
२-व्यवहारिकतमानुगता	योग-भक्तियोग	
३-व्यवहारिकतमानुगता	योग-कर्मयोग	



(१२)-गीतामिमता योगचतुष्टयी, तदाधारभूता-आत्मविशेषाभावाच्च-

आत्मोपक्रमानुगता-अमृता-सुदृढ पसहारात्मिका शरीरोपसहारात्मिका वा अमृतमत्यत्मसंस्था-
गीतामिमतयोगप्रतिष्ठा

तत्र-सर्वाभ्यासानुगता वैराग्यसुद्धियोगानुगता आत्मसंस्था प्रथमा-
अन्योपक्रममात्मिका, शरीरोपसहारात्मिका, सवात्मिका

मवाच्यम् -

अविर्वतम्

अध्यात्मम्

१-आत्मसंस्था-अन्य	}	१-यो-श्रीपुरुषान्यय -प्रत्यगात्मा	} वैराग्यसुद्धियोगमिता- ज्ञानसुद्धियोगः
२-विज्ञानसंस्था-अन्य		२-अध्यात्मसंस्था-ज्ञानरत्ना	
		३-महान्दरमेष्टी-महान्दरमा	
२-मनासंस्था-अन्य	}	४-अमृतसुखम्-अमृतसुखिज्ञानरत्ना	} वैशु योग-वैश्वसुद्धियोगः
		५-मर्त्यसुखम्-मर्त्यसुखिज्ञानरत्ना	
६-प्राणसंस्था-अन्य	}	६-चन्द्रमा-प्रज्ञानरत्ना	} वैशु योग-वैश्वसुद्धियोगः
७-साहसंस्था-अन्य		७-पार्थिवदेवसत्यानुगता-पार्थिवमोक्षरत्ना	
		८-भूमिदेव-पृथिवी	

पार्थिवदेवसत्यानुगता-पार्थिव-मोक्षरत्ना योगानुगता
धर्म-ज्ञान-वैश्वसुद्धियोगमिता वैश्वसुद्धियोग-योगसाधनम्
असह्यमात्रेण सर्वत्रापि योगफलम्
त एव-सर्वाभ्यासानुगता वैराग्यसुद्धियोगः-सर्वात्मिका

(१३)—प्राचीनामिमता-संशोधिता-बुद्धियोगात्मिका-योगप्रपी, तदाचारमूतान्यात्म-
विवर्तानि च—

१-ज्ञानबुद्धियोगमूला, अल्पकलात्मनूला, अल्पकलात्मोपक्रमोपसंहरात्मिका, अमृतप्रधाना-प्रथमा संस्था

—‘ज्ञानबुद्धियोगमूला’—

२-मनोमयमन्यनुगत्य, महानात्मनूला, महानात्मोपक्रमोपसंहरात्मिका-अमृतप्रधाना-द्वितीया संस्था

—‘ऐश्वर्य्यबुद्धियोगमूला’—

३-मायाबाह्यमन्यनुगत्य, विज्ञानात्मनूला, विज्ञानात्मोपक्रमोपसंहरात्मिका-अमृतप्रधाना-तृतीया संस्था

—‘धर्मबुद्धियोगमूला’—

१-असर्वज्ञत्व, आनन्दविज्ञानमयः ‘परब्रह्म’ (ब्रह्मरत्ना)-उत्पत्त्या-ब्रह्मरत्ना-अल्पकलात्मनूला

—ज्ञानबुद्धियोगाधार—

२-असर्वज्ञत्व, मनोमयः ‘परब्रह्मरत्न’ (ब्रह्मरत्ना)-उत्पत्त्या-ब्रह्मरत्ना-महानात्मनूला

—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधार—

३-असर्वज्ञत्व, मायाबाह्यमयः ‘अब्रह्मरत्न’ (ब्रह्मरत्ना)-उत्पत्त्या-ब्रह्मरत्ना-विज्ञानात्मनूला

—धर्मबुद्धियोगाधार—

४-सर्वज्ञत्व, आनन्दविज्ञानमयः ‘परब्रह्मरत्न’ (ब्रह्मरत्ना)-उत्पत्त्या-सर्वः प्रत्यक्षत्व-

—वैराग्यबुद्धियोगाधार—

स एषः-गीतारादान्तः

१३-पाठञ्जल योगसूत्र क ‘अविद्या’ शब्द का समन्वय—

विद्यप्रकार वैराग्य की प्रतिद्वन्द्विनी शब्द-दोषात्मिका आश्रित है, ऐश्वर्य्य की प्रतिद्वन्द्विनी अविद्या है धर्म का प्रतिद्वन्द्विनी अविद्यावैराग्य है एवमेव ज्ञान का प्रतिद्वन्द्विनी ‘माह’ माना गया है किन्तु तिर यन्मर्शन में ‘अविद्या’ शब्द प्रयुक्त हुआ है। एतत्ति धार्मिक दृष्टि से ज्ञान के प्रतिद्वन्द्विनी को ‘अविद्या’ शब्द संव्यवहृत करना ठीकीन माना जासकता है तथापि विज्ञानदृष्ट्या इसे अविद्या न कह कर ‘मोह’ करना ही अनर्थ करता है। कारण यह है। क्रोधात्मिका चारी बुद्धियाँ चारी ‘अविद्याबुद्धि’ हैं चारी मयात्मिका चारी बुद्धियाँ ‘विद्याबुद्धि’ हैं। विद्या का प्रतिद्वन्द्विनी शब्द अविद्या ही हो सकता है। विद्यात्मक धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य्य, इन चार माथों में निरस्त होख हुआ चार प्रकृ प्रकृ नामों से व्यवहृत हुआ है। ऐश्वर्य्य एता में चारी विद्याओं के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्विनी बना हुआ ‘अविद्या’ शब्द केवल अविद्या के लिए प्रयुक्त नहीं होसकता। यदि समुदाये दृष्टा शब्दाः-अवयवैवैवपि वचसत् न्याय व पाथे अविद्याबुद्धियों के लिए प्रयुक्त अविद्याशब्द अवयववृत्त अविद्या का प्रतिद्वन्द्विनी मान कर तथापि से यन्मर्शन में ‘अविद्या’ शब्द प्रयुक्त हुआ है तो इहावधि है। तब ही ज्ञानश्रु धर्म-ऐश्वर्य्य-वैराग्य, इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी ‘अविद्या’ शब्द का प्रयोग किया जासकता है। परन्तु वैशेष है-वैराग्य ने इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए अविद्या-

शब्द का प्रयोग न कर उनके वास्तविक-विषय-अभिनिवेश, अस्मिता, यगद्देव, नामों का ही ग्रहण किया है। अब दोनों के लिए नियत नामों का उल्लेख हुआ है तो चौथे ज्ञान की प्रतिबिम्बता के लिए भी 'मोक्ष' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए था और इस विज्ञानदृष्टि से 'अध्यात्मिकतावादादि' पाणिनिवेशाः पञ्च-कौश्यादः' का रूप 'मोक्षस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च कौश्या' यही होना चाहिए था। सम्भव है सुप्रचार ने—अन्य का उक्त विचार से होता है, अविद्या ज्ञान की शक्त है—यन्निष्काराहकशियेमसि इत इत्यम्बहार (लोकात्म्यवादाद) के आचार पर सामान्य जनों की सुविधा के लिए अविद्या शब्द का प्रयोग कर दिया हो। अतः, वस्तुतः यही है कि, सिद्धविद्यायुगत ज्ञानबुद्धिमता के स्वस्वरचित्त के लिए ज्ञान, और लक्ष्यप्रतिबन्धी मोक्ष इन दो शक्तों का स्वस्वरूपान्तरापेक्षित है। इसी की ओर पठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

१४—उभयज्योतिःप्रभवत्कं अन्तर्ज्योतिर्लक्षणा प्रत्यगात्मा—

'अमृतं वैध मृत्युञ्ज सप्तसहाहमलु न ।' इत्यादि योक्तिसिद्धान्तनुसार आत्मा अमृत-मृत्यु, इन दोनों में से मुक्त है। अमृतमात्र ज्ञान है, मृत्युमात्र कर्म है। ज्ञान की विश्ववैश्वक्यता 'रत' है, कर्म की विश्ववैश्वक्यता 'रज' है। रतावस्था में परियात कर्म मृत रहता है। अतएव सर्ववैश्वक्यता परत्पर रमैक्यन बनता हुआ विगुह ज्ञानरत्ना (रहस्य) बन रहा है। इस कर्मरहित-विच्छिन्न विश्ववैश्वक्य परत्पर को ही परावैश्वक्य माना गया है। योगावैश्वक्य यही परत्पर अपन अक्षिप्त प्रवेश से महाभाषा नामक सीमा-मात्रप्रभवक पञ्चक्रियेण स सीमित होकर 'अमृत्युपुरुष' नाम से व्यवहृत होने लगा है। इस अमृत्युपुरुष में स्वात्मक ज्ञानका स्वात्मक कर्म का भी उल्लेख होना है। रत-रज की तात्पार्यताका यही अन्वयार्थ 'ज्ञानकर्मरत्ना' कहलाया है। ज्ञानरहस्य वह ज्ञानरत्ना है, कर्मरहस्य कर्मरत्ना है। ज्ञानमात्र उक्तस्य अमृत है, कर्ममात्र अस्मदस्य मृत्यु है। दोनों के ध्यान से यह अमृत्युपुरुष अमृतलक्षणा बुद्धियोग से नित्य-मुक्त रहता हुआ नित्यमुक्त है। यही ज्ञानकर्मोपममूर्ति अमृत्युपुरुष आध्यात्मिक-इष्टपरिचित 'अमृत्युपुरुष' है, जिसे हमने 'अमृत्युपुरुष' नाम से व्यवहृत किया है, एवं जिसे सर्वयोगलक्षणा 'वैश्वक्यपुरुष' की आभारमूर्ति कहलाया गया है। ज्ञान और कर्म के अमृतलक्षणा वैश्वक्य से यह प्रत्यगात्मा स्वस्वरूप से नित्य मुक्त है जो अमृत्युपुरुष अमृत्युपुरुष अमृत्युपुरुष है। यह स्वात्मिकी भित्ति शक्ति ही इतकी स्वस्वता है। नित्य स्वस्व इस ज्ञानकर्मोपम प्रत्यगात्मा का ही नाम है—'अन्तर्ज्योतिः'। अन्तर्ज्योतिः ही अमृत्युपुरुष है, अमृत्युपुरुष ही आत्मज्योतिः है, यही अन्तर्ज्योतिः है।

इस अन्तर्ज्योतिर्लक्षणा अमृत्युपुरुष के ज्ञानज्योतिः, भूतज्योतिः, मेर से दो विषयों में गए हैं। रसात्मिक अन्तर्ज्योतिः ज्ञानज्योतिः है अन्तर्ज्योतिः कर्मज्योतिः भूतज्योतिः है। संकुचित लक्षणा विश्ववैश्वक्य ही उक्त लक्षणा ज्योतिर्मात्र है। यह आत्म्यात्म्य ज्ञान, और कर्मरूप से ही विश्ववैश्वक्य हुआ है। अतएव उक्त लक्षणा विश्ववैश्वक्य ज्ञान और कर्मरूप को अमृत्यु ही ज्योतिः शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। उक्त-ज्योतिर्मात्र ही प्रत्यगात्मा अपने ही ज्ञान-कर्म-वैश्वक्य से ज्योतिष्मान् बना हुआ है, अतएव यह प्रत्यगात्म-ज्योतिः 'स्वरोतिः' बना हुआ है। अमृत्युपुरुषका ज्ञानज्योतिः, मृत्युपुरुषका कर्मज्योतिः, इन दोनों लक्षणावैश्वक्य से ज्योतिष्मान् बना हुआ स्वस्ववैश्वक्य प्रत्यगात्मा ही 'अन्तर्ज्योतिः' है यही विज्ञानभाषा में 'पुरुषज्योतिः' नाम से व्यवहृत हुआ है।

शब्द का प्रयोग न कर उनके वास्तविक-नियत-अभिनिवेश, अस्मिता, यगहोष, नामों का ही ग्रहण किया है। इन तीनों के लिए निवृत्त नामों का उल्लेख हुआ है जो चौथे ज्ञान की प्रतिबन्धिता के लिए भी 'मोह' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए या और इस विधानदृष्टि से 'अविद्यास्मिधारणादेवाभिनिवेशा पञ्च-क्लेशा' का रूप 'मोहास्मिधारणादेवाभिनिवेशा पञ्च क्लेशा' यही होना चाहिए या। सम्भव है स्वप्न-वस्तु-ज्ञान का उद्भव विद्या से होता है अथवा ज्ञान की शक्त है—'अविद्यास्मिधारणादेवाभिनिवेशा पञ्च क्लेशा' के आधार पर अमान्य जनों की सुविधा के लिए अविद्या शब्द का प्रयोग कर दिया हो। अथ, वस्तु यही है कि, विद्यविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग के स्वरूपपरिचय के लिए ज्ञान, और उपप्रतिबन्धी मोह, इन दो शक्तों का स्वरूपज्ञान अनेकित है। इसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

१४-उत्तमज्योतिःप्रवर्तकं अन्तर्ज्योतिर्लिख्य प्रत्यगात्मा—

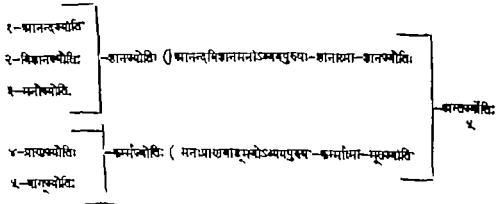
“अमृतं चैव मृत्युञ्जयं सर्वसत्त्वाहमसु न ।” इत्यादि गीतासिद्धान्तानुसार आत्मा अमृत-मृत्यु इन दोनों भावों से युक्त है। अमृतभाव ज्ञान है, मृत्युभाव कर्म है। ज्ञान की विश्वासीतावस्था 'स' है, कर्म की विश्वासीतावस्था 'ज' है। बलावस्था में परिच्युत कर्म तुल्य रहता है। अतएव सर्वव्यापित्वित्त परस्पर सौकर्यवत् बनता हुआ किण्वत् ज्ञानात्मा (रहात्मा) बन रहा है। इस कर्मात्मन्परिचित विश्वासीत परस्पर को ही योगासीत माना गया है। योगासीत यही परस्पर अपने अतिक्रिष्ट प्रदेश से महामाया नामक सीमा-मात्रप्रवचक अविद्योप से सीमित होकर अस्म्यपुरुष नाम से व्यवहृत होने लगता है। इस अस्म्यपुरुष में रह्यात्मक ज्ञानवत् बलात्मक कर्म का भी उद्रेक होता है। स-बल की साम्यावस्थाका यही अस्म्यपुरुष 'ज्ञानकर्मात्मा' कहलाता है। ज्ञानदृष्टि यही ज्ञानात्मा है, कर्मादृष्टि कर्मात्मा है। ज्ञानभाव लक्ष्य अमृत है, कर्माभाव अक्षयण मृत्यु है। दोनों के साम्य से यह अस्म्यपुरुष समत्वलक्षण बुद्धियोग से नित्य-युक्त रहता हुआ नित्यमृत है। यही अन्तर्ज्योतिर्मात्र अस्म्यपुरुष आध्यात्मिक-द्वयपरिचित 'प्रत्यगात्मा' है जिसे हमने 'ज्यात्म्य' नाम से व्यवहृत किया है एवं जिसे सर्वबोगलक्षण 'योगबुद्धियोग' की आधारभूमि कहनाया गया है। ज्ञान और कर्म के समत्वलक्षण वैयम्य से यह प्रत्यगात्मा स्वस्वकर्म से नित्य शांत है, योगभ्रित है आध्यात्मिक समुद्रफल् अक्षयप्रतिष्ठ है। यह आध्यात्मिकी नित्य शांति ही इसकी स्वस्वता है। नित्य स्वस्व इस ज्ञानकर्मात्मा का ही नाम है—'अन्तर्ज्योतिः'। अन्तर्प्रकाश ही आत्मप्रकाश है, आत्मप्रकाश ही आत्मज्योति है यही अन्तर्ज्योति है।

इस अन्तर्ज्योतिर्लिख्य आत्मप्रकाश के ज्ञानज्योति, मृत्युज्योति मेद से दो विवर्त माने गए हैं। स्वस्विक ज्ञानज्योति ज्ञानज्योति है अविद्या का कर्मात्मज्योति भूतज्योति है। संकुचित लक्ष्य का विकसितरूप ही उक्त लक्ष्य का ज्योतिर्भाव है। यह आत्मालम्ब ज्ञान और कर्मरूप से ही विकसित हुआ है। अतएव उसके स्वत विकसित ज्ञान, और कर्मरूप की अवस्था ही ज्योतिः शब्द से व्यवहृत किया जासकता है। उभय-ज्योतिर्मात्र यह प्रत्यगात्मा अपने ही ज्ञान-कर्म-विक्रम से ज्योतिमान बना हुआ है, अतएव यह प्रत्यगात्म-ज्योति 'स्वज्योति' बना हुआ है। अमृतलक्षणा ज्ञानज्योति, मृत्युलक्षणा कर्मात्मज्योति, इन दोनों स्वस्विकाओं से ज्योतिमान बना हुआ स्वस्वविवर्तन प्रत्यगात्मा ही 'अन्तर्ज्योति' है यही ज्ञानमाया में 'पुरुषज्योति' नाम से व्यवहृत हुआ है।

नाम ही 'आत्मज्योति' है। आनन्दज्योति से अत्यन्त स्वयम्भूलक्षणा प्राणज्योति विज्ञानज्योति से परमेष्ठी-लक्षणा अक्षरज्योति मनोज्योति से बागलक्षणा सूक्ष्मज्योति, प्राणज्योति से अक्षरलक्षणा चन्द्रज्योति, एवं वागज्योति से अक्षरलक्षणा पृथिवीज्योति अनुप्राणित है। इन पाँचों भक्त्योतियों से (प्रकृतिज्योतियों से) पाँचों ज्ञानज्योतियाँ (पुरुषज्योतियाँ) विरचानुगत कनी हुई हैं। ज्योति कस्तुतः ज्ञानात्मक रस का ही नाम है। वही ज्ञानरस क्लमप्रतिघटारतम्य से, द्विधा क्लमप्रतिघ के उत्तरोत्तर घनीभूत होने से पाँच कर्मों में परिणत हो जाता है। क्लमप्रतिघटारतम्यानुगता ज्ञानज्योति के क्लमप्रधान रूप ही 'कर्म' कहलाए हैं। ज्ञान का क्लमानुगत रूप ही कर्म है। अतएव कर्म को भी 'ज्योति' नाम से व्यक्तित्व करना अन्वर्थ बन जाता है। निष्कर्ष वही हुआ कि पञ्चधा विभक्त पुरुषज्योति ही अन्तर्ज्योति है यह ज्ञान-कर्म भेद से द्विधा विभक्त है एवं यह साम्यावस्थापका है। पञ्चधा विभक्त प्रकृतिज्योति ही बहिर्ज्योति है यह भी ज्ञानकर्म भेद से द्विधा विभक्त है, एवं यह विपनावस्थापका है। पञ्चज्योतिर्लक्षणा आत्मा, पञ्चज्योतिर्लक्षणा प्रकृति, दोनों की समष्टि 'पुरुष' है। एवं- 'पञ्चज्योतिरयं पुरुष' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुरुषसंस्था में मुक्त आत्मज्योति भी पञ्चधा विभक्त है, प्रकृतिज्योति भी पञ्चधा विभक्त है। निम्न लिखित परिच्छेदों से इस प्रतिपादित ज्योति-विदत्त का भलीभाँति स्वीकरण हो रहा है।

- १-आत्मज्योति (ज्ञानज्योति-अन्तर्ज्योति -पुरुषज्योति)
- २-विरक्तज्योति (भूतज्योति-बहिर्ज्योति-प्रकृतिज्योति)

१-आत्मज्योति





२-विश्वज्योतिः

१-प्रयागज्योतिः

२-अक्षज्योतिः

३-वाराणसज्योतिः

४-अश्वमेधज्योतिः

५-अश्वमेधज्योतिः

—ज्ञानज्योतिः (प्राण-अक्ष-बाह्यमयी-प्रकृतिः)-शनाप्रकृति-ज्ञानज्योतिः

—कर्मज्योतिः (वाक्-अक्ष-अक्षयमयी-प्रकृतिः)-कर्मप्रकृति-मृत्युज्योतिः

—विश्वज्योतिः
५



पुरुषात्मा	-प्राणव्यवस्था	-अभिव्यक्तम्	अम्बरात्मम्	पुरुषज्योतिर्विश्वं प्रकृतियज्योतिः अश्वमेधज्योतिः
१-ज्ञानप्रमितिः	-अणुलक्षणम्	-अक्षयम्	शान्तात्मा	
२-विज्ञानप्रमितिः	-अणुलक्षणम्	-परमेष्ठी	महानात्मा	
३-मनप्रमितिः	-बाणलक्षणम्	-अमृतसूर्यः	विद्यापुत्रिः	
४-मनोममितिः	-योगलक्षणम्	-मत्स्यसूर्यः	अविद्यापुत्रिः	पुरुषज्योतिर्विश्वं प्रकृतियज्योतिः मृत्युज्योतिः
५-प्राणप्रमितिः	-अश्वमेधलक्षणम्	-वज्रमा	मन	
६-अश्वमेधप्रमितिः	-अश्वमेधलक्षणम्	-मृगिणम्	शरीरम्	
अश्वमेधज्योतिः	-विश्वज्योतिः			
पुरुषज्योतिः	-प्रकृतियज्योतिः			

—पुरुषज्योतिर्विश्वं पुरुषः
पुरुषत्वेन प्राणव्या ५
अश्वमेधा पञ्चज्योतिः

१७-ब-घननिवर्षक-प्रवर्षक-गुरुप-प्रकृति-ज्योतिर्विर्षा-

'वमेव मान्दमनुमासि सर्वं, तस्म मासा सर्वमिदं विभासि' शशादि भुक्ति के अनुसार आत्म-
 भावित्वात्तद्व्याप्य पुत्रवन्मोति ही विरबन्मोतिर्लक्षणा प्रकृतिर्योति की आभारभूमि है। प्रस्यगाहमलक्षणा
 आत्मन्मोति ही तो शान्तात्मादि लक्षणा प्रकृतिर्योति-पञ्चक में परम्परया अत्रतीर्त्तं हुई है। स्वस्थान में
 वही आत्मन्मोति है, विरबस्थान में वही भूतन्मोति है। आत्मन्मोति निरुपाधिक है, भूतन्मोति सौपाधिक है।
 निरुपाधिक आत्मन्मोति त्रिगुणभाव से बहिर्भूत है सौपाधिक भूतन्मोति त्रिगुणभावनाक्रमन्त है। गुणातीता
 आत्मन्मोति अपने ही गुणात्मक भूतन्मोतिर्लक्षणा आवरण से उठी प्रकार आहूत हो जाती है, जैसे कर्णनामि
 (मकड़ी) स्त्रोत्रम बाल से, पुत्रप स्त्रोत्रम केशलोमी से लीह स्त्रोत्रम किट्ट (जैंग) से, तथा दुग्ध
 स्त्रोत्रम 'शर' (सर-मलाई) से आहूत हो जाता है। अपिदैवतर्ष्या में ज्ञान-कर्म-सञ्चालक पोष्यी-
 पुत्रप (ईश्वर) है। पूर्वकपनानुसार अपिदैवत र्ष्या पुत्रपप्रधाना है। पुत्रप के ज्ञान-कर्मभाग सम्प्राप्यवस्था
 फल है। इत सम्प्राप्य के अन्त, गीता के शब्दों में समस्वलक्षणा बुद्धियोगप्रभाव से प्रकृत्युत्पन्न भूतन्मोति
 का आवरण उठे आहूत करने में असमर्थ रह जाता है। अतएव वहाँ स्वन्मोतिर्विन आत्मा उक्त स्वरूप
 से विकसित रहता है। परन्तु अध्यात्मर्ष्या का प्रथम मुख्यरूप से 'प्रकृतितत्त्व जनता है। प्राणी-सृष्टि
 भूतप्रधाना है। भूतम् का उपक्रम भी प्रकृति है, उपसंहार भी प्रकृति है, बौद्धिक-अध्यात्मवीनि भूतानि,
 अध्यात्मनिर्वाण्येव' इत्यादि गीतावचन से प्रमाणित है। अध्यात्म (सत्त्व) अध्यात्मपुत्रप रहता है, परन्तु
 सक्त (उत्पत्ति) प्रकृति के द्वारा ही होता है-'मय्याभ्युद्येय प्रकृतिः सृजते स चराचरम्'। प्रकृति बीजवर्ण
 का भूतप्रभव है। प्रकृति गुणात्मिका जनती हुई सत्त्व-रज-तमोमयी है। अतएव प्रकृतिभाव से सम्बन्ध
 रखने वाला ज्ञान भी त्रिगुणभाव में परिणत हो जाता है, एवं कर्म भी त्रिगुणत्मक बन जाता है। कलाना
 गया है कि आत्मन्मोतिर्लक्षणा आत्मा का आनन्दविज्ञानमनोमेव माग ज्ञानन्मोति है, मन-प्राणबाह्यमय माग
 कर्मन्मोति है, वही भूतन्मोति है। इत्यकार केवल आत्मन्मोतिर्लक्षणा अन्तन्मोति (ज्ञानम्यादि) में ही
 ज्ञानात्मा, कर्मज्ञान, के सम्बन्ध से ज्ञान-भूत, दोनों ज्योतिषों का उपमागत स्थि हो रहा है। यह भूतन्मोति
 आत्मा का स्वरूपधर्म है अतएव यह कथननिर्वाहक बनती हुई आत्मस्वरूप में ही अन्तभूत है।
 अतएव आत्मानुगत ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतिषों को केवल 'ज्ञानन्मोति' नाम से ही व्यवहृत कर दिया
 जाता है। एवमेव बहिर्मोतिर्लक्षणा विश्व का शान्तात्मा-महानात्मा-निघातुर्दिपय माग ज्ञानन्मोति है
 अधिष्ठातुरि-मन-शरीरमय माग कर्मन्मोति है, वही भूतन्मोति है। इत्यकार केवल विश्वम्यात्तिर्लक्षणा
 बहिर्मोति (भूतन्मोति) में भी ज्ञानात्मा, कर्मज्ञान का सम्बन्ध से ज्ञान भूत, दोनों ज्योतिषों का उभयो
 स्थि हो रहा है। यह उभयोस्थि का भूतन्मोति आत्मा का परधर्म है अतएव यह कथननिर्वाहक बनती
 हुई आत्मस्वरूप से वृत्त मानी गई है। अतएव विश्वानुगत ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतिषों को केवल 'भूतन्मोति'
 नाम से ही व्यवहृत किया गया है।

ॐ

(१) आत्मज्योतिः, पुरुषज्योतिः, भन्तज्योतिः, ज्ञानज्योतिः, स्वज्योतिः—

१-आनन्दविज्ञाननानामयोऽख्य—ज्ञानात्मको विद्यात्मा—ज्ञानज्योतिः

२-मनःप्राणबाह्मयोऽख्यः—कर्मात्मको भूतात्मा—भूतज्योतिः

} ज्ञानज्योतिः १

ॐ

(२) विश्वज्योतिः, प्रकृतिज्योतिः, वहिर्ज्योतिः, भूतज्योतिः, परज्योतिः—

१-शान्तात्म-महानात्म-विद्याबुद्धिपारममयः—ज्ञानात्मको विद्यात्मा—ज्ञानज्योतिः

२-अविद्याबुद्धिपारम-प्रज्ञान-त्म-शरीरात्ममय-कर्मात्मको भूतात्मा—भूतज्योतिः

} भूतज्योतिः २

ॐ

१८-शुद्धसच्चिदानन्दसिद्धविद्या—

कह मना है कि - 'अनादिरवर्णाभिगुण्यस्वात् परमात्मात्मव्यसः' के अतुल्य ज्ञानकर्मात्मिनिर्मल प्रत्यात्मसत्त्वक कर्ममुक्तर गुणगोष्ठ कता हुआ निगुण है। इस निगुणभाव के कारण ही विद्याबुद्धिबुद्ध्यो से सम्बन्ध गीतानुगत बुद्धियोगबुद्ध्यो निगुणभावपर्यवर्तिका कती हुई अकल्पना सिद्ध हो रही है। अकल्पमानानुगत अन्तर्ज्ञान तथा अन्त कर्म विद्युदकारिक ज्ञान, एवं विद्युद निवृत्तिकर्म है। यह ज्ञान और कर्म दोनों स्वस्वरूप से अकल्पानुगत अमृतभाव से सम्बन्ध है। नानाकारण मृत्युभाव का प्रवेश यहाँ कर्षा अकल्प है। गुहातीय यही अज्ञानज्ञान विद्युदकारिक ज्ञान कर्षाया है। आत्मकर्म विद्युदकारिक कर्म कर्षाया है। एवंविध कारिक ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित कारिक निवृत्तिकर्म ही ज्ञानबुद्धियोगानुगत सिद्धविद्ये की मूलप्रतिष्ठ कता है। किन्तु स्वस्वरूपव्येक्य के लिए ही अतीतिर्विकर्षो का प्राक्विक स्वीकरण हुआ है।

१९-गुह्यानुगत-ज्ञानकर्माहन्द्र के विरिध विवर्ध—

अब दो शर्तों में गुह्यानुगत ज्ञानकर्माहन्द्रों का भी स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लीजिए। प्रकृतिज्योतिः की लीमा में मुक्त आनन्दा कर्मात्मा दोनों विकर्ष गुहाप्रती के सम्बन्ध से लीन लीन माया में निवृत्त हो रहे हैं। यह विद्य ही इस विरकल्याति का प्राग्भाव है। शान्तात्मानुगत ज्ञान मन्दिनसत्त्वगुहात्मक ज्ञान है। तदनुगत अविद्याबुद्धि-उदक कर्म मन्दिनसत्त्वगुहात्मक कर्म है। यह पहिला ज्ञानकर्माहन्द्र ही प्राचीनामिमत् 'ज्ञानयोग' की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यात्मानुगत निगुणसत्त्व ज्ञानकर्म से मुक्त होकर गीतामिमत् 'ज्ञानबुद्धियोग' में परिणत हो जाता है। महानात्मानुगत ज्ञान रबोद्युत्तमक ज्ञान है तदनुगत प्रहानयन-उदक कर्म रबोद्युत्तमक कर्म है। यह द्वितीया ज्ञानकर्माहन्द्र ही प्राचीनामिमत् अविद्ये की प्रतिष्ठ है। यही अकल्पसत्त्वमयि से मुक्त होकर गीतामिमत् 'विरकर्मबुद्धियोग' में परिणत हो जाता है। अविद्य-बुद्धयानुगत-ज्ञान अन्तेगुणसम्बन्ध ज्ञान है तदनुगत शरीरसत्त्वक कर्म रबोद्युत्तमक कर्म है। यही त्रितीया ज्ञानकर्माहन्द्र ही प्राचीनामिमत् कर्मयोग की प्रतिष्ठ है। यही प्रत्यात्मसत्त्वमयि से मुक्त होकर

यं धर्मिण्य 'धर्म्युद्धियोग' स्वस्म में परिणत हो जाता है। तत्सर्व्व यह निकला कि, प्राक्तात्मविवर्त्तो में मे शान्तात्मा महानात्मा अमूर्त्तविज्ञानात्मा, के तीन ही ज्ञानात्मा हैं एवं स्मर्त्तविज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा शरीरात्मा, तीन कर्मरूपा हैं। शान्तात्मानुगत ज्ञान एवं स्मर्त्तविज्ञानात्मक कर्म तार्त्तिक ज्ञानकर्म द्वन्द्व है। महानात्मानुगत-ज्ञान एवं प्रज्ञानात्मक कर्म राक्षस ज्ञानकर्म द्वन्द्व है। अमूर्त्तविज्ञानात्मक ज्ञान एवं शरीरात्मक कर्म हास्य ज्ञान कर्मद्वन्द्व है। शान्तात्मक ज्ञान सत्त्वानुगत 'ज्ञान' है महानात्मक ज्ञान रजोऽनुगत 'विज्ञान' है * विद्या-बुद्धिपात्रात्मक ज्ञान तमोऽनुगत 'अज्ञान' है। इसप्रकार शान्तात्म-महानात्म-विद्याबुद्धिपात्रात्मक प्राकृत ज्ञान सत्त्व-रज-तमोमेघ से ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान, इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। यही गुणात्मिक ज्ञानत्रयी का िगदरुति है। अविद्याबुद्धिपानुगत कर्म सत्त्वानुगत 'कर्म' है प्रज्ञानात्मक कर्म रजोऽनुगत 'विकर्म' है। एवं शरीरात्मक कर्म तमोऽनुगत 'अकर्म' है। इसप्रकार अविद्याबुद्धिपात्र-प्रज्ञानात्म-शरीरात्मक प्राकृत कर्म सत्त्व-रज-तमोमेघ से कर्म-विकर्म-अकर्म इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। ज्ञान और कर्म यह प्राकृतिक द्वन्द्व अनुकूलवेदानात्मक सुख की प्राप्ति का कारण माना गया है, जो तत्त्वतः दुःख ही है। विज्ञान विकर्म और अज्ञान-अकर्म, दोनों द्वन्द्व प्रतिकूलवेदानात्मक दुःख की प्राप्ति के कारण माने गए हैं। सुख-दुःख दो ही सुखप्रसवक कारण हैं। अतएव अन्तर्मोक्षोदक प्रसंगात्मा के अनुग्रह से पञ्चवैत बहिर्योर्त्तिर्लक्षण प्राकृतप्रमा के मित्रिबिषय में बद्ध बीजत्मा प्रकृत्या अविद्या में सुखी ही बने रहते हैं- अविद्याव्याप्य ही प्रसंगात्माग्राम-बुद्धियोगेशान् (गीता) प्रवृत्त हुआ है।

१	१-शान्तात्मा	(ज्ञानात्मा)-सत्त्वानुगत ज्ञानम्-ज्ञानम्	— ऐश ज्ञानत्रयी (ज्ञानत्रयोक्ति) (महत्सुखम्)
	२-महानात्मा	(ज्ञानात्मा)-रजोऽनुगत ज्ञानम्-विज्ञानम्	
	३-विद्याबुद्धिपात्रात्मा	(ज्ञानात्मा)-तमोऽनुगत ज्ञानम्-अज्ञानम्	
२	१-अविद्याबुद्धिपात्रात्मा	(कर्मरूपा)-सत्त्वानुगत कर्म-कर्म	— ऐश कर्मत्रयी (कर्मत्रयोक्ति) (महत्सुखम्)
	२-प्रज्ञानात्मा	(कर्मरूपा)-रजोऽनुगत कर्म-विकर्म	
	३-शरीरात्मा	(कर्मरूपा)-तमोऽनुगत कर्म-अकर्म	

सत्त्व-रज-तमोमेघ-आशुभ्याम्
बुद्धिपात्रात्मा

* यहाँ विद्या से त्रयीविद्या धर्मिणै ताई जो स्वर्गयुजा है विद्युत्प्रकाशमय अविद्यात्मिक विद्या है, जिसके लक्षण 'त्रैगुण्यविषय वेदा' कहा गया है। एवं, जो वेदोक्तस्वीकृत विद्याकर्म की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है।

१	१-शान्तात्मननुगर्त-रानसकषण-‘ज्ञानम्’ २-अविद्यादुःखनुगर्त-कर्मलक्षण-‘कर्म’	ज्ञानकर्मन्मा-प्राचीनामिमताजनयेत्प्रथमम्
२	१-महानात्मननुगर्त-विज्ञानलक्षण-‘ज्ञानम्’ २-शान्तात्मननुगर्त-विकर्मलक्षण-‘कर्म’	विज्ञानविकर्मन्मा-या काम्भक्तिप्राणाधारः
३	१-विद्यात्मननुगर्त-अज्ञानलक्षण-‘ज्ञानम्’ २-शरीरनुगर्त-अकर्मलक्षण-‘कर्म’	अज्ञानकर्मन्मा-प्रा काम्भक्तिप्राणाधारः

२०-प्राकृतात्मत्रयी, एवं तदनुगता प्राचीनामिमता योगत्रयी-

अज्ञानजन्य कर्मलक्ष्य कर्मात्मिक वा प्रवर्तक कृत्य हुआ ही काश्य कर्मयोग की प्रतियुक्त कृत्य है। यहाँ जल अतिशय रूप से कामात्मिक के द्वारा अभिभूत रहता है। अतएव अज्ञानजन्यक ज्ञान अकर्मजन्यक कर्म-तदनुगतर ज्ञान कर्म दोनों के रहते भी यह योग केवल 'कर्मयोग' ही कहा जाय है। विज्ञानजन्यक विकर्मलक्ष्य कामात्मिक वा प्रवर्तक कृत्य हुआ ही काश्य भक्तियोग की प्रतियुक्त कृत्य है। विज्ञानविकर्मात्मिक एक ज्ञानकर्मजन्यकषयी के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ ज्ञानकर्मलक्ष्य के ज्ञान मय से अज्ञानजन्यक कर्मलक्ष्य के कर्ममय से दोनों से युक्त बना हुआ है। अतएव उनकात्मक यह योग 'मद्वैतियोग' कहा जाय है किन्तु अर्थ है ज्ञानकर आधिभौतिकतत्त्व कर्मरूप आधिभौतिकतत्त्व इन दोनों का समन्वित रूप। अज्ञानजन्य कर्मलक्ष्य ज्ञानात्मिक वा प्रवर्तक कृत्य हुआ ही कर्मलक्ष्यकषण रानुगता की प्रतियुक्त कृत्य है। यहाँ कर्म अतिशय रूप से ज्ञानात्मिक के द्वारा अभिभूत रहता है। अतएव अज्ञानजन्यक ज्ञान कर्मजन्यक कर्म-तदनुगतर दोनों के रहते भी यह योग केवल 'ज्ञानयोग' ही कहा जाय है। ज्ञान आधिभौतिक तत्त्व माना गया है कर्म आधिभौतिक तत्त्व माना गया है। अज्ञानजन्य कर्मलक्ष्य ज्ञानप्राधान्य से आधिभौतिक है, अतएव तदनुगतर प्राचीनामिमता ज्ञानप्राय में काश्य-आपन दोनों आधिभौतिक माने गए हैं। विज्ञानजन्यक विकर्मलक्ष्यक ज्ञानकर्मजन्यक न ज्ञानरहित है। अतएव तदनुगतर प्राचीनामिमता मक्तियोग में काश्य आधिभौतिक माना गया है, अतएव आधिभौतिक माना गया है। अज्ञानजन्यक अकर्मलक्ष्यक कर्मप्राधान्य से आधिभौतिक है। अतएव तदनुगतर प्राचीनामिमता कर्मरूप में काश्य, अतएव दोनों आधिभौतिक माने गए हैं। वैश्विक कर्म-ज्ञान-वैदिक-वैश्विकानुगतरों में किन्तु से निश्चय किया जा चुका है।

१	ज्ञानात्मकं ज्ञानम्—आधिदैविकम्—उपभयम् ज्ञानात्मकं कर्म—आधिदैविकम्—उपभयम्	—ज्ञानकर्ममातृगुणो ज्ञानयोग—आधिदैविकः
२	विज्ञानात्मकं ज्ञानम्—आधिभौतिकम्—उपभयम् विकर्मात्मकं कर्म—आधिभौतिकम्—उपभयम्	—विज्ञानविकर्मात्मको मक्तियोग—दैविकभौतिकः
३	कर्मात्मकं ज्ञानम्—आधिभौतिकम्—उपभयम् कर्मात्मकं कर्म—आधिभौतिकम्—उपभयम्	—अज्ञानाकर्मात्मकः कर्मयोग—आधिभौतिकः

२१—निरूपिता योगप्रतीक्षा की प्रासङ्गिकी विषय समस्या—

उपस्था का अभी पूरा पूरा स्पष्टीकरण इच्छित नहीं हुआ है कि गुरुभ्यवहार के अनुसार 'अकर्म' का अर्थ निरर्थक कर्म माना गया है, विकर्म का अर्थ शास्त्रविरुद्ध कर्म माना गया है, तथा कर्म का अर्थ शास्त्रसिद्ध कर्म माना गया है। एवमेव अज्ञान का अर्थ भ्रम, विज्ञान का अर्थ विकल्पज्ञान एवं ज्ञान का अर्थ शास्त्रज्ञान माना गया है। उपर प्राचीनाभिमत योगप्रतीक्षा-कर्म—अज्ञाननिवृत्तता भये ही हो, परन्तु है वह शास्त्रसिद्ध। वेदशास्त्र के कर्मप्रधान ब्राह्मणशास्त्र के आधार पर वेदोक्त कर्म कर्म योग प्रसिद्धि है। आर्यशास्त्र के आधार पर कर्म मक्तियोग प्रसिद्धि है। एवं उपनिषद्भाग के आधार पर ज्ञानयोग प्रसिद्धि है। और तीनों योग कर्म शास्त्रसिद्ध परन्तु ज्ञानरूप अन्यत्, तीनों आधारों से अनुगत है। अकर्म तो उसे कहना चाहिये, जिसका कोई फल न हो। विकर्म तो उसे माना जाना चाहिये, जिसमें शास्त्रविधि की उपेक्षा हो। अज्ञान तो उसे कहना चाहिये, जहाँ बुद्धि कुचिठ हो जाती हो, विज्ञान तो उसे मानना चाहिये, जिसमें शास्त्रज्ञान की उपेक्षा हो। देखते हैं—वेदोक्त कर्म—मक्ति-ज्ञान तीनों ही योग शास्त्र-सिद्ध ज्ञान-कर्मात्मक बने हुए हैं। फिर योगप्रतीक्षा के सम्बन्ध में अज्ञान-अकर्म्यादि को किस आधार पर मूलप्रसिद्ध मान लिया गया है, यह एक समस्या उपस्थित हो जाती है इसके निराकरण के लिए उपर इन्द्र-प्रतीक्षा के विद्वत्साधक का स्पष्टीकरण आवश्यक बन रहा है।

२२—आत्मानुगता ज्ञानकर्मप्रतीक्षा के सहजसिद्ध त्रिवृत्साधक—

मनस्तत्त्व ज्ञानमय है प्राकृतत्व क्रियामय है वास्तव्य अर्थमय है। मनोमय ज्ञान 'ज्ञान' है, प्राकृत-मयी क्रिया 'कर्म' है एवं वास्तव्य भूत 'अर्थ' है। त्रिवृत्साधक में 'ज्ञान-कर्म-अर्थ' पर ही तब कुल विभान्त

उभोगुणानुगत शुक्रात्मा अज्ञानरूपमर्मात्मा है। त्रिगुणात्मक इन तीनों आत्मविवर्तों में सर्वगुणानुगत अमृतप्रम-
विवर्त गुणत्रय की प्रतिष्ठाया से युक्त रहता हुआ भी अपने स्वानुगत-अभ्यन्तगुण-विशुद्धस्त्वानुगत-स्वरूप से
गुणादीत माना गया है। विशुद्ध स्वरूपक स्मृतिलाक्षण सर्वाभ्यन्त, और स्वानुगत अमृताभ्यन्त, दोनों अभिन्न
हैं। अतएव सर्वाभ्यन्तक इस अक्षरार्थपलाक्षण-उत्वात्मक अमृतात्मविवर्त को भी गुणादीत ही माना जायगा।
गुणत्रयी का वास्तविक विच्छेद होता है वृद्धे ब्रह्मात्मविवर्त में। तीसरे शुक्रात्मविवर्त गुणत्रयी का अक्षय-
निक विच्छेदरूप है अतएव शुक्रात्मक विरव से अनुगत गुणमात्र गुण न कहला कर 'आवरण' नाम से
व्यवहृत हुआ है। शुक्रात्मानुगता गुणत्रयी 'आवरण' है, ब्रह्मात्मानुगता गुणत्रयी 'गुण' है, अमृतात्मानुगत
गुणमात्र 'कला' है, एवं सर्वाभ्यन्तगुण त्रिगुणात्मक गुणमात्र (विशुद्धस्त्वमात्र) 'माया' है। मायागुण
सर्वाभ्यन्त, कलागुण अमृतात्मा गुणानुगत ब्रह्मात्मा एवं आवरणानुगत शुक्रात्मा, यही त्रिगुणात्मक है
जिसके तीन पाद मात्रात्मक (अक्षयप्रत्यय) हैं, चौथा पाद अमात्रिक है। इसी आधार पर- 'ब्रह्मसूत्र' वा इयं
सर्वम् अनुगम प्रतिष्ठित हुआ है। इन आत्मविवर्तों को लक्षण बनाते हुए ही हमें ज्ञान-रूपम द्वयों का
स्मन्वय करना है। अतः स्मन्वय से पहिले परिलोकनद्वारा उनसे विच्छेद पदत्रयी को लक्ष्य बना लेना चाहिये।

- (१)-१-आनन्दविज्ञानमनःप्राणबाहुषन्-सर्वाभ्यन्त-माया-शुक्र-त्रिगुणात्मा (विरवादीतः)
 २-आनन्दविज्ञानमनामय-सर्वाभ्यन्त-कला-शुक्र-विशुद्धस्त्वत्मा (विरवाचारः)
 ३-मनःप्राणबाहुषन्-सर्वाभ्यन्त-गुण-शुक्र-गुणात्मा (विरवकर्ता)
 ४-आगादीऽनिमयः-सर्वाभ्यन्त-आवरण-शुक्र-आवरणात्मा (विरवम्)



- | | | | | | | | | |
|--------------------|---|-------------|---|-------|---|----------------|---------------|----------------------------|
| (१)-१-त्रिगुणात्मा | — | उदात्ता | — | उदेव | — | उर्ध्वोतिः | } आत्मभ्योतिः | } -प्रकाशतिः
(आत्मन्वी) |
| २-उत्तरात्मा | — | अमृतात्म | — | अमृतम | — | अन्तर्भ्योतिः | | |
| ३-गुणात्मा | — | ब्रह्मात्मा | — | उदेव | — | पश्चिम्भ्योतिः | | |
| ४-आवरणात्मा | — | शुक्रात्मा | — | उदेव | — | शुक्रम | | |



(१)-१-दशरुमा-अध्वय-परतस्त पुरय-अमाविक-अखरखरकोट-	उत्सोपनिषत् 'मोम्' इति
२-अनुवृत्त्या-अध्वयस्य-अकापतनक-खरखरकोट-	
३-अद्वारुमा-अध्वयमा-उत्सोपनिष-खर	
४-शुक्ररुमा-अध्वयमा-नक्षरतनक-कर्तुमाव-	

(८)-

१-मनोमेवं मन -मानम् (ज्ञानम्) -मानसम् ज्ञानम्	ज्ञानम्-विज्ञानमनोमेवं 'मनः'-अनम् - 'मनस्तनम्' -
२-मनोमेवः प्राणः -विज्ञानम् (क्रिया) -अनासिन्ध क्रिया	
३-मनोमेवी वाक् -मन (अर्थः) -ज्ञानस्यकोऽर्थः	
१-प्राणमेवं मना -मन (ज्ञानम्) -क्रियासम् ज्ञानम्	मनःप्राणवाक्-अनम् 'प्राण'-क्रिया - 'प्राणस्तनम्' -
२-प्राणमेवः प्राणः -प्राणः (क्रिया) -क्रियासिन्ध क्रिया	
३-प्राणमेवी वाक् -वाक् (अर्थः) -क्रियास्यकोऽर्थः	
१-वाङ्मेवं मनः -वाक् (ज्ञानम्) -अवाङ्मेवं ज्ञानम्	वाङ्मेवोऽपिमेवी 'वाङ्'-अर्थः - 'वाङ्स्तनम्' -
२-वाङ्मेवः प्राणः -वाङ् (क्रिया) -अर्थासिन्ध क्रिया	
३-वाङ्मेवी वाक् -वाङ् (अर्थः) -अवाङ्मेवोऽर्थः	

(५)-१-अमस्तनम् -अतन्मा -'अमस्तनम्'-ज्ञानस्यसिन्ध
२-अत्यस्तनम् -अमस्तथा -'अस्त' -विज्ञानसिन्धमातृ
३-वाङ्स्तनम् -अवाङ्मा -'शुक्रम्' -अज्ञानस्यसिन्ध

(६) प्रकारान्तरेण—

- १-आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्धन-सर्वाभ्यस्यः-परस्पर (माया) -सर्वाचारो निरवधारः
 २-आनन्दविज्ञानमनोऽसर्वाभ्यस्य-—-—-पुरुष (कृष्ण) -विरवाचारो निगुणः
 ३-मनोमयोऽसर्वाभ्यस्यः-—-—-प्रकृतिः (गुणः) -विरवकर्त्री सगुणा
 ४-प्राणवाग्धनयोऽसर्वाभ्यस्यः-—-—-विकृतिः (आवरणम्) -विरवप्रमथा सावरणः



(७) गुणानुगतविचर्चमावाः—

(सर्वसप्रहः)—

१-आनन्दविज्ञानधन-मनोमय-प्राणगमिष्ठा-वाक्-सत्त्वात्मा-सर्वाभ्यस्यः]-सर्वात्मा (१)-सर्वसत्त्वम्

- | | |
|----------------------------------------------------------------------|------------------------------------|
| आनन्दमयं मनः (मनः) -सत्त्वानुगतं सत्त्वम् (सत्त्वम्) -परम्भ्यस्यः | }—सर्वाभ्यस्यत्मा (२)-सर्वसत्त्वम् |
| २-विज्ञानमयं मनः (प्राणः) -सत्त्वानुगतं रजः (सत्त्वम्) -परवराभ्यस्यः | |
| मनोमयं मनः (वाक्) -सत्त्वानुगतं तमः (सत्त्वम्) -अवरणभ्यस्यः | |

- | | |
|------------------------------------------------------------|------------------------------|
| मनोमयः प्राणः (मनः) -रजोऽनुगतं सत्त्वम् (रजः) -शान्तात्मा | }—सत्त्वपत्मा (१) रजसत्त्वम् |
| ३ प्राणमयः प्राणः (प्राणः) -रजोऽनुगतं रजः (रजः) -मदानात्मा | |
| वाक्मयः प्राणः (वाक्) -रजोऽनुगतं तमः (रजः) -विज्ञानात्मा | |

- | | |
|-----------------------------------------------------------|------------------------------|
| वाक्मयी वाक् (मनः) -तमोऽनुगतं सत्त्वम् (तमः) -विकृतात्मा | }—सत्त्वपत्मा (४) तमसत्त्वम् |
| ४ आप्तमयी वाक् (प्राणः) -तमोऽनुगतं रजः (तमः) -प्रधानात्मा | |
| अग्निमयी वाक् (वाक्) -तमोऽनुगतं तमः (तमः) -वरीपत्मा | |



१-उर्ध्वतन्त्राणामः	उर्ध्वतन्त्राः	ब्रह्मसुखियोगस्य आचारभूमिः	गीतासम्प्रदाय-योगसूत्रयो (निर्गुण-योगसूत्रयो)
२-उत्पन्नानुगतः	पराध्वजः	ज्ञानसुखियोगस्याचारभूमिः	
३-उत्पन्नानुगतः	पराध्वजस्यः	श्रेष्ठसुखियोगस्याचारभूमिः	
४-उत्पन्नानुगतः	अध्वजस्यः	धम्मसुखियोगस्याचारभूमिः	

१-उत्पन्नानुगतः	दानात्मना	धर्मस्यागतज्ञानयोगस्याचारभूमिः	साधनाभिप्राय योगसू (सुखा-धर्मसू)
२-उत्पन्नानुगतः	नदानात्मना	धर्मनात्मसुखियोगस्याचारभूमिः	
३-उत्पन्नानुगतः	विज्ञानात्मना	धर्मसुखियोगस्याचारभूमिः	

१-उत्पन्नानुगतः	विज्ञानात्मना	साधिकात्मनस्याचारभूमिः	सोपनिषत् योगसू (साधिका-योगसू)
२-उत्पन्नानुगतः	पदानात्मना	साधिकात्मनस्याचारभूमिः	
३-उत्पन्नानुगतः	शरीरात्मना	साधिकात्मनस्याचारभूमिः	

२४-गुणालुगता ज्ञानधर्मप्रयी के विद्वत्प (६) —

ज्ञान विद्वान् अज्ञान, धर्मों सम्बन्ध विद्वत्प के आचार पर तीन तीन धर्मों से सम्बन्ध रखते हैं। पहिले ज्ञानार्थप्रयी का ही सम्बन्ध कीजिए। ज्ञान के अर्थ होते हैं-तत्त्वज्ञान, सात्विकज्ञान, स्वच्छज्ञान। आत्मज्ञान तत्त्वज्ञान है आत्मज्ञानोपरिक सात्विकज्ञान सात्विकज्ञान है। तत्त्वज्ञान स्वच्छज्ञान सात्विकज्ञान है। परी स्थिति विद्वानात्मक ज्ञान की है। 'वि' उपसर्ग के विरोध, विविध विद्वत्, तीन अर्थ हुए हैं। पहिले विरोधज्ञान भी विद्वान् है विविधज्ञान भी विद्वान् है विद्वत्ज्ञान भी विद्वान् है। विरोधज्ञानात्मक विद्वान् तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। विविधज्ञानात्मक विद्वान् सात्विकज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। एवं विद्वत्ज्ञानात्मक विद्वान् स्वच्छज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। परी स्थिति अज्ञानात्मक ज्ञान की अनभिष्ट। 'अज्ञान' शब्द अन्वेषी 'नम्' अन्वेषार्थक नहीं है अन्वेष पर्यं का 'नम्' अन्वेष अनुभव अन्वेष, मन्त्रों का ही अन्वेषक बना हुआ है। अन्वेषज्ञान भी अज्ञान है अनुभवज्ञानक ज्ञान भी अज्ञान है, अन्वेषज्ञान भी अज्ञान है। अन्वेषज्ञानात्मक अज्ञान तत्त्वज्ञान से अनुभवज्ञानक (सात्विक) अज्ञान सात्विकज्ञान से, एवं अन्वेषज्ञानात्मक अज्ञान स्वच्छज्ञान से अनुगमित है। परी ज्ञान-विद्वान्-अज्ञान प्रयी के विद्वत्प का तद्विषय विद्वान् है।

इसीप्रकार कर्म-विकर्म-अकर्म तीनों शब्द भी त्रिहृत्मात्र के आचार पर तीन तीन अर्थों में विभक्त हो रहे हैं। तात्त्विक कर्म शास्त्रीय कर्म, व्यावहारिक कर्म तीनों 'कर्म' कर्म शब्द से संघटित हैं। आत्मज्ञानात्मक तत्त्व ज्ञान से उद्बन्धकर्म (यज्ञार्थकर्म) लक्ष्य आत्मनिष्पन्न तात्त्विक कर्म अनुपपत्ति हैं। आत्मज्ञानोपमिष्य शब्दज्ञानात्मक शास्त्रज्ञान से शास्त्रीय कर्म अनुपपत्ति हैं। एवं लोकस्ववहारलक्ष्यात्मक व्यवहारज्ञान से व्यावहारिक कर्म अनुपपत्ति हैं। यही पक्षिणी कर्मत्रयी है। विशेषकर्म, विविधकर्म, विकट-कर्म, तीनों 'विकर्म' शब्द से संघटित हैं। विशेष कर्म विशेष ज्ञानाचार पर, विविध कर्म विविध ज्ञानाचार पर, एवं विकट कर्म विकट ज्ञानाचार पर प्रतिष्ठित हैं। यही वृष्टी विकर्मत्रयी है। अश्रेय कर्म, अमात्मक तात्त्विक अनुभवलक्ष्य कर्म अस्वकर्मार्थक (निरर्थककर्मार्थक) कर्म, तीनों अकर्म अकर्म शब्द से संघटित हैं। यही तीसरी अकर्मत्रयी है जिसे अश्रेय कर्मार्थक अकर्म तत्त्वज्ञान से अनुभवकर्मार्थक अकर्म शास्त्रज्ञान से तथा अस्वकर्मार्थक अकर्म व्यवहारज्ञान से अनुपपत्ति माना गया है।।

निष्कर्षतः त्रिहृत्मात्र से ज्ञानत्रयी, कर्मत्रयी, दोनों के ९-९ विषय हो जाते हैं। पूर्वपर्यन्त गुणानुगत ९ विषय मर्कों के साथ क्रमशः इन ९ ज्ञानकर्मद्वन्द्वों का सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध स्वस्व ज्ञान से ही उस विप्रतिपदि का मत्तोर्मिति निराकरण होयता है, किन्तु पूर्व में उल्लेख हुआ है। इन्द्रस्ववहार लोकस्ववहार है लोकस्ववहार लौकिक ज्ञान-कर्ममूलक है। एवं लौकिक ज्ञानत्रयी, कर्मत्रयी का अर्थ होता है व्यवहारज्ञान, विकटज्ञान अस्वार्थज्ञान एवं व्यवहारकर्म, विकटकर्म निरर्थक-कर्म। उपर प्राचीनामिमत्ता योगत्रयी की ज्ञान-कर्मत्रयी के ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान, तथा कर्म-विकर्म-अकर्म, शब्दों का वृष्टय अर्थ है। एकमेव गीतामिमत्ता संशोधिता योगत्रयी की ज्ञान-कर्मत्रयी का वृष्टय ही अर्थ है। आभिमिद से तीनों योगत्रयों के सिद्ध प्रयुक्त तीनों ज्ञानकर्मद्वन्द्वत्रय अपनी त्रिहृत्मात्रानुगता विभिन्न अर्थमप्यर्था से सर्वथा निर्बिरोध समन्वित हो रहे हैं, बीदा कि परिशेषों से स्वह हो रहा है

- १-तत्त्वज्ञानम्—(१)-तात्त्विककर्म
- २-शास्त्रज्ञानम्—(२)-शास्त्रीयकर्म
- ३-व्यवहारज्ञानम्—(३)-व्यवहारिककर्म

ज्ञानत्रयी-कर्मत्रयी

- १-विशेषज्ञानम्—(४)-विशेषकर्म
- २-विविधज्ञानम्—(५)-विविधकर्म
- ३-विकटज्ञानम्—(६)-विकटकर्म

विज्ञानत्रयी-विकर्मत्रयी

१-अरोपज्ञानम्—(७)-अरोपकर्म

२-अनुभवज्ञानम्—(८)-अनुभवकर्म

३-अस्यज्ञानम्—(९)-अस्यकर्म

—अज्ञानत्रयी-कर्मत्रयी

गीतासूत्रिका—अरोपज्ञान-बोधोपपत्ति

१-तत्त्वज्ञानम्—ज्ञानम्

२-तार्किककर्म—कर्म

—ज्ञानकम्मात्मा (सत्त्वानुगत-परवर्त्म्यः)—ज्ञानबुद्धियोगोपायः

१-विरोपज्ञानम्—विज्ञानम्

२-विरोपकर्म—विकर्म

—विज्ञानविकम्मात्मा (सत्त्वानुगतः-परवर्त्म्यः)—

देहवर्त्युद्धियोगोपायः

१-अरोपज्ञानम्—अज्ञानम्

२-अरोपकर्म—अकर्म

—अज्ञानाकम्मात्मा (सत्त्वानुगतः-अपरवर्त्म्यः)—

कर्मबुद्धियोगोपायः

शान्तिनिमित्तिका—बोधोपपत्ति

१-शास्त्रज्ञानम्—ज्ञानम्

२-शास्त्रीयकर्म—कर्म

—ज्ञानकम्मात्मा (रजोऽनुगतः-शान्तात्मा)—ज्ञानबोधोपायः

१-विविधज्ञानम्—विज्ञानम्

२-विविधकर्म—विकर्म

—विज्ञानविकम्मात्मा (रजोऽनुगतः-महानात्मा)—

—मतिबोधोपायः

१-अनुभवज्ञानम्—अज्ञानम्

२-अनुभवकर्म—अकर्म

—अज्ञानाकम्मात्मा (रजोऽनुगतः-निदानात्मा)—

—कर्मबोधोपायः

१-सर्वव्यापकज्ञानम्—ज्ञानम्	१-ज्ञानकर्मात्मा (तमोऽनुगतः—विज्ञानात्मा)—ज्ञानयोगाधारः
१-विद्वान्ज्ञानम्—विज्ञानम्	विज्ञानविकर्मात्मा (तमोऽनुगतः—प्रज्ञानात्मा)—वेदायोगाधारः
२-विकृतकर्मात्मा—विकर्मात्मा	
१-अस्यज्ञानम्—अज्ञानम्	अज्ञानकर्मात्मा (तमोऽनुगतः—एतियात्मा)—कर्माधारः
२-अस्यकर्मात्मा—अकर्मात्मा	

सर्वसंग्रह —

●-सर्वात्म्य	{ विद्यारत्ना (ज्ञानात्मा) कर्मात्मा (कर्मात्मा) }	ज्ञानकर्मात्मा—वेदात्म्यबुद्धियोगाधारः (१)
१-परमात्म्य	{ तत्त्वज्ञानम् (ज्ञानात्मा) छात्रिककर्मात्मा (ज्ञानात्मा) }	ज्ञानकर्मात्मा—ज्ञानबुद्धियोगाधारः (२)
२-परमपरमात्म्यः	{ विद्वान्ज्ञानम् (विज्ञानात्मा) विकृतकर्मात्मा (विकर्मात्मा) }	विज्ञानविकर्मात्मा—वेदभ्रम्यबुद्धियोगाधारः (३)
३-अज्ञानपरमात्म्यः	{ अज्ञानज्ञानम् (अज्ञानात्मा) अज्ञानकर्मात्मा (अकर्मात्मा) }	अज्ञानाकर्मात्मा—अभ्रम्यबुद्धियोगाधारः (४)

रीतिभिरा योगवरीणा
अभ्रम्यबुद्धियोगाधारः

१-शास्त्रात्मा	{ शास्त्रज्ञानम् (ज्ञानात्मा) शास्त्रीयकर्मात्मा (कर्मात्मा) }	ज्ञानकर्मात्मा—ज्ञानयोगाधारः (१)
२-प्रज्ञानात्मा	{ विद्विषज्ञानम् (विद्वान्ज्ञानात्मा) विद्विषकर्मात्मा (विकर्मात्मा) }	विज्ञानविकर्मात्मा—अभ्रम्यभक्तियोगाधारः (२)
३-विज्ञानात्मा	{ अनुभवज्ञानम् (अज्ञानात्मा) अनुभवकर्मात्मा (अकर्मात्मा) }	अज्ञानाकर्मात्मा—अभ्रम्यकर्मात्मायोगाधारः (३)

प्राचीनाभिरा योगवरीणा
अभ्रम्यभक्तियोगाधारः

आप्त-धर्म है। परन्तु धामने से ध्येन निष्ठा मया इच्छा शेष नही रही सुप्त-धर्म है। मोक्षते हैं सुप्त हैं चलाते हैं, परन्तु कुल का कुल बाल पकते हैं मुक्त का कुल सुप्त पकते हैं कहीं के कहीं पेर पकने लम्बे हैं। इसप्रकार बन्धुत्व सुधावस्था में बधुत्व-सुसुप्ति दोनों अक्षरवाची के धर्म लमाधि रहते हैं। आध्यात्मिकी ज्ञान-धर्म बोधाची को आध्यात्मिकता द्वारा में परिष्कृत कर देने वाला श्रेष्ठकथित ब्रह्मधर्म ही मोक्ष है कही चित्त (मनोसुक्तावृत्ति, किंवा बुद्धिबुक्त मन) का वैचित्त है वैचित्त ही मोक्ष है। चित्त प्रथम मेधावरण से रहता हुआ भी प्रथमविक्रम अवस्था हो जाता है एवमेव मोहावरण से रहता हुआ भी स्मृतिविक्रम ज्ञानकोटिनिष्कम अवस्था हो जाता है। अज्ञानरूप मोहानुग्रह से शैद्ध-स्मृति का अवरोध हो जाता है और यी मोह स्मृतिग्रह का जनक बन जाता है। स्मृतिग्रह धर्मनिर्वाहान्तिभ्य बुद्धि के छायाकारणिके अ उन्नेदक बनाता हुआ बुद्धिस्वरूप का ही उन्नेदक बन जाता है। विवेकमात्र ही बुद्धिनाश है। विवेकमात्र में धर्मविवेक मात्र रहता है और यी धर्म-श्रेय-मोह-स्मृतिग्रह-बुद्धिनाश-परम्पर से जीवपरमा किरी दिन सर्वज्ञानविमल बनाता हुआ नष्ट हो जाता है, चित्त विनाश के इस पारम्परिक इतिहास का निम्न विस्तृत चर्चों में विस्तरेय्य हुआ है-

ध्यायतो विषयान्पु स' सङ्गस्तेषूपजायते ॥

सङ्गात् सङ्गायते क्षम', क्षमात् क्रोधोऽभिजायते ॥१॥

क्रोधोऽपि भवति संमोहः, समोहात् स्मृतिविभ्रमः ॥

स्मृतिग्रहं शब्द बुद्धिनाश', बुद्धिनाशात् प्रथमयति ॥२॥

—गीता २।१२,१३,।

२८-कलित्वा बुद्धि का स्वरूपसम्बन्ध, एवं मोहावशनिष्ठस्युपास्यप्रदर्शन—

चित्तप्रकार शैवाली से स्वच्छ भी बल की स्वच्छता मस्तिनता के रूप में परिष्कृत हो जाती है एवमेव इस मोहावरण से स्वच्छ भी अमृतकोटि की स्वच्छता मस्तिनता के रूप में परिष्कृत हो जाती है। मोहावरण यह मस्तिनता ही विज्ञानरूप में 'कलित' कहलाई है। कलित शब्द के 'कल-इल' ने दो विभाग हैं। कल शब्द विभाग-सम्बन्ध का स्वक है ('कल संस्पन्दने') इतीमे 'कला शब्द निष्पन्न हुआ है। एवमेव 'कलित-इल' से कलितशब्द सम्पन्न हुआ है। प्रज्ञान मन ही ज्ञानता के द्वारा सर्वप्रथम मोक्ष का उन्नाहक बनाता हुआ उन्मीरूप में परिष्कृत होता है। स्वयं ज्ञानेकधर्म में प्रज्ञानमन कलागुण (विभिन्नसंस्पन्दन) विभिन्न विषयों का अनुगामी बनाता हुआ ज्ञानाभावात्मक क्षमाभाव में आच्छाद रहता है। मोहावरण स्वयं ज्ञानात्म से कलात्मक है। इनके उन्नावेश में प्रज्ञानमन का ज्ञानरूपक इतरत कलाभाव में परिष्कृत होता हुआ कलितक 'कलित' बन जाता है। बुद्धिही, स्वयं क्षमा बह, नक्षत्रादि कलात्मकों के लक्ष्य से ही विश्व 'कलित' कहलाया है तैलक- 'अनापन्नतं कलितस्य मध्यं, सूक्ष्माविसूर्मं कलितस्य मध्यं' (रवे १५० ५।१८, ५।१८) इत्यदि उपनिषद्बुद्धि से प्रमादित है। बुद्धि अपने स्वरूप से व्यक्तवात्मिक बनती हुई एकात्म-मुक्त है। अवरण कलाभाव से अस्तुथा है। 'अन्वसायतिभ्य बुद्धिरेकं कुटन्तन P के अनुधार ध्यव्ययबुद्धि एकभिनी रहती हुए कलात्मकता से अर्धभूत है। कलित मन (विषयसंस्काररूप कलावाद्यत्मक-मोहावृत्त मन) से उन्ना बुद्धि मनोमत्त कलाभाव से उन्ना होकर अभ्यव्ययरूप में परिष्कृत होती हुई 'कलित'

कम जाती है, वैसाकि—'यमुशास्त्राद्यनन्ताम् बुद्धयोऽन्यमसायिनाम् इत्यादि बचन से स्पष्ट है। 'यह कर्तूँ कि यह, वहाँ खूँ कि वहाँ'—इत्यकार की नानासंख्यातुल्या-अनिश्चयार्थिना विचारबाध ही कलिका-बुद्धि का आधार बनती है। इसी के अनुग्रह से भुव एवं भोतस्य से अन्तर्बन्ध से घण घण में उद्वेग-अशान्तिमय-दुःख परमपणों का स्रोत प्रवाहित रहता है।

किन्ती ने निन्दा कर दी, ब्याकुल हो पड़। किन्ती ने सम्पत्ति का अपहरण कर लिया, लिख होगा। अमुक ने हमारे साथ यह किया था अमुक यह कर बैठेगा अमुकने अमुक लभय देल कर दिया था, अमुक के देख करने की सम्पादना है। इन सांसारिक भुव-भोतस्य-प्रवाधों से सम्पुष्य अन्तर्बन्ध कर्मित बना रहता है। ऐसा क्यों होता है, बचकि, आत्मा अवज्ञ है। मगवार करते हैं—यह मोहकलिका बुद्धि का भी अनुग्रह है। बचक बुद्धि कलिका रहेगी तब तक निश्चयेन भुव-भोतस्य वेदना के बनक करते रहेंगे। मोहकलिका हय से अन्तर्बन्धित का उदय होबाबना श्रीर उव ज्ञानभूमिअ में पहुँचने के अनन्तर तुम्हारे लिए कोई कुछ ही करता सुनता रहे, निन्दा, अपयत्न स्तुति करवा रहे, न निन्दाअपयत्न से कुछ होगा, न स्तुतिअपयत्न से हर्ष होगा। भोतस्य-एवं भुव-बन्धित वेदना से बचने का एकमात्र द्वार है—बुद्धि को मोहकलिकाअपयत्न मना-पारा में उम्मुक्त करना—

यदा ते मोहकलिल बुद्धिर्भ्रंशितरिप्यपि ।

तदा गन्तासि निर्वेदं भोतस्यस्य भुवस्य च ॥

—श्लो० २।१५

२६-नखधं का समन्वय—

* खोगुण एवं तमोगुण के समन्वय से उत्पन्न अक्षरण तत्त्वगुण के विरोधी इस मोहकलिका को मन से जैसे हटवा बाँधे, नीचामिमत ज्ञानबुद्धिअना इसी मरन का उपादान कर रहा है। ज्ञान का प्रतिबन्धी अज्ञान ही मोह है बड़ी अज्ञानप्रवृत्ति के बाध कलिलगुण का बनक बनता है। पश्य ज्ञान-वेदात्म-पेरबन्धनं चारों के प्रतिबन्धी अक्षय्य-अज्ञान-अवेदात्म-अनैश्वर्य्यं, इन चारों के 'नन्' का अर्थ क्या है, यह भी प्राणिक उपाय है किन्तु निरक्षर्य कर लेना प्रवृत्तिक होगा। 'नन्' का अर्थ अक्षय्य भी होता है 'नन्' का अर्थ 'अक्षय्य' भी होता है। अर्थात्, ज्ञानाभाव, वेदात्म्याभाव, पेरबन्धनाभाव, क्या अक्षय्य-अज्ञानादि से यह अक्षय्यभाव नन्वर्ध अन्विष्ट है। नहीं, इसलिए कि अक्षय्य किन्ती अक्षय्यअक्षय्य का बनक नहीं बना करता। नाशित' ही अक्षय्य है न होना ही अक्षय्य है। अर्थात् ही यदि अक्षय्य' होता तो इसे कभी अक्षय्य का अक्षय्य न माना जाता। अक्षय्य एक अक्षय्यत्व माना गया है, शक्ये अक्षय्य

ॐ नखं परं कर्मनिबन्धकन्तनं सुसुधतां तीर्यपदालुकीधनात् ।

न यत् पुनः कम्मसु सञ्जते मनो स्त्रस्तमोर्मां कलिलं ततोऽन्यथा ॥

—भीमरामायण ६।१।१६।

३१-मोहनविधिक्व ज्ञानबुद्धियोगस्तुगत्या सिद्धविधा—

मोह से मय, एवं मय की परमहीमा मृत्यु । इत्यप्रकार मोह ही कालान्तर में बहुरूपलक्षण-मृत्युमात्र का प्रवर्तक बन जाता है । निस्तम्ब ज्ञानात्मक मोह वहाँ मय का कारण है, वहाँ तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान निःशेषता का प्रवर्तक है-‘तत्त्वज्ञानान्नि शेषसाधिगमः’ । अन्वयवर्तक अज्ञान की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है-अभ्यस्यवर्तक तत्त्वज्ञान का अनुगमन । कृतज्ञाना गया है कि मोहवर्तक अज्ञान अपने कलाभाव से प्रज्ञान की स्थिर प्रज्ञा को विचलित कर देता है । प्रज्ञा के अस्थिर होने से उत्पटित बुद्धि विवेकशून्या बन जाती है । विवेकशून्या बुद्धि ही अस्थिर प्रज्ञा के द्वारा बीजात्म्या को प्रज्ञापरयण में प्रवृत्त करती रहती है एवं यह प्रज्ञापरयण (नात्ममयी-मूर्च्छा) ही स्वाभाविक योगसम्पत्ति से बीजात्मा को बधित रखता हुआ इसे अवि, हीन, मिथ्या योगादि विषम योगों में प्रवृत्त रखते हुए इसके अज्ञानमूलक-मयागुण-गुण का कारण बना रहता है । अपनी आत्मशक्ति की सीमा से अधिक कर देना अतियोग है । आत्मशक्ति से कम करना हीन-योग है । आत्मशक्ति के विपरीत करना अभोगात्मक मिथ्यायोग है । मोहन करना चाहिए पाप मर, का गय एक हेर, वही अवियोग है । एक कर्तव्य ही काया, यह हीनयोग है । काया को पाप मर ही, किन्तु प्रकृतिकिञ्च लया, वही मिथ्यायोग है । दोनों विषमयोगों का मूलप्रवर्तक प्रज्ञापरयण है, प्रज्ञापरयण की प्रवर्तिका मोहप्रज्ञास्तु अस्मिदाबुद्धि है, और तत्त्वतः मोहवर्तक यह अज्ञान ही प्रज्ञापरयणबधित गुण का कारण है । विवकी ऐकान्तिक निवृत्ति के लिए ही ज्ञानबुद्धियोगानुगत्या सिद्धविधा का स्वस्मविरोधपक्ष हुआ है ।

३२-सिद्धजाति में उत्पन्न सिद्ध कपिल की सिद्धविधा, एवं उदनुगत ज्ञानबुद्धियोग—

सिद्धजाति में उत्पन्न, अत्यय ‘सिद्ध’ नाम से प्रसिद्ध महर्षि कपिल ही इस सिद्धविधा के प्रथम प्रवर्तक थे । अभ्यस्तस्यानुगत, अत्यय अर्थात् शास्त्रक-कर्मरूपाग्लक्षण ज्ञानयोग (प्राचीनाभिमत-ज्ञानयोग) के पञ्चाशी कपिल का केवल अभ्यक्ता प्रकृति पर ही विश्राम था । उनका ज्ञानयोग ‘पुरुषस्तु पुरुषपरश्वाराधिलेपः’ के अनुगार अभ्यस्तस्यपति से बधित था । ‘भयमिदं माया मूढानां मत्त पर पृथगाधिधाः-आहं सर्वस्य प्रथमा’ इत्यादि सिद्धस्त उनकी अभ्यक्तवृत्ति से परे की कस्तु की हुए थे । मन्थान् ने * ‘अभ्यक्त व्यक्तिसापन्न मन्थस्तं मामनुद्वयः’ कहे हुए इस अभ्यस्तव्यवृत्त ज्ञाननिष्ठा (शास्त्रनिष्ठा) का लयबन्ध किया, और शास्त्रव्यवृत्ति से इसे बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की ।

* अभ्यक्त व्यक्तिसापन्न मन्थन्ते मामनुद्वयः ।

परमायम ज्ञानन्तो ममाभ्ययमनुद्वयम् ।

—गीता ७.२५

अनुद्वय-बुद्धियोगरहस्याभिमताः, न तु अद्या । सिद्धकपिलस्य पूर्वज्ञान-निष्ठत्वात् । बुद्धियोगस्तु महता फलेन विद्वत् आसीत् । उद्विद्वत्स्यैव च तादृश-सांख्यनिष्ठाया प्राधान्यमासीत्पृथगु ।

दुःखियोगस्यपि प्रधान आश्रय की गई, और इसी आधार पर योगनिष्ठाकृत् (संशोभित कर्मयोगसङ्घात परमं दुःखियोगकृत्) संस्मयनिष्ठा (संशोभित-ज्ञानयोगसङ्घात ज्ञानदुःखियोग) की 'निर्भोक्तस्तद्वस्तुमी' के अनुसार अस्तुदयप्रदा मान ली गई। तथापि दोनों के उन्मुक्तन में लोकसङ्घ के पक्षपाती मतावा ने 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' करते हुए धम्म दुःखियोगात्मक निष्कर्मकर्म'योग को ही प्रधानत्व इसलिये प्रधान की कि अन्त्यकृतिप्रधान मानव के लिये कर्मयोगातुगत अन्त्य कर्म नहीं कर्मकोश से नहीं उतरे करते हुए स्वयं को करते हैं। वहाँ अन्त्यकृतिप्रधान-ज्ञानयोगातुगत-अन्त्यकर्म काकोश के, स्वयं स्वयं विरोधरूप से लोक अस्तुदय के भी उदाहरण नहीं करते। 'कर्मयोगोऽपि कर्मरस्तेषामन्त्यकृतप्रसक्त-पतसाम्'-'दुरत्य भारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पक्षस्तात् क्वच्यो बद्धन्ति' इत्यादि से इस संस्मयनिष्ठा की अन्त्यकृत्यात्म्य स्पष्ट ही प्रमाहित हो रही है। निम्न लिखित कथन भी सिद्धविद्यातुगत इस ज्ञानदुःखियोग की इसी बलिष्ठता का उल्लेख करता हुआ इस ओर मतावा के धामान्य पक्षपात को ही स्पष्ट कर रहा है-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यत्सामसि सिद्धानां कश्चिन्मां वेचि तच्छत ॥

—गीता ७।११।

वित्त युग में वेदतत्त्वप्रकाशक अग्निविद्यवाचक के छत्र वेदतत्त्वविद्यवाचक मूढ का उन्मुख था, उस वेदयुग में प्रकृतिवत् इत प्रीति की पर ही 'पाचमुचनकोश' के आधार पर वैशोक्तव्यवस्था व्यवस्थित थी। निरक्ष से (लक्षा से आरम्भ कर हिमात्मकपर्यन्त रहने वाली पार्ष्णि प्रथा मनुष्य नाम से प्रसिद्ध थी, इसके उद्घाटन मनु के अतिशय-शक्यतापत् मरत अग्नि थे। हिमात्मक से आरम्भ कर अक्षयभी पर्यंत के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष कक्षताय था इसमें रहने वाली प्रथा 'देवोनि' (दिव्योनि) कक्षतायी थी बाबु यहाँ के शक्यतापत् थे। एवं अक्षयभी से आरम्भ कर दुयोक्तपर्यन्त का भूभेद शक्यताय था, यहाँ की प्रथा देवदेवता नाम से प्रसिद्ध को अधिपति यहाँ के 'इन्द्र थे। अन्तरिक्ष में रहने वाली देवोनिप्रथा यक्ष विद्यावर, गन्धर्व किन्नर विद्याय सिद्ध, राक्षस, अक्षय मूढ, आदि अनेक अतिथी में विभक्त थी। ब्रह्मवाति कोशरक्षा में नियुक्त थी। विद्यावर, गन्धर्व किन्नर, अक्षय, वे चार कर्ष मनोविनोदात्मक उचित के अन्त्य-मन्त्राक थे। विद्यावरवादि शक्यभाग का उद्घाटन करती थी। कर्षकर्म राक्षसवादि के आधीन था। मूढवादि सेनाकक्ष था। भूतवालों के अक्षयनापति (कृष्ण) पक्षरति थे प्रधानसेनापति (कर्षकर्मन्) अर्थात् बौद्ध) स्वामिअर्थात्किन्नर थे। इत सेनाविभगा के प्रधानमन्त्री (आग्नी-मिदित्तर) भूतपति ब्रह्म थे। धार्मिक प्रथा अक्षय ही इत ऐतिहासिक पटना का उल्लेख नहीं करेगी। क्योंकि अन्त्यम्य तन्वी की किन्नरि के साथ स्वयं वैदिक ऐतिहासिक तत्व भी आद्य लुप्त हो पला है। उर्वोपाठना से उन्मुख रहने वाले प्राच्यतमक विद्यावरवादि प्राच्यविद्य देवोनिवाँ हैं। एवं उन्मुख प्राच्यविद्य विद्यावरवादि ऐतिहासिक व्यक्तित्व थी इत रहस्य का उन्मुखतम उन्वी दिन उन्मुख कोण वित्त दिन आर्यप्रथा उन्मुखि से वेदरात्व के स्वाध्याय में प्रवृत्त हामी। ब्रह्मवाच यही है कि, देवोनिविद्येय ही 'विद्य' ब्रह्मवाच है। इत अति में ही कथित वा कर्म हुआ था, अक्षय कक्षय 'नना भी 'विद्य' नाम से ही प्रसिद्ध होना स्वाभाविक था। ज्ञाननिष्ठ अधिपतिवत् से ही ब्रह्मवादि धम्म कनी थी। अक्षय विद्यविद्यना में मतावा ने

'सिद्धान्तं कपिलो मुनिः' कहते हुए इन्होंने मुख्य स्थान प्रदान किया । ये ही सिद्ध संयमनिष्ठाप्रपन्न-ज्ञानयोग के प्रथम प्रकृत क थे । अतएव इनका उद्योवित ज्ञानबुद्धियोग-रूप योग 'सिद्ध' नाम से ही गीताशास्त्र में प्रसिद्ध हुआ ।

३३-सिद्धकपिलाजुगता सिद्धविद्या—

चित्त प्रकाश 'ईश्वरानन्दस्व' राक्षसिद्या का रहस्य वा एकेमेव एत सिद्धविद्या का रहस्य 'अन्तर्ज्योति' प्रकाश गम्य है । सिद्धविद्यायुगत ज्ञानबुद्धियोग से अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मज्ञान का ही उदय होता है । ज्योतिर्बन्धन का अन्तः-बहिः, भेद से दो भागों में पूर्ण में विद्गुर्यन करवाया गया है, उनका स्वर्ण-चन्द्रमा के द्वारा मन्त्रीमति स्वप्नत्व किया जा सकता है । स्वर्ण चन्द्रमा, दोनों ही ज्योतिष्मत्त्व हैं परन्तु दोनों की ज्योतिषी के स्वप्न में आरोहण का अन्तर है । स्वर्ण जहाँ चारों ओर से प्रकाशित है वहाँ चन्द्रमा अपने स्वर्णमुक्त अक्ष माग से ही प्रकाशित रहता है । स्वर्ण को जैसे स्वप्नकाश प्रकाश के लिए किसी अन्य ज्योति की अपेक्षा नहीं है वैसे चन्द्रमा स्वप्नकाश प्रकाश में स्वच्छ नहीं है । अपने ही प्रकाश से अवात्मता प्रकाशित स्वर्ण जहाँ 'स्वज्योति' कहलाता है, एकेमेव अन्व (स्वर्ण) प्रकाश से प्रकाशित चन्द्रमा अक्ष माग से प्रकाशित रहता हुआ 'परज्योति' कहलाता है । चन्द्रमा में मुक्त धामच्छद अग्निप्राण ही चान्द्र परज्योति का आधार बना हुआ है । पुराणों में चन्द्रमा अग्नि के पुत्र मन्मं गये हैं । अग्निप्रसविकान के अनुसार अग्निप्राण पारदर्शकता का प्रतिरूपक माना गया है । पारदर्शकता के प्रतिरूप से ही धामच्छद पदार्थों का स्वप्न निम्नत्व हुआ है । षोडशी प्रजापति के अन्वयप्रधान अक्षरप्रधान ब्रह्मात्मा अक्षरप्रधान शुक्लत्वा, इन तीन विषयों में से अक्षरप्रक शुक्लत्व ही धामच्छद ज्योतिष विषय का उपदानकारण बना है । वाक, आपः अग्नि-भेद से यह शुक्ल तीन भागों में विभक्त है । वाग्शुक्ल अग्नि है आपः शुक्ल पशु है एवं अग्निशुक्ल अक्षर है । वाक्-आपः-अग्नि-मय अग्नि-पशु-अक्षर इन तीनों पारमेष्ठ्य शुक्ल से ही धामच्छद-स्वतन्त्रविधि (देहनिर्धरि) का विकास हुआ है । इन तीनों में आपः शुक्लपुंषि पशुत्व आपः पशु लोमाः भेद से तीन भागों में विभक्त है । अग्निशुक्लपुंषि अक्षर भी अग्नि-मय-आदिश्व-भेद से तीन भागों में विभक्त है । परन्तु वाक्शुक्लमय अग्नि एकात्मता में ही परिणत रहता है । अक्षर 'न त्रि' निर्बन्धन से इस अक्षरप्रक से धामच्छद के हुए पारदर्शकताप्रतिरूपक वाक्शुक्लप्रक पारमेष्ठ्य प्राण को वैदिकियों ने 'अग्नि' नाम से स्मृत किया है । इसके अतिरिक्त यह शौरप्रकाश को भी ज्ञाता है । चित्त स्थितिक में अग्निप्राण पूर्वक से विकसित रहता है, उस वातु में से शौरप्रिमर्श अक्षरपारित नहीं बन सकती । स्वर्णप्रिमर्श को क्योंकि अग्नि का ज्ञाता है अतएव अग्निशुक्ल का 'असीति अग्नि' यह निर्बन्धन भी विज्ञानसम्मत माना जा सकता है । पार्थिव अग्निप्राण क प्रवर्धमाग से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है अतएव इसे अग्निपुत्र माना गया है । इसी अग्निप्राण क सम्बन्ध से चन्द्रमा में पारदर्शकताप्रतिरूपकत्व धर्म का उदय हुआ है । इसी धर्म से स्वर्णप्रिमर्श चन्द्रमा क अक्षर-पार (आरपार) नहीं निकल सकती । चन्द्रमुक्त शौरप्रकाश प्रतिरूपित हो जाता है । बहिर्मुख नहीं चान्द्रप्रकाश 'परज्योति' है । इक्ष्मकार भूतज्योतिषी में ही स्वप्नज्योति 'स्वज्योति' है चान्द्र ज्योति परज्योति है । स्वज्योति अन्तर्ज्योति है परज्योति बहिर्ज्योति है ।

बुद्धिबोगसम्पत्ति प्रदान करण्य की गई, और इसी आधार पर योगनिष्ठात्म् (संशोधित कर्मयोगप्रणाली परम बुद्धिबोगत्) लक्ष्यनिष्ठा (संशोधित-ज्ञानयोगप्रणाली ज्ञानबुद्धियोग) भी 'निष्कामसकलानुभूति' के अनुसार अनुभवप्रदा मान ली गई । तथापि दोनों के समतुलन में लोकसंसार के पंचपाती मन्वान् ने 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगा विनाशयत' करते हुए परम बुद्धियोगप्रणाली निष्कामकर्म योग को ही प्रधानता इसलिए प्रदान की कि, व्यक्तप्रकृतिप्रधान मानव के लिए कर्मयोगानुगत मूल्य कर्म वहाँ अत्यन्त से अधिक रहते हुए व्यक्त को रहते हैं वहाँ अप्रकृतप्रकृतिप्रधान-ज्ञानयोगानुगत-अप्रकृतकर्म अत्यन्त से अधिक रूप से लोक समुदाय से छोके अनुभव के भी संभव नहीं करते । 'कर्मसंन्यासोऽपि कृतारतोपानम्यक्तप्रसक्त-पतसाम्'-'कृतारतो पादा निद्रिता दुरसक्या दुर्ग पथस्तत् क्वया यदन्ति' इत्यादि से इस लक्ष्यनिष्ठा की अन्वयव्यपत्ति स्पष्ट ही प्रमाणित हो रही है । निम्न लिखित कथन भी सिद्धानुगत इस ज्ञानबुद्धियोग की सही बहिरंगता का समर्थन करता हुआ इस और मन्वान् के उक्तान्य पञ्चायत को ही स्पष्ट कर रहा है-

मनुष्याणां सदस्येषु कश्चिद्यतति सिद्धम् ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां घृषि तच्चत ॥

—गीता० ७।१।

कित मुग में वेदव्यवस्था के अतिविशाल के लिये देशतुष्टिप्रवर्तक प्रवृत्त का उद्भव था, यह वेदव्यवस्था में प्रकृतियत् इत दृष्टिहीन पर ही 'पाश्चानुभवयोग' के आधार पर त्रैलोक्यव्यवस्था व्यतिरिक्त थी । निरक्ष से (लक्ष्य से) आरम्भ कर हिमालयपर्यन्त रहने वाली पार्थिव प्रजा मनुष्य नाम से प्रसिद्ध थी, इनके उत्पन्न मनुष्य अतिविशाल-अत्यन्तपात्र मूल्य अग्नि थे । हिमालय से आरम्भ कर अत्यन्त ही पर्यन्त के मध्य का स्थान अत्यधिक बड़ा था या इतने रहने वाली प्रजा 'वेदोनि' (विष्णोऽनेनि) कहाती थी, बापु यहाँ के राजधानीयत् व । एवं अत्यन्त ही से आरम्भ कर तुम्हें पर्यन्त का भूयदेश अत्यन्त बड़ा था या वहाँ की प्रजा देवदेवता नाम से प्रसिद्ध थी अतिरिक्त वहाँ के 'इन्द्र' थे । अत्यन्त ही में रहने वाली वेदोनिप्रजा यज्ञ विद्यावर गन्धर्व किन्नर, गिराज किन्नर, राजस आठवा, भूत, आदि अनेक जातियों में विभक्त थी । जहाँ-जहाँ वेदोनिप्रजा में निवृत्त थी । गिराज, गन्धर्व किन्नर, जम्बव ने बार-बार मनोविभोभारमूल्य सौते के अत्यन्त-अत्यन्त थे । गिराजवासी राजविभाग का उद्भव करती थी । यज्ञकर्म उद्भववादि के अधीन था । भूतवादि सेनामूल्य था । भूतवादी के अत्यन्तनापति (अत्यन्त) अत्यन्त से प्रधानसेनापति (अत्यन्त) अत्यन्त) स्वामिप्रसिद्ध थे । इत सेनाप्रधान के प्रधानमन्त्री (आर्मी-मिनिस्टर) भूतपति बर व । पार्थिव प्रजा अत्यन्त ही इत अत्यन्त पटना का समर्थन नहीं करती । क्योंकि अत्यन्त तर्की की विसृष्टि के लक्ष्य अत्यन्त वैदिक अत्यन्त तत्त्व की आश लुप्त हो गया है । अत्यन्तपटना से अत्यन्त रहने वाले प्राकृतिक विद्यावरि प्राकृतिक देवोनिवादी हैं । एवं अत्यन्त प्राचीन विद्यावरि अत्यन्तिक अत्यन्त ही इत अत्यन्त का अत्यन्तका जहाँ दिन अत्यन्त अनेका कित दिन अत्यन्तका अत्यन्त से वेदराज्य के अत्यन्त में अत्यन्त होती । अत्यन्तकी वही है कि, देवोनिविद्ये ही 'किन्नर' अत्यन्त व । इत वादि में ही अत्यन्त का अत्यन्त हुआ था अत्यन्त अत्यन्त इनका भी 'किन्नर' नाम से ही प्रसिद्ध होना अत्यन्तिक था । ज्ञाननिष्ठ अत्यन्तिक से ही वह अत्यन्त अत्यन्त की थी । अत्यन्त विद्वान्मन्त्रा में मन्वान् ने

श्री

‘बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

‘ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
तृतीयस्तम्भ-उपरत

(२)-३

श्री

अथ बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
तृतीयप्रकरणे

‘वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्’ नामः
चतुर्थस्तम्भ

(२)-४

ॐ

वैराग्यबुद्धियोगानुगत—राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम् चतुर्थस्तम्भः

१—वैराग्य, और आसक्ति शब्दों के लोकप्रचलित अर्थ—

राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग में वैराग्य और उत्प्रेक्ष्यभिन्नी आसक्ति, इस इन्द्र की मीमांसा अपेक्षित है। अतः सर्वप्रथम इन्हीं दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का स्वरूप बुद्धियोगप्रैमितियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। प्रचलित भ्रष्टा-विभाव के अनुसार 'वैराग्य' शब्द का अर्थ संसारिक-परिग्रहों का त्याग समझा जा रहा है एवं 'आसक्ति' शब्द का अर्थ संसारिक भोग-विषयों में उत्कीर्णता समझा जा रहा है। विधि-निवृत्तत्वक शास्त्रीय कर्मों का स्त्री पुत्र-विवादि आर्थिक परिग्रहों का स्वभा त्याग कर शून्य-धरम्यो में निवास करने वाले सर्वपरिग्रहत्यागी कात्यायन्याशारी धीतरगी ही वैराग्य के अनुगामी माने जा रहे हैं। ठीक इसके विपरीत तर्कारिक प्रपक्षों में निम्न पक्षही ही आसक्ति के अनुगामी माने जा रहे हैं। निष्कर्षतः कर्ममात्र का परित्याग वैराग्य शब्द का एवं संसारिक कर्म मात्र का अनुगत न आसक्त शब्द का उत्प्रेक्ष्य माना जा रहा है। वच मान भ्रष्ट क प्राज्ञत्व में यही बीतरता है, जिसे उक्त कुछ छोड़ छोड़ कर एकाग्रता कर लिया है किन्तु बनसभा से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं है गीतापरिभाषातुल्य का स्वभा अकर्मत्व है। केवल कात्यायन दण्ड-मदण्ड एवं शिलासूत्रपरिभाषा नमो-भारायणोन्धारण ही ऐसे वैराग्यबुद्धियों के परिचयचिह्न हैं। कर्मत्यागसङ्घर्ष प्राचीनामिमत कित्त संसर्गनिष्ठा (कर्मयोग) का पूर्व स्तम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है वह संसर्गनिष्ठा ही सर्वसाधारण की दृष्टि में वैराग्य है। एवं 'आसक्तिबुद्धियोग-कर्म'बुद्धियोग' नामक स्तम्भ में कामनासङ्घर्ष प्राचीनामिमत कित्त संसर्गनिष्ठा (कर्म कर्म योग) का दिग्दर्शन कराया गया है वह योगनिष्ठा ही सर्वसाधारण की दृष्टि में 'आसक्ति' है।

२—प्राचीन व्याख्याताओं की वैराग्यदृष्टि, और उनका ज्ञानयोग—

प्राचीन दृष्टि से गीता केवल प्राचीनामिमत ज्ञान-मर्क-कर्म, इन तीन यगों का प्रतिपादन कर रही है। वैराग्य शब्द के उत्कर्ष का पक्षपात रखने वाले ज्ञानमित्री का इस संकल्प में यही मतमिनिवेश है कि गीता मर्यादा कर्म और यक्ति का भी निरूपण अक्षर्य करती है। परन्तु शास्त्रीय कर्म और यक्ति साक्षात् कर्म से पुरुषार्थ नहीं है। पुरुष का परमपुरुषार्थ है 'मुक्ति'। मुक्ति का एकमात्र अर्थ है आत्मा को किण्वत ज्ञानविधि में प्रविष्टित कर लेना। कर्म और यक्ति में कर्म का अनुशासक तत्त्वत्व से आत्मा पर आसक्त रहता है। अतएव कर्मनुगत कर्म और यक्ति कभी मुक्ति का कारण नहीं बन सकते। 'रमागोतैकेऽमृतत्वमानुहा' के अनुसार कर्मात्मक कर्म यक्ति-यगों की आत्मनिक निवृत्ति ही किण्वत ज्ञानत्व का कारण बना करती है। और सर्वविध कर्मत्याग से विनष्ट होने वाला ज्ञान ही

मुक्ति का प्रकृत क है। कर्म त्यागलक्षण एवंविध योग ही मुक्तिप्रवण क करता हुआ पुरुष का परम (अन्तिम) पुरुषार्थ है। कामान्न अविद्यारियों के प्रारम्भिक अन्वेष के लिए स्वयंभू से ही गीता में कर्म—मुक्ति का संश्लेषण कर लिया है। बलुका गीता ज्ञानप्रधान आत्मव्यवहार है ज्ञानव्यवहार है योगव्यवहार है।

३—वैराग्यमाबाहुगत 'त्याग' शब्द के तात्त्विक अर्थ का उपक्रम—

प्राचीनाभिमत, सर्वपरिग्रहत्यागलक्षण वैराग्ययोग का अर्थ है—'ज्ञानयोग', किन्तु 'ज्ञानयोगपीडा' नामक भूमिका-खण्ड में विस्तार से उपरूहण किया जा चुका है। केवल शब्ददृष्टि से प्राचीनों के इस मन्त्र्य का, एवं वैज्ञानिकों के मन्त्र्य का निर्विरोध समन्वय हो रहा है। वैज्ञानिकों का भी गीताशास्त्र के सम्बन्ध में यही मन्त्र्य है कि, गीता आध्यात्मपरिपामपूर्वक वैराग्ययोग (मुक्तियोग) का ही उपदेश दे रही है। त्याग ही गीताशास्त्र का मुख्य उपदेश है। और इस दृष्टि से विद्वानपद्मसुगामी भी यह कह लक्या है कि, 'गीता शास्त्र में वैराग्यशास्त्र' है। वैराग्ययोग ही पुरुष का प्रधान पुरुषार्थ है। और यहाँ आकर वह भी ज्ञानयोगपक्षपातियों की मूर्ति उनके कर्म त्यागलक्षण ज्ञानयोग के सम्बन्ध में उनकी ओर से उपस्थित 'त्यागनेकेऽमृतत्वमानुशु' इस मुक्ति को अपने विज्ञानसिद्ध आध्यात्मिकव्यवहार वैराग्ययोग के समर्पण में उपस्थित कर लक्या है। ज्ञानयोग भी त्यागप्रधान है वैराग्ययोग भी त्यागप्रधान है। अन्तर केवल 'त्याग' शब्दार्थ में है। ज्ञानसिद्ध करते हैं कर्म त्याग त्यागव्यवहार है। वैराग्यसिद्ध करते हैं आध्यात्मिकत्याग त्यागव्यवहार है। दोनों में किन्तु की परिमत्ता उपादेय है। इस प्रश्न का समाधान तब से पहिले हमें गीताशास्त्र से ही करना चाहिए।

४—गीताशास्त्र में प्रयुक्त 'त्याग' शब्दाहुगत स्पष्ट, एवं उनका अक्षराबसमन्वय—

गीताशास्त्र में 'त्याग' की चर्चा ३ स्थलों पर आई है। उन स्थलों को अपनी दृष्टि के समने रख लीजिए, और फिर यह अन्वेषण कीजिए कि, गीता अपनी दृष्टि से 'त्याग' शब्द का क्या अर्थ कर रही है। केवल इसी प्रश्न के समाधान से तब कुछ स्पष्ट हो सकेगा। मुनिभा के लिए वे ३ ही स्थल यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं—

१—अन्य च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविता ।

नान्नाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धनिशारदा ॥ गी० १।६।

२—येपामर्षे ब्रह्मिष्ठ नो राज्यं भोगा सुखानि च ।

त इमे ज्वल्लिप्ता युद्धे प्राज्ञास्त्यक्त्वा धनानि च ॥ १।१२।

३—इत्तैर्न्य मा स्म गमः पाप । नैतन्मय्युत्सयते ।

सुदु हृदयदौर्बन्यं त्यक्तबोधिष्ठ परन्त्व ! ॥ २।३।

४—योगस्य कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनजय ! ।

सिद्धसिद्धयोः समो भूष्वा समर्थं योग उच्यते ॥ २।४८।

- ५-कर्मज बुद्धियुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता पर्द गच्छन्त्यनामयम् ॥ २।५१।
- ६-जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥ ४।६।
- ७-त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यवृत्तो निराभयः ।
कर्मण्यभिपश्यतोऽपि नैव किञ्चित् करोति स* ॥ ४।२०।
- ८-निराशीयंतचिचात्मा त्यक्तसंबन्धपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किञ्चिदपम् ॥ ४।२१।
- ९-ब्रह्मण्यावाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति य ।
क्षिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्बसा ॥ ५।१०।
- १०-कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ५।११।
- ११-युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारणं फले सक्तो निषण्ण्यते ॥ ५।१२।
- १२-संकल्पप्रभवान् कर्मास्त्यक्त्वा सर्धानभोवतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ ६।२४।
- १३-यं यं वापि स्मरन् मायं त्यजत्यन्ते क्लेश्वरम् ।
तं समेवैषि कौन्तेय ! सदा तद्रूपावमावित* ॥ ६।६।
- १४-ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
य* प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ ६।१३।
- १५-भेयो हि ज्ञानमभ्यासात्, ज्ञानात्-ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागाः, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ गी० १०।११ ।
- १६-अहिंसा-सत्य-मक्रोध-स्त्याग-शान्ति-रपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मादवं ह्रीरषापलम् ॥ १६।२।
- १७-द्विषिषं नरुक्त्स्यैवदूषारं नाशनमात्मनः ।
क्रमः-क्रोध-स्वया सोम-स्वस्मादेवद्वयं त्यजेत् ॥ १६।२१।

- १८-सत्यास्य महानाहो ! तच्चमिच्छामि वेदितुम् ।
 त्यागास्य च हृषीकेश ! पृथक्कशिशिनिपूदन ! ॥ १८।१।
- १९-काम्यानां कर्मणां न्यास संन्यासं क्वयो विदुः ।
 सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्तथागं विचक्षणा ॥ १८।२।
- २०-त्याज्य दोषवदित्यक्तं कर्म प्राहुमनीपिबुधः ।
 यद्दान-तप-कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ १८।३।
- २१-निरुष्यं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ।
 त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः परिकीर्तितः ॥ १८।४।
- २२-यद्दानतप-कर्म न त्यागः । । कार्यमेव तत् ।
 यद्दो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १८।५।
- २३-एतन्नपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वाः फलानि च ।
 कर्माभ्यानीति म पाथ ! निरिष्टं मतमुत्तमम् ॥ १८।६।
- २४-नियतस्य तु सत्यास- कर्मणो नोपपद्यते ।
 मोहात्तस्य परित्य गस्तामसः परिकीर्तितः ॥ १८।७।
- २५-दुःखमित्येव यत्कर्म क्षयक्लेशमयात्स्यजेत् ।
 स कृशा राक्षस स्य ग नैव त्यागफलं भवेत् ॥ १८।८।
- २६-कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतऽजु न ! ।
 सङ्ग त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः साधिका मतः ॥ १८।९।
- २७-न द्वेष्टफलात्तं कर्म कुशले नालुपज्जते ।
 त्यागो सत्समाधिषो मेघावी क्षिप्रसशयः ॥ १८।१०।
- २८-न हि दहमृता शक्यं त्यक्तु कर्माख्यशोपत ।
 यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यमिधीयते ॥ १८।११।
- २९-सहजं कर्म क्षैन्तेय ! सदोपमपि न त्यजेत् ।
 सवारम्मा हि दापन्न धूमेनाग्निरिवाहता ॥ १८।१२।
- ३०-बुद्धया विद्युदया युक्तो हृत्स्यात्मानं नियम्य च ।
 शन्यादीन् विषयांस्यक्त्वा रागद्वेषी व्युदस्य च ॥ १८।१३।

३१-विभिक्षसेवी लघ्वाशी यतवाक्प्रयमानस ।

ध्यानयोगयरो नित्यं वैराग्य समुवाश्रित ॥ १८५७॥

३२-महद्भारं धत्त दयं क्षमं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्म्ममं शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८५८॥

३३-ब्रह्मभूतं प्रसद्यात्मा न शोचति न फलङ्घति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं समते पराम् ॥ १८५९॥



उदय स्वामी ने से 'आय्ये च यद्ब्रह्म' शब्द - 'येषामर्थे काङ्क्षितम्' ऊँच्यं मास्म गम पाध' इन १-१-६ स्थलों के 'त्याग' शब्द का प्रकृत में सम्बन्ध नहीं है। शेष स्थलों में उपास त्याग शब्द ही प्रकृत वैष्णवधर्मों से सम्बन्ध रखता है। मगवान् करते हैं-अनुन। तुम योग में प्रसिद्धि होकर आशक्ति-साक्षात् सङ्ग का परिचाय कर सकसत-असक्तता वालों में समान बने रहते हुए ही कर्मों करा, क्योंकि समत्व ही योग का स्वस्म माना गया है (४-४१ २१५८)। मगवान् करते हैं- 'विद्यान् भोग बुद्धि (विद्या-बुद्धि) से मुक्त रहते हुए (बुद्धियोग में प्रवृत्त रहते हुए) कर्मों से उत्पन्न आशक्तिजनक फल का परिचाय करते हुए कर्मकरण से मुक्त होकर शाश्वतपद (मुक्ति) प्राप्त कर लेते हैं' (५-२१५९)। 'जन्म कर्म च मे विकल्पम्' (१-४१६) इत्यदि श्लोकप्रसिद्ध त्याग शब्द प्रकृत से असम्बन्ध है। मगवान् करते हैं-कर्मोपशान्ति-शक्ति का परित्याग कर उदा तुल्य रहने वाला स्वयंशान्ति बना रहने वाला पुण्य कर्मों में प्रवृत्त रहता हुआ भी (आशक्तित्याग के प्रमाण से) मुक्त नहीं कर रहा (७-४१२)। मगवान् करते हैं 'उपायव्याक्रीडालक्षणा कर्मना से सम्बन्ध रखने वाले आय्य धर्मों से वृत्त रहने वाला निराशी पुण्य संभोगी बनता हुआ यथायात् परिशेषों की आशक्ति छोड़ देता है। ऐसा पुण्य शरीरश्रातुकर्मी (बीजन्तापक) कर्मों में (उत्थिताकांक्षा द्वारा) प्रवृत्त रहता हुआ भी कर्मोंनिष्ठ शेषरूप किन्किर से बचा रहता है (८-४१२)। मगवान् करते हैं- 'शेष पुण्य (शरीरक क्षमता-बीजप्रमा अपने हृदयस्थ) प्रत्यागद्व (अभ्यन्त) में अपने लक्ष्ण कर्मों को समर्पित करत हुआ पतञ्जलशक्ति को छोड़ कर कर्म में प्रवृत्त रहता है वह उन्हीं प्रकार अपने इन कर्मों से उत्पन्न बन्धन में लिप्त नहीं होता, जैसे उदा पानी में रखा हुआ भी कर्मल का पसा पाना के शेष से लिप्त नहीं होता (९-४१२)। मगवान् करते हैं-वागी लोग (आत्मश्रमद्वारा बीजपग बन रहते हुए भी आगामा-अध्यात्मपद कर्मों के शेष से) आगमा को बनाए रखने के लिए शय-मन-बुद्धि-इन्द्रियो क द्वारा शय-आत्मशक्ति छोड़ कर कर्म किया करते हैं (१०-४१२)। मगवान् करते हैं-'श्रम पद को छोड़ कर कर्म में मुक्त रहने वाला पुण्य बर्हा विद्यानिष्ठ प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है बर्हा कर्मात्मिकपूर्वक कर्म शक्तों में आत्मस्त श्रमशमी पुण्य अध्यात्मयोग से बञ्चित रहता हुआ कर्म पाश में आबद्ध होजाता है (११-४१२)। मगवान् करते हैं-'उपायव्याक्रीडामूलक काममव मन से उत्पन्न रहने वाले कामनामव संकल्प-विषय ही कामनाओं के बन्धक बनते हैं। इन कल्पवृत्त कामनाओं का लक्ष्यना परिचाय कर अपने मन से इन्द्रियो का बर्हाप्रना लक्ष्य करना चाहिए (१२-४१२)। 'यं यं शयि स्मरत् भावम्' - आत्मित्यादादरं प्रथ

इस ११ १४ श्लोकों में पठित स्वयं शब्द अज्ञात है। मगवान् करते हैं—'अप्यस्य से ज्ञान मेघ है एवं पान से कम फल का परिणाम सर्वत्र है। इस कम फलस्वाम से ही अन्त में शान्तिराज्य मोक्षपत्र प्राप्त होता है (११-१२।१२)। 'आहिंसा सत्यमक्रोध' इत्यादि १६ में श्लोक में पठित स्वयं शब्द अज्ञात है। मगवान् करते हैं—'अम, क्रोध, लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं। आत्मस्वयं को अज्ञात करने वाले आनरक है। अतः इन तीनों का परित्याग कर देना चाहिए (११-१९।१२)। अर्जुन मगवान् से मन करते हैं कि—'मगवान् ! मैं संन्यास का उत्सव जानना चाहता हूँ, त्याग का मौखिक स्वरूप जानना चाहता हूँ' (१२ १२।२१)। मगवान् उत्तर देते हैं—'अर्जुन ! विद्वानों ने (कर्मों के परित्याग को संन्यास नहीं कहा है, (अर्थात्) कर्म कर्मों के परित्याग को संन्यास माना है (शिवका उत्तरार्थ में ही निश्चयता है कि, कर्मना क परित्याग का ही नाम संन्यास है)। कर्मों के फलत्वाग को ही निश्चयों ने त्याग माना है (२०-१२।२१) किन्तु एक (अन्यथा) विद्वानों का कहना है कि, कर्म' योगजनक है अतः उसे छोड़ देना चाहिए। रूप्य एक (कर्म निश्च-योगनिष्ठ) यह कहा है कि, यह-दान-तपो-सद्गुरु विद्यालुभित कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। (इत्यन्तर कर्म के अन्त्य में दो विभिन्न मत प्रचलित हैं (२-१२।१)। अर्जुन ! इस अन्त्य में (बाब) तुम्हें मैं अपना मत बतला रहा हूँ। अर्जुन ! अतिथि, राक्षस, अमर, मेघ से त्याग तीन प्रकार का माना गया है (२१-१२।३१)। (मेरी दृष्टि से) यह-दान-तप कर्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि (जो मनीषी इनके परित्याग को अन्त्य समझते हैं उन्हें स्मरण रहना चाहिए कि) वे तीनों कर्म (उन) मन्त्रियों के लिए भी पावन ही बने हुए हैं। अथवा तो मन्त्रियों की दृष्टि में तीनों कर्म योगवह नहीं अर्थात् पावन हैं योगनिर्बन्धक हैं। (२२-१२।३५)। (कर्म, निश्चय दान में, दान) इन्हीं कर्मों को वह कि फलप्रदायक श्रेष्ठते हुए कर्म मनुष्य से इनका अनुपमन किया गया है। परी इस अन्त्य में मेरा निश्चित (अन्त्य) और सर्वत्र मत्त है। अर्जुन ! प्रकृतिकार नियत, स्वस्वकार, प्राकृतिक कर्तव्यकर्म का परित्याग अस्वस्व है (२३-१२।३६)। मोक्षदा इन्के परित्याग की चेष्टा करना अनेकानुगत तमस त्याग है (जो बन्धन त्याग नहीं है त्याग का अनुमान है (२४-१२।३७)। इस अनुक कर्म में कर्म परित्याग करना अज्ञेय अज्ञेयता अज्ञेयता, यह निश्चय कर अपनी आत्मस्वयं के अनुभव से कर्म का परित्याग कर देना राक्षस त्याग है। ऐसे अज्ञेय को भी त्यागफल नहीं मिला गया। (२५-१२।३८) अर्थात् यह कर त्याग की वास्तविक परिभाषा करते हुए मगवान् करते हैं—'अर्जुन ! मेरा यह कर्म अस्वस्व है। इस कर्मप्रदायका से आत्मनिष्ठ, और फल-कर्मना का परित्याग करता हुआ जो पुरुष निकल कर्म में प्रवृत्त होता है (उस पुरुष का कर्मानुगत ऐश्वर्य फलवर्धकप्रदायक) त्याग ही वास्तविक त्याग है (कर्मत्याग त्याग नहीं अर्थात् फल-कर्मनापरित्याग त्याग है) (२६-१२।३९)। (फलप्रदायकपरित्याग का फल यह होता है कि, परित्याग त्यागी की के लिए न तो अर्जुनक कर्म (राज्यवह ऐश्वरीयक वास्तविक कर्म) होय का कारण बनता एवं न कर्मानुगत कर्म (निर्द्वन्द्व वास्तविक वास्तविक कर्म) का कारण बनता। तथा कि कर्मों से होय नहीं करता वास्तविक कर्मों में शिथिल नहीं होता। अर्थात् अन्त्यक अन्त्यक कर्मों में समर्थ परित्याग कर यह इनमें समान से प्रवृत्त होता है। ऐसा यह त्यागी पुरुष मिल लक्षण बना रहता हुआ सर्वत्रात्में से अनुकृत होता है। 'निश्चित अन्त्य-कि म कर्मप्रदायक ऐश्वर्य कर्म अन्त्यक अन्त्यक से नहीं होता' (२७-१२।४०)। (अर्जुन ! तब इस त्याग का स्वी है कि) देवता के लिए अन्त्य कर्मों का परित्याग सर्वत्र अस्वस्व है। ऐसी परिस्थिति में त्यागी की त्यागी अस्वस्व, किन्तु कर्म नहीं का परित्याग

चन्द्रयी है इसी के स्वरूपपरिचय के लिए गीता में योगचन्द्रयी का विशेषण हुआ है। अम्बयत्कम्ब से ब्रह्मचन्द्रयी 'पुरुषविद्या' है, बुद्धिसम्बन्ध से योगचन्द्रयी बुद्धियोग है। पञ्चतः 'ब्रह्मविद्यायां-योगशास्त्रे' का निष्कर्ष निकला है—'अम्बयपुरुषविद्यायां योगशास्त्रे'। अम्बयपुरुष पुरुष है बुद्धियोग प्रकृति है। गीता ने पुरुषमस्तिष्ठन्नृणा आत्मविद्या श्री भोरे 'ब्रह्मविद्यायां' से हमारप्यन्य आकर्षित किया है, एवं प्रकृतिमस्तिष्ठन्नृणा योग श्री भोरे 'योगशास्त्रे' से हमारप्यन्य आकर्षित किया है। अम्बिरूप से योगशास्त्र 'अम्बयविद्यातुगत योगशास्त्र' है। एवं अम्बिरूप से यही अम्बयविद्यातुगत राक्षसविद्यातुगत बुद्धियोगशास्त्र, पराम्बयविद्यातुगत सिद्धविद्यातुगत ज्ञानयोगशास्त्र, परावरात्म्यविद्यातुगत राक्षसविद्यातुगत भक्तियोगशास्त्र, एवं अक्षरात्म्यविद्यातुगत आर्षविद्यातुगत कर्म योगशास्त्र, इन नामों से व्यञ्जित किया या लक्ष्य है, परन्तु कृता नहीं आदिय। क्योंकि पर-परावर-अक्षरविद्यातुगत ज्ञान-भक्ति-कर्म' कलुषा बुद्धियोगशास्त्र ही है। अतः गीता का वास्तविक नामकरण 'अम्बयविद्यायां बुद्धियोगशास्त्र' यही होना आदिय, वैवाङ्मि परिलोक से स्पष्ट है।

१ ज्ञानकर्ममय प्रत्यक्षा-सर्वात्म्यका	आत्मब्रह्म-तत्त्वगत वैराग्यकर्म
२ कर्मगर्भितज्ञानप्रधान पराम्बयः	आत्मब्रह्म-तत्त्वगत ज्ञानकर्म
३ कर्मज्ञानोन्मेषप्रधान परावरात्म्यः	आत्मब्रह्म-तत्त्वगत ऐश्वर्यकर्म
४ ज्ञानगर्भितकर्मप्रधान अक्षरात्म्यः	आत्मब्रह्म-तत्त्वगत कर्मकर्म
सैवा अम्बयविद्याचतुष्टयी	सैवा अम्बययोगचतुष्टयी

१ सबात्म्यविद्यातुगत राजर्षिविद्यानाम-ब्रह्मविद्यायां	बुद्धियोगशास्त्रकं	योगशास्त्रम्	- प्राचीनतद्वेषा स्वस्तिमन्मावि अदि गीताशास्त्रमन्मावि
२ पराम्बयविद्यातुगत सिद्धविद्यानाम-कर्मविद्यायां	ज्ञानयोगशास्त्रकं	योगशास्त्रम्	
३ परावरात्म्यविद्यातुगत अक्षरविद्यानाम-अक्षरविद्यायां	भक्तियोगशास्त्रकं	योगशास्त्रम्	
४ अक्षरात्म्यविद्यातुगत आर्षविद्यानाम-कर्मविद्यायां	कर्मयोगशास्त्रकं	योगशास्त्रम्	

तदिदं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रात्मकं गीताशास्त्रं व्यादिष्टया

वैश्वानिकदृष्ट्या व्यष्टिमात्रम्-
इति गीताशास्त्रनामानि

- १-राजर्विद्यायां वैराग्यबुद्धियागशास्त्रम्—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्
 २-सिद्धविद्यायां ज्ञानबुद्धियोगशास्त्रम्—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्
 ३-राजविद्यायां देवव्यबुद्धियोगशास्त्रम्—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्
 ४-भार्यविद्यायां धर्मबुद्धियोगशास्त्रम्—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्

तदिदं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रात्मकं गीताशास्त्रम्—व्यष्टिदृष्ट्या

वैश्वानिकदृष्ट्या समष्टिमात्रात्मकं गीताशास्त्रस्य नामकरणम्—

ब्रह्मविद्यायां	योगशास्त्रं	वा
आत्मविद्यायां	शरीरशास्त्रं	वा
पुरुषविद्यायां	भक्त्योशास्त्रं	वा
अभ्यसविद्यायां	बुद्धियोगशास्त्रं	वा
सर्वविद्यायां	सर्वधर्मशास्त्रं	वा

तदिदं—अभ्यसविद्यायां बुद्धियोगात्मकं गीताशास्त्रम्



७-‘मग’ चतुष्टयी से अनुप्राणित मगबुद्धिया, तथा मगबुद्धि के चार-चार विवर्त-

आत्मविकृत के लिए ‘मग’ शब्द निष्पन्न है एवं आत्मसंकोच के लिए ‘ज्ञेय’ शब्द निवृत्त है। आत्मविकृतत्वका मग आत्मानन्द का कारण है, आत्मसंकोचत्वका ज्ञेय आत्मदुःख का कारण है। मग और ज्ञेय सुख-दुःख के पर्याय नहीं हैं। अस्तित्व मग सुख का बनक है ज्ञेय दुःख का बनक है। धर्म ज्ञान-वैराग्य-देवधर्म इन चार धर्मों से आत्मा स्वस्वरूप से ‘म’ भाव (विकृतभाव) का प्राप्त हो जाता है। इसके आत्मा स्वभूमानन्द का मोक्षा बन जाता है। आत्मविकृतत्वका अतिनिवेश अज्ञानत्वका मोक्ष, रागद्वेषलक्षणा आकर्षक, अनैर्धर्मलक्षणा अस्मिता, इन चार ज्ञेयों से आत्मा स्वस्वरूप से ज्ञानमग का प्राप्त हो जाता है। इसके आत्मा आत्मदुःख अस्फुल्लत्वका दुःख का मोक्षा बन जाता है। ज्ञेयचतुष्टयी की निवृत्ति ही आत्मविकृतत्व का कारण होती है। यही गीताशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। ज्ञेयचतुष्टयी स्वयः निवृत्त नहीं होती। अस्तित्व जैसे आत्मकार की निवृत्ति के लिए प्रकृत का आगमन अपेक्षित है, एवमेव ज्ञेयनिवृत्ति के लिए मग प्रवृत्ति अपेक्षित है। मगचतुष्टयी की प्राप्ति का उपाय कठाना ही गीता का मुख्य उद्देश्य है। वर्य शब्दों में

स्वभावः दुःखी मनुष्य जैसे सुखी बने ।, गीतरात्मक इसी प्रकार के समाधान को सुख्य उद्देश्य बना रहा है । मनुष्य दुःखी रहता है क्लेशचतुष्टयी से, सुखी बनता है भगवत्तुष्टयी से । चार क्लेशों से दुःख के कारण भी चार हैं चार भगों से सुख के कारण भी चार ही हैं । भगवत्प्रियासि का प्रथम ही मंगलिका है । मंगलाती मन्वान् में क्योंकि इन चार मन्विकाओं का बिरलोक्य किया है, अतएव प्रथममिन्द्र यह किया अपने अक्षर 'मन्विका' नाम से प्रसिद्ध हो गई है । प्रथममिन्द्र विद्याचतुष्टयी उपलम्भयोग है । इस विद्या के आचार पर प्रतिष्ठित ऋष्यमता ही अतुष्टयी मंगयोगचतुष्टयी है, जो भगवत्प्रियासि 'मन्विका' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । मन्विका किंवा मन्विका अम्भिका है, अम्भिकमेन्द्र में यह चार भागों में विभक्त हो रही है । मन्विका किंवा मन्विका बुद्धियोग है । मन्विकमेन्द्र से यह भी चार ही भगों में विभक्त हो रहा है । सर्वाम्भिका मन्विका के आचार पर प्रतिष्ठित वैराग्यमहात्मक बुद्धियोगोत्पत्ति से उत्पत्तिरिन्त्री रणोत्पत्ति अतकि नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है । पराम्भिका मन्विका के आचार पर प्रतिष्ठित ज्ञानमहात्मक बुद्धियोगोत्पत्ति से उत्पत्तिरिन्त्री अज्ञानक्षय मोह नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है । पराम्भिका मन्विका के आचार पर प्रतिष्ठित ऐश्वर्यमहात्मक बुद्धियोगोत्पत्ति से उत्पत्तिरिन्त्री अनैश्वर्यक्षय अस्मिता नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है । एवं अम्भिका मन्विका के आचार पर प्रतिष्ठित अर्धमहात्मक बुद्धियोगोत्पत्ति से उत्पत्तिरिन्त्री अर्धमहात्मक अस्मिता नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है । अम्भिका मन्विका के आचार पर प्रतिष्ठित अर्धमहात्मक बुद्धियोगोत्पत्ति से उत्पत्तिरिन्त्री अर्धमहात्मक अस्मिता नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है । अम्भिका मन्विका के आचार पर प्रतिष्ठित अर्धमहात्मक बुद्धियोगोत्पत्ति से उत्पत्तिरिन्त्री अर्धमहात्मक अस्मिता नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है । अम्भिका मन्विका के आचार पर प्रतिष्ठित अर्धमहात्मक बुद्धियोगोत्पत्ति से उत्पत्तिरिन्त्री अर्धमहात्मक अस्मिता नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है ।

- १-सर्वाम्भिका मन्विका—उत्पत्तिः—वैराग्यमोक्षोत्पत्ति बुद्धियोग—उत्पत्ति—अतकिक्लेशोत्पत्तिरिन्त्री
- २-पराम्भिका मन्विका—उत्पत्तिः—ज्ञानमोक्षोत्पत्ति बुद्धियोग—उत्पत्ति—मोहोत्पत्तिरिन्त्री
- ३-पराम्भिका मन्विका—उत्पत्तिः—ऐश्वर्यमोक्षोत्पत्ति बुद्धियोग—उत्पत्ति—अस्मिताक्लेशोत्पत्तिरिन्त्री
- ४-अम्भिका मन्विका—उत्पत्तिः—अर्धमोक्षोत्पत्ति बुद्धियोग—उत्पत्ति—अर्धमोक्षोत्पत्तिरिन्त्री

ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धम्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥

—वायुपुराणान्तर्गत—प्रक्रियापादे १५५।

—वैराग्यमनुष्ठी परित्याग का सङ्ग स्वरूप विग्वर्शन—

अस्मिताक्षयनिवर्तक अर्धमोक्षोत्पत्ति ऐश्वर्यमोक्षोत्पत्ति एवं मोहनिवर्तक ज्ञानबुद्धियोग दोनों का पूर्व स्वप्ना में अस्मिता निवर्तक किया का बुद्धि है । अस्तु स्वप्न में गीतरात्मक की इत्युत्पत्ति वैराग्यबुद्धियोगानुत्पत्ति अस्मिता किंवा ही स्वप्ननिवर्तक अर्धमोक्षोत्पत्ति का बुद्धि है कि, वैराग्यमन्त्र के प्रयुक्त क्रम स्वाग-परिग्रहभाग-उत्पत्ति-अन्त-इन्द्र का गीता के वैराग्य राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं है । अस्मिता त्यागक्षय वैराग्य का योत्पत्तिरिन्त्री में अस्मितापरित्याग-उत्पत्तिरिन्त्री-आतकिपरित्याग-ही अर्ध है । परित्याग भी अस्मितापूर्वक नहीं, अस्मिता उद्भवमान से । फिर का भी सम्बन्ध कीवकि, 'इन्द्र अस्मिता छोड़ दी' यह करने पर से ही अस्मिता उद्भव नहीं बाना कथी । अन्तर्गत में अस्मिताक्षय का मत री । और अर्ध है—अस्मिता छोड़ दी । ऐश्वर्य परित्याग अर्ध से भी अस्मिता मन्विका है ।

बानभूत कर-आसक्ति को योग समझते हुए उठते घूला करते हुए उसे छोड़ना तो एक प्रकार की द्वेषासक्ति ही है, जो रागासक्ति से भी कहीं मजबूत है। राग-द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति ही आसक्तिरहितता है। वह त्याग किया नहीं जा सकता अर्थात् वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान से स्वतः हो जाता है। अन्त बुद्धियोगनिरूपण में वह स्पष्ट किया गया है कि निष्कामकर्म योग किया नहीं जाया, अर्थात् वह प्रकृत्या स्वयं होता है। ठीक यही स्थिति आसक्ति-निवृत्ति की है। प्रकृति वैसी बन जाती चाहिये, जिस में न राग हो, न द्वेष हो। छोड़ दिया, छोड़ते हैं, छोड़ देंगे छोड़ना चाहिये, कहना तो त्याग्य वियोग के प्रति आसक्ति (द्वेषासक्ति) पकट कर रहा है। 'त्याग' का अर्थ इसी लिए तो हुआ कि हुआ है। ईश्वरत्व निर्लेप बन कर रागद्वेषमक सर्वविध प्रपञ्चों में शोकसमहृदयता प्रकृत रहते हुए भी उनमें आसक्ति न रहे, यही आसक्ति का अर्थ त्याग है। व्यक्तीक्य से ईश्वर कहीं नहीं है, सर्वत्र है। क्या यह लिख होना है? नहीं। क्यों? इसलिए कि वह अन्तःसहस्रव्य वैराग्ययोग में समनिरियत है। यही प्राचीनस्थिति सहस्रव्ययोग का आधार बनती है। प्राचीनस्थिति में प्रतिष्ठित होने का अनन्तर यथार्थत्वं इन्द्रजित्क नामोह स्वतः निवृत्त होनाते हैं। कुछ न छोड़ना ही सब कुछ छोड़ना है, स्वयं ही सबकुछ त्याग देना ही सब कुछ ग्रहण कर लेना है, और यही त्याग तथा ग्रहण की वैज्ञानिक मीमांसा है। सर्वगुण ही तो निगुण कहलाता है, सर्वधर ही तो निराधार माना गया है। 'यद्यत् स्वरूपमाप्तौ तेन तं स युज्यते' के अनुसर वह बिलसे मिलता है, तद्वत् ही मूर्खता होने लगता है। यह सर्वरूपता ही उठती नीकमता है। विद्यम अनुभव से सम्बन्ध रहता है, शम्भुहाय त्याग-ग्रहण की मीमांसा अस्मभव है। जिस प्रकार एक विद्ययातस्त कामधमी संघटी विवाह करता है अनसम्ब करता है, पुत्र कलत्र का अनुगमन करता है, लौकिक धर्मों में व्यभिचरता है। क्या वैराग्यबुद्धियोगी इन सब प्रपञ्चों से दूर रहेगा? नहीं, वह भी संघटी की ही भाँति पूरा संघटी बना रहेगा। यही क्यों इसके लौकिक कर्मों को ऐसे युज्यमस्थित होंगे किन्हें देख मुन कर संघटी भी अस्मि होनायगा। क्या यही वैराग्य है? हाँ, निरन्धने गीताग्रहण यही वैराग्य है, सद्भावना है। महात्मक त्याग ही गीता का वास्तविक त्याग है। नानाधातमवाप्यर्ण्य वर्तएव च कर्मसिद्धिं करने वाले ममत्वात् में अपने जीवन से भी तो त्याग का यही स्वक्य हमारे सामने रहता है। मगवान् ने कभी गीताग्रहण का परिष्कार नहीं किया, मगवान् ने कभी नारी को नरकाहार नहीं बतलाया कभी कभी याना नहीं पहिना कभी बीर्य शीर्षं कुटियों में निवास कर माला नहीं लपी, संहर को निर्या करने वाले वेदान्तियों की भाँति मग को भीषीनचारण्य का भारेशोपवेश नहीं दिया। अर्थात् मगवान् यावज्जीवन जयमय्य-सर्वत्त्वं यही सब कुछ करते रहें, जो एक संघटी करता रहता है। पूर्वव्यग्राममुत्तमत्वं मगवान् का लौकिक मुक्त या उनके फली थी पुत्र से लता ये सब कुछ था। वर्णानुगत तमी कुछ था। इन सब प्रपञ्चों में उन्मय रहते हुए भी मगवान् मगवान् थे। यही पूर्वग्रहणमक पूर्णपरिष्कार का वह अन्तम उदाहरण है, जो स्वयं वैराग्यारोह पर परित हुआ है। वेदान्ती नया कहते हैं क्या करते हैं, इसका हमसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका अर्थ ही गीताग्रहण। इसी के सम्बन्ध में हमें यह अनुभव करना है कि गीता वैराग्य के सम्बन्ध में क्या कहती है त्याग की क्या परिष्कारा बनसती है? एवं तथा ही वैराग्ययोगारोह गीताचार्य स्वयं क्या करते हैं? मगवान् के जीवन से तथा मगवान्पुत्रपरमन्व गीताग्रहण से उभयथा यही प्रमाणित हमारा है कि अन्तःसहस्रव्यवर्ण्य कर्मसंतम ही गीता का ध्याय्यता है जिसके लक्ष्यकरण के लिए ही वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान सर्वविधिया प्रकृत हुए हैं एवं किसी अनुभूति के लिए निम्न विहित विद्ययन्त्रों का क्या लक्ष्य में रहना आवश्यक है—

१-तपस्विभ्योऽधिक्रे योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यस्त्वाधिक्रे योगी, तस्माद्योगी मतासु न ! ॥

२-योगिनामपि सर्वेषां मद्भूतेनान्तरात्मना ।

ब्रह्मवान् भवते यो मां स मं युक्तमा मत ॥

—गीता १।१६-१७॥

६-गीता के द्वारा सशोधिता योगप्रयी—

प्रथम अध्याय से आरम्भ कर ६ ठे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त पूरे ६ अध्यायों में बुद्धियोगानुगत रावर्त्तिकिया का प्रतिपादन हुआ है। ऊक्त दोनों श्लोक ६ ठे अध्याय के अन्तिम श्लोक हैं। इन्हीं पर रावर्त्तिकिया का उपसंहार हुआ है। अतएव इनमें मन्वान् ने रावर्त्तिकिया का निष्कर्ष रख दिया है। अन्वयक्रम योग अन्वयभित्तयोग अन्वयस्वात्मज्ञान अन्वय, तीनों का क्रमः वाक्-प्रत्य-मन-कलाओं से सम्बन्ध माना गया है। वाग्प्यापार 'अम' कहलाया है प्रायश्चित्तपार 'तप' कहलाया है, मनोप्यापार 'अम' कहलाया है। वाङ्मय अम, अयमय तप और मनोमय अम (अमना इच्छा) ये तीनों मनाप्रायश्चित्तमय तपि अर्थात् प्रजापति के सामान्य तपपुरुषका मने पर हैं। वैद्यकि-सोऽक्षयत् स तपोऽक्षयत् सोऽक्षयत् इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। अन्वय योग अनात्मिका वाक् से उत्पन्न रहता हुआ आधिभौतिक है। भित्तयोग तपोमय प्रायश्चित्त तपः हुआ मन्वय होने से उभयार्थक है। अन्वय अन्वय मन से उत्पन्न रहता हुआ आधिदैविक है। अन्वय करने का बन्ध है कि, उभयार्थक भित्तयोग मन्वय तपोमय प्रायश्चित्त तपः से 'तपोयोग' भी कहला सकता है। मन्वान् ने इन तीनों मार्गों योगी को शोभयति इति से बुद्धियोगतत्त्व प्रदान करते हुए गीताशास्त्र में तीनों का उद्देश्य किया। वे ही उद्देश्यित तीनों योग ज्ञानबुद्धियोग (अन्वययोग) (भित्तयोग), अन्वयबुद्धियोग (अन्वययोग) नामों से स्पष्टतः हुए हैं।

१०-'तपस्विभ्योऽधिक्रे योगी' इत्यादि श्लोक्तसमन्वय—

वैद्यक्यबुद्धियोगतत्त्व 'योगी' नाम से ज्ञानबुद्धियोगाधिकृत 'ज्ञानी' नाम से वैद्यक्यबुद्धियोग-विद्यया प्राप्ततमक तपःअन्वय से 'तपस्वी' नाम से एव कर्मबुद्धियोगाधिकृत 'कर्मि' नाम से स्पष्टतः हुआ है। स्पष्ट किया है कि गीताप्रतिपादित चारों योगों में वैद्यक्ययोग भगवान् का अपना मत होने से अन्वय है। एवं हेतु तीनों योग फलतः के उद्देश्यित होने से वैद्यक्य है। वैद्यक्य योगी के अन्वय अन्वय-तपस्वी-कर्मि की अपेक्षा प्रथम वैद्यक्ययोगतत्त्वता योगी का ही अधिकार स्वतः स्पष्ट है। प्रथम श्लोक से ही स्वात्मिक स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है। भगवान् ने कहा है-योगी (वैद्यक्यबुद्धियोगतत्त्वता) ज्ञानी तपस्वी, कर्मि, तीनों से उच्च युक्ति में प्रकृत है। अतः हे अन्वय ! (इसके नेरी इति हे) योगी ही अन्वय आदिप ।

- १-वैद्यक्यबुद्धियोगः—बुद्धियोग (योग) -तपोमयप्रतिपत्ता-योगी (सर्वार्थस्यानुगत)
 २-ज्ञानबुद्धियोग—ज्ञानयोग (ज्ञानम) -तपोमयप्रतिपत्ता-ज्ञानी (मनोमयपरमस्यानुगतः)
 ३-वैद्यक्यबुद्धियोगः—भित्तियोग (तप) -तपोमयप्रतिपत्ता 'तपस्वी' (प्रायश्चित्तपरमस्यानुगतः)
 ४-अन्वयबुद्धियोगः—कर्मयोग (कर्म) -तपोमयप्रतिपत्ता-कर्मि (वाङ्मयपरमस्यानुगतः)

११-ज्ञानयोग, और कर्मयोग के सापेक्ष गौख-सुख्य-भाव-

चाहों में वैराग्यबुद्धियोगात्मक 'योग' सर्वश्रेष्ठ है चाहों चाहियाँ में वैराग्यबुद्धियोगात्मक योग का अनुष्ठान योगी श्रेष्ठ है, यही प्रथम श्लोक का तात्पर्य है। इसी प्रवचन में यह भी जान लेना चाहिए कि, संशोधित प्राचीनाभिमत योगश्री में ज्ञान मुख्य है एवं ज्ञान गीण है। ज्ञान-कर्मोन्मत्त समन्वय से यद्यपि हीनों ही योग समस्तलक्षण बुद्धियाय से युक्त रहते हुए समान भेदि में प्रतिष्ठित हैं। अतएव हीनों समानकर्म से उपादेय है। तथापि अभ्यवधिकार अनुष्ठानशौक्य, लोकसंभ्रम आदि विरोधताओं के कारण से हीनों में प्रथम-मध्यम-उत्तम भेद से भेदिविभाग माना जा सकता है। पहिले चर्म बुद्धियागलक्षण कर्मयोग एवं ज्ञानबुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, इन दोनों की गौखसुख्यता का समन्वय कीर्ति है। यद्यपि पराभ्यवयुक्त ज्ञानयोग अवराम्ययुक्त कर्मयोगसेवा अभ्यवधिकार की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है। अतएव केवल अभ्यवयुक्त कर्मयोगसेवा ज्ञानयोग प्रदान, साथ ही भेय' फण्या है। तथापि अनुष्ठानशौक्यादि अन्य सभी दृष्टियों से ज्ञानयोग कर्मयोगसेवा गीण ही बन रहा है। पराभ्यवयुक्त अभ्यवयुक्त ही ज्ञानयोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अभ्यवक्त के सम्बन्ध से पराभ्यव भी अभ्यवयुक्तता में परिणत रहता है। इस अभ्यवयुक्त के कारण ज्ञानयोगानुगत कर्म भी अभ्यवक्त बना रहता है। लोकसंभ्रमक भक्त-वशादिक-कर्मों में करने मर के लिए लक्ष्य रहता है। प्रधानदृष्टि अभ्यवयुक्त पर ही निर्भर रहती है। पराभ्यव का सम्बन्ध अवरक है परन्तु वह अभ्यवयुक्तता में परिणत होने से अपने स्वामादिक विकास से अविभूत है। और इस दृष्टि से तो अभ्यवयुक्तता भी वह ज्ञानयोग कर्मयोगसेवा गौख ही विद्य हो रहा है, जिस दृष्टि से पूर्व में हमने इसे मुफ्त कृतज्ञाया था। भक्त अग्रगण्यमी मानक के लिए यह अभ्यवयुक्तता के लक्षण बना रहता है, अन्तर्-अभ्यवयुक्त हि गर्तिबु-भं 'बुद्धयु-भिरयाच्यते' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। ज्ञानमम अपने इसी अभ्यवयुक्तता से भक्त विद्वत्तराम्य मानक के लिए ज्ञानयोग बुगमपय है-'बुग पयस्तत् कजयो वदन्ति'। 'अतवामपि सिद्धानां कविष-मां वन्ति तत्त्वतः' करते हुए मगनाम् सिद्धियुक्तानुगत ज्ञानयोग में तत्त्व ही अनुष्ठानशौक्य का ही ज्ञानमान मान रहे हैं। अभ्यव विकासभाव, अनुष्ठानशौक्याभ्यव, सर्वोपरि लोकसंभ्रमाभाव, इन्ही सब कारणों से कर्म योगसेवा ज्ञानयोग अवरभदि में प्रतिष्ठित हो रहा है। अवर कर्मयोग भक्त-अवराम्यव-के विद्वत्सम्बन्ध से अनुष्ठानशौक्य से एवं सर्वोपरि लोकसंभ्रम से ज्ञानयोगसेवा प्रदान बन रहा है। कर्म गर्ति ज्ञानयोग कर्म त्यागानुगत कल्याण्य है ज्ञानगर्ति कर्म योग कर्म परिग्रहानुगत संश्रय है। कल्याण्य में वैयक्तिक अमुद्यय का अर्थान्य है संश्रय में वैयक्तिक अमुद्यय के साथ साथ तत्त्वधारण का अमुद्यय भी सुदित है। अतमभुक्तिगलक्षण नि भेयतम्यव दोनों पक्षों में ज्ञानरूप से प्रतिष्ठित है। एक के ही अनुष्ठान न दोनों विद्व हो जते हैं। परन्तु लोकसंभ्रमदृष्टि पूर्वोक्त विरोधताओं की दृष्टि से तत्त्वसेवा (ज्ञानयोगसेवा) योगय (कर्म योगय) ही प्रधान एवं भेय-फण्या है, जैसा कि निम्न लिखित भाग्यवचन न प्रमाणित है-

१-मांस्य-योगो गृथम्-बाला प्रवदन्ति, न परिहृता ।
 एरुमप्याभित्त सम्यक्-उभयोविदन्ते फलम् ॥

- २-यत् सांख्यै प्राप्यते स्थान, तद्यौगैरपि गम्यते ।
 एषं सांख्यं च योगं च यः पश्यति, स पश्यति ॥
- ३-संन्यासस्तु महानाहो ! दुःखमाप्तुमयोगत ।
 योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नन्निरेवाधिगच्छति ॥
- ४-सन्यास कर्मयोगस्तु निःश्रेयसकराखुमौ ।
 तयोऽस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥

१२-कर्मयोग, और मक्तियोग के सापेक्ष गौण-सुख्य-भाव—

इस परिकल्पितद्विभोगलक्षण मक्तियोग का समन्वय कीजिए । ज्ञानयोग में कर्म गर्भीभूत है, कर्मयोग में ज्ञान गर्भीभूत है किन्तु मक्तियोग में ज्ञान-कर्म-वैराग्यसुखिभोगस्य समतुलित है । अतएव ज्ञान-कर्मयोग-पक्षका मक्तियोग समत्कलक्षण बुद्धिसंश्लेष अधिक उल्लिखित माना जायगा । परात्मस्यतुल्य ज्ञानयोग का परात्मसा-तुल्य कर्मयोग दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित परावयव्यानुसृत-महानात्माधारेण प्रतिष्ठित मक्तियोग वास्तव में मध्यस्थ दूरवयाव के समन्वय से ज्ञान-कर्मोन्मत्तयोगपक्षका इन्द्रिया समत्कलक्षण से विशेषरूप से जुक्त माना जायगा । आधिदैविक परात्मसम्पत्ति से इसे ज्ञानयोग माना जायगा आधिभौतिक अकारणसम्पत्ति से इसे कर्मयोग कहा जायगा अतएव इस मध्यस्थ मक्तियोग के समन्वय में—‘एकमज्वारिषतः सम्पत्-समसाविन्दते पञ्चम् उर्ध्वमना परित्यज्यं माना जायगा । विराडभित्तिस्त्वान्कारोपयिक्तः * इत मक्तियोगतुल्य कर्म में कर्मयोगस्य अन्वयविकल्प, अतुल्यलक्षकर्म लोकात्प्रहासि विरोधतारै तो हैं हीं, इसके आतिरिक्त इतमें अन्वयव्यवसायसमर्पणमूलक बहु प्रत्यक्षतुल्य भी विकल्पित रहता है किन्तु ज्ञान, तथा कर्मयोग में अभाव है । इतके आतिरिक्त जैसे शास्त्रीय ज्ञानयोग (संन्यास), तथा शास्त्रीय कर्मयोग (म्नादिकर्म) का अधिकार केवल लक्ष्यतुल्यतुल्य उचमवेदिनी (विवालिबगी) का ही है जैसे मक्तियोग में कोई अर्गला नही है । आत्मसमत्कलक्षणया मक्ति का लक्ष्य समानाधिकार है । पापवेदिनी भी इतसे मुक्त हो जाती है + । समत्कलक्षण बुद्धिभोग (वैराग्यसुखिभोग) के उल्लिखित रहने वाला समत्कलक्षण मक्तियोग ज्ञानकर्मयोगपक्षका बुद्धिभोग से ही

*-भक्त्या त्वनन्यया शक्य ब्रह्मसंबन्धोऽर्जुन ! ।

आतु द्रष्टुं च तच्चेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥

—गी०११।२४

+—मां हि पार्थ ! व्यपाभित्य षडपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैस्यास्तथा शूद्रा तेष्वपि यान्ति परां गतिम् ॥

—गी ४।३२

सुख हो जाता है = । इन्हीं सब कर्मों से हम मन्त्रियोग को कर्मयोगपेक्षा प्रथम, एवं श्रेयःक्या मानने के लिए समझें हैं । इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ-सर्वश्रेष्ठ-स्वाभ्यानुगत वैराग्यबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग से वृत्त स्थान परवराभ्यानुगत पूर्ववर्त्यबुद्धियोगात्मक मन्त्रियोग का, तीसरा स्थान आचरन्त्यानुगत कर्मबुद्धियोगात्मक कर्मयोग का, एवं चौथा स्थान पराभ्यानुगत ज्ञानबुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग का स्थित हो जाता है । इसी से यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, ज्ञानी की अपेक्षा कर्मी श्रेष्ठ है तदपेक्षा तपस्वी (मरुत) श्रेष्ठ है, एवं तपस्विज्ञा योगी श्रेष्ठ है । ज्ञानयोग प्रथम स्थान है कर्मयोग मध्यम स्थान है मन्त्रियोग उत्तम स्थान है एवं बुद्धियोग स्थानातीत है । परन्तु ध्यान रहे, यह गौण-मुख्यमात्र संशोधिता योगप्रणाली से ही सम्भव रहता है । प्राचीनाभिमत काम्यकर्मयोग काश्च-साम्प्रदायिक मन्त्रियोग, एवं कर्मस्थानस्थाय ज्ञानयोग तो गीता से कर्त्तव्य बहिष्कृत ही हैं । इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर गीतानुगता योगचतुष्टयी के भेद-विभागों का समन्वय करना चाहिए ।

- १-सर्वाभ्यानुगतो बुद्धियोग (वैराग्यबुद्धियोग)-सर्वश्रेष्ठ-श्रेष्ठ
- २-परावराभ्यानुगतो मन्त्रियोग (ऐश्वर्यबुद्धियोग)-उत्तम
- ३-आचरन्त्यानुगत कर्मयोग (कर्मबुद्धियोग)-मध्यम
- ४-पराभ्यानुगतो ज्ञानयोग (ज्ञानबुद्धियोग)-प्रथमः



१३-भूमोदक, क्षीणोदक, एवं तदनुगत मन्मना-उन्मनाभाव—

‘सपस्विभ्योऽपि योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽपि कः इत्यादि श्लोक से भगवान् ने यह सिद्ध किया कि, योगी (वैराग्यबुद्धियोगी) का स्थान सर्वोच्च है । इससे आगे ही-‘योगिनामपि सर्वेषाम्’ यह श्लोक पठित है । भगवान् कहते हैं-‘समूख योगियों में भी जो योगी भद्रगत अन्तरात्मा से महापूर्वक मुक्त महत्ता है वह योगी मेरी दृष्टि में सुकृतम है’ । इस कथन से यही ज्ञान निकल रही है कि, एवं वैराग्यबुद्धियोग में भी श्रेष्ठविभाग प्रसिद्धि है । दूसरे शब्दों में वैराग्यबुद्धियोग भी दो भागों में विभक्त है । प्रथम स्वाभाविक बन जाता है कि उन दोनों वैराग्यबुद्धियोगों में क्या अन्तर है । प्रथम-समाधान के लिए वैराग्यबुद्धियोगात्मक के ‘उन्मना, मन्मना’ नाम के दो विषयों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । भूमोदक क्षीणोदक नामक दो पारिभाषिक शब्द क्रमशः उन्मना मन्मना-भावों का स्वीकरण कर रहे हैं । बही अन्वयध्याना प्रकृति के द्वारा विरहबन्ध बना है, यह भूमादृष्टि है, विरह-‘तस्माद्वा ष्वत्समादात्मन आकृताः सम्भूताः’ इत्यादि वैतरीय-धर्म से स्वीकरण हुआ है । बही यह लक्ष्य बना है इसका तत्पर्य है-बही लक्ष्य हुआ है । लक्ष्य में बही है

=-सपां सक्तयुक्तानां मज्जतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं यत्न माप्नुपयान्ति तं ॥

—गी०१ ११०।

३-न चाहं तेष्ववस्थितः

—गीता ६।४।

४-न च मत्त्वानि भूतानि परब मे योगमैस्वरम्

—गीता ६।५।

उत्पन्नाभ्यस्य

५-भूतभूत

गीता ६।११।

उत्पन्नाभ्यस्य

६-न च भूतस्य

—गीता ६।११।

उत्पन्नाभ्यस्यः

७-ममत्त्वा भूतभावनः

—गीता ६।११।

उत्पन्नाभ्यस्यः

८-गतिर्मर्त्ता प्रभु साक्षी निवासः शरर्यं सुहृत् ।

प्रमया प्रह्वयस्थानं निधानं बीजमभ्यस्यम् ॥

—गीता ६।१५।

उत्पन्नाभ्यस्य

९-अप्रहृतमन्ता च मर्त्या मोक्ष महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तं ब्रह्मेऽस्मिन् पुरुषः परमः ॥

१०-यदा भूतपृथग्भाषमेकस्वमनुपरयति ।

तव ध्वं च त्वत्कारं ब्रह्म सम्यगते तथा ॥

—गीता १३।३०

उत्पन्नाभ्यस्यः

११-अस्यान्व-स्थानि भूतानि यन सचमिद् वतम् ॥
—गीता ५।२३।

मन्मनाभ्यस्यः

१२-बहुनां सग्ननामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥
—गीता ५।१४।

उन्मनाभ्यस्यः

१३-यामुपैष सचमिति स नक्षत्रा मुदुर्धम ॥
—गीता ५।१४।

मन्मनाभ्यस्यः

१४-सचमुत्सिक्तं यो मां मज्जत्कृत्स्नमास्थितः ।
सचया सतमालोऽपि स योगी मयि वर्धते ॥
—गीता ६।२१।

उन्मनाभ्यस्यः

१५-आलोपम्यन सर्वत्र समं परयति षोऽप्यु न ।
दुर्नं वा यदि वा दुर्भ्रं स योगी परमो मतः ॥
—गीता ६।२२।

मन्मनाभ्यस्यः



१५-उन्मनायोगी, और उसका बाध वातावरण-

उन्मनाभ्यस्य एव मन्मनाभ्यस्य, दोनों के अर्थ दोन के लिए होने दो पैसियों को अद्वैत ज्ञाना पद्धत । किसी माग्यशास्त्री नगर में अन्मना कर लीं अद्वैत दो बुद्धियोगी नियत करते हैं । दोनों ही लोकात्मिकाएक ज्ञानों में पूरा अन्मना प्रदान कर रहे हैं । दोनों ही शास्त्रविद् अर्थात् अन्मनाएक अन्मनाओं का अन्मना-अन्मनाएक अन्मनापूर्वक अन्मना कर रहे हैं और परी तक दोनों अन्मना भगवत पर प्रतिक्रिया हैं । अन्मना दोनों के अन्मना अन्मनाओं में अन्मनाभ्यस्य-ओं में इन विमर्ष पाते हैं । एक अन्मना अन्मना में

ही है, वह घटस्थी भी है, स्वभावतः पारिवारिक स्थितियों का सुखवसिष्ठ रूप से धला भी रहा है, लोककाम्यो में भी माग होता है। परन्तु देखते हैं—उसका बाह्य वातावरण गम्भीर बना हुआ है। उदासीनता से ही वह स्वभाव अनुगमन कर रहा है। सामान्य वैराग्य स्वभाव मोहन, अतिशय मौनान्ध्रम्, और इन उदासीनताओं को धारण कर सांसारिक क्रम कलापों में प्रवृत्ति, यही इस योगी का बाह्य वातावरण है। अनुमान लगाने वाले जान लेते हैं कि यह योगी करता सब कुछ है सहयोग सब में प्रदान करता है, परन्तु कष्टानुभव इन सब प्रयत्नों में इसका मोह नहीं है। ऐसा योगी कल्पि स्वयं उसके सम्पर्क में बधातमय आता रहता है, परन्तु स्वभावधारण अपनी ओर से इस योगी के बाह्य—उदासीन वातावरण से सम्पर्क करने में भवराते हैं। बिना प्रकार एक व्यक्ति अपने मित्र से निर्मय बन कर परामर्श करने में समर्थ हो जाता है, जैसे इस योगी के सम्पर्क में जनसाधारण के पहुँचने का साहस नहीं होता। 'न्या करोंगे, न्या समझेंगे' इन मय से पूर्वनिष्ठ योगी लोकसंघ्राहक बना हुआ भी जनसाधारण के लिए एक बटिल उमरपा बना रहता है। ऐसा योगी ही 'उदासीनवदासीन उन्मनायोगी' कहलाएगा। उन्मनात्मकसाधण विशुद्धात्मकता को लक्ष्य बनाने से ही जैसे योगी का बाह्य वातावरण ऐसा रूप बना रहता है।

१६—मन्मनायोगी, और उसका बाह्य वातावरण—

अब दूसरे योगी के सम्पर्क में आइए। वह भी संतारी है, घटस्थी है, मन्मनात्मक अनुभव, विचारान, आदि आदि लक्ष्य लोकात्मक उसके वात विद्यमान हैं। वह सुन्दर से सुन्दर वैराग्य धारण करता है, सर्वोत्तम सुखायु मोहन करता है, सबसे प्रथमपूर्वक मिलता हुआ है, मित्रगोष्ठियों में सोसाह माग होता है मनोविनोदस्थि का अन्वेषण भी अनुगामी बना रहता है, कहीं से हैला लेलाह है। वात्सल्य, इसका बाह्य वातावरण सर्वथा संलग्नगुण बना रहता है। सर्वसाधारण समझते हैं—यह हमारे ही जैसे व्यक्ति है। उदासीनयोगी का गम्भीर वातावरण जनसाधारण को उसके आत्मस्वरूपक से अपरिचित रहता है। आप उसे पहिचान नहीं सकते। उसका बाह्य वातावरण उसके वास्तविक स्वभाव को ढँके रहता है। किन्तु आप इसे अपने अज्ञान ही एक संतारी व्यक्ति समझते हैं अपने से भी अधिक प्रपटी। आपकी इस समझ से उसकी कोई हानि नहीं होती, आपका काम अक्षय हो जाता है। आप उससे मच नहीं करते, वह आपके लिए महर्न (मैहमा) नहीं करता। उसके सम्पर्क से आप में कर्मक्षेत्रण समाधि हो जाता है। वह आप में बुद्धिमेव उत्पन्न नहीं करता आपके कर्म को हीन नहीं करता। प्रत्येक कर्म्य के लिए 'बहुत अच्छा' करता हुआ वह आप में पुन मिल जाता है। और इतप्रकार वह आपके निश्चयम सम्पर्क में आकर कम कमरा: आपका उत्सोहन कर देता है। उसे कोई नहीं जानता वह लक्ष्य जानता है। वह आप सब में है आप सब उत्तम नहीं है 'न स्वर्हं तेषु, ते मयि'। आप सभी जैसे प्रतीत होने वाला वह कम न्या लोकप्रचार कर देता है? वह आपको सब विदित होता है बर्षक फल आपके समुक्त आता है। सर्वथा अज्ञातरा में रहने वाला स्वामय संतारी प्रतीत होने वाला ऐसा योगी ही 'मन्मना' कहलाया है। सर्वेश्वरगुण्य वैराग्यगुण्यवान ही इसकी प्रतीक्षा बना रहता है। मन्मनात्मकसाधण सर्वोत्तम को लक्ष्य बनाने से ही पूर्वनिष्ठ योगी का बाह्य—वातावरण ऐसा मन्मना बना रहता है। आप यह जान नहीं सकते कि, यह अमुक काम किन दक्षि से कर रहा है? यदि वह अन्य भेषि के व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है तो रहने भी लोकसंघ्राहक निहित है। यदि निम्न भेषि के व्यक्तियों के सम्पर्क में आप उठे देखते हैं तो विरवात कीविए, इसमें भी लोक का अनुभव ही निहित है। अज्ञान। कहीं आप से इस सम्पर्क में भूल न हो आप। इससे आप उसके अनुभव से बर्षि

रह जाये। महामातरक्षुषु में पवित्र भारतभूमि को सौम्य से देखा ही योगी मिला। मानवधनाब की बौन बड़े, बड़ादि देव भी व्यामोह में पड़ गए। किसी ने उठे अपना लाबला पुत्र छमभ, किसी ने अपना लला माना ठा दुबहुदि दुर्म्योन्नादि क क्षिप वह एक सामान्य मनुष्य ही बना रहा। उठे युग में पवि लम्बेनया किसी ने छमभ तो वे वे एकमात्र कुकुकुलितकमह महात्मा भौष्य। स्वर्न भौष्य के शर्मों में हो उठे योगी का स्वरूपपरिचय प्राप्त करना चाहिए—'अहं ह्य नं वधि' इत्यादि महामातरक्षुधर्म से।

१७—'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि श्लोकसमन्वय—

हाँ तो प्रकृत क्षिय का समन्वय ब्रह्मिय। उन्नता योगी भी वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठया योगी है, एवं ममता योगी भी वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठया योगी है। एक (उन्नता) मानव श्रद्धानुष्ठय प्रसारणुष्ठ से ब्रह्मिय रहता हुआ योग मार्ग में प्रवृत्त हुआ है। इत्या (ममता)—ममत्कान्तरात्मा भयाघ्न बना हुआ वह में पुन मिला रहा है। उन्नतायोगी का वैराग्ययोग एक प्रकार से सम्मन्त ज्ञाननिष्ठ से समुत्थित है। ममता-बन्धी का वैराग्ययोग अपने अस्वस्वस्व से लक्ष्यमाना विकलित है। अतएव इन दोनों योगी में ममतायोग ही भेदक माना जायगा। एवं दोनों ब्रह्मियों में ममतायोगी का स्थान ही लम्बेन माना जायगा। 'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि द्वितीय श्लोक से इसी योगी का निरक्षेपण हुआ है। श्रीयोगेश्वरकामानुष्ठय उन्नतामात्रप्रमद-ईश्वरकामानुष्ठय-वैराग्ययोगी केवल 'योगी' का स्वरूप (१।११), एवं योगेश्वरकामानुष्ठय-ममतामात्रप्रमद-सर्वकामानुष्ठय वैराग्ययोगी 'परायोगी' इत्यादि (१।१२) 'तपस्विभ्योऽपि को योगी' इत्यादि पूर्व श्लोक में उन्नता वैराग्ययोगी का प्रतिपादन हुआ है। एवं—'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि उत्तर श्लोक में ममता योगी के प्रतिपादन का निरक्षेपण हुआ है। इत इति से—'ममता भव' का वैराग्य सर्वकामानुष्ठय श्रद्धानुष्ठय वैराग्यबुद्धियोग ही बीजा का मुख्य सिद्धान्त बन रहा है। अतः स्वस्वपरिचय के लिए तपस्विज्ञानी आतन्त्रिय का स्वरूपपरिचय ही अपेक्षित है।

१८—दुःखमृता आत्मदोषपरपम्पा—

शाम्भवापूर्वक सर्वकामानुष्ठय ही गीता का वैराग्यबुद्धियोग है। इत सम्य में वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठय उन्नता-ममता-विरागों की प्राकृतिक मीमांसा की पूर्व। अब युक्त विरहीमूत वैराग्य-शौर आतन्त्रिय नामक प्रतिद्वन्द्वियों के वैराग्यस्वरूप की शौर पठकों का स्थान आकर्षित किया गया है। दुःखनिवृत्ति का कारण है शौरगमिद्वि। स्वर्गिक माद-अभिमत आतन्त्रिय-अभिनिवेश इन चार श्लोकों से ही दुःख का प्रायमन इच्छ है। शौरगमिद्विपूर्वक दुःख की निवृत्ति करने वाले बुद्धियोगभक्त गीतायात्र के नुष्ठय का निरक्षेपण करते हुए आत्मनिवृत्ति का कारणों का हमारे समुत्थ रचना है जो आकर्षण करने के माध्य में विमस्त मयें गए है। प्राकृतिक, अकारिक आत्मदुःख, आदि विविध भ्रमनिष्ठ कारणों ही श्लोक है। श्लोक ही आत्मनिष्ठकामानुष्ठय आत्मनिवृत्ति का अभिपार करते हुए आत्मदुःख के कारण बताते हैं। आत्मदुःख आत्मनिवृत्ति की को बरि 'आत्मदुःख' का अ कारण है तो श्लोकप्रमद कारणों को 'आत्मदुःख' कहा जा सकता है। विचार शौरिय, आत्मनिवृत्ति भूतान्त किन किन कारणों से बुद्ध ही कर प्रकृत पर अन्तर्ही होता है।

आदि, आत्मा, अज्ञ, तीनी विविध कान्तरात्मेय स्थित तत्कारणानुष्ठय प्रारम्भ कर्म (कर्म) से सम्बन्ध रखते हैं। आत्मन परित वैराग्य, त-हू के चार वर्णानुष्ठय एवं अन्तर्, अन्तर्, अन्तर्, अन्तर्, वे पार

अकार्यं वासिष्ठीं वातिपरिमहं मे अन्वयते । जन्मान्तर्गुणं सञ्चितं शुभा-शुभं संस्कारं के प्रारब्ध संस्कारानुसारं ही इन बातों वासिष्ठीं में से किसी एक वाति वर्णिकर्मा) में प्राणी को जन्म लेना पड़ता है । सर्वप्रकार परमत्मा का प्रभाव, अंतरण तन्मित्र योगमायावच्छिन्न जीवात्मा का वास्तविक कर्मकलात् वातिव्यवहन में आकर सीमित हो जाना अज्ञानरूप आत्मा का अज्ञानरूप बन जाना ही इस ज्ञाना का सर्वप्रधान अविद्या-नामक (अज्ञितसंस्काररूपा अविद्या नामक) प्रथम आत्मादोष है । बिना प्रारब्ध कर्मों की अस्मरण प्रेरणा से जीवात्मा बिना मोहि में जन्म लेता है, के प्रारब्धकर्म ही स्वकल्याणकार तदोन्निमुक्त जीवात्मा के अनुकूल प्रतिकूल मोक्षसंसार के कारण करते हुए अनुकूल संस्कारानुगत अनुकूल वेदानामक सुख प्रतिकूल संस्कारानुगत प्रतिकूल वेदानामक दुःख इस सुख-दुःखद्वन्द्व के कारण कने रहते हैं । कभी सुख कभी दुःख कभी अज्ञान, कभी हाहा, कभी अन्ध, कभी बुध, इस द्वन्द्वकर्मण से आत्मा की स्वामाधिक शान्ति अविभूत रहती है । आत्मा कभी अज्ञानिक से सुख बना रहता है कभी दुःखान्तिक से अज्ञान बना रहता है । वास्तविक, योगानुगत प्रारब्ध कर्मों की अस्मरण प्रेरणा से अज्ञान न रहते हुए भी जीवात्मा को-‘अनिच्छन्नापि व्याघ्र्येय । अन्वयिष्य निचोक्षित’ के अनुसार अस्मरण बन कर इन अज्ञानक द्वन्द्वमयों का अनुगामी बना रहना पड़ता है और यही वृथा ज्ञानमेव है । धनक के लौम्य शुक, और जननी के आन्वय शोषित, दोनों के मिथुनमास में प्रसिद्ध हो कर गर्भीभूत होने वाला औपचारिक जीवात्मा अज्ञानरूप दुःखप्रद गर्भगणकर्म में नवमास पर्यन्त प्रसिद्ध रहता है । अन्वय है, यदि जीवात्मा पर प्रसूयी को उस वक्त का स्मरण भी हो जाय, तो इस मय से इसके प्राण ही उत्पन्न हो जाय । ‘सा देहि राम ! जननीअदरे निवासम्’ प्रसिद्ध ही है । गर्भगणकर्म के द्वारा नियमित होना ही ज्ञान आत्मदोष है ।

अनीलादि विष्णुधर्मों से सम्बन्ध रखने वाले कुलकमानुगत शुकदोष विन्दोष कल्याण है शोषित-रूप मातृदोष कल्याण है । माया-विद्या के शुक-शोषित के प्रथमभाग से कृष्णरीटी जीवात्मा शुक-शोषित-कलित वास्तविक होती से भी अपने आपको नहीं बना सकता । अज्ञानमय प्रकृत्या का यूरोपीय पार्ष्णिक संस्था में रहने वाला स्वाभाविक बौद्ध ही ज्योतिष शास्त्र में ‘ज्ञान कल्याण है । इस ज्ञान से सम्बन्ध आकाश मन्त्रक ही विज्ञानमयता में ‘अज्ञानपरितोषी’ कहलाता है । अज्ञानपरितोषी के केन्द्र का ही नाम ‘ज्ञान’ है । इस लक्षणक केन्द्र से सम्बन्ध आकाश में विष्णु आनुर, अज्ञान ही प्रद-नचर्चों का उत्पन्न में (गर्भाधान-काल में) ज्ञान भी जन्म रहता है जन्म लक्षण में गर्भाधान में प्रसिद्ध होने वाले जीवात्मा में उत्पन्नमयानुक्त बहमायी का भी सम्बन्ध होता है । यही प्राकृतिक रूप माना गया है । इसी को ‘अज्ञानदोष कहा गया है । नाशिकीय का भी इसी में अज्ञानमय माना गया है । बिना पार्ष्णिक माय से प्राणी का शरीर पुत्र-परिवर्धित होता है वह पार्ष्णिक लक्षण भी अपने गुण-वर्णों से हलका आकार बना है यही ‘शरीर’ कहलाता है । अज्ञान ही वदोपनिषद् मानवत्वका ही वह मान परिमित्यति से सम्बन्ध रखने वाले गुण दोष भी इसके अज्ञानिय कने बिना नहीं रहते, बिना शरीरों में ही अज्ञानमय माना जाता । पार्ष्णिक परिधिपथि के अनुकूल मात्र होने वाला मातृदोष अज्ञान से गर्भाधान में पर्युक्त प्राणी इस अज्ञान से ही पुत्र बना रहता है । शिष्यानुगत गुण-दोष भी इसके आधारक कने रहते हैं । इसप्रकार प्रारब्धकर्मकलित अज्ञानदोष (जीवात्मा), आकाशरूप (वासिष्ठी) अज्ञानमयदोष, मातृदोष, पित्रदोष, प्रदोष, शरीरदोष अज्ञानदोष, शिष्यादोष आदि आदि अनेक दोषपरिमह में पुत्र हो कर ही कर्ममोक्ष (वास्तविक कर्ममोक्ष) प्राणी परलोक पर अस्मरण होता है ।

पारम्पर्यमूलक दोगों के कुदल तो इसे अनिवार्यरूप से मोलने ही पड़े हैं। इनके अतिरिक्त इत कठमान कम में वह अपने इन्द्रियबोधात्मक महापराधमूलक हीन-अति-मिथ्या-बोगसचल अयोगों से अन्यान्य आवरणों का भी प्रसक्त बन जाता है। पूर्व परम्परा का अयच्छान होने नहीं पाया उक्त परम्परा उपस्थित हो जाती है। इसप्रकार अस्पृष्टादिगमित शक्ति संस्कारों तथा किम्प्राप्त्यसंस्कारों इन उन्मत्तिय दोगों से बीजात्मा के शाहीमृत प्रत्यगत्मा की स्वाभाविक भगवन्प्रति आहूत हो जाती है। आत्मविक्रमलाफला भगवन्प्रति ही विवाहप्रति है। एवं आत्मसंकोचलक्षणा क्लेशसम्पत्ति ही अविद्यासम्पत्ति है। विद्यासम्पत्ति वही आत्मराशति का मूल है वही अविद्यासम्पत्ति आत्मसन्धि का मूल है। और इतप्रकार एवं कुमिन-दशात्मक अविद्यादोग से मानव बु-सम्पन्न बना रहता है जिस बु-क्षानुमृति का मूल आधार रागादौबाहिन्य आनन्द ही मानी गई है जिस राग द्वेष का निम्न क्षिणित निर्बचन किन्ना वा लम्बा है।

१६-आसञ्जन, और आसक्ति-

सुप्रसिद्ध 'आसञ्जन' एवं ही 'आसक्ति' है। आसना का प्रधान मन के द्वारा विषय के साथ वह हो जाना ही आसक्ति है। आसक्ति एक प्रकार का स्नेहनरूप (गौर, स्पर्श,) है। अलक्ष आसना को अलक्ष कियों के साथ विषय देने वाला स्नेहतरङ्गिण ही आसक्ति है। आसना का मनो द्वारा विषय में वह हो जाना काकमाया में 'मन का अपना करबाध है। विषय में मन का लगा रहना ही आसक्ति है। विषय के साथ होने वाला वह आत्मबोग (मन का लगाव) अनुकूलबोग प्रतिकूलबोग, मैत्र से दो मांगों में विपन्न माना गया है। एक व्यक्ति पूर्व से पश्चिम की ओर जा रहा है वृत्त स्थिति पश्चिम से पूर्व की ओर आ रहा है। दोनों स्थितियों का समसमुच्चय-सम्बन्ध हो रहा है। इत समसमुच्चय सम्बन्ध से दोनों के मुक्तानिमूक आग्नेय विषय परस्पर एक दूसरे में संलग्न हो जाते हैं। उन्की निपुण रहने रहनी कियु उन्की मुक्तमित्त जाती है। उन्म सम्बन्धत्मक वह विपु संलग्न ही आसक्ति है, मन का लगन है। कैसी आसक्ति ?, कैसा लगाव ? समसमुच्चय सम्बन्धानुगता अनुकूला आसक्ति, अनुकूल लगन ।

२० रामा का तात्त्विक निर्बचन-

दोगों के शरीर प्रकृष्ट रूप हैं। शरीर नहीं मिल जे, वृत्ति स्वरूप ही वह है। दोनों समान लक्ष्य-जुगामी को हुए हैं। इसी अनुकूलतात्मित को, अनुकूल लगाव को वैज्ञानिकों ने—'रामा' नाम से सम्बद्ध किया है। 'रामा' शब्द में 'राधर' 'गधर' के दो (रा-म) अक्षर हैं। 'रा' का अर्थ है 'राना' (राना), 'ग' का अर्थ है—'गति' (जाना)। 'रा' शब्द दानार्थक है ('रा' राने)। 'गम्' शब्द लक्ष्यार्थक है। राम, और गति, दोनों लक्ष्यारों के सम्बन्धस्व का ही नाम 'राम' है। रात्-वृत्त-गच्छति इति रामा' राग शब्द का वही तात्त्विक निर्बचन है। अपनी लक्ष्यि देते हुए सम्मूलावस्थित विषय की ओर जाना, महत्त होना ही 'राम' का लक्ष्यार्थ है। यह अपनी विपु उन्की देता हुआ उल्लभ अनुगामी बन रहा है। वह अपनी निपुण रहने देता हुआ इतल अनुगामी बना हुआ है। सिद्ध है कि, राग अत दो बलुओं के समसामुच्चय को आधार बना कर ही महत्त होता है। राग क्षिणित बन कर ही स्वरूप से किञ्चित्त होख है। 'रामान रामा-रवयतेऽनेनेति राग निर्बचन भी प्रसिद्ध है। अनुकूलविषयसंग्रह अनुकूलविषयसंग्रह, एवं अनुकूललक्ष्यार वर्कबा हीनी ही अनुकूला आसक्तिवर्क राग में आत्मभूत है।

२१-द्वेष का तात्त्विक निर्वचन—

राग से ठीक विपरीत 'द्वेष' मास है। एक व्यक्ति पूर्व से पश्चिम उल्टे पाँव चला रहा है, दूसरा व्यक्ति पश्चिम से पूर्व उल्टे पाँव चला रहा है। इस विपरीत गति से दोनों का मध्य स्थान में सम्पर्क हो जाता है। दोनों के घृष्टभाग (पीठ) मिला जाते हैं। घृष्टभाग अवश्य मिला जाते हैं, परन्तु दृष्टि दोनों की सर्वथा विभिन्न रहती है। एक पूर्व की ओर देख रहा है, तो दूसरा पश्चिम की ओर देख रहा है। शरीर मिला हुआ है, दृष्टि सर्वथा विभिन्न है, यही विपरीतभाव प्रतिकूलारणित है, यही प्रतिकूलारणित 'द्वेष' है। निबन्धानुसार 'द्वेष' में 'दुर-पथा' के दो विभाग हैं। 'दुर' शब्द दुष्टभाव का सूचक है, 'पथा' शब्द इच्छाभाव का सूचक है। पुष्ट इच्छा, विपरीत इच्छा, विपरीत क्रियाएँ ही द्वेष है। 'मवेद्वर्गागमात्' न्याय से 'दुर' के रक्षार का लोप हो जाने से यथाप्राय द्वेष शब्द सम्पन्न हुआ है। राग में यदि आत्मसम्पर्क करते हुए विषय के साथ योग है, तो द्वेष में विषय से दृष्टे हुए विषय का अलग योग है। आत्मयोग बिना राग में है, उतना ही द्वेष में है। यही क्यों, रागापेक्षया द्वेष में आत्मयोग दृक्मूल बना रहता है।

रश्मि की सीधी प्रणयि (गाँठ) राग है विपरीत (उलटी) प्रणयि द्वेष है। सीधी गाँठ की अपेक्षा उलटी गाँठ का कथन अधिक दृढ़ होता है। राग में शरीर नहीं मिलते, दृष्टि मिलती है। द्वेष में दृष्टि नहीं मिलती, शरीर मिलते हैं। राग में आप दोनों अपने शरीर से प्रत्यक्ष प्रदेशों में लगे हुए हैं। परन्तु आप उसे देख रहे हैं, वह आपको देख रहा है। दोनों का दृष्टिभंगल सम बना हुआ है। दोनों का व्यवहार हो रहा है। शरीर से प्रत्यक्ष स्थिति, किन्तु लक्षण एक यही रागोदाहरण है। आप उल्टा मुँह करके लगे हो गए, पीठ से पीठ मिला बी। शरीरपेक्षया आप मिला गए, परन्तु दृष्टियाँ सर्वथा विभिन्न हो गईं। शरीर मिला रहे हैं परन्तु लक्षण सर्वथा विपरीत हो गए हैं। व्यवहार में अलगाव ही रहा है सम्पर्क में असम्पर्क हो रहा है आन्तर्य में अनान्तर्य हो रहा है, मेल में बेमेल पतन रहा है। शरीरों से अमानसिद्धि, किन्तु लक्षण विभिन्न, यही द्वेषोदाहरण है। राग में नियोगमनपूर्वक सम्पर्क है द्वेष में नियोगमनपूर्वक सम्पर्क है। सर्व, विषय द्विचक विह-वाचु कारि प्राची, कुछ नर, आदि विषयों से हम बचते रहते हैं, इनसे विपरीत रहना चाहते हैं, परन्तु इनके आकार से मन आकारित बना रहता है। राग में विषय का सम्पर्क है, द्वेष में विषयसंस्कार का सम्पर्क है। विश्वसम्पर्क ऐन्द्रियक है संस्कारसम्पर्क मानसिक है। इन्द्रियापेक्षया मन अधिक शक्तिशाली है। अतएव इन्द्रियानुगत समामक विषयसम्पर्कनापेक्षया मनोऽनुगत द्वेषसम्पर्क संस्कारसम्पर्क अधिक दृढ़ बना रहता है।

२२-रागद्वेष के अनुकूल प्रतिकूल मास—

किस विषय से राग हो जाता है, किसे आप राग रहते हैं वह विषय उदा आँसों में सम्प्राप्त रहता है। • कारण मन उस ओर अनुभावना करता रहता है। जिस विषय के साथ संस्काररूप से द्वेष होता है वह विषय भी उदा आँसों में जमा करता है। य मारुत कुत्तानुशापी रागापेक्षया कुत्तानुशापी द्वेषसम्पर्क अधिक दृढ़ होता है। इच्छा प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, आप कभी मित्र को मूल लक्ष्य हैं, परन्तु राग कभी नहीं

• "भोक्तःसारी वा इन्द्र । यत्र वा एष इन्द्र' पूर्व गच्छति, एव तत्रापरं गच्छति" ।

मुलाय्य वा कल्प्य । मुलाया वाहते ई । परन्तु यह मूलना नहीं बनता । मानना पड़ेगा कि, उद्योग की अपेक्षा होपाकर्मिष्ठ कर्मी अधिक इष्टमूल है । एक चक्रान्तर और दक्षिण । राम में दोनों मिश्री क सम्पन्ने का, धाम्निस्मय का परस्पर आदान-प्रदान है । इन्द्रियमय कल्प्य का तो अपहरण कर लेता है परन्तु होप में भी आत्म में तो आदान-प्रदान बचकइ ही रहता है । परन्तु आसन्तर में होयी में इन्द्रिय भर्मा का प्रदान हो जाता है । होप मनुष्य उक्त इन्द्रिय की विद्युत् का खे ले लेता है । परन्तु अपनी विद्युत् का प्रदान नही करता । कारण यह है । इन्द्रिय विद्युत् प्रतिकूलता से ही सही, इसके मानक भयवय में स्वरूपकमय प्रदान कर देता है । इन्द्रिय एक यह भी तब निकल आता कि, निरुत्पन्न किरणों में हीनचरिणी से पुष्टुकि प्रवरी से होप रखने वाला मनुष्य भी उन धाम्निष्क इन्द्रिय भर्मा के कल्प्य से निकल्य हीनचरिण पुष्टुकि बन जाता है । जिसके साथ होप क्रिया जाता है उसकी हानि नहीं होती होप करने वाला स्वयं अपनी हानि का चेतना है । यदि इन्द्रिय का लक्षण उन्मुक्त किरण, उदात्त चरिण पुष्टुकिमानव है तो होप रखने वाला मनुष्य भी उनके धाम्निष्क इन्द्रिय भर्मा के कल्प्य में उत्कृष्ट कवरिण पुष्टुकिभूक्त बन जाता है । यक्ष्य कं, शिशुप्रवर्ण में म्मायत् रामकृष्ण के साथ श्रीराम पर्यन्त होप क्रिया । परिणाम इत होपमन्सित का यह हुआ कि, इन्द्रियानुष्ण के अन्तर्ग भर्मा का होयी यक्ष्यमि में क्मापेय हा गया और कल्पस्वरूप में लोग उनसे इन्द्रिय कृष्ण मुक्त हो गए X । निष्कर्ष यही निकला कि अनुकूलकर्मिष्ठ राम है । प्रतिकूलकर्मिष्ठ होप है । कल्पस्वने दोनों समान है । अतएव 'योगहोप' दोनों को इस 'आत्मिष्ठ' नाम से सम्बोधित कर सकते हैं एवं इन्द्रिय यक्ष्यमिष्ठ इन्द्रियमिष्ठ से दो किन्तु माने जा सकते हैं । आत्मिष्ठयक्ष्य शृणुइ प के इती कर्मिष्ठ स्वयं किन्हेपय क आचार पर दोनों के निम्न लिखित लक्षण हो सकते हैं—

- | | |
|---------------------------------------|------------|
| १-अनुकूलकर्मिष्ठकर्मिष्ठ—'राम' | }—आत्मिष्ठ |
| २-प्रतिकूलकर्मिष्ठकर्मिष्ठ—'इन्द्रिय' | |

२३-रजोगुणमूलक कर्मकोषान्तर—

पूर्वी दक्षि में रामहोपकर्मों का सम्बन्ध बर्णित । शानकर्मिष्ठ मानवार्थकार, कर्मिष्ठकर्मिष्ठ कर्मिष्ठ, दोनों कर्मिष्ठ उक्तकर्म से मनोबलात् पर प्रतिष्ठित रहते हैं । उक्तकर्मिष्ठ कर्मिष्ठ कर्मिष्ठ से भी प्रतिष्ठित है एवं कर्मिष्ठ कर्म में कर्मिष्ठकर्मिष्ठ के हुए शान-कर्मिष्ठों में भी नहीं नहीं कर्मिष्ठ-कर्मिष्ठ कर्मिष्ठ उदात्त हाकर उक्तकर्म में परिणत होने रहते हैं । कर्मिष्ठकर्मिष्ठकर्मिष्ठ उक्त ही कर्मिष्ठकर्मिष्ठ (कर्मिष्ठ-इन्द्रिय) का बनक बनता है । कर्मिष्ठकर्मिष्ठ कर्मिष्ठकर्मिष्ठ कर्मिष्ठ में मन पर कर्मिष्ठ रहता है । कर्मिष्ठकर्मिष्ठ कर्मिष्ठकर्मिष्ठ की ही कर्मिष्ठ कर्मिष्ठ है । यदि उक्तकर्मिष्ठकर्मिष्ठ अनुकूल है तो उनसे निकलने वाली कर्मिष्ठ में कर्मिष्ठ

X उक्त पुरस्ताद्वय चयों मिश्रि यथा गत ।
 द्विपत्रपि द्विपत्रं, कर्मिष्ठकर्मिष्ठप्रिया ॥
 —धर्मिष्ठकर्मिष्ठ

ही रहती है। यदि उन्मत्तस्वरूप प्रतिकूल है, तो ऊनसे विनिर्गत कामना भी प्रतिकूल ही रहती है। अनुकूल कामना स्नेहगुणप्रधाना है प्रतिकूलकामना तेजोगुणप्रधाना है। स्नेहगुणप्रधाना अनुकूल कामना में मन प्रभान बना रहता है तंत्रागुणप्रधाना प्रतिकूल कामना में शरीरचालि प्रभान बना रहता है। मनप्रधाना अनुकूल कामना स्नेहगुणक सौम्य मन स्वरूप से ग्रहणशीला बनी रहती है, शरीरचालिप्रधाना प्रतिकूलकामना तेजोगुणक आनेत्र शरीरकम्पन से परित्यागशीला बनी रहती है। मनोऽनुगत स्नेहगुणप्रधाना ग्रहणशीला अनुकूलकामना ही 'श्रम' नाम से व्यक्त हुरी है। शरीरानुगता तेजोगुणप्रधाना परित्यागशीला प्रतिकूल कामना ही 'श्लेष' नाम से व्यक्त हुरी है। इसप्रकार उन्मत्तस्वरूपगुण से अर्धस्वरूप में परिणत होकर निकलने वाली मानस कामना ही स्नेह-तेजोगुण भेद से अनुकूल-प्रतिकूल भावों में विभक्त होती है। इन दोनों की मूलप्रविष्टा 'रजोगुण' माना गया है। ज्ञानप्रधान क्लेशगुण में कामना की निवृत्ति है अर्धप्रधान त्मोगुण में कामना का अभिभव है। एवं क्रियाप्रधान रजोगुण में कामना का उदय है। ग्रहणभाव ही 'रजोगुण' है। रजान ही 'रज' है ग्रहण ही रजान है। यह ग्रहणभाव ग्रहणरामक ग्रहण, परित्यागात्मक ग्रहण, दो भावों में विभक्त है। स्नेहानुगत ग्रहण ग्रहणरामक ग्रहण है तेजोऽनुगत ग्रहण परित्यागात्मक ग्रहण है। ग्रहणरामक ग्रहण का आधार 'श्रम' है, परित्यागात्मक ग्रहण का आधार 'श्लेष' है। दोनों रजानात्मक है। अतएव दोनों का मूल रजानात्मक रजोगुण ही माना जायगा, क्योंकि निम्नलिखित मयबहचन से प्रमाखित है -

काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशूनो महापाप्मा विद्वयेनमिह वैरियम् ॥

—गी० १।३०।

२४-रजामयिका का उदाहरण—

रजोगुणानुगत-उत्थित अनुकूल संस्कारोत्पत्त्यावच्छिन्न शरीरचालिगमित मन से निकलने वाली रश्मियाँ ही 'काम' नाम की अनुकूल कामना है। यह अनुकूल कामना अनुकूल क्रिय के ही अनुगत बनी रहती है। अतएव कामात्मिक अनुकूल कामना सुखायुगात्मिकी मानी गई है। सुख ही 'कर्म' है, मन ही अन्धर है। 'क-य-म-य' के अनुवाय मूल में (सुखायुगत अनुकूल क्रियग्रहण में) अंतप्रोत्थ मन ही 'श्रम' है। इस 'श्रम' से होने वाला अनुकूल क्रियायुगत अनुकूलकामात्मक अनुकूल संस्काररूपन ही रज है, यही रजालक्षित है किन्तु निम्न लिखित श्लोकों में विशदपण किया जा सकता है।

आपने पर से निकल कर आप उगान में आते हैं। मार्ग में आपकी दृष्टि किसी अस्थिरान सुन्दर दृश्य पर पक जाती है। आगे बढ़ना रुक जाता है। आप वहीं लड़ें यह आते हैं, और मनोयोग पूर्वक उसे देखने में लक्ष्य बन जाते हैं। विशेषमनोबोधानुगता इस लक्ष्यता से 'उपलम्बिबेद' नामक खंड गणनीयात्मिक वेद से उठ दृश्य का आन्धर आपके मनमें लब्धित हो जाय है। और इसप्रकार उदानोद्देश्य से निकले हुए आप मार्ग में ही एक नवीन वस्तु का ग्रहण कर ले जाते हैं। आप आगे अन्तरय निकल गये, सुन्दर दृश्य के लक्ष्य से अन्तरय अलग हो गये। किन्तु बिल दरमाकर के साथ आपका सम्बन्ध हुआ था वह मन पर लक्ष गया। वह जाने व ही तो वैशानिकों ने उठ बलने वाले आन्धरविशेष को 'पाप्मा'अन्धर कहा है। आपने

मिठी दिन अतिशय रूप से सुस्ताव करताकर या शिव। मुक्त करताकर अस्तित्व में रह-मल के अमिक विरक्तान से रवस्तुमातादिरूप में परिणत होकर अपना अस्तित्व लो बैठ। परन्तु वह अपने स्वयं की रूप आपके मन पर लया गया। यह स्वयं-रूप आपके मन पर बह गई। इत्यन्तर इन्द्रियों के हाथ सम्पर्क-में अपने बाह्य विषयविशेष मनोबोग से स्वयं इष्टे हुए भी अपनी संस्कारमिका बाह्यवि श्रौं बाते हैं। यही बाह्यवि मन पर कसती हुई वाचना नाम से प्रसिद्ध हुई है।

आप पर लौट आते हैं अन्याय कर्मों में व्यस्त हो जाने हैं। अन्याय कर्मबलित वाचनाओं से बाह्य हरकतबलित वह वाचनासंस्कार योही वेर के लिए अभिभूत बन जाता है। परन्तु कर्मव्यवस्था से उन्मुक्त होते ही वह संस्कार उन्मुक्त हो पड़ता है। इस संस्कारश्रेणी का ही नाम 'स्मृति' (याद) है। स्वस्वपापेनुपा वाचना 'वाचना' है एवं स्वस्वपापेनुपा वाचना 'स्मृति' है। वाचना का निर्मापाररूप वाचना है अन्यायाररूप स्मृति है। पूर्वाकथा वाचना है उत्तरवाकथा स्मृति है। इही आधार पर वाचना स्मृति की बननी मान ली गई है। इत्यन्तर सम्वित संस्कारमिका वह सुन्दरवाकथारमिका वाचना स्मृति के द्वारा आपके मन को वाचनासंस्कारानुगत (सम्कची) उठी हरक की बाध-'चले पुनः उठे देखे' इत्यन्तर आकर्मित कसती खती है। यह संस्कारानुगत-कर्ममय-आकर्षण ही आत्मजन कर्म 'यग' विद्या उपगतमित है। स्मृति ही उगावमितकर्म विरक्तबन की बननी कसती है।

उगावमितबननी स्मृति का उद्यम क्यों और कर होता है? इस प्रासङ्गिक प्रश्न की भी सीमांता कर लीजिए। कथनाया गया है कि, अन्याय कर्मों में व्यस्त हो जाने से सम्बलित संस्कारों के बल से पूर्वसंस्कारित संस्कार बह जाता है वाचना को स्मृतिरूप में परिणत होने का अर्थकर नहीं मिलता। आत्मिकउत्तर संस्कार-समित विषयसमित भेद से दो भाषों में परिणत खता है। उत्तरारिक धम संस्कारसमित है वैपयिक रूप विषयसमित है। संस्कारउगावमित आत्मन्तर है, यही विषयउगावमित की (स्मृति द्वारा) बननी कसती है। विषयउगावमित ब्रह्मा है वह संस्कारउगावमित पर प्रतिक्रिय खती है। इसके वह भी सिद्ध हो जाता है कि विषयदर्शन (दर्शयदान) अस्त में यदि विषयसमित है, तो संस्कारसमित का उद्यम होता है। एवं यही संस्कारसमित आगे चल कर उत्तरकची विषयसमितमात्र की स्मृतिद्वारा बननी कसती है। यदि विषयदर्शनअस्त में विषयसमित का अभाव है तो उगावमित संस्कार में मन आसक्त नहीं होने पाता, और उस द्वारा में दर्शयदर्शन करत हुआ भी मन संस्कारउगाव करत हुआ भी मन उत संस्कार में आसक्त नहीं होता। संस्कारसमित-विषयित ऐसे मन में खने वाली भी वाचना धर्म के द्वारा विषयसमित की बननी बनने में अक्षम रह खती है। अतः कर्मवचन हमें उस आत्मन्तर मूलात्मिक के सम्बन्ध में ही क्यों और कैसे, प्रश्नों का समन्वय करना चाहिये।

२५-कर्मवचन के चार विवरण, एवं रागासक्ति का समन्वय—

कर्मवचन का चार भागों में विभक्त कीजिए, तभी इस संस्कारिक-व्यवस्था का मेरु ही उगाव। कथान्त में अस्कार एक विषय है। ऐहिक विषयवाकथार रूप विभक्त है। विषयवाकथारबलित ऐहिक-संस्कार हीनय विभक्त है। ऐहिकसंस्कार से स्मृति के द्वारा उत्पन्न विषयवाकथारबलित भीन विभक्त है। यही में मूलतः कथान्तरीय वह प्रासङ्गिक प्रारम्भ कर्म है किन्तु अन्त में प्रेरणा से आप बचत पर

अकर्तव्य हुए हैं। कर्मान्तर्रीय संस्कारपुञ्ज में जो धर्म, जो गुण रहते हैं, आपका मन उत्पन्न ही धर्म-गुणक विषयव्यवहार में प्रवृत्त होता है। कर्मान्तर्रीय संस्कारधारण से ही ऐहिक कर्मानुगत विषयव्यवहार-कार्यों में लायक अ उद्यम होता है। यदि आपके प्रकाशरक्षण पर कर्मान्तर्रीय सुन्दरद्वयसंस्कार स्थित हैं वही आप अपने इस जीवन में सुन्दरद्वय को बेल कर प्रमाहित हो सकते हैं। यदि कर्मान्तर्रीय सुन्दरद्वय-संस्कार का अभाव है, तो इस धर्म में सुन्दर से सुन्दर द्वय भी आपके मन को आकर्षित न कर सकेंगे। आप देखेंगे कि, कितने एक व्यक्ति तो वीर्य्य का अश्लोकन करते ही अपनापन को बैठते हैं। उपर ऐसे भी कुछ व्यक्तियों की कमी नहीं किन्तु मन के लिए सुन्दरता का कोई धर्म ही नहीं है। कितने एक व्यक्तियों का मन बहाँ मूढ़ का पाप पर बिरहने लगता है, वहाँ कितने एक महापुरुष 'अहिपुत्रोपेक्षी मूढबादन' को धरिताय बनाते रहते हैं। कितने एक व्यक्ति सामान्य शिक्षित होते हुए भी व्यायानकुशल बन जाते हैं। उपर कितने एक परिश्रम समा में सर्वथा मुक्त बने रह जाते हैं। उरी विस्त मरीचिका से एक व्यक्ति की धर्मों से बहाँ पानी निकल पड़ता है वहाँ अन्य व्यक्ति पञ्चन-मूलक की नीति उसे चहाय हुआ वीर्य्य भी नहीं करता। निरहर्तमात्र है। प्रत्येक माही की ऐन्द्रिक-विषयव्यवहार-अनुभव-योग्यता उस प्राणी के कर्मान्तर्रीय तन्त्रित संस्कार की योग्यता से ही सम्भव रह रही है। इतने तब यही निश्चय है कि विषय-व्यवहारानुगत रागद्वेष की कनी कर्मान्तर्रीय संस्कारशक्ति समावृत्त ही है। यही व्यायान मूलकनित है यही ऐहिक विषयव्यवहारनित की कनी बनती है। उपान बाठ हुए आपको मार्गसुन्दरद्वयसंस्कारक जलुपिन्द्रिय के विषय ने आकर्षित नहीं कर लिया, यही आप उसके प्रभाव से प्रभावित होकर वही सोचें रह गए, प्ररन का समाधान यही कर्मान्तर्रीय संस्कारशक्ति द्वारातनित है जो पदिते से आपके मनो परागत पर स्थित है। निरवत कीविय, यदि आप में अद्य द्वय सभातीय व्यायान द्वयसंस्कार का (कर्मान्तर्रीय संस्कार का) अभाव है, तो कनी आप उस अद्य तैन्द्य से राग नहीं कर सकते थे। किन्तु द्वयलीन्द्य-संस्कार पदिते से नहीं रहता, उन पर ऐसे अद्य सुन्दर द्वयों का कोई प्रभाव नहीं होता। वही प्रभाव क्षेत्र का विरलेपय है।

कर्मान्तर्रीय द्वयसंस्कारका आप में भी इस द्वय को बेलता हुई-देखें इसद्वय की रागशक्ति का मना का उद्यम होता है। वहाँ भोग्य समझता है। पूर्वतन्त्रों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, अध्या-सम्भमना उचित, उपायन मेर से दो मनों में विभक्त रहती है। सुन्दर-असुन्दर, अन्वै-इरे, जो भी द्वय मार्ग में धर्मों, जलुपिन्द्रिय का सम्भवतः उनके साथ सम्भव होना ही। जलुपिन्द्रिय किना है, किना का मना को आचार बना कर ही स्पष्ट होता है। अस्त-प्रत्येक ऐन्द्रिक व्यपार में मानकमना का अनिवार्य उपयोग सिद्ध हो पाया है। अद्य उद्यममना ही उद्यमवाकोबाधका 'विरहकमना' कहलाई है जिसका पूर्वतन्त्रों में- निष्प्रममाश्रितिका का मना का रस से विरहपण हुआ है। इत का मना में बुद्धि प्रयत्न रहती है, मन भीय रहता है। मनोवर्तिका बुद्धि से सम्भव रहने वाली का मना ही उद्यममना है। कर्मान्तर्रीय-संस्कारकर्मण से आप सुन्दर द्वय की ओर आकर्षित हों, अथवा तो वी ही आपका मन उद्यम ओर चला जाय यदि आपका मन उद्यममना का अनुभव ही है, तो चला हुआ भी कर्मान्तर्रीय संस्कारकर्मण आपके मन को उद्यम विषयव्यवहार में आकर्षित नहीं होने देगा। देखा विरहेश्वर के विरह की सुन्दरता का अश्लोकन

• मैं के जाने मूढ़ बना।

क्रिया, आगे निकल गए। जैसे अनुसूचर में धोम उठना नहीं किया, वैसे सुन्दर ने ध्यामोह में नहीं बासा। शीघ्र ही उन्मत्तताकाँडा के अनुग्रह से आप ऐहिक कर्मगुण विपयसंस्काररहित से बचे रह गए। इत क्वेति में आगे की चक्रपरम्परा प्रबन्ध हो जाती है। न बाधनासंस्कार को दृग्गुण करने का प्रयत्न प्रकृतता प्रकृतता न स्मृति का उद्भव होता, एवं न मयिष्य में तद्दशन की साक्षात् ही होती।

ऐहिक कर्मगुण विपयसंस्कार का आध्वनिकत्व में परिवर्त होय है। प्रश्न का एकमात्र उत्तर है— उद्याप्याकाँडालक्षणा 'बीजकामना'। यही 'कृत्रिम कामना' कहलार्थ है। इत कामना में अतद्वा बुद्धि गौड रहती है अथवा मन प्रधान रहता है। बुद्धिगर्भित मन से सम्बन्ध रखने वाली कामना ही बीज की कृत्रिम वैद्यारिक-कामना है। अनन्ततरीय संस्कारकार्यक स्वयं बीजकामना ना प्रधान था। उसने ऐहिक कर्मगुण स्वयं बीजकामना को प्रोत्साहित किया मन बड़ी बन गया। मन का यह कामना ही विरहासिद्ध अनुग्रहान कहलाया। विरहासिद्ध इसी अनुग्रहान से मन उग्र दृश्य विपयसंस्कार में लक्ष्मी हो गया। लक्ष्मीनता से उत्पन्न दृश्य-संस्कार के स्वयं इसी लक्ष्मीनता से मन आश्रय हो गया और यों उद्याप्याकाँडा के अनुग्रह से मन विपयसंस्कारन बनिद दृश्य संस्कार में आश्रय हो गया। यों आश्रय हो गया, प्रश्न का एकमात्र उत्तर बीजकामनामय मन का बड़ी विरहासिद्ध विपयगुणान है किन्तु—'ध्यायतां विपयस्य पुंसां सङ्गस्तेषूपजायते' इत्यादि शायो से विरहासिद्ध बुद्धि है।

'विरहासिद्ध अनुग्रहान' बल्लभ मन के लिए एक बटिड समस्य है। मन किसी भी विषय पर विरहासिद्धमन्त बसा रहे, यह अतम्भ है। अकरन ही बल्लभ मन के विरहासिद्ध अनुग्रहान-अग्रह के लिए किसी अन्य विषय अग्रही की अपेक्षा है। वह अग्रहीनी श्येन है। बल्लभ भी मन कैसे अनुग्रहान में लय हो जाता है। इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक विस्तोषक पूर्व लक्ष्मीने किया था बुद्धि है—वहाँ का निष्कर्ष यही है कि मार्ग-अवयव लेह्युपक मन विपयना बानय है परन्तु अपने लीमा-गुण स्वामासिद्ध अतधर्म से उद्यता नहीं बानय। उग्र आश्रय, अतएव लेह्युपक बुद्धितन अपने सावित्राम्पगुण स्वामासिद्ध अतधर्म से उद्यता बानता है परन्तु विपयना नहीं बानता। आश्रितकर्मन में शेष, शीघ्र उद्यता, दोनों बर्ण अपेक्षित हैं। यह तमी लम्ब है, बकि लोह (शेष) धर्मा मन तेबो (उद्यता) लक्षणा बुद्धि को अपने गर्म में प्रतिष्ठित कर लेता है। विरहासिद्धता बुद्धि से मित्त जाती है, अनुग्रहान मन से हो जाता है। दोनों के समन्वित समतमक मन से विरहासिद्ध क अनुग्रहान लक्ष हो जाता है फलस्वरूप आश्रित का उद्यत हो जाता है। यही बुद्धिअवरोध लोकमया में—'विपय' कहलाया है। विपयन करना अनुग्रहान करना बुद्धिअवरोध है। विपय की रूप लेता है मन विपयकार में परिवर्त होता है मन एव रूप को दृग्गुण बनाती है बुद्धि यही अतएव है। कैसी बुद्धि का अग्रहान, अपेक्षित बुद्धि का लक्ष्योम। बुद्धितन के अपेक्षा-अपेक्षा-विषयों का भी पूर्व में ही विरहासिद्ध किया था बुद्धि है। अपेक्षित बुद्धि वहाँ उन्मत्तताकाँडा की बननी मानी गई है वहाँ अपेक्षित बुद्धि उद्याप्याकाँडा की बननी मानी गई है। अपेक्षित बुद्धि में मन बुद्धि के आधीन रहता है। अपेक्षित बुद्धि में बुद्धि मन की अग्रहसिद्धि की रहती है। अपेक्षा-बुद्धिअवरोध मन बुद्धिअवरोध है अपेक्षित बुद्धिअवरोध मन मनोसहय है। बुद्धिअवरोध मन उन्मत्तताकाँडा अनुग्रहान बनाता बुद्धि आश्रित से एक है। मनोसहय मन उद्याप्याकाँडा अनुग्रहान बनाता बुद्धि आश्रित से मुक्त है। अतएव—बुद्धिअवरोध मन अनन्ततरीय संस्कारकार्यक से उद्याप्याकाँडा के अग्रह बल्लभ दृश्य विपयके लय लम्ब

हृद्मा बुद्धिसम्बन्ध में मन नहीं चिरकालिक अनुष्मान में प्रवृत्त हो गया। इस चिरकालिक अनुष्मान से मन हरयवियमबन्धित संस्कार में आसक्त हो गया। क्यों मन सत्त्वशास्त्र में आसक्त हो जावे ? प्ररन की यही संक्षिप्त मीमांसा है। कर्मान्तर्रीय संस्कारघटित के अनुग्रह से उत्पन्न-एवं उत्पन्न कनी हुई मानस क्षमता का चिरकालिक अनुष्मान ही इस ऐहिक कर्मानुगत विषयसंस्कारघटित का मूलकारण है। यही वृत्ते क्षेत्र का विरोधण है।

कर्मान्तर्रीय संस्कारकर्षण से आप हरय में प्रवृत्त हुए, विषयवाञ्छाकार की ओर अभिनिवेशपूर्वक आकर्षित हुए, सत्यात्मार्थात्मानक चिरकालिक अनुष्मान से स्वभावकृत विषय से उत्पन्न तृतीय क्षेत्र में प्रतिष्ठित हरय संस्कार में आपका मन आसक्त हो गया। यह क्षमतिभक्ति कर आप पर लौट आए, अन्यान्य क्षम्यों में व्यावृत्त हो गए। अन्यान्य क्षम्यों में व्यस्त रहने से कुछ समय के लिए उस संस्कार का अभिमत हो गया। परन्तु आवृत्ति के अनुग्रह से यह हरयसंस्कार स्तम्भर उन्मत्तम में परिणत हो जाता है। उन्मत्त से अर्क निकलना अभिमतार्थ है। प्रतिष्णक सब तक रहेगा, अर्क न निकलेगा। वहाँ प्रतिष्णक हवे नहीं कि, उन्मत्त से अर्क निकले नहीं। अन्यान्य क्षम्यों की व्यस्तता उस हरयसंस्कारोन्मत्त के लिए प्रतिष्णक सामग्री है। सब तक यह रहती है सब तक उसे अर्कप्रसार का अवसर नहीं मिलता। वहाँ आप उन अन्यान्य क्षम्यों से उत्पन्न हुए नहीं कि, इस प्रतिष्णक के हटते ही वहाँ से अर्क निकल पड़ेंगे। यही उन्मत्तबन्धित, उन्मत्तविनिःसृत अर्क-स्मृति करता है। अन्यान्य क्षम्यों में पड़ कर योही वेर के लिए आप उसे मूल बाते हैं, अवकाश मिलते ही फिर याद हो पकती है। इस लोकस्थित त्वात्मनिक अनुभूति का यही तत्व है।

स्मृति ने उचित होकर क्या किया, प्ररन की मीमांसा कर हींकरिए। काम से सब उत्पन्न होता है, अथवा सब से काम उत्पन्न होता है, इस प्ररन के उत्तर पर ही स्मृतिविरूपक प्ररन का उत्तर निर्भर है। अतः दो शब्दों में पहिले इसी प्ररन के उत्तर का आन्वेषण कर अभिमत। केवल ऐहिक जीवन को आधार बना कर ही इस प्ररन के उत्तर की मीमांसा करनी पड़ेगी। नहीं तो इस काम-ओर सब (आसक्ति) परम्परा की याद या लेना असम्भव हो जायगा। अरथा स्पष्ट है। कर्मान्तर्रीय सम्बन्धित संस्कारघटित (सब) का मूल पूर्वकर्मानुगत काम है। पूर्वकर्मानुगत काम का मूल उन्मत्त मी पूर्वकर्म का सम्बन्धित सब है। इसप्रकार एवं प्रवृत्त इस काम-उन्मत्त-कर्म का पर्यवेक्षण समयक लेना असम्भव बन रहा है। प्ररन है केवल वर्तमान काम से उन्मत्त रहने वाली सद्गुणार्थी, तथा कामभावों का। इस काम में अन्तर हरय देखने की क्षमता क्यों हुई, इस प्ररन का उत्तर तो कर्मान्तर्रीय सम्बन्धित संस्कारसङ्घ (आसक्ति) ही है। यदि कर्मान्तर्रीय संस्कारसङ्घ न होता, तो हरयदर्शनक्षमता का उदय असम्भव था। इस दृष्टि से हरयदर्शनक्षम काम (दृष्ट्य) को इन कर्मान्तर्रीय संस्कारघटित की अपेक्षा से 'सङ्घबन्धित मान लयते हैं। कर्मान्तर्रीय सम्बन्धित संस्कारसङ्घ उन्मत्त है इससे निकलने वाली हरयदर्शनक्षमता क्षमता (काम) अर्क है। और इस काम के उन्मत्त में- 'सङ्घान्तर्यायते कामः (कर्मान्तर्रीयसंस्कारसङ्घत्या हरयदर्शनानुगतेश्चोदयः) यह कहा था उन्मत्त है।

कर्मान्तर्रीय सङ्घ से हरयदर्शन की क्षमता हुई, क्षमताकार्य से हरय देना मन के चिरकालिक अनुष्मान से हरयवियम का ऐहिक कर्मानुगत नवीन संस्कारसङ्घ (हरयवियमदर्शनबन्धित हरयसंस्कारघटित) का उदय हो गया। हरयवियमकार्यक सङ्घ (हरयसंस्कारघटित) का मूल क्या ? इसका उत्तर इस दृष्टि से

दुःखा-‘भ्यासो विषयात् पु स’ सङ्गत्सोपप्रापते’ । किन्तु उत्तरार्ध यही है कि, कर्मान्तरैव तद्द से उत्पन्न काम का चिरकालिक अनुष्णान ही वैदिक कर्मानुष्ठान्दर्यसंस्कारतद्द का कर्तव्य है । दूसरे शब्दों में दर्यकाम वहाँ तद्द से उत्पन्न या वहाँ प्ररफतद्द काम से उत्पन्न है । कर्मान्तरैव तद्द से उत्पन्न काम (दर्यकाम) ने ही चिरकालिक अनुष्णान के द्वारा दर्यविषयसंस्कार को तद्द रूप में परिणत किया है, जो तद्द वैदिक कर्मानुष्ठान एक स्वतन्त्र-नवीन उक्त्य का अर्थ है । जैसे कर्मान्तरैव संस्कारसंस्कार तद्दमात्र उक्त्य ने दर्यसंस्कार-ननुगत कामात्मक कर्तव्य का उक्त्य हुआ या एकमेव इत कर्तव्य काम के चिरकालिक अनुष्णान से उत्पन्न दर्यसंस्कारक-सहात्मक नवीन उक्त्य से भी दर्यसंस्कार के पुनः दर्शानुष्ठान कामात्मक कर्तव्य का उक्त्य होना स्वाभाविक का अर्थ है । यही कामना ‘स्मृति नाम से व्यञ्जित हुई है । पर काम तद्दवदित माना जायगा विलोके लिए ‘सङ्गात् सञ्जायते कामः कदा गमा है । ‘तद्द से काम, काम के चिरकालिक अनुष्णान से तद्द कार इत तद्द से स्मृत्यनुगत-स्मृत्यात्मक काम’ इत्यन्तर् कर्तमान् काम में तद्द, और कामग्रहों का वही पार्श्वपर्य्य माना जायगा ।

१-कर्मान्तरैवसंस्कारसङ्गात्-(कर्मान्तरैवोक्त्यात्)- दर्यदर्शानुगताः-कर्तव्य-कामो जायते (सञ्चितसङ्गात् दर्यदर्शनिष्ठा भवति) । अतश्च-सङ्गात् सञ्जायते कामः ।

२-सङ्गोत्पन्नकामस्य चिरकालिकानुष्णानभ्यपारेण दर्यदर्शानुगता संस्कारात्मका स्वतन्त्रोक्त्या-सञ्जायते । स एव स्वतन्त्रोक्त्या-दर्यसंस्कारात्मकः-कामजनितः सङ्गाः । अतश्च-‘भ्यासो विषयात् पु स’ सङ्गत्सोपप्रापते’ । दर्यसंस्कारसङ्गा-कामात् सञ्जायते, इति भावः । ‘कामात् सञ्जायते सङ्गा’ इति निष्कण्डः ।

३-वैदिककामानुत्पन्नः सङ्गाः (दर्यसंस्कारसंस्कारात् स्वतन्त्रोक्त्या) दर्यविषयककामनापरको भवति स्मृतिद्वारा । ‘पुनर्यं त दिदृशामि’ सैव एवं वाक्यः काम-सङ्गात्-सञ्जायते । अतश्च-‘सङ्गात् सञ्जायते कामः’ ।

१-सङ्गात् सञ्जायते काम (कर्मान्तरैवसंस्कारात्मकस्य-दर्यदर्शनकामोदकः) ।

२-कामात् सञ्जायते सङ्गाः (चिरकालिकानुष्णानात्मककामात्-दर्यसंस्कारात्मकस्तेरुक्तः) ।

३-सङ्गात् सञ्जायते कामः (वैदिककामानुगतानवीनसंस्कारात्मकस्य-दर्यसंस्कारानुगतादर्य-विषयं प्रत्यनुभावानम्) ।



कर्मान्तरैव तद्द से [१] उत्पन्न काम ने दर्यविषय का सङ्गात्कार कर्तव्य । किन्तु ते कर्मानुष्ठान के चिरकालिक अनुष्णान से दर्यविषय संस्कारात्मकस्वरूप तद्दमात्र में [२] परिणत हो गया । इस नवीन तद्द को लेकर आप पर लौट आए । इस नवीनतद्द (कामजनित का कर्मानुष्ठानात्मिक का अर्थित) का उक्त्य से कर्तव्य-काम [३] का उक्त्य हुआ, वही उक्त्यवाची काम ‘स्मृति कदाचाय । इस श्लोकात्मक काम ने उक्त्य इत कदा किया ? यह प्रश्न उपरिभव है । किन्तु दर्य-वैदिक विषय के दर्शन के दर्यसंस्कार

हस्कार आपके मनापयवला पर लखित हुआ है मान लीजिए उस नखर हरव मौखिक किये का नाश हो गया। ऐसी स्थिति में उद्वुग्ना इरवकाष्ठा (उक्त) से मत्वच क्रमादिमका स्मृति केवल स्मृति रूप में ही परिणत रह जावगी। आप उसे बीजनमर स्मरण कर कर भी प्राप्त न कर सकने। स्मृति समय-समय पर उदित होती रहेगी, आपकी स्वामाधिक शान्ति का उच्छेद करती रहेगी। इसप्रकार मूलहरव के स्वस्फुटाण की दशा में आपकी यह उदित स्मृति केवल आपकाधोम की बनती लनी रह जावगी। और यही उदित स्मृति का एक परिणाम माना जावगा।

मान लीजिए, आपके पुष्य से यह हरव स्थित अमी तुपचित है, नह नहीं हुआ है। उस अवरया में क्या आपका स्मृत्यात्मक उदित काम निश्चित उस हरव किये पर एकाधिकत्व प्राप्त कर लेगा ? यदि विश्व में केवल आपकी ही उगा यकी, तो एव एकाधिकत्व तम्मक या और उक्त दशा में यह हरव अक्षयल बनता हुआ आपके कथिक हुल का अरया बन लक्या था। परन्तु विश्व में आप ही तो नहीं हैं। और भी मनुष्य हैं उनके पास भी काममच मन है, वह है सङ्गानुगत स्मृत्यात्मक काम है। उन्होंने भी उक्त तुन्दर हरव को देखा है उन पर भी उक्त हरव की द्वाप लगी हुई है। अतएव वे भी स्मृत्याकर्षण से उसे अपने अधिभर में लाने के लिए साहायिक हैं। कस्त एक, चाहने वाले अनेक। लक्ष्य एक, लक्ष्यप्रेचन करने वाले अनेक। आप लव में वो भी शक्तिशाली होगा यही उसे प्राप्त कर लकेगा। आपकी स्मृति में स्मृत्यात्मक काम न आपकी उक्त हरव किये की ओर मचल किया। आपने देखा कि एक वृक्ष अन्वित भी उसे अपना लक्ष्य बना रहा है। इस स्थिति में आपके स्मृत्यात्मक काम का क्या परिणाम होगा ? इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं। मानी हुई लय ही सङ्गानुगत अह है कि, किस लक्ष्य को हम चाहते हैं वो हमारी कामना का किये लनी हुई है उलो पर यदि लक्ष्य की कामना का भी लक्ष्य है तो हमें उक्त अनिलक्षित-काम किये की प्राप्ति में लन्दह हो जाता है। एक लक्ष्यमन्त्र एक लक्ष्यमन्त्र अनेक काम समन्वय से विरह से शानुक्त-विषय कामों का संघर्ष हो पक्या है। इस पारस्परिक कामसंघर्ष से कामियों का शारीरपिन प्रदीप्त हो पक्या है। यही कामकथित शारीरपिनसंघर्ष श्रेय करसाया है। स्वकामप्रतिक्रमक अन्यकामात्मक से प्रकृत हमारा स्मृत्यात्मक काम संघर्ष में पक कर शारीरपिनपिडितलक्ष्य श्रेय का अन्क बन जाता है। इसप्रकार यगात्मक काम स्वप्रतिस्पर्धकता से हो पात्मक श्रेयरूप में परिणत हो जाता है। कामकियेभूत हरवकियेरूप लक्ष्य गौर हो जाता है श्रेयकियेभूत हो अन्वित प्रवान लक्ष्य बन जाता है। किन्तु हमारी कामना में किन्तु उपरिष्ठ कर किया, वह देने नह हो उक्तक कठ समन हा' एत लक्ष्यान्वत्याकना का उदय हो जाता है। हम लक्ष्यमन्त्र बन जाते हैं। और यही उदित स्मृत्यात्मक काम का दुस्ता परिणाम है।

२६-काम-श्रेय-लोमप्रयी का उद्गम—

मान लीजिए आप लव कामकामियों में लकल हैं। अतएव आप लन लक्ष्य समन कर देते हैं, लक्ष्यरूप हरव किये केवल आप ही का अधिपत्य में आ जाता है। क्या यह परिणाम तुपावह मान लिया जावगा ? क्या इस एकाधिकत्व में आपका यगात्मक काम अक्षुण्ण बना रहगा ? नलि दुःखच । प्रथम प्रथम विरह कामना का आपने हरव किये का लक्ष्यलक्षार किया था उक्त आपका मन पर विरहात्मिक अनुभवात्मक हाप उदरी पात्मनात्मक ल्वाप रंदा कर आपकी स्वामाधिक शान्ति का उद्वेग कर जाता।

प्रथमावस्था में ही आत्मा के स्वामाधिक विद्यार के आगे एक पुँबली सी पत्थरी सी दीवार खड़ी करदी । आपने इस खोम की शान्ति का उपाय समझ-उस दरम बिचम पर छदा क लिए एकाधिकर स्थानि कर लेना । आपकी सरलता ने आपका उठ पर एकाधिकर मी हो गया । परन्तु शान्ति उतरोतर पढी गई, अशान्ति उतरोतर बढ़ती गई । प्राण बन्धु के संज्ञा में प्राण बन्धु को अन्यायमय स कबाने में प्राण बन्धु के मोक्षानुरूप शक्तिउत्पन्न में इत्यादि अनेक परिप्राही में आपको ईदना पड़ा । इसके अतिरिक्त स्मृति के द्वारा म्यो रथी आप दरम विषय में सम्पर्क कदाते गए, रथी रथी संस्कारमय सहायक उक्त इन आत्मिक आकरका पुट-समुटी से अतिरिक्तिक दृढनूल बनता गया । उक्त के अतिरिक्तिक दृढनूल बनते रहने से उक्तो निवृत्तन वाला अर्थक्य नाम (इच्छा) का शान्त होना हो एक आर रथ अतिरिक्तिक बनने लगा । अतिरिक्त व्यापार भ्रमणता से मोक्षार्थिक बर्हा उतरोतर पढने लगे, बर्हा उक्तबढ़ता से कमना उतरोतर बढ़ने लगी । होते होते-सीखे-पढ़ते-देनते देखते वह अकरया (इदाभरया) आपहुँची, किन्तु इन्द्रियवर्ग शिथिल हो गया । कमना चरमसीमा पर पहुँची, शक्ति का अशान्तिक हाथ हो गया । इस अकरया में आपका आपकी इन्द्रियाँ आपका शरीर ही कमनानुमत मोक्षपदार्थ के खोम में पतिकल्पक बन गया । प्रकृतकामने स्वयं आप ही को श्रेय का अतिष्ठान बना लिया । और भी आपके इस एकाधिकरकृत शक्तिकम काम के ही द्वारा इषामय श्रेय उतन्न हो गया । अशान्ति बढ़ी, कर्मसंसंग्रह पूर्य, शक्ति हुई नहीं, श्रेय अतिथि बन गया । उक्तोपरि कामकलित आकरकापुटी की परमप से आत्मविनाश के आगे मोटी दीवाल खड़ी हो गई । इसी लिए वो मगधान् ने रथभुक्त से उतन्न इस काम-श्रेयबन्धु को 'महापान्'- 'महापाप्या' कहा है । काम की भूँक क्या कभी मिट सकती है । वह जो अतिशक्ति विषयमयति से संस्कार के द्वारा उतरोतर उधी मकर कटौती रहती है जैसे आत्महिराहुति से अग्नि शान्त होनी की अपेक्षा उतरोतर प्रकलित होता रहता हैक । इसीलिए मगधान् ने इसे 'महापान्' (बहुत जान रक्षा कमी कृत न होना वाला) कहा है । इसके अतिरिक्त यह आत्मा के स्वामाधिक विद्यार को भी आहत कर लेता है । अतएव कामकामी-विषयमोक्षप्राप्या अशान्ति का उत्तरिषेक नह ही बला है । वह विकर्षणमिद बन जाता है । इसी आकरकाकर्म के लक्ष्य से मगधान् ने इसे 'महापाप्या' कहा है । 'अशान्ताया ये पाप्या' के अनुकर मोगक्षमनुपया कामनाकृतया अशान्ताया स्वयं महापाप्या है । यह स्वयं जैसे कभी कृत नहीं होती, एवमे । इसके सम्पर्क में रहन वाला नितकृत आत्मा भी अपनी स्वामाधिक शक्ति से अतिभूत होजाता है । अतएव एकाधिकर हा अकरका अतिरिक्त, उन्नमया यह कामकति उत्तरुयमिनी अकरकलित का आत्मकय करती हुई अकरकाकर्म का अकरकलितकृत रथामाधिक शान्ति की अकरकत शक्तु ही बन रही है । इसे छुड़के देने वाला ही- 'शान्तिनाशति' न कामकामी । दुष्कृत काम के 'नी बचन इतिहात का दिगर्शन कथयं दुष्ट मगधान् ने कहा है-

१-कर्म एव, क्रोध एव रजोगुणसमुद्भव ।

महाशान्तो महापाप्या विदधे न गिह वैरियम् ॥ गी ३।३५

४-न बाहु काम कामानामुपमोगन शान्ति ।

इविषा कृष्णकर्मैव भूय एवाभिषदते ॥

- २-धूमनाग्रियते वह्नि, र्यथादर्शो मलेन च ।
यथोन्वेनाद्गतो गर्भ, स्तथा तेनदमाद्गतम् ॥ गी० ३।३८।
- ३-आद्गतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपश्च कौन्तेय ! दुष्पूरखानलेन च ॥ गी० ३।३९।
- ४-काममाधित्य दुष्पूर दम्भ-मान-मदान्विता ।
मोहाद्गृहीष्टाऽसवृद्धान् अवचन्तेऽशुचिग्रताः ॥ गी० १६।१
- ५-चिन्तामपरिमेयाश्च प्रलपान्तामुपाश्रिता ।
कामोपमोगपरमा 'एताव' दिति निश्चिता ॥ गी० १६।११।
- ६-आशापाशशस्त्रैर्बद्धा कामकोषपरायणा ।
इहन्ते काममोगायमन्यायेनार्यसञ्चयान् ॥ गी० १६।१२।
- ७-अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहज्वालसमाधृता ।
प्रसक्ता काममोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ गी० १६।१६।
- ८-त्रिविध नरकस्यैतद् द्रष्ट नाशनमात्मनः ।
काम -क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादत्तत् त्रयं त्यजेत् ॥ गी० १६।२१।
- ९-एतैर्विमुक्तं कौन्तेय ! तमोद्गारैस्त्रिभिर्नर ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ गी० १६।२३।
- १०-इन्द्रियाणि, मनो युद्धि-रस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमाद्गत्य दहिनम् ॥ गी० ३।४०।
- ११-तस्माच्चमिन्द्रियाख्यादां नियम्य भरतपम !
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशम् ॥ गी० ३।४१।

२७-'कामात् क्रोधोऽभिजायते' का समन्यय-

काम-काय-साम तीनों अभिप्र करता है। तमो उद्वेगमा है। कथ ही तीनों में 'काम' का प्रथम है। अतएव काम भी पूर्वकथनानुसार काय का कर्तृत्व करता है। एवं कामप्रतिकल्पकामक प्रतिरूप काम का कोषजनकर भी रह ही है। कामना का लक्ष्मीतु काम विरय कोष का लक्ष्मीतु श्रेय नियम, तमो में काम श्रेयसय मन यगावर्तित देगावर्तित क द्वारा कर्त्तव्य ही प्राप्त है। लक्ष्य विरयों में मन का कर्त्तव्य ही जना ही कामकायकमित हीतय साम ताव है। यही उचित श्रेयकायक काम का कर्त्तव्य हीरय है या

विषयान्ति दशा में उभयथा श्लेष कीर लोभ का प्रयत्न बना हुआ है। लोभ आत्मीयस्वरूप में व्यक्त है। अतएव इस प्रसङ्ग में भगवान् ने उक्तकी स्वल्प गणना नहीं की है। इस अमेतिह्य का निर्णय यही हुआ कि, यदि कन्मानुगत सङ्ग में उदरश काम अनुसृजता में अलात्तर में कामप्रतिक्रमण बन्धा प्रतिक्रमता में लज्जाल शाश्वतान्तर्पर्याय 'श्लेष' रूप में परिणत हो जाता है। इसी कामप्रिक्रम श्लेष, स्मृतिपरिग्राम को श्लेष बना कर भगवान् ने कहा है—'अमात श्लेषोऽभिजायते'।

२२—'क्रोधान्मरति संमोहः' का समन्वय—

संपर्कबन्धित श्लेषानि से प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित स्मारक संस्कारों में हलचल नब जाती है। स्वस्थित संस्कार अस्तबल हो जाते हैं। किम लभ नया करना चाहिए, क्य क्या करना चाहिए, क्य नब नही करना चाहिए। यह सब व्यापार मानव संस्कारों के आचार पर निर्भर हैं। संस्कारों की पूरक-पूरकस्व से (प्रज्ञान परावृत्त पर) अस्वस्थिति-स्वस्थिति-ही विभक्त कर्मव्यवहार की आचारमणि बनती है। विविक्तस्व से-स्वस्थितस्व रूप से प्रज्ञान परावृत्त पर प्रतिष्ठित रहने वाले संस्कार ही 'उत्पुद्ग' संस्कार कहलाए हैं। उत्पुद्ग-पुद्ग संस्कार ही तत्काल स्मृतियों के द्वारा तत्काल कर्मव्यवस्था के लक्ष्यक बनते हैं। विषय प्रकर एक पात्र में विभक्त स्वस्थितस्व से प्रतिष्ठित अनेक पदार्थ पात्रप्रत्यापात से अस्तबल होते हुए विगल-अस्थित उत्पुद्गव्यव को छोड़ कर अस्थित-अस्थितस्व-अमुन्वयमात्र में परिणत होते हुए एकप्रकार बन जाते हैं। तब इसी मूर्ति एक प्रज्ञानपरावृत्त पर विभक्त-स्वस्थित-उत्पुद्गस्व से प्रतिष्ठित-स्मृत्याधारमूल अनेक संस्कार शाश्वतान्तर्पर्याय श्लेष के प्रत्यापात से अमुन्वयमात्र में परिणत होते हुए अस्कार बन जाते हैं। उत्कर्षों की यह अनाकारानुगता अमुन्वयमात्र ही 'संमोह' है। इसे ही 'वैधिय' कहा गया है। 'श्लेष में मनुष्य आत्मा हो जाता है' यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है। इस आत्मता का उत्कर्ष ही-संस्कारों, की अमुन्वयता। पुद्गल भ्यात नही रहता। पुद्गल का पुद्गल ही पश्य है। एतदप्रकार कामबन्धित श्लेष को जाये नब कर 'संमोह' का बन्धक बन जाता है—'क्रोधान्मरति संमोहः'।

२३—'समोहात् स्मृतिविभ्रमः' का समन्वय—

स्वस्थित-विभक्त-उत्पुद्ग संस्कार ही तो स्मृति का मुख्यित रजत में। जब स्मृतिवृत्त संस्कार ही अपना स्वस्व संघर्ष में पक कर अस्तबल बना चुके, तो उत दशा में स्मृति कैसे स्वस्थित रह सकती है। पलात संमोह के अनन्तर ही स्मृतिविभ्रम ही पश्य है—'समोहात् स्मृतिविभ्रमः'।

३ —'स्मृतिश्च शात् पुद्गिनाशः' का समन्वय—

पुद्गि अकार मानी गर् है मन अश माना गया है। अश के आचार पर ही अकार की स्वस्वरत्ता मानी गर् है। अकारान्तिशय पुद्गि और लक्षिणाग्नि से प्रकृत होने के अरथ आग्नेयी है अग्नि ही अकार माना गया है। अकारप्रकृत मन अकार अस्वर लोभ से प्रकृत होने के अरथ लोभ ही अकार माना गया है। अकारप्रकृत मन में प्रज्ञानमन अश्रमा है, विज्ञानपुद्गि स्वर्ग है। एतद्विद्य लोभ्य, अतएव अकारप्रकृत प्रज्ञानमन पर ही आग्नेयी, अतएव अकारान्तिशय पुद्गि प्रतिष्ठित रहती है। प्रज्ञानमन संमोह से अकारान्त हो प्यता है इसी अकारान्ति से अकार अस्तबल हो पकते हैं। संस्कारप्रकृत मन किम मनोऽप्युद्गि

उपक्रम किया है। उच्च से काम उत्पन्न हुआ, काम से विषयसाक्षात्कार हुआ इती काम के निरवधि क्रम-
 अनुष्ठान से (यही लक्ष्य छोड़े विषयकारण से) उच्च विषय उच्चतमक संस्काररूप से प्रदान परलक्ष्य पर प्रतिष्ठित
 हो गया और इस छोड़कर आप पर लीट आय, यहाँ तक का स्थिति एक परम्परा है। इनके धारो मे ही गीता
 ५-ध्यायते विषयान् इत्यादि श्लोक का आरम्भ होता है। पर आकर अन्तर्गत ध्यायते में यदि आप व्यस्त
 हो गए, तो यह उच्चविषयसंस्काररूप उच्च यौ ही (अभिभूत) पक्ष रह गया। यदि आपने निरवधि क्रम अनु-
 ध्यायते उच्चतम बार बार स्मरण किया स्वभावतः काम का अनुगमन क्रिया तो इससे ध्यायते मन इस
 संस्काररूप में आसक्त हो जायगा इती स्थिति का- ध्यायते विषयान् पु सः सङ्गस्तेषूपजायते' से स्वी करण
 हुआ है। इस उच्च से देखे हुए विषय को पुनः देखने का इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इती का 'सङ्गात् सञ्जा-
 यते काम' मे विश्लेषण हुआ है। इच्छानुसार यदि दुःखाय आप उच्च दरव देखने में लक्ष्य हो गए, तो
 उच्च पर एकाधिक्य प्राप्त कर लिया तो अज्ञानत्व में अविज्ञान से अविज्ञित विषय संस्कार की व्ययता से
 आपका शारीरिकी सुख हो जायगा। यदि अन्य कामप्रतिस्पर्धक के ध्या करने से आपकी इच्छा सङ्ग न
 हुई तो भी शारीरिकी सुख हो जायगा। इत्यन्तर उभयथा उत्पन्नित काम शारीरिकी सुखसङ्ग कोच
 का एक का जायगा किन्तु- 'कामान् कोचोऽभिजायते' से स्वीकरण हुआ है। कोच अज्ञानत्व में
 संस्कारसंस्कार-अनुभवसङ्ग कोच में परिणत हो जायगा, किन्तु- कोचोऽभिजायते संसाह' से विश्ले-
 षण हुआ है। कोच वैश्वित्य लक्ष्य स्मृतिविग्रम का कारण का अन्तर्गत किन्तु- 'संसाहान् स्मृति-
 विग्रम' कहा गया है। स्मृतिविग्रम से बुद्धिरूपविनाशक अन्तर्गत (संस्कारसङ्ग) का काम हो
 पड़ेगा, किन्तु- 'स्मृतिग्रं शास्त्रं बुद्धिनाराः' से विश्लेषण हुआ है। इत्यन्तर अन्तर्गतता अन्त का- 'बुद्धि-
 नाराणां प्रयासयति स्मृतिना चरितार्थं हो जायगा किन्ते चरितार्थ न होने देने के लिए ही बुद्धिनोनाशक
 उत्पन्निका प्रवृत्त हुई है।

- १-अनान्तरीयसंस्काररूप-—————प्रथमकर्मविभाग (संस्काररूपधनि कर्मस्थि)
- २-ऐहिक-ऐन्द्रियकविषयसाक्षात्कार-—————द्वितीयकर्मविभाग (कर्मस्थिधनि कर्मस्थि)
- ३-ऐहिक-ऐन्द्रियकविषयसंस्काररूप-—————तृतीयकर्मविभाग (संस्काररूपधनि कर्मस्थि)
- ४-ऐहिक-संस्काररूपसाक्षात्काररूप-—————चतुर्थकर्मविभाग (कर्मस्थिधनि कर्मस्थि)



१-प्रथमकर्मस्था विषयसाक्षात्काररूप-ऐन्द्रियककर्मस्थिधारभूतस्य कामस्योद्देशः—
 सङ्गात् सञ्जायते काम (सङ्गात्-अन्तर्गतीयसंस्कारसंस्काररूपस्य-काम -
 साक्षात्काररूपसाक्षात्कारप्रवृत्तिः) ।

२ विषयसाक्षात्काररूपरूपस्य कामस्य-अन्तर्गतीयसङ्गात्जनितस्य-निरवधिअनुगमनात्-
 द्वितीयकर्मस्था समुत्पन्ने संस्कारे आसक्तिर्जायते संस्कार स्वतन्त्ररूपरूपेण परिणतो भवति-
 'ध्यायते विषयान् पु सः सङ्गस्तेषूपजायते' (तत्रैव स्थितस्य मनसा-निरवधिअनुगमनात्-तेषु
 दृष्टविषयेषु-साक्षात्काररूपसाक्षात्काररूपेण) । स एव सङ्गात्कारण-नवीनोक्त-ऐन्द्रियककर्मप्रवृत्तिः ।

३-तं गृहीत्वा गृहे परत्परिवासेषु मन्थो मन्थत । अत्र भगवानाह-

(१) - 'ध्यायतो विषयान् पु स सङ्गस्तेषूपजायते'

'द्वितीयकर्मणा समुत्पन्ने संस्कारे यदि स्मृत्यात्मकधर्मेण पुनः पुनः संस्मरणं, तर्हि तस्मिन् मन आसक्तो भवति, एतन्न रागासक्त्यां सञ्जते ।

(२) - 'सङ्गात् सञ्जायते कामः'

'रगासक्त्यासञ्जानात् - संस्कारानुगतवाङ्मविषयस्य पुनर्दर्शनधर्मना' ।

(३) - 'कामात् क्रोधोऽभिजायते'

पुनर्दर्शनकामसकलताया, यिकलतायां वा बोधयथा शरीररगिन्क्षोभकक्षणास्य क्षोभस्योद्भवः' ।

(४) - 'क्रोधात् भवति समोहः'

'क्षोभकक्षणाक्रोधात् - सञ्चितानुसृष्टसंस्कारा - अस्तव्यस्ताः - अविभक्त्यः - सन्त - उन्मुग्धा जायन्ते' ।

(५) - 'समोहात् स्मृतिविभ्रमः'

'संस्काराणां अस्तव्यस्त्वस्यात् - विभक्त - व्यवस्थित - धर्मानुगतायाः स्मृतेरभावः ।

(६) - 'स्मृतिभ्रं शाब्दबुद्धिनाशः'

स्मृत्यभाव बुद्धिस्वरूपसंस्कारस्य व्यवसायसङ्घर्षविनेकधर्मस्योच्छेदप्रसङ्गः" ।
तद्विषय -

१ - ध्यायतो विषयान् पु स सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥

२ - क्रोधात् भवति समोहः, समोहात् स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रं शाब्दबुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

--गीता २।६० ६३।



३३ - राग, और द्वेष का जन्य - जनक मान

रागानुष्ठानुगता रागासक्ति का स्वरूप परिचय करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि - 'रागानुष्ठानुगत-मनसि अनुकूलसंस्कारावस्थितशरीररगिन्मनसि मन से निकलने वाली अर्थात्मिक परिमयी ही काम नाम की अनुकूल धर्मना है । अनुकूलधर्मनासिद्धा अनुकूलसंस्कारकल्पनासक्ति ही रागासक्ति है । रागासक्ति केने कौन होशयी है ? इस प्रश्न के उत्तरान के लिए ही यहाँ ने आरम्भ कर उक्त शिखर पर्वन्त काम - परम्पराओं की प्रसिद्धि करनी पड़ी । इसी उपासक्ति से हो पासक्ति का स्वरूप - परिचय भी उक्तप्राय है । रागासक्ति का मूल परि मुपानुगामी धर्म है तो द्वेषासक्ति का मूल बुद्धानु-

शास्त्री श्लेष है। उच्च श्लेष नाम से उच्च श्लेष है। अतएव अनात्मिक श्लेषात्मिक में ही श्लेषात्मिका हो पावतिव का भी अन्तर्भाव माना जा सकता है। प्रसङ्गात् इससे सम्भव में ही दो शब्द कह देना अनात्मिक न माना जायगा।

३४—रागद्वेष का लक्षणसम्बन्ध—

श्रोत्रानुगत-संज्ञित प्रतिकूलसंस्कारोपावधिप्रधान मानव शोभामित शारीर्यनि से निकलने वाली अर्थात्मिका परिमर्षा ही 'श्लेष' नाम की प्रतिकूलभावना है। यह प्रतिकूलभावना प्रतिकूल नियम के ही अनुगत फनी रहती है। अतएव श्लेषात्मिक प्रतिकूल भावना बुद्ध्यानुशासिनी मानी गई है। बुद्ध में (बुद्ध्यानुगत प्रतिकूल नियम के परिष्कारात्मक प्रद्वय में) श्लेषप्रवृत्त मन ही श्लेष' है। इस श्लेषात्मिक प्रतिकूल भावना (द्वेषभावना) से मुक्त प्रतिकूल-द्वेष-भावनात्मक प्रतिकूल संस्काररूपन ही 'द्वेषात्मक राग' है। यही द्वेषात्मिक है। आपकी इच्छा प्रतिकूल-संज्ञित श्रोत्रानुगत प्रतिकूल भाव (द्वेष) से पुरोऽवस्थित प्रतिकूल नियम पर पड़ी। आपका मन ज्ञान हो गया, आपने वहाँ से कस्ती से कस्ती मनको निकलना अवश्य चाहा। परन्तु उत्तरी ज्ञान आपके मनोव्यवस्था पर लक्षित हो गई। यही ज्ञान लक्षणोक्त्यर्थ में परिष्कृत हो गई। अब जब भी स्मृति के द्वारा वह उद्बुद्ध हो जाती है, वह द्वेष नियम नन्व करते हुए भी आपको ज्ञानत बनाया जाता है। यही द्वेषात्मिक का उदाहरण है। रागात्मिक से वहाँ अनुकूलवेदानात्मक मुक्त का अनुभव होता रहता है वहाँ इस द्वेषात्मिक में प्रतिकूलवेदानात्मक बुद्ध का अनुभव होता रहता है। इसी आधार पर वैदिकान्त्रिकों ने कहा है कि—'सुखानुशासिक-अमानुषधी-अनुकूल भावना-वासन्वसत्स्वर के साथ होने वाला प्रधानमन का सामान्य प्रथिव्यन्वय ही 'राग' है यही रागात्मिक है'। एवं—'बुद्ध्यानुशासिक-श्लेषानुशासिक प्रतिकूल भावना-वासन्वसत्स्वर के साथ होने वाला प्रधानमन का द्वेष-प्रथिव्यन्वय सम्बन्ध ही 'द्वेष' है, यही द्वेषात्मिक है। इसी आधार पर इस द्वेष से वैदिकान्त्रिकों को राग-द्वेष-राग का निम्न लिखित लक्षण दिया जा सकता है।

१-सुखानुशासिक-अमानुषधी-अनुकूलभावनावासन्वसत्स्वरैः अग्निमर्षितयनस' सामान्यप्रथिव्य-व्यन्वयसम्बन्धः आसक्तिवन्धो वा—'राग'। सैषा रागात्मिका ।

२ बुद्ध्यानुशासिक-श्लेषानुशासिक-प्रतिकूलभावनावासन्वसत्स्वरैः सोममर्षितयनेः-द्वेषप्रथिव्यव्यन्वय-सम्बन्धः-आसक्तिवन्धो वा—'द्वेष'। सैषा द्वेषात्मिका ।

३५—रागात्मिकात्मक प्रेम के पाँच विभिन्न क्षेत्र—

अम इच्छा से 'रागद्वेष' का सम्बन्ध कीजिए। किंतु नैतिक नियम का हमारा मन प्रद्वय भावना चाहता है उक्त नियम के प्रति मन का स्वामात्मिक आकर्षण रहता है। एवं किंतु नियम से हमारा मन हटना चाहता है तबसे प्रति मन का विरोध रहता है। पहिले आकर्षणकृतप्रयोग का उदाहरण देखिए। यदि का मन फनी की ओर फनी का मन पति की ओर स्वभावतः आकर्षित रहता है। शिवा-पुत्र पुत्र-शिव निव निव, हत्यारि स्वकी में दानी का दोनों ओर हमानाकर्षण है। आकर्षणकृतप्रयोग का अर्थ है मानव श्लेष

रस का लक्ष्य की ओर प्रवृत्त रहना । यही रसप्रवाह 'प्रेम' कहलाया है । अथवातुयोगिक परप्रतियोगिक, परानुयोगिक अथवाप्रतियोगिक समानानुयोगिक समानप्रतियोगिक, एकत्वोपानुयोगिक सर्वांनुयोगिक सर्वप्रतियोगिक, मेघ से इस रसप्रवाहत्मक आकर्षण के पाँच विधा हो जाते हैं । पिता आदि परों का पुत्रादि अथर्वों के साथ वा स्वामा बन्ध प्रेमोत्कर्षण है यही अथवातुयोगिक परप्रतियोगिक 'वात्सल्य' नामक आकर्षण है । वात्सल्यरस परों से प्रवाहित होकर अथर्वों की ओर आ रहा है । इस रस का योग अथर्वों से हो रहा है । अथवातु इसे परप्रतियोगिक-अथवातुयोगिक कहा जाता है । इस रिपति को ठीक उलट कर दीजिए । पुत्रादि अथर्वों का पितादि परों के साथ वा स्वामाबन्ध प्रेमोत्कर्षण है यही परानुयोगिक अथवाप्रतियोगिक 'भद्रा' नामक आकर्षण है । भद्रारस अथर्वों से प्रवाहित होकर परों की ओर आ रहा है । इस रस का योग परों से हो रहा है । अथवातु इसे परानुयोगिक अथवाप्रतियोगिक कहा जाता है । एक मित्र दूसरे मित्र के लिए समान है । 'समानरीति-समसन्तपु मैत्री' सिद्धान्तानुसार समान धर्मियों में ही मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होता है । एक मित्र से प्रवाहित होकर उम्मा प्रेमोत्कर्षण दूसरे मित्र की ओर आ रहा है, तो उठ दूसरे मित्र का प्रेमोत्कर्षण इस प्रथम मित्र की ओर आ रहा है । प्रथम मित्र का प्रेमोत्कर्षण द्वितीय मित्र की अपेक्षा समानानुयोगिक, स्वप्रेषणा समान प्रतियोगिक है, ता द्वितीय मित्र का प्रेमोत्कर्षण प्रथम मित्रापेक्षा समानानुयोगिक, एवं द्वितीय मित्रापेक्षा समानप्रतियोगिक बना हुआ है । दोनों के प्रेमोत्कर्षण परस्पर एक दूसरे के प्रति समानरूप से प्रवाहित हो रहे हैं । यही समानप्रतियोगिक-समानानुयोगिक प्रेमोत्कर्षण 'स्नेह' कहलाया है । भद्रा-वात्सल्य-स्नेह, तीनों आकर्षणों में आकर्षणरसप्रयोगों के उच्च जीवन हैं, शरीर हैं । यह, पश्य, आभूषण, सुवस्त्र उपासन, अन्न, आदि बहू प्रदार्थों के प्रति भी प्रेमोत्कर्षण प्रवाहित रहता है । प्रवाहित होकर वह इन बहू प्रदार्थों में आकर्षण हो जाता है । इसी आधार पर- 'आवृत्तिर्लक्ष्यप्रदानम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इनमें न अथवातुयोगिकता है न प्रतियोगिकता । केवल हमारे रस का उनके साथ योग है । अथवातु इस प्रेमोत्कर्षणरसक 'काम' नामक आकर्षण को एकताऽनुयोगिक कहा गया है । पाँचवें प्रेमोत्कर्षण में भद्रा-वात्सल्य-स्नेह-काम चाँही आकर्षणों का समन्वय है, अथवातु 'रति' नाम से प्रसिद्ध सर्वोत्कमक यह आकर्षण सर्वांनुयोगिक-सर्वप्रतियोगिक कहलाया है । इसके सर्वपदानुयोगिक सर्वअथवाप्रतियोगिक-व्याकर्षण एवं सर्वांनुयोगिक सर्वप्रतियोगिक, मेघ से ही मेघ मर्दि गए हैं । हम भद्राभाव से ईश्वर की उपासना करते हैं विल उपासना का वासुदेवनन्दन वासुदेवनस्वरूप से सम्बन्ध है ; वासुदेवभाव से उपासना करते हैं विल उपासना का नन्दनन्दनस्वरूप से सम्बन्ध है । हम स्नेहभाव से उवशी उपासना करते हैं जो उपासना कृपाकृपा अनुन के सम्बन्ध में मरिठ हुई है । पापाश-आदि भक्तवृत्तिप्रदोपासना (बड़ापासना प्रतिमोपासना) का कामभाव से सम्बन्ध है । तूर्त्त बन्धुनि लक्ष्य प्रतीकोपासना का भी इसी कामभाव में अन्तर्भाव है । इत्यन्तर अगुणनस के सम्बन्ध में चाँही प्रेमोत्कर्षणों का सम्बन्ध हो रहा है । 'पर अगुणनस है, न्यास्य है । उपासक जीवात्मा अथर्व है । सर्वव्यापक कर्मचार्यों पर ईश्वर की न विशी पर भद्रा है न वात्सल्य है, न स्नेह है, न काम है, और यही वैज्ञानिक तत्त्वोपासना का तत्त्व है विलिङ्गा मरिक्तव्यवगीक्षापरवर्त्तों में बद्रुपा प्रतिपादन किया जा चुका है । अथवातु यह तर्कोत्कर्षण अथवाप्रतियोगिक ही माना जायगा । उपासक की भद्रा, वात्सल्य, स्नेह काम-वृत्तियों की उपास्य ईश्वर की ओर ही अनुगति रहती है । अथवातु एवंविध तत्त्वोत्कर्षण 'परानुयोगिक' ही माना जायगा । न्योक्त परानुयोगिक-अथवातुयोगिक इस आकर्षण में चाँही का सम्बन्ध है, अथवातु इस इश्वरानुगत प्रीत्योत्कर्षण का हम 'रति'

नामक-सर्वपरमप्रेमिक-सत्त्वप्रतिबोधिगुण रथाकार्य ही कहेंगे। किन्तु निष्पन्न यह होगा कि सर्वरस-प्रवाहनात्मक 'रति' प्रेम का एक क्षेत्र उपास्य तथुया मध्य है। इस रति से जीव भी उन्मुक्त हो पाया है ७।

दूरे उपास्यार्थ का क्षेत्र दाम्पत्यमय है। दाम्पत्यमायानुगत उपास्यार्थ ही सर्वानुबोधिगुण सर्वप्रतिबोधिगुण नाम का वृत्त उपास्यार्थ है। पहिले पति के क्षेत्र से सम्बन्ध कीजिए। पत्नी पति पर भ्रष्टा करती है उसे आराध्य मानती है। पत्नी का भ्रष्टारस पति के लिए, प्रतिबोधि है पति के लिए अनुबोधि है। किन्तु प्रथम स्वच्छता ही बध्यात्मका मे माता के अन्तर्भाग में वात्सल्यरस उमङ्ग पकटा है यद्यपि पति की बध्यात्मका में भी 'बाबा' प्रेमिकाकारिणी (मातृकाधिकारिणी) पत्नी का वही वात्सल्यरस प्रवाहित होने लगता है, जो अनुभवेकाम्य है। पत्नी का यह वात्सल्यरस भी पत्नी का प्रतिबोधि एवं पति के लिए अनुबोधि (अनुकूल) बन रहा है। 'सह्यर्म्म चरताम्' को चरितार्थ करने वाली पत्नी मातृमीमन पति की छविनी बनी रहती है। पतिभुज में सुभानुभव करने वाली पतिभुज में सुभानुभव करने वाली पत्नी अपना मित्रानुगत स्नेहरस भी पति की ओर प्रवाहित करता है। यहाँ भी पत्नी का यह स्नेहरस पत्नी के लिए प्रतिबोधि, एवं पति के लिए अनुबोधि सिद्ध होता है। पति की कामानुगता पति, अश्वमेधभूषणुगत बह्यैन्दर्य्य मन्हास आदि के प्रति भी कामानुगता पत्नी आकर्षित रहती है। वही इसके कामरस का पति की ओर ब्याप है। यहाँ भी पत्नी का कामरस इसके लिए प्रतिबोधि है एवं पति के लिए अनुबोधि है। इसप्रकार पत्नी के मनोऽनुगत भ्रष्टादि चारों रस 'परमप्रेमिक-पत्नीप्रतिबोधिगुण' रस से उद्भूतक बनो हुए हैं। अतएव ननुर्विच इत फल-भुगत पत्नीप्रम को अक्षर्य ही 'रति' कहा जाकरता है। ठीक यही स्थिति पत्नी-क्षेत्र के उपास्य में पतिव्य हुए है। गृहप्रतिबोधि-जीवत्त्व-पत्नी पति के लिए भ्रष्टा है सम्माननीय है वैद्य कि 'यत्र नाप्यस्तु पूर्य्यता' इत्यादि भ्रष्टेन मनुष्येन से प्रमाणित है। पति की वात्सल्यरस से भी पत्नी अनुबोधि रहती है। स्नेहरसनुगति भी स्पष्ट प्रमाणित है। कामानुगत क्षेत्रपाठवतानुस्थानि किन्तु स्वच्छ कामरस प्रपञ्च भी स्थित है। पति के वे भ्रष्टादि चारों रस स्वयं पति के लिए प्रतिबोधि है एवं पत्नी के लिए अनुबोधि है। पति के मनोऽनुगत भ्रष्टादि चारों रस फलभुगत पतिप्रेम को अक्षर्य ही 'रति' कहा जाकरता है। वही 'सर्वानुबोधिगुण-सर्वप्रतिबोधिगुण' लक्षण वृत्त उपास्यार्थ है, किन्तु एक मात्र क्षेत्र दाम्पत्यमय ही माना गया है। पत्नीप्रम की प्रथिवा पतिप्रेम है पतिप्रेम की प्रथिवा पत्नीप्रेम है। उभयपक्षता रति उभयपक्षेक्ष है। वही दाम्पत्यमय उपास्य का वैद्यनिश्चय है। निष्पन्नः आकर्षणकलाप्रम उभयनिष्ठ ही हुआ करते हैं। स्वयं यही हुआ कि, किन्तु अनुगत मानव स्वयंवा ही आकर्षणप्रम है एवं यह भ्रष्टा-वात्सल्य-स्नेह-वाम-रति, जेद से ब्रह्म विभक्त है वैद्य कि परिक्षेक से स्पष्ट है।

७-कामं, क्रोध, मयं, स्नेह, मैत्र्यं, माहृदयव य ।

- नित्यं हरा विदुस्तो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

-भीमहृदयप्रसव १० स्कं पू २२ अ० १५ श्लोक ।

बाली है। रागात्मक सम्बन्ध आरूप व्यापक है। होवात्मक सम्बन्ध विद्यपदात्मक है यही तात्पर्य है। किन्तु आचार पर बह कदा वा लक्ष्य है कि क्षमानुगत मानस आरूपण का ही नाम राग, किंवा रागात्मक है। अतएव रागात्मक में मन रागानुगत मध्य किये की ओर लगे आकर्षित रहता है। श्लेषानुगत मानस विद्येपण का ही नाम श्लेष किंवा होवात्मक है। अतएव इ पाठस्थित में मन होवानुगत मध्य किये से सदा हटा रहता है। पूर्ये शब्दों में आरूपण शून्यप्रयोग ही राग है। विद्येपण शून्यप्रयोग ही श्लेष है। यही रागात्मक सम्बन्ध का तृतीय दृष्टिकोण है।

क्षमानुगताङ्गसम्बन्धप्रयोग — राग
 श्लेषानुगतविद्येपणसम्बन्धप्रयोग — श्लेष

} — आत्मिक

क्षमानुगताङ्गसम्बन्धप्रयोग — राग
 श्लेषानुगत विद्येपणसम्बन्धप्रयोग — श्लेष

} — आत्मिक

३७ क्षमक्रोधानुपन्धी रागात्पदम्—

प्राचीन दृष्टि में रागात्पदम् का अन्वय कीर्ति है। राग भी क्षममूलक है। होवा भी क्षममूलक है। रागात्मकता में रागात्मिक का अर्थ होता है होवात्मिक से होवान्त्रिक का अर्थ होता है। इत्यन्तर यद्यपि राग होवा दोनों का प्रत्येक 'क्षम' ही है। तथापि इन दोनों में से रागमूलक क्षम को वा 'क्षम' शब्द में ही व्यक्त किया जाता है। एवं होवामूलक क्षम को 'श्लेष' न कह कर 'श्लेष' कहा जाता है। कारण यही है कि रागमूलक क्षम शारीरधर्मनिर्मित मन से निर्मित होता हुआ सुखानुरागी, अतएव शैत्य है। उभर होवामूलक क्षम मनोवर्त्मित शारीर्यमि से निर्मित होता हुआ सुखानुरागी, अतएव आग्नेय है। आग्नेयका अर्थ है शैत्य स्नेह लक्ष्य है। अतएव शैत्य मनोवर्त्मित रागानुगत क्षमना स्नेहलक्षणा आकरवात्मिक के द्वारा रागकथन की बननी बनती है। एवं आग्नेयका अर्थ है होवानुगत क्षमना उद्योतलक्षणा विद्येपणरहित के द्वारा होवाकथन की बननी बनती है। इत्यन्त अर्थानुसारिकाक्षय से अक्षयनशून्य परिष्कारक कथन है उद्योतलक्षणा अक्षयनशून्य में अक्षयनशून्य-प्रवृत्तकथन है। इत्यन्तकार श्लेषानुगताङ्ग प्रतिष्ठित एक ही क्षम शोभात्मिक के अक्षयनशून्य से क्षममूलक क्षम श्लेषकथन का अर्थ होवात्मिक क्षम होवा आचार पर कहा का लक्ष्य है कि राग क्षमानुगता है श्लेष श्लेषानुगता है। राग में क्षम का लक्षण है किंवा क्षम में राग का लक्षण है। एवं श्लेष में श्लेष वा किंवा श्लेष में होवा का लक्षण है। ऐसी स्थिति में यदि क्षम को राग का एवं श्लेष को श्लेष का अर्थ कर दिया जाय, तब भी असुक्ति न होगी।

क्षमनिर्मित राग से सम्बन्ध रखने वाले एक क्षमशब्दों में लक्ष्यविद्येपणता रहती है। रागात्मिक के अर्थ का अर्थना कर अक्षयनशून्य अक्षयनशून्य करण हुआ क्षमनिर्मितक्षम क्षमशब्दों की

- | | | |
|------------------------------|-------------------------------------|------------------|
| १-पयनुयोगिक-अथप्रतिबोधि | प्रेमाकर्षणम् - 'भद्रा' | } रजोगुणाकर्षणम् |
| २-अथरनुयोगिक-परप्रतिबोधि | प्रेमाकर्षणम् - 'वसुधैव कुटुम्बकम्' | |
| ३-समानप्रतिबोधि-समानानुयोगिक | प्रेमाकर्षणम् - 'स्नेहः' | |
| ४-एकतोऽनुयोगिक | प्रेमाकर्षणम् - 'अमा' | } तमोगुणाकर्षणम् |
| ५-सर्वानुयोगिक-सर्वप्रतिबोधि | प्रेमाकर्षणम् - 'रतिः' | |



३६-आकर्षण-विशेषशास्त्रक रागद्वयपदन्त-

उक्तलक्षण-मानस प्रेमात्मक वच में दोनों अथ दोनों अथ आकर्षण होता है। एक दूसरे ने परस्पर एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण कर रक्खा है। यह प्राकृतिक प्रेमाकर्षण ही 'रग', जिना रगतकृति है। ठीक इसके विपरीत इसी मानस रस का परस्पर विद्युत्पन्न होना ही 'द्वेष' जिना द्वेषकृति है। समने आपस रातु लक्ष्य है। आपस मानस रस (तमिन्त) उलझी और लिखा जा रहा है उलझा रह आत्मके और लिखा जा रहा है। दोनों में रस वा अणुमात्र भी स्पर्श नहीं हो रहा है। परन्तु जिना वा उलझा है कि, पूर्व में द्वेषकृति का विच्छेदन्य करते हुए वर्तमें मानस रस का उलझन क्लेशना गम्य है। अब नहीं यह अथा जा रहा है कि, दोनों के रसों का स्पर्श भी नहीं हो पाता। यह किञ्च पूर्वाभिव्यक्ति है। उक्त स्पष्ट है। 'संयोग विप्रयोगप्रवा' सिद्धान्तानुसार संयोग अथ विमोगान्त है, ही विमोग संयोगान्त है। राग का अर्थ है संयोग। विरवाध अथ विप्र-यह संयोगात्मक राग अथरय ही 'अतिपरिचयावस्था' के अनुसार किसी दिन विमोगात्मक में परिणत हो जायगा और संयोगात्मक राग की यह विमोगात्मिक दशा ही विमोगात्मक द्वेष रूप में परिणत हो जायगी। ये रगतकृति ही किसी दिन द्वेषकृतिरूप में परिणत हो जायगी। द्वेष का अर्थ है विमोग। यदि यह विमोग विरत्पायी बना योग, तो अथरय ही यह किसी दिन संयोगरूप में परिणत हो जायगा और विमोगा-त्मक द्वेष की यह संयोगात्मिक दशा ही संयोगात्मक रागरूप में परिणत हो जायगी। ये द्वेषकृति ही अज्ञानर में रगतकृतिरूप में परिणत हो जायगी। रग का अर्थ परियाम होय द्वेष, द्वेष का अर्थ परियाम होय रग। लोभ का अर्थवन्तिक संयोग ही विप्रव्यक्त अर्थि है, एव अर्थि का अर्थवन्तिक विप्रवत् ही संयोगात्मक द्वेष है। नही रिचि अर्थिगर्भित लोभ मन से निर्निर्गत अथानुभव ही लोभगुणक राग की, तथा लोभगर्भित शरीरार्थि से निर्निर्गत अथानुभव ही अर्थिगुणक द्वेष के लक्षण में प्रतिबुद्ध है। जो राग है वही द्वेष है। जो द्वेष है, वही राग है। अर्थ से ही रागोत्पत्ति है अर्थ से ही द्वेषोत्पत्ति है। इस स्थिति को अर्थ में रख कर उक्त का समन्वय अर्थि। इत्या वही बन उलझा है अर्थि पक्षिसे दोनों रसों का संयोग ही। विमोग संयोग को आभार बना कर ही अर्थ हो रहा है। योग ही विमोगात्मक का कारण बना है। अर्थ होना वही लोभ विप्रवत् को अर्थर मिश्रण। द्वेष में दोनों रसों का दोनों रातुओं के संयोग होते ही पक्षिसे अर्थ मर के द्वेष अर्थरूप से लक्षण हो जाया है। इस प्राकृतिक-आकर्षण-संयोग के अर्थवन्तिकोत्पत्ति में ही लक्षण का विच्छेद हो जाया है। लक्षण अपनी लक्षणवा अर्थि अर्थिगुणक में परिणत हो गया है। उक्तकार विश्वशास्त्रक द्वेष में भी मूल में अर्थनात्मिक अर्थवन्तिक की वृत्त ही विद्व ही

बायी है। रागात्मक सम्बन्ध आश्रयस्थानक है। इ पातमक सम्बन्ध विद्येपशात्मक है। यही तात्पर्य है। विरले आचार पर यह कहा जा सकता है कि कामानुगत मानक आश्रयस्थानक का ही नाम राग किंवा रागात्मक है। अतएव रागात्मक में मन रागानुगत कथ्य विषय की ओर तथा आश्रयस्थानक का ही नाम रूप, किंवा होपात्मक है। अतएव होपात्मक में मन होपानुगत कथ्य विषय से क्या होता रहता है। वृक्ष शब्दों में आश्रयस्थानकप्रयोग ही राग है, विद्येपशात्मकप्रयोग ही रूप है। यही रागरूपधरन् सम्बन्ध का तृतीय दृष्टिकोण है।

कामानुगतकामपदसम्बन्धम्—रूप
 होपानुगतविद्येपशात्मकप्रयोग—रूप

}—आश्रयस्थानक

कामानुगतकामपदम्—रूप—रागा
 होपानुगत विद्येपशात्मकम्—रूप—रूप

}—आश्रयस्थानक

३७ कामकोशानुसूची रामद्वेषद्वन्द्व-

चौथी दृष्टि से रागरूपधरन् का सम्बन्ध हीविद्ये। राग ही काममूलक है। रूप ही काममूलक है। रागकामना से रागात्मक का उदय होता है। होपात्मक से होपात्मक का उदय होता है। इतरकार नवरे राग रूप होती का प्रयत्न 'काम' ही है। तथापि इन दोनों में से रागमूलक काम को ले 'काम' शब्द में ही स्पष्टत्व किया जाय है। एवं होपमूलक काम को 'काम' में बदल कर 'कोष' कहा गया है। कारण यही है कि रागमूलक काम शाहीपनिर्गम्य मन से विनिर्गत होता हुआ मुक्तानुरागी, अतएव सौम्य है। उपर होपमूलक काम मनजाति शाहीपनि से विनिर्गत होता हुआ मुक्तानुरागी, अतएव आग्नेय है। आग्नेयताव अतएव सौम्य स्वेद उत्पन्न है। अतएव सौम्य मनप्रधाना रागमूला कामना स्नेहकथा आश्रयस्थानक के द्वारा रागकथन की बननी बनती है। एवं आग्नेयतावप्रधाना होपमूला कामना तबोकाबाजा विद्येपशात्मक के द्वारा होपकथन की बननी बनती है। इयकथन अतन्मिनाश्रयस्थान से अकथनात्मक परिष्कारात्मक कथन है। ययकथन अतन्मिनाश्रयस्थान से अकथनात्मक-सहकारक कथन है। इतरकार रवेनुजापारेण प्रतिष्ठित एक ही काम सोमामि क सम्बन्धतावत्त्व से काममूलक काम कोशमूलक काम इन दो स्वरूपों में परिणत हो गया है। काममूलक काम 'काम' कहा जाय है। होपात्मक काम 'कोष' कहा जाना है। इसी आचार पर कहा जा सकता है कि राग कामानुसूची है। रूप होपानुसूची है। राग में काम का लक्षणम् है किंवा काम में रूप का लक्षणम् है। एवं रूप में कोष का किंवा कोष में रूप का लक्षणम् है। ऐसी स्थिति में यदि काम को रूप का एवं कोष को रूप का उदक बदलिये जाय तब भी असुक्तिन हो।

कामविधि राग से सम्बन्ध करने वाले लक्ष्य

उदकबदल रही है

उदक को अथवा कर अनुसूची से रागानुसूची

कामकामी रागी

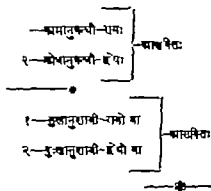
वैराग्य का अर्थ होता है—काममूलक राग का अभाव । क्या वैराग्य शब्द से केवल काममूलक राग का ही अभाव अभिप्रेत है ? नहीं । अपितु वैराग्यशब्द राग द्वेष, मोह तीनों के अभाव का सूचक बन रहा है । अन्ते ! सुनिए । ।

३६—कामक्रोचलोममूलक-रागादपमोह—

गीता ने रजोगुण से काम क्रोध की उत्पत्ति मानी है । क्रोध को लोभात्मक 'मोह' का भी उपलक्षण समझना चाहिये । और इस दशा में—'काम एषा, क्रोच एषा' रजोगुणसमुद्भवा' का अर्थ— काम एषा, क्रोध एषा लोभ एषा रजोगुणसमुद्भवा' यह समझना चाहिये । अज्ञानादृत ज्ञानलक्षण मोह लोभात्मक मोह भेद से मोह दो प्रकार का माना गया है । अज्ञानादृत ज्ञानलक्षण मोह को पञ्चज्ञि ने 'अविद्या' शब्द से व्यक्त-कृत किया है । एवं इस अज्ञानात्मक मोह का प्रतिबन्दी ज्ञान माना गया है जिसका सिद्धविद्यानुगत ज्ञानभुक्ति-योग से सम्बन्ध है जिसका तृतीय स्वरूप में विस्तार से उपरुद्ध किया जा चुका है । इत्यत्र लोभात्मक मोह उस अज्ञानात्मक-ज्ञानप्रतिबन्दी-मोह से पृथक् राग है । लोभात्मक मोह की प्रतिष्ठा अज्ञान नहीं है अपितु रागादेषात्मक है । अतएव इसे रागादेषात् आसक्तिस्वरूप में ही अन्तर्भूत माना जायगा । अतएव इसअ प्रतिबन्दी रागादेषात्मक वैराग्य ही माना जायगा । 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लक्ष्णा' का मोह ज्ञानप्रतिबन्दी अज्ञानात्मक मोह है । एवं—'मोहात्परम्यते कर्म' (१८५४)—'मोहात्पृथ्वीत्वासत्प्राधान्' (१९११)—'प्रमारेो मोह एव च' (१४११)—का मोह वैराग्यप्रतिबन्दी आसक्तिरागण मोह है । ज्ञानप्रतिबन्दी मोह का मूल अज्ञान है वैराग्यप्रतिबन्दी मोह का मूल लोभात्मिक आसक्ति है । अतएव रागानुगत काम द्वेषानुगत क्रोध इन आसक्तिमूलों के अथ ही मोहानुगत लोभ का अंग्रह हुआ है जैसाकि—'त्रिविधं नरकस्थेर्द्वारं सादानमत्तम । कामः क्रोधा-तथा लोभः' इत्यादि मन्त्ररचन से प्रमाणित है । काम-क्रोध-लोभ तीनों अन्वारी ही अमानवस्तीय हैं अमिल उक्ता हैं । राग कामानुष्पी हैं द्वेष क्रोधानुष्पी हैं, मोह लोभानुष्पी हैं । अतएव काम-क्रोध को लोभ का एवं रागादेष को मोह का उपलक्षण माना जायगा । गीता ने रजोगुण से काम-क्रोध की उत्पत्ति मानी है जिसमें लोभ का भी अभाव करना पड़ेगा, और कहेगा कि काम-क्रोध-लोभ, तीनों रजोगुणसमुद्भूत हैं । कामानुगत राग क्रोधानुगत द्वेष यदि रजोगुणमूलक अन्ते हुए रागात्मक (आसक्तिरूपक) हैं, तो लोभानुगत मोह भी रजोगुणमूलक बनता हुआ अन्तर्भूत ही रागात्मक माना जायगा । 'राग' का अर्थ होगा आसक्ति । रागलक्षण (रजोगुणलक्षणा) यह आसक्ति क्योंकि काम-क्रोध-लोभ-मूलक राग-द्वेष-मोह भेद से बिधा विभक्त रहती है । अतएव वैराग्य के राग शब्द से 'राम-द्वेष-मोह' तीनों का ग्रहण किया जायगा । और उक्त दशा में वैराग्य शब्द का अर्थ किया जायगा— राग-द्वेष-मोह-रहित्य ।

काम—	रजोगुणमूल—	अतएव रागात्मक—	कामराग—	चन्मूलो राग—	अनुकूलरागः	
रागादेषी	क्रोधा—	रजोगुणमूल	अतएव रागात्मक—	क्रोधराग—	चन्मूलो द्वेषा—	प्रतिवृत्तरागः
	लोभा—	रजोगुणमूल	अतएव रागात्मक—	द्वेषराग—	चन्मूलो मोहा—	स्वच्छरागः

सुखानुसारी कान्ते में लपेटे बना रहता है। बन्ने के साथ राम है अथवा इसके जैसे आप सुखानुसारी का रहे हैं, जैसे रागद्वेषभूत बन्ने को निकलाना-निकलाना-कपड़े पहनाना-उठके लिए समझावना (लिखना) लाना आदि क्षणों के साथ आप इसे भी सुखी कान्ते में लपेटे रहते हैं। प्रत्येक प्रकार से इसे सुख पहुँचाने का ध्यान रहता है। 'इसे सुख मिले इसे कोई क्षण न हो' राम में इसी सुखानुसारी की प्रधानता होती है, जो अन्तर्गत सुखानुसारीवृत्ति का कारण बन जाता है। यही वस्तुतः अन्तर्गत के परिकल्पित उत्पीड़न से आपके सुख का कारण बन जाता है। अन्तर्गत होप में ठीक इसके विपरीत है। होप से सम्बन्ध रहने वाले तब अनुसारी में तन्निवृत्तिप्रवणता रहती है। कितने खय होप होता है उक्त पर उक्त अन्तर्गत का प्रवण रहता है। शत्रु का नामस्मरण होते ही द्रवि मित्र करते हैं सुखी होप जाती है। जैसे हल्का लम्बाप हा, जैसे यह सुखी बने' यह निवृत्तिप्रवणता प्रवणता का मत हो जाती है। राम में मन क्योंकि सुख में अन्तर्गत रहता है अथवा मानव प्रवृत्ति में राम का—'सुखानुसारी रागा' यह लक्षण किया है। यहाँ 'सुख' से 'राम' ही अभिप्रेत है। किन्तु धर्म होता है—'सुखानुसारी रागा'। होप में मन क्योंकि सुख में अन्तर्गत रहता है। अथवा हल्का योगदर्शन में—'सुखानुसारी होपः यह लक्षण हुआ है। यहाँ सुख से श्रेय ही अभिप्रेत है। अथवा हल्का धर्म होता है—'सुखानुसारी हाः। तत्पर्यं करने का यही है कि निवृत्त-सुखानुसारी उद्वेगसुखा इति धर्म है। नाशानुसारी निवृत्तियोगसुखा अस्वास्त्यसुखा इति श्रेय है। राम परनिवृत्त सुखानुसारी है सुखानुसारी है। होप एवं निवृत्त श्रेयानुसारी है, सुखानुसारी है।



६८—रसोमूलक-काम-श्रेय-मोह—

रामोपाश्रयका आत्मनिक का अनेक दृष्टि से सम्बन्ध किया गया। रामोपाश्रय दोनों काम-श्रेय-मूलक है। काम-श्रेय, दोनों तत्पर्य का आत्मनिकत्व है। काम ही तत्पर्य दोनों का मूल है। अथवा योगशास्त्र-प्रतिष्ठ 'राम, श्रेय' नामक दोनों श्रेयों की उत्पत्ति का 'आत्मनिक' नाम से व्यवहार किया का उक्त है। अथवा यहाँ श्रेयों के स्थान में इत विद्यमानदृष्टि के कारण बार ही श्रेय रह गये हैं। यहाँ श्रेयों से से रागद्वेषात्मक आत्मनिक श्रेय का प्रतिष्ठानी आत्मनिकत्वर्तक मन ही योगशास्त्र नाम से प्रतिष्ठ हुआ है। आत्मनिक-श्रेय का प्रतिष्ठानुसार स्वयं परिचय बताया गया। अन्तर्गतश्रेय-श्रेय-श्रेय-श्रेय-श्रेय का विद्यमान का विद्यमान का ही नाम 'श्रेय' है। 'यत्' काममूलक अस्वास्त्य गय है।

४०—'रजो रागात्मकं विद्धि' का समन्वय—

'रजो रागात्मकं विद्धि' (गी० १३।५) के अनुसार रजोगुण रागात्मक है। आसङ्गनात्मक है। आसङ्गनात्मक क्योंकि अमासङ्गना-क्रोधासङ्गना-लोभासङ्गना मेघ से तीन भागों में विभक्त है, अतएव रजोगुण भी तीन भागों में विभक्त हो जाता है। अमासङ्गानुगत (अमरगानुगत) रजोगुण अनुकूलात्मक है, क्रोधासङ्गानुगत (क्रोधरगानुगत) रजोगुण प्रतिकूलात्मक है एवं लोभासङ्गानुगत (लोभरगानुगत) रजोगुण स्वभावित है अथवा अतः। रजोगुणमूला अतएव रागात्मिक अनुकूलात्मक ही 'राग' नाम से, रजोगुणमूला अतएव रागात्मिक प्रतिकूलात्मक ही 'द्वेष' नाम से, एवं रजोगुणमूला, अतएव रागात्मिक स्वभावित ही 'मोह' नाम से व्यवहृत हुई है। इत दृष्टि से राग-द्वेष-मोह-तीनों का रागात्मिकत्व सिद्ध हो जाता है।

४१—त्रिगुणात्मक रजोगुण का त्रिवृत्तरूप—

एक घट और। त्रिवृत्तमात्र के कारण मनाश्रयधाराएँ उत्पन्न-रजस्वमोक्षद्वारा गुणवर्ती भी त्रिवृत्तमात्र में परिणत रहती है। किन्तु आर्त्तविद्यानुगत धर्माबुद्धियोगनिष्कमक प्रथम धर्म में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इत त्रिवृत्तमात्र के कारण मध्यस्थ रजोगुण भी उत्पन्न रज, रजोरूप रज, तमोरूप रज, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। उत्पन्नरजोरूप रजोगुण अमर का, एवं अमरानुगत अनुकूलात्मकत्व अथवा 'राग' का मूल बनता है। रजोगुणात्मक रजोगुण क्रोध का एवं क्रोधानुगत प्रतिकूलात्मकत्व अथवा 'द्वेष' का मूल बनता है। तमोरुपात्मक रजोगुण लोभ का एवं लोभानुगत स्वभावित अथवा 'मोह' का मूल बनता है। इसी त्रिवृत्तमात्र के कारण राग को उत्पन्नरज, द्वेष को रजोरूप, एवं मोह को तमोरूप माना जा सकता है। उत्पन्नरज बुद्धानुरागी है। अतएव उत्पन्नरजोरूप रजोगुण से उत्पन्न काम, एवं अमरानुगत राग को बुद्धानुरागी माना जायगा। रजोगुण बुद्धानुरागी है। अतएव रजोगुणात्मक रजोगुण से उत्पन्न क्रोध एवं क्रोधानुगत द्वेष को बुद्धानुरागी माना जायगा। तमोरुप सम्मरानी है। अतएव तमोरुपात्मक रजोगुण से उत्पन्न लोभ एवं लोभानुगत मोह को सम्मरानुरागी माना जायगा, अतः त्रिवृत्तमात्र से स्पष्ट है।

१-उत्पन्नरजोरूपमात्र-रज-तन्मूला अमर-तदनुगतासक्तिः-'रागः' (बुद्धानुरागी)

०-रजोगुणात्मक-रज-तन्मूला क्रोध-तदनुगतासक्तिः-'द्वेषः' (बुद्धानुरागी)

१-तमोरुपात्मक-रज-तन्मूला लोभ-तदनुगतासक्तिः-'मोहः' (सम्मरानुरागी)

४२—वीराग्य का तात्त्विक स्वरूप—

उत्पन्नरजोरूप रजोगुण से उत्पन्न 'काम' से सम्बन्ध रखने वाले राग में प्रवृत्ति है। रजोगुणात्मक रजोगुण से उत्पन्न 'क्रोध' से सम्बन्ध रखने वाले द्वेष में निवृत्ति है। एवं तमोरुपात्मक रजोगुण से उत्पन्न 'लोभ' से सम्बन्ध रखने वाले मोह में सम्मन है। इत्यन्तु त्रिवृत्तमात्रमात्र एक ही

रत्नगुण कम श्लेष-श्लेष द्वारा राग होय-मोह का बनक बना हुआ है। अतएव वैराग्य के राग शब्द का उपलक्षणविधि (गणविधि) से रागहृत्वादी होय मोह का भी संभावक माना जा सकता है। अतएव प वैराग्य का-‘रागद्वेषमाह्राह्त्वं वैराग्यम्’-इह लक्षण किया जा सकता है।

४३-विषयानुगत रागद्वेषमोहप्रतीति का अनुभावित साहचर्यम् —

राग-द्वेष-मोह तीनों में अनुभावित (अस्वनिष्ठ-कल्पित) साहचर्य माना गया है। कल्पना कीकृत, कल्पित स्थिति का मन कामात्मक राग से युक्त है। अतएव मन में कामात्मक राग रहेगा, तत्काल श्लेषात्मक होय तथा क्षमात्मक मोह को अवसर न मिलेगा। एकमेव श्लेषात्मक द्वेष को लक्ष्य में राग-मोह को कामात्मक मोह की लक्ष्य में रागद्वेष को अवसर न मिलेगा। राग प्रकृति है, होय निवृत्ति है मोह लक्ष्यम्न है। अतएव प्रकृति है, तत्काल निवृत्ति-लक्ष्यम्न लक्ष्य नहीं। अतएव निवृत्ति है, तत्काल प्रकृति लक्ष्यम्न लक्ष्य नहीं। एवं अतएव लक्ष्यम्न है तत्काल प्रकृति-निवृत्ति लक्ष्यम्न नहीं। तत्काल-लक्ष्य-वन्द्येदेन (एक लक्ष्य में) मनोपरवृत्त पर प्रविष्टित नहीं रह सकते। प्रविष्टिस्थान एक ही है पञ्च प्रविष्टि-स्थान तीनों का विभिन्न है। पहला एक है पहल्य देने वाले २ हैं। आठों विवाही एक ही लक्ष्य में परिणत नहीं देते। आठों का लक्ष्य उक्त एक ही परिणत के लिए दिनरात में १-१-पन्डे से विभक्त है। अतएवदेन विभिन्न ही आठों परिणतों का परस्पर साहचर्य है। अर्थात् कल्पित का अस्वनिष्ठ नहीं करना चाहता। अर्थात् कल्पित का अस्वनिष्ठ स्थान नहीं क्षीनता। दूसरे के आश्रय से पहला अपना अविभक्त इत दूसरे को देखकर इत काय है। आपन-प्रदानात्मक नहीं साहचर्यक्रम आठों में बनता रहता है। ठीक यही स्थिति यहाँ लक्ष्यम्न है। मनोपरवृत्त का परिणत एक है। परिणत देने वाले राग-द्वेष-मोह भाव तीन परिणत हैं। रागलक्ष्य में इत तत्काल स्थान नहीं क्षीनता होयलक्ष्य में राग उक्त स्थान पर आश्रय नहीं करता। मोहलक्ष्य में रागद्वेष तत्काल भवे रहते हैं। यही तीनों का अनुभावित साहचर्य है। अनुभावित इतलिए करना पक कि, तीनों स्वरूपतः लक्ष्य विभिन्न हैं अतएव विरोधी हैं। अतएव तीनों लक्ष्य नहीं रह सकते। अस्वनिष्ठ-लक्ष्य-वन्द्येदेन (अस्वनिष्ठ-लक्ष्य-वन्द्येदेन) ही अनुभावित (कल्पित) साहचर्य माना गया है। तीनों का, तीनों के मूलाधारभूत लक्ष्य-रत्न-लक्ष्यगुणों का इती अन्योऽन्यविभक्त्यात्मक अनुभावित साहचर्य से परस्पर अस्वनिष्ठ होता रहता है। कभी राग द्वेष को हरा देता है कभी द्वेष राग होय, तो कभी मोह राग द्वेष का हरा देता है। अन्योऽन्यविभक्त्यात्मकजननमिधुनसृष्टयश्च गुणा (लक्ष्य-वन्द्येदेन) से इती अनुभावित साहचर्य का स्वीकार हुआ है। इत लक्ष्य के आश्रय पर राग को द्वेष, तथा मोह का उपलक्षण मानते हुए वैराग्य का राग-द्वेष-मोह रहित लक्षण लक्ष्य बन जाता है।

तत्कालगता बुद्धिस्थित्या उपलक्षणविधा से लक्ष्य लक्ष्ये वाले अनुभावित साहचर्य को प्रामाणिक मानते हुए यद्यपि उक्त प्रकाशयुक्त राग को होय-मोह का उपलक्षण मान कर वैराग्य का ‘रागद्वेषमाह्राह्त्वं लक्षण किया जा सकता है। तथापि इत उपलक्षणविधा में पूर्ण अस्वनिष्ठ प्रकृत नहीं भी हो सकती। इती स्वरूप के अभाव से एक दूसरे इतिशेष से राग को होय, और मोह का संभावक माना जाया। विशुद्ध करते हैं-राग-द्वेष-मोह तीनों परस्पर लक्ष्य विरुद्ध हैं। कल्पन है भी लक्ष्य। ऐसी दशा में-अस्वनिष्ठ-वन्द्येदेन-वन्द्येदेन-वन्द्येदेन इत अस्वनिष्ठ-वन्द्येदेन का लक्षण इत कर तीनों विरोधियों में कल्पित साहचर्य मानना लक्ष्य

ही तीनों विरोधियों के अविरोध की कल्पना कर एक से तीन का प्रदृश्य करना तर्कानुगत पक्ष अवश्य हो सकता है। किन्तु इसे तत्त्वानुगत-विज्ञानरहित पक्ष नहीं कहा जा सकता। विज्ञानरहता या वैयर्थ्य का अर्थ केवल 'यग्यवहिन्य' ही स्थित होता है। यही उपलक्षणविधामक कल्पित साहचर्य्य में अवधि है। इसकी निवृत्ति के लिए ही पाठकों का ध्यान अन्य उक्त दृष्टिकोण की ओर आकर्षित किया जाता है, विरक्त प्रधानविधा से ही सम्भव है।

४४-संस्कारानुगता रागद्वेषमोहप्रयी का वास्तविक साहचर्य्य—

त्रियानुगति मनोऽनुगति, मेद से राग-द्वेष-मोह त्रयी दो मांगों में विभक्त मानी जा सकता है। राग त्रियानुगत राग द्वेष मोह वास्तव में परस्पर विरक्त हैं। जिस नाशकियम के साथ राग है वही द्वेष नहीं। जिसके साथ द्वेष है उसके साथ राग नहीं। जिसके प्रति मोह है उसके प्रति राग-द्वेष नहीं। मित्र के साथ द्वेषाभाव है शत्रु के साथ रगाभाव है। इसप्रकार त्रियानुगत रागादि वास्तव में परस्पर विरक्त होते हुए एकत्र नहीं रह सकते। परन्तु मन से प्रदीप्त रागद्वेषमोह स्वस्वतः परस्पर विरोधी होते हुए भी एक ही प्रज्ञा परतल पर एक ही क्षण में निर्बिरोध प्रतिष्ठित हो जाते हैं। चाक्ष त्रियानुगत राग-द्वेष-मोहों से उत्पन्न संस्काररमक रागद्वेषमोह संस्काररूप से (वास्तवरूप से) उही प्रज्ञान परतल पर उही प्रकार एक ही समय में निर्बिरोध प्रतिष्ठित रहते हैं, जैसे की परम्परस्वतः विरक्त ठम, और मध्या एक ही लक्षणिय परतल पर एक ही क्षण में, एवं परस्परस्वतः विरक्त पञ्चकनाशानुगत पञ्चमहाभूत एक ही शरीर में एक ही क्षण में निर्बिरोध प्रतिष्ठित रहते हैं। इस मनोऽनुगता रागादिप्रयी का साहचर्य्य अनुमापित नहीं है। अस्तित्व वास्तविक है। अतएव इस वास्तविक साहचर्य्य की अपेक्षा से अवश्य ही राग से एक सहाचारी द्वेष का एवं द्वेष से एकसहाचारी मोह का प्रदृश्य कर वैयर्थ्य का-‘रागद्वेषमोहसहित’ लक्षण करना सर्वप्रथम अनिवार्य का ज्ञान का जाता है।

४५-मनोऽनुगत राग से युक्त रागद्वेषमोहप्रयी का वास्तविक साहचर्य्य—

अपिच विरक्त तो केवल 'राग' शब्द का ही है। साक्षिण्य इस साहचर्य्य का आशय। केवल राग-शब्द को लक्ष्य बना कर ही स्थिति पर दृष्टि डालिए। आसन्न ही राग है, राग ही आशयित है। अनुकूलता अहित हो प्रकृत्याशयित हा किंचा स्वस्वतः ही, आशयितत्वेन तीनों आशयित है। आशयित का ही नाम बन राग है तब तीनों ही आशयितरूप हैं तो अवश्य ही राग-द्वेष-मोह तीनों का राग नाम से स्पष्टत्व किया जा सकता है तीनों का राग शब्द से प्रदृश्य किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्व कथनानुसार तत्त्वानुगत रागेशुभ ही कामदाय राग का रजोगुणानुगत रजोगुण ही अपेक्षाय द्वेष का एवं तमोगुणानुगत रजोगुण ही सान दाय मोह का बन बनक बना हुआ है, रजोगुण ही बन राग है, जबकि तीनों ही रजोगुणमक हैं वा इस दृष्टि से भी तीनों का रागधर्मस्व (रजोगुणस्व) केने हयवा जा सकता है। इसप्रकार इस दृष्टि से भी रागादि तीनों का केवल राग शब्द से प्रदृश्य करना तत्त्वतमस बना हुआ है। राग शब्द का रजोगुणार्थ पाप्मे वेर के लिए लक्ष्य दीर्घित, लाक्षित 'आशयित' अर्थ को आधार बना कर ही नियम का सम्भव कीर्षित। मन से परिपरीत संस्काररमक राग-द्वेष-मोह, तीनों भाव रागदाय ही मनो-परतल पर प्रतिष्ठित हुए हैं, यह दृष्टिमानना पड़ता है कि आशयित ही राग है। एवं तब आशयित

नहीं है तब तक न राग है न द्वेष है न मोह है। मन का स्वाभाविक-स्वरूपागुण-स्नेहगुणक सौम्यता ही मानस राग है यही मानस रागसक सौम्य स्व ब्रह्मराग, किंवा ब्रह्मरागकित है। इस ब्रह्मराग के कारण ही अनुकूल भ्रमना के द्वारा सुखानुशाधी विरक्तस्वर के साथ मन का राग होता है। इसी ब्रह्मराग से प्रतिकूलराग । के द्वारा बुलानुशाधी विरक्तस्वर के साथ मन का द्वेष होता है। इसी ब्रह्मराग से सम्भवभ्रमना के द्वारा गन्धानुशाधी विरक्तस्वर के साथ मन का मोह होता है। ब्रह्मराग (ब्रह्मरागकित) सम्भव से विरक्तराग भी राग है विरक्तद्वेष भी राग है एवं विरक्तमोह भी राग है। कत बधार्थ है। यदि विरक्तराग से ब्रह्मराग न हो तो ब्रह्मराग सम्भव ही न रहे। यदि द्वेष के साथ ब्रह्मराग न हो, तो निरक्त ब्रह्मराग द्वेष में युक्त हो जाय। एतदेव यदि ब्रह्मराग का मोह में राग न रहे, तो कभी ब्रह्मराग मोहसक न जने। दूरे रागों में बरतक राग में ब्रह्मराग न होगी, राग राग न बनेय बरतक द्वेष में ब्रह्मराग (राग) न होमी, द्वेष द्वेष न बनेय। एवं बरतक मोह में ब्रह्मराग न होमी, बरतक मोह मोह न बनेय। राग-द्वेष-मोह, तीनों को मन से विरक्तने ब्रह्मा मनाऽवशिष्ट स्नेहगुणक सौम्य राग ही है। राग-अनुराग-ब्रह्मराग ही रागद्वेषमोहकी भी मूलशक्ति है। इत्यन्तर ब्रह्मविद्यानुकमी राग-द्वेष-मोह भाषी के परस्पर लक्ष्य विभिन्न रहने पर भी अतएव इनके अतद्विचारी होने पर भी निरक्षेपद्विष-मनोऽनुकमी-मानस परवत् पर प्रसिद्धि-व्यवहारसक राग-द्वेष-मोह भाषी के स्वरूप विभिन्न होने पर भी इनका मानस परवत् पर क्योंकि निरक्षेप माहर्ष्य है इत्यदि, इसके अतिरिक्त ब्रह्मराग सम्भव से तीनों के रागसक बन कर ही मानसराग पर प्रसिद्धि होने से उ सत्यता तीनों का 'राग' शब्द से ग्रहण किया जाना लक्ष्य विधानसम्मत बन जाय है। अतएव वैष्णव के- 'राग-द्वेष-मोह शक्ति' इस शब्द में किसी भी परन-ब्रह्मराग को प्रसिद्ध होने का अन्तर नहीं मिल सकता। केवल राग (ब्रह्मरागसका ब्रह्मराग) के हट जाने से ही राग-द्वेष-मोह, तीनों हट जाते हैं। अतएव रागसक (ब्रह्मरागसक) भाषी राग-द्वेष-मोह को बनती है यही ब्रह्म-वैष्णव रागद्वेषमोह तमों का निवृत्त बनना हुआ है और यही रागद्वेषमोहात्मक भाषी के प्रसिद्धि वैष्णव का व्यक्तिक स्वरूपपरिचय है जिसके आधार पर वैष्णवबुद्धिबोधानुगता राजनिर्षिषा नाम की विद्या प्रसिद्धि है।

४६-वैष्णवबुद्धिबोधानुगता वैष्णवविद्या (राजनिर्षिषा)—

वैष्णवसम्भवेत् बुद्धि ही चार विद्याबुद्धिओं में से 'वैष्णवबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है। एवं राग-द्वेषमोहात्मक बुद्धि ही चार अविद्याबुद्धिओं में से 'ब्रह्मबुद्धि' नाम की अविद्याबुद्धि है। वैष्णवबुद्धि के उदय से ब्रह्मबुद्धि का प्रलय जाय रहता है, एवं ब्रह्मराग के से विनिर्मुक्त हो जाय है। यही एतकी लक्ष्यबुद्धिबोध है। यहाँ बोधक लक्ष्य लक्ष्यद्वार। ब्रह्मराग से रागद्वेषादि नष्ट हो जाते हैं, एतका उदयर्ष्य यही है कि, रागदि अक्षरों के लक्ष्य रहने ब्रह्मा प्रत्यक्षबन टूट जाय है। रागद्वेषादि शरीर के धर्म हैं। कत कत शरीर है तब तक रागद्वेषादि का ब्रह्मरागक अभाव असम्भव है। रागद्वेषात्मक विरक्तब्रह्म-परिष्कार का मार इतिवत् पर, वैष्णव का मार ब्रह्मा पर, इस विमलिकरण से रागद्वेषमोहमन लक्ष्य में ब्रह्मरागक भ्रमों में ब्रह्मराग निमग्न जता हुआ भी बुद्धिबोधी वैष्णवराग से लक्ष्य रूप राग है यही गीता की लक्ष्य-परिष्कारबोधार्थिक ब्रह्मसंज्ञा वैष्णवविद्या है जिसका निम्नलिखित शब्दों में विरक्षेपक हुआ है—

है। 'मी आचार पर सर्वव्यस-नकार-रुह आत्मा को 'आद्यरात्मा' माना गया है। वही आत्मा नानक प्रथम हृदयस्थायक है। शरीरस्थान इस आत्मा का प्राणद्वारा प्रथम प्रवृत्तिस्थान (स्थिति-स्थान) बनता है, अतएव शरीरस्थान 'पद्म' कहलाया है। संशयस्थान प्राणद्वारा आत्मा का द्वितीय प्रवृत्ति-स्थान बनता है। वहीं 'हृदयस्थिति' आत्मा प्राणरुत में शरीर में पुनः संशय में प्रवृत्त होता है अतएव तृतीयस्थान 'पुनःपद्म' कहलाया है। 'पुनःपद्म' आत्मा का तृतीयस्थान है, 'पद्म' आत्मा का चतुर्थस्थान है यत्ना गनी-भूत है। 'त इति सं मनःप्राणवाह्यम् आत्मप्रधानसि विद्यायान्ना क्वा कुष्मा है। विद्यायान्नाक प्रशारी का आत्मप्रधान हृदयस्थान परिपूर्ण है। क्योंकि हृदय सं चारों ओर समानरूप से आत्मप्रधानों का विद्यन होता है। अतएव हृदयस्थान समस्तप्राणानुगत माना गया है। शरीरस्थानतन्मक पर तथा संशयस्थान-तन्मक पुनःपद्म दोनों स्थान आरूप हैं। अतएव विद्यन करते हुए ये दोनों स्थान विषयवेद्यानुगत माने गए हैं। हृदय में शरीरस्थान शरीरस्थान की स्थिति है। शरीरानुगत इन्द्रियस्थान से आरम्भ कर आत्मविषयानु-यन संशयस्थानतन्मक संशयस्थान की स्थिति है। शरीरानुगत 'विद्यायान्ना' से आरम्भ कर आत्मविषयानु-यन संशयस्थान पर्यन्त संशयस्थान में निमित्त हो खाना मह है। संशयस्थान से हृदय होय है। शरीरस्थान में निमित्त हाना राम है। शरीरस्थान से हृदय होय है। एक हृदयस्थान में प्रवृत्ति खाना यगद्वैतमोक्षान्ना है वही वयगद्वैत है। प्रवृत्ततन्मक प्रवृत्ततन्मक यग में नी विद्यमता है, परित्यक्ततन्मक प्रवृत्ततन्मक होय में नी विद्यमता है। स्वप्नस्थानक सुख भाव में नी विद्यमता है। बनता है केवल हृदयानुगत में। वह स्वप्नस्थान अतन्मक है—'अतन्मक' परतन्मक वैद्यगद्वैतयगद्वैत पर, क्लिष्टी नृत्तप्रवृत्ति यगद्वैतिया यग। गत है। निमित्त क्लिष्ट गीतान्ना अतन्मकतन्मक वैद्यगद्वैतयगद्वैतिया इति यगद्वैतिया का, एवं तन्मक वैद्यगद्वैतयगद्वैत अतन्मक का विरोध कर ख है—

- १-योगस्य -दुरु क्रमाणि सङ्ग स्वव्या धनञ्जय !
सिद्धपसिद्धयो समो भूषा 'समर्थ' योग उच्यते ॥२४१
- २-ईव तत्रित सर्गो यपो साम्ब स्थित मन ।
निर्दार हि मम प्रथ तस्माद् प्रथसि त स्थिता ॥२४२
- ३-सुत्रभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि ।
इषत् यागयुक्तात्मा सत्र समदत्तान ॥२४३
- ४-आत्मोपम्यन सत्र समं पश्यति योऽजुन ! ।
सुख वा यदि वा दुःखं म योगी परमो मत ॥२४४

४= ज्यः धृष्ट-वराय्यपुद्गिगोगानुगता राजपतिषा-

राजर्षि विद्य गत आर्ष, इन चारों विद्याओं में राजर्षिषिष्ठ एवं वेद्यम-अन-एधर्म-धर्म इन चारों विद्यमों में वैद्यगद्वैतयगद्वैत इत्येव तथा अङ्ग माना गया है। अतएव एवं मय-ही इसके प्रथम-रहा है। अतएव वद मय-का आत्मा प्रति-रुह मय माना गया है। मय-रुह इति— अतएव !

अभ्यासात्मक इस योग का खबने पहले मैनें बिस्तान् को उपदेश दिया था। बिस्तान् ने स्वपुत्र वैकल्यात मनु को यह योग प्रदान किया। मनु से यह उत्पुत्र अयोध्याधिपति इत्थान्कु में प्रसिद्ध हुआ। इसप्रकार प्रथमोपरिष्ठ यह योग परम्परा राक्षसिर्वापरम्परा में उपदिष्ट होता रहा। अतिअलान्क अभ्यासान् से अलान्तर में उत्त योग का स्वरूप विलुप्त हो गया था। आत्र उक्त विलुप्तयोग का (इस शरीर से) मैं पुनः तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ। 'एवं परम्पराप्रसन्नमिर्न राजर्षयो विदुः' के कारण ही यह मगधक्षिपा 'राक्षसिर्वा' नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रथमाधिष्ठातृ का भय वैकुण्ठ में बर्हा मगवान् को मिला, बर्हा महाभारतयुग में इसके पीछोकार का भय भी मगवान् को ही प्राप्त हुआ। अतएव यह योग मगवान् का अपना सिद्धान्त माना गया। अतएव इसे गोत्राद्यात्म में योगक्रम की उपेक्षा के द्वारा प्रथम स्थान दिया गया। 'अधिष्ठास्मिन्तारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' के अनुस्यार अधिष्ठात्मक मोह, अस्मिता, रागद्वेषादिभ्यश्च आसक्ति, अभिनिवेश, यद् क्लेशक्रम है। उत्पुत्रम ही ज्ञान-देशवर्ष-वैराग्य-धर्म यह मगक्रम माना जातगा। इत इति से गीता में ज्ञान-देशवर्ष-वैराग्य-धर्म, इसी क्रम से योगों का प्रतिपादन होना चाहिए था। परन्तु देखते हैं, तीसरे राक्षसिर्वाद्युक्त वैराग्यबुद्धियोग के सम्बन्ध में क्रमविपर्यय हुआ है। आगे की योगवर्गी छो क्रमातुहार ही व्यवस्थित है। परन्तु तृतीय स्थान में प्रसिद्ध वैराग्ययोग को प्रथम स्थान दिया गया है। यह स्थानप्राप्त्य भी वैराग्ययोग का प्रदानत्व ही प्रतिपादन कर रहा है। निम्न लिखित मीत्रावचन वैराग्यबुद्धियोग, एवं उत्पुत्रगता राक्षसिर्वाद्या इसी मगधन्तवत्त्व का समर्पण कर रहे हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुविष्ठन्ति-मानवाः ।
 भद्रावन्तोऽनुस्यन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥
 ये त्वेकदम्यस्यन्तो नानुविष्ठन्ति मे मतम् ।
 सर्वज्ञानधिपूर्वास्तात् विद्धि नष्टानथेकतः ॥

इति बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनस्य द्वितीयप्रकरणे
 'वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः

चतुर्थस्तम्भः

(२) — ४

उपरतन्वेदं चतुःस्तम्भात्मकं-द्वितीयं प्रकरणम्

— २ —

ॐ

‘बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

‘वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(२)-४



श्लोः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत प्रकरणत्रयात्मक-‘बुद्धियोगपरीक्षा’

नामक-पूर्वखण्ड-का

स्तम्भचतुष्टयात्मक-‘बुद्धियोगानु त्त.विद्यास्वरूपनिर्वचन’

नामक

द्वितीयप्रकरण-उपरत

२



श्रीः

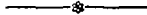
गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-प्रकरणत्रयात्मक-‘बुद्धियोगपरीक्षा’ नामक

पूर्वखण्ड का

‘बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार’ नामक

तृतीय प्रकरण

३



बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार (तृतीय प्रकरण)

१-प्रतिपादित विषय की रूपरेखा—

प्राचीनामिमत कर्म-ज्ञान-मक्ति-योगों का क्रमशः कर्मयोग-ज्ञानयोग-मक्तियोग-परिष्कारनात्मक भूमि-स्वरूपों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया। अनन्तर गीता का मूल शिद्धान्त 'बुद्धियोग' हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ। इसके स्वरूप-परिचय के लिए ही 'बुद्धियोगपरिष्कार' नामक पूर्वसूचक लिपिबद्ध हुआ, जिसमें प्रबानतः दो प्रकरणों का समावेश हुआ है। 'बुद्धियोगस्वरूपनिर्घोषण' नामक प्रकरण में बुद्धियोग के वास्तविक स्वरूप की सीमाएँ हुईं। एवं 'बुद्धियोगानुगत विद्यास्वरूपनिर्घोषण' नामक द्वितीय प्रकरण में क्रमशः कर्मयोग-धर्मबुद्धि-योग ऐश्वर्यबुद्धियोग ज्ञानबुद्धियोग, वैराग्यबुद्धियोग इन चारों बुद्धियोगों के साथ साथ उत्पत्तिदाभूत आर्षविद्या राजविद्या, सिद्धविद्या, राजसिद्धि, बुद्धियोगानुगता इन चारों विद्याओं का चार परिच्छेदों में स्वरूप-दिग्दर्शन कराया गया। यही अन्तक प्रतिपादित विषय की रूपरेखा है।

२-तृप्ति-तृष्टि-गृष्टि-मुक्ति-गुणसत्तुष्टयी—

तृप्ति, तृष्टि, गृष्टि, मुक्ति, इन चार आध्यात्मिक गुणों से कर्मनिष्ठा कर्मरत्ना मुक्त होकर रहता है। पूर्णतृप्ति का नाम 'तृप्ति' है, अर्थात् तृप्ति का नाम 'तृष्टि' है * ईश्वरधनुस्रह का नाम 'तृष्टि' है भूखधनुस्रह का नाम मुक्ति है। पूर्णतृष्टिअर्थात् तृप्ति सर्वस्वमात्मा का स्वाभाविक गुण है, अर्थात् तृष्टिअर्थात् तृष्टि आत्मज्ञानमार्गित मनोमय परब्रह्ममात्मा का स्वाभाविक गुण है, ईश्वरधनुस्रहअर्थात् तृष्टि महानात्ममार्गित प्रब्रह्ममय परब्रह्ममात्मा का स्वाभाविक गुण है एवं भूखधनुस्रहअर्थात् मुक्ति विज्ञानमार्गित वाह्यमय अन्तःपरब्रह्ममात्मा का स्वाभाविक गुण है। चारों आत्मगुण चार आत्मवेदों में विभक्त हैं। इन चारों में सर्वस्वम सर्वोक्ति सर्वस्वम है अतएव तदनुगत तृष्टिगुण के गर्भ में अन्य आत्मानुगत तृष्टि-गृष्टि-मुक्ति तीनों गुण अन्तर्भूत रहते हैं। अतएव च सर्वस्वमात्मानुगत तृष्टिगुण के उदय से शेष आत्मानुगत तीनों आत्मगुण स्वतः उदित हो जाते हैं। चारों की अपेक्षा तृष्टिगुण का यही सर्वोत्तमोत्तमोत्तमोत्तम है।

❖ 'मयकधनुस्रह' पेश' के अनुसार शुद्धाहोसममार्ग में भगवदनुस्रह को ही पेश किया पुष्टि माना गया है। ईश्वरकर्मतन्त्रावेष्ट ही भगवदनुस्रह है। इस अनुस्रहमात्रावेष्ट से जीव की अस्तित्व भूमात्र में परिणत हो जाती है। यह भूमा ही जीव की पुष्टि है। इसी पुष्टिअन्तः से वह वैज्ञानिक सम्प्रदाय (ब्रह्म-सम्प्रदाय) 'पुष्टिमार्ग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

बुद्धि का अभाव हो रहा है। अतएव, अज्ञानात्मक मोह ने ईश्वरीय बुद्धि के न्यायाधिक विकासक्षमत्व अन्तर्भावितः स्वस्व ज्ञान (अज्ञानात्मकज्ञान) को अज्ञानरूप में परिणत कर रक्खा है। अज्ञानावृत्ता मोहात्मिक बुद्धि ही अबुद्धि है, एवं यह भी बुद्धि का एक अकारण है। इसकी निवृत्ति के लिए पराम्परायमानुगत तृप्तिगुण का समावेश अपेक्षित है। तदर्थं अन्तर्भावितगुणित अपेक्षित है। तदर्थं मध्यस्थ अतृप्तिक्षमत्व मोहावरण-निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थं त्रिदिविद्यानुगत मोहनिवर्तक-अन्तर्भावितक्षमत्व-ज्ञानबुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताप्रतिपादित-बुद्धिसुखप्रवर्तक उपाय 'ज्ञानबुद्धियोग' नामक उपाय है जो प्राचीनाभिमत धर्मव्यापकक्षमत्व ज्ञानयोग का ही संश्लेषित रूप है।

६-तृप्तिगुणानुगत वैराग्यबुद्धियोग-

(v)-उक्त तीनों योग अक्षरव्यवस्थामा को आधार बनाते हुए अक्षरवर्त्मक है। अतएव तीनों केवल अपने अपने बुद्धि-बुद्धि-मुक्ति-गुणों के ही संभावक करते हैं। परन्तु चौथा सर्वव्यापकमानुगत वैराग्यबुद्धियोग क्योंकि सर्वव्यापक है अतएव उसके स्वानुगत तृप्तिगुण के स्वयं स्वयं पर-परवर-अवयवगुण तृप्ति-बुद्धि-मुक्ति-गुणों का भी संग्रह हो जाता है। अतएक अन्तर्भावित में दृष्टव्यवस्थागत दृष्टव्यवस्था में स्वयंस्वयं-आरूप-आकाशात्म्या-सर्वव्याप्य साक्षीरूप से प्रतिष्ठित है, जो निराभय-स्वाभाव रहता हुआ निरव्यत है। तृप्तिगुणक, अतएव पूर्णव्यापक इसी सर्वव्याप्य से आपका (जीवात्मा का) प्रव्यवस्थापक से उद्वेगन हुआ है—'पूर्णात्-पूर्वमुत्पद्यते'। उक्त पूर्ण के पूर्ण को लेकर आप तत्त्वता पूर्वस्व ही हैं। अतएव आप ही स्वरूपत निरव्य-व्यत हैं। परन्तु देखते हैं, आप में तृप्तिगुण का अन्वित्विद्युत् भी विद्यमान नहीं देखा जा रहा। क्यों, ऐसा क्यों हुआ, उत्तर स्पष्ट है। साक्षीव्यवस्थित संस्कारों से सम्बन्ध रखने वाले आपके मन ने ही इस समस्या को बरिष्ठ बना दिया है। सौम्यगुणक मन रवेणुवात्मक है। सौम्यव्यवस्था में सम्बन्धित प्रतिष्ठित है। इसी मानस रागादित से वे आगत संस्काररूपन अनुकूल-प्रतिबुद्ध-सम्मन-इन तीन सम्बन्धों के मेल से राग-द्वेष-मोह इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं। रागादिव्यवस्थापक यह आरम्भित मन के द्वारा उत्-प्रतिष्ठित बुद्धि के विद्यात्मक वैराग्यधर्म को अभिभूत कर डालती है बुद्धिगत तृप्तिप्रवर्तक वैराग्यधर्म अतृप्तिकर आरम्भितधर्मरूप में परिणत हो जाता है। यही रागादित-द्वेषव्यवस्था-मोहादित-प्रयी वह मय्यावरण है। बिस्से-बुद्धि से परे रहने वाले सर्वव्यापकमानुगत तृप्तिगुणानुष्ठान से आप बरिष्ठ रह जाते हैं। स्वामाधिक पूर्णता अपूर्णता के रूप में परिणत हो जाती है। अपूर्णता ही शून्यता है। शून्यता हो बुद्धि है। यही चौथा बुद्धि है जिसके मूल में आरम्भित प्रतिष्ठित है। इसकी निवृत्ति के लिए सर्वव्यापकमानुगत तृप्तिगुण का समावेश अपेक्षित है। तदर्थं अज्ञानात्मकगुणित अपेक्षित है। तदर्थं मध्यस्थ अतृप्तिक्षमत्व आसन्नस्वावरण-निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थं त्रिदिविद्यानुगत-आरम्भितनिवर्तक-अज्ञानादितक्षमत्व-वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताप्रतिपादित-बुद्धिसुखप्रवर्तक-अतएव तृप्तिगुणित बुद्धि-बुद्धि-मुक्ति सुखप्रवर्तक-अतएव पर सर्वव्यापकवर्तक-उपाय 'वैराग्यबुद्धियोग' नाम से प्रतिष्ठित हुआ है जो सर्वव्यापकस्वावरण भगवान् कृष्ण का अपना प्रातिष्ठित मत है।

७-पुरुषविद्यापक्षतृप्ति से अनुगता-पुरुषयोगक्षतृप्ति-

आत्मलक्षणा विद्या त्रिदिविद्या कहलाती है एवं आत्मलक्षणा योग त्रिदिविद्या कहलाता है। आत्मविद्या पुरुषविद्या किंवा अस्वयंविद्या है। अज्ञानवोग पुरुषव्यवस्था, किंवा अस्वयंयोग है। सर्वव्यापकमानुगता निरव्यवस्था

(गूढत्वा निगु कर्मणः) है अतएव तत्र पा सर्वव्यपविद्या 'निष्कारमविद्या' कहलाई है । अल्पज्ञानमयित परव्यपत्वा ईश्वरता (अनुग्रहण) है अतएव तत्र पा परव्यपविद्या 'इश्वररामविद्या' कहलाई है । महानात्ममयित परव्यपत्वात्मा बीजत्वा (सविश्वरहण) है अतएव तत्र पा परव्यपव्यपविद्या 'बीजात्मविद्या' कहलाई है । विज्ञानमयमयित अवरव्यपत्वात्मा मूढत्वा (निरिच्छित्वात्मा वैश्वरिहण) कहलाया है । अतएव तत्र पा अवरव्यपविद्या 'मूढात्मविद्या' कहलाई है । तथाव्यपविद्या अम्यवविद्या सुष्ठिगुणात्मिहण है । सुष्ठिगुणात्मिहण अम्यवपत्वा ही सिद्ध (निस्व) 'रात्मयोग' है । परव्यपव्यपविद्या अम्यवविद्या पुष्टिगुणात्मिहण है । पुष्टिगुणात्मिहण अम्यवपत्वा ही सिद्ध 'ज्ञानयोग' है । परव्यपव्यपविद्या अम्यवविद्या पुष्टिगुणात्मिहण है । पुष्टिगुणात्मिहण अम्यवपत्वा ही सिद्ध 'ऐश्वर्ययोग' है । अवरव्यपव्यपविद्या अम्यवविद्या मुक्तिगुणात्मिहण है । मुक्तिगुणात्मिहण अम्यवपत्वा ही सिद्ध 'धर्मयोग' है । 'इमं विश्वस्वते योगं प्रोक्तवान् इमम्यव्ययम्' इत्यपि शब्द-पठित नाम सिद्धाकरपानन-उद्ध अम्यवविद्यानुग्रह-अम्यवयोग का ही वाचक बन रहा है । यह सिद्धयोग बुद्धि पर अनुग्रह लब्ध है अतएव बुद्धिसम्बन्ध में इत अम्यवयोग को भी 'बुद्धियोग' कहा जा सकता है । अतएव पूर्ववक्त्रियों में हमने सिद्धयोगों को वर-वर 'बुद्धियोग' नाम से संबद्ध कर दिया है । 'ब्रह्मि बुद्धियोगं तम्' का 'बुद्धियोग' शब्द सिद्ध 'बुद्धियोग-का ही वाचक है । अतन्विद्याचतुष्टयी की सिद्धा है, अतन्विद्यात्मिहण यान्चतुष्टयी की सिद्धा है । इसके और बीच के मध्य में बुद्धि प्रस्थित है । बुद्धि के द्वारा ही बीच का इत यान्चतुष्टयी से सम्बन्ध होता है । इसीलिए 'बुद्धिःश्वरेण प्राटम्यो योगः' निर्बचन से यह सिद्धयोग भी बुद्धियोग कहलाने लगा है ।

८-प्रकृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगता-प्रकृतिवियोगचतुष्टयी-

विद्यविद्यात्मक-विद्ययोगलक्षण मध्यमज्ञा (अम्यवपत्वा) और शरीरकृत्वा (बीजत्वा) के मध्य में बुद्धितत्त्व प्रस्थित है वह कहा गया है । प्रकृतिलक्षण विद्या अम्यवविद्या कहलाई है प्रकृतिलक्षण योग वाच्ययोग कहलाया है । प्रकृतिविद्या ही वाच्यविद्या है, प्रकृतियोग ही वाच्ययोग है । 'प्रकृति' अक्षर का नाम है । अम्यव-अक्षर-क्षर-तीनों में अक्षर मध्यस्थ है । उर अन्व्यात्मिक संस्था में बुद्धितत्त्व मध्यस्थ है । अतएव बुद्धि ही अन्व्यात्मिक संस्था में अक्षरविद्यया प्रकृति है । अतएव व 'प्रकृतिस्थ' का अर्थ-'बुद्धिरव' ही रेखा-मुना बाध्य है । प्रकृतिमूला मध्यस्था इत बुद्धि के परवान में विद्या-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म-नामक सिद्ध-व्यपत्वात्मक-विद्यविद्यात्मक अम्यवव्यपत्वा प्रस्थित है । वैश्विकि-'वां बुद्धेः परतस्तु सः' से प्रमाहित है । बुद्धि के अक्षरत्पान में मनोऽनुग्रह-इन्द्रियमयित-वांशरीर मय्यम्यपत्वात्मक-आच्छिन्-योग-असिन्ता-अभिनियेवात्मक मूलतत्त्व प्रस्थित है जो अम्यवत्वा का आकरक माना गया है । उर और अनुग्रहचतुष्टयी है इत और अनुग्रहचतुष्टयी है । मध्यस्थ बुद्धितत्त्व में मध्यस्थता के अरथ-'निवेशयामसुतं मार्थं य' के अनुग्रह दोनों बन्नों का लब्धयोग प्रकृत्य प्राप्त है । अनुग्रहचतुष्टयी वैश्विकि सिद्धयोगों के जो प्रकर्षाण बुद्धि में आकर बुद्धि की प्रातिरिहक कल्प बन जाते हैं वे ही 'बुद्धिमय्य कहलाए हैं । इनके आत्मन से-योग से बुद्धि 'मं मय्य को (निरुत्तम्य का) प्राप्त हो जाती है । अतएव 'मं गच्छति ये बुद्धि' निर्बचन से बुद्धिमुक्त इन अनुग्रहम-प्रकर्षाणों को 'मग' कहा जाता है । एवनेव मय्यविश्वानुग्रह अतन्व्यादि अरौगम्यक योगों के जो प्रकर्षाण मन की कृता से बुद्धि में आकर बुद्धि की प्रातिरिहक कल्प बन जाते हैं, वे ही 'बुद्धिःश्वरेण' कहलाए हैं । इनके आत्मन से-योग से-बुद्धि कलात्मक को (लब्धयोग को) प्राप्त हो जाती है । अतएव 'कलात्मक-विद्यया

भवति चैवु शिः' निर्बन्धन से बुद्धिमुक्त इन मर्त्य विश्व के प्रवर्त्म मार्गों को 'क्लेश' नाम से ब्यवहृत किया जा सकता है। आत्मतुक्त वैराग्यादिरूपा म्गावृत्तियों के एवं आत्मस्वादि क्लेशवृत्तियों के भोगात्मक सम्बन्ध से (मुक्ति से) मन्मथ्य-प्रकृतिलक्षण एक ही बुद्धितत्त्व के-वैराग्यबुद्धि, ज्ञानबुद्धि, ऐश्वर्यबुद्धि, धर्मबुद्धि, ये चार विद्यात्मकरूप, एवं आत्मज्ञबुद्धि, मोक्षबुद्धि, अस्मिदाबुद्धि अमिदिबेशबुद्धि, ये चार अविद्यात्मकरूप, सम्भूत आठ सोपाधिक विवर्त हो जाते हैं। आठों में विद्याबुद्धिवृत्तियों 'प्रकृतियोग' है अविद्याबुद्धिवृत्तियों 'प्रकृति-अयोग' है। प्रकृतियोगात्मक बुद्धियोग में बुद्धि प्रकृतिस्व कनी रहती हुई एकरतयभर्मलक्षण व्यवसायपथ की अनुगामिनी कनी रहती है। प्रकृति-अयोगात्मक बुद्धियोगनिष्ठाविन्युति में बुद्धि प्रकृतिवर्जित होती हुई अव्यवसायपथ की अनुगामिनी बन जाती है।

विद्य प्रथम मन्मथ्य बुद्धि में अमृताव्यधातुगत सिद्धयोग प्रवर्त्यसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहते हैं एवमेव अमृतात्मविद्यावृत्तियों में बुद्धि में मुक्त रहती है। निरुदात्मविद्या का बुद्धिमुक्त माग ही 'अनासक्तिविद्या' कहलाया है। ईश्वरत्वविद्या का बुद्धिमुक्तमाग ही 'अन्तर्ध्यातिरिषिया' कहलाया है। बीजत्वविद्या का बुद्धिमुक्त माग 'ईश्वरानन्त्याविद्या' कहलाया है। एवं मूलत्वविद्या का बुद्धिमुक्त माग ही 'निष्कर्मविद्या' कहलाया है। अनासक्तिविद्या प्रकृतिविद्या है, वैराग्यबुद्धियोग प्रकृतियोग है। अन्तर्ध्यातिरिषिया प्रकृतिविद्या है, ज्ञानबुद्धियोग प्रकृतियोग है। ईश्वरानन्त्याविद्या प्रकृतिविद्या है, ऐश्वर्यबुद्धियोग प्रकृतियोग है। निष्कर्मविद्या प्रकृतिविद्या है धर्मबुद्धियोग प्रकृतियोग है। इत्यप्रथम चैते उपलब्धि, पुरुषभोग चार चार भागों में विभक्त हैं एवमेव तत्सम्बद्ध बुद्धिलक्षण प्रकृति की विद्या, और भाग भी चार चार भागों में ही विभक्त ही जाते हैं।

६-विहृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगता-विहृतियोगचतुष्टयी-

भोगानुज्ञाता स्वर्ग बीजत्मा विहृतिमवापन्न माना गया है। अतएव बीजत्मा के द्वारा अनुष्ठेय विद्याओं तथा विद्यानुगत योगों को हम 'विहृतिविद्यानुगत विहृतियोग' नाम से ब्यवहृत करेंगे। पूर्व प्रश्नों में हमने बतलव यह स्पष्ट किया है कि, पुरुषात्मिक विद्या सिद्धविद्या है पुरुषात्मक योग सिद्धयोग है। एव प्रकृत्यात्मिक विद्या साध्यविद्या है तथा प्रकृत्यात्मक योग साध्ययोग है। वस्तुतः प्रकृतिविद्या और प्रकृतियोग ही पुरुषवत् सिद्धश्रेणि में ही अन्तर्भूत माने जायेंगे। पुरुषवत् प्रकृति ही अनादिनिधना है। उसकी विद्या उसका योग ही अनादि है। अतएव इसे ही सिद्ध पदार्थ ही माना जायगा। साध्यविद्या वही साध्य मानी जायगी, किन्तु अर्थात्-अव्याप्यविद्याद्वारा योगानुष्ठानप्रकार में उपयोग होमा। एवमेव साध्य योग ही वही साध्य माना जायगा किन्तु बीजत्मा अनुष्ठान कर सकेगा। विहृतिविद्या ही अनुष्ठानप्रकार का प्रवर्तन करने वाली है जो विहृतिविद्या उपदेशात्मिक है। सिद्धविद्या का उपदेश करने वाली शब्दात्मिक-उपदेशालक्षणा विद्या ही साध्य विद्या मानी जायगी। साध्यविद्या वस्तुतः विद्या नहीं है। सिद्धविद्या ही विद्या है। साध्यविद्या तो सिद्ध-विद्यारूपपरिचय का साधनमात्र है। एतावता ही साध्यमय्याय से इत साधन को ही 'विद्या' कह दिया गया है। एवमेव सिद्धयोग का उपदेश करने वाला शब्दात्मिक उपदेशालक्षण योग ही साध्ययोग माना जायगा। साध्ययोग ही वस्तुतः योग नहीं है। सिद्धयोग ही योग है। साध्ययोग तो सिद्धयोगरूपपरिचय का हेतुमात्र है। एतावता ही इत हेतुयोग को ही 'योग' शब्द से ब्यवहृत कर दिया गया है।

निरुदात्मविद्यात्मक वैराग्ययोग से अनुष्ठेय अनासक्तिविद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोग के सिद्धविद्यामात्र का (पुरुषविद्याधर्मित-प्रकृतिविद्यामात्र का) उपदेश देने वाली विहृतिनुगत-साध्यलक्षणा विद्या ही

'राजर्षिविद्या' कहलाए है। ईश्वरव्यक्तिकारणक ज्ञानयोग से अनुप्राप्त अस्वप्नोतिर्विद्यात्मक ज्ञानबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश देने वाली विद्वत्पुण्ड्रा साध्यविद्या ही उपदेशक के सम्बन्ध से 'सिद्धविद्या' कहलाई है। बीजात्मविकात्मक ऐश्वर्ययोग से अनुप्राप्त ईश्वरानन्मयाविकात्मक ऐश्वर्यबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश करने वाली विद्वत्पुण्ड्रा साध्यविद्या ही उपदेशक श्रुतियों के सम्बन्ध से 'आर्षविद्या' कहलाई है। यही पुरुष-प्रकृति-विच्छेदद्वयी श्री स्वस्वपरिचयपदात्री विद्वत्विद्याचतुष्टयी का स्वरूप-निगदर्शन है। एकमेव पुरुषयोगात्मक वैशम्पत्येव से अनुप्राप्त प्रकृतियोगात्मक वैशम्पत्युद्धियोग का अनुष्ठानात्मक प्रकृतिमात्रात्मक साध्य योग 'वैशम्पत्येव-बुद्धियोग' नाम से पुरुषयोगात्मक ज्ञानयोग से अनुप्राप्त प्रकृतियोगात्मक ज्ञानबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विद्वत्मात्रात्मक साध्य योग 'ज्ञानहेतुक बुद्धियोग' नाम से पुरुषयोगात्मक ऐश्वर्ययोग से अनुप्राप्त प्रकृति-योगात्मक ऐश्वर्यबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विद्वत्मात्रात्मक साध्य योग 'ऐश्वर्यहेतुक बुद्धियोग' नाम से, तथा पुरुषयोगात्मक भर्मयोग से अनुप्राप्त प्रकृतियोगात्मक भर्मबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विद्वत्मात्रात्मक साध्य योग 'भर्महेतुक बुद्धियोग' नाम से अवगत किया जायगा। साध्यविद्यापुण्ड्रा साध्ययोगचतुष्टयी (विद्वत्-विद्वत्पुण्ड्रा विद्वत्योगचतुष्टयी) से, अनुष्ठान से सम्प्रयम भीमाख्या का प्रकृतिविद्यापुण्ड्रा प्रकृतियोगचतुष्टयी से सम्बन्ध होय। एवं प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी के द्वारा बीजात्मा का अनुष्ठान तथा पुरुषविद्यापुण्ड्रा पुरुषयोगचतुष्टयी से सम्बन्ध हो जायगा। तत्त्व है—पुरुषविद्यात्मिका पुरुषयोगचतुष्टयी। तत्त्व प्राप्त करने काशा है—काम्या। तत्त्वप्राप्ति का अनुष्ठानात्मक साधन है—विद्वत्विद्यापुण्ड्रा विद्वत्योगचतुष्टयी। एवं साधन द्वारा तत्त्व पर पहुँचने का द्वार है—प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी। तत्त्वप्राप्ति करने का यही है नि, पुरुष-प्रकृति-विद्वत्, मेर से तत्त्व-साध्यद्वार तत्त्वसाधनरूप से विद्या, एवं उदुगत साध्यविद्वत् छिन विद्वत्मात्री में परिचय हो गए हैं। अतएव प्रतिपादित विद्वत्तों का निम्नलिखित परिच्छेदों से मन्त्रीमार्गि स्वामीरूप हो जाता है।

(क)—सविपादितविषयरूपरेखा—परिच्छेद—(१)

- १-कर्मयोगपरीक्षा—कर्मयोगनिरूपिका (२ अष्टादशिका)
- २-ज्ञानयोगपरीक्षा—ज्ञानयोगनिरूपिका (१ अष्टादशिका)
- ३-मद्विद्योपपत्तीक्षा—मद्विद्योपपत्तिरूपिका (२ अष्टादशिका)
- ४-बुद्धियोगपरीक्षा—बुद्धियोगनिरूपिका (२ अष्टादशिका)

पूर्वसाध्यविकात्मिका बुद्धियोगपरीक्षायां—

- १-कर्मबुद्धियोगपरीक्षा
- २-ऐश्वर्यबुद्धियोगपरीक्षा
- ३-ज्ञानबुद्धियोगपरीक्षा
- ४-वैशम्पत्युद्धियोगपरीक्षा

(ख)-तृप्ति, तृष्टि, पुष्टि, मुक्ति-गुणचतुष्टयी-परिलेख-(२)

- | | | |
|----------------------------|---|------------------|
| १-पूर्णतृप्तिभावः-तृप्तिः | } | -आत्मगुणचतुष्टयी |
| २-आर्द्रतृप्तिभावः-तृष्टिः | | |
| ३-ईश्वरानुग्रहभावः-पुष्टिः | | |
| ४-मूर्खानुग्रहभावः-मुक्तिः | | |



(ग)-गुणानुगता-योगचतुष्टयी-परिलेख-(३)

- १-विद्वानात्मगमितः-अवयवस्यवात्मा मुक्तिगुणात्मकः-उदनुगतो योगः 'धर्मज्ञानयोगः' ।
- २-महानात्मगमितः-पदवयवस्यवात्मा पुष्टिगुणात्मकः-उदनुगतो योगः 'देशधर्मबुद्धियोगः' ।
- ३-अभ्यस्तनगमितः-पदवयवस्यवात्मा तृष्टिगुणात्मकः-उदनुगतो योगः 'ज्ञानज्ञानियोगः' ।
- ४-कर्तव्यगमितः-कर्तव्यस्यवात्मा तृप्तिगुणात्मकः-उदनुगतो योगः 'वैशम्पत्युद्धयोगः' ।



(घ)-पुरुषविद्याचतुष्टय्यनुगता-पुरुषयोगचतुष्टयी-परिलेखः-(४)

(सिद्धविद्यानुगता-सिद्धयोगचतुष्टयी)

- १-कर्तव्यविद्या-पुरुषविद्या-'नित्यज्ञानविद्या' (विद्यात्मकोऽभ्यसः अव्ययसिद्धिश्च विद्या वा)
- २-पदवयवविद्या-पुरुषविद्या-'ईश्वरस्यविद्या' (विद्यात्मकोऽभ्यसः अव्ययसिद्धिश्च विद्या वा)
- ३-पदवयवस्यविद्या-पुरुषविद्या-'जीवात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽभ्यसः अव्ययसिद्धिश्च विद्या वा)
- ४-अपदवयवस्यविद्या-पुरुषविद्या-'मूर्खस्यविद्या' (विद्यात्मकोऽभ्यसः अव्ययसिद्धिश्च विद्या वा)

—तैषा पुरुषविद्याचतुष्टयी-विद्यावरावापना



१-निरुदात्मविद्यात्मकशुद्धिगुणावच्छिन्नोऽम्बकयोगः-पुरुषयोग- 'वैराग्ययोगः'

२-ईश्वरयोगविद्यात्मकशुद्धिगुणावच्छिन्नोऽम्बकयोगः-पुरुषयोगः- 'ज्ञानयोगः'

३-बीजयोगविद्यात्मकः शुद्धिगुणावच्छिन्नोऽम्बकयोगः-पुरुषयोगः- 'ऐश्वर्ययोगः'

४-भूतलयाविद्यात्मको मुक्तिगुणावच्छिन्नोऽम्बकयोगः-पुरुषयोगः- 'धर्मयोगः'

योगात्मकोऽम्बक-
शब्दपरमको योगो वा

योगात्मकोऽम्बक-
शब्दपरमको योगो वा

योगात्मकोऽम्बकः
शब्दपरमको योगो वा

योगात्मकोऽम्बकः
शब्दपरमका योगो वा

—येषां पुरुषयोगात्पुरुषी शिक्षाकल्पयता

१-निरुदात्मविद्या-विद्या, -१-वैराग्ययोगो 'योगः'

२-ईश्वरयोगविद्या-विद्या, -२-ज्ञानयोगो 'योगः'

३-बीजलयाविद्या-विद्या -३-ऐश्वर्ययोगो 'योगः'

४-भूतलयाविद्या-विद्या, -४-धर्मयोगो 'योगः'

—पुरुषविद्याशिक्षा पुरुषयोगात्पुरुषी

(क) - प्रकृतिसिवाश्चतुष्टयगुणः प्रकृतियोगश्चतुष्टयी-परिसेखः-(५)

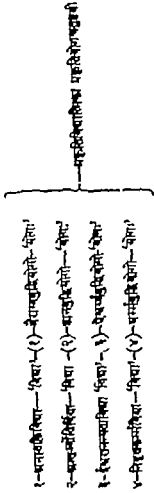
(सिद्धसिवाद्गुणः-सिद्धयोगश्चतुष्टयी)

- १-निरुद्धसिवाद्या-अकर्मयोगसिद्धा-प्रकृतिसिवा-अनासक्तिविद्या (सिवात्मिण्य दुष्टि-तुष्टपात्मिण्य सिवा वा)
- २-ईशानसिवाद्या-अकर्मयोगसिद्धा-प्रकृतिसिवा-अदृष्टस्योक्तिविद्या (सिवात्मिण्य दुष्टि-तुष्टपात्मिण्य सिवा वा)
- ३-ईशानसिवाद्या-अकर्मयोगसिद्धा-प्रकृतिसिवा-ईशानसकलविद्या (सिवात्मिण्य दुष्टि-तुष्टपात्मिण्य सिवा वा)
- ४-सूक्ष्मसिवाद्या-अकर्मयोगसिद्धा-प्रकृतिसिवा-निर्गुणकर्मविद्या (सिवात्मिण्य दुष्टि-तुष्टपात्मिण्य सिवा वा)

—येषां प्रकृतिसिवाश्चतुष्टयी सिद्धावस्थापना

- १-अनासक्तिविद्यासकलविद्याकालप्रदीपिका-प्रकृतियोग-ईशानस्यदुष्टियोगः (योगात्मिण्य दुष्टि-तुष्टपात्मिण्य येनो वा)
- २-अदृष्टस्योक्तिविद्यासकलविद्याकालप्रदीपिका-प्रकृतियोग-आत्मसुष्टियोगः (योगात्मिण्य दुष्टि-तुष्टपात्मिण्य येनो वा)
- ३-ईशानसकलविद्यासकलः सुष्टिगुणकालप्रदीपिका-प्रकृतियोग-परिसेखदुष्टियोगः (योगात्मिण्य दुष्टि-तुष्टपात्मिण्य येनो वा)
- ४-निर्गुणकर्मविद्यासकलः सुष्टिगुणकालप्रदीपिका-प्रकृतियोग-अकर्मदुष्टियोगः (योगात्मिण्य दुष्टि-तुष्टपात्मिण्य येनो वा)

—येषां प्रकृतिसिवाश्चतुष्टयी सिद्धावस्थापना



१-निरुद्धप्रवृत्तियोगः कर्तुं विद्यायाः प्रवृत्तयोः प्रवृत्तयोः - युद्धयोग - १८

२-ईश्वरयोगः कर्तुं विद्यायाः प्रवृत्तयोः प्रवृत्तयोः - युद्धयोग

३-वीर्ययोगः कर्तुं विद्यायाः प्रवृत्तयोः प्रवृत्तयोः - युद्धयोग

४-भूतारण्ययोगः कर्तुं विद्यायाः प्रवृत्तयोः प्रवृत्तयोः -

—सुखा

—

१-निरुद्धप्रवृत्तियोगः—विद्या, -१-वैराग्ययोगो

२-ईश्वरयोगः—विद्या, -२-भक्तियोगो

३-वीर्ययोगः—विद्या, -३-युद्धयोग

४-भूतारण्ययोगः—विद्या, -४-सर्वभूतार्थयोगः

(ख) सर्वसंग्रहपरिलेख (७)

- १-निष्ठात्मविद्या—वैराग्ययोगः—सृष्टिगुणात्मकः (सिद्धापुरुषविद्या, योगश्च,—सकृदविद्या, सकृदयोगः)
- २-अनासक्तिविद्या—वैराग्यबुद्धियोगः—सृष्टिगुणानुगतः (सिद्धप्रकृतिविद्या, योगश्च)—हाराविद्या, हारयोगः
- ३-राक्षसविद्या—वैराग्यहेतुकबुद्धियोग-सृष्टिगुणोत्पत्तेः (साम्यविकृतिविद्या, योगश्च)—अनुष्ठेयविद्या
अनुष्ठेययोगः
-
- १-ईश्वरानुभवविद्या—ज्ञानयोगः——बुद्धिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
- २-अन्तर्ब्योतिर्विद्या ज्ञानबुद्धियोगः—बुद्धिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः) "
- ३-सिद्धविद्या—ज्ञानहेतुकबुद्धियोग-बुद्धिगुणोत्पत्तेः (साम्यविद्या साम्ययोगः)
-
- १-बीजप्रत्ययविद्या—देशधर्मयोगः—बुद्धिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
- २-ईश्वरानुभवाविद्या—देशधर्मबुद्धियोगः—बुद्धिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः) "
- ३-राक्षसविद्या——देशधर्महेतुकबुद्धियोग-बुद्धिगुणोत्पत्तेः (साम्यविद्या साम्ययोगः)
-
- १-भूतात्मविद्या—धर्मयोगः——मुक्तिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
- २-निष्कलधर्मविद्या—धर्मबुद्धियोगः——मुक्तिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
- ३-आर्षविद्या—धर्म हेतुकबुद्धियोग-मुक्तिगुणोत्पत्तेः (साम्यविद्या, साम्ययोगः)

(ज) योगीमाषपरिलेखः—(८)

- १-राक्षसविद्यानुगतवैराग्यहेतुकबुद्धियोगानुग्रहा योगी—(मुञ्जानयोगी—विशेषरत्ना)
- २-अनावक्तिविद्यात्मकवैराग्यबुद्धियोगे प्राप्तो योगी—(पुस्तकयोगी—मुक्तधाव्या)
- ३-निकटारमविद्यात्मकवैराग्यहेतु योगी—(पुस्तकयोगी—मुक्तव्यमहात्मा)

(घ) - चिह्नविद्याचतुष्टयनुगात्ता - चिह्नविद्योपाचतुष्टयी - परिच्छेदा - (६)
 (साध्यविद्यासुभ्रता - साध्ययोगचतुष्टयी)

- १ - निरुद्धरत्नविद्यासुभ्रतास्यविद्यासुभ्रतास्यपरिच्छेदा - चिह्नविद्या - 'राजाविद्या' (विद्यासुभ्रता उपदेशा, उपदेशात्मिका विद्या वा)
- २ - निरुद्धरत्नविद्यासुभ्रतास्यविद्यासुभ्रतास्यपरिच्छेदा - चिह्नविद्या - 'सिद्धविद्या' (")
- ३ - निरुद्धरत्नविद्यासुभ्रतास्यविद्यासुभ्रतास्यपरिच्छेदा - चिह्नविद्या - 'रामाविद्या' (")
- ४ - निरुद्धरत्नविद्यासुभ्रतास्यविद्यासुभ्रतास्यपरिच्छेदा - चिह्नविद्या - 'भारविद्या' (")

— सेषा चिह्नविद्याचतुष्टयी साध्यवस्तुसभा

- १ - उपदेशविद्यासुभ्रतास्यविद्यासुभ्रतास्यपरिच्छेदा - चिह्नविद्योपाचतुष्टयी - 'योग' (योगसुभ्रता उपदेशा, उपदेशात्मिका योगा वा)
- २ - उपदेशविद्यासुभ्रतास्यविद्यासुभ्रतास्यपरिच्छेदा - चिह्नविद्योपाचतुष्टयी - 'ज्ञान' (")
- ३ - उपदेशविद्यासुभ्रतास्यविद्यासुभ्रतास्यपरिच्छेदा - चिह्नविद्योपाचतुष्टयी - 'योग' (")
- ४ - उपदेशविद्यासुभ्रतास्यविद्यासुभ्रतास्यपरिच्छेदा - चिह्नविद्योपाचतुष्टयी - 'योग' (")

— सेषा चिह्नविद्योपाचतुष्टयी साध्यवस्तुसभा

- १ - उपदेशविद्या - 'विद्या' - (१) - 'योग' - 'योग' - 'योग'
- २ - उपदेशविद्या - 'विद्या' - (२) - 'ज्ञान' - 'ज्ञान' - 'योग'
- ३ - उपदेशविद्या - 'विद्या' - (३) - 'योग' - 'योग' - 'योग'
- ४ - उपदेशविद्या - 'विद्या' - (४) - 'योग' - 'योग' - 'योग'

— चिह्नविद्यासुभ्रता चिह्नविद्योपाचतुष्टयी

(ब)-विद्यामात्रपरिक्षेखः (१०)

१-वैयम्बेष्टुक्बुद्धियोगानुगत्य-रात्रिविद्या-वैराग्यनिरूपणा, उग्रहोपशोपशमना ।
—सैषा गीतायां प्रथमा विद्या ।

२-ज्ञानहेतुक्बुद्धियोगानुगत्य-द्विविद्या-ज्ञाननिरूपणा अविद्यात्मकमेवोपशमना ।
—सैषा गीतायां द्वितीया विद्या ।

३-ऐश्वर्यहेतुक्बुद्धियोगानुगत्य-रात्रिविद्या-ऐश्वर्यनिरूपणा अस्मिन्लोपशमना ।
—सैषा गीतायां तृतीया विद्या ।

४-धर्महेतुक्बुद्धियोगानुगत्य-आर्धविद्या-धर्मनिरूपणा, अभिनिवेशोपशमना ।
—सैषा गीतायां चतुर्थी विद्या ।

१०-पूर्वखण्डोपसंहारः—

अनेक दृष्टियों से गीताप्रतिपादित विद्याचतुष्टय, तथा बुद्धियोगचतुष्टयी का स्वभावविक्षेपण किया गया । अत्र इत तन्मन्त्र में वे प्रश्न शेष यह जाते हैं कि, इन चारों विद्याओं के सम्बन्ध में किन किन तत्त्वों का विक्षेपण हुआ है ? चारों बुद्धियोगों में किन किन अनुष्ठानप्रकारों का प्रतिपादन हुआ है ? कौन किस बुद्धियोग का अधिकारी है ? इन्हीं शेष प्रश्नों के समाधान के लिए बुद्धियोग-में ही पाठकों के सम्मुख 'गीतास्तारपरीक्षामक' बुद्धियोगपरीक्षा का 'अक्षरसूत्रक' उपरिष्ठा होने का रहा है । अतः पूर्वखण्ड में विद्या-ानुगत किं बुद्धियोग का परिचय करने की चेष्टा हुई है, वही गीता का प्रतिपाद्य किया है । अलायिक्य में वेदतत्त्वविक्षुप्ति से सर्वोपरि साम्प्रदायिक संपर्क के अनुग्रह से गीता का यह तत्त्व ज्ञान हो पला था । वही ज्ञान उही गीताचार्य भीमबुधन के अनुग्रह से पुनः दृष्टिप्रधानुगामी करने का रहा है । बुद्धियोगामक यह अस्मिन् किन्तु मूलनक्ष् प्रदीय दृष्टिकोण सम्प्रदायमत्त तत् मान विद्वत्सम्मान का अनुग्रहण करे अथवा न करे ? यह प्रश्न उदा से ही शेष प्रश्न का का रहा है । अतः इत तन्मन्त्र में कुछ न करना ही शेष-फला है । हाँ, जो वाक्य में विज्ञान ही शेषफला के अन्वयक है, और अपने इत उदेंश्य की पूर्ति के लिए गीताशास्त्र का आश्रय लेते हैं परन्तु दृष्टिकोण अवरण ही बने विज्ञानों का किसी लीमापवर्क अनुग्रहण का लगेगा । इसी बुद्धियोगानुपकेतप्रमना के साथ प्रकरणाप्रामक-बुद्धियोगपरीक्षापूर्वखण्ड उपरत हुआ है ।

—भीमवामनेन योगात्माद्यस्तुभ्यो भगवन् मधुसूदनः

'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

३

—३—

इति-प्रकरणप्रयातिमका-पूर्वखण्डातिमका बुद्धियोगपरीक्षा उपरता

ओं-तत्-सच्-ब्रह्म नमः

शान्ति ! शान्ति ! शान्ति !!

१-रागद्वेषविपुक्तस्तु विषयानिन्त्रियैर्भरन् ।

आत्मवत् 'वैधियेयात्मा'-प्रसादमधिगच्छति ॥

(स एष-विषयत्मा)

२-उदाराः सर्व एषैते ज्ञानी त्वाभवे मे मत्तम् ।

आस्थितः स हि 'युक्तत्मा' मामंबालुत्तमां गतिम् ॥

-गी० ७।१८ (स एष-युक्तत्मा) ।

३-योगिनामपि सर्वेषां मद्गुणैर्नान्तरात्मना ।

भक्षानान् मन्नते यो मां स मे 'युक्तमो' मत' ॥

-गी० १७ (स एष-युक्तमत्मा)

-एष-कर्तृ

(क)-योगिनामपरिल्लेखः (३)

(१)-राजविद्यातुल्य-वैश्वर्यहेतुबुद्धियोगतुल्यत्वेन वाचनमूलेन-बीजात्मना-अन्तर्मुखविद्यातुल्य-वैश्वर्यबुद्धियोगतुल्यके प्रकृतिवशे प्रवेष्ट' । उद्धार च-निवृत्तविद्यात्मन्यैवात्मयोगतुल्यके पुण्यवशे अपीति-तैवा बीजात्मना इत्यहमव्य, पूर्णमुक्तिव्यामः ।

(२)-विद्याविद्यातुल्य ज्ञानहेतुबुद्धियोगतुल्यत्वेन वाचनमूलेन-बीजात्मना-अन्तर्मुखविद्यातुल्य-योगतुल्यके प्रकृतिवशे प्रवेष्ट' । उद्धार च-वैश्वर्यविद्यातुल्य-अन्तर्मुखयोगतुल्यके पुण्यवशे अपीति । तैवा बीजात्मना इत्यहमव्य, पूर्णमुक्तिव्यामः ।

(३)-राजविद्यातुल्य-वैश्वर्यहेतुबुद्धियोगतुल्यत्वेन वाचनमूलेन-बीजात्मना-वैश्वर्यविद्यातुल्य-वैश्वर्यबुद्धियोगतुल्यके प्रकृतिवशे प्रवेष्ट' । उद्धार च-बीजात्मन्यैवात्म-वैश्वर्ययोगतुल्यके पुण्यवशे अपीति । तैवा बीजात्मना इत्यहमव्य, पूर्णमुक्तिव्यामः ।

(४)-आत्मविद्यातुल्य-वैश्वर्यहेतुबुद्धियोगतुल्यत्वेन वाचनमूलेन-बीजात्मना-निवृत्तविद्यातुल्य-वैश्वर्यबुद्धियोगतुल्यके प्रकृतिवशे प्रवेष्ट' । उद्धार च-वैश्वर्यविद्यातुल्य-वैश्वर्ययोगतुल्यके पुण्यवशे अपीति । तैवा बीजात्मना इत्यहमव्य, पूर्णमुक्तिव्यामः ।

(अ)-विद्याभावपरिलेखः (१०)

- १-वैराग्यहेतुबुद्धियोगानुगत्य-राजविद्या-वैराग्यनिरूपणा, रागद्वेषमोहोपरशमना ।
—तैसा गीतायां प्रथमा विद्या ।
- २-ज्ञानहेतुबुद्धियोगानुगत्य-विद्यविद्या-ज्ञाननिरूपणा अविद्यात्मकमोहोपरशमना ।
—तैसा गीतायां द्वितीया विद्या ।
- ३-ऐश्वर्यहेतुबुद्धियोगानुगत्य-राजविद्या-ऐश्वर्यनिरूपणा अस्मिन्मोहोपरशमना ।
—तैसा गीतायां तृतीया विद्या ।
- ४-धर्महेतुबुद्धियोगानुगत्य-आर्षविद्या-धर्मनिरूपणा, अग्निविद्योपरशमना ।
—तैसा गीतायां चतुर्थी विद्या ।

१०-पूर्वखण्डोपसंहारः—

अनेक दृष्टियों से गीताप्रतिपादित विद्याबुद्धि तथा बुद्धियोगानुगामी का स्वरूपविरलेखण किया गया । अब इस सम्बन्ध में वे प्रश्न रोप रह जाते हैं कि इन चारों विद्याओं के सम्बन्ध में किन किन तथ्यों का विरलेखण हुआ है, चारों बुद्धियों में किन किन अनुष्ठानप्रकारों का प्रतिपादन हुआ है, कौन किस बुद्धियोग का अधिकारी है ? इन्हीं रोष प्रश्नों के समाधान के लिए बुद्धियोग-प्रैमी पाठकों के सम्मुख 'गीतासारपरीक्षात्मक' बुद्धियोगपरीक्षा का 'उत्तरसूत्ररत्न' उपरिषद होने का रहा है । प्रस्तुत पूर्वखण्ड में विद्याानुगत किञ्च बुद्धियोग का परिचय करने की चेष्टा हुई है, वही गीता का प्रतिपाद्य विषय है । अज्ञानादिभ्रम से वैराग्यवृत्तित्ति से सर्वोपरि साम्प्रदायिक सपर्ये के अनुग्रह से गीता का यह तत्त्व सत्य हो जाला या । वही ज्ञान उठी गीतान्त्यार्ष्य भीमपुस्तक के अनुग्रह से पुनः दृष्टिप्रदानुगामी बनने का रहा है । बुद्धियोगात्मक यह अतिप्रान किन्तु मूलतः प्रतीत दृष्टिकोण सम्बन्धमस्त वत मान विज्ञानममान का अनुष्ठान करे अथवा न करे । यह प्रश्न क्या से ही रोष प्रश्न बना का रहा है । अतः इस सम्बन्ध में कुछ न करना ही भेषः-कथा है । हाँ, जो वास्तव में विद्यासु हैं भेषकण्ठा के अन्वेषक हैं, और अपने इस उद्देश की पूर्ति के लिए गीताशास्त्र का आश्रय लेते हैं परन्तु दृष्टिकोण अथवा ही वेसे विद्यासुओं का किसी भीमापर्यन्त अनुष्ठान का लक्षण । इही बुद्धियोगानुगमितकामना के बाव प्रकरयत्रवात्मक-बुद्धियोगपरीक्षापूर्वखण्ड उपरत होता है ।

—श्रीकृष्णानेन योगसमाप्त्ययमुक्त्यो भगवान् मधुसूदनः

‘बुद्धियोगपरीक्षाोपसंहार’ नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

३

इति-शंकरखण्डात्मिका-पूर्वखण्डात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा उपरता

ओं-उत्-सद्-ब्रह्मसे नमः

शान्ति ! शान्तिः !! शान्ति !!!

श्री

प्रकरणात्रयात्मक-‘बुद्धियोगपरीक्षा’ नामक

पूर्वखण्ड का

‘बुद्धियोगपरीचोपसंहार’ नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

श्री

इति—गीतानिष्ठानभाष्यभूमिकान्तगत—
सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक—तृतीयखण्डानुगता
‘ग’ कर विगात्मिका

बुद्धियोगपरीक्षा (पूर्वखण्डात्मिका)

उपरता

प्रीयतामनया बुद्धियोगनिष्ठो योगेश्वरः—

मगवान् मधुसूतना

इति शम्

राष्ट्रस्थानवैदिक-साहित्य संस्थान जयपुर' के वक्तावधान से अनुमाणित
एष प्राच्य वैदिक-साहित्य की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा परिभाषाओं में सम्मिलित
राष्ट्रभाषा हिन्दी में उपनिबन्ध

प्रकाशित-ग्रन्थों की सूची

[निष्का-मार्तन्दासगर्मा-वाङ्मिरको भाषाका]

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१—राजपथशास्त्र हिन्दीविज्ञानभाष्य-प्रथमवर्ष	६	१)
२—	५	१)
३—	५५०	१)
४—	५७	१२)
५—	१५	७)
६—राजपथभाष्य-वैद्यकी विषयसूची	१०	२)
७—इण्डोमनिका हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रथमवर्ष (१)	५	१२)
८—	५	१२)
९—मातृवृक्षोपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य	६	१)
१०—गिरिविज्ञानभाष्यभूमिका-वहिरङ्गपरीक्षा	५	१३)
११—	५	१३)
१२—	६	१५)
१३—	५	१५)
१४—	७	२)
१५—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमवर्ष (१)	५	१२)
१६—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयवर्ष (२)	५	१५)
१७—	५	१५)
१८—भाष्यविज्ञान-आर्यविज्ञानोपनिषत्-प्रथमवर्ष (१)	५५	२)
१९—	६	१५)
२०—भाष्योपनिषत्-द्वितीयवर्ष (२)	५५	१२)

विज्ञानसूचक ग्रन्थ प्रकाशित हैं। पुनः प्रकाशित होने पर ही वे उपलब्ध हो सकेंगे।

